अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

लेखक

शंकरसहाय सक्सेना, एम० ए०, बी कॉम०

प्रिंसिपल, महाराणा भूपाल कॉलिज, उदयपुर

डीन, कॉमर्स फैकल्टी, राजपूताना विश्वविद्यालय,

रचियता

भारतीय अर्थशास्त्र की रूप रेखा, आर्थिक भूगोल, बैंकिंग, ग्राम्य अर्थशास्त्र, भारतीय सहकारिता आन्दोलन, मुद्रा तथा विनिमय, भारतीय मजदूर, आदि।

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९५२

मूल्य १२॥)

मुद्रक—अरविन्द प्रेस, प्रतापपुरा, आगरा

परिच्छेद १

अर्थशास्त्र का विषय (Subject Matter of Economics)

विषय प्रवेशः ससार में कुछ ऐसे शास्त्र हैं जिनके अध्ययन का विषय स्वय मनुष्य है। उनमें भी कुछ ऐसे शास्त्र हैं कि जो मनुष्य के उन्हीं कार्यों का अध्ययन करते हैं जिन्हें वह अकेले न करके सामाजिक—समूह के—रूप मे करता है। उदाहरण के लिए कुटुम्ब, कवीला, गॉव, राज्य तथा राष्ट्र। उन शास्त्रों को समाज विज्ञान (social sciences) कहते हैं। यह समाज सम्बन्धी शास्त्र इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। अर्थशास्त्र समाज सम्बन्धी उन शास्त्रों मे से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। "अर्थशास्त्र मे हम मनुष्य के समाज के सदस्य की हैसियत से किये गए उन प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं जो वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए करता है" और जिनके द्वारा वह धन (wealth) उत्पन्न करता है और उसका उपभोग करता है।

मानव समाज का अब तक का इतिहास हमें यह बतलाता है कि मनुष्य अपने जीवन का अधिकाश समय और अपनी शक्ति इस बात में व्यय करता आया है कि वह अपनी आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति कर सके। यदि हम मे से प्रत्येक व्यक्ति के पास अलादीन का जादू का दीपक होता जिसके घिसने मात्र से हमारी प्रत्येक इच्छा पूरी हो सकती, तो मनुष्य के सामने न तो कोई आर्थिक समस्या ही होती और न "अर्थशास्त्र" जैसा कोई शास्त्र ही होता। दुर्भाग्यवश अलादीन का जादू का लैम्प केवल कहानियों की वस्तु है। इस वास्तविक जगत् में हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन इतने कम और सीमित हैं तथा हमारी आवश्यकताएँ उन सीमित साधनों की तुलना में इतनी अधिक हैं कि मनुष्य विना कुछ प्रयत्न किये उनकी पूर्ति कर ही नहीं सकता।

प्रकृति ने हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधनों को केवल सीमित ही नहीं कर दिया है वरन् उनको इस रूप में उपस्थित किया है कि उनके स्वरूप को विना वदले वे हमारे लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, और साधन ऐसे स्थानों पर पाये जाते हैं कि उनका उन स्थानों पर उपयोग नहीं किया जा सकता; उनका उपयोग करने के लिए उन्हें उपयुक्त स्थान तक

जाना पड़ता है तब कहीं वे मनुष्य की आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूरा कर सकते हैं। यही कारण है कि मनुष्य को प्रकृति से पदार्थों को छीनने के लिए प्रयत्न करना पडता है, क्योंकि वे सीमित हैं। उसे उनका स्वरूप बदल कर अधिक उपयोगी बनाना पड़ता है तथा उन पदार्थों को आवश्यक स्थान पर ले जाना पड़ता है जहाँ कि उनका अधिक उपयोग हो सके। यही नहीं, हमारी आवश्यकताओं को भली भाँति पूरा करने के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सुविधाजनक समय पर उपस्थित किये जा सकें। अस्तु, मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उन आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों को उपलब्ध करने, उनके स्वरूप को बदल कर अधिक उपयोगी बनाने, उन्हें आवश्यक स्थान पर ले जाने, तथा सुविधाजनक समय पर उपस्थित करने के लिए प्रयत्न करे।

उदाहरण के लिए यदि मुझे बरेली में सागवान की लकडी की एक मेज चाहिए तो प्रकृति द्वारा उत्पन्न की हुई जगलों में खड़ी लड़की को काटना होगा, उसको बरेली तक लाना होगा। उसकी मेज बनानी होगी, और उस समय तक उसे सुरक्षित रखना होगा जब तक मैं उसे लेने के लिए तैयार न होऊँ। यदि अलादीन के दिये को घिसकर मेज मुझे मिल सकती अथवा प्रकृति मेजों की वर्षा कर देती जिसके फल स्वरूप जो भी जितनी मेजें चाहता ले सकता तो फिर मेज के लिए प्रयत्न की कोई आवश्यकता न पडती।

यही कारण है कि मनुष्य अपनी आवश्कताओं को पूरा करने के लिए चिरकाल से प्रयत्न करता आ रहा है और आगे भी प्रयत्न करता रहेगा। यह प्रश्न दूसरा है कि यह प्रयत्न हम स्वय करते हैं अथवा दूसरे हमारे लिए करते हैं। एक ढग तो अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का यह है कि हम उस प्रत्येक पदार्थ को अथवा साधन को जुटाने का प्रयत्न करें कि जिसकी हमें आवश्यकता है। यह ढग ससार की कुछ अत्यन्त पिछड़ी और जगली जातियाँ आज भी अपनाये हुए हैं। दूसरा ढग यह है कि हम कुछ लोगों को दास बनालें और उनसे प्रयत्न करने के लिए कहे और उसका फल हम ले लें। एक तीसरा ढग यह है कि हम अपने पास जो वस्तुये (goods) अथवा सेवा-शक्ति (services) हैं उसको बदल कर दूसरों से अन्य वस्तुओ और सेवाओं को लेलें, जिनकी हमें आवश्यकता हो। यह वस्तुयें जिनका हम दूसरा से विनिमय (ex-change) करें चाहे हमारे प्रयत्न द्वारा उपलब्ध हुई हों अथवा हमने पैतृक सम्पत्ति के रूपमें पाई हों, अथवा हमने चोरी और भिक्षा द्वारा प्राप्त की हों, अथवा भेट स्वरूप पाई हो। लेकिन आज साधारणतः न तो दासों के प्रयत्न पर जीवित

रहने की प्रथा प्रचलित है और न मनुष्य पैतृक सम्पत्ति, भिक्षा और भेंट के द्वारा ही अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है। चोरी और लूट-पाट तो किसी भी सभ्य देश में राज्य द्वारा वर्जित है। अतएव साधारणतः मनुष्य के लिए अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का एक ही ढंग रह जाता है, अर्थात् वह स्वयं प्रयत्न करे और उसके फल स्वरूप जो वस्तु अथवा सेवा-शक्ति वह उत्पन्न करे उनको देकर बदले में वह वस्तुएँ प्राप्त करे कि जिनकी उसको अधिक आवश्यकता है।

इस बात का उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में बराबर देखने को मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति हमें कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य करता दिखलाई पड़ता है, जिसके द्वारा वह अपनी तथा अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य को कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य करना पड़ता है कि जिसके द्वारा वह अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। कोई किसान है, तो कोई बढई, लुहार अथवा धोबी का काम करता है और अपनी वस्तुओं को देकर अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त करता है। कोई डाक्टर है तो कोई वकील और कोई प्रोफेसर। इन सब का अपना-अपना धन्धा करने का एक ही उद्देश्य है कि वे अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए आवश्यक साधन जुटावे।

लेकिन मनुष्य की आवश्यकतायें (wants) भी सीमित नहीं हैं, जैसा कि आगे के परिच्छेदों के पढने से ज्ञात होगा कि आवश्यकताये अपरिमित हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है। जहा एक आवश्यकता पूरी हुई दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण करलेती है। अस्तु, मनुष्य की आवश्यकताये बढती रहती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकतायें बढती हैं उनको पूरा करने के लिए मनुष्य अधिकाधिक प्रयत्न करता है और नए-नए उपाय ढूढ निकालता है, और इस प्रकार सभ्यता का विकास होता रहता है। अतः मनुष्य-जीवन के आरम्भ से अब तक के इतिहास का उसकी आवश्यकतायें और उनकी पूर्ति करने के लिए लगातार किये जाने वाले प्रयत्न एक महत्त्वपूर्ण अग रहे हैं और आगे भी रहेंगे। "अर्थशास्त्र में हम इन आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिए किये गए प्रयत्नों का ही अध्ययन करते हैं।

आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन. यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि अर्थशास्त्र में हम मनुष्य की आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं। किन्तु अर्थशास्त्र की इस परिभाषा को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। क्या अर्थशास्त्र मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यक-

ताओं और उनके लिए किये गए प्रयत्नों का अध्ययन करता है ? नहीं, अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है। मनुष्य को वायु और धूप की नितान्त आवश्यकता होती है, किन्तु प्रकृति ने हवा और धूप का हमें ऐसा अटूट भंडार दिया है कि हमें इनको प्राप्त करने के लिए कोई आर्थिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार मनुष्य की कुछ दूसरी आवश्यकतायें हो सकती हैं जिनके पूरा करने में मनुष्य को कोई आर्थिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अर्थशास्त्र में हम केवल उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किये गये प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं जिनकी पूर्ति के लिए उपलब्ध वस्तुएँ सीमित और कम हैं। अस्तु, हमें यह न भूलना चाहिए कि "अर्थशास्त्र मनुष्य के केवल उन प्रयत्नों का अध्ययन करता है जिनके पीछे आर्थिक प्रयोजन (economic motive) है और जिसे मनुष्य एक सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से करता है"। यदि कोई व्यक्ति हिमालय की कदराओं में बैठ कर समाज से अलग रह कर अपना जीवन व्यतीत करता है तो उसके किये गये प्रयत्नों का अध्ययन अर्थशास्त्र नहीं करता। एक ऐसे विरक्त व्यक्ति के द्वारा अपनी निजी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये किए गये प्रयत्नों का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं हैं और न उनका समाज पर ही कोई प्रभाव पड़ता है। अतएव उसके प्रयत्नों का अध्ययन अर्थशास्त्र का विषय नहीं बन सकता।

आर्थिक प्रयोजन (Economic motive) आर्थिक प्रयोजन से हमारा क्या तात्पर्य है अब हम इस पर विचार करेंगे। बहुत से काम हम केवल इसलिए करते हैं कि उनको करने में ही आनन्द और सुख मिलता है। उदाहरण के लिए लोग फुटबाल, क्रिकेट, या टैनिस इसलिए खेलते हैं क्योंकि लोगों को इन खेलों के खेलने से आनन्द मिलता है। लेकिन हम ऐसे काम भी करते हैं जिनको करने का कारण उनके करने से प्राप्त होने वाले आनन्द के अतिरिक्त कुछ और होता है। अध्यापक विद्यार्थियों को केवल इसलिए ही नहीं पढाता कि ऐसा करने से उसे आनन्द होता है, वरन् वह इस लिए पढाता है कि उसे वेतन मिलता है। और भी ऐसे बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। मज़दूर मिल में, किसान खेत में इसलिए दिन भर मज़दूरी नहीं करते क्योंकि उनको ऐसा करने में आनन्द आता है। मज़दूर मजदूरी के लिए और किसान अनाज उत्पन्न करने के लिये कड़ी मेहनत करते हैं। अध्यापक, मज़दूर और किसान के काम करने का कारण उनके काम से प्राप्त होने वाला आनन्द नहीं है वरन् उसके अतिरिक्त एक दूसरा ही कारण है। कारण यह है कि अध्यापक मजदूर और किसान को अपनी उन आवश्यकताओं

को पूरा करना पड़ता है जिनकी कि पूर्ति के साधन सीमित हैं। हवा और धूप की भाँति असीमित नहीं है और जिनको बिना आर्थिक प्रयत्न किये पूरा नहीं किया जा सकता। अस्तु, किसान अनाज उत्पन्न करके बदले में उन वस्तुओं को प्राप्त करता है जिनके द्वारा उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। मजदूर और अध्यापक अपनी सेवाओं के बदले उन वस्तुओं को प्राप्त करते हैं जिनके द्वारा उनकी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। वास्तव मे यही उनके आर्थिक प्रयत्न करने का प्रयोजन है और इसी को हम आर्थिक प्रयोजन (economic motive) कहते हैं।

यह तो हम ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य के परिश्रम करने का आर्थिक प्रयोजन भी होता है। एक कारण उस प्रयत्न से प्राप्त होने वाला आनन्द होता है और दूसरा कारण आर्थिक प्रयोजन होता है। यह दूसरा कारण धन (wealth) से सम्बन्ध रखता है और इसी को हम आर्थिक प्रयोजन कहते हैं। अर्थात् जिन कार्यों के पीछे आर्थिक प्रयोजन (economic motive) अर्थात् धन (wealth) प्राप्त करने का उद्देश्य होता है उनको हम आर्थिक प्रयत्न कहते हैं। जिन कार्यों को करने का कारण प्रेम, धर्म, मनोरंजन, देशभक्ति, मानवीय सेवा, परोपकार आदि होता है उनको हम आर्थिक प्रयत्नों मे नहीं गिनते और उनका अध्ययन अर्थशास्त्र का विषय नहीं है।

क्या अर्थशास्त्र धन विज्ञान (Science of wealth) है: पश्चिम मे अर्थशास्त्र के जनक श्री एडमस्मिथ का विचार था कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध राष्ट्रों के धन सम्बन्धी प्रयत्नों के अध्ययन से है। एडमस्मिथ के उपरान्त अन्य अर्थशास्त्र लेखकों ने एडमस्मिथ के कथन के आधार पर अर्थशास्त्र को "धन विज्ञान" के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया। उस समय योरोप मे धार्मिक भावना अत्यन्त प्रबल थी और आध्यात्मिक उन्नति को मनुष्य-जीवन का प्रधान लक्ष्य माना जाता था। उस समय के विचारक तथा विद्वान् धनलिप्सा और धनिकों के विलासितामय जीवन को घृणा से देखते थे। अस्तु, धन (wealth) की भावना को लोग कोई उच्च भावना स्वीकार नहीं करते थे। विचारकों का कहना था कि धन प्राप्त करने की इच्छा कोई ऊँची नहीं है। कारलाईल और रस्किन ने इसी कारण अर्थशास्त्र की कड़े शब्दों में निन्दा की। उस समय के विचारकों की दृष्टि में अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को स्वार्थी बनाना था। वे इसे अन्धकार फैलाने वाला विज्ञान कहते थे। विचारकों के इस विरोध का मुख्य कारण यह था कि उस समय के अर्थशास्त्री धन पर अनावश्यक बल देते थे।

सौभाग्यवश आगे चल कर अर्थशास्त्रियों ने धन पर अनावश्यक बल देना छोड़ दिया और क्रमशः इस बात को स्वीकार किया जाने लगा कि धन केवल एक साधन मात्र है, वह ध्येय नहीं है। आर्थिक प्रयत्नों का ध्येय मानवीय हित है। धन को उत्पन्न करने, उसे प्राप्त करने तथा उसे जमा करने की आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि मनुष्य को अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए धन की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति यह समझता है कि धन ही मनुष्य का सब कुछ नहीं हो सकता और न मनुष्य को सुखी बनाने का वह एक मात्र साधन है। हे धन मनुष्य को सुखी बनाने का एक महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है। राजा मिडास की कहानी तो सभी जानते हैं। वह जो कुछ छू देता था वह सोना बन जाता था किन्तु उससे वह सुखी नहीं हो सका। यही कारण है अर्थशास्त्री अब धन (wealth पर उतना अधिक बल न देकर मनुष्य पर अधिक बल देते हैं। अब यह स्वीका किया जाने लगा है कि मनुष्य के हित के लिए ही धन का अस्तित्व है। अस्तु मनुष्य मुख्य है और धन गौण है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने ठीक ही कहा है "अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन करता है तो दूसरी ओर जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह मनुष्य का अध्ययन करता है।" अस्तु, अर्थशास्त्र धन विज्ञान नहीं है वरन मुख्यतः मानव विज्ञान है। वह मनुष्य के धन सम्बन्धी किये गए प्रयत्नों का विज्ञान है। उसे हम मानव हित का विज्ञान भी कह सकते हैं।

सामान्य मत. अर्थशास्त्र के विषय में सामान्य मत यह रहा है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्यों के उन प्रयत्नों में है जो कि धन के चारों ओर केन्द्रित होते हैं। धन (wealth) को प्राप्त करने का उद्देश्य मानवीय हितों की पूर्ति है, जो धन के द्वारा सम्भव होती है। अर्थशास्त्र की भिन्न-भिन्न परिभाषायें—जो कि अर्थशास्त्रियों ने दी हैं—नीचे लिखी हैं।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उन सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करता है जो मनुष्य द्वारा धन को प्राप्त करने तथा धन का उपयोग करने की क्रियाओं से उत्पन्न होते हैं। (ऐले)

अर्थशास्त्र उन सामान्य रीतियों का अध्ययन करता है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को प्राप्त करने के लिये परस्पर सहयोग करते हैं। (बेवरिज)

अर्थशास्त्र का ध्येय उन सामान्य कारणों की व्याख्या करना है जिन पर मनुष्य के भौतिक हित निर्भर रहते हैं। (कैनन)

अर्थशास्त्र सर्वांगीण सामाजिक हित में वृद्धि करने वाले केवल उन कार्यों

का अध्ययन करता है जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से द्रव्य या मुद्रा (money) से सम्बन्ध स्थापित किया जासकता है। (पीगू)

अर्थशास्त्र मानव समाज के उन आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करता है जिनका धन से सम्बन्ध है। वह व्यक्ति अथवा समाज के उन कार्यों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध उन भौतिक साधनों को प्राप्त करने और उनका उपयोग करने से है जो मनुष्य-हित के लिये आवश्यक हैं। (मार्शल)

बहुत समय तक मार्शल की परिभाषा सर्वमान्य रही और ऐसा प्रतीत होने लगा कि अर्थशास्त्र की परिभाषा का प्रश्न विवादग्रस्त नहीं रहा। मार्शल का आर्थिक प्रयत्नों से तात्पर्य यह था कि मनुष्य किस प्रकार धन को प्राप्त करता है और किस प्रकार वह अपनी अगणित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसका उपयोग करता है। यदि हम इस विचार का विस्तार करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि इसमें अर्थशास्त्र के चारों विभाग—उत्पादन (production) उपभोग (consumption), विनिमय (exchange) तथा वितरण (distribution) सम्मिलित हैं। यह सभी मनुष्य के धन सम्बन्धी प्रयत्नों के भिन्न-भिन्न रूप हैं। अर्थात् अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य धन का उपभोग किस प्रकार करता है, धन किस प्रकार उत्पन्न करता है, धन का विनिमय किस प्रकार किया जाता है और समाज में धन का वितरण किस प्रकार होता है।

अर्थशास्त्र मनुष्य के भौतिक कल्याण (Material welfare) विज्ञान के रूप में: मार्शल ने अर्थशास्त्र की परिभाषा के जिस प्रश्न को तय कर दिया था वह फिर विवादग्रस्त प्रश्न हो गया, क्योंकि प्रो० राबिन्स ने मार्शल तथा उनके समर्थक अर्थशास्त्रियों के मत का गहरा विरोध किया है।

मार्शल तथा उसके समर्थक अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए इस बात पर विशेष बल दिया है कि अर्थशास्त्र उन आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करता है जो मनुष्य के भौतिक अथवा आर्थिक कल्याण की वृद्धि करते हैं। प्रश्न यह उठता है कि अर्थशास्त्रियों ने भौतिक कल्याण (material welfare) पर इतना बल क्यों दिया। बात यह है कि 'मानवी हित' को यदि हम सब दृष्टियों से देखें तो वह इतना अस्पष्ट इतना दुरूह, इतना विवादास्पद है, कि उसको ठीक-ठीक जान सकना असम्भव है। अभी तक मानव समाज के पास मानव के सर्वांगीण हित को नापने का कोई माप नहीं है। किन्तु अर्थशास्त्रियों के पास मनुष्य के भौतिक अथवा कल्याण को नापने का एक माप है जिसके द्वारा मनुष्य के भौतिक अथवा

हितों को नापा जा सकता है। यह माप धन (wealth) का है। धन मनुष्य के उद्देश्यों का मूल्यॉकन करने का एक सरल और स्थूल माप है। धन के द्वारा मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने तथा अपने हितों की वृद्धि करने की सुविधा प्राप्त होती है। धन के द्वारा मनुष्य भोजन, वस्त्र, मकान इत्यादि प्राप्त करता है और अपनी अन्य परिष्कृत आवश्यकताओं को पूरा करता है। यही कारण है कि मनुष्य अपने हित अथवा समृद्धि को जितना धन उसके पास है उससे नापता है। जितना अधिक धन किसी के पास है उसकी समृद्धि उतनी ही अधिक है। अस्तु, मार्शल के समर्थक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि जब वे मनुष्य के धन सम्बन्धी प्रयत्नों का अध्ययन करते हैं तो वास्तव में मनुष्य-समाज के भौतिक कल्याण का अध्ययन करते हैं।

किन्तु प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र सम्बन्धी इस विचारधारा का घोर विरोध किया है। उन्होंने इस पर गहरा और तीव्र आक्रमण किया है। वह नहीं चाहते कि अर्थशास्त्री मनुष्य के भौतिक अथवा आर्थिक हितों के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। प्रो० राबिन्स का कथन है कि ससार में ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जो मानव के कल्याण को बढाती हैं परन्तु वे भौतिक अथवा आर्थिक वस्तुएँ नहीं है। उदाहरण के लिए माता का प्रेम। किसी व्यक्ति की मानव जाति की सेवा की भावना मनुष्य के हित या समृद्धि को बढाती हैं इसमें किसी को सदेह नहीं है, परन्तु वे आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी मे नहीं आती। इसी प्रकार वायु मानव-कल्याण के लिए कितनी आवश्यक है, परन्तु वह साधारणतया आर्थिक वस्तु नहीं है। इसके अतिरिक्त अध्यापक, चिकित्सक, वकील अथवा सगीतज्ञ की सेवायें साधारणत आर्थिक वस्तुएँ हैं, क्योंकि वे न्यून मात्रा में हैं इस कारण उनका मूल्य (value) है और वे आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी में आती हैं। परन्तु यों देखा जावे तो जो गुण भौतिक अथवा आर्थिक (material attributes) वस्तुओं मे होने चाहिएँ वे उनमे नहीं हैं। इसके साथ एक बात और भी है। यदि अध्यापक, चिकित्सक अथवा वकील सेवा-भाव के कारण और सगीतज्ञ मनोरजन के उद्देश्य से बिना पारिश्रमिक लिए काम करते हैं तो उनकी सेवाएँ आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी मे नहीं आवेंगी। एक ही कार्य करने पर एक बार उनकी सेवाएँ आर्थिक वस्तुओं की श्रेणी मे आजाती हैं और दूसरी बार वे आर्थिक वस्तुएँ नहीं गिनी जातीं। यह आर्थिक तथा गैर आर्थिक प्रयत्नों का विभाजन कुछ वैज्ञानिक आधार पर आधारित नहीं है। ऊपर लिखी हुई बातों

को यदि हम ध्यान में रक्खें तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिक (material) तथा अभौतिक (non material) दोनों प्रकार की वस्तुओं से है। अस्तु, प्रो० राबिन्स का कहना है कि जो अर्थशास्त्री केवल भौतिक कल्याण (material welfare) के अध्ययन की ओर ही अपना ध्यान रखते हैं वे एक पक्षीय होने के दोष से नहीं बच सकते।

प्रो० राबिन्स का विरोध केवल "भौतिक" (material) शब्द से ही नहीं है। उनका कहना है कि अर्थशास्त्र का मानव-कल्याण (welfare) से भी कोई सम्बध नहीं है। उनका कहना है कल्याण शब्द को भी हमे तिलाजलि दे देना चाहिए। एक उदाहरण देकर उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि जो लोग मानव के भौतिक कल्याण की दृष्टि से अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं, उनकी स्थिति किसी-किसी दशा मे दयनीय हो जाती है। उदाहरण के लिए शराब तथा अन्य मादक पदार्थ धन (wealth) की श्रेणी मे आते हैं, किन्तु वे मानव-कल्याण (human welfare) की वृद्धि करते हैं इसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता। केवल मादक द्रव्य ही नहीं, ससार में ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं जिनके उपभोग (consumption) से मनुष्य का बहुत अहित होता है, उसकी सुख-समृद्धि नष्ट हो जाती है। किन्तु क्योंकि वे न्यून मात्रा (scarce) में होती हैं, उनका मूल्य (value) होता है अर्थात् वे आर्थिक वस्तुओ (economic goods) को श्रेणी में आ जाती हैं, परन्तु मानव कल्याण उनसे तनिक भी नहीं होता। इसी कारण प्रो० राबिन्स का कहना है कि हमे 'कल्याण' की बात करना ही छोड़ देना चाहिए।

प्रो० राबिन्स के अनुसार हमें कल्याण (welfare) की बात केवल इस कारण ही नहीं छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसके कारण अर्थशास्त्र में विरोधाभास और असगत स्थिति उत्पन्न होती है, वरन आर्थिक कारणों से भी छोड़ देना चाहिए। बात यह है कि कल्याण (welfare) क्या है इसका निर्णय कर सकना कठिन है। जो वस्तुएँ एक काल में कल्याणकारी समझी जाती थीं, वे दूसरे काल मे कल्याणकारी नही रहतीं। कल्याण का विचार एक काल से दूसरे काल में, एक देश से दूसरे देश मे और व्यक्ति व्यक्ति के सम्बन्ध मे बदलता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक कल्याण (material welfare) का विचार इतना अस्पष्ट और अनिश्चित है कि उसकी ठीक-ठीक जानकारी कर सकना असम्भव है। इस अनिश्चित आधार पर अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विज्ञान को आधारित करना अनुचित होगा।

इसके अतिरिक्त इसके विरुद्ध एक आपत्ति यह भी है कि मानवी कल्याण (human welfare) की जॉच करते समय हमें इस बात का निर्णय करना होगा कि किन बातों से मानव-कल्याण की वृद्धि होती है और किन बातों से कल्याण की हानि होती है। यदि अर्थशास्त्री इस बात का निर्णय करने लगें तो वे नीतिशास्त्र (ethics) के क्षेत्र में पहुच जावेंगे। जब कि अर्थशास्त्र को इस सम्बन्ध में तटस्थ रहना चाहिये। अर्थशास्त्र का यह कार्य नहीं है कि वह क्या अच्छा है अथवा क्या बुरा है इस सम्बन्ध में नैतिक निर्णय दे।

अतएव 'नवीन अर्थशास्त्र' के अनुसार अर्थशास्त्र भौतिक कल्याण (material welfare) के कारणों का अध्ययन नही करता है।

प्रो० राबिन्स का मत प्रो० राबिन्स ने अर्थशास्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में पुरानी आर्थिक विचारधारा को चुनौती दी और मार्शल तथा उनके समर्थक अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं को अवैज्ञानिक बतलाया। हम ऊपर लिख चुके हैं कि राबिन्स के पूर्व अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया था कि अर्थशास्त्र मानव के भौतिक कल्याण (material welfare) के कारणों का अध्ययन करता है। किन्तु कल्याण सापेक्षिक और अनिश्चित वस्तु है, अतएव उसके आधार पर अर्थशस्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण विज्ञान को आधारित नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त भौतिक कल्याण का विचार पुरानी मान्यताओं पर आश्रित है जिनको अर्थशास्त्रियों ने कभी का छोड़ दिया है। यहा तक कि 'धन' (wealth) शब्द का ही अर्थ निश्चित नहीं है। एक वस्तु एक समय धन होती है और दूसरे समय धन नहीं होती। जल नदी में मुक्त वस्तु है, धन नहीं है। अतएव राबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक नई और वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक युक्तिसगत परिभाषा दी जो नीचे लिखी है।

राबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मनुष्य की आवश्यकताओं तथा उनको पूरा करने के लिए सीमित या न्यून साधनों—जिनका कि वैकल्पिक (alternative) उपयोग हो सकता है—से सम्बन्वित व्यवहार का अध्ययन करता है"।

यदि हम ऊपर लिखी परिभाषा का विश्लेषण करें तो हमे स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि उक्त परिभाषा मे तीन मूलभूत आधार स्वीकार किए गए हैं जिनपर अर्थशास्त्र विज्ञान का भवन खड़ा किया जाना चाहिए:—

(१) मानवीय आवश्यकताएँ असीमित या अपरिमित हैं, उनका अन्त नहीं है। मनुष्य क्या-क्या चाहता है उसकी कोई सीमा नहीं है। कोई भी मनुष्य, फिर वह चाहे कितना भी धनी क्यो न हो, पूर्ण रूप से कभी भी सतुष्ट नहीं हो

सकना। आवश्यकताओं के अनन्त होने के कारण मनुष्य उनकी तृप्ति के लि' लगातार बिना रुके हुए प्रयत्न करता रहता है और आर्थिक प्रयत्नों का यह कभी न रुकने वाला चक्र सदैव चलता रहता है। यदि आवश्यकताएँ सीमित या परिमित होतीं तो उनकी तृप्ति सरलता से हो जाती और मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों की प्रेरक शक्ति लुप्त हो जाती। यदि आवश्यकताएँ सीमित होतीं तो मनुष्य को बहुत थोड़ी आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता। क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित या अपरिमित हैं अतएव प्रत्येक व्यक्ति अधिक अनिवार्य और कम अनिवार्य आवश्यकताओं (wants) में भेद करने पर विवश होता है और वह कुछ आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए छाँट लेता और कुछ को अतृप्त रहने देता है, उन्हें तृप्त नहीं करता।

(२) राबिन्स की परिभाषा का दूसरा मूल भूत आधार यह है कि यद्यपि आवश्यकताएँ अपरिमित (unlimited) हैं परन्तु उनको तृप्त करने के साधन अत्यन्त परिमित हैं। इसमें तनक भी संदेह नहीं कि संसार में कुछ मुक्त वस्तुएँ (free-goods) हैं जो कि मनुष्य की आवश्यकताओं को केवल पूरा ही नहीं करतीं वरन् मनुष्य का जीवन ही उन पर निर्भर है। परन्तु अधिकाँश वस्तुएँ, जिनकी मनुष्य को आवश्यकता होती है मात्रा में न्यून हैं। यदि आवश्यकताओं की भाति ही उनको तृप्त करने के साधन भी अपरिमित होते तो अर्थशास्त्र की कोई भी समस्या उपस्थित न होती। मनुष्य को जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती मनुष्य बिना किसी प्रयत्न या परिश्रम के, अथवा बिना किसी त्याग के उन वस्तुओं को मन चाही मात्रा में प्राप्त कर सकता था। किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि मनुष्य-समाज के पास अपनी असीमित आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिये साधन कम या न्यून हैं।

जब हम कहते हैं कि साधन न्यून हैं तो हमारा तात्पर्य यह है कि माग (demand) की तुलना में साधन न्यून हैं। एक वस्तु बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हो सकती है, परन्तु यदि उसका किसी के लिए कोई उपयोग नहीं है तो कम मात्रा में होते हुए भी आर्थिक अर्थों में वह न्यून या कम नहीं कही जावेगी। बहुत कम मिलने वाली अलभ्य वस्तु जो कि उपयोगिता रहित हो, जिसकी किसी को आवश्यकता न हो, वह अर्थशास्त्र के अर्थों में कम नहीं कही जावेगी। इसके विपरीत ऐसी बहुत सी वस्तुएँ हैं जो बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं किन्तु उनकी माँग बहुत अधिक होने के कारण वे न्यून या कम होती हैं। उदाहरण के लिए संसार में कोयला, लोहा, गेहूँ, कपास इत्यादि वस्तुएँ बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती हैं; परन्तु उनकी माँग बहुत अधिक होने के कारण वे न्यून या कम हैं। अस्तु;

यह स्पष्ट है कि केवल किसी वस्तु की मात्रा को देखकर ही हम उसे कम या अधिक नहीं कहेंगे वरन् उसकी माग (demand) के आधार पर ही यह निश्चित होगा कि वह कम या अधिक है। एक करोड़पति यह अनुभव कर सकता है कि उसके पास धन की कमी है, क्योंकि उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा तथा आवश्यकताओं को इतना अधिक वढा लिया है कि उसका धन उनके लिए पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति जिसके पास उस करोड़पति से कम धन है, परन्तु उसने अपनी आवश्यकताओ को कम कर लिया है तो वह उस करोड़पति की तुलना मे अधिक सतुष्ट और सुखी होगा।

अस्तु, अर्थशास्त्र का उन साधनों या वस्तुओं से सम्बन्ध है जो कि मांग की तुलना में कम हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे वही साधन या वस्तुएँ हों कि जो कम मात्रा में उपलब्ध हों। यह तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि मनुष्य की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं है और उनको तृप्त करने के लिए उपलब्ध साधन कम हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध साधनों का मितव्ययिता के साथ उपयोग किया जावे, उनकी वचत की जावे। क्योंकि हमारी आवश्यकताओ के लिए हमारे साधन पर्याप्त नहीं हैं, अतएव हमको केवल यही तय नहीं करना होगा कि हम कौनसी आवश्यकता को पूरा करें और किसको छोड़ दें, वरन् यह भी निश्चित करना होगा कि किस आवश्यकता को किस सीमा तक तृप्त किया जावे। यदि हम अधिक सख्या में अपनी आवश्यकताओं को आशिक रूप में तृप्त करे तो हमें अधिक सतोष प्राप्त होगा, और यदि हम अपनी थोड़ी-सी आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से तृप्त करलें तो जो संतोष हमे प्राप्त होगा वह कम होगा।

(३) राबिन्स की परिभाषा का तीसरा मूल-भूत आधार यह है कि जो भी न्यून साधन (scarce means) हैं, वे केवल एक ही उपयोग में आसकें ऐसा नहीं है; वरन् उनका उपयोग कई प्रकार से हो सकता है। यदि एक वस्तु का उपयोग केवल एक कार्य के लिए हो सकता होता और उसका उपयोग दूसरे कार्य में न हो सकता तो उसके सवन्ध में वहुत कम आर्थिक समस्याएँ उपस्थित होतीं। कोई भी वस्तु जब एक उपयोग को पूरा कर चुकती तो वह मुक्त वस्तु (free good) हो जाती और उसका आर्थिक महत्त्व समाप्त हो जाता। सच तो यह कि एक वस्तु कितने उपयोगों मे काम आ सकती है इसकी सीमा नहीं है। वस्तुओं के उपयोग अनन्त हैं, अतएव सब मिलाकर प्रत्येक वस्तु की माग भी अपरिमित होती है, जो पूर्ण रूप से कभी तृप्त नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक वस्तु के बहुत से उपयोग होते हैं, अतः प्रत्येक वस्तु वहुत-सी आवश्यकताओं

की तृप्ति करने के लिए काम में लाई जाती है, इस कारण कोई भी आवश्यकता पूरी तरह से तृप्त नहीं होती। एक आवश्यकता की तृप्तिकी सीमा तक पहुँचने के पूर्व ही उस वस्तु का उपयोग दूसरी आवश्यकता को पूरा करने में किया जाने लगता है। एक वस्तु को भिन्न-भिन्न उपयोगों में इस प्रकार बाँटा जाता है कि सीमान्त (margin) पर उससे मिलने वाली तृप्ति एक बराबर होती है। इस प्रकार हम अपने सीमित साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करते हैं।

इस प्रकार राबिन्स ने अर्थशास्त्र विज्ञान की पुरानी परिभाषा को अस्वीकार कर दिया। मार्शल के समर्थकों का विचार था कि अर्थशास्त्र मनुष्य-समाज के भौतिक कल्याण (mataiial welfare) के कारणों का अध्ययन करता है। राबिन्स अपनी परिभाषा के आधार पर अर्थशास्त्र विज्ञान का भवन दो शिलाओं पर खड़ा करना चाहता है। (१) आवश्यकताएँ अपरिमित हैं और (२) उनको तृप्त करने के साधन न्यून हैं। यदि यह दो बातें न होतीं तो कोई भी समस्या उपस्थित न होती। जब आवश्यकताएँ अनन्त हैं और उनको पूरा करने के साधन सीमित हैं ऐसी दशा में मनुष्य को कुछ आवश्यकताओं को छाँटना होगा। कुछ को वह पूरा करेगा कुछ को छोड़ देगा, क्योंकि अपनी सब आवश्यकताओं को तो वह पूरा नहीं कर सकता। राबिन्स के अनुसार मनुष्य का आर्थिक प्रयत्न इस बात में सन्निहित है कि वह सीमित साधनों का उपयोग अपनी अपरिमित आवश्यकताओं को पूरा करने में करता है।

अस्तु, राबिन्स के अनुसार आर्थिक समस्याएँ अपरिमित आवश्यकताओं और उनको तृप्त करने के लिए सीमित साधनों की परिस्थिति में ही उत्पन्न होती हैं। जब मनुष्य का कार्य इन दो परिस्थितियों से सम्बधित होता है तभी वह आर्थिक प्रयत्न कहा जा सकता है। यदि कोई मनुष्य मनोरंजन के लिए प्रयत्न करता है, हाकी या फुटबाल खेलता है अथवा अपने साथियों से बात-चीत करता है तो वह कोई आर्थिक कार्य नहीं करता। परन्तु जब कोई व्यक्ति अपना दैनिक कार्यक्रम बनाता है जिससे कि वह अपने सीमित समय का अच्छे से अच्छा उपयोग कर सके, अथवा वह अपने पास जो धन है उसको भिन्न भिन्न कार्यों में लगाने की योजना बनाता है, अथवा जब एक गृहस्थ अपनी मासिक आय को किस प्रकार दूरदर्शितापूर्वक व्यय करे इसका बजट बनाता है तो वह आर्थिक कार्य करता है। ऊपर के उदाहरण में मनुष्य अपने सीमित साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करना चाहता है। जब हम अपने साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करते हैं तभी हम उनसे अधिकतम तृप्ति (maximum satisfaction) प्राप्त करते हैं। अधिकतम उपयोगिता (utility) को प्राप्त करना ही

सारे आर्थिक प्रयत्नों का उद्देश्य है। अधिकतम उपयोगिता को प्राप्त करना ही मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का लक्ष्य है। यही बात किसी राष्ट्र के लिए कही जा सकती है। किसी राष्ट्र की दृष्टि से अर्थशास्त्र की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं। "अर्थशास्त्र उन सिद्धन्तों के अध्ययन को कहेंगे जिनके अनुसार राष्ट्र के साधनों का वहाँ के नागरिकों के लिए अच्छे से अच्छा उपयोग हो सकता है।"

राबिन्स की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टि से मार्शल की परिभाषा की तुलना में अधिक सही है। राबिन्स की परिभाषा के अनुसार जहा एक ओर अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य के समस्त प्रयत्नों का सीमित साधनों और उनके उचित बँटवारे की दृष्टि से अध्ययन करना है, वहा दूसरी ओर अर्थशास्त्र मनुष्य के प्रयत्नों का अध्ययन एक व्यक्ति तथा समाज के अग दोनों ही रूप में करता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों का मत था कि अर्थशास्त्र मनुष्य के समाज के सदस्य की हैसियत से किये गए आर्थिक प्रयत्नों का ही अध्ययन करता है।

राबिन्स की परिभाषा की आलोचना—राबिन्स के आलोचकों का मत है कि अर्थशास्त्र मानव-कल्याण की भावना को नहीं छोड़ सकता। राबिन्स की परिभाषा में अर्थशास्त्र का मानव-कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थशास्त्र एक विज्ञान अवश्य है, किन्तु उसका अध्ययन का क्षेत्र भिन्न प्रकार के मनुष्यो का जीवन है। अस्तु, वह मानव-कल्याण की भावना को नहीं छोड़ सकता। यदि राबिन्स की परिभाषा को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया जाये तो अर्थशास्त्र अमूर्त (abstract) हो जावेगा और उसका अध्ययन अत्यन्त दुरूह हो जावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि सर्वसाधारण के लिए अर्थशास्त्र की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। अर्थशास्त्र का उपयोग तभी है जब कि वह वास्तविक और मूर्त हो। राबिन्स की परिभाषा की आलोचना कुछ विद्वान् इस आधार पर भी करते हैं कि यद्यपि राबिन्स का विचार अधिक वैज्ञानिक है, परन्तु वह अवैयक्तिक तथा लक्ष्य या उद्देश्य के प्रति तटस्थ है, वह मानव-कल्याण की भावना से हीन है अतएव यदि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण यही हो तो फिर उसके अध्ययन से कोई लाभ नहीं होगा। उस दशा में अर्थशास्त्र वास्तव में मूल्य सिद्धान्त (theory of value) भर रह जावेगा।

राबिन्स के आलोचकों का कहना है कि यदि अर्थशास्त्र की पुरानी परिभाषा को ही हम स्वीकार करलें अर्थात् अर्थशास्त्र मनुष्य के समाज की हैसियत से किये गए धन सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करता है तो कोई गलती नहीं होगी। धन (wealth) साधनों की कमी का प्रतीक है और मनुष्य के धन सम्बन्धी कार्यों का उद्देश्य उन सीमित साधनों का अच्छे से

अच्छा उपयोग करना ही होगा। अतएव मार्शल की परिभाषा को हमें छोड़ना नहीं चाहिए।

व प्रश्न यह है कि मार्शल अथवा राबिन्स किस की परिभाषा को नहीं माना जावे। प्रो० राबिन्स की परिभाषा का गुण यह है कि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आखिरकार अर्थशास्त्र का सिद्धान्त की दृष्टि से प्रश्न क्या है इसमें तनक भी सन्देह नहीं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रो० राबिन्स की परिभाषा अधिक सही है - इसके विपरीत प्रो० मार्शल की परिभाषा में यह बात अधिक स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के विद्यार्थी व्यवहार में किन प्रश्नों का अध्ययन करते रहे हैं। लेखक की सम्मति में दोनों परिभाषाओं में कोई विरोधाभास देखने की आवश्यकता नहीं है। व्यवहार में विद्यार्थी को उन प्रश्नों का अध्ययन करना है जो प्रो० मार्शल की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु उन प्रश्नों का अध्ययन हमें आर्थिक समस्या के मूल सिद्धान्त को सामने रखकर ही करना है। यह मूल सिद्धान्त प्रो० राबिन्स की परिभाषा में अधिक अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। वह सिद्धान्त यही है कि हमारे पास जो सीमित साधन हैं उनका विभिन्न कामों में अथवा अपरिमित आवश्यकताओं को पूरा करने में किस प्रकार उपयोग किया जावे कि उसका परिणाम अधिक से अधिक संतोषप्रद हो।

मानवीय प्रयत्नों का लक्ष्य अधिकतम तुष्टि न होकर आवश्यकताओं को कम करना है प्रयाग विश्वविद्यालय के श्री जे. के. मेहता ने अर्थशास्त्रियों के सामने एक नया विचार रक्खा है। प्रश्न यह है कि अधिकतम तुष्टि (maximum satisfaction) जो कि मानवीय प्रयत्नों का मुख्य लक्ष्य है, उस समय प्राप्त होती है जब कि मनुष्य अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को तृप्त करे, अथवा उस समय जब कि वह अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करने का प्रयत्न करे। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि जब मनुष्य निश्चित साधनों से अधिक से अधिक आवश्यकताओं को तृप्त करे। इस विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि पश्चात्य देशों में मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं को अधिकाधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया जिससे जीवन अधिक पेचीदा और कठिन बन गया।

श्री जे. के मेहता का कहना है कि आवश्यकताओं को बढ़ाने में मानवीय सुख में वृद्धि होने की अपेक्षा कमी होती है। उनका मत है कि अधिकतम तुष्टि (maximum satisfaction) तथा मानवीय आवश्यकताओं निरन्तर बढ़ाने में कोई साम्य नहीं है। यह दो विरोधी बातें हैं।

यदि देखा जावे तो जब मनुष्य को कोई आवश्यकता सताती है तो उसे कष्ट होता है। यही कारण है मनुष्य उसकी तृप्ति करके उस कष्ट से छुटकारा पाना चाहता है। यदि आवश्यकता अनुभव होने पर कोई कष्ट न होता तो कोई भी व्यक्ति उस आवश्यकता को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता। इसका अर्थ यह हुआ कि आवश्यकताओं को दूर करने से कष्ट दूर होता है। और सुख उपलब्ध होता है। यह सुख ही तुष्टि (satisfaction) या उपयोगिता (utility) है। यदि कोई व्यक्ति अधिकतम तुष्टि, उपयोगिता या सुख प्राप्त करना चाहता है तो उसको यह प्रयत्न करना चाहिए कि जो भी कष्ट है वह दूर कर दिया जावे और भविष्य में नया कष्ट न अनुभव किया जावे। यह तभी हो सकता है कि जब नई आवश्यकताएँ अनुभव न की जावे। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य अधिकतम तुष्टि या सुख प्राप्त करना चाहता है तो उसको अपनी आवश्यकताओं को कम से कम रखना चाहिए।

यों देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कष्टों को सर्वथा दूर कर सकना सम्भव नहीं है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कष्टों को दूर किया जा सकता है। हाँ यह अवश्य है कि जिस व्यक्ति ने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढा रक्खी हैं उसको बहुत अधिक कष्ट दूर करना होगा। और जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं उनको कम कष्ट दूर करना होगा। हमारी आवश्यकताएँ जितनी ही कम होगी हमारा कष्ट भी उतना ही कम होगा और उस कष्ट को दूर करना तथा अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना उतना ही सरल होगा। अस्तु, यदि अपनी आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए किये गए प्रयत्नों का लक्ष्य अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना है तो वह तभी हो सकता है कि जब आवश्यकताएँ कम हों। श्री जे. के. मेहता का कहना है कि क्योंकि अर्थशास्त्र मनुष्य के उस व्यवहार अथवा प्रयत्नों का अध्ययन करता है कि जो अधिकतम तुष्टि प्राप्ति के लिए किए जाते हैं, और क्योंकि अधिकतम तुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब कि मनुष्य की आवश्यकताएँ न्यूनतम हो। अस्तु, अर्थशास्त्र मनुष्य की आवश्यकताओं को न्यूनतम तथा सरल करने का प्रयत्न करता है। श्री मेहता का मत है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं को कम से कम करना होना चाहिए।

एक प्रकार से देखा जावे तो श्री मेहता ने अर्थशास्त्र की एक नई परिभाषा ही हमारे सामने उपस्थित करदी है जो कि भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन विचार-धारा के अनुकूल है। भारतीय विद्वानों ने सुख प्राप्त करने के लिये मनुष्यों को सदैव अपनी आवश्यकताओं को कम करने का आदेश दिया है। राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी ने भी इसका समर्थन किया था।

माल का विज्ञापन करके जनता मे उसकी मांग उत्पन्न कर देता है। जनता जो वस्तुएँ बाजार मे खरीदती है उनका निर्णय करने में आज विज्ञापन का भी बहुत हाथ रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति और उपभोग का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उत्पत्ति (Production) और वितरण (Distribution): वितरण से हमारा तात्पर्य धन के बटवारे से है। धन की उत्पत्ति हो जाने के उपरान्त उत्पत्ति के साधनो (factors of production) मे उसके बंटवारे को वितरण कहते हैं। भूमि (land) श्रम (labour) पूंजी (capital) संगठन (organisation) तथा साहस (enterprise) उत्पत्ति के साधन है, और जब धन की उत्पत्ति इनकी सहायता से होती है तो उनको उसमें अपना भाग मिलना ही चाहिए। उत्पत्ति और वितरण का गहरा सम्बन्ध है। पहला बात तो यह है कि वितरण उसी दशा मे हो सकता है जब कि धन उत्पन्न किया जाये। क्योंकि यदि धन का उत्पादन ही नहीं होगा तो उसके बटवारे का प्रश्न ही नहीं उठेगा। इसके अतिरिक्त किस प्रकार की वस्तुए उत्पन्न की जावेंगी इस पर भी वितरण का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में धन का बटवारा इस प्रकार होता है कि कुछ लोग तो बहुत अधिक धनी है और अधिकाँश व्यक्ति निर्धन हैं, तो ऐसी दशा मे धनिकों की इच्छा की पूर्ति करने के लिए अनेक प्रकार की विलास की वस्तुएँ उत्पन्न की जावेंगी। इसके विपरीत अगर धन (wealth) का बटवारा अधिक समान है तो या तो विलास की वस्तुएँ विल्कुल ही उत्पन्न नहीं की जावेंगी और यदि उत्पन्न की जावेंगीं तो भी कम परिमाण में। धन के अधिक समान बटवारे का यह भी प्रभाव पडेगा कि मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जावेगा और उनके कारण उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ेगी और वे अधिक धन उत्पन्न कर सकेंगे।

उत्पत्ति और विनिमय (Exchange) : आजकल हम यह देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग काम करता है। कोई बढई है तो कोई कुम्हार है और कोई कपड़ा बुनता है। पिछड़ी हुई जातियों मे कहीं-कहीं आज भी यह स्थिति पाई जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति उन सभी वस्तुओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है कि जिनकी उसको आवश्यकता होती है। अधिकांश मानव जाति ने श्रम विभाजन (division of labour अपना लिया है। उत्पादन का इतना अधिक विशेषीकरण (specialisa केवल इसलिए सम्भव हो सका कि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि माल

उन वस्तुओं को मोल ले सकेगा जिनकी उसको आवश्यकता होगी और उसे स्वय उन वस्तुओं को उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। आजकल जिस प्रकार उत्पादन कार्य होता है यह उसी दशा मे सम्भव हो सकता है कि जब धन के उत्पादन के साथ साथ उसके विनिमय (exchange) का भी प्रवन्ध हो। विनिमय के विना विभाजन सम्भव ही नहीं हो सकता। अतएव उत्पत्ति और विनिमय का सम्वन्ध स्पष्ट है। विना विनिमय के उत्पत्ति (production) सम्भव ही नहीं है।

उत्पत्ति (Production) और राजस्व (Public finance) · राजस्व अर्थशास्त्र का वह विभाग है जिसमें हम इस वात का अध्ययन करते हैं कि सरकार जनता से अपनी आय किस प्रकार से वसूल करती है और उसको किस प्रकार व्यय करती है। इन दोनों ही बातों का धन के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पहले हम राज्य की आय के सम्वन्ध मे विचार करेंगे। सरकार अपनी आय जनता से कर (tax) के रूप मे वसूल करती है। यदि राज्य के कर का भार धन (wealth) उत्पन्न करने वालों पर बहुत अधिक हो तो उसका प्रभाव करदाताओं अर्थात् धन की उत्पत्ति करने वालों पर बुरा होगा, उनकी उत्पादन शक्ति कम हो जावेगी। यदि राज्य ऐसी वस्तुओं पर कर लगाता है कि जिनका धनी और निर्धन सब लगभग एक समान उपभोग करते हैं तो इसका परिणाम यह होगा कि साधारण जनता की आर्थिक दशा खराव हो जावेगी। जब जनता की आर्थिक दशा खराव होगी तो माल की माँग भी कम हो जावेगी और उसका उत्पत्ति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार सरकार विदेशों से आने वाले माल पर कर (tax) लगाकर अपने देश के उद्योग धन्धों की उन्नति कर सकती है। राज्य की आय पर भी उत्पत्ति (production) का असर पड़ता है। जिस देश मे जितना अधिक धन उत्पन्न होगा उतना ही अधिक रुपया सरकार करो के रूप में वसूल कर सकेगी। राज्य जिस प्रकार अपनी आमदनी को खर्च करता है उसका भी धन (wealth) की उत्पत्ति (production) पर वहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक उत्पादन-कार्य (productive activity) के लिए शान्ति और व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसलिए देश मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए राज्य को व्यय करना आवश्यक है। यही राज्य गमनागमन के साधनों की जितनी अधिक उन्नति करेगा उद्योग-धन्धों तथा व्यापार की उन्नति होगी। दूसरे शब्दों में धन की अधिक उत्पत्ति होगी। इसके अतिरिक्त यदि राज्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने ही देश की बनी हुई चीजों को खरीद कर करता है तो वह उन चीजों के उत्पादन को बढाने में सहायक होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पत्ति

(production)और राजस्व (public finance) का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपभोग (Consumption) और विनिमय (Exchange): यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बिना विनिमय के हर एक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये केवल उन्हीं चीजों पर निर्भर रहना पड़ता जिनको कि वह स्वय उत्पन्न कर सकता। उस दशा में उत्पत्ति (production) की आज जैसी व्यवस्था नहीं हो सकती थी। आज तो प्रत्येक व्यक्ति बाजार के लिए वस्तुएँ उत्पन्न करता है। अस्तु, आज की हालत में उपभोग के लिए विनिमय अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति किसी चीज की कीमत, उस चीज को उसके लिए जितनी उपयोगिता (utility) होती है उसी हिसाब से देता है। आगे चल कर हम देखेंगे कि उपयोगिता पर ही उपभोग निर्भर है। मनुष्य किसी चीज का उपभोग उसी हालत मे करेगा जबकि उसके उपभोग से उसे तृप्ति होगी, और तृप्ति बिना उपयोगिता के नहीं मिल सकती।

उपभोग (Consumption) और वितरण (Distribution): उपभोग और वितरण का सम्बन्ध भी स्पष्ट है। जब तक कि धन (wealth) की उत्पत्ति के साधनों में उस धन का बटवारा नहीं कर दिया जाता तब तक उस धन का उपभोग नहीं हो सकता। अतः उपभोग के लिए वितरण आवश्यक है। इसको यदि हम छोड़ भी दें तो कौन व्यक्ति अपने उपभोग के लिए किस प्रकार की चीजों को पसद करता है यह बहुत कुछ हद तक उसकी आय पर निर्भर करता है, और किसकी कितनी आय है इस पर वितरण का प्रभाव पड़ता है। यह हम देख ही चुके हैं कि बिना उपभोग की आवश्यकता के उत्पत्ति (production) नहीं होगी, और यदि उत्पत्ति न हो तो वितरण किसका होगा। इसलिए वितरण का वास्तविक कारण भी उपभोग ही है। और प्रत्येक उत्पत्ति के साधन को कितनी आय होगी यह भी कुछ हद तक उपभोग पर निर्भर है, क्योंकि जहां उपभोग अधिक होगा वहा अधिक उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, और इसलिए प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की आय भी अधिक होगी।

उपभोग (Consumption) और राजस्व (Finance) यह हम देख चुके हैं कि राज्य किस प्रकार कर (tax) जनता से वसूल करता है और अपनी आय को किस प्रकार व्यय करता है। इन दोनों बातों का देश के उत्पादन पर अच्छा या बुरा असर पड़ सकता है। यदि उत्पत्ति बढ़ती है तो उपभोग भी बढ़ेगा और यदि उत्पत्ति कम होती है तो उपभोग भी कम होगा। इसके अतिरिक्त राज्य जिन वस्तुओं पर अधिक कर लगायेगा उनका उपभोग

कम हो जावेगा और जिन चीजों की उत्पत्ति में सरकार मदद देगी उनका उपभोग बढेगा। जिस देश में उपभोग अधिक होगा वहां की सरकार की आय उपभोग की वस्तुओं पर लगाए गए करों से अधिक होगी। और जहां उपभोग कम होगा वहा इस प्रकार की आय भी कम होगी।

विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) यह समझना कठिन नहीं है कि विनिमय और वितरण में कितना निकट का सम्बन्ध है। जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है उसका विभिन्न उत्पत्ति के साधनों (factors of prodnction) में बटवारा विनिमय के नियमों के आधार पर ही होता है। विनिमय की आवश्यकता आज इस लिए जान पड़ती है कि सम्पत्ति सम्मिलित रूप से उत्पन्न की जाती है जिसे उत्पन्न करने वालों में बाटना जरूरी हो जाता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति उत्पत्ति केवल अपने लिए ही करता हो तो वितरण का सवाल ही पैदा नहीं होता और न उस हालत मे विनिमय ही की कोई आवश्यकता होती। अतः विनिमय और वितरण का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट है।

विनिमय (Exchange) और राजस्व (Public Finance) राजस्व का अर्थशास्त्र (economics) के अन्य विभागों—जैसे उत्पत्ति, उपभोग और वितरण स जो सम्बन्ध है उसके बारे मे हम ऊपर लिख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि विनिमय इस तमाम विभागों के आपसी सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। ऐसी दशा मे राजस्व और विनिमय का सम्बन्ध समझना कठिन नहीं है। विना विनिमय की सहायता के राज्य अपने आर्थिक कार्यों को जिनका हम राजस्व मे अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार पूरा नहीं कर सकता जैसे कि अन्य विभागों का कार्य विना विनिमय के नहीं चल सकता। विनिमय वह केन्द्र है जिसके चारों ओर आज की सारी आर्थिक व्यवस्था घूमती है। सरकार को उपभोग की चीजो पर लगाये गए कर से आय उसी दशा में सम्भव होगी जब कि जनता उनको खरीदेगी, और जितना अधिक उनका विनिमय होगा राज्य की उतनी ही अधिक आय होगी। क्योंकि विनिमय अधिक उसी दशा मे होगा जब कि चीजों का उपभोग अधिक मात्रा मे हो। इसी प्रकार सरकार जो विभिन्न प्रकार के खर्च करती है वे भी विना विनिमय के सम्भव नहीं हो सकते। विनिमय ही वह ज़रिया है जिसके द्वारा सरकार अपनी आय को विभिन्न कार्यों में उपयोग कर सकेगी। अतः विनिमय के विना राजस्व का कार्य नहीं चल सकता।

वितरण (Distribution) और राजस्व (Public Finance) राज्य जिस प्रकार रुपया व्यय करता है, उसका देश में धन के वितरण

पर काफी असर पड़ता है। उदाहरण के लिए वृद्ध लोगो को पेंशन देने, बेकार मजदूरों को बेकारी भत्ता देने, शिक्षा, तथा स्वास्थ्य पर व्यय करने, तथा जनता की अन्य सुविधायें जैसे पार्क आदि बनवाने का वितरण पर अच्छा असर पड़ता है, क्योंकि धन के असमान वितरण से होने वाली बुराइयाँ कुछ हद तक कम हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि राज्य चाहे तो अपनी कर-नीति (taxation-policy) से भी असमान वितरण की बुराइयो को कम कर सकता है और उनको बढा भी सकता है।

यदि राज्य के कर का बोझ ऐसी चीजों पर पड़ता है जो जीवन की आवश्यकताएँ हैं और जिनको धनी और निर्धन सभी लगभग बराबर-बराबर इस्तैमाल करते हैं तो इसका असर असमान वितरण को और अधिक असमान बनाना होगा। केवल क्रमागत वर्द्धमान कर (progressive taxation) से सरकार असमान वितरण की बुराइयों को कम कर सकती है। इसी प्रकार वितरण का भी राजस्व पर असर पडेगा क्योंकि मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होने से उनकी उत्पादक शक्ति और अधिक होगी, जिसकी वजह से वे अधिक धन उत्पन्न कर सकेंगे और वितरण के लिए अधिक धन उपलब्ध होगा। और जब प्रत्येक उत्पत्ति के साधन (factor of production) की आय अधिक होगी तो सरकार कर के रूप मे अधिक रुपया वसूल कर सकेगी। इसके विरुद्ध यदि किसी देश में वितरण अधिक असमान है तो उत्पत्ति कम होगी और सरकार को करों के रूप मे आय भी कम होगी, क्योंकि देश में धन (wealth) कम होगा। अतः अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि वितरण और राजस्व का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागो का एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है यह हम ऊपर स्पष्ट रूप से लिख चुके हैं। यही बात एक दूसरे तरीके से भी बतलाई जा सकती है। कई आर्थिक प्रश्न ऐसे हैं जो एक से अधिक विभाग के अंग माने जा सकते हैं। जैसे जनसंख्या का प्रश्न है जो उत्पत्ति (production) के विभाग मे भी आसकता है, क्योंकि श्रम (labour) उत्पत्ति का एक साधन है। और वितरण (distribution) मे भी क्योंकि मजदूरी (wages) का अध्ययन करते समय हमको श्रम का भी विचार करना होगा और श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध मे हम जनसंख्या की समस्या का भी अध्ययन कर सकते हैं। एक और उदाहरण ले। राज्य के व्यय और करनिर्धारण के सिद्धान्त को साधारणतया हम राजस्व (public finance) के विभाग में सम्मिलित करते हैं, लेकिन यदि हम चाहें तो राज्य के व्यय का अध्ययन उपभोग (consumpt-

कम हो जावेगा और जिन चीजों की उत्पत्ति में सरकार मदद देगी उनका उपभोग बढ़ेगा। जिस देश में उपभोग अधिक होगा वहां की सरकार की आय उपभोग की वस्तुओं पर लगाए गए करों से अधिक होगी। और जहां उपभोग कम होगा वहां इस प्रकार की आय भी कम होगी।

विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution): यह समझना कठिन नहीं है कि विनिमय और वितरण में कितना निकट का सम्बन्ध है। जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है उसका विभिन्न उत्पत्ति के साधनों (factors of prodnction) में बटवारा विनिमय के नियमों के आधार पर ही होता है। विनिमय की आवश्यकता आज इस लिए जान पड़ती है कि सम्पत्ति सम्मिलित रूप से उत्पन्न की जाती है जिसे उत्पन्न करने वालों में बांटना जरूरी हो जाता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति उत्पत्ति केवल अपने लिए ही करता हो तो वितरण का सवाल ही पैदा नहीं होता और न उस हालत मे विनिमय ही की कोई आवश्यकता होती। अतः विनिमय और वितरण का आपसी सम्बन्ध स्पष्ट है।

विनिमय (Exchange) और राजस्व (Public Finance) राजस्व का अर्थशास्त्र (economics) के अन्य विभागों—जैसे उत्पत्ति, उपभोग और वितरण से जो सम्बन्ध है उसके बारे मे हम ऊपर लिख चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि विनिमय इस तमाम विभागों के आपसी सम्बन्ध को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। ऐसी दशा में राजस्व और विनिमय का सम्बन्ध समझना कठिन नहीं है। बिना विनिमय की सहायता के राज्य अपने आर्थिक कार्यों को जिनका हम राजस्व मे अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार पूरा नहीं कर सकता जैसे कि अन्य विभागों का कार्य बिना विनिमय के नहीं चल सकता। विनिमय वह केन्द्र है जिसके चारों ओर आज की सारी आर्थिक व्यवस्था घूमती है। सरकार को उपभोग की चीजो पर लगाये गए कर से आय उसी दशा में सम्भव होगी जब कि जनता उनको खरीदेगी, और जितना अधिक उनका विनिमय होगा राज्य की उतनी ही अधिक आय होगी। क्योंकि विनिमय अधिक उसी दशा मे होगा जब कि चीजों का उपभोग अधिक मात्रा मे हो। इसी प्रकार सरकार जो विभिन्न प्रकार के खर्च करती है वे भी बिना विनिमय के सम्भव नहीं हो सकते। विनिमय ही वह ज़रिया है जिसके द्वारा सरकार अपनी आय को विभिन्न कार्यों में उपयोग कर सकेगी। अतः विनिमय के बिना राजस्व का कार्य नहीं चल सकता।

वितरण (Distribution) और राजस्व (Public Finance)· राज्य जिस प्रकार रुपया व्यय करता है, उसका देश में धन के वितरण

पर काफी असर पड़ता है। उदाहरण के लिए वृद्ध लोगों को पेंशन देने, बेकार मजदूरों को बेकारी भत्ता देने, शिक्षा, तथा स्वास्थ्य पर व्यय करने, तथा जनता की अन्य सुविधायें जैसे पार्क आदि बनवाने का वितरण पर अच्छा असर पड़ता है, क्योंकि धन के असमान वितरण से होने वाली बुराइयाँ कुछ हद तक कम हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि राज्य चाहे तो अपनी कर-नीति (taxation-policy) से भी असमान वितरण की बुराइयो को कम कर सकता है और उनको बढा भी सकता है।

यदि राज्य के कर का बोझ ऐसी चीजों पर पड़ता है जो जीवन की आवश्यकताएँ हैं और जिनको धनी और निर्धन सभी लगभग बराबर-बराबर इस्तैमाल करते हैं तो इसका असर असमान वितरण को और अधिक असमान बनाना होगा। केवल क्रमागत वर्द्धमान कर (progressive taxation) से सरकार असमान वितरण की बुराइयों को कम कर सकती है। इसी प्रकार वितरण का भी राजस्व पर असर पड़ेगा क्योंकि मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होने से उनकी उत्पादक शक्ति और अधिक होगी, जिसकी वजह से वे अधिक धन उत्पन्न कर सकेंगे और वितरण के लिए अधिक धन उपलब्ध होगा। और जब प्रत्येक उत्पत्ति के साधन (factor of production) की आय अधिक होगी तो सरकार कर के रूप में अधिक रुपया वसूल कर सकेगी। इसके विरुद्ध यदि किसी देश में वितरण अधिक असमान है तो उत्पत्ति कम होगी और सरकार को करों के रूप में आय भी कम होगी, क्योंकि देश में धन (wealth) कम होगा। अतः अब यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि वितरण और राजस्व का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों का एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है यह हम ऊपर स्पष्ट रूप से लिख चुके हैं। यही बात एक दूसरे तरीके से भी बतलाई जा सकती है। कई आर्थिक प्रश्न ऐसे हैं जो एक से अधिक विभाग के अग माने जा सकते हैं। जैसे जनसख्या का प्रश्न है जो उत्पत्ति (production) के विभाग में भी आसकता है, क्योंकि श्रम (labour) उत्पत्ति का एक साधन है। और वितरण (distribution) मे भी क्योंकि मज़दूरी (wages) का अध्ययन करते समय हमको श्रम का भी विचार करना होगा और श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध में हम जनसख्या की समस्या का भी अध्ययन कर सकते है। एक और उदाहरण लें। राज्य के व्यय और करनिर्धारण के सिद्धान्त को साधारणतया हम राजस्व (public finance) के विभाग में सम्मिलित करते हैं, लेकिन यदि हम चाहें तो राज्य के व्यय का अध्ययन उपभोग (consumpt-

ion) के साथ कर सकते हैं, और करनिर्धारण के सिद्धान्तों को भी इस दृष्टि से उपभोग मे सम्मिलित कर सकते हैं, क्योंकि कर (tax) के द्वारा ही सरकार अपने व्यय के लिए आवश्यक आय प्राप्त करती है। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि सरकार की कर-नीति का असर वितरण पर भी पड़ता है और इस लिए करनिर्धारण के सिद्धान्तों की विवेचना हम वितरण में भी कर सकते हैं। और कर का उत्पत्ति पर क्या असर होता है यह हम उत्पत्ति के विभाग मे भी रख सकते हैं। इससे यह बात अच्छी तरह से सिद्ध की जा सकती है कि अर्थशास्त्र के विभिन्न विभाग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और उनको बिलकुल अलहदा नहीं किया जा सकता। एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)

अर्थशास्त्र के विषय के बारे मे जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद हमारे सामने दूसरा प्रश्न अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बारे मे उठता है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि अर्थशास्त्र मे हम मनुष्यों के आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन करते हैं किन्तु इस सम्बन्ध मे हमारा दृष्टिकोण क्या है यह भी ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। आर्थिक प्रयत्नों के अध्ययन करने का सबसे अधिक सकुचित दृष्टिकोण तो यह हो सकता है कि हम उनकी वर्तमान स्थिति का ही अध्ययन करें और अपने इस अध्ययन के आधार पर उन साधारण नियमों के बारे मे जानकारी प्राप्त करें जिनके अनुसार इन आर्थिक प्रयत्नों का सचालन होता है। एक उदाहरण लेने से हमारा अर्थ स्पष्ट हो जावेगा। मजदूरों की मजदूरी के बारे में अध्ययन करते समय हमारा दृष्टिकोण केवल इतना ही रहेगा कि मौजूदा हालत मे मजदूरी किन आर्थिक नियमों के अनुसार निश्चित की जाती है। इसके अतिरिक्त हम यह जानने का प्रयत्न नही करेंगे कि मजदूरी इसी प्रकार निश्चित की जानी चाहिए अथवा नहीं। अगर मजदूरी निश्चित करने का मौजूदा तरीका ठीक नही है तो हमारा आदर्श क्या होना चाहिए। दूसरे शब्दों मे हमारा दृष्टिकोण वर्तमान दशा की जानकारी प्राप्त करने तक ही सीमित रहेगा। औचित्य अथवा अनौचित्य मे हमारा कोई सम्बन्ध न होगा। किन्तु यदि हम चाहें तो अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बना सकते हैं। अर्थात् हम यह भी जानने का प्रयत्न कर सकते हैं कि जितनी मजदूरी मजदूरों को मिल रही है वह उचित है अथवा अनुचित। ऐसी दशा मे हम अर्थशास्त्र के क्षेत्र को आर्थिक प्रयत्नों (economic activities) की मौजूदा स्थिति के अध्ययन तक ही सीमित न रख कर उसके क्षेत्र को तनक और बढायेंगे और मौजूदा स्थिति के

अलावा–यह स्थिति अच्छी है अथवा नही, और अगर नही तो हमारा आदर्श उसके सम्बन्ध में क्या होना चाहिए इस बात का भी अध्ययन करेंगे। जैसे मजदूरी (wages) के बारे में हम केवल इतना जानकर ही सतुष्ट नहीं हो जावेंगे कि मौजूदा हालत में मज़दूरी किन आर्थिक नियमों (economic laws) के अनुसार निश्चित की जाती है, वरन् हम इस बात का भी विचार करेंगे कि वे नियम ठीक हैं अथवा नही। और यदि ठीक नहीं हैं तो उन का स्थान किन नियमो को लेना चाहिए। अर्थात् मजदूरी किन नियमों के अनुसार निर्धारित होनी चाहिए। अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक तीसरा दृष्टिकोण और भी हो सकता है, वह यह है कि हम न केवल दूसरे दृष्टि-कोण के अनुसार यह जानकर ही सतुष्ट हो जावें कि किसी भी आर्थिक प्रश्न के सम्बन्ध में क्या होना चाहिए, वरन उस आदर्श तक पहुँचने के लिए किन व्यावहारिक नियमों को काम मे लाना चाहिए इस बात का भी हम अध्ययन करेंगे। इस प्रकार आर्थिक प्रयत्नों का हम तीन दृष्टिकोणों से अध्ययन कर सकते हैं। अब हमारे तय करने की बात यह है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन किस दृष्टिकोण से उचित होगा। यदि हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय हमको केवल मौजूदा बातों का ही ध्यान रखना चाहिए तो हम कहेंगे कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान (positive science) है। किन्तु अगर हम मौजूदा स्थिति के अध्ययन के अलावा इस बात का भी विचार करते हैं कि यह स्थिति ठीक है अथवा नहीं, और उसके स्थान मे क्या होना चाहिए तो उस दशा में हम अर्थशास्त्र को नीति प्रधान विज्ञान (normative science) कहेंगे। और यदि इससे भी एक कदम आगे बढ़कर हम केवल 'क्या होना चाहिए' इतना जानकर ही सतुष्ट नहीं हो जाते वरन उसकी प्राप्ति के लिए हमको किन-किन साधनो को काम में लाना चाहिए, इस बात की भी जानकारी करना चाहते हैं, तो उस हालत मे अर्थशास्त्र की गिनती हम न केवल विज्ञान (science) में वरन कला (arts) में भी करेंगे। अतः स्पष्ट शब्दों में अर्थशास्त्र के क्षेत्र का निर्णय करते समय हमको इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला। और यदि विज्ञान है तो वास्तविक विज्ञान है, अथवा नीतिप्रधान विज्ञान ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देने के लिए हमे विज्ञान और कला (art की ठीक परिभाषा जान लेना आवश्यक है।

किसी भी विद्या को, जो अपने क्षेत्र मे कारण और परिणाम मे आपसी सम्बन्ध का अध्ययन करती है, हम विज्ञान (science) कह सकते हैं। विज्ञान को इस बात से कोई मतलब नहीं कि क्या उचित है और क्या अनुचित। न ७

काम किसी निश्चित आदर्श की प्राप्ति के लिए आवश्यक नियमों का निर्माण करना होता है। उसका एक मात्र ध्येय यह बतलाना होता है कि किस कारण का क्या परिणाम होगा और किसी विशेष परिणाम का क्या कारण है।

कला (art) हम उस विद्या को कहते हैं जो किसी पूर्व निश्चित आदर्श तक कैसे पहुँचा जावे यह बतलाती है। अतः कला पहले से ही यह मान कर चलती है कि क्या उचित है और क्या अनुचित। और उचित किस प्रकार प्राप्त किया जावे तथा अनुचित से किस प्रकार बचा जावे। कला उन व्यावहारिक नियमों का निर्माण करती है जिनका कि पालन करने से कोई भी मनुष्य उन आदर्शों तक पहुँच सकता है जिनकी प्राप्ति उन नियमों का लक्ष्य है।

विज्ञान की जो परिभाषा हम ऊपर लिख चुके हैं वह वास्तविक विज्ञान (positive science) की है, जिसका उद्देश्य उस विज्ञान के साधारण नियमों का निर्माण करना है। किन्तु वास्तविक विज्ञान और कला के बीच में एक और विद्या है जिसका उद्देश्य आदर्श का निर्णय करना है, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। इस प्रकार की विद्या को नीति प्रधान विज्ञान (normative science) कहते हैं। वास्तविक विज्ञान की तरह नीति प्रधान विज्ञान का वास्तविक घटनाओं से ही सम्बन्ध नहीं होता। वह 'क्या है' इतना ही अध्ययन न करके क्या होना चाहिए इस बात का भी अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र के प्राचीन विद्वानों का यह मत था कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है जिसका काम केवल इतना ही है कि वह आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करे, उनकी जाच करे, उनको तरतीब वार जमाये और कारण तथा परिणाम के आपसी सम्बन्ध को स्पष्ट करे और अन्त में उनके आधार पर आर्थिक नियमों का निर्माण करे। इसका मतलब यह नहीं है कि वे आर्थिक मसलों के अध्ययन के सम्बन्ध में उनपर पड़ने वाले सामाजिक तथा अन्य बातों के असर के महत्त्व को नहीं समझते थे। आर्थिक प्रश्नों का इन बातों से कितना गहरा सम्बन्ध है इस बात को जानते हुए भी उनका ऐसा विचार था कि अर्थशास्त्री की हैसियत से उनको इन बातों का ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं है। यह मत अंग्रेज अर्थशास्त्रज्ञों का था। इस मत की प्रतिक्रिया यह हुई कि जर्मन अर्थशास्त्रज्ञों का एक दूसरा दल तैयार हुआ, जिसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को इतना संकुचित मानना स्वीकार नहीं किया। उनकी धारणा यह थी कि अर्थशास्त्र में हमको न केवल आर्थिक घटनाओं (economic phenomena) का उनके वर्त्तमान रूप में अध्ययन करना चाहिए वरन अपने इस अध्ययन का जो परिणाम निकले उसको उचित और अनुचित की कसौटी पर कसना भी चाहिए। इसके अति-

रिक्त वे यह भी आवश्यक समझते थे कि अर्थशास्त्र में हम उन नियमों का निर्माण भी करें जिनके द्वारा हम अपने पूर्व निश्चित आदर्श तक पहुँच सकें। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अर्थशास्त्र को केवल एक वास्तविक विज्ञान मान लेना ग़लत है। वे अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान (positive science) नीतिप्रधान विज्ञान (normative science) तथा कला (Art) तीनों ही मानते थे।

आज कल अर्थशास्त्र के विद्वानों की राय भी अर्थशास्त्र के क्षेत्र को व्यापक बनाने की ही है। वे इतना ही यथेष्ट नहीं समझते कि अर्थशास्त्र मौजूदा आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करके और उनके आधार पर आर्थिक नियमों का निर्माण करके ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझले। उनकी राय में अर्थशास्त्र का क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक है। वे यह आवश्यक समझते हैं कि अर्थशास्त्र इस प्रकार के अध्ययन के अतिरिक्त इस बात पर भी विचार करे कि अपने अध्ययन के द्वारा जो बातें ज्ञात हुई हैं वे नीति और मानव समाज के हित की दृष्टि से कहा तक ठीक हैं, उनमें किस - सीमा तक सुधार की आवश्यकता है और उस सुधार के लिए हमें क्या करना चाहिए। इस प्रकार अर्थशास्त्र का काम केवल इतना ही नहीं होगा कि वह उत्पत्ति (production), वितरण (distribution), विनिमय (exchange) और उपभोग (consumption) के नियमो का अध्ययन करे, वरन उसे न्याय और नीति की दृष्टि से भी यह तय करना होगा कि हमारा धन की उत्पत्ति और वितरण सम्बन्धी आदर्श क्या होना चाहिए, और उस आदर्श तक पहुँचने के लिए हमें क्या करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हमको अर्थशास्त्र का अध्ययन न केवल वास्तविक विज्ञान, वरन नीति प्रधान विज्ञान और कला की दृष्टि से भी करना चाहिए। इसमें तनक भी सदेह नहीं कि अर्थशास्त्र का अध्ययन हमें व्यापक दृष्टिकोण से ही करना चाहिए जिससे कि हम अपने आर्थिक घटना सम्बन्धी ज्ञान का समाज के लिए उपयोग कर सकें। अर्थशास्त्र के विद्वानों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे देश का अधिक से अधिक आर्थिक हित हो, इस दृष्टि से ही अर्थशास्त्र का अध्ययन करें, और धन-की उत्पत्ति (production) तथा धन के वितरण (distribution of wealth) का इसी दृष्टि से संगठन करें। लेकिन इस विषय का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को भली प्रकार समझ लें कि यद्यपि व्यावहारिक जीवन में आर्थिक प्रश्नों के बारे मे कुछ सोचते समय हमारा आर्थिक पहलू के अतिरिक्त राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक पहलुओं पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। परन्तु जिस हद तक

हम इन अन्य पहलुओं पर विचार करते हैं हम अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर हैं, और इस वास्ते हम अन्त में इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्र का नीति प्रधान विज्ञान (normative science) और कला (art) की दृष्टि से भी अध्ययन करना आवश्यक है। अब तक 'कला' शब्द का प्रयोग हमने एक विशेष प्रकार के ज्ञान के सम्बन्ध में ही किया है, अर्थात् उस ज्ञान को हमने 'कला' कहा है जो हमको यह बतलाता है कि अमुक आदर्श तक पहुँचने के लिए हमको क्या करना चाहिए। पर 'कला' का प्रयोग हम क्रिया के अर्थों में भी कर सकते हैं। इस अर्थ में भी अर्थशास्त्र एक कला है। जब हम अर्थशास्त्र (economics) के ज्ञान के अनुसार आचरण करते हैं तो वह अर्थशास्त्र की कला का प्रयोग कहा जा सकता है।

अर्थशास्त्र एक पृथक शाखा है. अब हम संक्षेप में इस बात पर विचार करेंगे कि अर्थशास्त्र अपने आप में एक पृथक विज्ञान है। कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि अर्थशास्त्र को एक अलग से विज्ञान मान बैठना भूल है। वह तो समाज शास्त्र (sociology) की एक शाखा है। उस विद्या को जो मनुष्य और समाज या सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करती है हम समाज शास्त्र (sociology) कहते हैं। जो लोग अर्थशात्र को समाजशास्त्र की एक शाखा मात्र मानते हैं उनकी दलील यह है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न पहलू एक दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि उनका अलग-अलग अध्ययन करना सम्भव नहीं हो सकता, और इस वास्ते अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अर्थशास्त्र का एक अलग विद्या के रूप में अध्ययन करने के बजाय, अपनी शक्ति समस्त सामाजिक पहलुओं का विचार करने वाले उस साधारण विज्ञान के अध्ययन में लगावें जिसे हम समाजशास्त्र (sociology) के नाम से पुकारते हैं। लेकिन इस दलील में अधिक सच्चाई नहीं है। मनुष्य का सामाजिक जीवन इतना विस्तृत और विशाल है, कि उन सबका एक साथ अध्ययन करना सम्भव नहीं है। अतः इस बात को मानते हुए भी कि मनुष्य की भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों का एक दूसरे पर असर पड़ता है, और इसलिए एक प्रकार के सामाजिक कार्यों का अध्ययन करते समय हमें अन्य सामाजिक कार्यों का ध्यान भी रखना होगा। साथ ही हमको यह भी मानना पड़ेगा कि किसी भी विषय का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक कि उसका स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जाय। यही बात अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में भी लागू होती है। आर्थिक घटनाओं (economic phenomena) का अध्ययन करने के लिए और उन्हें ठीक-ठीक समझने के लिए अर्थशास्त्र को एक

अलग विद्या मानना जरूरी है और अर्थशास्त्र का मनुष्य के सामाजिक जीवन में सही स्थान क्या है यह जानने के लिए हमको अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। अब हम अर्थशास्त्र का सामाजिक तथा और दूसरे शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है इसपर विचार करेंगे।

अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्र

अर्थशास्त्र (Economics) और राजनीति शास्त्र (Politics) · जैसा कि हम पहले कह चुके है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करता है जब कि राजनीति में हम राज्य और उसके नागरिकों के आपसी सम्बन्ध के बारे में अध्ययन करते हैं। अर्थशास्त्र और राजनीति में काफी निकट का सम्बन्ध है और एक का दूसरे पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। कुछ उदाहरण लेकर हम इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सबसे पहली बात तो यह है कि किसी भी देश के आर्थिक जीवन को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश में पूरी तरह से शान्ति और सुव्यवस्था कायम रहे और किसी प्रकार की राजनैतिक उथल-पुथल न हो। हम जानते हैं कि युद्ध काल में देश का आर्थिक जीवन भी एकदम अव्यवस्थित सा हो जाता है। अत किसी भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए उस देश में राजनैतिक दृष्टि से सुख और शान्ति का होना जरूरी है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। किसी देश के लिए जहा की भूमि उपजाऊ नहीं है लेकिन जहां लोहा और कोयला खानों में भरा हुआ है, आर्थिक दृष्टि से यही उचित होगा कि वहा खाद्य पदार्थ न उत्पन्न किए जावें और उद्योग-धन्धों को ही खूब बढाया जावे। लेकिन राजनीति की दृष्टि से यह भूल होगी कि कोई भी देश खाद्य पदार्थ जैसी जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तु के लिए किसी भी दूसरे देश पर निर्भर रहे। युद्ध के समय यह निर्भरता और भी खतरनाक चीज होगी। ऐसी दशा में केवल राजनीति की दृष्टि से उस देश में खाद्य पदार्थों की पैदावार करना आवश्यक हो जावेगा। आज प्रत्येक राष्ट्र सेना पर बहुत सा रुपया व्यय करता है जब कि चारों ओर अशिक्षा, गरीबी, और बीमारी का साम्राज्य स्थापित है। आर्थिक दृष्टि से यह बात भले सही न हो, किन्तु राजनैतिक दृष्टि से यह खर्च जरूरी ठहराया जा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक जीवन का देश की राज्य सस्था पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल मे जब आर्थिक जीवन का आधार पूंजीवाद (capitalism) नहीं था राज्य सस्था का रूप आज से

भिन्न था। आज जो राज्य का आर्थिक जीवन में दिनों दिन हस्तक्षेप बढता जा रहा है उसका कारण यह है कि मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में साधारण जनता और निर्धन मजदूरों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए इस प्रकार का हस्तक्षेप आवश्यक है।

अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र (Jurisprudence): न्यायशास्त्र हमको यह बतलाता है कि मनुष्य कानून की दृष्टि से क्या कर सकता है और क्या नहीं। इसलिए न्यायशास्त्र और अर्थशास्त्र में भी निकट का सम्बन्ध है। राज्य द्वारा जो कानून बनाये जाते हैं, उनको बनाते समय उस समय की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाता है। मनुष्य के आर्थिक जीवन पर उस देश के कानून का भी असर पडता है। उदाहरण के लिए जिन-जिन देशों में आधुनिक ढग के बड़े-बड़े कल-कारखाने खोले गए हैं वहा मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए फैक्टरी कानून भी बनाने पड़े हैं। इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानों के इस धार्मिक कानून का कि पिता की ज़मीन सब पुत्रों में बराबर-बराबर बाटी जाय हमारे देश के आर्थिक जीवन पर बहुत असर पडा है। जमीन के छोटे-छोटे टुकडो मे बँटे हुए होने की जो समस्या आज हमारे सामने मौजूद है वह कुछ हद तक इस कानून का ही परिणाम है।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics): नीति शास्त्र में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि क्या काम नैतिक और क्या अनैतिक है। यह शास्त्र हमें अच्छे और बुरे का ज्ञान कराता है। इतना ही नहीं, हमे अपने आचरण के सम्बन्ध मे किन नियमों का पालन करना चाहिए यह भी नीति शास्त्र हमें बतलाता है। नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का आपस मे बहुत गहरा सम्बन्ध है। खास तोर से यह सम्बन्ध अर्थशास्त्र के नीति प्रधान विज्ञान (normative science) की हैसियत से है। क्योंकि अर्थशास्त्र इस बात पर विचार करता है कि विभिन्न आर्थिक मसलों के सम्बन्ध मे हमारा आर्थिक आदर्श क्या होना चाहिए। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध को समझने के लिए अब हम कुछ उदाहरण लेंगे। कोई भी अर्थशास्त्रज्ञ व्यावहारिक दृष्टि से अगर मूल्य की समस्या का अध्ययन करना चाहता है तो मूल्य किन नियमों के आधार पर निश्चित होता है इतना ही जान लेना उसके लिए काफी नहीं होगा। उसे यह भी देखना होगा कि इस प्रकार से जो मूल्य निश्चित होता है वह नैतिक दृष्टि से कहा तक उचित है। यदि मजदूरों की सख्या बहुत बढ जाती है तो उसका आर्थिक परिणाम यह होगा कि मजदूरी की दर बहुत घट जावेगी। लेकिन बहुत कम मजदूरी देना मालिक के लिए कहा तक उचित होगा व्यावहारिक रूप

से इस बात पर भी हमे विचार करना होगा। कोई भी अर्थशास्त्री इस प्रश्न को बिना नीतिशास्त्र की सहायता के हल नहीं कर सकता। इसी प्रकार हमारे आर्थिक जीवन की एक दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या को लीजिए। आज समाज में जो असमान वितरण (unequal distribution) देखने को मिलता है वह कहा तक उचित है इस बात का हल करने के लिए भी हमको नीतिशास्त्र की सहायता लेनी होगी। अत. अर्थशास्त्र की समस्याओ का हल उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि हम उनपर नीतिशास्त्र (ethics) की दृष्टि से भी विचार न करें। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का यही सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और धर्म. अलग-अलग धर्म के धार्मिक विश्वासों और धार्मिक विचारों का असर भी उनके आर्थिक जीवन पर पड़ता है। इस वास्ते धर्म और अर्थशास्त्र का आपस में एक दूसरे से सम्बन्ध है यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रत्येक अर्थशास्त्र का विद्यार्थी यह जानता है कि किसानों के लिए मुर्गी पालना लाभदायक धंधा हो सकता है, किन्तु हिन्दू लोग अपने धार्मिक विचारों के कारण इस धंधे को करने के लिए तैयार नहीं होते। इस्लाम धर्म सूद लेना अधार्मिक कार्य मानता है, इसका प्रभाव मुसलमानों के आर्थिक जीवन पर पड़ता है। इस प्रकार के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जावेगी कि आर्थिक प्रश्नो का व्यावहारिक रूप मे हल सोचते समय अर्थशास्त्र को सम्बन्धित लोगों के धार्मिक विचारों और विश्वासो का भी ध्यान रखना होगा।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology) · मनोविज्ञान मनुष्य की मानसिक अवस्था का अध्ययन करता है। मनुष्य जितने भी कार्य करता है उन सब पर ही उसकी मानसिक स्थिति का असर पड़ता है। ऐसी दशा में उसके आर्थिक क्षेत्र में किए जाने वाले कामों पर भी उसकी मानसिक स्थिति और मनोविज्ञान के नियमों का असर पड़ना स्वाभाविक है। अर्थशास्त्र में बहुत से नियम और विषय, जिनका हम आगे चलकर अध्ययन करेंगे, ऐसे हैं जिनका मनोविज्ञान के नियमों से सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट है। हम यहा कुछ उदाहरण देंगे। मनुष्य को किसी चीज से कितनी तृप्ति होती है यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि आवश्यकताएँ और तृप्ति आदि का अध्ययन हम अर्थशास्त्र में भी करते हैं। इसके अलावा मनुष्य किस वस्तु के लिए ——
मूल्य देने को तैयार है—जो कि अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है.
बात पर निर्भर रहता है कि उसको उस चीज से कितनी तृप्ति होती
जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं तृप्ति मनोविज्ञान से सम्बन्ध रख

है। इसी प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम (law of diminishing utility) अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण नियम है, लेकिन उसका आधार यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि मनुष्य के पास किसी चीज की जितनी अधिक मात्रा बढती जावेगी उससे उसकी उपयोगिता भी कम होती जावेगी। अर्थशास्त्र कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यो को स्वीकार करके चलता है और यही कारण है कि अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और आर्थिक इतिहास (Economic History). आर्थिक इतिहास में हम किसी भी देश से सम्बन्ध रखने वाली आर्थिक घटनाओं का क्रमबद्ध रूप में अध्ययन करते हैं। अर्थशास्त्र का अध्ययन आर्थिक इतिहास के अध्ययन के विना उसी प्रकार अधूरा है जिस प्रकार आर्थिक इतिहास का अध्ययन अर्थशास्त्र के विना अधूरा है। अर्थशास्त्र और आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध को समझने के लिये हम कुछ उदाहरण लेंगे। अगर हम जानना चाहते हैं कि किसी खास तरह की कर नीति (taxation policy) का चीजों की उत्पत्ति (production) और उपभोग (consumption) पर क्या असर हुआ है जिससे कि हम भविष्य के लिये अपनी नीति तय कर सकें, तो हमको आर्थिक इतिहास की सहायता लेनी चाहिए। इसी प्रकार हमारे सामने इस समय सवसे बड़ी समस्या यह है कि मौजूदा धन (wealth) के असमान वितरण (unequal distrtuibtion) को अधिक समान बनाया जाय। इसी सम्बन्ध मे हमको यह भी जानना होगा कि असमान वितरण को अधिक समान बनाने का धन की उत्पत्ति पर क्या असर पड़ेगा। इस वात का हम इस दिशा में अव तक जो प्रयत्न किए गए हैं उनके आर्थिक इतिहास की मदद से अध्ययन करने से जान सकते हैं। इस प्रकार ऐसी वहुत सी आर्थिक समस्याएँ हो सकती हैं जिनका हल ढूंढ निकालने के लिये हमको पिछले अनुभव की सहायता लेनी होगी। इसी प्रकार वहुत से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की सचाई का ठीक-ठीक अनुमान हम पिछले अनुभव के आधार पर ही लगा सकते हैं। अर्थशास्त्र और आर्थिक इतिहास मे वहुत गहरा सम्बन्ध है यह ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

अर्थशास्त्र और अंकशास्त्र (Statistics): अंकशास्त्र उस विद्या को कहते हैं जो हमको यह सिखाती है कि किसी भी विषय का उससे सम्बधित अंकों तथा अन्य बातों का प्रयोग करके अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए। यह समझना कठिन नहीं है कि किसी भी विद्या के सम्बध में सही-सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे सम्बन्ध रखने वाले अंकों से कितनी सहायता मिल सकती है।

अर्थशास्त्र भी इस नियम का अपवाद नहीं है। अर्थशास्त्र के नियमों का सही-सही निर्माण उसी हालत में हो सकता है जबकि हम सम्बन्धित अकों के आधार पर उन नियमों का अच्छी तरह से अध्ययन करें। अन्य समाजशास्त्रों की तरह अर्थशास्त्र के अध्ययन मे अकशास्त्र की आवश्यकता इस कारण और भी अधिक है क्योंकि इन शास्त्रों के अध्ययन का विषय मनुष्य है, उनमें प्रयोग के लिए यथेष्ट गुंजाइश नहीं है। अब हम कुछ उदाहरण लेकर बतावेंगे कि अर्थशास्त्र और अकशास्त्र मे आपस मे यथेष्ट सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र मे हम मालथस के जन-सख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन करते हैं, जिसका कहना है कि जनसख्या, जीवित रहने के लिए आवश्यक वस्तुओं की (कपडा, खाना, मकान) अपेक्षा अधिक तेजी से वढती है। जन-सख्या के इस सिद्धान्त का निर्माण विना अकशास्त्र (statistics) की मदद लिए विना नहीं हो सकता था और इसकी सचाई भी अकशास्त्र की सहायता से ही सावित की जासकती है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र का एक और सिद्धान्त है जिसे द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (quantity theory of money) कहते हैं। इस सिद्धान्त का कहना यह है कि मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि होने से कुल मिलाकर वस्तुओं के मूल्य मे भी कमी आ जावेगी। यदि द्रव्य (money) की मात्रा मे कमी होगी तो मूल्य मे भी कमी आजावेगी। इस सिद्धान्त की सचाई को प्रमाणित करने के लिये भी हमको अकशास्त्र की सहायता लेनी होगी। जिस समय द्रव्य (money) की मात्रा वढ जावेगी उस समय के मूल्य सम्वन्धी आकडे इकट्ठे करने से हम यह मालूम कर सकते हैं कि चीज़ों के मूल्य मे वृद्धि हुई है अथवा नहीं। यदि उस समय जांच करने से हमको यह मालूम होता है कि चीजों का मूल्य वढ गया है तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि द्रव्य परिमाण सिद्धान्त (quantity theory of money) सही है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण देकर यह वतलाया जा सकता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए अकशास्त्र आवश्यक है। यदि हम यह जानना चाहें कि मजदूर वर्ग की दशा दिनोंदिन विगड़ रही है अथवा सुधर रही है, यदि हम यह जानना चाहें कि धन (wealth) का वितरण (distribution) अधिकाधिक समान होता जारहा है अथवा असमान होता जारहा है, अगर हम यह मालूम करना चाहें की हमारी कर-नीति (taxation) का उत्पत्ति (production) पर क्या असर पड़ा तो हमको अक-शास्त्र की सहायता लेनी होगी। अत. अब यह स्पष्ट होजाना चाहिए कि अर्थशास्त्र और अङ्क॰ में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान (Physical Sciences). अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल उन विद्याओं से ही नही है जिनके अध्ययन का विषय मनुष्य है, वरन् उन विद्याओं से भी है जिनके अध्ययन का विषय प्रकृति और पदार्थ हैं। इसका कारण स्पष्ट है। ससार में कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसको करने के लिये मनुष्य को प्रकृति की किसी न किसी रूप में सहायता न लेनी पड़ती हो। मनुष्य जीवन ही मनुष्य और प्रकृति की एक दूसरे पर होनेवाली क्रिया और प्रतिक्रिया का परिणाम है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अर्थशास्त्र का, जो मनुष्य-जीवन के एक विशेष अङ्ग का अध्ययन करता है प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) से भी सम्बन्ध हो। अब हम इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण लेंगे। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) को अर्थशास्त्र के अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जहाँ तक इस नियम का कृषि से सम्बन्ध है इसका कहना यह है कि भूमि के किसी खास टुकड़े पर अगर हम श्रम (labour) और पूंजी (capital) बराबर बढाते जावे तो इस प्रकार श्रम और पूंजी को बढाने से पैदावार मे वृद्धि तो होगी लेकिन बराबर घटती हुई मात्रा में। अब अगर हम ध्यान से देखें तो हमें यह ज्ञात होगा कि वास्तव के यह नियम अर्थशास्त्र ने कृषि रसायन शास्त्र (agricultural chemistry) से लिया है। इसी प्रकार अर्थशास्त्र मे की गई उत्पत्ति (production) और उपभोग (consumption) की परिभाषा का आधार भी रसायन शास्त्र (chemistry) का वह सिद्धान्त है जो कि हमें बतलाता है कि पदार्थ (matter) न तो उत्पन्न किया जासकता है और न उसका नाश ही होता है। इसी वास्ते उत्पत्ति से अर्थशास्त्र मे उपयोगिता-वृद्धि और उपभोग से उपयोगिता-नाश का अर्थ लगाया जाता है। एक और उदाहरण लीजिये। यदि हम श्रमिक (labourer) की कुशलता (efficiency) के बारे में विचार करेंगे तो हमको उसके भोजन और स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य बातों पर भी विचार करना होगा, और इन बातों का जहाँ तक सम्बन्ध है अर्थशास्त्र को स्वास्थ्य-विज्ञान की सहायता पर निर्भर रहना होगा। ऊपर लिए गए उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञान द्वारा मालूम की गई बातों को आधार मानकर बहुत सी बार अपना अध्ययन करना होता है, और इसी से अर्थशास्त्र और प्रकृति-विज्ञान के बीच का सम्बन्ध भी साफ तौर से प्रकट हो जाता है।

अर्थशास्त्र के नियम (Laws of Economics)

यह हम देख चुके हैं कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र (social science) है। हम यह भी बतला चुके हैं कि विज्ञान का खास लक्षण यह है कि वह कारण (cause) और परिणाम (effect) के इस आपसी सम्बन्ध के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ नतीजों पर पहुचता है। यह नतीजे उस विज्ञान विशेष के नियम (laws) कहे जाते हैं। अतः वैज्ञानिक भाषा में नियम से हमारा प्रयोजन कारण और परिणाम के सम्बन्ध से ही होता है। अर्थशास्त्र में भी नियम से हम यही अर्थ समझते हैं। एक विज्ञान होने की वजह से अर्थशास्त्र के भी अन्य विज्ञानों की तरह अपने नियम हैं, जिनको हम आर्थिक नियम (economic laws) कहते हैं। आर्थिक नियमों तथा प्राकृतिक विज्ञान के नियमों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही यह बतलाते हैं कि एक निश्चित परिस्थिति में एक विशेष कारण का एक विशेष परिणाम होगा। कुछ उदाहरणों से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जावेगी। हम जानते हैं कि अगर किसी चीज़ को खरीदने वालों की सख्या बढ जावे तो उस चीज़ का मूल्य भी बढ़ जावेगा। लेकिन यह नियम उसी हालत में सही साबित होगा कि जब हम यह मान कर चलें कि अन्य कोई कारण ऐसा उपस्थित नहीं होगा जिसका असर इस नियम के विरुद्ध पड़े। जैसे अगर खरीदने वालों के साथ-साथ बेचने वालों की सख्या भी बढ जावे तो चीजों की कीमत में वृद्धि नहीं भी हो सकती है। अतः यह नियम कि किसी चीज के खरीदने वालों की सख्या बढ़ने से उसका मूल्य भी बढ जावेगा, एक खास हालत में ही सही है। इसी प्रकार यद्यपि गुरुत्वाकर्षण नियम (laws of gravitation) हमको यह बतलाता है कि हर एक चीज़ पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकर्षित होती है, लेकिन यह नियम भी यह मान कर चलता है कि अन्य कोई कारण उपस्थित न होगा जो उसके रास्ते मे रुकावट डाले। अगर रुकावट डालने वाला कारण उपस्थित हो जावे और उसका असर इस नियम की अपेक्षा अधिक हो तो उस हालत में इस नियम के अनुसार काम न होगा। इस बात का उदाहरण हमको उस समय मिलता है जब हम हवा में बैलून को उड़ते हुए और पानी को पम्प में ऊपर उठते हुए देखते हैं। बैलून के हवा में उड़ने और पानी के पम्प में उठने का यह मतलब नहीं है कि गुरुत्वाकर्षण नियम गलत है। इसका तो केवल इतना ही अर्थ है कि परिस्थिति बदल जाने के कारण नियम के लागू होने मे बाधा पड़ गई। इसी तरह विपरीत कारणों के उपस्थित हो जाने : आर्थिक नियमों के अनुसार काम होने में रुकावट हो जाती है। उदाहरण के ि

बहुत से देशभक्त भारतीय विदेशी कपड़ा सस्ता होने पर भी नहीं खरीदते और देशी कपड़ा अधिक मूल्य देकर खरीदते हैं।

प्राकृतिक विज्ञान के नियमों तथा आर्थिक नियमों में इतनी समानता होते हुए भी कुछ भेद हैं। आर्थिक नियम उतने पूर्ण (exact) और अटल नहीं होते। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। रसायन शास्त्र हमें यह बतलाता है कि अगर दो भाग हायड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन एक निश्चित दबाव और तापमान के अन्दर मिलाई जावें तो पानी बन जायेगा। इस नियम को कभी रोका नहीं जा सकता। यह अटल है। आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में हमें यह अनिवार्यता देखने को नहीं मिलती। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि एक दूकानदार अपने माल को उन लोगों को ही बेचेगा जो उसे सबसे अधिक मूल्य देंगे, इसी प्रकार खरीदने वाला किसी चीज को कम से कम दामों पर खरीदने का प्रयत्न करेगा। लेकिन किसी दूकानदार या खरीदने वाले के लिए इस नियम को पालन करना अनिवार्य नहीं है। यह सम्भव है कि एक खरीदार सचाई और ईमानदारी का ध्यान रखकर किसी चीज को कम से कम मूल्य में न खरीदे और अपनी इच्छा से ही वह उस चीज का अधिक मूल्य दे। इसी प्रकार देश-प्रेम से प्रेरित होकर बहुत से मनुष्य अपने देश की वस्तुएँ महगी होने पर भी खरीदना पसद करेंगे, लेकिन दूसरे देश का सस्ता माल वह नहीं खरीदेंगे। यही बात बेचने वालों के लिये भी कही जा सकती है। वे मानवता का खयाल करके चीज़ों को बहुत ऊंचे मूल्य पर न बेचें, चाहे वे यह जानते हों कि ऊँचे मूल्य पर भी वे अपनी चीजो को यदि बेचना चाहें तो बेच सकते हैं। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार यह अनिवार्य है कि दो हिस्सा हाइड्रोजन और एक हिस्सा अक्सीजन के मिलने से पानी अवश्य बनेगा, उसी प्रकार यह अनिवार्य नहीं है कि हर एक दूकानदार अपने माल को अधिक से अधिक मूल्य पर बेचेगा या हर एक खरीदार कम से कम दाम पर ही चीज मोल लेना पसद करेगा। आर्थिक नियम (economic laws) और प्राकृतिक विज्ञानो के नियमों में यह पहला भेद है। आर्थिक नियम में किस कारण का क्या परिणाम होगा उसकी दशा का ही हम अनुमान लगा सकते हैं, लेकिन हमारा यह अनुमान उतना पूर्ण नहीं होगा जैसा कि प्राकृतिक विज्ञानों के बारे में सम्भव है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि दो हिस्से हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन से जितना पानी बनेगा उसकी मात्रा उस हालत में ठीक दुगुनी हो जावेगी जबकि हाइड्रोजन और आक्सीजन की मात्रा भी पहले की अपेक्षा दुगुनी करदी जावे। और इसी

प्रकार यदि यह मात्राएँ तिगुनी हो जावें तो पानी की मात्रा ठीक तिगुनी हो जावेगी। लेकिन आर्थिक नियम के बारे मे हम यह बात नही पाते। अगर किसी चीज़ की मांग वढेगी तो दूसरी बातों में कोई परिवर्तन न होने पर उनका मूल्य वढेगा, यह अर्थशास्त्र का साधारण नियम है। लेकिन माग और मूल्य की वृद्धि का आपस में क्या सम्बन्ध होगा यह ठीक-ठीक नही वतलाया जा सकता। जिस प्रकार कि पानी के बारे मे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अगर पहले से हाइड्रोजन और आक्सीजन की मात्रा तिगुनी करदी जावे तो पानी की मात्रा भी तिगुनी हो जावेगी, उसी प्रकार हम यह नहीं कह सकने कि यदि किसी वस्तु की माग (demand) पहले की अपेक्षा दुगुनी हो जावे तो उसके मूल्य मे भी दुगुनी वृद्धि हो जावेगी। माग के कम या ज्यादा होने का असर मूल्य पर कितना पडेगा यह नहीं वतलाया जा सकना, लेकिन कैसा पडेगा यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक नियम उतने पूर्ण नहीं होते, और न उतने अटल ही होते हैं।

आर्थिक नियम (economic laws) और प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो में जिन दो प्रकार के भेदों का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनका कारण क्या है अव हम इस पर विचार करेंगे। अर्थशास्त्र का विषय स्वय मनुष्य है, और प्राकृतिक विज्ञानों के विषय जड़ पदार्थ हैं। इसका असर यह पडता है कि मनुष्य एक जानदार प्राणी होने के कारण यदि चाहे तो अपना आचरण आर्थिक नियमों के विरुद्ध कर सकता है, और यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है कि वह उन नियमों का पालन करे अथवा नहीं, यद्यपि हम यह आशा रख सकते हैं कि साधारणतया वह ऐसा करेगा। इस सम्वन्ध में एक बात और भी याद रखने की है, और वह यह कि मनुष्य केवल एक आर्थिक प्राणी (economic man) ही नही है, इसलिए वह अपने आचरण के समय केवल आर्थिक लाभ-हानि का ध्यान रखता हो ऐसी वात नही है। जीवन सम्वन्धी अन्य दृष्टिकोण—जैसे प्रेम, न्याय, और मानवता के भाव भी उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा एक बात और है कि यह जितनी भी बातें मनुष्य के आर्थिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं, उनका पूरा-पूरा ज्ञान हमको होना बहुत कठिन है, और साथ ही वे सर्वदा परिवर्तन की स्थिति मे रहती हैं। अस्तु, हम पूरी तौर से यह नहीं कह सकते कि किस समय कौन-कौन से कारण क्या-क्या असर डाल रहे हैं, और न उन पर नियन्त्रण करके उनके असर का अध्ययन ही कर सकते हैं, जैसा कि प्राकृतिक विज्ञान मे सम्भव हैं। और इसी का यह परिणाम है कि आर्थिक नियम न तो प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों की तरह पूर्ण (exact) हैं और न निव।

ही होते हैं। आर्थिक नियम पूर्ण इस कारण से नहीं हो सकते क्योंकि मनुष्य के कार्यों पर इतनी अधिक प्रकृतियों और विभिन्न दृष्टिकोणों का असर पड़ता है कि उनमें आर्थिक दृष्टिकोण को वह किस समय कितना महत्त्व देगा यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। फिर कौन मनुष्य किस दृष्टिकोण को कितना महत्त्व देता है यह चीज़ प्रत्यक्ष रूप से नहीं नापी जा सकती, और न सब मनुष्यों का दृष्टिकोण एक-सा ही होता है। प्रत्येक मनुष्य-का अलग-अलग स्वभाव होता है। अर्थशास्त्र में हम अपने अनुभव और मनुष्य-स्वभाव के अध्ययन के आधार पर इस बात का अनुमान मात्र ही लगा सकते हैं कि आर्थिक मामलों मे एक औसत दर्जे का मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करेगा। यही कारण है कि आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञान की तरह न तो उतने पूर्ण ही हो सकते हैं और न वे उतने अनिवार्य ही होते हैं। प्राकृतिक विज्ञान का विषय जड़ पदार्थ हैं जो स्वय किसी प्रकार का आचरण नहीं रखते और न जिनकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा का ही प्रश्न हो सकता है। इस लिए उनके ऊपर किस कारण का क्या असर होगा यह अनुमान ठीक-ठीक तरह से लगाया जा सकता है और उस प्रकार का असर होना अनिवार्य भी है क्योंकि जड़ पदार्थ होने से वे अपनी ओर से किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते। यही कारण है कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम अटल और पूर्ण होते हैं।

किसी भी आर्थिक घटना का अध्ययन करते समय हमे केवल मनुष्य के आर्थिक दृष्टिकोण का ही अध्ययन नहीं करना चाहिए वरन् उन सभी सम्भावित कारणों का अध्ययन करना होगा कि जिनका मनुष्य के आर्थिक कार्यों पर प्रभाव पड़ता है। यदि कोई अर्थशास्त्री आर्थिक नियमों को अटल और पूर्ण मानकर किसी आर्थिक समस्या का अध्ययन करता है तो वह गलत परिणाम पर पहुंच सकता है। उदाहरण के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी देश के लिए तत्कालीन विदेशी व्यापार मुक्तद्वार नीति (free trade policy) लाभदायक प्रतीत हो सकती है, परन्तु उस देश की भावी आवश्यकताओं को ध्यान मे रखते हुए, उसकी राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक हो सकता है कि वह विदेशी माल पर ऊँचा कर लगाकर देशी उद्योग-धन्धों को सरक्षण (protection) प्रदान करे और उन्हे प्रोत्साहन दे। भविष्य में यही नीति उस देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो जाती है। अतएव व्यवहार में आर्थिक नियमों के आधार पर किसी परिणाम पर पहुँचने के पूर्व हमें उन सभी बातों का भी ध्यान रखना होगा।

आर्थिक नियम किल्पित अथवा माने हुए हैं (Economic Laws are Hypothetical) यही कारण है कि सेलिगमैन तथा कुछ अन्य विद्वानो ने कहा है कि अर्थशास्त्र के नियम मूलतः कल्पित या माने हुए (hypothetical) हैं। अर्थशास्त्र के नियमों के सम्बन्ध में लिखते हुए यह लिखना आवश्यक हो जाता है "यदि अन्य परिस्थितियाँ जैसी थीं वैसी ही रहें"। इसका अर्थ यह हुआ कि हम यह मान लेते हैं कि अमुक तथ्यों का अमुक परिणाम होगा यदि उस बीच मे कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु हम यह जानते हैं कि अन्य बातें या परिस्थितियाँ कभी एक समान नहीं रहतीं, वे परिवर्तनशील हैं। यही कारण है कि आर्थिक नियम अटल और अनिवार्य नहीं होते वे कल्पित (hypothetical) कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए हम उपयोगिता-ह्रास-नियम (diminishing utility) को लें। इस नियम के अनुसार यदि किसी एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा बढती जावेगी तो उसको उस वस्तु से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घटती जावेगी। किन्तु यह नियम हमें ठीक-ठीक यह नहीं बतला सकता कि किस विन्दु से उस वस्तु की उपयोगिता घटने लगेगी। यह भी हो सकता है कि यदि यकायक वह वस्तु वहुत अधिक प्रचलन या फैशन में आजावे तो उसकी उपयोगिता घटने के वजाय वढ जावे। सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आर्थिक नियमों की सत्यता ऐसी वातों पर निर्भर है कि जो अनिश्चित हैं और जिनका ठीक अनुमान नहीं लगाया जासकता। इसी कारण आर्थिक नियमों को कुछ लोग कल्पित या माना हुआ (hypothetical) कहते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आर्थिक नियम झूठे हैं और उनका कोई उपयोग नहीं है। वात यह है कि अधिकतर मनुष्य अपने आर्थिक व्यवहार में किस प्रकार का आचरण करेगा इसका वहुत कुछ ठीक-ठीक अनुमान हमें आर्थिक नियमों से मिल जाता है। यों तो प्राकृतिक विज्ञानों के नियम भी कुछ हद तक माने हुए होते हैं, किन्तु उनमे और आर्थिक-नियमों में भेद यही है कि आर्थिक नियमों में माना हुआ भाग वहुत अधिक है और वे पूर्ण (exact) नहीं होते। किन्तु सभी आर्थिक नियम एक से नहीं हैं। कुछ आर्थिक नियम उतने ही पूर्ण और अनिवार्य हैं जैसे कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम। उदाहरण के लिए क्रमागत-ह्रास नियम (law of diminishing returns) उतना ही पूर्ण, और अनिवार्य है जितने कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम अटल, और अनिवार्य होते हैं।

अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के तरीके
(The Methods of Economics)

जैसा कि हम कह चुके हैं कि प्रत्येक विज्ञान का उद्देश्य कारण और परिणाम का आपसी सम्बन्ध का अध्ययन करना और उसके आधार पर सत्य की शोध तथा साधारण नियमों का निर्माण करना है। और अर्थशास्त्र भी अपने अध्ययन के द्वारा आर्थिक नियमो का निर्माण करता है। यहाँ हम केवल इस बात पर विचार करेंगे कि हमारे अध्ययन के तरीके क्या होने चाहिएँ।

वैज्ञानिक अपने विषय से सम्बध रखने वाले सत्य का अध्ययन करने के लिए साधारणतया दो तरीकों को काम मे लाते हैं। अर्थशास्त्र भी आर्थिक नियमों का निर्माण करने के लिए इन दोनों प्रकार के तरीको को काम मे लाता है। इन तरीकों को निगमन प्रणाली (deductive method) अथवा सार प्रणाली (abstract method) और व्याप्ति मूलक प्रणाली (inductive method अथवा ऐतिहासिक प्रणाली (historical method) कहते हैं।

पहले हम यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि निगमन प्रणाली (deductive method) से हमारा क्या तात्पर्य है। इस प्रणाली मे हम कुछ आधारभूत और स्वतःसिद्ध बातों को अपना आधार मान कर चलते हैं। और फिर इन स्वतःसिद्ध बातों के आधार पर हम उन अन्य सत्यों अथवा नियमों का निर्माण करते हैं जिनका सम्बध हमारे अध्ययन के विषय से होता है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि इस प्रणाली मे सर्व प्रथम हम अपने अनुसधान क्षेत्र मे अत्यधिक प्रभाव डालने वाले आधारभूत तथ्यों को निश्चित कर लेते हैं और एक निश्चित परिस्थिति मे उन आधारभूत तथ्यों और नियमों का प्रभाव पड़ने से क्या परिणाम होगा इसको तर्क से जानने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य-स्वभाव के बारे मे अपने ज्ञान के सहारे हम यह जानते हैं कि मनुष्य सदैव दुःख की अपेक्षा सुख को पसद करता है और कम सुख की अपेक्षा अधिक सुख को पसद करता है। इस स्वतःसिद्ध सिद्धान्त के आधार पर हम यह दलील दे सकते हैं कि मनुष्य उस वस्तु के लिये अधिक मूल्य देगा जिससे उसे अधिक सतोष या सुख मिलता है। पुराने अर्थशास्त्रियों ने अपने अध्ययन और अनुसधान मे निगमन प्रणाली (deductive method) का ही प्रयोग किया और सारे अर्थशास्त्र के विज्ञान को मनुष्य के उद्देश्य और स्वभाव के सम्बन्ध मे साधारण मान्यताओं के आधार पर निकालने की चेष्टा की। उन्होंने अपना अध्ययन मनुष्य-स्वभाव के सबध मे सर्वमान्य साधारण मान्यताओं

से आरम्भ किया, जैसे मनुष्य सदैव सस्ते बाजार मे ही खरीदता है इत्यादि। इन उद्देश्यों और सिद्धान्तों को सर्वदेशीय सत्य मानकर इन अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक नियमों का निर्माण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-स्वभाव और उद्देश्यों के अध्ययन के उपरान्त अर्थशास्त्रियो ने कुछ आधारभूत साधारण मान्यताओं को निश्चित कर दिया और फिर तर्क के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य आर्थिक प्रयत्नो में किस प्रकार का आचरण करेगा। इन नतीजों पर पहुँचने के उपरान्त निगमन प्रणाली का अनुकरण करने वाले वास्तविक घटनाओं का अध्ययन करके यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वे जिस परिणाम पर पहुँचे हैं वह कहाँ तक ठीक है। इस प्रकार निगमन प्रणाली (deductive method) अध्ययन के उस तरीके को कहते हैं जिससे हम सामान्य (general) से विशिष्ट (particular) की ओर जाते हैं। यदि हम कहें कि मनुष्य मात्र मरता है अतएव रामप्रकाश भी मरेगा क्योंकि वह मनुष्य है, तो यह निगमन प्रणाली का उदाहरण होगा। इसमें मनुष्य मरता है यह स्वतः सिद्ध है और उसके आधार पर हमने कहा कि रामप्रकाश भी मरेगा। लेकिन यह जानने के लिए कि मनुष्यमात्र मरता है हमें इस बात की कभी आवश्यकता हुई होगी कि हम देखें कि मनुष्य मरता है या नहीं। पुराने अनुभव के आधार पर ही यह निश्चय हो चुका है कि मनुष्यमात्र मरता है। अस्तु, निगमन प्रणाली (deductive method) में अवलोकन की आवश्यकता होती है। किन्तु इतने से ही हमारा काम नहीं चल सकता। एक बार अवलोकन करने के उपरान्त जब यह सामान्य नियम बना कि मनुष्य मात्र मरता है, और उसके आधार पर हमने कहा कि रामप्रकाश भी मरेगा क्योंकि वह मनुष्य है, तो यह निगमन प्रणाली की दूसरी अवस्था हुई। और जब हम इस सामान्य सिद्धान्त की सत्यता की जाच के लिए कुछ मनुष्यों का अवलोकन करके देखते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक है तो निगमन प्रणाली की तीसरी अवस्था हुई। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि निगमन प्रणाली (deductive method) की तीन अवस्थाएँ हैं। मनुष्य-स्वभाव का अवलोकन करके उसके आर्थिक कार्यों के सम्बन्ध मे सामान्य सिद्धान्त निश्चित करने पड़ते हैं। फिर उस सामान्य सिद्धान्त के आधार पर नतीजे निकाले जाते हैं, यह निगमन प्रणाली की दूसरी अवस्था है। और तीसरी अवस्था वह है जब हम उन नतीजों की वास्तविक घटनाओं से तुलना करके यह निश्चय करेंगे कि यह नत[illegible] हैं या नहीं।

वैज्ञानिक सत्यों की जाच करने के दूसरे तरीक़े को व्याप्तिमूलक प्रणाली (Inductive method) कहते हैं। इस तरीक़े मे कुछ थोड़े से सामान्य सिद्धान्तों को मान कर नहीं चला जाता, जैसा कि निगमन प्रणाली (deductive method) मे होता है। वरन् व्याप्तिमूलक प्रणाली में हम विशिष्ट (particular) से सामान्य (general) की ओर जाते हैं। इसमें बहुत सी घटनाओं का अध्ययन तथा अवलोकन करके नियमों का निर्माण किया जाता है। उदाहरण के लिए हमने मजदूरों की मज़दूरी और उनकी कार्य-शक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध जानने के लिए बहुत से धधों के मज़दूरों का अवलोकन किया, जिससे हमें ज्ञात हुआ कि मज़दूरी बढने से उन मजदूरों की कार्य-शक्ति बढी, और मजदूरी घटने से उनकी कार्य-शक्ति घट गई, तो हम इस जान्च के आधार पर यह नियम बनायेंगे कि मज़दूरी के बढाने से मजदूरों की कार्य-शक्ति बढती है। बाद मे फिर हम इस सामान्य नियम की सच्चाई की जॉच कुछ उदाहरण लेकर करेंगे और अपने अनुभव के आधार पर उसमे कुछ आवश्यक परिवर्तन करेंगे। इस प्रकार व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) मे अवलोकन तथा अध्ययन और प्रयोग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) ऐतिहासिक प्रणाली है, क्योंकि इस प्रणाली मे जर्मन अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक इतिहास से अर्थशास्त्र विज्ञान को निकालने का प्रयत्न किया है। इस प्रणाली के अनुसार अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के लिए वे आर्थिक इतिहास (economic history) अथवा समकालीन घटनाओं से सामग्री इकट्ठी करते हैं और उनसे सामान्य नियम या सिद्धान्तों का निर्माण कर चुकने के उपरान्त उनकी सत्यता की जॉच कुछ उदाहरण लेकर की जाती है। पिछले दिनों मे अकशास्त्र (statistics) की अत्यधिक उन्नति होने के कारण, तथा सरकारों और व्यक्तियों द्वारा आकड़ों के अधिकाधिक इकट्ठा किए जाने के कारण इस प्रणाली का महत्त्व बहुत बढ गया है। इन तथ्यों और आकड़ों मे अत्यन्त मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और नियमों का निर्माण होता है और इस कारण अर्थशास्त्र विज्ञान पहले की अपेक्षा अधिक पूर्ण और सत्य के अधिक समीप पहुंच गया है।

यह समझ लेने के उपरान्त कि निगमनप्रणाली (deductive method) और व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) से हमारा क्या तात्पर्य है, हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अर्थशास्त्र

के अध्ययन में कौनसी प्रणाली का उपयोग करना ठीक होगा। इस प्रश्न को लेकर एक लम्बे समय तक अर्थशास्त्र के विद्वानो में एक विवाद चलता रहा कि अर्थशास्त्र का अध्ययन किस प्रणाली से होना चाहिए। पुराने समय के अंग्रेज अर्थशास्त्रज्ञ जो क्लासिकल स्कूल (classical school) के मानने वाले थे, निगमन प्रणाली को ही अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए एक मात्र उपयुक्त प्रणाली मानते थे। इस प्रणाली पर आवश्यकता से अधिक जोर देने की प्रतिक्रिया यह हुई कि अर्थशास्त्र के विद्वानों का एक दूसरा पक्ष ऐतिहासिक स्कूल (historical school) भी उत्पन्न हुआ जिसने निगमन प्रणाली को अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ठहराया और व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) पर ही पूरा-पूरा जोर दिया। ऐतिहासिक स्कूल के विद्वानों का निगमन प्रणाली के विरुद्ध जाने का एक कारण था। निगमन प्रणाली में विश्वास रखने वाले विद्वानों के खिलाफ उनका आरोप यह था कि जिन स्वतः सिद्ध तात्विक बातों को आधार मानकर वे चलते हैं वे मनुष्य के वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले आर्थिक व्यवहार में देखने को नहीं मिलतीं। नतीजा यह होता है कि उन तात्विक बातों के आधार पर जिन नियमों का निर्माण किया जाता है वे वस्तुस्थिति का सही-सही चित्र खींचने मे असमर्थ रहते हैं। उदाहरण के लिये यह कहा जा सकता कि निगमन प्रणाली में विश्वास रखने वाले अर्थशास्त्रज्ञ यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य अपने आर्थिक व्यवहार में केवल अपने लाभ और हानि के विचार को सामने रखकर ही आचरण करता है, और उनके तमाम नतीजे इस बात को आधार मानकर निकाले जाते हैं, किन्तु व्याप्तिमूलक प्रणाली मे विश्वास रखने वालों का यह कहना है कि यह आधार ही गलत है, क्योंकि मनुष्य अपने आर्थिक व्यवहार में भी लाभ और हानि के अतिरिक्त अन्य बातो—जैसे देश-प्रेम परिवार-प्रेम, धार्मिक विचार आदि से भी प्रभावित होता है। इस दलील मे तथ्य है। हम अपने देश मे ही देखते हैं कि प्रायः बहुत से ग्रामीण दूसरी जगह जहाँ उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो सकती है—इस वजह से नहीं जाना चाहते कि उनके परिवार और गाँव का प्रेम उन्हें ऐसा नहीं करने देता। प्रत्येक देश के लोगों में, जिनका अपने देश से प्रेम है—यह बात तो देखने को मिलेगी ही कि अधिक कीमत देकर भी वे अपने देश की बनी चीजों को खरीदना पसंद करेंगे। इस प्रकार और भी उदाहरण देकर यह बताया जा सकता है कि मनुष्य लाभ और हानि के अतिरिक्त अन्य बातों से भी अपने आर्थिक व्यवहार मे प्रभावित होता है। अतः व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) को मानने वालों की दलील मे सचाई का अंश है

इससे इन्कार नही किया जा सकता। फिर भी उनकी दलील में अतिशयोक्ति की मात्रा काफी पाई जाती है। क्योंकि यह मानते हुए भी कि मनुष्य कभी-कभी अपने आर्थिक व्यवहार में भी ऐसी बातों से प्रेरित होता है जो आर्थिक नही हैं, साधारणतया यह बात निर्विवाद है कि आर्थिक मामलों में मनुष्य सबसे अधिक निजी लाभ और हानि की भावना से ही प्रभावित होता है। देश-प्रेम तथा परिवार-प्रेम और धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना काफी मजबूत प्रवृत्तियाँ हैं, फिर भी इस बात मे तनक भी सदेह नही कि व्यक्तिगत लाभ और हानि की भावना ही इन सबसे अधिक व्यापक और प्रबल होती है। जिस प्रकार व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) को मानने वाले अर्थशास्त्रज्ञों ने निगमन प्रणाली (deductive method) के प्रति आक्षेप करते हुए अतिशयोक्ति की, उसी प्रकार निगमन प्रणाली (deductive method) को मानने वालों की ओर से भी व्याप्तिमूलक प्रणाली पर अतिशयोक्ति पूर्ण आक्षेप किये गए है। उनका पहला आक्षेप तो यह है कि सामाजिक शास्त्रों मे घटनाओं का अवलोकन करना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण उनकी पेचेदगी और जटिलता है। और आधुनिक आर्थिक संगठन मे तो इस जटिलता का रूप और भी अधिक जटिल हो गया है। ऐसी दशा मे इस अवलोकन के आधार पर आर्थिक नियमों का निर्माण करना विश्वसनीय नहीं हो सकता। इनका दूसरा आक्षेप यह है—क्योंकि अर्थशास्त्र का विषय मनुष्य स्वयं है जो कि एक जीवित प्राणी है, इस वास्ते उसमे प्रयोग के लिए उतनी सहूलियत नही है जितनी कि भौतिक विज्ञानों को है। मनुष्य के ऊपर प्रयोग करना अत्यन्तु कठिन कार्य है। हमेशा बदलती रहने वाली परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न कारण भिन्न-भिन्न दिशा मे काम करते हैं, और उनमे मे किसी एक को पृथक करके उसके असर का सही-सही अनुमान लगाना असम्भव है। आर्थिक घटनाओ की पेचीदगी और जटिलता को स्वीकार करते हुए, और इस बात को मानते हुए कि अर्थशास्त्र मे प्रयोग के लिए भी बहुत कम सुविधा हैं, हम यह नहीं मान सकते कि आर्थिक घटनाओं का अवलोकन न तो करना चाहिए और न हो ही सकता है। आर्थिक मामलों को समझने के लिए आर्थिक घटनाओं का अवलोकन करना प्राय अनिवार्य हो जाता है। अगर हम श्रमिकों (Labourer) की कार्य-कुशलता पर अच्छे मकानो, मजदूर-संघ अथवा अन्य किसी आर्थिक अथवा सामाजिक संस्था का कैसा असर होता है, यह जानना चाहेंगे तो हमारे पास सिवा व्याप्तिमूलक प्रणाली के जिसका कि आधार घटनाओं के अवलोन पर है और साधन ही क्या है।

व्याप्तिमूलक और निगमन प्रणालियों के बारे में अब तक जो कुछ हमने लिखा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के तरीकों सम्बन्धी यह बहस बेकार है। आर्थिक सत्य के शोधन और आर्थिक नियमों के निर्माण में दोनों ही प्रकार के तरीकों का उपयोग करना अवश्यक है। एक तरीका दूसरे का पूरक समझा जाना चाहिए न कि उसका प्रतिद्वन्द्वी। आधुनिक अर्थशास्त्रज्ञ आज इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते है। हॉ इतना भेद अवश्य किया जा सकता है कि कुछ आर्थिक मामले ऐसे होंगे जिनका अध्ययन व्याप्तिमूलक प्रणाली के द्वारा अधिक अच्छी तरह से हो सकेगा, और कुछ ऐसे मसले होंगे जिनके अध्ययन के लिए निगमनप्रणाली (deductive method) का उपयोग करना अधिक उपयुक्त होगा। कुछ उदाहरणों द्वारा इस कथन की पुष्टि की जा सकती है। अगर हम यह जानना चाहते हैं कि उत्पत्ति के साधन (factors of production) की उत्पादक शक्ति (productive capacity) किन किन कारणों से कहॉ तक बढती है तो हमें खास तौर पर से व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) की शरण लेनी होगी। इसी प्रकार यदि हम यह मालूम करना चाहते हैं कि पूँजी (capital) का सचय किन-किन बातों पर निर्भर रहता है तो हमे उस हद तक जहॉ तक कि पूँजी का सचय, मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दशा से सम्बन्ध रखता है, निगमन प्रणाली का उपयोग करना होगा। लेकिन पूँजी के सचय पर कौन-कौन से बहारी कारणों का असर पडता है, जैसे-सूद की दर आदि, यह हम व्याप्तिमूलक प्रणाली द्वारा ही जान सकते हैं। जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त भी व्याप्तिमूलक प्रणाली का ही परिणाम है। क्योंकि जनसख्या से सबन्ध रखने वाली घटनाओं का अवलोकन करके ही हम यह मालूम कर सकते हैं कि किन-किन कारणों से कमी होती है। लेकिन विनिमय (exchange) और वितरण (distribution) के सवालों का अध्ययन करने के लिए निगमन प्रणाली ही अधिक उपयुक्त है। इसका कारण यह है कि इन बातो मे सबन्ध रखने वाली आर्थिक घटनाऍ अधिक जटिल और पेचीदा होती हैं। एक प्रकार की घटना अलग-अलग समय पर अलग-अलग कारणों का परिणाम हो सकती है। उदाहरण के लिए किसी समय सूद की दर बढ जाने का कारण रुपये की अधिक माग हो सकती है, तो किसी समय इसका कारण कोई दूसरा ही हो सकता है, जैसे रुपये को अनुत्पादक ढग से जोड़ कर रख लेना आदि। इसी प्रकार यह भी सम्भव हो सकता है कि एक आर्थिक घटना के एक से अधिक कारण हो जैसे मजदूरों की मजदूरी के दर के बढ जाने के

कई कारण एक ही साथ हो सकते हैं, जैसे मजदूरों की कार्यकुशलता में वृद्धि, जनसख्या में कमी आना आदि। ऐसी हालत मे किसी कारण का कितना असर हुआ, यह अलग-अलग मालूम करना गैर मुमकिन सा हो जाता है। और इस प्रकार की परिस्थिति में व्याप्तिमूलक प्रणाली अधिक उपयोगी साबित नहीं हो सकती। इसके लिए हमे निगमन प्रणाली को ही अपनाना होगा, जिसका आधार उन प्रारम्भिक कारणों के अध्ययन की जांच पर निर्भर होता है, जिनके द्वारा अधिक पेचीदा और जटिल परिणाम उत्पन्न होते हैं। अतः अन्त में हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन में हमको व्याप्तिमूलक प्रणाली (inductive method) और निगमन प्रणाली (deductive method) दोनों का उपयोग उसी प्रकार करना पड़ेगा जिस प्रकार कि मनुष्य को चलने के लिए अपने दायें और बायें पैरों की आवश्यकता होती है।

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ (Assumptions of Economics)

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का ठीक अध्ययन करने के लिए हमें कुछ मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ता है, नहीं तो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करना कठिन हो जावेगा। बात यह है कि अर्थशास्त्र में हम मनुष्य-समाज के आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन करते है। न तो मनुष्य ही जड़ पदार्थ अथवा पशु है कि जो सदेव एक प्रकार की क्रिया करता हो अथवा एक ही भावना से प्रेरित होकर काम करता हो, और न समाज ही ऐसी संस्था है जिसमें कोई परिवर्तन न होते हों। यही कारण है कि आर्थिक नियम इतने सच्चे नहीं उतरते जितने प्राकृतिक विज्ञान के नियम ठीक होते हैं। फिर भी अर्थशास्त्रियों ने अर्थ के सिद्धान्तों का जहाँ तक सम्भव हो ठीक-ठीक अध्ययन करने के लिये एक आर्थिक मनुष्य की कल्पना की है। उनके लिये आर्थिक मनुष्य वह है जो सदैव सुखी और समृद्धि-शाली जीवन को पसद करता है और कष्ट तथा दारिद्रय को नापसद करता है। वह कम से कम कष्ट सहकर अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्री यह भी मानते हैं कि आर्थिक मनुष्य अपने स्वार्थ अर्थात धन-प्राप्ति के लक्ष्य को सर्वोपरि मानता है और वह उसकी प्राप्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को—एक पेशे, धधे अथवा दूसरे व्यवसाय से—जाने में स्वतन्त्र है। उसे किसी प्रकार का बधन नहीं है, यद्यपि व्यवहार में मनुष्य इतना स्वतन्त्र नहीं है। और समाज में स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा (free competition) है। इसका अर्थ यह हुआ कि मज़दूर उस स्थान को जाना पसद करेंगे जहाँ

मज़दूरी अधिक है। पूंजी (capital) वहाँ अधिक जावेगी जहाँ लाभ या सूद (interest)अधिक है। मनुष्य एक सी ही दो वस्तुओं में से उसको पसंद करेगा जो कि सस्ती होगी। यह हम सभी जानते हैं कि अधिकतर ऐसा ही होता है, परन्तु सभी दशाओं में ऐसा नहीं होता। एक देशभक्त नागरिक सस्ते विदेशी माल को नहीं खरीदता। एक गांव का मज़दूर अधिक मज़दूरी मिलने पर भी गाव छोड़कर बम्बई नहीं जाता।

यद्यपि यह मान्यताएँ बिलकुल ठीक नहीं हैं, परन्तु फिर भी यह तो मानना ही होगा कि इनको स्वीकार करके तथा इन्हें साधार मानकर अर्थशास्त्र का अध्ययन करने में हम कोई भारी भूल नहीं करेंगे, क्यों कि मनुष्य के कार्यों पर आर्थिक प्रयोजन ही सब से अधिक प्रभाव डालता है। धर्म, प्रेम, देशभक्ति, मानवता के प्रति कर्तव्य की भावना इत्यादि का भी मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है। कभी कभी इनका प्रभाव गहरा होता है, परन्तु अधिकाश के लिए अन्त में आर्थिक प्रयोजन (economic motive) का ही प्रभाव अधिक प्रभावशाली और स्थायी होता है। अस्तु, इस प्रकार की मान्यता स्वीकार करने से कोई हानि नहीं है।

अर्थशास्त्र का महत्त्व और उसके अध्ययन की आवश्यकता

इस परिच्छेद को समाप्त करने के पहले हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्त्व है। किसी भी विद्या का अध्ययन करने के दो दृष्टिकोण हो सकते हैं, एक ज्ञान को बढाना और दूसरा लाभ-प्राप्ति, अर्थात् उसके अध्ययन से कुछ लाभ की आशा हो। यदि हम तनक गहराई से देखने की कोशिश करें तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि इन दोनों दृष्टिकोणों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। वह ज्ञान जिसको प्राप्त करने से मनुष्य को कोई लाभ न हो, प्राप्त करने के योग्य ही नहीं कहा जा सकता। उसकी प्राप्ति में समय और शक्ति व्यय करना व्यर्थ है। पर यहाँ ध्यान देने की बात सिर्फ इतनी है कि 'लाभ' की परिभाषा हमें आर्थिक लाभ तक ही सीमित नहीं करनी होगी। उस समस्त ज्ञान को जो मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और पूर्ण बनाने में सहायक हो, हम लाभप्रद कहेंगे। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का अध्ययन ज्ञानवृद्धि और लाभप्राप्ति दोनो के ही लिए आवश्यक है। और क्योंकि इसका अध्ययन आवश्यक है इसलिये यह महत्त्वपूर्ण है। पर यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। कुछ विद्याएँ ऐसी होती हैं जिन के अध्ययन का लाभ उतना स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं मालूम पड़ता जितना दूसरी विद्याओं का

उन से होने वाले लाभ को सूक्ष्म दृष्टि से और परोक्ष में ही देखा जा सकता है। इसके विपरीत कुछ विद्याएँ ऐसी होती हैं जिनसे होने वाला लाभ अधिक प्रत्यक्ष होता है। अर्थशास्त्र इस दूसरे प्रकार की विद्या है, जिसके अध्ययन का लाभ स्पष्ट और प्रत्यक्ष तथा हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाला कहा जा सकता है।

अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग का अध्ययन करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने बिगाड़ने मे इस बात का बहुत असर होता है कि वह अपना जीविकोपार्जन किस प्रकार करता है। उसकी आर्थिक स्थिति और वातावरण का उसके विचारो पर असर पड़ता है। जो मनुष्य ग़रीब होता है उसके व्यक्तित्व के विकास में उसकी ग़रीबी ही सबसे बड़ी रुकावट होती है। अत. मनुष्य और समाज के जीवन को अधिक सुखी, समृद्धिशाली और पूर्ण बनाने के लिये इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि समाज से गरीबी का अन्त किया जावे। यह अधिकाश मे एक आर्थिक प्रश्न है, क्योंकि समाज की मौजूदा गरीबी का कारण समाज के मौजूदा आर्थिक सगठन में छिपा हुआ है। मौजूदा आर्थिक सगठन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना इस गरीबी का अन्त नहीं किया जा सकता। इस लिए आर्थिक सगठन का अध्ययन करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है, और यह हम अर्थशास्त्र के द्वारा ही कर सकते ह। यही अर्थशास्त्र के अध्ययन की सब से बड़ी महत्ता और आवश्यकता है कि यह हमे समाज मे फैली हुई गरीबी और बेकारी के कारणो को समझने और उनको मिटाने के उपाय मालूम करने में सहायता देता है। समाज मे उन सब लोगो को जो समाज को इस प्रकार ऊँचा उठाना चाहते हैं, अर्थशास्त्र के अध्ययन की उतनी ही आवश्यकता है कि जितनी एक समाज-सुधारक को हो सकती है, क्योंकि दोनों ही का काम समाज मे सुख और शान्ति क़ायम करना है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यापारी के लिए अर्थशास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि व्यापार मे सफलता प्राप्त करने के लिये उसे आज के व्यापारिक सगठन से परिचित होना आवश्यक है। इसी प्रकार एक मजदूर और किसान भी आर्थिक सगठन का ज्ञान प्राप्त करके अपनी स्थिति को सुदृढ और अच्छी बना सकता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से मज़दूर मज़दूर सघो (trade unions) की आवश्यकता को भली भाति समझ सकेंगे और मजदूर सघ के सगठन को मजबूत बनाकर अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकेंगे। ग्राम्य अर्थशास्त्र (rural economics) का अध्ययन

किसानों को यह बतलायेगा कि उनकी स्थिति मे सुधार किस प्रकार हो सकता है। उदाहरण के लिए सहकारिता आन्दोलन (cooperative movement) से उनका कितना लाभ हो सकता है यह बात वे भली प्रकार समझ सकेंगे। ग्रामीण ऋण की समस्या का हल किस प्रकार सम्भव है, लगान सम्बन्धी कानून मे किस प्रकार सुधार की आवश्यकता है, जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने से कितनी हानि है, इन तमाम बातों का अध्ययन करके हम इन से होने वाली हानियों को रोक सकते हैं। मध्यम वर्ग की बेकारी की समस्या को हल करने के लिए भी अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत आवश्यक है।

प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र का महत्त्व

अर्थशास्त्र के अधिकाश विद्यार्थी आज इस बात से बहुत कुछ अनभिज्ञ हैं कि अर्थशास्त्र भारतवर्ष के लिए कोई नई विद्या नही है। मनुष्य-जीवन में अर्थशास्त्र के अध्ययन का कितना अधिक महत्त्व है यह प्राचीन भारत भली भाति समझता था। परन्तु क्योंकि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का आधार हमारे देश का प्राचीन साहित्य नहीं है और हमने अपने ज्ञान-स्रोत को केवल पाश्चात्य देशों के आधुनिक साहित्य तक ही सीमित रखने का जघन्य अपराध किया है, इस लिए विभिन्न विद्याओं मे हमारे देश का प्राचीन साहित्य कितना और कैसा है इस विषय मे हमारी कोई जानकारी नही है। यही बात अर्थशास्त्र के सबन्ध में लागू होती है। इसी अज्ञान के कारण बहुत से पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों की भी यह धारणा बन गई है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष मे आध्यात्मिक तथा पारलौकिक उन्नति की ही ओर ध्यान दिया जाता था और भारतीय भौतिक उन्नति की ओर से उदासीन थे। किन्तु यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि एकागी नहीं थी। प्राचीन समय मे भारतीयों का मत था कि मनुष्य-जीवन के तीन उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, और काम। वे इन तीनों अर्थात 'त्रिवर्ग' की सिद्धि में ही जीवन की सफलता मानते थे। यही कारण है कि भारतीय विद्वानों ने अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य की रचना की। यह दूसरी बात है कि आज उसमें से केवल थोड़ा-सा ही साहित्य उपलब्ध है।

प्राचीन भारत अर्थशास्त्र के महत्त्व को समझता था यह बात प्राचीन स। और जीवन सम्बन्धी प्राचीन आदर्श से स्पष्ट है। यहाँ तक कि अ शा। उल्लेख वेदों तक में मिलता है। इस शास्त्र के प्रथम आचार्य बृहस्पति थे बृहस्पति अर्थशास्त्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

किन्तु जो भी प्राचीन अर्थशास्त्र ग्रंथ आज हमें उपलब्ध हैं उनमें "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रथ के हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद हो चुके हैं। श्री भगवानदास केला द्वारा लिखित "कौटिल्य के आर्थिक विचार" अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयुक्त है।

प्राचीन भारतीय विचारको ने अर्थ (धन) को जो स्थान दिया है उससे भी प्राचीन भारत मे अर्थशास्त्र का कितना महत्त्व था यह स्पष्ट हो जाता है। 'अर्थसंचय' को 'धर्म' और 'काम' की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन माना गया है, और 'काम' जिसमें इस जीवन की समस्त उचित अभिलाषाओं की तृप्ति सम्मिलित है अन्त में 'मोक्ष' या निर्वाण का साधन बनता है जो कि मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय विचार में 'अर्थ' को एक प्रकार से केन्द्रिय स्थान प्राप्त है जिसके बिना जीवन के अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति नही हो सकती। अर्थशास्त्र के महत्त्व को स्वीकार करने का इसके अधिक अच्छा प्रमाण क्या हो सकता है। अर्थशास्त्र साहित्य हमारे देश में बहुत प्राचीन समय से रहा है, यहाँ तक कि उसका वेदो तक मे उल्लेख है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि इस शास्त्र के प्रथम आचार्य बृहस्पति थे। कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध अर्थशास्त्र ग्रन्थ मे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की आलोचना की है और उनके मत की व्याख्या की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे अर्थशास्त्र-साहित्य प्रचुर मात्रा मे निर्मित हुआ था। जिन आचार्यों के मत के बारे मे कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है उनमे से कुछ ये हैः—विशालाक्ष, पाराशर, पिशुन, बाहुदन्ति, कौणपदन्त, वातव्याध, भारद्वाज और खरपट्ट। इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने चार आर्थिक विचार सम्प्रदायो का भी उल्लेख किया है। प्राचीन भारत मे अर्थशास्त्र की इतनी अधिक प्रगति हो चुकी थी कि उस समय विभिन्न आर्थिक विचार-सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। कौटिल्य ने इन चार आर्थिक विचार सम्प्रदायों के आचार्यों के नामों का भी उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं मनु, बृहस्पति, उशनस, और अम्भीय। किन्तु आज हमें इन आचार्यो के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। केवल आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही उपलब्ध है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अतिरिक्त बार्हस्पत्य सूत्रों के नाम से आचार्य बृहस्पति के कुछ आर्थिक विचार हमें मिलते हैं। महाभारत, अग्निपुराण तथा विविध स्मृतियो के कुछ भाग भी अर्थशास्त्र सम्बन्धी हैं।

प्राचीन भारत मे आर्थिक साहित्य की यथेष्ट प्रगति हो चुकी थी यह ो हम ऊपर वतला चुके हैं। प्राचीन आर्थिक साहित्य और आज के अर्थशास्त्र । क्या भेद है, अब सक्षेप मे हम उस पर विचार करेंगे।

पहला भेद तो अर्थशास्त्र के क्षेत्र (scope) के विषय मे है। आज की अपेक्षा प्राचीन भारत मे अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक था। कौटिल्य ने उन वेषयो के अतिरिक्त जो आज उसमे सम्मिलित किये जाते हैं उन विषयो का भी समावेश किया है जिसको आज राजनीति शास्त्र की स्वतन्त्र विद्या का नाम दे दिया गया है। दूसरा भेद धन (wealth) की परिभाषा के सम्बन्ध मे पाया जाता है। उस समय जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट होता है, 'धन' की व्याख्या आज की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में की जाती थी। कौटिल्य के मत के अनुसार जिस गुण का भी उपयोग किया जा सकता है, जो शक्ति काम मे आसकती है, जिस परिस्थिति से लाभ उठाया जा सकता है वह सब धन (wealth) हैं। यहाँ पर यह सकेत करना अनुचित न होगा कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र (scope) आर धन की व्याख्या दोनों के ही सम्बन्ध मे आजकल अर्थशास्त्र के विद्वानों की प्रवृत्ति इनको अधिकाधिक व्यापक बनाने की ओर अवश्य है। तीसरा भेद यह है कि कौटिल्य ने राज्य द्वारा सभी वस्तुओ की कीमतों को निर्धारित करने का समर्थन किया है। कौटिल्य व्यापारियो और पूजीपतियों को सदेह की दृष्टि से देखता था, "वह उन्हें चोर न कहे जाने वाले चोर कहता था"। उसका मत था कि उनस जनता की रक्षा करने के लिए वस्तुओं के मूल्य को राज्य निश्चित करदे। मजदूरी के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार यह था, कि प्रत्येक कारीगर या मजदूर को उतनी मजदूरी मिलनी चाहिए कि जो उसके भरणपोषण के लिए पर्याप्त हो। उसका मत था कि प्रत्येक श्रमिक को उसके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और मजदूरी दी जावे। मुनाफा (profit) के सम्बन्ध में भी कौटिल्य का मत यह था कि राज्य मुनाफे का नियत्रण करे। ऊपर लिखे भेद आज क्रमश कम होते जा रहे हैं। वर्तमान अर्थशास्त्री राज्य के अधिकाधिक नियत्रण और हस्तक्षेप को स्वीकार करने लगे हैं।

भारत के प्राचीन अर्थशास्त्र-साहित्य का अध्ययन करने ... बात स्पष्ट हो जाती है, और वह यह कि यद्यपि उस समय ... शास्त्र का ध्येय समाज की सुख और शान्ति में वृद्धि करना था, f

समय उसका विकास एक विज्ञान के रूप में उतना नहीं हुआ था जितना कि आज हम पाते हैं। प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र के विद्वानों ने अर्थशास्त्र का अध्ययन एक कला की दृष्टि से ही अधिक किया था। वे अर्थशास्त्र को एक कला ही मानते थे।

परिच्छेद २

आर्थिक जीवन का विकास (Evolution of economic life)

आज का आर्थिक सगठन इतना जटिल और पेचीदा है कि उसकी मुख्य विशेषताओं को समझने के लिए हमे वर्तमान आर्थिक जीवन के विकास का अध्ययन कर लेना आवश्यक जान पडता है। वर्तमान आर्थिक सगठन की बहुत से विचारक कटु आलोचना करते हैं। समाजवादी (socialist) तो वर्तमान आर्थिक सगठन को समूल नष्ट कर देना चाहते हैं। अतएव वर्तमान आर्थिक जीवन और उसके आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे अधिक विस्तारपूर्वक लिखने के पूर्व यह आवश्यक जान पडता है कि सक्षेप मे अब तक आर्थिक-जीवन का विकास जिन-जिन अवस्थाओं (stages) में से होकर हुआ है उनके विषय मे विचार कर लिया जावे। इन्हीं विभिन्न अवस्थाओं को हम आर्थिक जीवन के विकास की अवस्थाओ के नाम से पुकारते हैं। वर्तमान आर्थिक सगठन के सम्बन्ध में अपना निर्णय देने के पूर्व हमे समाज के आर्थिक जीवन के विकास का अध्ययन कर लेना आवश्यक है। तभी हम कह सकेंगे कि वर्तमान आर्थिक सगठन मे क्या दोष हैं।

भिन्न-भिन्न समयों में मनुष्य ने अपने जीवन की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए भिन्न-भिन्न नवीन आर्थिक अवस्थाओ और सगठनो को अपनाया था। उन अवस्थाओं का अध्ययन करने से दो लाभ होंगे। एक लाभ तो यह होगा कि हम,आधुनिक आर्थिक सगठन को अच्छी तरह से समझ सकेंगे। दूसरे हमे आधुनिक आर्थिक सस्थाओं के गुण-दोष जानने मे सुविधा होगी।

औद्योगिक अवस्थाओं का विकास (Evolution of Industrial stages)

जहाँ तक धनोत्पादन (production of wealth) का प्रश्न है हम मनुष्य के आर्थिक विकास को धनोत्पादन की दृष्टि से नीचे लिखी पाँच अवस्था। में बाँट सकते है.—

(१ शिकार करना और मछली मारना अर्थात् शिकारी की अवस्था (hunting stage)

(२) पशुपालन या खानाबदोश घुमक्कड़ जीवन-पशुपालन के द्वारा जीवन-निर्वाह करने की अवस्था (pastoral stage)
(३) कृषि के द्वारा धनोत्पत्ति करना (agricultural stage)
(४) व्यापारिक अवस्था (commercial stage)
(५) औद्योगिक अवस्था गृह-उद्योग धंधे अथवा हाथ की कारीगरी का जीवन (Industrial stage) (handicraft stage) फैक्टरियों में धन (wealth) का उत्पादन (production) होना (factory stage)

इससे पहले कि हम इन अवस्थाओं के वारे में कुछ लिखें, एक बात का सकेत कर देना उचित होगा। आर्थिक जीवन की अवस्थाओं को जिस क्रम से हमने लिखा है, ठीक उसी क्रम से हमारे आर्थिक जीवन का विकास हुआ हो ऐसा नहीं है। कभी-कभी एक से अधिक अवस्थाओं का विकास एक ही समय मे होता देखा जाता है, तो कभी विकास का क्रम उपयुक्त अवस्थाओं के अनुसार न होकर भिन्न प्रकार का रहा है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि कई स्थानों में व्यापारिक अवस्था (commercial stage) का विकास कृषि अवस्था से पहले हो गया तो कई मे बाद में हुआ। इसी प्रकार संमुद्र के किनारे पर रहने वाली जातियों के सम्बन्ध में यह देखा गया है कि मछली पकड़ कर निर्वाह करने की अवस्था (fishing stage) और व्यापारिक अवस्था (commercial stage) का विकास साथ ही साथ हुआ है इन दोनों अवस्थाओं के बीच में कृषि की अवस्था ने प्रवेश नहीं किया और यह तो हम भले प्रकार जानते ही हैं कि आधुनिक उद्योग-प्रधान काल में कृषि का सर्वथा लोप नहीं हो गया है, यद्यपि कृषि करने के ढग में बहुत उन्नति और परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि विस्तृत खेती (extensive cultivation) का स्थान गहरी खेती (intensive cultivation) ने ले लिया है। और पहले की अपेक्षा अब खेती में यन्त्रों का उपयोग भी बहुत अधिक बढ गया है। भविष्य में खेती में यन्त्रों का उपयोग और भी बढ जावेगा तथा कृषि-विज्ञान की सहायता से खेती के ढग को और भी अधिक परिष्कृत करके भूमि से अधिक उत्पत्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जावेगा, क्योंकि जन-संख्या बढती जा रही है और भूमि तो बढ नहीं रही है अतएव एक एकड़ भूमि से अधिकाधिक पैदावार उत्पन्न करना ही मनुष्य जाति को निर्धनता और दैन्य से बचाने का एक मात्र उपाय है। सारांश यह है कि आर्थिक जीवन के विकास के सम्बन्ध मे, विशेषतया प्रारम्भिक अवस्थाओं के बाद

विकास के बारे में, यह कहना कठिन है कि सब देशों में और सब समय यह विकास किसी एक विशेष क्रम के अनुसार ही हुआ है। अतः विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं का अध्ययन उपर्युक्त क्रम के अनुसार करने के पश्चात् पीछे की अवस्थाओं का अध्ययन उत्पादक (producer) और उपभोक्ता (consumer) के आपसी सम्बन्ध को ध्यान में रखकर करना ही अधिक वैज्ञानिक होगा।

प्रारम्भिक अवस्थाएँ

शिकारी जीवन की अवस्था (Hunting Stage) : मानव जीवन की बिलकुल आरम्भ की अवस्था में मनुष्य के रहन-सहन और खान-पान का ढग आज के ढग से बिलकुल भिन्न था। उस समय सभ्यता जैसी चीज का विकास नहीं हो पाया था। उस ज़माने का मनुष्य अपना जीवन जानवरों की तरह व्यतीत करता था। मनुष्य का शिकारी जीवन कई हज़ार वर्षों तक चला पहले-पहल वह आग के सहारे खुले मैदानों में ही छोटे-छोटे समूहों में रहता था किन्तु बाद में उसने गुफाओं और कदराओं में रहना आरम्भ किया। अपने भोजन के लिए भी आरम्भ में वह शिकार पर इतना अधिक निर्भर नहीं था जितना कि जंगलों में मिल जाने वाले कन्द, मूल, और जगली फलों पर निर्भर था। फिर भी वह थोड़ा-बहुत शिकार तो करता ही था। बात यह थी कि उस समय जन-संख्या बहुत कम थी इस कारण बहुधा मनुष्यों का काम वनों के कद, मूल, फल से ही चल जाता था। एक दूसरा कारण भी था कि जो उन्हें वनों के कद, मूल, फलो पर अधिकतर निर्भर रहने के लिए विवश करता था। कारण यह था कि मनुष्य के पास तब तक ऐसे औजार और हथियार नहीं थे कि वह बड़े जानवरों का सरलतापूर्वक शिकार कर सकता। जो थोड़ा बहुत शिकार मनुष्य उस समय करता था वह अधिकतर छोटे जानवरों (जैसे खरगोश, चूहा इत्यादि) का ही करता था। उसके पास इस काम के लिए लकड़ी और पत्थर के हथियार होते थे। इन हथियारो में भी तब तक कोई सुधार नहीं हुआ था। प्रायः मरे हुए जानवरो का मास भी खा लेता था, या बीमार, घायल, अथवा और किसी कारण से आफत में फँसे हुए बड़े जानवरों को मार कर भी खाता था। समय पड़ने पर उस जमाने का मनुष्य अपने कमजोर साथियों और अस्वस्थ बच्चों को मारकर उनको भी अपना भोजन बना लेता था। अपने शरीर के चारों ओर वह चमड़ा लपेटा करता था और चमड़ा ही पहनती थीं

धीरे-धीरे कई हजार वर्षों मे परिस्थितियाँ बदलीं और मनुष्य ने शिकारी जीवन बिताते हुए भी उन्नति की। यद्यपि यह लोग गुफाओं में रहते थे, किन्तु बहुधा वे खुले मे भी रहते थे। पहले की अपेक्षा अब मनुष्य अधिक कुशल शिकारी हो गया था, क्योंकि अब उसका भोजन अधिकतर शिकार पर ही निर्भर था। जिन जानवरों का वह शिकार करता था वे जगली घोड़े, बारहसिंगे, तथा दूसरे इसी प्रकार के जानवर होते थे। अपने भोजन की खोज में जैसे-जैसे यह जानवर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे, उन्हीं के साथ उस समय के मनुष्य भी फिरते रहते थे। उनके हथियार अब भी पत्थर के ही बने होते थे। वनस्पति और जलवायु मे परिवर्तन होने के कारण इस अवस्था मे शिकार के लिए जानवरों की कमी नहीं थी। जानवरों की बढती हुई सख्या ही वास्तव मे मनुष्य को कन्द, मूल तथा फल खाने वाले से शिकारी बनाने में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हुई। जहाँ-जहाँ परिस्थिति अनुकूल थी, मनुष्य ने इसी समय मछली पकडने का धधा भी अपनाया और उसमे प्रगति की।

मनुष्य-जीवन के शिकारी-जीवन की अवस्था एक लम्बे समय तक चलती रही। जैसे-जैसे समय बीतता गया, उसका अनुभव बढा और उसने अपने हथियारो मे सुधार किया। धीरे-धीरे उसने पत्थर की कुल्हाड़ी का अविष्कार किया, और अन्य हथियारो को भी अधिक पैने तथा नुकीले बनाने की कोशिश की। इनके अतिरिक्त तीरकमान भी मनुष्य अपने काम मे लाने लगा। धातुओ के आविष्कार के साथ हथियारो मे और भी अधिक उन्नति हुई और अनेकों प्रकार के हथियार जैसे—तीर, चाकू, भाले, कटार आदि काम मे लाये जाने लगे। इसी प्रकार कपडे के सम्बन्ध मे भी कुछ सुधार हुआ। यद्यपि अधिकतर कपड़े चमड़े के ही होते थे, फिर भी मनुष्य ने सन का मोटा कपडा बनाना शुरू कर दिया था। मनुष्य की इतनी प्रगति धातु के प्रयोग के पहले ही हो चुकी थी।

पशु पालन की अवस्था (Pastoral Stage) · मनुष्यो की जनसख्या तेजी से बढती गई। जनसख्या के बढने के कारण पहले से अधिक व्यवस्थित ढग से भोजन प्राप्त करने की आवश्यकता मनुष्य को मालूम पड़ने लगी। जनसख्या के बढ जाने पर शिकारी जीवन के द्वारा भोजन प्राप्त करने मे कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। जब शिकारियों की सख्या बढ़ी तो अपेक्षाकृत शिकार के योग्य जानवरों की कमी अनुभव होने लगी।

ानवरों की कमी होने के कारण शिकार के द्वारा भोजन प्राप्त करने में ाधिक श्रम और शक्ति लगाना आवश्यक होगया। फिर किसी-किसी मौसम ं शिकार का टोटा हो जाता था, इस कारण मनुष्यों को भोजन प्राप्त रने का अधिक व्यवस्थित और निश्चित ढग ढूँढ निकालना आवश्यक ोगया। दूसरी ओर शिकारी जीवन में मनुष्यों को पशुओं के निकट सम्पर्क ं आने का अवसर मिला और वे पशुओं की उपयोगिता को समझने गे। उनकी समझ मे क्रमशः यह बात आने लगी कि जानवरो का शिकार रने की अपेक्षा यदि उन्हें पालतू बना लिया जावे तो उनके भोजन का ाधिक सरलतापूर्वक हल हो सकता है। अतएव अधिक उपयोगी जानवरों ा शिकार बन्द करके उनको पालना शुरू कर दिया। सबसे पहले मनुष्य ो घोड़े को और बाद मे कुत्ते को तथा उसके बाद मे गाय, बैल, भेड, करी आदि अन्य उपयोगी पशुओं को पालना शुरू किया। सबसे पहले सने अपने शिकार के जानवरो को, जब वे खाने की तलाश मे बहुत दूर नेकल जाते थे ता एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेजाना शुरू कर दिया। ाधिक उपजाऊ घाटियों मे उसने जानवरों को घेरकर इकट्ठा करना और व वे भूखे हो तो उनके भोजन का प्रबन्ध करना आरम्भ किया और इस कार वह धीरे-धीरे जानवरो को पालने लगा। जानवरों के पालने से मनुष्य के ोजन की अधिक अच्छी और निश्चित व्यवस्था होगई और शिकार के ारण जो मॉस व्यर्थ मे नष्ट होजाता था वह भी बच गया। पशुपालन से वल भोजन की व्यवस्था ही नहीं सुधरी वरन् वस्त्रो की समस्या भी बहुत ्छ हल होगई और साथ ही आने-जाने मे भी बहुत सुविधा होगई। पशुओं ी सवारी से मनुष्य बहुत दूर-दूर तक की यात्रा सरलतापूर्वक करने लगा। ब मनुष्यों को पशुओं का मूल्य ज्ञात हुआ। जिस व्यक्ति के पास जितने ा अधिक पशु होते वह उतना ही भोजन, वस्त्र इत्यादि की दृष्टि से सम्पन्न ाता। अतएव मनुष्यो मे पशुओ मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का भाव उत्पन्न ुआ। अधिक से अधिक पशुओ को प्राप्त करना, उनकी वंशवृद्धि करना ौर उनके द्वारा अपने लिए भोजन-वस्त्र तथा अन्य साधन प्राप्त करना नुष्य का प्रमुख आर्थिक कार्य होगया। व्यक्तियों के पास भिन्न-भिन्न सख्या पशु होने के कारण धन की असमता भी उत्पन्न होगई। उस समय के नुष्य एक स्थान पर घर बनाकर नहीं रह सकते थे, क्योंकि एक स्थान ्र घास तथा अन्य चारा समाप्त हो जाने पर उन्हें अपने पशुओ को लेकर न्य स्थानों को जाना पडता था। पशु-पालन की अवस्था में मनुष्य ने

शिकार करना बिलकुल ही छोड़ दिया हो ऐसी बात नहीं थी, किन्तु अब शिकार की अपेक्षा पशु-पालन ही उसके जीवन-निर्वाह का मुख्य आधार बन चुका था।

कृषि की अवस्था (Agricultural Stage). मनुष्य-जीवन में खेती का प्रवेश बहुत धीरे-धीरे हुआ। शिकारी जीवन और पशुपालन की अवस्था में ही उसने जगली पेड़ों और पौधो के सबन्ध मे यथेष्ट जानकारी प्राप्त करली थी। वह जान गया था कि कुछ पौधे अन्य पौधों की अपेक्षा उसके लिये अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं। जगली अवस्था मे यह उपयोगी और अनुपयोगी पौधे साथ ही साथ उगते थे, अत. वह करता यह था कि अनाज पकने के समय उन पौधों की बालियों को जगल मे जाकर चुनता था और उसमें से अनाज निकाल लेता था। उदाहरण के लिये यदि कोई मनुष्य गेहूँ इकट्ठा करना चाहता तो उसे सारे जगल में घूमना पड़ता था और वह गेंहू की पकी हुई बालियों को चुन लेता। परन्तु ऐसा करने में उसका बहुत-सा समय और परिश्रम नष्ट होता था। अस्तु, मनुष्य ने एक युक्ति निकाली। पौधों के उग जाने के उपरान्त वह कम उपयोगी अथवा अनुपयोगी पौधों को काट कर अथवा उखाड़ कर साफ कर देता था और केवल गेहूँ के पौधे (अथवा अन्य किसी उपयोगी पौधे को जिसकी उसे आवश्यकता हो) खड़ा रहने देता था। इससे उसे दो लाभ हुए, एक तो गेहू के पौधे को अधिक बढने का अवसर मिलता था दूसरे पकने पर उसे एक साथ काट लिया जाता था और एक-एक बाल को चुनना नहीं पड़ता था। परन्तु जन-सख्या बढती ही जारही थी और इस प्रकार जगली पौधों से अनाज इकट्ठा करने से बहुत बडे जगल के टुकड़े से थोड़ा-सा ही अनाज प्राप्त होता था। अस्तु, मनुष्य ने उपयोगी पौधों को भी काटकर जगल को साफ कर दिया। फिर भूमि को नरम बनाकर थोड़ी-थोडी दूर पर बीज को रखकर आधुनिक ढग की खेती की नींव डाली। अनुपयोगी पौधों को न उगने देकर उपयोगी पौधे को पनपने के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान करके मनुष्य ने खेती करना शुरु किया। इस प्रकार बढती हुई जनसख्या के लिये एक निश्चित भूमि मे अधिकाधिक भोजन उत्पन्न करने के सतत प्रयत्न ने ही कृषि के धधे को जन्म दिया और इसी प्रयत्न के फलस्वरूप कृषि की उन्नति हुई। सच तो यह है कि शिकारी जीवन की अवस्था मे ही मनुष्य ने एक प्रकार से खेती करना आरम्भ कर दिया था। आरम्भ मे उसने एक स्थान पर जम कर खेती करना नहीं सीखा। वह तो अवसर मिलने पर चलते-फिरते एक आध फसल उत्पन्न कर लेता था। साथ ही उसने पौधों और बीजों का उपयोग करना भी सीखा।

जगली जानवरों को पालने के साथ ही मनुष्य ने जगली पौधों को पालना भी आरम्भ किया। अपने जानवरों के लिए घास तथा चारा इकट्ठा करने की आवश्यकता के साथ ही साथ सम्भवतः पहली बार खेती आरम्भ हुई। बाद में समय और परिस्थितियाँ जैसे-जैसे वदलती गई, खेती मनुष्य का प्रधान धधा वन गया और अब वह एक स्थान पर जम कर रहने लगा और खेती करने लगा। इस प्रकार मनुष्य और पशु दोनों के लिए अधिक और व्यवस्थित ढग से भोजन का प्रवन्ध हो गया और भूमि पर पहले की अपेक्षा अधिक जनसख्या का भरण-पोषण होना सम्भव हो गया। धीरे-धीरे मनुष्य परिवार बनाकर रहने लगा। भूमि पर इस समय किसी व्यक्ति-विशेष का अधिकार नही होता था, किन्तु वह सारी जाति की सम्पत्ति मानी जाती थी। हाँ मकान तथा अन्य चल सम्पत्ति (movable wealth) पर अलग-अलग परिवारो का अवश्य अधिकार होता था। यह कृषक-परिवार अधिकाश मे स्वावलम्बी होते थे, और वाहरी दुनिया से उनका सम्वन्ध वहुत कम रहता था। इस प्रकार के कई कृषक-परिवारों के समूह से गाँव का जन्म हुआ। गाँव का जीवन विलकुल सादा और स्वावलम्वी होता था। जो स्थान राजनैतिक, धार्मिक, व्यापारिक, अथवा अन्य किन्हीं कारणों से महत्त्वपूर्ण होगए थे वहाँ वड़े-वडे नगरो की स्थापना होगई। इसी समय यह प्रथा भी प्रचलित थी कि युद्ध में जो लोग हार जाते थे, उनको विजयी लोग क़ैद करके अपना दास वना लेते थे और वे अपने स्वामी के खेतों पर काम करते थे। भिन्न-भिन्न जन-समूहों में आर्थिक तथा अन्य कारणों को लेकर लडाई तो उस समय भी हुआ ही करती थी।

जैसे-जैसे जनसख्या वढती गई मनुष्य को एक निश्चित भूमि में से अधिकाधिक भोजन तथा अन्य आवश्यक फसलें उत्पन्न करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अस्तु, खाद, सिंचाई तथा उत्तम बीज और जुताई इत्यादि के द्वारा प्रति एकड़ अधिक से अधिक पैदावार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया और गहरी खेती (intensive cultivation) का आविर्भाव हुआ। आज घने आवाद देशों मे गहरी खेती (intensive cultivation) उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी है और कृषि-विज्ञान की उन्नति के फल स्वरूप एक एकड से अधिक से अधिक पैदावार प्राप्त की जाती है।

व्यापारिक अवस्था (Commercial Stage) . मनु . व्यापार का प्रवेश भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न समय में

पहले समुद्र के किनारे रहने वाली जातियों ने व्यापार करना आरम्भ किया। नमक, धातु के हथियार, सोना, कपड़ा आदि वस्तुओं से ही शुरू-शुरू में व्यापार आरम्भ हुआ होगा। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढती गईं, आवागमन के साधनो मे उन्नति होती गई और श्रम-विभाग (division of labour) बढता गया व्यापार का विस्तार भी होता गया। जैसा कि पहले भी हम लिख चुके हैं कि कई स्थानो मे कृषि के पूर्व ही व्यापार आरम्भ होगया था। आज तो मोटर, रेल, समुद्री जहाज, वायुयान, डाक, तार, टेलीफोन, केबिल (समुद्री तार), वेतार का तार तथा रेडियो ब्राडकास्टिंग की सुविधाओ से समस्त पृथ्वी एक वड़ा वाजार बन गई है। वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान को शीघ्रतापूर्वक पहुँचाई जा सकती हैं और एक देश में मूल्य परिवर्तन का प्रभाव सभी देशों पर पड़ता है। सच तो यह है कि बड़ी मात्रा का उत्पादन (large scale production) विना व्यापार की उन्नति के सम्भव ही नही था। वडे-वडे कारखाने और भीमकाय पुतलीघरों का अस्तित्व ही व्यापार पर निर्भर है। हमारे वर्तमान आर्थिक जीवन मे व्यापार का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार समझता है। आज एक साधारण स्थिति के व्यक्ति के घर पर दृष्टि डालें तो उसम वस्तुओ के उत्पादन-स्थान की दृष्टि से लगभग ससार के सभी प्रमुख देशो को हम पा सकते हैं। इसी से व्यापार का महत्त्व स्पष्ट है।

औद्योगिक विकास (Industrial Evolution): मनुष्य-जीवन के विकास मे कला और उद्योग का भी वहुत वडा हाथ रहा है। गुफाओं और कन्दराओ की दीवारो पर चित्रकारी करना प्राचीन काल के मनुष्य वहुत अच्छी प्रकार जानते थे, इसके यथेष्ट प्रमाण पाये जाते हैं। इसी प्रकार सवसे पहला उद्योग मनुष्य ने अपने काम मे आने वाले औजार और हथियार (पहले पहल पत्थर के और वाद मे धातु के) वनाने का ही सीखा होगा। मिट्टी के वर्तन वनाना, कपडे वनाना, मकान वनाना और पहनने के लिए जेवर वनाना सवसे प्राचीन उद्योग रहे होंगे। मिट्टी के अतिरिक्त लकड़ी, हड्डा, और पत्थर के वर्तन भी अत्यन्त प्राचीन काल के पाये गये हैं। समय और अनुकूल परिस्थिति के होने पर उद्योग के क्षेत्र म मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है, यह वात हमारे आज के जीवन स स्पष्ट हो जाती है। यह औद्योगिक विकास किन-किन अवस्थाओं मे से होकर गुज़रा है, अब हम संक्षेप मे इस पर विचार करेंगे। इसका आधार उत्पादक (producer) और उपभोक्ता (consumer) का आपसी सम्बन्ध है,

जिसका अध्ययन करने के लिए हमको आवश्यक बातों—जैसे उत्पत्ति का तरीका, (system of production), बढता हुआ श्रम-विभाग (division of labour), बाजारों का अधिकाधिक विस्तार, द्रव्य (money) और साख (credit) के बढते हुए उपयोग का भी ध्यान रखना होगा। औद्योगिक विकास को इस दृष्टि से हम चार भागों में बाट सकते हैं— (१) पारिवारिक स्वावलम्बन की अवस्था (family economy), (२) दस्तकारी की अवस्था (the gild or handicraft system), (३) उद्योग की घरेलू व्यवस्था (domestic system of industry) और (४) फैक्टरी व्यवस्था (the factory system) इनमें से प्रत्येक पद्धति के बारे में थोडी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

पारिवारिक स्वावलम्बन की अवस्था (Family Economy): योरोप में मध्य युग के आरम्भ तक इस प्रकार की व्यवस्था कायम थी। इसकी विशेषता यह थी कि प्रत्येक परिवार स्वावलम्बी होता था, और अपनी जरूरत की तमाम चीजे स्वय उत्पन्न कर लेता था। इस प्रकार हर एक परिवार अपने खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए कपड़ा, रहने के लिए मकान, तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ स्वय ही उत्पन्न कर लेता था। किन्तु उस समय का परिवार आज के परिवार से कहीं अधिक बडा होता था। परिवार के अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त उसमे दास और अर्द्ध दास भी सम्मिलित होते थे। आपस में काम का बटवारा आज की तरह पेचीदा न होकर बिलकुल साधारण था। सारे परिवार के लोग आपस मे मिलकर ही वस्तुएँ पैदा करते थे और आवश्यकतानुसार उनका उपभोग करते थे। स्वभावतः व्यापारिक और औद्योगिक नगरों की अपेक्षा खेती-प्रधान रूढिवादी गाँवों में यह व्यवस्था अधिक समय तक कायम रह सकी होगी।

दस्तकारी की अवस्था (The Handicraft System): धीरे-धीरे स्वावलम्बी परिवारों की अवस्था का अन्त होने लगा और एक पेशेवर दस्तकारों का एक वर्ग अलग से उत्पन्न होगया। आरम्भ मे परिवार के लोगों ने कभी-कभी बाहर वालों, जैसे—बढई और मोची की सहायता लेना आरम्भ किया। इन लोगों को केवल मज़दूरी पर काम करना पडता था, तमाम आवश्यक साधन उन्हें वही परिवार देता था जो काम पर बुलाता था। किन्तु जब दास-प्रथा का अन्त होगया और कार्य की भी अधिकता होने लगी, तो इन कभी-कभी काम करने वालों का और स्थायी वर्ग ही उत्पन्न होगया। यह लोग अपने-अपने

ही औजारों से और अपने कच्चे माल पर ही काम करने लगे और इस प्रकार तैयार माल को उन्होंने अपनी दूकानों मे स्वय ही बेचना शुरू कर दिया। प्रायः अपने धधो के साथ-साथ यह लोग थोडी खेती भी कर लेते थे। अभी तक उत्पत्ति छोटे पैमाने पर ही होती थी और उत्पादक तथा उपभोक्ता मे सीधा सम्बन्ध कायम था। इस अवस्था का एक लक्षण यह था कि प्रत्येक धधे के लोगों का एक अलग सघ बनगया जिसे कारीगर-सघ (craft-guild) कहते थे। इन सघो का कार्य वस्तुओ के मूल्य और उनके दर्जे के बारे में नियम बनाना होता था। इन नियमों का प्रत्येक सदस्य को लाजिमी तौर पर ध्यान रखना होता था। प्रत्येक सघ अपने-अपने क्षेत्र में पूरा-पूरा एकाधिकार (monopoly) स्थापित करने और उस एकाधिकार को कायम रखने का प्रयत्न करता था। धीरे-धीरे कारीगर-सघों (craft guilds) का स्थान व्यापारी सघो (merchant guilds) ने ले लिया। इन सघों ने अपना बहुत कुछ राजनैतिक महत्त्व भी बना लिया था। हमारे देश मे भिन्न-भिन्न जातियो का भी आर्थिक आधार रहा है। और जिस प्रकार योराप मे कारीगर-सघो ने उद्योग-धधो पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था उसी प्रकार भारत मे यह पेशेवर जातियाँ कार्य करती रहीं। मध्य युग के अन्त तक योरोप मे आर्थिक जीवन का आधार यह सघ-व्यवस्था (guild system) ही था। किन्तु बाद मे जब व्यापार का क्षेत्र बढने लगा तो यह सघ व्यवस्था समाप्त होने लगी। इस सघ-व्यवस्था के अन्त होने का एक कारण यह भी था कि जो सघ अधिक सफल थे और जिनका एकाधिकार स्थापित था वे उसका दुरुपयोग करने लगे थे, और सघ के जो पुराने और मालिक कारीगर (master craftsman) होते थे उन्होंने नव-आगुन्तको के प्रति उदार व्यवहार करना बन्द कर दिया था, जिससे कि उन नव-आगुन्तकों को आगे बढने तथा उन्नति करने मे कठिनाई आने लगी। अस्तु, समय और परिस्थिति के बदलने के कारण इस अवस्था का स्थान भी दूसरी अवस्था ने ले लिया, जिसका अब हम विचार करेंगे।

घरेलू व्यवस्था (Domestic System) व्यापार के विस्तार और सघ व्यवस्था के अन्त के साथ ही आर्थिक ससार मे एक नवीन वर्ग ने जन्म लिया। हमारा मतलब उन मध्यस्थ व्यक्तियों के वर्ग से है जो स्वय दस्तकारी को अपना धधा न बनाकर केवल यह काम करते थे कि दूसरे लोगों से मजदूरी देकर वस्तुएँ उत्पन्न करा लेते थे और बाद मे उनकी बिक्री की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते थे। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में वे एक

मध्यस्थ व्यक्ति (middle man) का काम करते थे। इनको हम व्यापारिक मध्यस्थ वर्ग (commercial middle man) नाम से जानते हैं। वास्तविक कारीगर अब भी स्वतन्त्र रूप से अपने घर पर ही काम करते थे। किन्तु अब उनको अपने कार्य की निश्चित कीमत पूंजीपति व्यापारी से, जो उसके और उपभोक्ता के बीच मे मध्यस्थ का काम करता था, मिल जाती थी। इस हद तक वे उसके दास हो चुके थे। उनको कच्चा माल भी उसी व्यापारी से प्राप्त हो जाता था और बाद म तो कारीगरो के औज़ार भी नहीं रहे; पूंजीपति व्यापारी ही उनको औजार भी देता था। इस प्रकार हम देखेंगे कि कारीगर धीरे-धीरे एक तीसरे आदमी का दास बन गया। उसकी यह दासता उसी मात्रा मे बढती गई जिस मात्रा मे कि व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता गया और बाजार के लिए माल उत्पन्न करने की जोखिम बढती गई। यहा यह सकेत कर देना उचित है कि इस व्यापारी मध्यवर्ग ने भी वस्तुओं के बाजार को अधिक वितृत बनाने में सहायता दी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इसी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था कायम थी। हमारे देश मे आज भी यह व्यवस्था बहुत कुछ हद तक पाई जाती है।

फैक्टरी-व्यवस्था (Factory System). अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे इङ्गलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) हुई। फलतः देश की आर्थिक व्यवस्था मे एक आधारभूत परिवर्तन हुआ और वर्तमान फैक्टरी-पद्धति इसी आधारभूत परिवर्तन का नतीजा है। नई नई मशीनों के कारण उसका लाभ उठाने के लिये बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करना अनिवार्य हो गया। अब यह बात साधारण कारीगर की शक्ति के बाहर की होगई कि वह स्वतन्त्र रूप से उत्पादन-कार्य कर सके। बडी मिलों को खड़ा करने के साधन तो बडे-बड़े पूंजीपतियों के पास ही हो सकते थे। उन्होंने ही यह कार्य किया और साधनहीन मजदूर लोग मजदूरी पर उन कारखानों में काम करने लगे। उनकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता जाती रही, यहा तक कि घरेलू व्यवस्था (domestic system) मे घर पर काम करने की जो स्वतन्त्रता थी वह अब जाती रही। वास्तव में तो औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व भी किसी अश में वे अपनी इस स्वतन्त्रता को खो चुके थे और ऐसे स्थान पूंजीपति व्यापारियों ने ही स्थापित कर दिये थे जहा बहुत से कारीगर एक साथ काम
इस प्रकार आर्थिक ससार में अब स्पष्टतया दो वर्ग दिखलाई देने लगे (
युक्त पूंजीपतियों का और (२) मजदूरी के दास मज़दूरों का। उत्पत्ति

करने की तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली सारी जिम्मेदारी अब व्यवसायी वर्ग पर आगई और वास्तव में उत्पत्ति करने वाले मजदूरों के हाथ में किसी प्रकार का नियन्त्रण अब नहीं रहा। हमारी वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का आधार यही फैक्टरी-पद्धति है जिसको पूंजीवादी व्यवस्था (capitalist system) भी कहते हैं। प्रत्येक देश आज इसी की ओर अग्रसर होरहा है। भारतवर्ष में पूँजीवादी व्यवस्था तेजी से बढती जारही है। पूंजीवादी व्यवस्था का सब से नया और उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ रूप बड़ी-बड़ी औद्योगिक एकाधिकार सस्थाओं (monopolies) का स्थापित होना है जो ट्रस्ट (trust) कार्टल (cartel) तथा पूल (pool) इत्यादि के नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी धधे मे एकाधिकार या ट्रस्ट स्थापित हो जाने पर उस धधे पर एक औद्योगिक सस्था का जिसके कर्ता-धर्ता कुछ थोड़े से पूंजीपति (capitalist) होते हैं, एकाधिकार स्थापित हो जाता है और उस धधे में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता। पूंजीवादी व्यवस्था अथवा फेक्टरी-व्यवस्था की यह चरम सीमा है। इस आर्थिक व्यवस्था का एक बड़ा और विशेष लक्षण यह है कि उत्पत्ति माग की आशा में की जाती है। इसी प्रकार श्रम-विभाजन (division of labour) भी आज पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है तथा द्रव्य (money) और साख (credit) का व्यवहार भी बहुत अधिक बढ गया है। इसी व्यवस्था को हम वर्तमान आर्थिक जीवन का आधार मान सकते हैं।

आर्थिक जीवन के विकास के सम्बन्ध मे अब तक जो हमने लिखा है, उससे यह बात स्पष्ट समझ में आगई होगी कि यह विकास कुछ खास और कड़े नियमों के अनुसार सब जगह एक-सा हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। फैक्टरी-व्यवस्था अथवा पूंजीवादी व्यवस्था के युग में आज भी हम देखते हैं कि आर्थिक व्यवस्था के अन्य रूपों का सर्वथा लोप नहीं होगया है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं, कि घरेलू व्यवस्था आज भी खास तौर पर कुछ धधों में, जैसे बुनने और लेस तैयार करने का काम, मोजे बनाने का काम, घड़ी बनाने का काम आदि में प्रचलित है। भारतवर्ष मे तो यह व्यवस्था आज भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली है।

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)

फैक्टरी-व्यवस्था वास्तव मे औद्योगिक क्रान्ति की देन है। उत्पादन-कार्य (production) मे यन्त्रों के आविष्कार तथा भाप के उपयोग से जो

क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, यातायात मे भाप का उपयोग होने से जो रेल का प्रादुर्भाव हुआ और पालों की सहायता से चलने वाले समुद्री जहाजो के स्थान पर भाप से चलने वाले समुद्री जहाजों का प्रचार, और उत्पादन के इस नये तरीके से मज़दूर के जीवन तथा उनकी दशा पर जो प्रभाव पड़ा उसी का नाम औद्योगिक क्रान्ति है।

यन्त्रों, ऐंजिन तथा भाप के आविष्कार का परिणाम यह हुआ कि उत्पादन-कार्य बड़ी मात्रा मे होने लगा और बड़ी-बड़ी फैक्टरियों की स्थापना हुई। यन्त्र अथवा मशीन की विशेषता यह है कि वह केवल एक सूक्ष्म क्रिया ही कर सकती है। एक ही मशीन एक से अधिक क्रियायें नहीं कर सकती। परन्तु हम देखते हैं कि एक वस्तु को बनाने में सैकड़ों ही सूक्ष्म क्रियायें करनी पड़ती हैं। केवल आलपीन जैसी सरल वस्तु बनाने मे ८० सूक्ष्म क्रियायें करनी पडती हैं। कारीगर तो औजारों को अदल-बदल कर सभी क्रियाओं को स्वय कर लेता है, किन्तु यदि मशीन से कार्य लिया जावे तो मशीन तो केवल एक सूक्ष्म क्रिया ही कर सकती है। अस्तु, मशीन के द्वारा उत्पादन करने मे प्रत्येक क्रिया के लिए एक मशीन लगानी पड़ती है। ऐसी दशा में यदि छोटी मात्रा मे उत्पादन किया जावेगा तो मशीनें अधिकाश समय बेकार पडी रहेगी। कल्पना कीजिए कि एक सूती कपडे की मिल में सभी आवश्यक मशीनें खड़ी की जावें और एक बुनकर की भाति एक दिन में एक थान कपड़ा बनाया जावे तो वे मशीनें बेकार ही रहेंगी। अस्तु, बिना बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) के मशीनों का उपयोग हो ही नहीं सकता।

यन्त्रों द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने के लिए फैक्टरी खडी करनी होती है। फैक्टरी को खडा करने के लिए बहुत अधिक पूंजी (capital) की आवश्यकता होती है। इसका परिणाम यह हुआ कि घरेलू व्यवस्था के स्थान पर फैक्टरी-व्यवस्था कायम हुई। श्रम-विभाजन (division of labour) का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा और सभी धन्धों मे यन्त्रों का पूरा-पूरा उपयोग होने लगा। इसका फल यह हुआ कि उत्पादन बहुत बढ़ गया। वस्तुएँ पहले से अधिक तैयार की जाने लगी और सस्ती होने के कारण सर्व-साधारण उनका उपयोग करने लगा।

किन्तु फैक्टरी-व्यवस्था से बहुत-सी नवीन सामाजिक समस्याएँ उप- हो गई। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों का उदय हुआ, उनमे लाखों मन

भीड़ इकट्ठी होगई और मजदूरों को पशुवत जीवन व्यतीत करना पड़ा। मज़दूर स्वतन्त्र कारीगर न रह कर फैक्टरी के अनुशासन में आगया। उसकी स्थिति एक स्वतन्त्र कारीगर की न रह कर एक मजदूर की-सी हो गई। पूंजीपतियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया जो कि अत्यन्त प्रभावशाली हो उठा। मज़दूर पूंजीपतियों की दया पर निर्भर हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धन्धों का अत्यधिक लाभ पूंजीपतियों की तिजोरियों में जाने लगा। उनके पास कल्पनातीत धन (wealth) इकट्ठा होने लगा और वे अत्यधिक धनी हो गये और मजदूरों का शोषण होने लगा। बड़ी मात्रा के उत्पादन और फैक्टरी-व्यवस्था का एक परिणाम यह भी हुआ कि विदेशी व्यापार (foreign trade) भी खूब बढी। यतायात के साधनों में उन्नति होने से विदेशों में अपने माल को भेजने की सुविधा हो गई। फैक्टरी-व्यवस्था के फल स्वरूप उत्पादन तो बहुत बड़ी मात्रा में होने ही लगा था अत: पूंजीपति मिल मालिक केवल अपने देश की माग की पूर्ति के ही लिये नहीं वरन विदेशों के बाजारों में अपने माल को वेचने के लिये उत्पादन करने लगे। जिन देशों में औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) के फल स्वरूप फैक्टरी-व्यवस्था अथवा पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित होगई और जहाँ एक प्रभावशाली पूंजीपति (capitalist) वर्ग उत्पन्न हो गया था उन्होंने अपने धधों मे बने माल के लिए पिछड़े हुए देशों के बाजारों को हथियाना आरम्भ किया।

मजदूरों का शोषण होने के कारण मज़दूर-आन्दोलन तथा समाजवाद (socialism) का जन्म हुआ और मजदूर तथा पूँजीपतियों का संघर्ष तीव्र होता गया। पूँजीवादी वर्ग के अत्यन्त धनी और प्रभावशाली हो जाने से राजनीति पर भी उसका प्रभाव पड़ा। प्रजातन्त्र पूँजीपतियो का एक खिलौना बन गया। चाहे जो भी राजनैतिक दल देश मे शासनारूढ हो, वह पूँजीपतियो का दास बनकर ही रहता है। अस्तु, अपने देश के वास्तविक शासक पूँजीपति ही बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उन देशों की राजनीति पूँजीपतियो के स्वार्थ को ख्याल मे रखकर चलाई जाने लगी। जिन देशो मे उद्योग-धधों का विशेष रूप से विकास हुआ और पूँजीपति वर्ग विशेष रूप से प्रभावशाली होगया और उनके पास धधो के लाभ से प्राप्त अतुल धन इकट्ठा होगया वे देश साम्राज्यवादी देश बन गए। उन देशों ने पिछड़े और निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन कर लिया जिससे उनके पूँजीपति उन आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्र का आर्थिक शोषण (economic exploitation) कर सकें। इङ्गलैण्ड, फ्रास, जापान और

नि के साम्राज्यवाद का यही रहस्य था। साराश यह कि आर्थिक, राजनैतिक र सामाजिक क्षेत्रों मे औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप घोर परिवर्तन हुए र नवीन सम्बन्ध स्थापित हुए।

फैक्टरी-पद्धति के फलस्वरूप समाज में धन की असमानता वहुत बढ़ ई। कुछ थोडे से लोग ऐसे उत्पन्न होगए कि जिनके पास अपार धन है, वे त्यन्त धनी हैं, किन्तु अधिकाश मनुष्य निर्धन हैं। सच तो यह है कि क्टरी पद्धति ने कुछ ऐसी सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है कि नका हल समाजवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो लोग कि माजवाद के विरोधी हैं वे उनका कोई समुचित हल आज तक नहीं निकाल के। लेकिन साथ ही फैक्टरी-पद्धति से एक वहुत बडा लाभ यह हुआ कि न (wealth) का उत्पादन बेहद वढ गया। वस्तुओं के अधिक मात्रा । और वेहद सस्ती होने के कारण सर्वसाधारण भी उनका उपयोग रने लगा।

फैक्टरी-पद्धति का एक परिणाम यह भी हुआ कि उत्पादन पर एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित होगया। क्रमश· सभी धंधों पर कुछ एक पूँजी-पतियों का एकाधिपत्य स्थापित होने लगा। धीरे-धीरे धधों का सारा लाभ ट्रस्टों (एकाधिकार का एक रूप) के हाथ में चला जाता है। फैक्टरी-व्यवस्था के इन बुरे परिणामों को दूर करने के उपाय अभी तक निकाले नहीं जा सके हैं। इसका एकमात्र उपाय यही प्रतीत होता है कि धधों का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) किया जावे।

फैक्टरी व्यवस्था का एक परिणाम और हुआ। श्रम-विभाजन (division of labour) पूर्ण होकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और द्रव्य (money) का उपयोग कम होकर साख (credit) का वस्तुओं की खरीद-विक्री मे अधिक उपयोग होने लगा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (international trade)वहुत वढ गया। सच तो यह है कि आज समस्त भू-मडल एक आर्थिक इकाई वन गया है।

ऊपर हमने उत्पादन की दृष्टि से आर्थिक अवस्थाओं का अध्ययन किया है। किन्तु हम मनुष्य के आर्थिक विकास का अध्ययन आर्थिक इकाई की दृष्टि से भी कर सकते हैं। इस दृष्टि से भी हमें चार आर्थिक अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं। वे इस प्रकार हैं —

(१) स्वतन्त्र आर्थिक अवस्था (stage of independent economy)

(२) ग्राम तथा नगर की आर्थिक अवस्था (the stage of town economy)

(३) राष्ट्रीय आर्थिक अवस्था (the stage of national economy)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अवस्था (the stage of world economy)

स्वावलम्बन अथवा स्वतन्त्र आर्थिक अवस्था : मनुष्य के आर्थिक विकास की एक अवस्था वह थी जब वह जंगलों पर निर्भर रहकर, पशु-पालन तथा प्रारम्भिक ढंग की खेती-बारी करके अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था। वह अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं उन वस्तुओं को उत्पन्न करके करता था, उनके लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता था। वह बहुत कुछ स्वावलम्बी था। मनुष्य-जीवन के आर्थिक विकास की इस अवस्था में श्रम-विभाजन (division of labour) का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। स्वभावतः मनुष्य की आवश्यकताएँ थोडी ही थीं और उनको पूरा करने मे ही उसकी सारी शक्ति व्यय हो जाती थी। उसको भोजन, शरीर ढकने के लिये वस्त्र, रहने के लिए मकान और शिकार तथा खेती के लिये औजार बनाने में ही इतना समय और शक्ति लग जाती थी कि वह और वस्तुओं को तैयार कर ही नहीं सकता था। इस अवस्था मे विनिमय (exchange) की कोई आवश्यकता ही न थी। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी था, इस कारण द्रव्य जैसी वस्तु का प्रदुर्भाव ही नहीं हुआ था।

ग्राम और नगर की आर्थिक अवस्था कुछ समय के उपरान्त खेती-बारी की उन्नति हुई, कुछ धंधे और पेशे भी बढे, श्रम-विभाजन का आरम्भ हुआ। अब तक एक मनुष्य स्वयं सभी आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न न करके केवल एक धंधे को करता था और विनिमय (exchange) द्वारा दूसरी वस्तुएँ प्राप्त करता था। उदाहरण के लिए एक बढई किसानों का हल इत्यादि बनाकर, बुनकर का करघा बनाकर, तेली की घानी बनाकर उनसे अनाज कपड़ा और तेल प्राप्त करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब व्यक्ति स्वावलम्बी न रहा परन्तु गाँव और कस्बा इकाई बन गया। इस अवस्था मे एक गाँव या कस्बे मे यह प्रयत्न किया जाता था कि गाँव या कस्बे मे उन सभी आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न किया जावे कि जो उस गाँव या कस्बे मे रहने वालों के लिए जरूरी हों। इस अवस्था में अधिकतर गाँव या कस्बे मे ही लोग आपस मे खरीद या बिक्री करते थे। इस अवस्था

श्रम-विभाजन (division of labour) का प्रदुर्भाभाव हुआ और उसके साथ ही विनिमय का भी प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु वस्तुओं की अदला-बदली (barter) से ही विनिमय कर लिया जाता था, द्रव्य (money) का प्रदुर्भाव नहीं हुआ था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं बढई अपनी सेवा के बदले मे अनाज, कपडा और तेल पा जाता था।

राष्ट्रीय आर्थिक अवस्था : जब मार्गों की सुविधा होगई, मनुष्य के दूर-दूर तक आने-जाने में कठिनाई नहीं रही और खेती और धधों की अधिक उन्नति हुई तो श्रम-विभाजन का व्यापक स्वरूप सामने आया। जहाँ जिस वस्तु को तैयार करने के लिए अनुकूल साधन और सुविधाएँ थी वहाँ वह धधा पनप उठा। उदाहरण के लिए यदि किसी प्रदेश मे कपास के लिए अनुकूल जलवायु अथवा मिट्टी नहीं है तो वहाँ कपास उत्पन्न न करके अन्य पैदावार जिसके लिए परिस्थिति अनुकूल थी, उत्पन्न की जाने लगी। यही परिवर्तन धधों मे हुआ। जहाँ जिस धधे के लिए अनुकुल परिस्थिति थी वहा वह धधा पनप उठा। इस प्रकार श्रम-विभाजन का विकास हुआ और प्रादेशिक श्रम-विभाजन (teritorial division of labour) का युग आरम्भ हुआ। ऐसा होने पर मनुष्य तीसरी आर्थिक अवस्था मे पहुँच गया, अर्थात् सारा देश एक आर्थिक इकाई बन गया। व्यापारिक केन्द्रों का उदय हुआ जहाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों मे उत्पन्न की गई वस्तुएँ विक्री के लिए आती थी। एक व्यापारी-वर्ग उदय हुआ और माल को ढोने वाला समुदाय अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल ले जाने वालों का वर्ग उत्पन्न हो गया। स्वभावतः जब दूर-दूर से व्यापारी अपना माल वेचने तथा दूसरों का माल खरीदने के लिए व्यापारिक केन्द्रों, मेलों, बाजारों और हाटों मे जमा होने लगे तो अदल-बदल (barter system) से काम नहीं चल सकता था, अत द्रव्य (money) का प्रदुर्भाव हुआ और उसका चलन बढने लगा। इस समय विदेशो से व्यापार बहुत कम होता था।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अवस्था : डाक, रेल, समुद्री जहाज, वायुयान, तार, केबिल, रेडियो और वेतार के तार ने सारी पृथ्वी को एक कर दिया है। कोई भी देश एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं रहा। थोड़े समय मे एक स्थान से दूसरे स्थान को वस्तुएँ, मनुष्य और सूचनाएँ भेजी जा सकती हैं। फैक्टरी-व्यवस्था मे श्रम-विभाजन अपनी चरम सीमा को पहुँच · जिस देश में जिस धधे के लिए अनुकूल साधन और परिस्थिति है धंधा केन्द्रित है और वह उस तैयार माल को अन्य देशों को

विदेशी व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया है। सारा संसार एक आर्थिक इकाई बन गया है और हम चौथी अवस्था (stage of world economy) में पहुँच गए हैं। इस अवस्था में विदेशी व्यापार के लिए बैंकों और साख (credit) की आवश्यकता अनुभव हुई। अस्तु, बैंकों और साख का प्रादुर्भाव हुआ। आज साख (credit) ही व्यापार का आधार है, उसकी तुलना में द्रव्य (money) का महत्त्व कम हो गया है।

हम मनुष्य-जीवन के आर्थिक विकास का अध्ययन एक तीसरे आधार पर भी कर सकते हैं और वह विनिमय (exchange) का आधार है। इस आधार पर हम मनुष्य के आर्थिक विकास को नीचे लिखी तीन अवस्थाओं में देख सकते हैं:—

(१) अदल-बदल की अवस्था (stage of barter economy)

(२) द्रव्य के चलन की अवस्था (stage of money economy)

(३) साख द्वारा विनिमय की अवस्था (stage of credit economy)

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, जब कि धंधे और खेती प्रारम्भिक अवस्था में थे तो मनुष्य अपनी वस्तु को देकर दूसरों की वस्तु को ले लेता था। इस प्रकार अदल-बदल (barter) से व्यापार चलता था। फिर (money) का चलन हुआ। जब श्रम-विभाजन बढ़ा और हम प्रादेशिक श्रम-विभाजन की अवस्था में पहुँच गए तथा समस्त देश एक आर्थिक इकाई बन गया। अब अदल-बदल से काम नहीं चल सकता था, अतः द्रव्य को अपनाना पड़ा और विनिमय द्रव्य के माध्यम के द्वारा होने लगा। यह तभी हो सका जब खेती-बारी और उद्योग-धंधों की यथेष्ट उन्नति हो गई और श्रम-विभाजन का यथेष्ट विकास हो गया। किन्तु आज का युग साख (credit) का युग है। जब संसार आर्थिक इकाई बन गया है, यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति की सहायता से बड़ी मात्रा की उत्पत्ति (large scale production) होती है और श्रम-विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रत्येक देश आयात (import) और निर्यात (export) व्यापार करता है तो साख (credit) के बिना व्यापार सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि आधुनिक काल में व्यापार साख पर निर्भर है। और हम साख (credit) की अवस्था में हैं।

परिच्छेद—३

कुछ आधारभूत आर्थिक विचार तथा आवश्यक परिभाषाएँ

अर्थशास्त्र के विषय को भली भाँति समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम कुछ आधारभूत आर्थिक मान्यताओं तथा विचारों और कुछ आर्थिक शब्दो की सही-सही परिभाषाओं की जानकारी प्राप्त करलें। ऐसा करना अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विशेषरूप से इसलिए कि अर्थशास्त्र में जिन शब्दों का हम उपयोग करते हैं वे शब्द हमारी प्रति दिन की बोलचाल में भी काम आते हैं। इस कारण इन शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में विशेष कठिनाई उपस्थित होजाना बिलकुल साधारण बात है। जिस शब्द का अर्थशास्त्र की दृष्टि से हम एक विशेष अर्थ लगाते हैं, उसका अर्थ साधारण बोलचाल की भाषा में मनुष्य कोई दूसरा ही अर्थ लगाते हैं जो हमारे अर्थ से भिन्न अथवा कम या अधिक व्यापक हो सकता है। अस्तु, हम यहा कुछ ऐसे ही आवश्यक शब्दो की व्याख्या कर देना चाहते हैं और उन आधारभूत विचारों और मान्यताओं के बारे में लिख देना चाहते हैं जिनका अर्थशास्त्र मे पग-पग पर हम उपयोग करते हैं।

उपयोगिता (Utility). इस सम्बन्ध मे सबसे पहला शब्द हमारे सामने उपयोगिता का आता है। इस शब्द का अर्थशास्त्र मे बहुधा उपयोग होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में हम किसी वस्तु की उपयोगिता से अर्थ उसका लाभदायक होना लगाते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि दूध मनुष्य के लिये उपयोगी वस्तु है तो उससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि दूध का उपयोग करने से मनुष्य के स्वास्थ्य को लाभ होता है। इसी प्रकार हम विष को मनुष्य के लिए अनुपयोगी मानते हैं क्योकि उसके उपयोग से मनुष्य को हानि होती है। किन्तु अर्थशास्त्र की परिभाषा मे उपयोगिता (utility) से हमारा अर्थ साधारण बोलचाल की भाषा से थोड़ा भिन्न और व्यापक होता है। उस प्रत्येक वस्तु मे अर्थशास्त्र की दृष्टि मे उपयोगिता का होना माना जाता है जिनके बारे मे हमारा यह विचार होता है कि उनमे हमारी किसी

इच्छा अथवा आवश्यकता को पूरा करने की शक्ति मौजूद है। यहाँ लाभ-हानि का कोई प्रश्न ही नही उठता। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं–अर्थशास्त्र की दृष्टि मे दूध और विष दोनों मे ही उपयोगिता (utility) मौजूद है, क्योंकि दोनों ही वस्तुएँ मनुष्य की इच्छा अथवा आवश्यकता को पूरा करने की क्षमता रखती हैं। यहां यह प्रश्न नहीं उठता कि दूध पीना और विष पान किसी मनुष्य के लिये अच्छा है अथवा बुरा। हमारे देखने की बात तो केवल यह है कि दूध और विष दोनों ही मनुष्य की किसी आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं, चाहे फिर ऐसी जरूरत का पूरा करना मनुष्य के लिए अच्छा हो अथवा बुरा। अस्तु; उपयोगिता (utility) मनुष्य की इच्छा अथवा आवश्यकता पूरा करने की शक्ति का नाम है जो किसी चीज़ मे मौजूद होती है।

वस्तुएँ (Goods)

वे सब चीजें जिनमें उपयोगिता अर्थात् मनुष्य की इच्छा अथवा आवश्यकता को पूरा करने की क्षमता है वस्तुएँ (goods) कही जाती हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि वस्तु हम उसी को कह सकते हैं जो बाह्य पदार्थ है और स्वय मनुष्य का कोई अतिरिक्त अङ्ग या गुण नही है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की सच्चाई, ईमानदारी आदि की गिनती वस्तु में नही की जा सकती। वस्तुएं (goods) दो प्रकार की होती हैं।

मुक्त वस्तुएँ : जो वस्तुएँ असीमित मात्रा मे हमे प्राप्त होती हैं अर्थात् वे इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं कि मानव-समाज को उनकी जितनी आवश्यकता है उससे वे अधिक मात्रा मे पाई जाती हैं उन्हें हम मुक्त वस्तुएँ अथवा असीमित मात्रा मे पाई जाने वाली वस्तुएं (free goods) कहते हैं। मुक्त वस्तुओं अथवा असीमित मात्रा म पाई जाने वाली वस्तुओं को प्राप्त करने मे मनुष्य मात्र को कोई परिश्रम अथवा व्यय नही करना पड़ता। उन वस्तुओं का वह मनमना उपयोग कर सकता है क्योंकि वे किसी की सम्पत्ति नहीं हैं और असीमित मात्रा मे उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए धूप, हवा वर्षा, समुद्र अथवा नदी का जल और रेगिस्तान मे रेत मुक्त वस्तुएँ अथवा असीमित मात्रा मे पाई जाने वाली वस्तुएँ (free goods) हैं। यद्यपि धूप, हवा, वर्षा का जल मनुष्य-जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं, परन्तु उनको प्राप्त करने के लिए उसे न तो कुछ व्यय ही करना पड़ता है, और न कोई परिश्रम ही करना पड़ता है। यह वस्तुएँ इतनी अधिक मात्रा में पाई जाती हैं कि उनमें कभी व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना पैदा होने की कोई

बात ही नहीं उठ सकती, और इस वास्ते उन वस्तुओं में विनिमय (exchange) भी नहीं होता है। स्वाभाविक है कि यदि मनुष्य को मन-मानी वायु सांस लेने के लिए मिल जाती है तो वह उसको ट्यूबों में भर कर रखने का परिश्रम क्यों करेगा और वायु को क्यों खरीदेगा। वह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं है जिससे उसको खरीदना आवश्यक हो, किन्तु विशेष अवस्थाओं मे, जैसे गर्मी के दिनों मे, हवा के लिए पखा लगाने की जरूरत हो अथवा पृथ्वी के नीचे खानों में काम करने वालों को यथेष्ट वायु पहुँचाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न करना पड़े तब वह हवा मुक्त वस्तु (free goods) नहीं गिनी जा सकती। इसी प्रकार पानी को प्राप्त करने के लिए कुएँ खोद कर, नहरें निकाल कर पानी सिंचाई के लिए प्राप्त करना पड़ता है। कुएँ से सिंचाई के लिए पानी प्राप्त करने के लिए और भी व्यय करना पड़ता है। ऐसी दशा में वह जल भी मुक्त वस्तु (free goods) नही कही जा सकती। रेगिस्तान मे रेत मुक्त वस्तु है, किन्तु नगरों मे रेत बिकता है, वह असीमित मात्रा मे नहीं पाया जाता। अस्तु, उन तमाम वस्तुओं की गिनती मुक्त वस्तुओं (free goods) में की जायगी जो इतनी अधिक मात्रा मे प्राप्त हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनका इच्छानुसार मन-माना उपयोग कर सकता है और जिनके प्राप्त करने के लिए किसी को कोई परिश्रम अथवा व्यय नहीं करना पड़ना। साथ ही यह भी ऊपर दिए हुए विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जो वस्तु एक स्थान पर मुक्त वस्तु (free goods) है वही दूसरे स्थान में अथवा उसी स्थान मे परि-स्थिति बदलने पर मुक्त वस्तु नहीं भी रह सकती है।

आर्थिक वस्तुएँ (Economic Goods) दूसरे प्रकार की वस्तुओ को हम आर्थिक वस्तुएँ (economic goods) कहते हैं। जिन वस्तुओं की पूर्ति (supply) माग (demand) की अपेक्षा कम है वही आर्थिक वस्तुएँ कहलाती हैं। कमी का अर्थ केवल यही नहीं है कि उस वस्तु की मात्रा सीमित है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि उस वस्तु की मात्रा माग की तुलना मे कम है। जब किसी वस्तु की उपलब्ध मात्रा इतनी अधिक न हो कि उस वस्तु की कुल माग को वह पूरा कर सके तब वह अर्थशास्त्र की दृष्टि से कम या न्यून (scarce) कही जावेगी। ऊपर दी हुई आर्थिक वस्तुओं की परिभाषा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मुक्त वस्तुओं (free goods) और आर्थिक वस्तुओं के भेद की रेखा कोई निश्चित नहीं है। आधुनिक नगरों के घरों के अन्दर नलों द्वारा जो हमे जल प्राप्त होता है वह मुक्त वस्तु न होकर आर्थिक वस्तु है, किन्तु नदी के किनारे वही जल मुक्त वस्तु (free goo

अस्तु, आज के युग के जीवन की झझटो और उलझनों के कारण बहुत-सी मुक्त वस्तुएँ अथवा असीमित मात्रा मे पाई जाने वाली वस्तुएँ भी आर्थिक वस्तुओं में परिणत होती जाती हैं। न्यूनता (scarcity) कोई निश्चित गुण नहीं है वरन् वह परिवर्तनशील है और बदलता रहता है, जो मनुष्यों की बदलती हुई आवश्यकताओं का द्योतक है। गाँवों या जगलों मे रहने वालों के लिए आज भी कुछ वस्तुएँ आर्थिक वस्तुएँ नहीं हैं, किन्तु वही वस्तुएँ शहरो म आर्थिक वस्तुएँ हैं, जैसे घास, लकड़ी आदि।

आर्थिक वस्तुओ की परिभाषा हम एक दूसरी दृष्टि से कर सकते हैं व कि हस्तान्तर की जा सकें (transferable) और जो मनुष्य के आन्तरिक गुण न होकर बाह्य अधिकार (external possession) हो। कोई भी व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु को लेना पसन्द नहीं करेगा कि जिसक वह स्वामी नही बन सकता। हस्तान्तरित (transferability) का अ वह नहीं है कि वह वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सके। वर हस्तान्तरित करने का अर्थ यह है कि उसका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे व्यि को दिया जा सके। यह तो स्पष्ट ही है कि कोई वस्तु हस्तान्तरित तभी की ज सकती है कि जब वह मनुष्य के बाह्य अधिकार मे हो, उसका आन्तरिक गुण न हो। अपने आन्तरिक गुणों को कोई मनुष्य दूसरे को नहीं दे सकता, अतः उनक खरीद-बिक्री नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए श्रीमती महादेवी वर्मा अप काव्य-प्रतिभा किसी दूसरे को नहीं दे सकतीं, अथवा कोई चतुर वकील या कुश डाक्टर अपनी योग्यता को किसी को नही दे सकता। यह उन लोगों आन्तरिक गुण हैं जो हस्तान्तर नहीं किए जा सकते। यही कारण है क य आर्थिक वस्तुएँ नहीं बन सकते। हमने जो ऊपर आर्थिक वस्तुओं की परिभाष दो दृष्टिकोणों से की उसमें कोई विरोध नहीं है। जो वस्तु हस्तान्तरित की जावे वह माँग की तुलना मे न्यून (scarce) भी अवश्य होगी, नहीं तो संसार ऐसा कोई मूर्ख नहीं है जो कि एक मुक्त वस्तु (free goods) को प्राप्त करने के लिए कुछ व्यय करेगा उसका मूल्य देगा।

आर्थिक वस्तुओं (economic goods) का ही दूसरा नाम सम्पत्ति या धन (wealth) है। अब हम धन के सम्बन्ध में अधिक विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

धन या सम्पत्ति (Wealth) यह तो हम ऊपर ही बतला चुके हैं कि वे वस्तुएँ जो कि असीमित मात्रा मे पाई जाती हैं, उन्हें हम मुक्त वस्

(free goods) कहते हैं। हम यह भी बतला चुके हैं कि जो वस्तु कि माँग की तुलना में न्यून है अथवा जो मनुष्य के बाह्य अधिकार में है और हस्तान्तर की जा सकती है, वह आर्थिक वस्तुओं (economic goods) की श्रेणी में गिनी जावेगी। साथ ही हम यह कह चुके हैं कि आर्थिक वस्तुएँ ही धन या सम्पत्ति (wealth) हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र में जो वस्तु धन के नाम से जानी जाती है उसमें नीचे लिखे लक्षण होना अनिवार्य हैं, और इन्हीं लक्षणों के आधार पर हम यह फैसला कर सकते हैं कि अमुक वस्तु धन (wealth) है अथवा नहीं।

धन (wealth) का सबसे पहला लक्षण उपयोगिता (utility) है। जिस वस्तु मे उपयोगिता नही है वह धन की श्रेणी मे नहीं आ सकती। किन्तु केवल उपयोगिता का होना ही काफी नहीं है। दूसरा लक्षण यह है कि वह सीमित मात्रा मे उपलब्ध हो अर्थात् कुल माग की तुलना मे न्यून (scarce) हो। कहने का अर्थ यह है कि वह वस्तु मुक्त वस्तु (free goods) की तरह इतनी प्रचुर मात्रा मे नहीं पाई जावेगी कि कोई व्यक्ति बिना कुछ परिश्रम या व्यय किए उसको प्राप्त कर सके। साधारणतया ऐसी तमाम वस्तुएँ मनुष्य के श्रम का परिणाम होंगी। यद्यपि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी हो सकती हैं जो सीमित मात्रा मे होते हुए भी मनुष्य के श्रम का परिणाम न हों। धन का तीसरा अनिवार्य लक्षण यह है कि उस पर न केवल व्यक्तिगत अधिकार स्थापित हो सके वरन् वह अधिकार अथवा स्वामित्व हस्तान्तरित (transfer) किया जा सके। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस वस्तु-विशेष का एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाना सम्भव होना ही चाहिए। उदाहरण के लिए मकान या जायदाद ऐसी चीज है जिसका स्थान-परिवर्तन नहीं हो सकता, यद्यपि उसका स्वामित्व (ownership) एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित (transfer) किया जा सकता है।

धन (wealth) के तीन लक्षणों का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। जिस वस्तु मे तीनों लक्षण मौजूद होंगे वह ऐसी वस्तु होगी जो खरीदी और बेची जा सके। अस्तु, बजाय यह कहने के कि धन मे उपर्युक्त तीनों लक्षणों का होना अनिवार्य है, संक्षेप में हम यह भी कह सकते हैं कि आज की आर्थिक व्यवस्था में वे तमाम वस्तुएँ जो विनिमय-साध्य (exchangeable) होंगी धन की श्रेणी में आ सकती हैं।

ऊपर दिये गए वर्णन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि धन (wealth) वही वस्तु कहलाई जा सकती है जिसमे नीचे लिखे गुण पाये जायँ :—

(१) उस वस्तु में उपयोगिता (utility) हो।

(२) वह वस्तु सीमित मात्रा में पाई जाती हो अर्थात् कुल मांग की तुलना में न्यून (scarce) हो।

(३) उसका स्वामित्व एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरित (transfer) किया जा सके।

(४) वह वस्तु ऐसी हो जो कि मनुष्य के बाह्य अधिकार मे हो, उसका आन्तरिक गुण न हो।

जिन वस्तुओं मे ऊपर लिखे गुण पाये जावेंगे उनका क्रय-विक्रय हो सकता है। अस्तु, हम यह भी कह सकते हैं कि वे तमाम वस्तुएँ जिनका क्रय-विक्रय हो सकता है, धन कही जासकती हैं। ऊपर की परिभाषा को ध्यान से पढने पर हमे स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि केवल वे ही पार्थिव पदार्थ (material goods) धन नहीं हैं जिनका स्वामित्व हस्तान्तरित किया जा सकता है और मनुष्य के बाह्य अधिकार मे (xternal to man) हैं, जैसे—भूमि, मकान, फरनिचर इत्यादि, वरन् वे अपार्थिव पदार्थ (non material goods) भी धन माने जावेंगे जो कि हस्तान्तर किये जा सकते हैं और जो मनुष्य के बाह्य अधिकार में हैं। जैसे किसी कम्पनी की प्रसिद्धि (goodwill), पुस्तक का कापीराइट, पेटेण्ट इत्यादि। किन्तु वे पार्थिव पदार्थ (material goods) धन नहीं माने जाते जो कि सीमित मात्रा मे नहीं हैं, जैसे—हवा, पानी इत्यादि। और वे अपार्थिव पदार्थ भी धन नहीं माने जाते जो कि हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते, जैसे कि कारीगर की कुशलता या एक डाक्टर की योग्यता।

क्या द्रव्य (money) धन (wealth) है अब यह प्रश्न उठता है कि क्या द्रव्य धन है। आधुनिक समाज मे धन को द्रव्य से नापा जाता है। हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के पास दस लाख रुपये का धन है। तब क्या रुपये या कागजी नोट धन है? किन्तु द्रव्य (money) धन (wealth) नहीं है। द्रव्य केवल विनिमय का साधन मात्र है, उसके द्वारा धन खरीदा जा सकता है, किन्तु द्रव्य स्वयं धन अथवा सम्पत्ति (wealth) नहीं है। यदि हम अपने देश मे नोट ही नोट छापने जावें अथवा सरकार की टकसालें रुपये के सिक्के को ही ढालती रहें और देश मे सिक्कों या नोटों की भरमार हो जावे तो देश धनी नहीं हो जावेगा। ऐसा करने मे देश के धन में वृद्धि नहीं होगी। अस्तु, द्रव्य धन नहीं है, किन्तु धन का माप अवश्य है।

मुक्त वस्तुओं (free goods) और आर्थिक वस्तुओं (economic goods) में एक भेद यह भी है कि आर्थिक वस्तुओं की द्रव्य में कीमत होती है, किन्तु मुक्त वस्तुओं की कोई कीमत नहीं होती। अस्तु, हम यह भी कह सकते हैं कि धन (wealth) उन वस्तुओं को कहते हैं जिनका द्रव्य में विनिमय हो सकता है।

धन (wealth) शब्द सापेक्षिक है. अन्त में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि धन और आवश्यकताओं का घना सम्बन्ध है। एक वस्तु इस कारण धन है क्योंकि कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह उसकी आवश्यकता अनुभव करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है। अस्तु, मनुष्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण ही यह निश्चित करता है कि उसके लिए कोई वस्तु धन है अथवा नहीं। यदि उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण (psychological attitude) ही बदल जावे तो उसके लिए धन का रूप ही बदल जावेगा। उदाहरण के लिए श्री जयशकर प्रसाद की 'कामायनी' (महाकाव्य) एक निपट मूर्ख और निरक्षर व्यक्ति के लिए धन नहीं है, परन्तु एक शिक्षित और काव्य-प्रेमी व्यक्ति के लिए वह मूल्यवान् धन है।

हम ऊपर धन के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं, अब हम नीचे एक तालिका देकर यह स्पष्ट रूप से बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि धन (wealth) क्या है :—

वस्तुएँ (goods)

- मुक्त वस्तुएँ (free goods) असीमित मात्रा में प्राप्त होने वाली वस्तुएँ, प्राकृतिक देन
- आर्थिक वस्तुएँ (economic goods) या धन (wealth)
  - बाह्य (external) पार्थिव पदार्थ (material goods) जायदाद, भूमि, मकान इत्यादि
  - बाह्य अपार्थिव पदार्थ (non-meterial external goods) जैसे प्रसिद्धि (good will) इत्यादि।
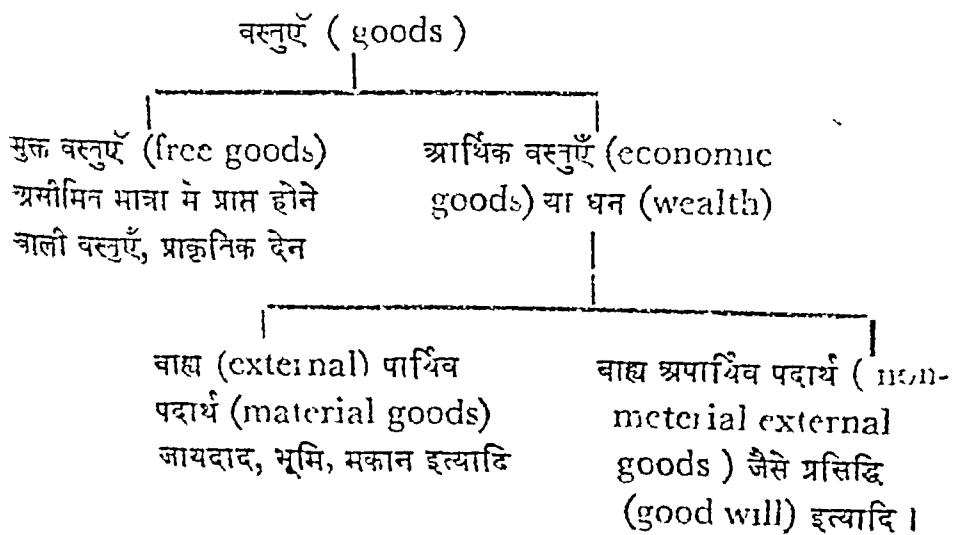
व्यक्ति का धन (walth of an individual) · व्यक्ति की सम्पत्ति या धन का अनुमान लगाने के लिए नीचे दी गई वस्तुओं को गिनना होगा :—

(१) वे तमाम पार्थिव (material) पदार्थ जिन पर उसका स्वमित्व है। जैसे मकान, भूमि, फरनीचर, कपडे, पुस्तकें, जेवर इत्यादि। इसमें किसी कम्पनी के हिस्से डिबेंचर, बौंड आदि अन्य ऐसे अधिकार भी शामिल किए जावेंगे जिनके कारण उस व्यक्ति को दूसरों से रुपया अथवा अन्य वस्तुएँ प्राप्त हों।

(२) वे तमाम अपार्थिव (non-material) पदार्थ या वस्तुएँ जिनका उससे बाहरी सम्बध हो। उसके फर्म की प्रसिद्धि या कीर्ति (good will) पेटेंट या कापीराइट के अधिकार इसम ही गिने जावेंगे। परन्तु इसमे हम उसके व्यक्तिगत गुणों को नहीं गिनेंगे।

सामूहिक धन (Collective Wealth) वे तमाम पार्थिव और अपार्थिव पदार्थ जिन पर किसी एक व्यक्ति का अकेले अधिकार तो नहीं हो, किन्तु जिनका व्यक्ति अन्य सभी लोगों के साथ उपभोग करता है। तमाम सार्वजनिक धन या सम्पत्ति, जैसे--सडकें, बाग, अजायबघर आदि का उपयोग करने का अधिकार, और अपने देश के राज्य-प्रबन्ध, न्याय-व्यवस्था और नि शुल्क शिक्षा का लाभ उठाने का अधिकार भी किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अनुमान लगाते समय उसमे शामिल करना होगा। इसी कारण राज्य की व्यवस्था के कारण देश के अन्दरूनी और बाहर के आक्रमणो से जान-माल की जो रक्षा होती है, उस रक्षा से प्राप्त होने वाला लाभ भी व्यक्ति के धन का अनुमान लगाते समय उसमें शामिल करना होगा। साधारणत. एक ही राष्ट्र के दो व्यक्तियो के धन या सम्पत्ति (wealth) की तुलना करते समय हम इन वस्तुओ का ध्यान नही रखते, क्योंकि यह तो सबको एक समान प्राप्त हैं। इसी बात को हम दूसरे शब्दों मे यों भी लिख सकते हैं कि सार्वजनिक उपयोग की यह वस्तुएं व्यक्ति के लिए मुक्त वस्तुएँ (free goods) हैं, परन्तु समाज के लिए धन हैं। ऐसे धन या सम्पत्ति को सामूहिक धन (collective wealth) कहते हैं।

राष्ट्र का धन या सम्पत्ति (Wealth of a Nation) · किसी राष्ट्र के धन का अनुमान लगाने के लिए हमें नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए:-

(१) राष्ट्र के समस्त नागरिको के कुल पार्थिव (material) और अपार्थिव (non material) धन (wealth) को जोड लेना चाहिए। व्यक्तियों के धन का अनुमान करते समय हमें उस धन को छोड़ देना चाहिए जिसका एक व्यक्ति दूसरों के साथ मिलकर उपभोग करता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र के नागरिकों म एक दूसरे के बीच मे जो लेना-देना है उसे भी हम नहीं गिनेंगे,

[क्]योंकि राष्ट्र के कुल धन का अन्दाजा लगाते समय इस प्रकार का लेना-देना [ब]राबर हो जावेगा और उसका कुल धन पर कोई असर नहीं पड़ेगा। किन्तु [वि]देशियों को हमारे से जितना धन बौंडों के रूप मे लेना है उसको कम [क]रना होगा और हमारे देश वालों को विदेश से जितना लेना है उसे जोड़ [दे]ना होगा।

(२) राष्ट्र के धन का अनुमान लगाने के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति या [ध]न को भी जोड़ना होगा। सार्वजनिक धन से हमारा मतलब ऐसे धन से है जैसे रेलें, सड़कें, नहरें, वन इत्यादि जिन पर सारे राष्ट्र का अधिकार है। इस सम्मिलित धन में से हमें राष्ट्रीय कर्ज (public debt) को कम कर देना होगा। राष्ट्रीय ऋण से हमारा मतलब उस ऋण से है जो राष्ट्रीय सरकार को देना है। यहाँ यह ध्यान रहे कि किसी व्यक्ति का अगर राष्ट्रीय सरकार पर ऋण है, जैसा कि बहुत से नागरिकों का अवश्य होगा, तो वह उसे अपने धन का अन्दाजा लगाते समय जोड लेगा। इस सम्बन्ध में हम चाहे तो वह तरीका भी काम मे ला सकते हैं जो व्यक्तियों के आपस के लेन-देन के मामले में लाये थे। अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपने धन का अनुमान लगाते समय उस धन को न जोड़े जो उसे राष्ट्रीय सरकार से लेना है और राष्ट्रीय सरकार अपने ऋण का वह भाग जो उसे अपने ही नागरिकों को देना है सार्वजनिक धन में से न घटावे। राष्ट्रीय ऋण का वह भाग जो दूसरे देश वालों को देना है उसे हर हालत में कम करना ही होगा।

(३) कई अर्थशास्त्री राष्ट्र के धन में उन मुख्य-मुख्य प्राकृतिक देनों (natural gifts) को भी सम्मिलित कर लेते हैं जिनका राष्ट्र के धन पर असर पड़ता है। इस प्रकार गंगा, यमुना, हिमालय पर्वत आदि खनिज साधनों को, जो प्रकृति की ओर से हमारे राष्ट्र को बिना श्रम के प्राप्त हुए हैं, राष्ट्र की सम्पत्ति में शामिल किया जा सकता है।

(४) कई अर्थशास्त्र के विद्वान् राष्ट्र के धन का अनुमान लगाते समय उसमें उन प्रकार की अपार्थिव चीजों (non-material goods) को भी शामिल कर लेने के पक्ष में हैं, जैसे एक सुव्यवस्थित और स्वतन्त्र राज्य का संगठन, अथवा लोगों की औद्योगिक शक्ति आदि। इस सम्बन्ध में हम किसी राष्ट्र की वे ही वस्तुएँ शामिल कर सकते हैं जो अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा उसमें विशेष रूप से मौजूद हैं, और वह भी उस हद तक जिस हद तक [वह] औरों की अपेक्षा अधिक बढ़ा-चढ़ा है। इसके अतिरिक्त हमें उन तम

और लाभों को छोड़ देना होगा जिनका उपयोग केवल एक देश तक ही सीमित नहीं रह सकता, फिर चाहे उनकी उत्पत्ति किसी एक देश में ही क्यों न हुई हो। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक आविष्कार ऐसी चीज़ कही जा सकती है जो किसी भी देश में भी हुआ हो, किन्तु उसे अन्य देश अपना लेते हैं और उसका लाभ भी उठाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय धन या सम्पत्ति (International Wealth) : प्रत्येक राष्ट्र के धन के आधार पर सारी दुनिया की सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। यह अन्दाजा लगाते समय हमें विभिन्न देशों के आपसी ऋण को ठीक उसी प्रकार छोड़ देना होगा जिस प्रकार राष्ट्र के धन का अनुमान लगाते समय व्यक्तियों के आपसी लेन-देन को हम छोड़ेंगे। इसके अतिरिक्त हमें ऐसी चीजों को अन्तर्राष्ट्रीय धन में गिन लेना होगा जिन पर किसी एक देश का अधिकार नहीं है। वैज्ञानिक आविष्कारों की गिनती इसमें ही आ जाती है। इसी प्रकार वडे-वडे महासागरों को भी हम संसार के धन में गिन सकते हैं जिस प्रकार नदियों और पहाड़ों को राष्ट्र के धन में गिना जा सकता है। किन्तु यहाँ भी नदियों और पहाड़ों की तरह इन वडे-वड़े महासागरों को सम्पत्ति न मान कर उनका आधार मानना ही अधिक सही होगा।

आय (Income)

धन के वारे में विचार कर लेने के उपरान्त आय के वारे में विचार कर लेना भी आवश्यक होगा। धन का विचार हम दो रूपों में कर सकते हैं—आय (income) और पूँजी (capital)। कोई भी कार्य या सेवा करने के बदले में एक निश्चित समय के बाद जो सम्पत्ति या धन वरावर प्राप्त होता रहे उसे आय कहेंगे। कुछ उदाहरण लेकर यह वात स्पष्ट की जाती है। एक व्यक्ति किसी दफ्तर में या अन्य किसी जगह नौकरी करता है और उसे हर महीने दो सौ रुपया मिलता है, तो हम कहेंगे कि उस व्यक्ति की आय दो सौ रुपये महीना है। यदि उसको दो सौ रुपये के अलावा रहने के लिए मकान भी मिलता है तो उसकी आय में मकान से जो लाभ होता है वह भी जोड़ दिया जावेगा। यदि उसके पास ऐसा मकान है जो कि २५ रु० महीने पर मिल सकता है तो उसकी आय में २५ रु० जोड़ दिए जावेंगे और उसकी आय २२५ रु० महीना समझी जावेगी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी को एक हजार रुपये कर्ज़ स्वरूप देता है तो उससे मिलने वाला सूद, यदि उसने

कुछ रुपया बैंक में जमा कर दिया है तो उससे मिलने वाला सूद, तथा यदि उसने किसी कम्पनी के हिस्से खरीद लिए हैं तो उससे मिलने वाला लाभ उसकी आय में जोड़ दिया जावेगा। और इसी प्रकार यदि कोई जमींदार अपनी जमीन किसान को दो सौ रुपये साल लगान पर जोतने के लिए दे देता है तो उसकी आय उस जमीन से दो सौ रुपये समझी जावेगी। यदि इसके अतिरिक्त उसे कुछ फल-फूल इत्यादि प्राप्त होते हैं तो साल भर में जितनी क़ीमत के फल और फूल उसे प्राप्त हो जाते हैं वह भी उसकी आय में शामिल कर लिया जावेगा। आय के सम्बन्ध में हमने अब तक जो कुछ कहा उससे तीन बातें साफ हैं :—

(१) यह (आय) धन की गति (flow) है, कोष (fund) नहीं है।

(२) इसके (आय के) साथ समय का ध्यान रखना आवश्यक है।

(३) इससे (आय से) हमारा असली मतलब प्राप्त होने वाले लाभ से है, चाहे वह लाभ रुपये के रूप में हो अथवा अन्य किसी रूप में हो।

जब हम कहते हैं कि आय धन की गति है उसका कोष नहीं है, तो इससे हमारा मतलब यह है कि आय ऐसी चीज़ है जो बराबर प्राप्त होने वाली है। वह तो नदी की भाँति सदैव बहती ही रहती है। यदि कोई व्यक्ति किसी ऑफिस में काम करता है और उसकी सौ रुपया महीना आय है तो उसे यह सौ रुपये प्रत्येक महीने मिलते रहेंगे जब तक कि वह ऑफिस में नौकर है।

आय के साथ समय का सम्बन्ध तो है ही। क्योंकि अगर हम यह कहें कि अमुक व्यक्ति की आय सौ रुपये है तो इसका कोई अर्थ नहीं होगा। जब तक कि यह साफ नहीं हो जाता कि सौ रुपया प्रति महीना आय है कि सौ रुपया साल, या सौ रुपया प्रतिदिन, तब तक हमें किसी आदमी की आय का ठीक अन्दाज़ नहीं हो सकता।

तीसरी बात यह है कि आय से हमारा असली मतलब तो एक निश्चित समय के बाद प्राप्त होने वाले लाभ से है। अब क्योंकि आज-कल हमारा सारा आर्थिक जीवन रुपये के आधार पर ही चलता है और रुपये से ही सब काम चलता है, इस वास्ते आय का विचार आम तौर से रुपया-आना-पाई में ही करने के हम आदी हो गये हैं। रुपये-आना-पाई में ही हमारी

और लाभों को छोड़ देना होगा जिनका उपयोग केवल एक देश तक ही सीमित नहीं रह सकता, फिर चाहे उनकी उत्पत्ति किसी एक देश में ही क्यों न हुई हो। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक आविष्कार ऐसी चीज कही जा सकती है जो किसी भी देश में भी हुआ हो, किन्तु उसे अन्य देश अपना लेते हैं और उसका लाभ भी उठाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय धन या सम्पत्ति (International Wea'th) : प्रत्येक राष्ट्र के धन के आधार पर सारी दुनिया की सम्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। यह अन्दाजा लगाते समय हमें विभिन्न देशों के आपसी ऋण को ठीक उसी प्रकार छोड़ देना होगा जिस प्रकार राष्ट्र के धन का अनुमान लगाते समय व्यक्तियों के आपसी लेन-देन को हम छोड़ेंगे। इसके अतिरिक्त हमें ऐसी चीजों को अन्तर्राष्ट्रीय धन में गिन लेना होगा जिन पर किसी एक देश का अधिकार नहीं है। वैज्ञानिक आविष्कारों की गिनती इसमें ही आ जाती है। इसी प्रकार बड़े-बड़े महासागरों को भी हम संसार के धन में गिन सकते हैं जिस प्रकार नदियों और पहाड़ों को राष्ट्र के धन में गिना जा सकता है। किन्तु यहाँ भी नदियों और पहाड़ों की तरह इन बड़े-बड़े महासागरों को सम्पत्ति न मान कर उनका आधार मानना ही अधिक सही होगा।

आय (Income)

धन के बारे में विचार कर लेने के उपरान्त आय के बारे में विचार कर लेना भी आवश्यक होगा। धन का विचार हम दो रूपों में कर सकते हैं—आय (income) और पूँजी (capital)। कोई भी कार्य या सेवा करने के बदले में एक निश्चित समय के बाद जो सम्पत्ति या धन बराबर प्राप्त होता रहे उसे आय कहेंगे। कुछ उदाहरण लेकर यह बात स्पष्ट की जाती है। एक व्यक्ति किसी दफ्तर में या अन्य किसी जगह नौकरी करता है और उसे हर महीने दो सौ रुपया मिलता है, तो हम कहेंगे कि उस व्यक्ति की आय दो सौ रुपये महीना है। यदि उसको दो सौ रुपये के अलावा रहने के लिए मकान भी मिलता है तो उसकी आय में मकान से जो लाभ होता है वह भी जोड़ दिया जायेगा। यदि उसके पास ऐसा मकान है जो कि २५ रु० महीने पर मिल सकता है तो उसकी आय में २५ रु० जोड़ दिए जावेंगे और उसकी आय २२५ रु० महीना समझी जायेगी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी को एक हजार रुपये कर्ज स्वरूप देता है तो उसे मिलने वाला सूद, यदि उसने

छ रुपया बैंक में जमा कर दिया है तो उससे मिलने वाला सूद, तथा यदि सने किसी कम्पनी के हिस्से खरीद लिए हैं तो उससे मिलने वाला लाभ उसकी ाय में जोड़ दिया जावेगा। और इसी प्रकार यदि कोई जमींदार अपनी मीन किसान को दो सौ रुपये साल लगान पर जोतने के लिए दे देता है तो नकी आय उस जमीन से दो सौ रुपये समझी जावेगी। यदि इसके अति- क्त उसे कुछ फल-फूल इत्यादि प्राप्त होते हैं तो साल भर में जितनी क़ीमत फल और फूल उसे प्राप्त हो जाते हैं वह भी उसकी आय में शामिल कर या जावेगा। आय के सम्बन्ध में हमने अब तक जो कुछ कहा उससे तीन ातें साफ हैं :—

(१) यह (आय) धन की गति (flow) है, कोष (fund) नहीं है।

(२) इसके (आय के) साथ समय का ध्यान रखना आवश्यक है।

(३) इससे (आय से) हमारा असली मतलब प्राप्त होने वाले लाभ से है, चाहे वह लाभ रुपये के रूप में हो अथवा अन्य किसी रूप में हो।

जब हम कहते हैं कि आय धन की गति है उसका कोष नहीं है, तो ससे हमारा मतलब यह है कि आय ऐसी चीज़ है जो बराबर प्राप्त होने ाली है। वह तो नदी की भाँति सदैव बहती ही रहती है। यदि कोई व्यक्ति किसी ऑफिस में काम करता है और उसकी सौ रुपया महीना आय है तो से यह सौ रुपये प्रत्येक महीने मिलते रहेंगे जब तक कि वह ऑफिस । नौकर है।

आय के साथ समय का सम्बन्ध तो है ही। क्योंकि अगर हम यह हें कि अमुक व्यक्ति की आय सौ रुपये है तो इसका कोई अर्थ नहीं होगा। ब तक कि यह साफ नहीं हो जाता कि सौ रुपया प्रति महीना आय है कि सौ रुपया साल, या सौ रुपया प्रतिदिन, तब तक हमें किसी आदमी की आय ा ठीक अन्दाज नहीं हो सकता।

तीसरी बात यह है कि आय से हमारा असली मतलब तो एक निश्चित समय के बाद प्राप्त होने वाले लाभ से है। अब क्योंकि आज-कल मारा सारा आर्थिक जीवन रुपये के आधार पर ही चलता है और रुपये से ही सब काम चलता है, इस वास्ते आय का विचार आम तौर से रुपया- आना-पाई में ही करने के हम आदी हो गये हैं। रुपये-आना-पाई में ही हमारी

आय होती है। फिर भी अगर हमें आय अन्य किसी रूप में होती है तो उसका भी अन्दाज हमें लगाना होगा क्योंकि हमारा असली मतलब तो लाभ से है।

आय के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य स्वयं या उसके मित्र और परिवार वाले जो सेवाएँ उसके लिए करते हैं, उनकी गिनती उसकी आय में करनी चाहिए अथवा नहीं। एक आदमी अपने कपड़े स्वयं धो लेता है, उसकी स्त्री उसके लिए भोजन बनाती है तथा और भी बहुत-सी सेवाएँ करती है, यह सेवाएँ उसकी आय में शामिल की जानी चाहिएँ अथवा नहीं। सिद्धान्त की दृष्टि से व्यक्ति की आय में उन तमाम लाभों की गिनती होनी चाहिए जो उसे एक निश्चित समय में प्राप्त होते हैं, फिर चाहे वह उसकी सेवाओं के बदले में प्राप्त हो अथवा अन्य कारणों से व्यावहारिक दृष्टि से। लेकिन हमें इस बात में सुविधा हो सकती है कि आय में हम केवल उन लाभों की गिनती करें जो समाज में साधारणतया विनिमय के विषय हैं और जिनका क्रय-विक्रय होता है। ऐसी दशा में परिवार के व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे को की जाने वाली सेवाओं की गिनती आय में न करना ही उचित है।

राष्ट्र की आय (National income) किसी देश की राष्ट्रीय आय से हमारा मतलब उस धन से होता है जिसको उस देश के रहने वाले वहाँ के प्राकृतिक साधनों और पूँजी की सहायता से साल भर में उत्पन्न करते हैं। यह धन पार्थिव (material) और अपार्थिव (immaterial) पदार्थों और सेवाओं के रूप में होगा, और उसकी उत्पत्ति में जो व्यय होगा उसको कुल उत्पत्ति में से कम कर देना होगा। बाकी धन का रुपये में जो मूल्य होगा वही राष्ट्र की सच्ची वार्षिक आय होगी।

मूल्य (Value)

उपयोगिता-मूल्य (Value in use) और विनिमय मूल्य (Value in Exchange) मूल्य शब्द का प्रयोग हम दो अर्थों में करते हैं। एक अर्थ में यह केवल उपयोगिता (utility) के लिए व्यवहार में लाया जाता है और दूसरे अर्थ में यह विनिमय-शक्ति (power in exchange) के व्यवहार में लाया जाता है, अर्थात् एक वस्तु की दूसरी वस्तुओं में कितनी क्रय शक्ति है। पहले अर्थ में जब मूल्य शब्द का प्रयोग होता है तब हम उसे उपयोगिता-मूल्य (value in use) कहते हैं और जब उसका दूसरे अर्थ में [illegible] विनिमय-मूल्य (value in exchange)

रहते हैं। विनिमय-मूल्य होने के लिए किसी वस्तु में केवल उपयोगिता-मूल्य होना ही आवश्यक नहीं है वरन् उसका माँग की तुलना में सीमित या कम होना भी आवश्यक है। अर्थशास्त्र में हमें उपयोगिता-मूल्य से कोई काम नहीं पड़ता, हमारा सम्बन्ध विनिमय-मूल्य से ही रहता है।

कुछ वस्तुएँ उपयोगिता-मूल्य की दृष्टि से बहुत उपयोगी होती हैं किन्तु उनका विनिमय-मूल्य बहुत कम होता है। उदाहरण के लिए जल मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जहाँ तक उपयोगिता का प्रश्न है जल सोने से भी अधिक उपयोगी है, किन्तु उसका विनिमय-मूल्य सोने की तुलना में नहीं के बराबर है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। सोना जितनी सीमित मात्रा में मिलता है उतना जल नहीं मिलता। यही कारण है कि जल की अपेक्षा सोना अधिक मूल्यवान है। यह हम ऊपर ही कह चुके हैं कि विनिमय-मूल्य होने के लिए केवल उपयोगिता का ही होना आवश्यक नहीं है वरन् उसका सीमित मात्रा में होना भी आवश्यक है। अस्तु जो भी वस्तु जितनी कम मात्रा में मिलेगी वह उतनी ही अधिक मूल्यवान् होगी।

विनिमय-मूल्य (Value in Exchange) : यह हम देख चुके हैं कि धन में हम उन सभी वस्तुओं का समावेश करते हैं जो बेची और खरीदी जा सकें। किसी वस्तु के विनिमय-मूल्य से हमारा मतलब उस वस्तु की दूसरी वस्तुओं को बदले में खरीद लेने की शक्ति से है। उदाहरण के लिए एक घोड़े के परिवर्तन में हमको ५ गायें और २५ बकरियाँ मिल सकती हैं तो घोड़े का विनिमय-मूल्य ५ गायें और २५ बकरियां हुआ, और इसी प्रकार ५ गायों और २५ बकरियों का विनिमय-मूल्य एक घोड़ा हुआ। अस्तु, वस्तुओं को मोल लेने की सापेक्षिक विनिमय-शक्ति को ही अर्थशास्त्र में विनिमय-मूल्य (value in exchange) कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक वस्तु का विनिमय-मूल्य दूसरी किसी वस्तु में प्रकट किया जा सकता है। कोई भी वस्तु अपने बदले में जितनी दूसरी वस्तु मोल ले सकती है वही उसका दूसरी वस्तु के रूप में विनिमय-मूल्य होगा। अर्थात् एक वस्तु का विनिमय-मूल्य हजारों वस्तुओं में प्रकट किया जा सकता है। ऊपर के उदाहरण को यदि हम लें तो घोड़े का विनिमय-मूल्य गेहूँ में ४० मन गेहूँ, इसी तरह ३० मन चावल, १० मन कपास इत्यादि में व्यक्त किया जा सकता है।

कीमत (Price) : यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि व[illegible] का अर्थ उसकी विनिमय-शक्ति है। दूसरे अर्थों में विनिमय-मूल्य

की सापेक्षिक विनिमय-शक्ति को कहते हैं। किन्तु कीमत एक विशेष प्रकार विनिमय-मूल्य को कहते है। जब भी किसी वस्तु का विनिमय-मूल्य द्रव्य (money) में प्रकट किया जाता है तो वह उसकी कीमत कहलाती है। अगर हमको बाजार में एक रुपये में ८ सेर गेहूँ, चार सेर शकर, और एक सेर घी मिलता है तो हम कहेगें कि आठ सेर गेहूं की कीमत, चार सेर शक्कर की कीमत और एक सेर घी की कीमत एक रुपया है। यदि हमको वस्तुओं की कीमत मालूम है तो हम उसकी सापेक्षिक विनिमय-शक्ति (relative value) का अन्दाज भी लगा सकते हैं। इस प्रकार ८ सेर गेहू की विनिमय-शक्ति ४ सेर शकर या एक सेर घी होगी।

विनिमय-मूल्य (value) और कीमत (price) की सही-सही परिभाषाओं को समझ लेने के बाद इस सम्बन्ध में एक बात जान लेना और आवश्यक है। जबकि तमाम चीज़ों का विनिमय मूल्य एक साथ कम या ज्यादा नहीं हो सकता, उनकी कीमत (price) एक साथ घट या बढ सकती है। उदाहरण के लिए यदि एक घोड़े का विनिमय-मूल्य ५ गायों से कम होकर ४ गायें ही रह जावे तो इसका मतलब यह हुआ कि गायों का विनिमय मूल्य जहा तक घोड़े का सम्बन्ध है पहले की अपेक्षा अब बढ गया है। इसकी वजह साफ है, क्योंकि विनिमय-मूल्य एक सापेक्षिक वस्तु है। लेकिन कई वस्तुओं की कीमत (price) एक साथ घट या बढ सकती है, क्योंकि कीमत चीज़ों का आपसी सम्बन्ध नहीं, लेकिन एक तीसरी चीज़ द्रव्य (money) अर्थात् रुपये का चीजों से जो सम्बन्ध है उसे कीमत कहते हैं। अतः यह बिलकुल सम्भव है कि घोड़े और गाय की कीमत एक साथ कम या ज्यादा होजाय। यदि पहले किसी घोड़े की कीमत १०० रुपये और गाय की ४० रुपये थी तो अब घोड़े की कीमत २५० रु० और गाय की ५० रुपये हो सकती है। कीमत (price) और विनिमय-मूल्य (value) का यह भेद ध्यान में रखना आवश्यक है। संक्षेप में हम इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—"तमाम चीज़ों का विनिमय मूल्य एक साथ घट या बढ नहीं सकता, परन्तु तमाम चीज़ों की कीमत एक साथ घट या बढ सकती है"।

प्रतिस्पर्द्धा (Competition) और आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Freedom)

अब हम यहाँ उन मान्यताओं पर विचार करेंगे जिनको आधार मानकर अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन [illegible]

अर्थशास्त्र लेखकों ने जिस मान्यता को सबसे अधिक महत्त्व दिया है; वह है प्रतिस्पर्द्धा (competition)। अर्थशास्त्रियों का मत था कि सभी आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों मे प्रतिस्पर्द्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इङ्गलैंड के प्रमुख अर्थशास्त्री श्री मार्शल महोदय ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्या प्रतिस्पर्द्धा युग की विशेषता है, नीचे लिखा मत व्यक्त किया है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि यद्यपि अधिकतर लेखकों का मत है कि आधुनिक व्यापार में प्राचीन समय की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा अधिक दृष्टिगोचर होती है, परन्तु "प्रतिस्पर्द्धा" शब्द आधुनिक युग की विशेषता को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं करता। प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ एक दूसरे से होड़ करना है, परन्तु आधुनिक युग की विशेषता को यह शब्द पूरी तरह से व्यक्त नहीं करता। आधुनिक युग की विशेषता नीचे लिखे हुए शब्दों में व्यक्त की जा सकती है।

आधुनिक युग की विशेषता है स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन तथा भविष्य का अनुमान करने की प्रवृत्ति। इनसे कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धा की भावना भी उदय होती है, किन्तु यह प्रवृत्तियाँ मनुष्य को एकीकरण (combination) तथा सहयोग (cooperation) की ओर ही अधिक ले जाती हैं। आज हम देखते हैं कि यद्यपि भिन्न-भिन्न कारखानों मे कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धा दृष्टिगोचर होती है, परन्तु प्रतिस्पर्द्धा से अधिक सहयोग और एकीकरण देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए आज एक ही धंधे के सब कारखाने वस्तु के मूल्य, काम के घण्टे, प्रबन्ध और तैयार माल की बिक्री के लिए एक-दूसरे से सहयोग करते हैं, प्रतिस्पर्द्धा नहीं। जब धंधे के सामने कोई संकट उपस्थित होता है तो सब मिलकर उसका सामना करते हैं। उदाहरण के लिए जब भारतीय जूट के धंधे को मन्दी का सामना करना पड़ा तो जूट-मिल-मालिक-संघ ने सप्ताह में सब जूट-मिलों को केवल ५ दिन काम करने, अपनी कुछ मशीनों को न चलाने और १० घण्टे के बजाय केवल ८ घण्टे काम करने का निश्चय किया था। यह प्रतिस्पर्द्धा का नहीं वरन् सहयोग का उदाहरण है। आज के आर्थिक संगठन मे प्रत्येक धंधे, व्यापार और व्यवसाय में इस प्रकार के सहयोग को हम पावेंगे। केवल आर्थिक मन्दी (economic depression) के या अन्य किसी संकट के समय ही नहीं, वरन् साधारण समय में भी, एक ही धंधे या व्यवसाय मे लगे हुए व्यवसायी आज सहयोग के आधार पर संगठित हैं। तभी हम देखते हैं कि जूट-मिल-मालिक-संघ, सूती वस्त्र-मिल-मालिक-संघ, शुगर सिंडिकेट जैसी संस्थायें सभी धंधों मे स्थापित हो गई हैं। आज एक भी धंधा ऐसा नहीं है कि जिसमे चलने वाले कारखानों का एक

केन्द्रीय संघ न हो। यद्यपि प्रत्येक मिल स्वतन्त्र है, परन्तु इन संघों के द्वारा वे मिल-जुल कर अपने हितों की रक्षा करने का प्रयत्न करती हैं। जब से राज्य का व्यापार तथा धंधों में अधिक हस्तक्षेप होने लगा है, तब से तो यह सहयोग अनिवार्य हो गया है। आज तो बाजार के दुकानदारों को भी कपड़ा-कमेटी जैसी संस्थायें संगठित करके अपने हितों की रक्षा करने के लिए सहयोग करना पड़ता है।

आज के युग में केवल सहयोग (cooperation) की प्रवृत्ति ही बड़ी बात नहीं है, एकीकरण (combination) की प्रवृत्ति भी तेज़ी से बढ़ रही है। आये दिन हम देखते हैं कि किसी न किसी धंधे में अधिकांश कारखाने एक प्रबन्ध के अन्दर संगठित होते जा रहे हैं और क्रमशः ट्रस्ट इत्यादि का जन्म हो रहा है।

आज के युग की एक विशेषता आर्थिक स्वतन्त्रता है जो कि पहले के युगों में उपलब्ध नहीं थी। आर्थिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत हम नीचे लिखी स्वतन्त्रताओं को गिनते हैं (१) स्थान परिवर्तन की स्वतन्त्रता (freedom of movement)। इसमें हमारा तात्पर्य पूँजी (capital) और श्रम (labour) की गतिशीलता (mobility) से है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि पूँजी और श्रम उन्हीं धंधों की ओर आकर्षित होंगे जहाँ कि क्रमशः सूद और मज़दूरी सबसे अधिक होगी। (२) पेशे की स्वतन्त्रता (freedom of occupation)। इसका अर्थ यह है कि मजदूर उस पेशे को स्वीकार कर सकते हैं जिसमें उन्हें सबसे अधिक लाभ हो और जो उनके लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो। पेशे की स्वतन्त्रता से एक बड़ा लाभ यह होता है कि जो मनुष्य जिस योग्य है उसे वह काम मिल जाता है और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन (production) में वृद्धि होती है और धन (wealth) का वितरण (distribution) भी ठीक होता है। (३) उपभोग की स्वतन्त्रता (freedom of consumption) का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने उपभोग में स्वतन्त्र हो, उसके ऊपर कोई प्रतिबन्ध न हो। पहले बहुत से देशों में इस प्रकार के कानून थे कि किसी वर्ग विशेष के मनुष्य कैसा कपड़ा पहनेंगे, क्या खायेंगे और किस प्रकार रहेंगे। यद्यपि इन कानूनों की भावना अच्छी थी, किन्तु इनके द्वारा आवश्यकताएँ (wants) कम होती थीं, इस कारण आर्थिक उन्नति रुकती थी। आज भी युद्ध-काल में राशनिंग इत्यादि के द्वारा उपभोग पर बन्धन लगाया जाता है।

ार्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि उपभोग पर इस प्रकार का कोई भी न्धन न होगा। (४) उत्पादन तथा व्यापार की स्वतन्त्रता (freedom of production and trade)। मध्य युग में उत्पादन तथा व्यापार में नुष्य स्वतन्त्र नहीं था। ऐसे कारीगर-संघ (guilds) थे कि जिन्हें उस धंधे विशेष का एकाधिकार प्राप्त था। उसी संघ के सदस्य उस धंधे को कर सकते थे, दूसरों को यह अधिकार नहीं था। भारतवर्ष में भी कारीगरों की जातियाँ थीं जिन्हें उस धंधे पर एकाधिपत्य प्राप्त था। आज के युग में उत्पादन तथा व्यापार में मनुष्य को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त होगई है, परन्तु विदेशी व्यापार (foreign trade) में आयात-करों (import duties) के कारण कुछ रुकावट अवश्य है, फिर भी मध्य युग की अपेक्षा व्यापार में भी मनुष्य को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त है। उत्पादन की स्वतन्त्रता के कारण आज के उत्पादन में बहुत अधिक लचीलापन (elasticity) है। जैसे ही किसी वस्तु की माग बढती है तुरन्त नये कारखाने उसको तैयार करने के लिए स्थापित हो जाते हैं।

आर्थिक स्वतन्त्रता के दोष

किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता से मनुष्य की सभी आर्थिक समस्याएँ हल नहीं हुई। आर्थिक स्वतन्त्रा के प्राप्त होने से आर्थिक उन्नति के मार्ग में जो रुकावटें थीं वे दूर हो गईं किन्तु यह सुधार नाकारात्मक था रचनात्मक नहीं था। आर्थिक परतन्त्रता के दूर हो जाने से वे रुकावटें तो नष्ट हो गईं कि जिन से आर्थिक उन्नति में बाधा पडती थी, किन्तु जनसाधारण इससे लाभ उठा सके इसके लिये कोई रचनात्मक कार्य-क्रम न अपनाये जाने के कारण सर्व साधारण को इससे पूरा-पूरा लाभ नहीं हुआ। आर्थिक स्वतन्त्रता के परिणाम स्वरूप जो कुशल और साहसी व्यवसायी थे वे बडे पूंजीपति बन गए, उन्होंने उद्योग-धन्धों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया और क्रमशः एक पूंजीपति (capitalist) वर्ग उत्पन्न हुआ और क्रमशः सारी शक्ति उस वर्ग के हाथ में चली गई। यहाँ नहीं कि उद्योग-धन्धों और व्यापार पर उनका आधिपत्य हो गया, साथ ही अत्यधिक धनी होने के कारण वे समाचार-पत्रों को भी अपने हाथ में कर लेते हैं फलतः सरकार पर भी उनका विशेष प्रभाव स्थापित हो जाता है। इस प्रकार जब धन्धे और व्यवसायों पर कुछ थोडे से पूंजीपतियों का एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित हो जाता है तो वे देश में धन (wealth) का उत्पादन (production) लाभ के लिए करने लगते हैं। उदाहरण के

लिए यदि हम कल्पना करें कि देश मे १०० करोड़ गज कपड़ा उत्पन्न करने से लागत-व्यय प्रति गज ४ आना पड़ता है और ८ आना प्रति गज कपड़ा विकता है; और यदि केवल ५० करोड़ गज कपड़ा उत्पन्न किया जावे तो लागत व्यय (cost of production) पूर्ववत अर्थात् ४ आना गज रहेगा, किन्तु कपड़े की कीमत १ रु० गज हो जावेगी, तो यदि देश की सभी कपड़े की मिलों पर कुछ थोड़े से पूंजीपतियों का एकाधिपत्य स्थापति हो गया है तो वे १०० करोड़ गज कपड़ा तैयार कराने के बजाय ५० करोड़ गज कपड़ा ही तैयार करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनको अधिक लाभ होगा। किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा होने से सर्व साधारण का अहित होगा। केवल यही नहीं कि सर्व साधारण का अहित होगा वरन् इस प्रकार जब एकाधिपत्य (monopoly) या ट्रस्ट स्थापित हो जाते हैं तो किसी भी व्यावसायिक बुद्धि के साधनहीन युवक के लिए इन बड़े-बड़े व्यवसायियों के विरुद्ध कोई धधा स्थापित करना असम्भव हो जाता है। उनका परिणाम यह होता है कि अधिक क्षमतावान, योग्य व्यवस्थापक (enterpriser) जिसके पास यथेष्ट पूंजी या साधन नहीं है, उत्पादन-कार्य नही कर सकता और केवल अपनी पूंजी (capital) पर ही कम क्षमतावान अयोग्य व्यवस्थापक उत्पादन-कार्य (production of wealth) में अपना प्रभाव जमाये रखते हैं। परोक्ष रूप से इस प्रकार की व्यवस्था देश की आर्थिक उन्नति में बाधक होती है। एक तीसरा दोष भी अनियन्त्रित आर्थिक स्वतत्रता का है और वह यह है कि समाज में आर्थिक असमानता (economic inequality) बहुत बढ जाती है। थोड़े से मुट्ठी भर व्यक्तियों के पास तो कल्पनातीत धन (wealth) इकट्ठा होजाता है और सर्वसाधारण निर्धन रहते हैं। इससे कटुता और संघर्ष उत्पन्न होता है और हम देखते हैं कि पूंजीपतियों और मज़दूरों मे जो आये दिन संघर्ष चलता है वह इसी आर्थिक असमानता का परिणाम है। इस संघर्ष के फलस्वरूप उत्पादन कम होता है और देश की आर्थिक उन्नति रुकती है।

यही कारण है आज प्रत्येक देश मे आर्थिक जीवन मे राज्य बहुत हस्तक्षेप करने लगा है। लाभकर तथा अन्य कर लगाकर, अनिवार्य मूलभूत धन्धों का राष्ट्रीयकरण (nationalisation) करके, मजदूरों के हित के कानून बनाकर, उनकी सुख सुविधा का प्रबन्ध करके तथा न्यूनतम मज़दूरी कानून द्वारा निश्चित करके अनियन्त्रित आर्थिक स्वतन्त्रता (uncontrol economic freedom) के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। अस्तु, आज के युग को हम 'राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओं का युग कह सकते हैं।

धन (Wealth) और समाज की भलाई

मनुष्य के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य सुख-प्राप्ति है। मनुष्य यदि धन उत्पन्न करता है तो केवल इसलिए कि उसकी कुछ आवश्यकताएँ हैं जिनको पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता है, और जिनके पूरा न होने से उसको कष्ट होगा। अस्तु; धन उत्पन्न करने का उद्देश्य भी सुख की प्राप्ति ही है। यहाँ एक बात और पैदा होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रह कर जीवन व्यतीत करता है। जिस समाज का वह अङ्ग है उसका असर उसके व्यक्तिगत जीवन पर बिना पड़े नहीं रह सकता। इसलिए किसी भी मनुष्य के जीवन को सुखी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सारे समाज का जीवन सुखी हो। यह ठीक है कि कुछ वर्ग या व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं कि जिनके सुख और समृद्धि का आधार सारे समाज का अहित और शोषण ही हो। किन्तु उनकी यह समृद्धि और सुख अधिक दिनों नहीं चल सकते। उनके द्वारा होने वाला समाज का अहित और शोषण समाज में असन्तोष की भावना उत्पन्न करेगा जिसका परिणाम यह होगा कि एक न एक दिन उनके सुख और समृद्धि का अन्त अवश्य होगा। इस वास्ते व्यक्ति और समाज का हित एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि धन उत्पन्न करते समय न केवल व्यक्तिगत हित का वरन् समाज के हित का भी ध्यान रक्खे। अब हम धन और समाज की भलाई में क्या सम्बन्ध है इस पर संक्षेप में विचार करेंगे।

यह तो ठीक ही है कि जिस समाज अथवा देश में जितना अधिक धन उत्पन्न किया जावेगा वह अपेक्षाकृत उतना ही अधिक सुखी हो सकेगा, किन्तु धन का बढ़ना ही केवल समाज के हित के लिए काफी नहीं है। सामाजिक हित की दृष्टि से कुछ और बातों का ध्यान भी रखना होगा। अब हम इन पर ही विचार करेंगे।

इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो धन के बँटवारे की है। मान लीजिए कि किसी देश का कुल धन पाँच सौ करोड़ रुपया है और उसमें से आधा धन तो ५ प्रतिशत लोगों में बँटा है और शेष ९५ प्रतिशत जन संख्या में, तो धन का यह बँटवारा बहुत असमान अर्थात विषम है और देश को इस धन से उतना लाभ नहीं पहुँच सकता जितना कि अधिक समान बँटवारे से पहुँच सकता है। इस विषम बँटवारे का नतीजा यह होगा कि केवल कुछ लोगों के पास तो धन का

केन्द्रीयकरण हो जावेगा और अधिकाश लोग गरीब रहेगे। यह स्थिति समाज की भलाई की दृष्टि से हानिकारक है, अत. समाज के हित की बात यही है कि धन का बँटवारा अधिक से अधिक समान हो।

दूसरी बात जनसख्या और धन की सापेक्षिक वृद्धि की है। अगर किसी देश का धन बढ रहा है, लेकिन उस अनुपात में नही जिसमे वहाँ की जनसख्या बढ रही है, तो धन की वह वृद्धि समाज की दृष्टि से काफी नहीं कही जा सकती। जिस हिसाब से किसी देश की जनसख्या बढ रही है, उसस अधिक परिमाण में धन का बढाना समाज की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

धन के समान बँटवारे और जनसख्या के अनुपात मे उसकी वृद्धि के अतिरिक्त एक तीसरी बात और है जिसका विचार करना होगा। यह है धन के उत्पन्न करने के तरीके की। समाज की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्यो के काम के घन्टे इतने अधिक न हों कि उनको आवश्यक अवकाश ही न मिले। इसी प्रकार कम उम्र के बचो तथा स्त्रियों को भी अधिक काम न करना पड़े। स्त्रियों के सम्बन्ध मे कुछ विशेष नियम होना जरूरी है, जैसे खानों में जमीन के नीचे स्त्रियों को काम न करने दिया जाय। यदि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति बढती है लेकिन उसको बढाने के लिए मजदूरों को अत्यधिक काम करना पडता है और उनका स्वास्थ्य गिरता है, यदि जिस वातावरण में उन्हें काम करना पड़ता है वह स्वस्थ नही है, यदि उन्हें गन्दे स्थानों पर रहना पड़ता है तो यह राष्ट्र के हित मे नही है। यदि स्त्रियों और बचों से भी बहुत अधिक काम लिया जाता है तो उस राष्ट्र के लिए इस प्रकार धन की वृद्धि करना हितकर नही हो सकता।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि किसी भी समाज की भलाई और उसके धन (wealth) में कितना और कैसा सम्बन्ध है। समाज में धन का बँटवारा जितना समान होगा, जनसख्या के अनुपात में जितना अधिक धन उत्पन्न किया जावेगा और उसे उत्पन्न करने में यदि कोई विशेष आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा तो समाज सुखी और समृद्धिशाली होगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। किन्तु यदि यह बातें मौजूद नहीं हैं तो केवल धन के बढ़ाने से ही समाज में सुख और शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

जायदाद (Property)

धन या सम्पत्ति (wealth) पर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है। इस अधिकार को ही धन का स्वामित्व या जायदाद (property) कहते हैं जायदाद का अर्थ यह है कि वस्तुओ अथवा व्यक्तियो की सेवा से लाभ उठाने का किसी को अधिकार प्राप्त हो। उदाहरण के लिए एक मकान का मालिक है, उसको उस मकान में रहने तथा उसका किराया लेने का एकमात्र अधिकार है। इसी प्रकार एक सिनेमा कम्पनी जो कि किसी ऐक्टर से कंट्रेक्ट कर लेती है कि पाँच वर्ष तक वह उस कम्पनी में ही काम करेगा तो वह कम्पनी की जायदाद बन जाता है। क्योंकि कम्पनी का उसकी सेवाओ पर अधिकार स्थापित हो जाता है।

दूसरा भाग

उपभोग (Consumption)

(Consumption)

परिच्छेद ४

उपभोग : (Consumption) आवश्यकताएं (Wants)

उपभोग क्या है मनुष्य आदि काल से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न कर रहा है। सच तो यह है कि मनुष्य का जीवन आवश्यकताओं का जीवन रहा है। और इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही वह आर्थिक प्रयत्न अर्थात धन का उत्पादन करता है। सच तो यह है कि मानव-समाज के सभी आर्थिक प्रयत्नों की आधार शिला मनुष्य की न पूरी होने वाली आवश्यकताएँ ही हैं। अस्तु, अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थियों को मनुष्यो की आवश्यकताओं का सूक्ष्म अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक है। यही उपभोग का विषय है।

उपभोग के विषय का अध्ययन करते समय हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि किसी समुदाय के सीमित आर्थिक साधनों का मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं (unlimited wants) को तृप्त (satisfy) करने के लिए किस प्रकार उपयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि उपभोग के विषय मे हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि कोई मनुष्य-समुदाय अपनी आवश्यकताओं का अपने साधनों से किस प्रकार तारतम्य स्थापित करता है। आर्थिक वस्तुओं (economic goods) तथा व्यक्तियों की सेवाओं का मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए किए जाने वाले उपयोग का ही दूसरा नाम उपभोग है।

उपभोग का अर्थ उपयोगिता का विनाश है' उपभोग का अर्थ यह कदापि भी नहीं है कि किसी वस्तु का विनाश होता है। जिस प्रकार मनुष्य पदार्थ (matter) को उत्पन्न नहीं कर सकता उसी प्रकार मनुष्य उसका विनाश भी नहीं कर सकता। उपभोग का अर्थ है आवश्यकताओं की तृप्ति। मनुष्य तो किसी वस्तु की उपयोगिता (utility) भर का उपभोग करता है। उत्पादन (production) के द्वारा जिस उपयोगिता (utility) का उस वस्तु मे प्रतिस्थापन किया गया है, उपभोग के द्वारा उस उपयोगिता का विनाश हो जाता है। अस्तु उपभोग के द्वारा मनुष्य किसी वस्तु की उपयोगिता का उपभोग भर कर लेता है पदार्थ का विनाश नहीं करता है। फिर चाहे

गिता का विनाश तुरन्त हो जावे जैसे कि जब-जब हम खाना खाते हैं अथवा पानी पीते हैं; अथवा उपयोगिता का विनाश धीरे-धीरे कई महीनों या वर्षों में हो जैसा कि इमारतों, मोटर, फरनिचर या मशीनों में होता है।

किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उपभोग का अर्थ केवल उपयोगिता-विनाश भर नहीं है। इमारत आग लग कर नष्ट हो सकती है, फरनिचर या मशीनें भी आग से नष्ट हो सकते हैं और क्रोध में आकर कोई व्यक्ति भोजन के थाल को फैंक कर भोजन को नष्ट कर सकता है; परन्तु यह उपभोग नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें किसी की आवश्यकता की तृप्ति नहीं हुई। वस्तुएँ नष्ट अवश्य होगईं परन्तु उनसे किसी को कोई तृप्ति नहीं हुई, अतएव इसको उपभोग (consumption) नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उपभोग का अर्थ है उपभोग के द्वारा तृप्ति प्राप्त करना।

यह भी आवश्यक नहीं है कि उपयोग से किसी वस्तु की उपयोगिता (utility) या मूल्य (value) कम हो तभी उसको उपभोग माना जावे। उदाहरण के लिए परशियन गलीचों और हीरों के बारे में यह माना जाता है कि उनका उपयोग होने पर वे अधिक अच्छे रहते हैं। परन्तु इनके बारे में भी यह निश्चित है कि उनका उपयोग होने से धीरे-धीरे लम्बे समय में वे अपने अन्त के समीप पहुँचते हैं।

अस्तु, यह तो स्पष्ट हो गया कि उपभोग का अर्थ केवल उपयोगिता-ह्रास होना है। उपभोग से वस्तु के रूप, तथा आकार में परिवर्तन होता है। जबकि हम अपने वस्त्र को पहन कर फाड़ डालते हैं अथवा अपने मकानों में रहकर उनका उपयोग करते हैं तो उनका केवल रूप-परिवर्तन ही होता है। जब कोई जुलाहा सूत का उपयोग कपड़ा बनाने में करता है तो वह उसका उपभोग करता है और बढ़ई मेज़ बनाता है तो लकड़ी का उपभोग करता है।

कभी कभी हम उपभोग को 'उत्पादक उपभोग' (productive consumption) तथा अनुत्पादक उपभोग (unproductive consumption) में विभाजित करते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कागज पर पत्र लिखते हैं तो हम अनुत्पादक उपभोग करते हैं और जब एक पुस्तक-प्रकाशक कागज का उपयोग पुस्तक छापने में करता है, तो वह उत्पादक उपभोग करता है। जिन वस्तुओं का उपयोग किसी वस्तु के उत्पादन में होता है तो हम उसे उत्पादक उपभोग कहते हैं, और जब किसी वस्तु का उपयोग व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता है तो वह

त्पादक उपभोग कहलाता है। परन्तु यदि गहरे उतर कर देखा जावे तो तव में उपभोग पदार्थों (consumers goods) का उपयोग उत्पादन के ए आवश्यक है, क्योंकि यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा न करे उत्पादन कार्य ही न हो सके।

उपभोग का महत्त्व : अभी तक अर्थशास्त्री उपभोग को अर्थशास्त्र के यथन में अधिक महत्त्व नहीं देते थे। वे उसकी नितान्त उपेक्षा करते थे। चीन अर्थशास्त्रियों ने मनुष्य की आवश्यकताओं के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री उपभोग का महत्त्व समझते हैं और सको महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं।

उपभोग का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि वह उत्पादन का जनक । मानव-समाज जो भी उत्पादन कार्य करता है वह केवल इस कारण कि सकी कुछ आवश्यकताएँ हैं जिन्हें उसे पूरा करना पड़ता है। उत्पत्ति production) एक साधन है, लक्ष्य तो आवश्यकताओं की तृप्ति है। तएव आवश्यकताएँ सभी मानवी प्रयत्नों का आदि स्रोत हैं। उत्पादन-कार्य ो सचालित करने वाली यदि कोई शक्ति है तो वह मानवीय आवश्यकताएँ । मनुष्य जब द्रव्य (money) को देकर वस्तुएँ खरीदता है तो उसके रा उसकी आवश्यकताओं का बाह्य प्रकटीकरण होता है। उपभोक्ता कुछ स्तुओं को लेता है और कुछ को अस्वीकृत कर देता है, और इस प्रकार ए उत्पादन पर गहरा प्रभाव डालता है। यदि उपभोक्ताओं (consumers) ो किसी वस्तु विशेष की अधिक आवश्यकता है और वे उसको खरीदने के ए द्रव्य को व्यय करने के लिए तैयार होते हैं तो इसका अर्थ यह है कि उसी वस्तु के उत्पादन को प्रोत्साहन देते हैं। जिधर उपभोक्ताओं की ांग (demand) का संकेत होता है उधर ही उत्पादन शुरू हो जाता है। म इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लेते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी देश की जनता में फैशन की वस्तुओं की माँग बहुत बढ़ जाती है, एवं साधारण अपनी आय का बहुत बड़ा भाग फैशन की वस्तुओं को खरीदने में व्यय कर देता है, तो फैशन की वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले धन्धे देश में पनपेंगे। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उपभोग उत्पादन का नेतृत्व करता है। जिन वस्तुओं का उपभोग अधिक होने लगता है उन्हीं का उत्पादन भी बढ़ जाता है। जिनकी माग कम हो जाती है उनका उत्पादन भी कम हो जाता है। उपभोक्ताओं (consumers) की वस्तुओं (goods) तथा

सेवाओं (services) की माँग ही उत्पादन की मात्रा को निश्चित करती है।

उपभोग केवल उत्पादन को निश्चित करता हो यही बात नहीं है, मनुष्य के रहन-सहन के दर्जे को भी निर्धारित करता है। यदि किसी मनुष्य का उपभोग व्यवस्थित और ठीक है तो उसकी उत्पादन-क्षमता (productive efficiency) बढ़ जावेगी और यदि उसका उपभोग योजना-रहित तथा मूर्खतापूर्ण है तो उसकी कार्यक्षमता कम हो जावेगी। उदाहरण के लिए यदि मजदूर शराब पीता, जुआ खेलता, असंतुलित भोजन करता और सामाजिक कार्यों पर अनाप शनाप व्यय करता है; परन्तु शिक्षा और स्वास्थ्य पर तनक भी व्यय नहीं करता तो उसकी कार्यक्षमता कम हो जावेगी। भारतीय मज़दूर की कार्यक्षमता कम होने का एक कारण उनका अव्यवस्थित और मूर्खतापूर्ण उपभोग भी है। जहां दक्ष या कुशल उत्पादन (efficient production) और समान धन वितरण (equitable distribution) समाज को समृद्धिशाली बनाने के लिये आवश्यक है वहां बुद्धिमत्तापूर्ण उपभोग भी समाज को समृद्धिशाली बनाने के लिये उतना ही आवश्यक है। यदि हम उपभोग में सुधार किये बिना समान धन वितरण करने का प्रयत्न करेंगे तो उसका उद्देश्य ही असफल हो जावेगा।

आधुनिक समय मे उत्पादन-कार्य बहुधा नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं: हम ऊपर कह आये हैं कि आवश्यकताएँ उत्पादन-कार्य की जनक हैं, परन्तु आधुनिक काल में इसका उल्टा भी होता है अर्थात् उत्पादन-कार्य नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। पुराने समय मे जब मनुष्य-जाति प्रारम्भिक आर्थिक अवस्था में थी और सभ्यता का विकास हो रहा था तब भौतिक आवश्यकतायें ही मनुष्य को आर्थिक प्रयत्न करने के लिये प्रेरित करती थीं। उस समय साधारण मनुष्य जब तक कि किसी प्रारम्भिक आवश्यकता को तृप्त करने की तीव्र उत्कंठा अनुभव नहीं करता था, तब तक वह कोई प्रयत्न नहीं करता था। उदाहरण के लिए आदिम काल के निवासी को यदि मकान की आवश्यकता अनुभव होती थी तब वह झोंपड़ा बनाता था। इसी प्रकार शरीर की रक्षा करने के लिए वह कपड़े इत्यादि का प्रबन्ध करता था। किन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया स्थिति बदलती गई। यद्यपि आज भी मानवीय आवश्यकताएँ ही मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नों की प्रमुख जनक हैं, फिर भी बहुधा मानवीय प्रयत्न निष्क्रिय (passive) न रहकर नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं। आज तो व्यवसायी पहले एक वस्तु का निर्माण करते हैं फिर विज्ञापन तथा प्रदर्शन के द्वारा उसका प्रचार करते हैं। उनके प्रचार का परिणाम यह होता

है कि जनसमुदाय उस आवश्यकता को अनुभव करने लगता है और उस वस्तु की माँग उत्पन्न होजाती है। उदाहरण के लिए जब कि साइकिल, मोटर, बिजली की अङ्गीठी तथा टाइपराइटर इत्यादि अन्य ऐसी ही अनेक वस्तुओं का आविष्कार हुआ था और पहले पहल ये चीजें बनकर बाजार में आईं तब उनकी कोई माँग नहीं थी। उनकी माग तो उत्पादन के उपरान्त उत्पन्न हुई। जब इन वस्तुओं का आविष्कार हुआ, उनका निर्माण हुआ तो उनके लगातार उपयोग से मनुष्य-समाज को उनकी नई आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इसी प्रकार आज नित नई वस्तुओं का आविष्कार और निर्माण होरहा है और इस उत्पादन के फलस्वरूप नवीन आवश्यकताओं का मानव-समाज अनुभव कर रहा है। अस्तु; हम कह सकते हैं कि उपभोग (consumption) और उत्पत्ति (production) एक दूसरे पर निर्भर हैं।

इच्छाओं (Desires) आवश्यकताओं (Wants) तथा मांग (Demand) में भेद

इससे पहले कि हम आवश्यकताओं के संबन्ध में अधिक अध्ययन करें, इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा मांग के भेद को जान लेना आवश्यक है।

आवश्यकताएँ (wants) शरीर सबन्धी होती हैं। मनुष्य को भूख लगती है अथवा प्यास लगती है तो मनुष्य भोजन करके या पानी पीकर उस आवश्यकता को तृप्त करते हैं। तृप्ति (satisfaction) के विरोधी भाव को ही आवश्यकता कहेंगे। आवश्यकता वह है जिसे कि व्यक्ति अनुभव करता है।

अभीष्ट (Need) - अभीष्ट वह है जो कि व्यक्ति स्वयं अनुभव नहीं करता वरन जिसको बाहर वाले उसके लिए आवश्यक समझते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि लड़कों को व्यायाम करना उनके स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, चाहे फिर लड़के स्वयं उसकी आवश्यकता अनुभव न करते हों। आवश्यकताएँ (Wants) वह हैं जो कि व्यक्ति स्वयं अनुभव करता है और अभीष्ट वह है जो कि दूसरे उसके लिए आवश्यक मानते हैं।

इच्छा (Desire) - इच्छा शारीरिक न होकर मनोवैज्ञानिक अधिक होती है। वों इच्छा और आवश्यकता में अधिक भेद नहीं है। आवश्यकता मनुष्य को जन्म-जात होती है। उदाहरण के लिए पशु की कुछ आवश्यकताएँ जन्म-जात हैं, जैसे—भोजन, पानी इत्यादि। इसी प्रकार मनुष्य की [illegible] कताएँ भी जन्म-जात होती हैं; परन्तु इच्छाएँ उसके मनोविज्ञान से

भोजन और वस्त्र ही नहीं चाहता।

च्छा किसी निश्चित उद्देश्य के लिए होती है जिसे व्यक्ति प्राप्त
ाहता है। जब कि आवश्यकता (want) किसी सेवा या वस्तु
लिए अनुभव होती है तो वह इच्छा के अधिक पास पहुँच जाती है।
इच्छा कह सकते हैं। इच्छा निश्चयात्मक होती है और आवश्यकता
ाती है।

ग (demand) :'मांग' 'इच्छा' अथवा 'आवश्यकता' से भिन्न
वश्यकता" अथवा "इच्छा" केवल मनुष्य को अनुभव होने वाली
तृप्ति चाहती है। उस आवश्यकता या इच्छा को तृप्त करने के
न करने की जरूरत होती है। जब कि वह व्यक्ति जिसे कि किसी बात
यकता या इच्छा सता रही है, उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए
त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है तब वह 'माग' (demand)
रण कर लेती है। एक भिखारी की इच्छा राल्सरायल मोटर में
तथा भव्य महलों मे रहने की हो सकती है। परन्तु इन इच्छाओं को
न देने के लिए द्रव्य (money) की आवश्यकता होगी।
स भी इन वस्तुओं की इच्छा कर सकता है, परन्तु वह अपने हृदय
ाहस नही बटोर पाता कि उतना द्रव्य व्यय कर सके। पहले अर्थात
उदाहरण मे तो उसके पास मोटर खरीदने या महल बनवाने के
श्यक द्रव्य ही नहीं है, अर्थात उनको प्राप्त कर सकने की योग्यता ही
दूसरे अर्थात् धनिक कजूस के पास योग्यता (धन) तो है परन्तु वा
य करने के लिए राजी नहीं है। अतएव इन दोनों की इच्छाएँ केवल
नी रहेंगी। जब इच्छा (desire) को व्यय कर सकने की योग्यता
) तथा व्यय करने की स्वीकारोक्ति (willingness) का समर्थन प्राप्त
भी वह माग या प्रभावशाली माग (demand) में परिणत
है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि उस इच्छा को हम मांग
के पीछे द्रव्य व्यय करने की योग्यता और उस योग्यता (द्रव्य) को
की इच्छा भी हो।

दि कोई इच्छा तो मोटरकार रखने की करता है किन्तु यदि
न केवल साइकिल खरीदने की है तो उसकी इच्छामात्र का प्रभाव
निर्माण पर नहीं पड़ेगा, वरन उसकी साइकिल की माग का साइकिल

निर्माण पर पड़ेगा। ऊपर हमने कहा उपभोक्ता ही उत्पादन की दिशा निर्देशन करते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं है कि उपभोक्ताओं की इच्छा मात्र से उत्पादन प्रभावित होता है, वरन् उसका अर्थ केवल इतना ही है कि उनकी मांग (demand) से उत्पादन निश्चित होता है। कोई भी किसी भिखमगे अथवा कजूस धनिक की कल्पित इच्छाओं की ओर ध्यान नहीं देगा। आर्थिक वस्तुएँ (economic goods) उनके लिए नहीं होतीं जो उनके लिए इच्छा करते हैं, वरन उनके लिए होती हैं जिनके पास वस्तुओं को प्राप्त करने की योग्यता होती है और जो उस योग्यता का उपयोग उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए करने को तैयार होते हैं।

आवश्यकताएँ (Wants)

यह तो हम ऊपर ही कह चुके हैं कि उपभोग (consumption) का अर्थ है आवश्यकताओं की तृप्ति। अस्तु, हमे आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अधिक अध्ययन कर लेना चाहिए। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो मनुष्य की आवश्यकताएँ चार कारणों से उत्पन्न होती हैं। नीचे हम उनके सबन्ध में विचार करेंगे।

आवश्यकताओं के उत्पन्न होने का पहला कारण तो यह है कि मनुष्य के जीवित रहने के लिए कुछ जन्म जात प्रारम्भिक आवश्यकताओं की तृप्ति आवश्यक है। वे जन्म जात और प्राकृतिक हैं, उनकी तृप्ति किए बिना वह रह ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए मनुष्य को भोजन, वस्त्र, जल अग्नि, तथा मकान अत्यन्त आवश्यक हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा किए बिना मनुष्य-जाति जीवित ही नहीं रह सकती। यह तो न्यूनतम शारीरिक आवश्यकताएँ हैं जिनका पूरा होना नितान्त आवश्यक है। भूख को दूर करने के लिए भोजन, प्यास के लिए जल, शरीर की रक्षा करने के लिये वस्त्र तथा रहने के लिए मकान तो हमारी प्राकृतिक आवश्यकताएँ हैं, जिन्हें पूरा किए बिना हम जीवित ही नहीं रह सकते।

आवश्यकताओं के उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह है कि मनुष्य केवल अपने शरीर की आवश्यकताओं को ही पूरा करना नहीं चाहता, वह अपने मन और आत्मा को भी सन्तुष्ट करना चाहता है। यदि मनुष्य अपनी प्रकृति जन्य जन्म-जात प्रारम्भिक आवश्यकताओं को ही पूरा करता रहे जिनसे कि वह केवल जीवित रह सकता है, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं

ही मनुष्य अपनी न्यूनतम जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा
लेता है, उसको और अधिक तथा ऊँचे दर्जे की आवश्यकताएँ घेर लेती
उसकी आवश्यकताओं में प्रदर्शन, शान शौकत की भावना जाग्रत होती
वह दिखलाना चाहता है कि मैं दूसरों से ऊँचा या श्रेष्ठ हूँ। अपने को
साधारण से श्रेष्ठ और ऊँचा सिद्ध करने के लिए वढिया बँगला, उ
सवारी मूल्यवान् वस्त्र तथा वढिया भोजन इत्यादि का प्रवन्ध करना पड़ता
वैभवशाली वनने तथा अपने वैभव का प्रदर्शन करने की भावना जहाँ म
में पैदा हुई फिर उसकी आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं रहती। उ
आवश्यकताएँ अपरिमित हो जाती हैं।

आवश्यकताओं के उत्पन्न होने का तीसरा कारण कलात्मक अभि
और परोपकार तथा सेवा की भावना भी है। एक व्यक्ति अपनी कला
तथा सौन्दर्यपान की अभिरुचि को पूरा करना चाहता है। वह ऊँचे दर्जे
साहित्य चाहता है, कलात्मक चित्रों को देखना—रखना चाहता है इत्या
कभी-कभी मनुष्य की उदात्त भावनायें जाग्रत होती हैं। वह अपने लिए नहीं
दूसरों के लाभ या दूसरों की सेवा के लिये वहुत सी वस्तुएँ चाहता है।
उसकी नैतिकता से उत्पन्न हुई आवश्यकताएँ हैं।

आवश्यकताओं के उत्पन्न होने का चौथा कारण उसका समाज अ
समूह में रहना है। कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं कि जिन्हें वह व्यक्ति
में अनुभव नहीं करता; वरन् जिन्हें वह समूह अथवा समाज के रूप में अ
करता है। ऊपर हमने जिन तीन प्रकार की आवश्यकताओं का उल्लेख कि
उन्हें मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अनुभव करता है। परन्तु व्यक्ति सामाजिक प्राणी
है। उसको अपने वर्ग या समूह में अपनी प्रतिष्ठा या स्थान को वनाये रख
लिये कुछ आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। उन्हें हम रूढिगत अ
श्यकताएँ (conventional necessaries) कहते हैं। एक समाज
सदस्य होने की दृष्टि से मनुष्य को एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने पड़ते
उस समूह में प्रचलित तरीके के अनुसार रहना पड़ता है और सामाजिक
धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करना पड़ता है। मनुष्य की वहुत-सी आवश्यक
उसी श्रेणी की हैं।

आवश्यकताओं को नियमित रूप से अनुभव होने अथवा कभी
अनुभव होने के आधार पर नियमित आवश्यकताएँ (recurring want
तथा अनियमित (non-recurring) आवश्यकताओं में विभक्त कर स

। इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं का भेद कभी-कभी स्पष्ट नहीं होता है, परन्तु मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि नियमित आवश्यकताओं में प्रारम्भिक आवश्यकताएँ (elementary wants) रूढिगत आवश्यकताएं (conventional necessaries) और कुछ प्रदर्शन तथा शान शौकत की भावनाओं से उत्पन्न होने वाली आवश्यकताएँ आजाती हैं। अनियमित आवश्यकताओं (non-recurring wants) के अन्तर्गत वह आवश्यकताएँ आती हैं जो कि प्रदर्शन और शान-शौकत में प्रतिस्पर्द्धा की भावना से तथा परोपकार की भावना से उत्पन्न होती हैं। पहले प्रकार की आवश्यकताओं की दो विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता तो यह है कि वे पूर्व निश्चित होती हैं और दूसरी विशेषता यह है कि वे परिपाटी, रीति-रस्म तथा सामाजिक आदतों का परिणाम होती हैं। व्यक्ति की यह आवश्यकताएँ उसके समूह के दर्जे (standard of living) के द्वारा निर्धारित होती हैं। अतएव आवश्यकताएँ लचकहीन (inelastic) होती हैं। यदि इन वस्तुओं का मूल्य गिर जावे तो मनुष्य उनको आवश्यकता से अधिक नहीं खरीदेगा। अनियमित आवश्यकताएँ अधिकतर लचक वाली (elastic) होती हैं।

आवश्यकताओं के गुण

यदि हम मानव के जीवन का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि वह सदैव अभाव-ग्रस्त रहता है। मनुष्य सदैव किसी न किसी वस्तु की आवश्यकता अनुभव करता है। मनुष्य सदैव अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, परन्तु वह कभी भी पूर्ण सन्तोष प्राप्त नहीं कर पाता। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के पीछे उसी प्रकार दौड़ता है जिस प्रकार मरु-भूमि में मनुष्य भ्रम में जलधारा के पीछे दौड़ता है, परन्तु वह दूर होती जाती है। मनुष्य की आवश्यकताएँ भी समाप्त होने के बजाय बढ़ती जाती हैं। बहुत से विद्वानों का कहना है कि इस 'दैवी असन्तोष' के कारण ही मनुष्य अपनी इतनी उन्नति कर सकने में समर्थ हो सका है। दैव ने आवश्यकताओं को असीम बनाकर मनुष्य को सतत उद्योगशील बनने का महामन्त्र दे दिया है। मनुष्य का पुरुषार्थ करने के लिए उत्साह और स्फूर्ति कभी मन्द नहीं पड़ते। यदि मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित होतीं तो मनुष्य उतना प्राप्त करने के उपरान्त निकम्मा और पुरुषार्थ-हीन हो जाता। उसके जीवन की स्फूर्ति समाप्त हो जाती और उमंग उत्साह रुक जाती। महत्वाकांक्षा जीवन का आनन्द है। यदि मनुष्य की

आकांक्षा ही न हो तो उसे जीवन का सुख प्राप्त न हो। मानवीय आवश्यकताएँ मनुष्य के आर्थिक जीवन का आधार भूत तथ्य हैं, अतएव हमें उनका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। नीचे हम आवश्यकताओं के गुणों का वर्णन करेंगे।

आवश्यकताएँ अपरिमित हैं, कभी तृप्त होने वाली नहीं हैं : मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित और असख्य हैं, वे कभी भी पूर्ण रूप से तृप्त नहीं होतीं। जैसे ही हमारी एक आवश्यकता पूरी होती है दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ले लेती है। यह आवश्यकताओं का ताँता बराबर चलता रहता है और वे कभी भी पूरी नहीं होतीं। मनुष्य कभी भी पूर्ण रूप से सतुष्ट नहीं होता।

बात यह है कि जब मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ जाग्रत होती हैं तो कुछ उसके मन में सुप्त रहती हैं। जैसे ही जाग्रत आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, सुप्त आवश्यकताएँ जाग्रत हो उठती हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है और मनुष्य कभी भी अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता। आज मनुष्य के इतने अधिक साधन हैं कि वह अपने पूर्वजों की अपेक्षा बहुत अधिक आवश्यकताओं को पूरी करता है, किन्तु आज के मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बेहद बढ़ गई हैं। जब हम अपनी किसी तीव्र आवश्यकता को पूरा करते हैं तो उसमे होने वाली तृप्ति अस्थायी होती है, और तुरन्त ही दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ले लेती है। हमारी नियमित आवश्यकताओं को बराबर पूरा करते रहने के कारण हमारे जीवन में उनका महत्त्व कम हो जाता है और नई-नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आवश्यकताओं का अपरिमित होना और उनके पूरा करने के लिए साधनों की कमी होना ही हमारी सब आर्थिक समस्याओं का आधार है।

कोई एक आवश्यकता पूरी हो सकती है जहाँ सभी आवश्यकताएँ कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं, वहाँ किसी एक आवश्यकता को पूरा करना सम्भव है; यदि उपभोक्ता के पास उस वस्तु को जिससे उसे आवश्यकता है खरीदने के साधन हैं। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे हम किसी वस्तु विशेष का अधिकाधिक उपभोग करते हैं, उसकी उपयोगिता (utility) कम होती जाती है। एक ऐसी स्थिति आजाती है कि हमारी वह आवश्यकता

ी तरह तृप्त हो जाती है। अस्तु, कोई एक आवश्यकता पूरी हो ती है।

ऊपर हमने जिस उपयोगिता-ह्रास नियम (law of diminishing utility) का उल्लेख किया है, वह एक जर्मन अर्थशास्त्री 'गोसन' द्वारा तिपादित किया गया था इस कारण इसको गोसन का नियम भी कहते हैं।

सम्पूरक आवश्यकताएँ (Complementary Wants) . बहुत-ी आवश्यकताएँ ऐसी होतीं हैं जो कि अकेली पूरी नहीं की जा सकतीं, उनको रा करने के लिए और भी आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है। उदा-रण के लिए यदि हमें ताँगे की आवश्यकता है तो हमें घोड़े ताँगे तथा अन्य स्तुओं को मोल लेना होगा। इसी प्रकार मोटर कार की आवश्यकता के ाथ-साथ पेट्रोल की आवश्यकता जुड़ी हुई है। फाउन्टेन पैन और स्याही, जूता ौर फीता जुड़ी हुई आवश्यकताएँ हैं। सच तो यह है कि यह बहुत कम होता ै कि मनुष्य किसी एक अकेली वस्तु की आवश्यकता को अनुभव करे। प्रत्येक स्तु सम्पूर्ण माँगों के एक समूह की भाग होती हैं। उसको अन्य आवश्यकताओं े पृथक नहीं किया जा सकता। हम आवश्यकताओं के एक समूह को चाहते हैं ा कि अकेली एक वस्तु को। आवश्यकताएँ एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं अर्थात् गुँथी रहती हैं उनको पृथक करना सम्भव नहीं होता। आवश्य-कताओं के इस गुण का वस्तुओं के पारस्परिक मूल्यों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक वस्तु की माँग (demand) बढ़ती है, इसका परिणाम यह होता है कि उस समूह की अन्य वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाती है।

आवश्यकताएँ एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि आवश्यकताएँ अपरिमित हैं। अपनी सब आव-श्यकताओं को पूरा करने के लिये मनुष्य के पास बहुत सीमित साधन हैं। अत-एव मनुष्य को विवश होकर यह चुनाव करना पड़ता है कि वह किन आवश्य-कताओं को पूरा करे। उसको प्रत्येक समय इतनी अधिक आवश्यकताएँ अनु-भव होती हैं कि वह सभी को तो पूरा कर नहीं सकता, अतएव उसको कुछ को चुन लेना पड़ता है जिन्हें वह पूरा करेगा और कुछ को वह अतृप्त छोड़ देता है। अस्तु, ये सभी आवश्यकताएँ मनुष्य के चुनाव में आ जाने के लिये आपस में प्रतिस्पर्द्धा करती हैं। इसका परिणाम होता यह है कि प्रत्येक क्षण मनुष्य के सामने एक संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा उपस्थित रहती है। कल्पना कीजिये कि किसी विद्यार्थी के पास केवल एक रुपया है, उसके सामने बहुत-सी आवश्यकताएँ

उपस्थित हैं। उसे चाट बहुत अच्छी लगती है, सिनेमा देखने की भी उसकी इच्छा होती है और उसको एक पुस्तक की भी आवश्यकता है। वह इनमें से केवल कोई एक आवश्यकता पूरी कर सकता है तो उसको सोच-समझकर यह निश्चित करना पड़ेगा कि मैं चाट खाऊँ, सिनेमा देखूँ या पुस्तक खरीद लूँ। यह तीनों आवश्यकताएँ विद्यार्थी के चुनाव में आने के लिये आपस में प्रतिस्पर्द्धा करती हैं। मनुष्य को प्रत्येक क्षण अनेक आवश्यकताएँ घेरे रहती हैं, उसके पास उनको पूरा करने के साधन (समय, शक्ति और द्रव्य) सीमित होते हैं, अतः यह आवश्यकताएँ आपस में प्रतिस्पर्द्धा करती हैं। आवश्यकताओं के इस गुण पर ही 'स्थानापन्न नियम' (law of substitution) आधारित है जिसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

वैकल्पिक आवश्यकताएँ (Alternative Wants): कभी-कभी हम देखते हैं कि किसी एक आवश्यकता को तृप्त करने के लिए हमारे पास बहुत से विकल्प हैं। यदि हमें किसी पेय की आवश्यकता है तो यदि जाड़ा है तो चाय, काफी, कहवा इत्यादि हैं और यदि गरमी है तो शरबत, लस्सी, सोडा, लैमन, तथा फलों के रस हैं जिनसे हमारे पेय की आवश्यकता पूरी हो सकती है। इसी को हम वैकल्पिक आवश्यकता कहते हैं। किसी एक आवश्यकता को पूरा करने के लिए बहुत-सी स्थानापन्न वस्तुएँ (substitutes) हो सकती हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हमें एक बात न भूल जानी चाहिए। वह यह है कि हमारी प्रारम्भिक आवश्यकताओं (elementary wants) (जैसे भोजन आदि की आवश्यकताएँ) को पूरा करने के लिये बहुत से विकल्प (alternatives) नहीं होते, क्योंकि मनुष्य भोजन इत्यादि के मामले में आदत का गुलाम होता है, वह उसमें शीघ्र परिवर्तन नहीं कर सकता। वह एक ही प्रकार अपनी उन आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है। हाँ ऊँचे दर्जे की आवश्यकताओं में बहुत से विकल्प होते हैं और चुनाव करने का अपरिमित क्षेत्र होता है। प्रतिस्पर्द्धी आवश्यकताओं (competitive wants) तथा वैकल्पिक आवश्यकताओं (alternative wants) में एक भेद है। प्रतिस्पर्द्धी आवश्यकताओं में उपभोक्ता के सामने यह समस्या उपस्थित होता है कि वह किस आवश्यकता को पूरा करे और किसे छोड़े। अर्थात उस दशा में स्वयं आवश्यकताएँ एक दूसरी से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं; परन्तु जब उपभोक्ता यह निश्चय कर लेता है कि किस आवश्यकता को पूरा करना है तब उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आवश्यकता को किस वैकल्पिक वस्तु (alternative) से पूरा करे। उसके सामने बहुत से विकल्प होते हैं जिनके द्वारा वह उस आवश्यकता को पूरा

सकता है अतएव आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी और वैकल्पिक दोनों ही हो
ती हैं।

आवश्यकताएँ पुनः प्रकट होती हैं : बहुत बार ऐसा होता है कि एक
वश्यकता को पूरा करने के उपरान्त वह सदैव के लिये तिरोहित नहीं होजाती।
नियमित रूप से कुछ समय के उपरान्त फिर प्रकट होती रहती है और
को उसे बार-बार तृप्त करना पड़ता है। लगातार उन आवश्यकताओं की
न से मनुष्य उन वस्तुओं का उपभोग करने का अभ्यस्त हो जाता है और
ों से उसके रहन-सहन के दर्जे का निर्माण होता है। जैसे-जैसे मनुष्य
धिक सभ्य होता जाता है, वैसे-वैसे नियमित रूप से बार-बार प्रकट होने
ली आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं और मनुष्य उस रहन-सहन के
ें को, जिसका कि वह अभ्यस्त हो गया है, रखने के लिये सतत प्रयत्न
ता रहता है। आवश्यकताओं के इस गुण का मजदूरी (wages) के निर्धारण
बहुत प्रभाव पड़ता है, जैसा कि आगे चलकर अध्ययन करेंगे। नियमित रूप
पुनः-पुनः प्रकट होने वाली (recurring wants) की माग लचकहीन
inelastic demand) होती है।

अचेतन आवश्यकताएँ (Unconscious wants) : आवश्यकताएँ
तन्य अथवा अचेतन भी हो सकती हैं। हम अपनी सब आवश्यकताओं के प्रति
गरूक नहीं होते। सब आवश्यकताएँ हम एक समय पर ही अनुभव नहीं
ते। कुछ आवश्यकताएँ गुप्त होती हैं और अचेतन अवस्था में होती हैं। वे
भी प्रकट होती हैं कि जब चैतन्य आवश्यकताएँ (conscious wants)
री हो चुकती हैं। चैतन्य आवश्यकता, जिसको कि मनुष्य अनुभव करता है,
सके प्रति वह जागरूक है उसे कष्ट पहुँचाती है। उस आवश्यकता के पूरी हो
ने पर वह कष्ट दूर हो जाता है, परन्तु इससे अधिक लाभ नहीं होता।
न अथवा अचेतन आवश्यकता से मनुष्य को कष्ट तो होता नहीं क्योंकि
ह उस आवश्यकता को अनुभव ही नहीं करता, परन्तु उसके पूरा हो जाने
उसे निश्चित लाभ होता है, सुख पहुँचता है। उदाहरण के लिए यदि किसी
क्ति का उसका मित्र एक मोटरकार भेंट स्वरूप देता है तो उसको बहुत लाभ
ौर सुख होगा क्योंकि उसको मोटरकार की आवश्यकता कभी अनुभव
ी हुई अतः उसको कोई कष्ट नहीं हुआ। जब मित्र कार भेंट करता है, तो वह
सका स्वागत करता है, और उसको बिना कष्ट उठाये सुख होता है। इसका
ह अर्थ कदापि नहीं है, कि हम अपनी गुप्त आवश्यकताओं को जाग्रत करदें।

चैतन्य या जाग्रत आवश्यकताएँ ही इतनी अधिक हैं कि उन्हीं को पूरा करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन है, फिर सुप्त आवश्यकताओं को जगा देने से मनुष्य को कष्ट ही मिलेगा।

ऊपर हमने आवश्यकताओं की विवेचना की, अर्थशास्त्री इससे अधिक आवश्यकताओं के बारे में कुछ कहना अपने क्षेत्र के बाहर की बात मानते हैं। उनका कहना है कि हमें इससे कोई मतलब नहीं कि कोई व्यक्ति फिजूल-खर्ची करता है अथवा बुद्धिमानी से व्यय करता है, किसी व्यक्ति ने जिन आवश्यकताओं को पूरा करने का निश्चय किया है, वे अच्छी हैं अथवा बुरी, उसके सम्बन्ध में बतलाना हमारा काम नहीं है। यह कार्य नीतिशास्त्री अथवा धर्मोपदेशक का है। परन्तु यह मत बिलकुल ठीक है और अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को उसका अध्ययन करने की तनक भी आवश्यकता नहीं कि मनुष्य उपभोग किस प्रकार करता है, इसमें सन्देह है। व्यक्ति के उपभोग पर उसकी आर्थिक समृद्धि बहुत कुछ निर्भर रहती है और किसी राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बनाने के लिए उस राष्ट्र के नागरिकों को स्वस्थकर उपभोग की आदतें डालना तथा जीवन के रहन-सहन के दर्जे को अच्छा बनाना आवश्यक है। अतएव लेखक की दृष्टि में अर्थशास्त्र के विद्यार्थी को उस बात का भी अध्ययन करना चाहिए कि किसी देश के निवासियों के उपभोग की क्या भूलें हैं।

आवश्यक वस्तुएँ (Necessaries), आराम देने वाली वस्तुएँ (Comforts) तथा विलासिता की वस्तुएँ (Luxuries)

जिन वस्तुओं को मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपभोग करता है, उन्हें हम ऊपर लिखी तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं परन्तु सच तो यह है कि आवश्यक वस्तुओं (necessaries) आराम देने वाली वस्तुओं (comforts) तथा विलासिता की वस्तुओं (luxuries) में भेद करना बहुत कठिन है।

आवश्यक वस्तुएँ (Necessaries) : प्राचीन काल के विद्वान आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी में उन वस्तुओं को रखते हैं, जो कि 'सादा और ऊँचे विचारों का जीवन" व्यतीत करने के लिए उपयोगी हों। उनके विचार में विलासिता की वस्तुएँ मनुष्य के पतन का कारण हैं, अतएव त्याज्य हैं। कभी-कभी यह वर्गीकरण उत्पादक-उपभोग (productive

(consumption) के आधार पर किया जाता है। आवश्यक वस्तुएँ वे मानी जाती हैं, जो मनुष्य को जीवित रखने और उसकी कार्य-क्षमता या निपुणता को बढाने के लिये आवश्यक हों। इस दृष्टि से आवश्यक वस्तुओं के दो भेद हुए—(१) जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुएँ necessaries for life), (२) निपुणतादायक आवश्यक वस्तुएँ (necessaries for efficiency)। जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं की श्रेणी में उनको रक्खा जावेगा जिनके बिना मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं है। यदि मनुष्य भोजन, वस्त्र तथा मकान इत्यादि प्राप्त न कर सकें तो वह जीवित नहीं रह सकता, उसका जीवन कम हो जावेगा। निपुणतादायक आवश्यक वस्तुएँ वह हैं कि जिनका उपभोग करने से मनुष्य की कार्य-क्षमता और निपुणता (efficiency) मे वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी के लिये पुस्तकें, एक डाक्टर के लिये सभी औज़ार और यदि वह बहुत प्रसिद्ध डाक्टर है और उसे प्रतिदिन बहुत रोगी देखने पड़ते हैं तो एक मोटर निपुणता के लिये आवश्यक है। इन वस्तुओं को प्राप्त करने में जो व्यय होता है, उसकी तुलना में लाभ अधिक होता है। एक तीसरे प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ (necessaries) और होती हैं जिन्हें हम रूढ़िगत—आवश्यक वस्तुएँ (conventional necessaries) कहते हैं।

रूढ़िगत आवश्यक वस्तुएँ वह कहलाती हैं कि जिन्हें पूरे किया बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। यह वस्तुएँ जीवित रहने अथवा निपुणता के लिए आवश्यक नहीं होतीं, परन्तु जिनका पूरा होना मनुष्य अत्यन्त आवश्यक समझता है। बहुधा ऐसा होता है कि मनुष्य जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक वस्तुओं तक को छोड़ देता है और रूढिगत आवश्यक वस्तुओं पर रुपया खर्च कर देता है। वह अन्य आवश्यक वस्तुओं का त्याग करके भी रूढिगत-आवश्यक वस्तुओं (conventional necessaries) को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह तब होता है कि जब मनुष्य किसी नशीली वस्तु के उपभोग का ऐसा अभ्यस्त हो गया हो कि उसके बिना वह रह ही न सके। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति शराब, भाग, गाँजा, तम्बाकू अथवा अन्य किसी नशीले पदार्थ के सेवन का अभ्यस्त हो गया है तो वह भोजन को भी त्याग कर इन वस्तुओं पर व्यय करेगा। अथवा यदि समाज उससे किसी प्रकार के व्यय की आशा करे। उदाहरण के लिए मनुष्य को सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों पर इतना व्यय करना पड़ता है। भारत में तो मनुष्य जाति के बन्धनों में इतना जकड़ा हुआ है कि ऋण लेकर भी और जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक

वस्तुओं का त्याग करके भी वह सामाजिक कृत्यों पर व्यय करता है। इन दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को हम रूढिगत आवश्यक वस्तुएँ कहेंगे।

आराम देने वाली वस्तुएँ (Comforts) : आराम देने वाली वस्तुएँ वह होती हैं जिन्हें मनुष्य आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने के उपरान्त चाहता है। मनुष्य जब अपने को आराम देना चाहता है तो इन वस्तुओं की माँग करता है। उदाहरण के लिए गर्मियों में बिजली का पंखा, जाड़ों में हीटर गर्मियों में रिफ्रीजरेटर, अच्छे पलग तथा नौकर इत्यादि इस श्रेणी मे आते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन वस्तुओं से भी उपभोक्ता की निपुणता अथवा कार्यकुशलता (efficiency) बढती है, परन्तु जिस अनुपात में इन वस्तुओं पर व्यय किया जाता है उस अनुपात मे नहीं बढती। लगातार आराम का जीवन व्यतीत करने से मनुष्य कोमल बन जाता है और कठोर जीवन का अभ्यस्त नहीं रहता।

विलासिता की वस्तुएँ (Luxuries) : विलासिता की वस्तुएँ वह होती हैं जो कि अनावश्यक हों। विलसिता की वस्तुओं से हमारा तात्पर्य या तो उस उपभोग (consumption) से होता है कि जो हानिकारक हो अथवा जब कोई व्यक्ति अपने आय के साधनों के बाहर व्यय करता है तब हम उन वस्तुओं को विलासिता की वस्तुएँ कहते हैं, फिर वह चाहे लाभदायक ही क्यों न हों। कुछ अर्थशास्त्रियों ने विलासिता की वस्तुओं (luxuries) का अर्थ अत्यधिक व्यक्तिगत व्यय किया है। ऐसे के शब्दों में जो वस्तु किसी फिजूल आवश्यकता को पूरा करती है उसे विलासिता की वस्तु कहते हैं।

विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से निपुणता अथवा कार्य-कुशलता (efficiency) में कभी कोई वृद्धि नहीं होती, वरन् बहुधा उनके उपभोग से निपुणता अथवा कार्य-कुशलता मे कमी अवश्य होती है।

अधिकतर लोग विलासिता की वस्तुओं के उपभोग को त्याज्य अथवा बुरा समझते हैं। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं जो विलासिता की वस्तुओं के उपभोग का समर्थन भी करते हैं। उनके समर्थन के नीचे लिखे कारण हैं। विलासिता की वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं; एक हानिकारक और दूसरी जो हानिकारक नहीं होतीं, किन्तु लाभदायक भी नहीं होतीं। जैसे मूल्यवान् साड़ी हानिकारक नहीं है परन्तु शराब हानिकारक है। हानिकारक विलासिता की वस्तुओं को त्याज मानना ही चाहिये, परन्तु क्या उनको भी जो हानिकारक नहीं हैं त्याज्य मानना चाहिए?

(१) विलासिता की वस्तुओं के समर्थक कहते हैं कि विलासिता की वस्तुएँ आड़े समय अथवा आर्थिक कठिनाई के समय के लिये एक देन और सहारा सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिये जब कोई व्यक्ति विपत्ति में फँसता है तो सोने चाँदी अथवा हीरे के आभूषण उसके लिये एक बड़ा सहारा सिद्ध होते हैं।

(२) विलासिता की वस्तुओं की इच्छा मनुष्य में अधिकाधिक प्रयत्न करने का उत्साह उत्पन्न करती है। मनुष्य विलासिता की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये अधिकाधिक आर्थिक प्रयत्न करता है, उत्पादन बढ़ाता है जिससे कि आर्थिक उन्नति होती है। यदि विलासिता की वस्तुओं की माँग न रहे तो मनुष्य-समाज की आर्थिक उन्नति रुक जावे।

(३) विलासिता की वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य में सुन्दर अभिरुचि उत्पन्न होती है, वह अधिक सुसंस्कृत बनता है और मनुष्य के जीवन में अधिक विविधता और रंगीनी आती है और जीवन अधिक आकर्षक और पूर्ण होता है। अस्तु: विलासिता की वस्तुओं के समर्थक कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के, यहाँ तक कि मज़दूरों और किसानों के उपभोग में भी विलासिता की वस्तुएँ होनी चाहिएँ।

(४) विलासिता की वस्तुओं का समर्थन कभी-कभी इस आधार पर भी किया जाता है कि मनुष्य को उससे नई जानकारी प्राप्त होती है। कुछ लोग इस कारण भी उनका समर्थन करते हैं क्योंकि उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह जिस प्रकार चाहे अपनी आय का उपयोग करे।

(५) विलासिता की वस्तुओं के पक्ष में एक यह भी तर्क उपस्थित किया जाता है कि उनसे श्रमजीवियों को काम मिलता है। यदि विलासिता की वस्तुएँ बनना बन्द हो जावे तो बहुत से मज़दूरों को काम मिलना बन्द हो जावेगा। विलासिता की वस्तुओं की मांग से कला को प्रोत्साहन मिलता है।

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ऊपर के तर्कों में बहुत से दोष हैं। पहले तर्क को ही यदि हम ले लें, अर्थात् विलासिता की वस्तुएँ आर्थिक कठिनाई के समय काम आती हैं तो हम देखेंगे कि यह भ्रम मूलक है। पहली बात तो यह है कि आभूषणों को छोड़कर दूसरी विलासिता की वस्तुओं से यह लाभ भी प्राप्त नहीं होगा, फिर मनुष्य यदि अपनी आमदनी का अधिकांश भाग विलासिता की वस्तुओं पर व्यय न करके उसको बचाकर बैंक में रक्खे तो उसके लिये भविष्य के लिये अधिक उपयोगी और सुन्दर व्यवस्था हो सकती है। इसी प्रकार यह

कहना ठीक है कि मनुष्य को अपनी आय को जैसे वह चाहे व्यय करने का अधिकार है, परन्तु यदि उसका जीवन (रहन-सहन) और व्यवहार सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से अच्छा नहीं है तो समाज के लिये वह हानिकारक सिद्ध होगा और समाज उसको अच्छी दृष्टि से नहीं देखेगा। विलासिता की वस्तुओं के निर्माण से श्रमजीवियों को अधिक काम मिलता है यह तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि हम विलासिता की वस्तुओं को उत्पन्न न करके अधिक उपयोगी और आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करें तो भी श्रमजीवियों को तो काम मिल ही जावेगा। यदि हम आवश्यक वस्तुओं पर वह आय व्यय करें तो हम मज़दूरों को अधिक अच्छा तथा उपयोगी कार्य दे सकेंगे।

उदाहरण के लिये यदि एक विलासितापूर्ण भव्य महल बनाने के बजाय एक कारखाना स्थापित किया जावे तो मज़दूरों को स्थायी रूप से काम मिल जावे और धन का उत्पादन (production of wealth) भी बढ़े।

अतएव हम कह सकते हैं कि सब बातों को देखते हुए विलासिता की वस्तुओं पर द्रव्य व्यय करना अच्छा नहीं है। उसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

आवश्यक वस्तुएँ (necessaries) आराम देने वाली वस्तुएं (comforts) तथा विलासिता की वस्तुएँ (luxuries) यह शब्द सापेक्ष हैं। इनका सम्बन्ध परिपाटी समय, स्थान जलवायु, तथा व्यक्ति से है। हम यह नही कह सकते कि अमुक वस्तु सब दशाओं मे विलासिता की ही वस्तु कही जावेगी अथवा आवश्यक वस्तु ही कही जावेगी। एक ही वस्तु समय, व्यक्ति जलवायु आदि के अनुसार आवश्यक भी और विलासिता की भी हो सकती है। उदाहरण के लिये एक मोटरकार एक धनी व्यक्ति को जो कि छोटे नगर मे रहता और कोई विशेष कारबार नहीं करता है, विलासिता की वस्तु है, परन्तु एक व्यस्त डाक्टर को जिसे बहुत मे रोगियों को प्रतिदिन देखना पड़ता है, एक व्यस्त व्यवसायी को अथवा एक मंत्री को आवश्यक है, क्योंकि उन्हे समय की बचत करना आवश्यक है और उससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। ऊनी कपड़े ठंडे देशों के मज़दूरों के लिये भी आवश्यक है जब कि भारतीय मज़दूर के लिये आराम अथवा विलासिता की वस्तु ही समझे जावेंगे। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न समाजों में रूढ़िगत आवश्यक वस्तुएँ (conventional necessaries) भी भिन्न-भिन्न होंगी। उदाहरण के लिये निर्धन व्यक्तियों में जो भी मिलने वाला आता है, उसे हुक्का पिलाना एक सामाजिक परम्परा है तथा मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों में

न सिगरेट और चाय पिलाने का चलन है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्थान, व्यक्ति तथा रीति-रस्म के भेद से एक ही वस्तु कुछ के लिये आवश्यक, दूसरे के लिये आराम देने वाली तथा तीसरे के लिये विलासिता की हो सकती है।

जीवन के रहन-सहन का दर्जा (Standard of Living)

आवश्यक, आराम देने वाली, तथा विलासिता की वस्तुओं के लगातार उपभोग से जब कोई व्यक्ति उतनी वस्तुओं के उपभोग का अभ्यस्त हो जाता है तो वही उसका रहन-सहन का दर्जा बन जाता है। जितनी आवश्यक, आराम देने वाली वस्तुओं तथा विलासिता की वस्तुओं का उपभोग करने का कोई अभ्यस्त हो जाता है, वही उसके रहन-सहन के दर्जे का निर्माण करती हैं। यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि दो-चार बार अथवा कभी-कभी किसी वस्तु का उपभोग कर लेने मात्र से वह वस्तु किसी के रहन-सहन के दर्जे में नहीं आ जाती। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति कभी-कभी अपने मित्र की अथवा आवश्यकता पड़ने पर किराये की मोटर में बैठ लेता है तो मोटर उसके रहन-सहन के दर्जे में नहीं आजावेगी। रहन-सहन के दर्जे में तो केवल वही वस्तु आवेगी जिसके उपभोग का व्यक्ति अभ्यस्त है और जिसके बिना उसको कष्ट अनुभव होता है। अस्तु; रहन-सहन के दर्जे से हमारा अर्थ उन समस्त आवश्यक, आराम और विलास की वस्तुओं के योग से है, जिनके उपभोग का कोई व्यक्ति अथवा वर्ग अभ्यस्त होगया हो और जो बराबर इस बात की चेष्टा करता है कि उसके उपभोग की इन वस्तुओं में किसी प्रकार की कमी न आवे। इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति इस बात का भी प्रयत्न करता है कि वह अपने रहन-सहन के दर्जे को बराबर बढ़ाता जाय।

रहन-सहन के दर्जे पर बहुत-सी बातों का प्रभाव पड़ता है। बहुत कुछ तो हम अपने रहन सहन के दर्जे को अपने माता-पिता से पैतृक रूप में प्राप्त करते हैं और बाद को हम उसे अपनी रुचि, शिक्षा और अनुभव के अनुसार बदलते रहते हैं। रहन-सहन का दर्जा एक-दो दिन में नहीं बनता, वह बहुत धीरे-धीरे और बहुधा बिना जाने बनता है और बहुत धीरे-धीरे ही उसमें परिवर्तन किया जा सकता है या उसको नीचे गिराया जा सकता है। यही कारण है कि जब किसी व्यक्ति की आमदनी घट जाती है, तो उसको कष्ट बहुत होता है और उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है। अधिकांश मध्यम श्रेणी के भारतीयों को पिछले महायुद्ध में और उसके उपरान्त

इस कष्ट का अनुभव हुआ है क्योंकि उन्हे अपने रहन-सहन के दर्जे को गिराना पड़ा।

रहन-सहन के दर्जे के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने की है कि राष्ट्र, वर्ग, और व्यक्ति के अलावा समय के अनुसार भी बदलता रहता है। एक राष्ट्र, वर्ग, या व्यक्ति जिसके रहन-सहन का दर्जा आज अमुक प्रकार है, वह कुछ समय के उपरान्त उससे अच्छा या बुरा भी हो सकता है। रहन-सहन के दर्जे पर आर्थिक परिस्थितियाँ फैशन, शिक्षा, महत्त्वाकांक्षा इत्यादि का गहरा असर पड़ता है। यही बातें रहन-सहन के दर्जे का निर्माण करती हैं।

किसी राष्ट्र के रहन-सहन का दर्जा मुख्यतः उसके द्वारा किये जाने वाले उत्पादन (production) पर निर्भर रहता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यदि किसी देश मे धन उत्पादन (wealth production) खूब होता है, तो वहाँ के अधिकांश निवासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा ही होगा। और भी बहुत-सी बातें हैं जो कि रहन-सहन के दर्जे पर प्रभाव डालती हैं, परन्तु धनोत्पत्ति आवश्यक शर्त है। जब तक कोई देश अधिक धनोत्पादन नहीं करता, तब तक उसके निवासियों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं हो सकता। कोई राष्ट्र विदेशी ऋण पर अथवा विदेशों के दान पर निर्भर रहकर अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं रख सकता। हमारा उत्पादन ही हमारे रहन-सहन के दर्जे का आधार-शिला होगी।

नीचे लिखी बातों पर किसी राष्ट्र के रहन-सहन का दर्जा निर्भर करता है :—

(१) यदि देश में सभी उत्पत्ति के साधनों (factors of production) का पूरा-पूरा उपयोग होता है, वे बेकार और व्यर्थ पड़े नहीं रहते, धनोत्पत्ति अधिकतम होती है और उन वस्तुओं का उत्पादन होता है, जिन्हें उपभोक्ता सर्वाधिक चाहते हैं, और जो लाभदायक हैं तो रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होगा। यदि किसी देश के उत्पत्ति के साधनों का पूरा-पूरा उपयोग न होगा तो वह निर्धन रहेगा और उसके निवासियों के रहन-सहन का दर्जा नीचा होगा। उदाहरण के लिए भारत में उत्पादन की कमी है, वह एक निर्धन राष्ट्र है, फलतः भारतीयों के रहन-सहन का दर्जा गिरा हुआ है।

(२) केवल धनोत्पत्ति के बढ़ाने मात्र से ही राष्ट्र के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा नहीं हो जायेगा। यदि किसी देश में उद्योग-धंधों की खूब उन्नति

अध्ययन करने से हमको यह मालूम हो सकता है कि उस परिवार का अथवा उस वर्ग का किन-किन बातों पर कितना व्यय होता है। जर्मन अर्थशास्त्री डाक्टर ऐंजिल ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बहुत से जर्मन परिवारों के बजट इकट्ठे किए थे, और उनका अध्ययन करने के बाद वह जिस परिणाम पर पहुँचे उसको उन्होंने एक नियम का रूप दे दिया। उसी को हम ... का उपभोग का नियम कहते हैं।

डाक्टर ऐंजिल ने अपने अध्ययन के उपरान्त नीचे लिखे परिणाम निकाले।

(१) जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय में वृद्धि होती है; भोजन तथा अन्य जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries for existence) पर कुल व्यय का प्रतिशत कम हो जाता है। और यदि व्यक्ति की आय कम होती है तो भोजन तथा जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं पर कुल व्यय का प्रतिशत बढ़ जाता है।

(२) आय में वृद्धि होने पर विलासिता, सांस्कृतिक शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा मनोरंजन की वस्तुओं पर कुल व्यय का प्रतिशत अधिक हो जाता है तथा आमदनी के कम होने पर घट जाता है। जिन लोगों की आमदनी बहुत कम होती है वे इन वस्तुओं पर प्रायः कुछ भी व्यय नहीं करते।

(३) मकान या मकान के किराये पर, ईंधन, रोशनी पर प्रत्येक व्यक्ति, फिर चाहे उसकी आमदनी कितनी ही क्यों न हो, कुल व्यय का समान प्रतिशत व्यय करता है।

(४) इसी प्रकार व्यक्तियों की आमदनी में चाहे जितना अन्तर हो परन्तु प्रत्येक व्यक्ति वस्त्रों पर अपने कुल व्यय का सामान प्रतिशत व्यय करता है।

ऊपर के नियम का अध्ययन करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि कुल व्यय तो आय के साथ घटता बढ़ता है। यदि आय अधिक होगी तो कुल व्यय भी अधिक होगा। ऊपर जो नियम बताया गया वह कुल व्यय के प्रतिशत को प्रकट करता है न कि कुल व्यय को। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति की आमदनी दो सौ रुपये मासिक से एक हजार होगई। जब वह २०० रुपये पाता था तो वह १०० रुपये भोजन पर व्यय करता था, परन्तु अब वह १००० रु० पाता है, तो वह भोजन पर केवल २५० रु० व्यय करता है। इस दशा में यद्यपि भोजन पर उसका व्यय बढ़ गया, परन्तु जहाँ पहले

: कुल व्यय (२०० रु०) का ५० प्रतिशत भोजन पर व्यय करता था
व वह भोजन पर केवल अपने कुल व्यय (१००० रु०) का २५ प्रतिशत ही व्यय
रता है।

इस डाक्टर ऐंजिल के नियम को नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट किया
। सकता है।

व्यय की मद	प्रतिशत आमदनी व्यय की गई		
	मजदूर परिवार	मध्यम श्रेणी का परिवार	धनी परिवार
ोजन	६०%	५५%	५०%
स्त्र	१८%	१८%	१८%
कान	१२%	१२%	१२%
ोशनी, गर्मी इत्यादि	५%	५%	५%
शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन ौकर इत्यादि	५%	१०%	१५%

भारतवर्ष में बहुत से अर्थशास्त्रियों ने परिवारिक बजटों का अध्ययन
केया। बहुत से किसान और मजदूरों, और मध्यम श्रेणी के परिवारों के बजटों
ा अध्ययन किया गया और इस अध्ययन का परिणाम भी लगभग वही निकाला
ो दो सौ वर्ष पूर्व डाक्टर ऐंजिल ने निकाला था।

परिच्छेद—५

उपभोग—उपयोगिता-ह्रास का नियम

(Consumption—Law of Diminishing utility)

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि उपयोगिता किसी आवश्यकता तृप्ति करने की शक्ति को कहते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि एक वस्तु उपयोगिता (utility) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न होगी। उपयोगिता का अर्थ तृप्ति नहीं है। अब हम उपयोगिता के सबन्ध से एक अत महत्त्वपूर्ण नियम का अध्ययन करेंगे जिसे उपयोगिता-ह्रास नियम कहते हैं।

उपयोगिता ह्रास का नियम (Law of Diminishing utility)

हम नीचे कल्पित तालिका देते हैं, जिससे उपयोगिता-ह्रास-नियम स्पष्ट हो जायगा।

सेव (इकाई)	कुल उपयोगिता तृप्ति की इकाई	सीमान्त उपयोगिता तृप्ति की इकाई
१	१०	१०
२	१९	९
३	२६	७
४	३१	५
५	३४	३
६	३५	१
७	३५	०
८	३४	–१
९	३२	–२
१०	२८	–४

है कि यदि किसी वस्तु की मात्रा घट जावेगी, तो उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बढ़ जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की मात्रा यदि घटती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है और यदि वस्तु की मात्रा बढ़ती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिस अनुपात में वस्तु की मात्रा घटती-बढ़ती है उसी अनुपात में उसकी उपयोगिता बढ़ती और घटती है।

चित्र द्वारा नियम का स्पष्टीकरण : अब हम एक चित्र द्वारा उपयोगिता-ह्रास-नियम (law of diminishing utility) को समझाने का प्रयत्न करेंगे। चित्र के लिये हम ऊपर दी हुई सेवों के उपभोग से प्राप्त हुई उपयोगिता की तालिका को लेंगे।
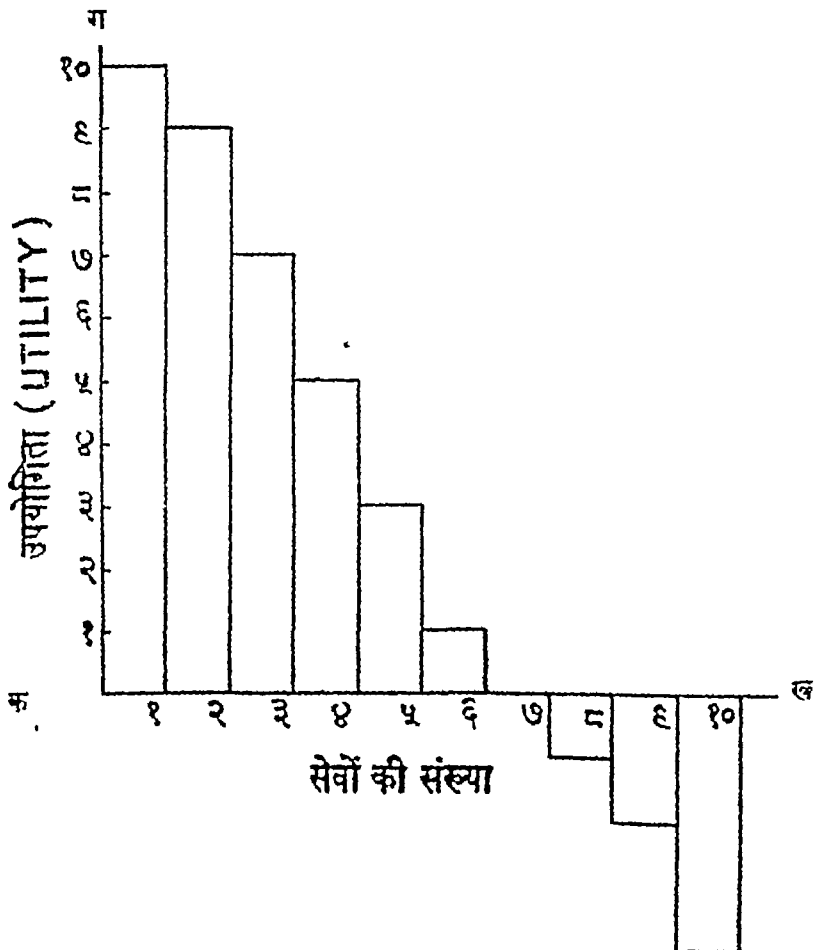
चित्र में 'क' 'ख' लाइन सेवों की संख्या बतलाती है और 'क' 'ग' लाइन उन सेवों से मिलने वाली उपयोगिता को व्यक्त करती है। पहले सेव

उपयोगिता १० इकाई जो कि पहले चौकोण से प्रकट होती है और उसी कार दूसरे सेव की उपयोगिता ६ इकाई और तीसरे की ७ इकाई और चौथे, चवें, सातवें, आठवें, नवें और दसवें सेव की उपयोगिता उन चौकोणों से कट होती है। चित्र से स्पष्ट प्रकट होता है कि जैसे-जैसे हम अधिकाधिक सेवों । उपयोग करते जाते हैं सेवों की उपयोगिता घटती जाती है, यहाँ तक कि तवें सेव की उपयोगिता शून्य हो जाती है और आठवें, नवें तथा दसवें सेव की पयोगिता नकारात्मक हो जाती है।

यदि हम सेवों की उपयोगिता चौकोणों से प्रकट न करके पतली सीधी खाओं से ही व्यक्त करें और उन रेखाओं के सिरों को जोड़ दें तो हमें उपयोगिता-ास की वक्ररेखा (curve) प्राप्त हो जावेगी जो कि केवल सेवों की उपयोगिता-ास को प्रकट नहीं करेगी वरन वह प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता के ह्रास को कट करेगी। अर्थात वह उपयोगिता-ह्रास के नियम को प्रकट करेगी।
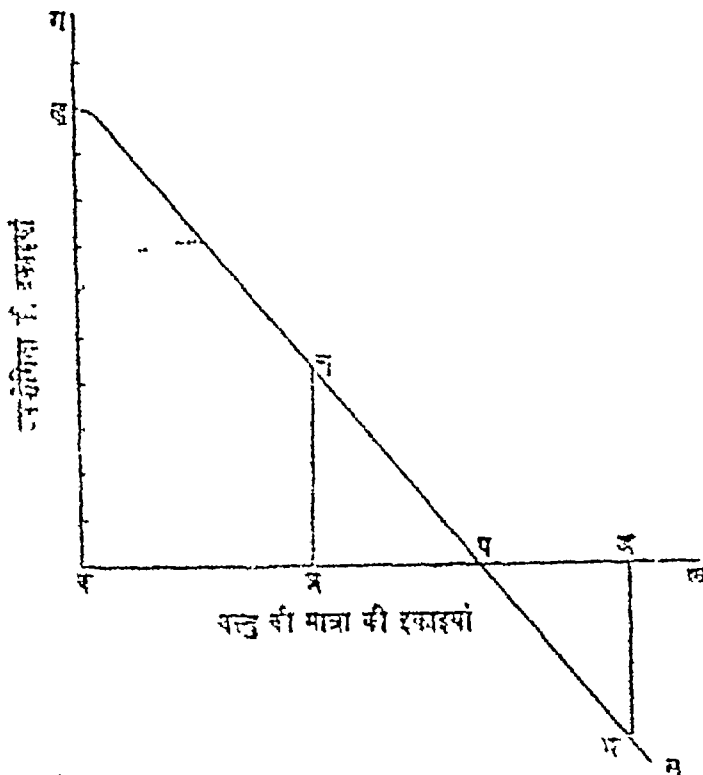
इस चित्र में 'ल म' उपयोगिता को प्रकट करने वाली वक्र रेखा है। यदि वक्र रेखा के किसी स्थान 'न' से एक सीधी रेखा (न क) खींची जावे तो वह 'क न' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता प्रगट करेगी। यदि 'ख क' मात्रा में वस्तु का उपभोग किया जावेगा तो उसकी सीमान्त उपयोगिता

(marginal utility) नकारात्मक अर्थात् 'ज झ' हो जावेगी। जब 'छ' मात्रा में उपभोग होगा तो सीमान्त उपयोगिता शून्य होगी।

हमने यह मान लिया है कि उपयोगिता-ह्रास-नियम पहली इकाई बाद ही लागू होजाता है, परन्तु यह भी सम्भव है कि किसी दशा में पह एक-दो इकाइयों के उपभोग मे उपयोगिता मे वृद्धि हो। यह उस लि रेखा से व्यक्त होता है।

उपयोगिता-ह्रास नियम की मान्यताएँ और सीमाएँ उपयोगि ह्रास-नियम कुछ मान्यताओं पर आधारित है और उनकी अनुपस्थिति ह्रास-नियम लागू नहीं होगा। वे मान्यताएँ नीचे लिखी हैं।

(१) पहली मान्यता यह है कि वस्तु का उचित तथा उपयुक्त मात्रा मे उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए किसी अत्यन्त प्यासे व्यक्ति कुछ बूंद जल दिया जावे अथवा क्षुधा मे अत्यधिक पीड़ित व्यक्ति को रो का एक छोटा-सा टुकड़ा दिया जावे तो उससे क्रमश प्यास और क्षुधा बढ़े और जल अथवा रोटी की उपयोगिता उपभोक्ता के लिये घटने के स्थान पर ब जावेगी। परन्तु आगे पीछे ऐसी स्थिति आजावेगी कि जब उपभोक्ता के लि जल और रोटी की उपयोगिता घटने लगेगी। अतएव पहली मान्यता यह है कि वस्तु का उपयुक्त मात्रा की इकाई में उपभोग होता है। ऊपर के उदाहरण एक रोटी या एक गिलास पानी उपयुक्त मात्रा होगा।

शराबी जितनी ही अधिक शराब पीता है और एक कंजूस के पास जितना ही अधिक धन इकट्ठा होता जाता है उतना ही अधिक वे उसके लिये व्याकुल होते जाते हैं, अर्थात उतना ही अधिक उन वस्तुओं की उन उपभोक्ताओं के लिये उपयोगिता बढ़ती जाती। यह इस कारण होता है, क्योंकि ऊपर लिखी हुई वस्तुओं के उपभोक्ताओं में उन वस्तुओं का उपभोग करते-करते भारी परिवर्तन हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि उन वस्तुओं का उपभोग करने में उपभोक्ता स्वयं बदल जाता है वह पूर्ववत नहीं रहता। उसका मन और प्रकृति बदल जाती है। इस कारण उसके लिये उस वस्तु की उपयोगिता बढ़ जाती है। एक संगीत-प्रेमी अथवा साहित्य प्रेमी जब उत्तमोत्तम संगीत अथवा साहित्य का पान करता है तो उसकी भावनायें जागृत होती हैं, वह बहुत ऊँचा उठ जाता है। उस दशा में उसे पहले से अधिक रस मिलने लगता है। यही नहीं, शराब पीने वाला भी शराब पीकर उन्मत्त हो जाता है और अधिकाधिक शराब पीने की कामना करने लगता है। यही तात्पर्य है, कि नियम उपर्युक्त दशाओं के सम्बन्ध में लागू नहीं होता।

उपयोगिता घटती जाती है। परन्तु कभी-कभी यह भी होता है कि हमारे पास किसी वस्तु की जितनी मात्रा है, उसमें परिवर्तन न होकर दूसरे व्यक्तियों के पास उस वस्तु की जितनी मात्रा है, उसमें परिवर्तन होने से हमारी उस वस्तु की उपयोगिता में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिये यदि किसी नगर में दो व्यक्ति हैं जोकि प्राचीन सिक्कों, चित्रों तथा कलात्मक वस्तुओं का सग्रह करते हैं, और यदि एक व्यक्ति का सग्रह किसी कारणवश नष्ट हो जावे तो दूसरे व्यक्ति के सग्रह की उपयोगिता अनायास बढ़ जावेगी। इसी प्रकार जितने ही अधिक टेलीफोन कनेक्शन लगेंगे उतनी ही अधिक एक व्यक्ति को अपने टेलीफोन की उपयोगिता बढ़ जावेगी। यदि किसी व्यक्ति की भूमि के पास से रेलवे लाइन निकल जावे तो उस भूमि की उपयोगिता बढ़ जावेगी।

(७) किसी-किसी दशा में किसी वस्तु की हमारे लिये उपयोगिता इस बात पर निर्भर होती है कि हमारे पास अन्य वस्तुएँ कौनसी और कितनी हैं। उदाहरण के लिए यदि मेरे पास एक तांगा पड़ा हुआ है तो मेरे पास उसका कोई उपयोग नहीं है। यदि मैं एक घोड़ा ले लू तो उस तांगे का मेरे लिये विशेष उपयोग हो जावेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है, कि उपयोग की दृष्टि में तांगा और घोड़ा एक वस्तु स्वीकार की जानी चाहिये, एक दूसरे के बिना अधूरी है।

(८) किसी वस्तु की उपयोगिता फैशन अथवा चलन पर भी निर्भर रहती है। यदि मेरे पास चूड़ीदार पाजामे हैं और उनका चलन बढ जावे तो उपयोगिता मेरे लिए बढ़ जावेगी। यदि किसी वस्त्र पगड़ी का फैशन जाता रहे तो उस वस्त्र की उपयोगिता मेरे लिये कम हो जावेगी। इस दशा में मैंने चूड़ीदार पाजामों अथवा पगड़ी की सख्या में कोई परिवर्तन नहीं किया। मेरे पास जितने पाजामे या पगड़ी पहले थीं उतनी ही रहीं, परन्तु उनके फैशन में परिवर्तन होने से उनकी उपयोगिता में परिवर्तन होगया।

उपयोगिता-ह्रास-नियम (law of diminishing utility): अन्य आर्थिक नियमों की भांति ही एक प्रवृत्ति का द्योतक है। यह हमें बतलाता है कि साधारणतः जब किसी वस्तु की मात्रा में वृद्धि होती है तो उसकी उपयोगिता में कमी होने की सम्भावना रहती है; परन्तु वास्तव में उसकी उपयोगिता कम हो जावेगी यह अन्य परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। यदि वे शर्तें पूरी नहीं होतीं तो नियम लागू नहीं होता है।

नियम का वस्तु के गुण से कोई सम्बन्ध नहीं होता

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपयोगिता-ह्रास-नियम इस लिए नहीं होता क्योंकि उस वस्तु की एक के बाद दूसरी प्राप्त होने वाली इका- पहली इकाइयों से घटिया या खराब हैं। यह नियम एक सार्वभौम और क नियम है। इसमें यह हम मान लेते हैं कि जो भी वस्तु की इकाइयां हमें नहीं हैं वे एक समान हैं, उनमें कोई घटिया या बढ़िया नहीं है। ऊपर के हरण में यदि सभी सेब एक समान हों, उनकी किस्म एकसी हो, फिर भी यदि अधिकाधिक सेब खाते जायें तो उनसे मिलने वाली अतिरिक्त उपयो- (additional utility) कम होती जावेगी। क्योंकि वस्तु की जो इकाई भी होती हैं वे एक दूसरे का स्थान ले सकती हैं, अर्थात यदि मैं दसवें सेब पहले सेब के स्थान पर खाता तो उसकी (१० इकाई) वही होती जो पहले सेब की है। अस्तु; जब सभी सेब एकसे हैं तो यह कहना बहुत ठीक होगा कि एक के बाद जो दूसरे सेब हम खाते हैं उन सेबों की उपयोगिता होगई। परन्तु यह कहना अधिक ठीक होगा कि अधिकाधिक सेबों की इका- यों से मिलने वाली अतिरिक्त उपयोगिता कम होगई। कोई एक इकाई हमारी योगिता में कम वृद्धि इस कारण करती है क्योंकि उसका बाद में उपभोग किया ा। यदि उसी इकाई का हम पहले उपभोग कर लेते तो उसकी उपयोगिता ी जाती। हां यदि किसी वस्तु की कोई इकाई घटिया है तो उसकी उपयोगिता ली इकाइयों से स्वतः ही कम होगी, परन्तु इस बात का इस नियम से कोई म्बन्ध नहीं है।

नियम का हमारी रुचि या इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं है : किसी स्तु की अधिकाधिक इकाइयों से होने वाली अतिरिक्त उपयोगिता इस लिए म नहीं होती क्योंकि हमारी इच्छा किसी अन्य वस्तु को उपभोग करने की हो ती है। उदाहरण के लिए सेबों की अतिरिक्त उपयोगिता इस कारण कम नहीं ोती क्योंकि मेरी इच्छा अब मिठाई रखी देख कर उसको खाने की होरही है। यदि मिठाई खाने के लिए मेरे पास न भी हो, केवल सेब ही हों तो भी उनसे प्राप्त होने वाली अतिरिक्त उपयोगिता कम होती जावेगी। सच तो यह है कि यह एक मनोवैज्ञानिक घटना होती है, हम एक वस्तु का अधिकाधिक उपभोग करने पर उससे ऊब जाते हैं अथवा उससे हमारा मन भर जाता है, फिर चाहे हमारे लिए कोई दूसरा पदार्थ उपलब्ध हो अथवा न हो।

नियम का व्यावहारिक प्रभाव : यदि हम सिद्धान्त की बात छोड़ और व्यवहार में देखें तो इस नियम का यह प्रभाव होता है कि मनुष्य अधि आवश्यक आवश्यकताओं की पहले तृप्ति करता है और जैसे उस वस्तु की पूर्ति (supply) बढ़ती जाती है, वह उसका कम आवश्यक आवश्यकताओं के लि उपभोग करता है। जैसे पानी पहले पीने के काम में आवेगा, फिर स्ना करने के काम में आवेगा फिर कपड़ा धोने के काम में आवेगा तदुपरान्त सड़कों पर छिड़काव करने के काम में आवेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की पूर्ति (supply) ही उसके उपयोग को निर्धारित करती है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति कम हो जावेगी तो उसके कम आवश्यक उपयोग को हमें छोड़ना होगा। यह नियम एक सार्वभौम नियम है एक देशीय नहीं है। सभी प्रकार की तृप्ति में यह नियम लागू होता है फिर चाहे वह अच्छे प्रका का अथवा बुरे प्रकार की तृप्ति हो। हम प्रत्येक उपभोक्ता (consumer) से प्रत्येक दशा में यह आशा नहीं करते कि वह समझदारी से ही उपभोग (consumption) करेगा और न हम यह मानते हैं कि आवश्यकताओं को तृप्त करने का कोई कठोर निश्चित क्रम ही है जिसके अनुसार ही वह उपभोग करेगा, परन्तु यह अवश्य है कि एक वर्ग (class) के लोगों का उपभोग मोटे तौर पर लगभग एक समान ही होगा।

हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि किसी भी वस्तु की उपयोगिता का सम्बन्ध दूसरी वस्तुओं की उपयोगिता से होता है। जब कि किसी वस्तु की पूर्ति (supply) में वृद्धि होने से उसकी उपयोगिता (utility) घटती है तो उस वस्तु की उपयोगिता अन्य वस्तुओं की उपयोगिता की तुलना में घटती है। किसी भी वस्तु की उपयोगिता असम्बन्धित अथवा निरपेक्ष (absolute) नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की आय सीमित होती है। यदि वह किसी एक वस्तु पर अधिक धन व्यय कर देता है तो अन्य वस्तुओं पर कम व्यय करेगा। तो उस वस्तु की उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए घट जावेगी, परन्तु अन्य वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ जावेगी। व्यवहार में हम जब अपने सीमित साधनों और आवश्यकताओं की तृप्ति में सामञ्जस्य बिठाना पड़ता है तो हम प्रायः भिन्न-भिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की उपयोगिता की तुलना करते रहते हैं। और किसी वस्तु को हम कितना खरीदेंगे यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उस वस्तु और उन वस्तुओं के स्थान पर काम में आसकने वाली वस्तुओं का मूल्य क्या है।

नियम के विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ कुछ विद्वानों की आपत्ति है कि नियम वास्तविकता से परे है। जैसा कि नियम में मान लिया गया है, कोई व्यक्ति किसी वस्तु का उत्तरोत्तर इकाइयों (successive units) में भोग नहीं करता। जब कि कोई व्यक्ति प्यासा होता है, तो वह तुरन्त [illegible] पानी पी जाता है, उसे पानी के घूँटों की उपयोगिता-ह्रास को अनुभव करने का अवसर ही नहीं मिलता। फिर ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ हैं, जिन्हें इकाइयों में नहीं बाँटा जा सकता, जैसे—मकान, मोटरकार, पुस्तक आदि। इस आपत्ति का हम इस प्रकार समाधान कर सकते हैं कि अधिकांश वस्तुओं को हम उचित मात्रा में साप्ताहिक, मासिक अथवा वार्षिक खरीदते हैं। क्योंकि उपभोक्ताओं को साप्ताहिक अथवा मासिक वेतन या मजदूरी मिलती है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें वार्षिक आय ही होती है। [illegible] हम एक मकान खरीदते हैं, तो सम्भवतः वह एक व्यक्ति के जीवन में [illegible]। उसके सम्बन्ध में भी हम यह अनुमान कर सकते [illegible] प्रति मास [illegible] (५० रु० जो मासिक किराया हम [illegible] सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) [illegible] इस प्रकार [illegible] कि हम यह मालूम करें कि यदि वह इसे [illegible] कितनी हानि अनुभव होगी।

है कि मनुष्य द्रव्य के सम्बन्ध में पूर्ण तृप्ति की स्थिति में कभी भी नहीं पहुँचता। यह ठीक है कि द्रव्य की अधिकता होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती है, परन्तु यह उपयोगिता-ह्रास बहुत धीमी गति से होता है। यही कारण है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता की वक्र-रेखा (marginal utility curve) कभी भी आधार रेखा ('क' 'ख') को नहीं छूती। हम नीचे एक चित्र द्वारा द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता को बतलाने का प्रयत्न करेंगे।
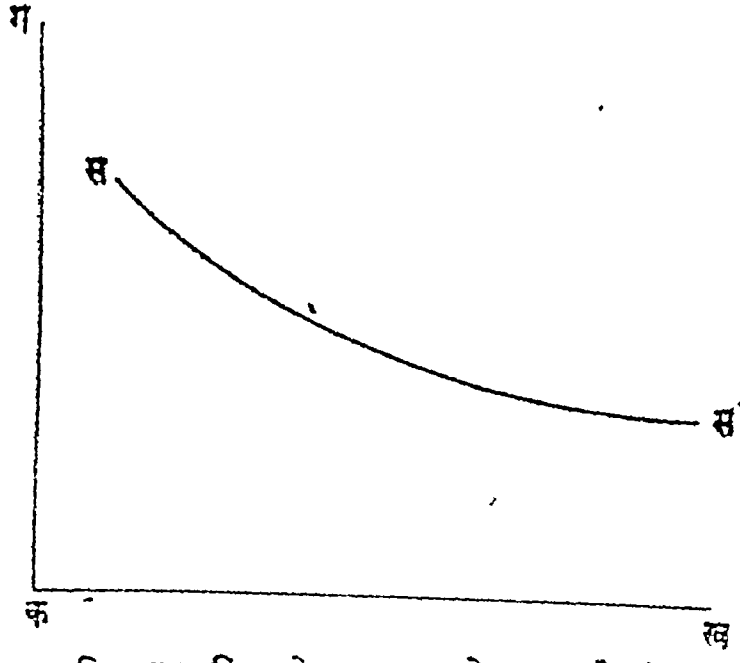
ऊपर दिए हुए चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स स' रेखा आधार रेखा 'क' 'ख' को नहीं छूती और यह बहुत धीरे-धीरे नीचे की ओर गिरती है। यह इस बात को प्रकट करती है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बहुत धीरे-धीरे कम होती है।

सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility)

एक आदमी के किसी वस्तु को खरीदने का अन्त कहाँ होता है? वह कितना उस वस्तु को खरीद कर रुक जाता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर हमें प्राप्त करना चाहिए। जब कि एक व्यक्ति किसी वस्तु को खरीदता है, तो वह जाने अथवा अनजाने में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई के मूल्य और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना करता है। वह उस

...ति तक उस वस्तु को खरीदता रहता है, जहाँ तक कि उसकी उपयोगिता ...के मूल्य के बराबर होगी। हम नीचे एक तालिका देते हैं, उससे यह ...त स्पष्ट हो जावेगी।

नारंगियाँ	सीमान्त उपयोगिता की इकाइयाँ	कुल उपयोगिता की इकाइयाँ
१	२०	२०
२	१८	३८
३	१५	५३
४	१०	६३
५	५	६८
६	२	७०
७	१	७१
८	०	७१

अब प्रश्न है कि उपभोक्ता किस स्थान पर रुक जावेगा? यह इस बात ...र निर्भर है कि उसको नारंगियों का क्या मूल्य देना पड़ता है। यदि हम ...न लें कि एक पैसा सीमान्त उपयोगिता की एक इकाई के बराबर है और ...दि नारंगी का मूल्य दस पैसा है, तो वह केवल ४ नारंगी खरीदेगा। यदि ...रंगी का मूल्य पाँच पैसा हो जावे, तो वह पाँच नारंगी खरीदेगा और ...दि नारंगी का मूल्य एक पैसा हो जावे तो वह सात नारंगी खरीदेगा। ...दि नारंगी बिना मूल्य मिलने लगे तो वह आठ नारंगी खरीदेगा। वह ...सी भी दशा में आठ नारंगियों से अधिक नहीं लेगा, क्योंकि उस दशा में ...से नकारात्मक उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता (disutility) प्राप्त होगी। ...ह उस स्थान पर नारंगियों को खरीदने से रुक जाता है जहाँ कि उस वस्तु की ...मान्त उपयोगिता और कीमत बराबर हो जाती है। यही सीमान्त खरीद (marginal purchase) कहलाती है और उससे मिलने वाली उपयोगिता ...सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। यह खरीदार के मन की उस स्थिति को ...कट करती है कि अब खरीदार का त्याग (कीमत चुकाना) और वस्तु की ...स इकाई से मिलने वाली उपयोगिता का लाभ बराबर हो जाता है। खरी-...दार इस स्थिति में सोच-विचार करने लगता है कि उसे यह वस्तु खरीदनी ...चाहिए अथवा नहीं, क्योंकि उसको जो त्याग करना पड़ता है, और जितना ...उसे उपयोगिता-लाभ होता है, यह बराबर हो जाता है। कोई

सीमान्त उपयोगिता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं:— सीमान्त उपयोगिता किसी वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि मैं ६ नारंगियाँ खरीदता हूँ तो छठी नारंगी सीमान्त नारंगी होगी। परन्तु सीमान्त उपयोगिता छठी नारंगी की उपयोगिता नहीं है क्योंकि पहली और छठी नारंगियों में कोई भेद नहीं है, वे स्वाद तथा आकार इत्यादि में ठीक एक समान हैं, अतएव यह कहना ठीक होगा कि अन्तिम इकाई से कुल उपयोगिता (total utility) में जो वृद्धि होती है वह सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) है।

जब कोई वस्तु बहुत से उपयोगों मे आ सकती है, तो उसका अन्तिम उपयोग, जिसको उस वस्तु की कीमत को देखते हुए किया जा सकता है, सीमान्त उपयोगिता कहलावेगा। अर्थात् उस परिस्थिति मे (उस कीमत पर) वह उपयोग सबसे कम महत्त्वपूर्ण होगा। यदि उस वस्तु की कीमत ऊँची चढ़ जावे तो उस वस्तु के उस अन्तिम उपयोग को त्याग दिया जावेगा।

प्रत्येक उपभोक्ता के भिन्न-भिन्न साधन होते हैं। कोई धनी व्यक्ति एक रुपये की नारंगी भी खरीदना चाहेगा तो किसी निर्धन को एक पैसा प्रति नारंगी भी मँहगी दिखलाई पड़ेगी। जो शंका और सदेह की सीमा पर होता है कि उस कीमत पर वस्तु को खरीदना चाहिये अथवा उसके बिना ही काम चला लेना चाहिये। और जो प्रचलित कीमत पर उसे खरीदने को तैयार होता है वह सीमान्त खरीदार या सीमान्त उपभोक्ता (marginal purchaser or marginal consumer) कहलाता है। वह उस वस्तु को नहीं खरीदता यदि कीमत तनिक भी ऊँची होती।

सीमान्त कोई निश्चित नहीं है। वह कीमत के ऊँचे होने अथवा नीचा होने से क्रमशः नीचा और ऊँचा रहता है।

सीमान्त उपयोगिता और कीमत ऊपर के वर्णन में यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि कीमत और सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। अर्थात् कीमत सीमान्त उपयोगिता को नापती है। उपभोक्ता उस स्थान पर रुक जाता है जहाँ कि कीमत और उपयोगिता बराबर होती है, और वही बिन्दु सीमान्त उपयोगिता का बिन्दु होता है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि उस वस्तु की सभी इकाइयाँ एक सी हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। यदि हम अन्तिम नारंगी को पहली के स्थान पर रख दें तो वह २० इकाई उपयोगिता देगी और पहली नारंगी को अन्तिम नारंगी (नवीं) के स्थान पर रक्खें तो

न एक इकाई उपयोगिता देगी। कहने का तात्पर्य यह है कि उनमें कोई हीं, वे एकसी हैं। अतएव जो कीमत सीमान्त इकाई (नारंगी) के ी जावेगी वही दूसरी इकाइयों के लिये दी जावेगी। इस लिये हम ते हैं कि सीमान्त उपयोगिता कीमत को निश्चित करती है।

सामाजिक सीमान्त उपयोगिता : ऊपर के वर्णन से यह तो स्पष्ट कि सीमान्त उपयोगिता वस्तु की कीमत निश्चित करती है। अब प्रश्न ।ठता है कि किसकी सीमान्त उपयोगिता वस्तु की कीमत को निश्चित । एक ही वस्तु की सीमान्त उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए ।गी। बाजार में जो सीमान्त उपयोगिता किसी वस्तु की कीमत निश्चित ार किसी एक व्यक्ति की नहीं हो सकती वरन एक प्रकार से सब ।ों की सीमान्त उपयोगिता का औसत होती है और जिसे हम सामाजिक उपयोगिता कह सकते हैं। उस वस्तु की सम्पूर्ण समाज के लिए यह उपयोगिता होती है। जबकि बहुत अधिक संख्या का प्रश्न होता है तो ।भिन्नतायें समाप्त हो जाती हैं और एक औसत स्थापित हो जाता है ही बाजार में किसी वस्तु के मूल्य को निश्चित करता है। अस्तु, बाजार । उस वस्तु के समस्त खरीददारों की सीमान्त उपयोगिता को व्यक्त ती क्योंकि भिन्न-भिन्न खरीददारों की आय और परिस्थितियां भिन्न

योगिता बढ जाती है, और जब पूर्ति अधिक होती है तो सीमान्त उपयो
घट जाती है, और जब वस्तु इतनी बहुलता से प्राप्त होने लगती है कि जो
जितनी चाहे प्राप्त कर सकता है तो सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती
जबकि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तो उसके लिए
कुछ देना नहीं पड़ता, वह हमें बिना कीमत मिलती है। अस्तु, माग (demar
की तुलना में पूर्ति की कमी ही कीमत को निश्चित करती है और कीमत सीम
उपयोगिता को निश्चित करती है। अतएव सीमान्त उपयोगिता पूर्ति (supp
पर निर्भर करती है।

सीमान्त उपयोगिता सापेक्ष होती है : किसी वस्तु की सीमान्त
योगिता बिलकुल स्वतन्त्र नहीं होती, उसका दूसरी वस्तुओं से सम्बन्ध होता
जब हम इस सोच विचार में पड़ जाते हैं, कि हम एक वस्तु को तनक अ
खरीदें अथवा दूसरी वस्तु को तनक अधिक खरीदें तो हम जाने अथवा अन
में उन दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता की तुलना भी करते
उदाहरण के लिए हम जाने अथवा अनजाने में दूध या फल की सीमान्त
योगिता की तुलना करेंगे जबकि हमें यह खरीदना होगा। इसी प्रकार ज
उद्योगपति के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कुछ मज़दूर अ
बढाये अथवा एक मशीन अधिक मोल ले तो वह दोनों की सीमान्त उपयो
की तुलना करता है। इस प्रकार हमारे मस्तिष्क में जब हम कोई वस्तु खर
को होते हैं, तो जाने या अनजाने में यह तुलना बराबर चलती रहती
कहने का तात्पर्य यह है, कि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का स
अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से होता है।

जब हम किसी वस्तु को खरीदना या उसका उपभोग करना बन्द
देते हैं, अर्थात् हम सीमान्त पर पहुँच गए तो हम यह निर्णय केवल उस
को ही ध्यान में रखकर नहीं करते, वरन हम उन अन्य वस्तुओं
ध्यान में रखकर करते हैं, जिन्हें हम खरीद सकते हैं। क
उपयोगिता-ह्रास नियम (law of diminishing utility) उस स
भी लागू होगा जब कि केवल एक ही वस्तु हो और अन्य वस्तुएँ ह
उपभोग के लिए न हों, परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि हमारे उपभोग के लि
अन्य वस्तुएँ हैं। बाजार में इतनी अधिक सख्या में वस्तुएँ विद्यमान हैं जि
हम खरीद सकते हैं कि एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं
सीमान्त उपयोगिता से बिना प्रभावित हुए नहीं रह सकती। हम थोड़ी
मिठाई खरीदने के बाद इसलिए रुक जाते हैं, क्योंकि हम थोड़े फल

चाहिए कि उपयोगिता वस्तु के अन्दर कोई गुण विशेष के कारण नहीं हो
उपयोगिता उपभोक्ता (consumer) के उस वस्तु के प्रति रुख पर नि
करती है। मिठाई में किसी व्यक्ति की आवश्यकता के तृप्त करने की शक्ति स
विद्यमान है, परन्तु यदि किसी व्यक्ति को मोतीझरे का ज्वर हो और डाक्टर
उसे मिठाई न खाने का आदेश दिया हो तो उसके लिए मिठाई को
उपयोगिता न होगी। अतएव किसी भी वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति
के लिए भिन्न होगी, वह एक समान नहीं हो सकती। वह उपभोक्ता (consu
mer) के मस्तिष्क की स्थिति पर निर्भर रहती है।

हम किसी व्यक्ति के मस्तिष्क की स्थिति को नाप नहीं सकते। हमारे प
कोई ऐसा नाप नहीं है कि जिससे हम किसी व्यक्ति को किसी वस्तु के उपभोग
कितनी गहरी तृप्ति मिलती है उसको नाप सकें। सच तो यह है कि उपभोक्ता
ही यह जान सकता है कि उसको किसी वस्तु के उपभोग से कितनी तृप्ति मि
रही है, कोई दर्शक उस तृप्ति का अनुमान नहीं कर सकता। उदाहरण के लि
एक व्यक्ति नारंगी खा रहा है तो वही यह जान सकता है कि उसको नार
खाने से कितनी तृप्ति मिल रही है, उसके पास खड़ा हुआ उसका मित्र या दर
यह मालूम नहीं कर सकता कि उसको कितनी तृप्ति मिल रही है। अर्थ शास्त्रि
ने द्रव्य (money) के द्वारा उपयोगिता को नापने का प्रयत्न किया
उनका कहना है कि कोई मनुष्य किसी वस्तु के लिए अधिक से अधिक कि
कीमत देने को तैयार होगा वही उस वस्तु की उस व्यक्ति के लिए उपयोगि
होगी। उदाहरण के लिए यदि मैं एक गाय खरीदना चाहता हूँ और उस गा
के मैं दो सौ रुपये से अधिक देने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैं मन में सोचता
कि यदि वह गाय दो सौ रुपये से कम में मिल जावे तो अच्छा, परन्तु मैं कि
दशा में उसके दो सौ रुपये से अधिक नहीं दूँगा। तो यह स्पष्ट हो जाता है कि
२०० रुपये का मेरे लिए उतना ही महत्त्व है जितना कि उस गाय का
उस स्थिति में मैं दुविधा में पड़ जाता हूँ कि उस गाय को खरीद लूँ अथवा
दो सौ रुपये बचा कर रक्खूं। इसी प्रकार यदि मैं एक घोड़े के लिए यदि दो
सौ रुपया देने को तैयार हूं तो मेरे लिए गाय और घोड़े की उपयोगिता बराबर
होगी। कहने का तात्पर्य यह कि जिन वस्तुओं के लिए मैं समान द्रव्य व्यय करने
के लिए तैयार हूं उनकी उपयोगिता मेरी दृष्टि में बराबर होगी।

परन्तु प्रो० पीगू का यह कथन ठीक है कि द्रव्य (money) किसी वस्तु
की उपयोगिता (utility) को नहीं नाप सकता वरन, वह केवल व्यक्ति की

इच्छा की गहराई को ही नापता है। हम यह नहीं कह सकते कि द्रव्य किसी वस्तु विशेष की उपयोगिता को नापता है वरन् वह उपभोक्ता का किसी वस्तु के लिए कैसा झुकाव है यही बतलाता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि हम इच्छा को नाप सकते हैं तृप्ति को नहीं नाप सकते। जब हम इस दुविधा में होते हैं कि दो वस्तुओं में से हम किनको लें तो हम उनसे होने वाली सम्भावित तृप्ति की तुलना करते हैं, न कि उनसे वास्तव में प्राप्त होने वाली तृप्ति की तुलना करते हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि प्राप्त होने वाली तृप्ति से सम्भावित तृप्ति अधिक होती है, कम या बराबर तो नहीं होती। सम्भावित तृप्ति को जानने में हमारा पुराना अनुभव तथा आदतें सहायता देती हैं और हम उनके द्वारा यह ज्ञात लेते हैं कि किन्हीं वस्तुओं से हमें कितनी तृप्ति मिलेगी। इस सम्बन्ध में यह न भूलना चाहिए कि इच्छा की गहराई या तीव्रता उस वस्तु से प्राप्त होने वाली वास्तविक तृप्ति से सर्वथा भिन्न होती है। तृप्ति को नापने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है, परन्तु इच्छा की गहराई या तीव्रता को हम द्रव्य से नाप सकते हैं।

परिच्छेद ६

समसीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equimarginal utility) तथा उपभोक्ता की बचत (Consumers Surplus)

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि आवश्यकताएँ एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं और एक दूसरे की पूरक भी होती हैं। आवश्यकताएँ एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं इस कारण उपभोक्ता को अधिक आवश्यक आवश्यकताओं तथा कम आवश्यक आवश्यकताओं में चुनाव करना पड़ता है। जहा तक उपयोगिता का प्रश्न है उपभोक्ता पहले उन वस्तुओं को चुनेगा जिनकी उपयोगिता उसके लिए अधिक है। इस प्रकार उपभोक्त जब भी किसी वस्तु को खरीदता अथवा उसका उपभोग करना चाहता है तो उसके सामने वस्तु की आवश्यकताएँ उपस्थित होती हैं। जब हम सोचते हैं कि किस वस्तु को थोड़ा ज्यादा या कम खरीदा जावे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता की तुलना करते हैं और उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उस वस्तु पर व्यय किए जाने वाले द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता का संतुलन स्थापित करते हैं। परन्तु सच तो यह है कि जब हम इस दुविधा में होते हैं कि अमुक वस्तु थोड़ी और अधिक अथवा थोड़ी कम खरीदी जावे तो हम वास्तव मे उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उन वस्तुओं अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता का सतुलन स्थापित करते हैं जो कि उस द्रव्य (mone) से खरीदी जा सकता हैं। इस प्रकार द्रव्य के द्वारा हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को ले सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य वह माध्यम है जिसके द्वारा प्रतिस्थापन (substitution)सम्भव हो सकता है। उदाहरण के लिए मेरे पास यदि १००) रुपये हैं तो मे उनका उपयोग भिन्न-भिन्न वस्तुओं के खरीदने पे करूंगा। मेरे सामने बहुत सी आवश्यकताएँ हैं, मैं उनमें से चुनाव करूंगा कि किनको पूरा किया जावे और किसको छोड़ा जावे।

सम सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equimarginal utility)

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह अपने साधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग करे। यह इसलिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसकी आवश्यकताएं

तुलना में उसके साधन कम हैं। प्रत्येक उपभोक्ता (consumer) का यह प्रयत्न होता है कि उसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो। इस उद्देश्य से वह कम उपयोगी के स्थान पर अधिक उपयोगी वस्तुओं को चुनेगा। प्रत्येक उपभोक्ता जाने अथवा अनजाने में इस चुनाव को बराबर करता रहता है। जब उसकी यह क्रिया समाप्त हो जाती है तो प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। यही वह नियम है जिसे अर्थशास्त्र में प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) अथवा उदासीनता का नियम (Law of Indifference) अथवा सम सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equimarginal utility), व्यय की मितव्ययिता का नियम (Law of Economy of Expenditure) अथवा अधिकतम तृप्ति नियम (Law of Maximum Satisfaction) कहा जाता है। यह प्रतिस्थापन इसलिए कहा जाता है क्योंकि हम एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को चुनते रहते हैं। इसे हम अधिकतम तृप्ति प्राप्ति नियम भी कहते हैं, क्योंकि हम उसके उपयोग के द्वारा अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसको समसीमान्त उपयोगिता का नियम भी कहते हैं, क्योंकि जब सब वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाती है तभी हमें अपनी आय से अधिकतम तृप्ति प्राप्त होती है। इसके द्वारा ही हम व्यय में मितव्ययिता करते हैं।

गोसन ने इस नियम को इस प्रकार प्रकट किया था। "यदि सभी आवश्यकताओं को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता तो अधिकतम तृप्ति प्राप्त करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की तृप्ति इस बिन्दु पर रोक दी जावे जब कि उन आवश्यकताओं की तीव्रता बराबर हो जावे।" प्रत्येक व्यक्ति अपने साधनों (द्रव्य या वस्तुओं) का वितरण भिन्न भिन्न उपयोगों के लिए इस प्रकार करता है कि जिससे प्रत्येक साधन की सीमान्त उपयोगिता अथवा प्रत्येक रुपया अथवा आना की सीमान्त उपयोगिता जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर व्यय किया जाय, बराबर हो। इसी प्रकार व्यय करने पर ही अधिकतम तृप्ति मिल सकती है।

यहाँ हमें यह न भूल जाना चाहिए कि दो भिन्न वस्तुओं की कुल उपयोगिता ([illegible] utility) बराबर नहीं हो सकती। कुल उपयोगिता [illegible] है, और उसको नापना भी असम्भव है। हम केवल [illegible] वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता को बराबर कर सकते हैं।

अब हम इस नियम की विशद व्याख्या करेंगे। जब कि उपभो एक वस्तु-विशेष पर जिसकी उसे बहुत अधिक आवश्यकता होती है, द्रव्य व्यय कर चुकता है, तो उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके लि कम होने लगती है और वह यह अनुभव करने लगता है, कि यदि वह की अतिरिक्त इकाइयाँ उस वस्तु पर व्यय न करके अन्य किसी वस्तु व्यय करे तो उसको अधिक तृप्ति या संतोष प्राप्त होगा। इसी प्रकार एक या बिन्दु के उपरान्त वह एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु खरीदता है, जब तक उसके पास जितना भी द्रव्य खर्च करने के लिए था वह सम हो जाता है। उस दशा में उसे सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो जाती यह स्थिति प्राप्त कर लेने पर वह कुल उपयोगिता (total utility) एक वस्तु पर जितना वह व्यय कर रहा है, उससे अधिक व्यय करके और दूसरी वस्तु पर कम व्यय करके नहीं बढा सकता। वरन् ऐसा करने में जो उपयोगिता मिल रही है, उससे कम उपयोगिता प्राप्त होगी। सबसे अधि उपयोगिता तो तभी प्राप्त हो सकती है जब कि प्रत्येक वस्तु और व्यय किए वाले व्यय की अन्तिम इकाई की उपयोगिता बराबर हो।

नीचे हम एक तालिका देते हैं जिसमे एक कल्पित व्यक्ति को गेहूं, फ वस्त्र तथा घी पर उत्तरोत्तर रुपये व्यय करके प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगि प्रकट की गई है।

द्रव्य की इकाइयाँ जो व्यय की गई	सीमान्त व्यय अथवा उत्तरोत्तर रुपयों मिलने वाली उपयोगिता				
	गेहूं	चावल	फल	वस्त्र	घी
एक रुपया	१००	८०	६०	८०	५०
दो रुपये	८०	५०	५०	७०	३०
तीन रुपये	६०	४०	३०	५०	२०
चार रुपये	५०	३०	२०	४०	१०
पांच रुपये	४०	२०	१५	२०	५
छह रुपये	३०	१५	५	५	३
सात रुपये	२०	१०	३	२	२
आठ रुपये	१०	५	१	१	१

यदि हम कल्पना करें कि उस कल्पित उपभोक्ता के पास उस दि १२ रुपये थे और वह इन १२ रुपयों को गेहूं, चावल, फल, वस्त्र और घ पर व्यय करना चाहता था। यह स्वाभाविक ही है कि वह इन रुपयों से अधि

उपयोगिता बराबर होगी, अर्थात् उसी दशा में हमें अपने १२ रुपयों से अधिक-तम उपयोगिता मिल सकेगी।
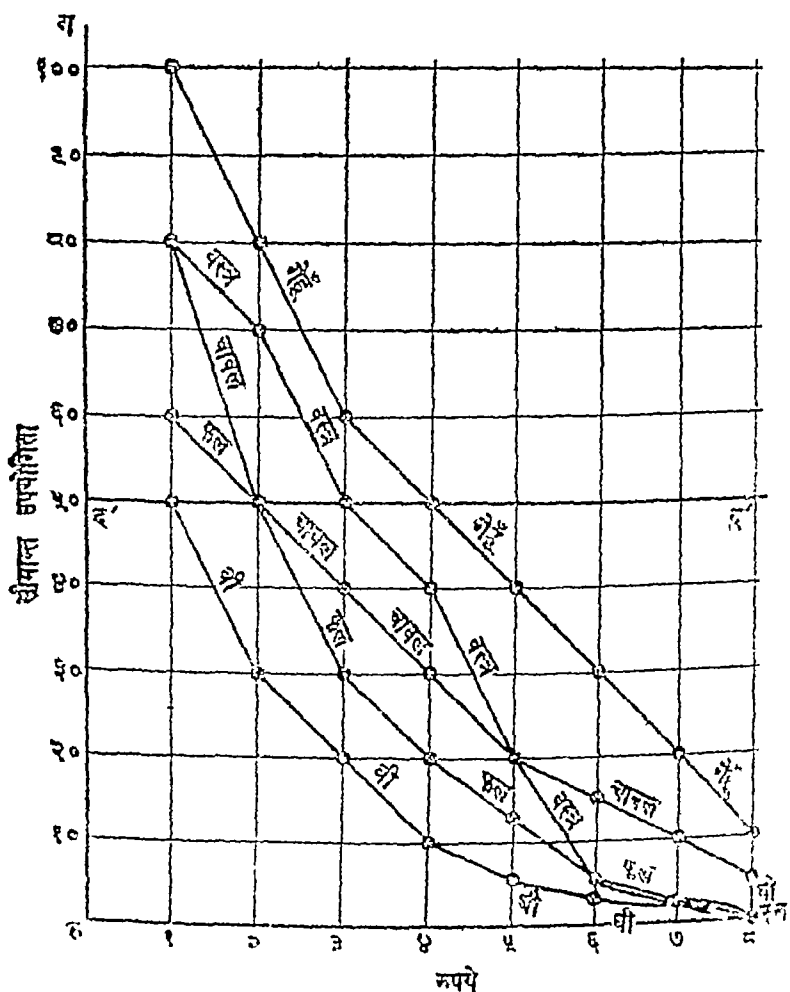
उदासीनता की वक्र रेखा (Indifference Curve) · प्रत्येक विचा-वान उपभोक्ता, उसकी तृप्ति (satisfaction) अधिकतम हो यह प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य से वह बराबर प्रतिस्थापन (law of substitution) का पालन करता है। यह हम पहले कह आये हैं कि प्रत्येक वस्तु के उपभोग में उपयोगिता ह्रास नियम (law of diminishing utility) लागू होता है। अतएव कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु को उसकी सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) से आगे उपभोग नहीं करेगा। यदि उपभोग के लिए केवल एक पदार्थ होता तो भी यह नियम लागू होता।

परन्तु व्यवहार में एक व्यक्ति के सामने उपभोग के लिए बहुत अधिक वस्तुएँ होती हैं और उसको उनमें से छाँटना पड़ता है। अपने उपभोग की इस प्रकार व्यवस्था करने के लिए कि उसको अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो उपभोक्ता (consumer) को केवल एक वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों की उपयोगिता की ही तुलना नहीं वरन एक वस्तु की एक इकाई की दूसरी वस्तुओं की इकाइयों से भी तुलना करनी पड़ती है। इस प्रकार एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से सम्बंधित है। सभी उपभोक्ता किसी वस्तु की किंचित मात्र अधिक मात्रा के स्थान पर दूसरी वस्तु की किंचित मात्र अधिक मात्रा को रख सकता है।

जब कि उपभोक्ता किसी वस्तु-विशेष का एक सीमा तक उपभोग कर लेता है तब हम कल्पना कर सकते हैं कि वह रुक जावेगा और सोचने लगेगा कि क्या उसे उसी वस्तु की अधिक इकाइयों का उपभोग करना चाहिए अथवा किसी दूसरी वस्तु का उपभोग आरम्भ करना चाहिए। यदि वह दूसरी बात पसन्द करता है तो वास्तव में वह पहली वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को प्रतिस्थापित करता है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि सीमान्त (margin) पर ही प्रतिस्थापन (substitution) होता। प्रतिस्थापन की क्रिया के द्वारा ही उपभोक्ता अपनी सभी खरीदी हुई वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता को बराबर कर सकता है। जब सब वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाती है तब फिर प्रतिस्थापन की इच्छा समाप्त हो जाती है। इसके आगे उपभोक्ता यदि एक वस्तु की कुछ इकाइयों के स्थान पर दूसरी वस्तु की कुछ इकाइयों को ले तो उसको उपयोगिता-लाभ नहीं होगा वरन उपयोगिता-हानि होगा। वह उदासीनता की स्थिति में पहुँच गया है। जब वस्तुओं की सीमान्त उपयोगितायें बराबर हो जाती हैं तो उपभोक्ता को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि वह किस वस्तु की कितनी इकाइयों का उपभोग करता है। वह इस [illegible] में उदासीन हो जाता है। यह उदासीनता की स्थिति वक्र रेखा (curve) के रूप में आ सकती है।

उदासीनता की वक्र रेखा (Indifference Curves) : उदासीनता की वक्र रेखा उन बिन्दुओं को कहते हैं जो [illegible] आधार रेखाओं से सम्बन्धित होते हैं [illegible] दो भिन्न वस्तुओं को प्रकट करते हैं। उदासीनता की वक्र रेखा पर कोई भी बिन्दु [illegible] यह उन दोनों वस्तुओं की उस मात्रा का [illegible] होता है कि उपभोक्ता [illegible] और उपभोक्ता की दृष्टि से [illegible] सीमान्त उपयोगिता बराबर

होगी। हम नीचे एक उपभोक्ता की उदासीनता की वक्र रेखा का चित्र द जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा।
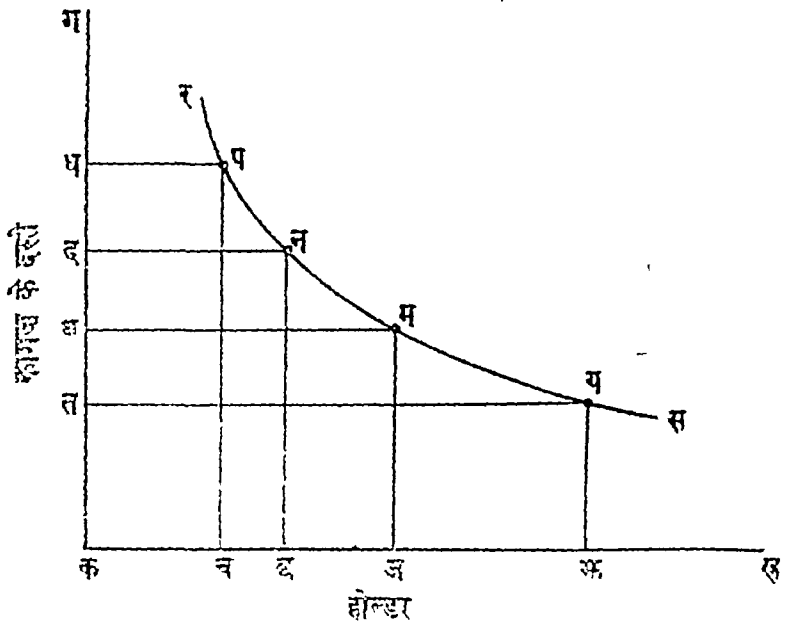
ऊपर हमने एक उपभोक्ता (जो कि एक विद्यार्थी है) की उदासीनता वक्र रेखा र स दी है। इस वक्र रेखा पर प, न, म, य चार बिन्दु हैं। बिन्दु हमे यह बतलाते हैं कि कितने होल्डर और कितने कागजों के दस्तों संयोग बराबर सन्तोषप्रद होगा। दूसरे शब्दों मे कितने होल्डरों की उपयोगिता कितने कागज के दस्तों के बराबर होगी। नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जावेगी।

(१) बिन्दु प से प्रकट होता है कि क च होल्डर तथा क ध कागज़ के दस्तों का संयोग बराबर सन्तोषप्रद है।

(२) बिन्दु न से प्रकट होता है कि क छ होल्डर क द कागज़ के दस्तों का संयोग बराबर सन्तोषप्रद है।

(३) बिन्दु म से प्रकट होता है कि क ज होल्डर क थ कागज़ के दस्तों का संयोग बराबर सन्तोषप्रद है।

(४) बिन्दु य से प्रकट होता है कि क झ होल्डर क त के कागज़ के दस्तों का संयोग बराबर सन्तोषप्रद है।

यह वक्र रेखा इस बात को प्रकट करती है कि उपभोक्ता इसमें से होल्डर

बाजार के दरों का कोई भी संयोग स्वीकार करें उन दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता बराबर होगी।
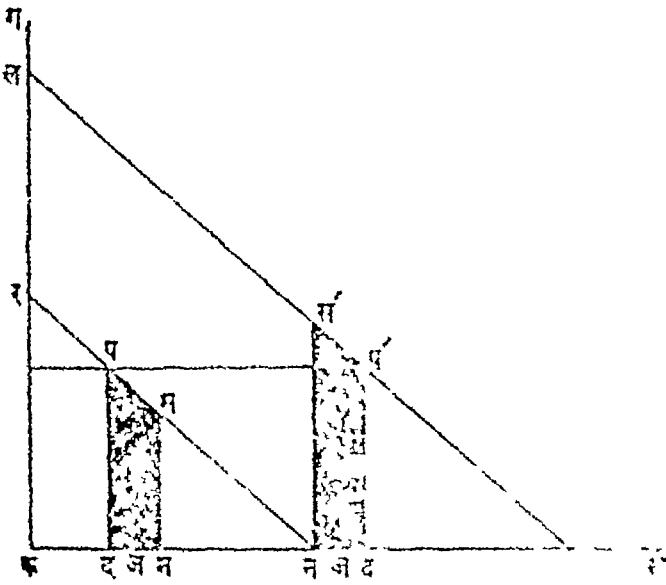
व्यय करने से दूध की सीमान्त उपयोगिता पहले से बढ़कर न' स' हो जावेगी और फलों की सीमान्त उपयोगिता घट कर न स रह जावेगी। जैसा कि रँगे हुए भाग से स्पष्ट है कि दूध की उपयोगिता में हानि अधिक होगी और फल द्वारा प्राप्त होने वाली उपयोगिता में वृद्धि कम होगी। तात्पर्य यह है कि पहले जितनी कुल उपयोगिता प्राप्त हो रही थी उससे कम उपयोगिता प्राप्त होगी, अर्थात् उपभोक्ता को अधिकतम उपयोगिता प्राप्त न हो सकेगी। अधिकतम उपयोगिता तभी प्राप्त हो सकेगा कि जब हम अपने रुपए को इस प्रकार व्यय करें कि प्रत्येक वस्तु की अथवा प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए गए द्रव्य की अन्तिम इकाई की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो।

यह ध्यान में रखने की बात है कि जब हम कहते हैं कि अधिकतम तृप्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब कि उपभोक्ता (consumer) इस प्रकार अपनी आय को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर व्यय करे कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गए द्रव्य की अन्तिम इकाई की उपयोगिता बराबर हो, तो हमारे इस कहने का तात्पर्य नहीं है कि उपभोक्ता ऐसा करने के लिए विवश है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि साधारणतः बुद्धिमान व्यक्ति अपने व्यय की व्यवस्था इस प्रकार करेगा कि उसको अपनी आय से जो वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर व्यय करता है, अधिकतम तृप्ति या उपयोगिता प्राप्त हो। परन्तु एक मूर्ख और बुद्धिहीन व्यक्ति इस नियम की अवहेलना भी कर सकता है। वह चाहे तो अपना अधिकाँश रुपया केवल शराब या मनोरंजन में व्यय करके फटे कपड़ों में भूखे रहकर एक पेड़ के नीचे पड़ कर समय बिता सकता है। परन्तु हम जानते हैं कि अधिकतर व्यक्ति व्यय करने में समझदारी से काम लेते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि उपभोक्ता अधिकतर स्वभाववश अनजाने में ही इस नियम का पालन करता है। जब वह छोटा मोटा व्यय करता है तो वह यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि किस वस्तु से उसको कितनी उपयोगिता मिलेगी, वह अनुभव से ही जानता है कि उसको कितना रुपया किस वस्तु पर व्यय करना उचित है। परन्तु जब वह कोई बड़ी रकम व्यय करता है तो अवश्य ही वह उससे मिलने वाली उपयोगिता की जाँच पड़ताल करता है।

यह नियम केवल, आज हमारे द्रव्य या आर्थिक साधनों का सबसे अच्छा उपयोग किस प्रकार हो सकता है यही नहीं बतलाता, वरन भविष्य के लिए भी लागू होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ अवश्य बचाता है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय के कुछ भाग को बचाता है तो वह बचत और व्यय को

मान्त उपयोगिता की तुलना इसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि वह अपने द्रव्य को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर व्यय करते समय करता है। हम कल्पना करें कि एक व्यक्ति को एक हज़ार रुपया मासिक की आमदनी है। यदि वह एक हज़ार रुपए को व्यय कर देता है तो यह स्पष्ट है कि पिछले ढाई सौ रुपये से प्राप्त होने वाली उपयोगिता बहुत कम होगी क्योंकि वह ७५०) रुपए से आराम से रह सकता है। ऐसी दशा में यदि वह १००० रु० व्यय करता है तो २५० रुपये, वह अपेक्षाकृत कम आवश्यक वस्तुओं पर व्यय करेगा और उनसे प्राप्त होने वाली उपयोगिता कम होगी। यदि वह यह २५० रुपए बचा कर रखे, तो आगे चलकर वे अधिक उपयोगी कार्यों पर व्यय होंगे और उनसे प्राप्त होने वाली उपयोगिता अधिक होगी। अस्तु, बचत और व्यय पर द्रव्य का विभाजन इस प्रकार किया जाता है कि बचाये हुए रुपयों (उदाहरण के लिए १०० रु०) की सीमान्त उपयोगिता व्यय किए हुए (१०० रु०) रुपयों की उपयोगिता के बराबर हो। तभी हम कह सकते हैं कि वह व्यक्ति अपनी आय से अधिकतम संतुष्टता प्राप्त कर रहा है और उसका व्यय आदर्श है।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूल भूत नियम है जो कि मनुष्य के आर्थिक कार्यों का स्पष्टीकरण करता है। प्रत्येक मनुष्य जाने अथवा अनजाने में इस नियम का पालन करता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह अपने सीमित साधनो का बहुत अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति करने मे अच्छे से अच्छा उपयोग किस प्रकार करता है। यही कारण है कि हम उत्पत्ति (production) उपभोग (consumption) विनिमय (exchange) तथा वितरण (distribution) सभी के अध्ययन में उसका व्यवहार पाते हैं।

प्रतिस्थापन नियम उपभोग (Consumption) मे लागू होता है। यदि उपभोक्ता बुद्धिमान है और अपने सीमित साधनों से अधिक तृप्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसको अपने व्यय की उचित व्यवस्था करनी पड़ेगी। ऐसा करने मे उसे प्रतिस्थापन नियम को अपनाना होगा। उपभोक्ता ऐसी वस्तु, जिसकी उसके लिए कम उपयोगिता है, के स्थान पर ऐसी वस्तु ले लेगा कि जिसकी उसके लिए अधिक उपयोगिता हो। इस प्रकार प्रतिस्थापन नियम का उपयोग करने पर ही वह ऐसी स्थिति मे पहुँचता है जबकि सभी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाती है। उसी दशा मे उसे अपने सीमित साधनो मे अधिकतम तृप्ति मिलती है। प्रत्येक उपभोक्ता जाने अथवा अन जाने मे इस नियम का पालन करता है। गृह-स्वामिनी इस नियम का बहुत अधिक उपयोग करती है।

इस नियम का उत्पादन (Production) में उपयोग: धन के उत्पादन में भी इस नियम का उपयोग होता है। व्यवसायियों के लिए इस नियम का बहुत अधिक उपयोग है। उसके पास जो उत्पत्ति के साधन हैं उनका सबसे अधिक अच्छा आर्थिक सयोग बिठाना ही उसका उद्देश्य होता है। तभी वह कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन कर सकता है। इसके लिए वह श्रम (labour) का पूंजी (यन्त्रों) से और पूंजी का श्रम से प्रतिस्थापन करता है अर्थात अदल-बदल करता है। अथवा भूमि और श्रम मे अदल-बदल करता है। जो साधन व्यवसायी को कम लागत मे सुविधा पूर्वक मिल जाता है व्यवसायी उसका अधिक उपयोग करने का प्रयत्न करता है; और उस साधन की किफायत करता है जिसकी लागत अधिक होती है और [illegible] है। उत्पादक का उद्देश्य यह होता है कि वह कम से कम

मात्रा में किसी वस्तु को उत्पन्न करे। प्रतिस्थापन के नियम के अनुसार वह भूमि, श्रम पूंजी तथा व्यवस्था को भिन्न-भिन्न मात्रा में लेकर उत्पादन करने का प्रयोग करता है। इन साधनों का जो संयोग सबसे किफायत का होता है उसी को उत्पादक अपना लेता है, क्योंकि उस संयोग के द्वारा ही वह वस्तु को कम से कम लागत में उत्पन्न कर सकता है। उसका उद्देश्य तभी सफल होगा कि जब प्रत्येक उत्पत्ति के साधन (factor of production) की सीमान्त उपज (marginal productivity) बराबर हो। यदि उसे यह ज्ञात हो कि एक साधन, उदाहरण के लिए श्रम (labour) की सीमान्त उत्पत्ति अधिक है और भूमि की सीमान्त उत्पत्ति कम है तो उसके लिए श्रम को बढ़ाना और भूमि को कम करना लाभदायक होगा। और वह एक को दूसरे से बदल देगा।

विनिमय (Exchange) में इस नियम का उपयोग : हम जब भी कोई विनिमय करते हैं तो यह नियम लागू होता है। विनिमय एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को लेने को ही कहते हैं। विनिमय में ही प्रतिस्थापन नियम स्वयं जुड़ा हुआ है।

हिस्सा मिलेगा यह उनकी सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) पर निर्भर रहता है। प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के अनुसार उसका हिस्सा मिलता है।

उत्पादक भिन्न-भिन्न उत्पत्ति के साधनों का उपयोग उसी सीमा तक करेंगे कि जब प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पत्ति बराबर हो। यदि ऐसा नहीं है और एक उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पत्ति अधिक है और दूसरे की कम है तो प्रतिस्थापन नियम तुरन्त लागू हो जावेगा और उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पत्ति बराबर हो जावेगी। इसी प्रकार प्रतिस्थापन नियम धन के वितरण को भी प्रभावित करता है, और उत्पत्ति के साधनों के हिस्से को निर्धारित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिस्थापन नियम मनुष्य के प्रत्येक आर्थिक प्रयत्न में व्यवहृत होता है। सच तो यह है, श्री गाविन्स महोदय के अनुसार यह नियम ही अर्थशास्त्र का आधार है। अपने सीमित साधनों के द्वारा बहुत अधिक आवश्यकताओं को तृप्त करने के लिए हमें इस नियम की ही शरण लेनी पड़ती है। सच तो यह है कि यदि हम इसे अर्थशास्त्र का नियम कहें तो गलत न होगा। अन्य नियम इसके अङ्ग मात्र हैं। यह नियम उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय तथा वितरण सभी को प्रभावित करता है।

क्या वास्तव में प्रतिस्थापन नियम व्यय का नियन्त्रण करता है? प्रश्न यह है कि क्या प्रतिस्थापन नियम व्यय को व्यवहार में नियन्त्रित करता है? प्रतिस्थापन नियम का उपयोग करने के लिए उपभोक्ता को किसी वस्तु से सम्भावित तृप्ति और उस पर व्यय किए जाने वाले द्रव्य तथा अन्य वस्तुओं पर उसी द्रव्य को व्यय करने में मिलने वाली तृप्ति का सावधानी से हिसाब लगाना पड़ता है, उनमें प्राप्त होने वाली तृप्ति की तुलना करनी पड़ती है। उपभोक्ता को ध्यानपूर्वक यह देखना पड़ता है कि जो द्रव्य वह किसी वस्तु को तनिक अधिक खरीदने में व्यय करेगा उसकी उपयोगिता तथा अन्य वस्तुओं की उपयोगिता में जो उस द्रव्य से प्राप्त हो सकती है, क्या अन्तर है।

प्रश्न है कि उपभोक्ताओं में कितने ऐसे होते हैं जो इतना गहरी छान-बीन करते हैं और उपयोगिता का हिसाब लगाते हैं? कितने उपभोक्ताओं में यह छान-बीन करने तथा हिसाब लगाने की क्षमता होती है और धैर्य होता है? सच तो यह है कि मनुष्य स्वभाव के वशीभूत हो कर ही व्यय करता है। [illegible] व्यवहार में न इस प्रकार का हिसाब ही लगाता और न इस प्रकार से।

छान-बीन हो करता है। हाँ असाधारण व्यय करते समय प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति थोड़ा सोच-विचार अवश्य करता है, और हम मोटे तौर पर कह सकते हैं, कि उस दशा में वह अधिकतम तृप्ति के नियम के अनुसार काम करता है। उस दशा मे भी यह आवश्यक नहीं कि सीमान्त उपयोगितायें बिलकुल बराबर ही होंगी।

अस्तु, यह कहना कठिन है कि व्यवहार मे मनुष्य प्रतिस्थापन नियम अथवा सम सीमान्त उपयोगिता (equimarginal utility) के नियम के अनुसार व्यय करता है। अर्थशास्त्र के नियम तो केवल प्रवृत्ति बतलाते हैं वे यह नहीं बतलाते कि क्या है, वरन वे यह बतलाते हैं कि क्या होना चाहिए। मनुष्य समसीमान्त उपयोगिता के नियम के अनुसार व्यय करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि बुद्धिमान उपभोक्ता जाने अथवा अनजाने में इस नियम के अनुसार व्यय करते हैं। मूर्ख और अपव्ययी लोग बहुधा इस नियम की नितान्त अवहेलना करते देखे जाते हैं।

प्रतिस्थापन नियम तथा उपयोगिता ह्रास नियम : उपयोगिता ह्रास नियम हमें बतलाता है कि जैसे-जैसे हमें कोई वस्तु अधिकाधिक मात्रा मे उपभोग के लिए प्राप्त होती जाती है उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। जब हम किसी वस्तु का उपभोग करते होते हैं तो एक ऐसी स्थिति आजाती है कि जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि उस वस्तु पर अब अधिक व्यय करना उचित नहीं [illegible]। इस स्थिति मे हम यह अनुभव करने लगते हैं कि उपभोग [illegible] की आवश्यकता है और अब हमें अन्य किसी वस्तु की कुछ मात्रा [illegible] चाहिए। इस प्रकार उपयोगिता ह्रास नियम (law of diminishing utility) प्रतिस्थापन नियम का एक प्रकार से जनक है। यदि उपयोगिता ह्रास [illegible] मे लागू न होता और सीमान्त उपयोगिता घटने के स्थान पर बढ़ती जाती तो एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के उपभोग का प्रश्न ही नहीं [illegible]। [illegible] एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपभोग करना चाहते हैं [illegible] कि [illegible] वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घटती जाती है।

इसी प्रकार [illegible] ह्रास नियम [illegible] diminishing [illegible] प्रतिस्थापन नियम का जनक है। [illegible] ह्रास नियम लागू होने के कारण ही हम एक साधन के स्थान (factor of

production) के स्थान पर दूसरे साधन का उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए जब एक व्यवसायी उत्तरोत्तर अधिकाधिक श्रम (labour) का उत्पादन में अधिक उपयोग करता जावेगा तो श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (marginalproductivity) कम होती जावेगी। एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि जब व्यवसायी को यह उचित प्रतीत हो कि अब अधिक श्रम न लगा कर मशीन का अधिक उपयोग किया जावे। यदि कोई व्यवसायी अधिकतम लाभ कमाना चाहता है तो इस सम्बन्ध में उसे बहुत सावधान रहना चाहिए। उसे उस साधन के उपयोग को तुरन्त छोड़ देना चाहिए कि जिसकी सीमान्त उत्पत्ति उसकी लागत से कम हो और उसके स्थान पर उसको दूसरा साधन उपयोग में लाना चाहिए। उत्पत्ति के साधनों (factors of production) के प्रतिस्थापन की आवश्यकता केवल इसलिए होती है क्योंकि सीमान्त उत्पत्ति घटती है। यदि सीमान्त उत्पत्ति घटने के स्थान पर बढती अर्थात् क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता तो फिर प्रतिस्थापन की आवश्यकता नहीं होती। अतः क्रमागत ह्रास नियम के कारण ही उत्पादन में प्रतिस्थापन नियम लागू होता है।

उपभोक्ता की बचत (consumers surplus) : उपभोक्ता की बचत का विचार सबसे पहले प्रोफेसर मार्शल ने हमें दिया। प्रत्येक मनुष्य जो कि वस्तुओं का उपभोग करता है, उपभोक्ता की बचत को अनुभव करता है। प्रो० मार्शल ने उसी अनुभव को स्पष्ट करने तथा उसे एक निश्चित स्वरूप देने का प्रयत्न किया है।

हम जब बाजार में किसी वस्तु को खरीदने जाते हैं तो हमें बहुधा यह अनुभव होता है कि हम उस वस्तु के लिए उससे अधिक कीमत देने को तैयार हो जाते जितने पर वह हमें मिल गई। वह बचत हम अन्य किसी वस्तु के खरीदने में व्यय कर देते हैं। यह हमारे आए दिन का अनुभव है। यह उपभोक्ता की बचत कहलाती है।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु की कुल उपयोगिता (total utility) और उसके लिए व्यय किये जाने वाले द्रव्य की कुल उपयोगिता के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं। यदि हम इसे द्रव्य (money) में व्यक्त करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता की बचत (consumers surplus) किसी वस्तु के लिये जितना मूल्य हम देने को तैयार हैं और जितने मूल्य पर वह मिल जाती है उसके अन्तर को कहते हैं।

प्रो० मार्शल के शब्दों में हम उपभोक्ता की बचत की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं। "उपभोक्ता की बचत कीमत की उस अधिकता या अन्तर को कहते हैं कि जो हम किसी वस्तु को खरीदने के लिए देने को तैयार हैं और जिस कीमत पर हमें वह वस्तु मिल जाती है।

हम इसको इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं। उपभोक्ता की बचत = वस्तु की कुल उपयोगिता—उस पर व्यय किए गए द्रव्य की कुल उपयोगिता।

द्रव्य में उपभोक्ता की बचत का हिसाब इस प्रकार लगाया जा सकता है।

उपभोक्ता की बचत=द्र – की × मा

यहाँ द्र से हमारा तात्पर्य उस द्रव्य से है जो हम उस वस्तु को पाने के लिए व्यय करने को तैयार थे। की से हमारा तात्पर्य हमारा उस कीमत से है कि जिस पर हमें वह वस्तु मिल जाती है। मा से हमारा तात्पर्य वस्तु की उस मात्रा से है जो हमने खरीदी।

व्यवहार में यदि देखा जाय तो हमें उन वस्तुओं के खरीदने में उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक प्राप्त होता है जो कि बहुत सस्ती और बहुत उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए पोस्टकार्ड, दियासलाई, निब, समाचार-पत्र, नमक इत्यादि। ये वस्तुएँ बहुत सस्ती हैं और साथ ही इनके बिना हमारा काम भी नहीं चल सकता अर्थात् वे बहुत उपयोगी हैं। यदि आवश्यकता हो तो हम उनके लिए जितनी कीमत देते हैं उससे अधिक कीमत देने के लिए तैयार हो जावेंगे, परन्तु उनको हम खरीदेंगे अवश्य। अस्तु; उनके कम कीमत पर मिलने से सदा हमें उनसे अतिरिक्त तृप्ति प्राप्त होती है। क्योंकि उस वस्तु से मिलने वाली कुल उपयोगिता उसके लिए खर्च किये जाने वाले द्रव्य की उपयोगिता से अधिक है। इसी अधिक तृप्ति को उपभोक्ता की बचत कहते हैं।

एक उदाहरण देकर उपभोक्ता की बचत (consumers surplus) को अधिक स्पष्ट समझाया जा सकता है। हम नीचे एक व्यक्ति की नारंगी से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तालिका देते हैं—

नारंगियों की संख्या	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
	इकाई	इकाई
१	१०	१०
२	१८	८
३	२४	६
४	२८	४
५	३०	२

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि उपभोक्ता पांच नारंगी खरीदता है तो नारंगी की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए २ होगी। बाजार में नारंगी की कीमत दो आना है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि वह जो दो आने नारगी पर व्यय करता है उसकी सीमान्त उपयोगिता दो इकाई होने के कारण दो आने की सीमान्त उपयोगिता भी दो इकाई होगी। अब हम देखें तो हमको स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि दो आने की उपयोगित दो इकाई है और हमने पाच नारगी खरीदी अर्थात ५×२=१० इकाई उपयोगिता हमने पांच नारंगियों के लिए दी और हमें पांच नारंगियों से कुल उपयोगिता ३० इकाई प्राप्न हुई तो यह स्पष्ट है कि हमें २० इकाई उपयोगिता अधिक प्राप्त हुई। यही उपभोक्ता की बचत है।

यदि हम उपयोगिता को द्रव्य अर्थात आनों मे नापे तो भी हम इसी प्रकार उपभोक्ता-बचत को आनों में जान सकते हैं। नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जावेगा ।

नारगी	कुल उपयोगिता आनों में	सीमान्त उपयोगिता आनों में
१	१०	१०
२	१८	८
३	२४	६
४	२८	४
५	३०	२

प्रत्येक नारगी के लिये हमे बाजार मे दो आने देने पड़ते हैं अर्थात हम कुल पाच नारगी के लिये १० आने खर्च करेंगे और हमको कुल ३० आने की उपयोगिना प्राप्त होगी । अर्थात हम २० आने की उपभोक्ता की बचत होगी। इसको हम आगे दिये चित्र द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं।

क ख लाईन नारगियों की सख्या प्रकट करती है 'क ग' लाइन नारंगियों के मूल्य (अथवा उपयोगिता की इकाई) को प्रकट करती है। क्योंकि प्रत्येक नारंगी का मूल्य दो आना है अतः पांचो नारंगियो का मूल्य (१० आने) उस हिस्से मे प्रकट होता है कि जो रंग मे भरा हुआ है। शेष जो भाग खाली है वह उपभोक्ता की बचत (२० आने या २० इकाई) प्रकट करता है। इसको हम तनक और स्पष्ट करेंगे।

अब हम तीनों अवस्थाओं में उपभोक्ता-वचत का चित्र किस प्रकार का होगा यह वतलाने का प्रयत्न करेंगे।

इस चित्र मे क ग र ल से वस्तु के उपभोग से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता प्रकट होती है। इसमे क स र ल उस उपयोगिता को प्रकट करता है जो हमने कीमत के रूप मे दी है (यहाँ हमे यह ध्यान में रखना चाहिए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पूर्ववत है, उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ है) अत हमे ग स र उपभोक्ता-वचन प्राप्त होती है।
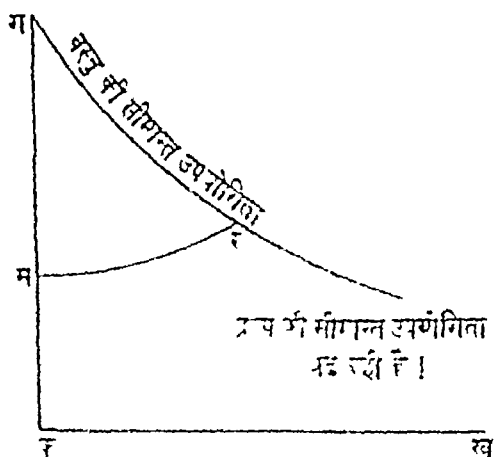
दूसरा चित्र उस अवस्था को प्रकट करता है कि जैसे-जैसे हम एक वस्तु को अधिकाधिक खरीदते जाते हैं और उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी द्रव्य की इकाई देते हैं द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है।

देखने में यह अत्यन्त सरल प्रतीत होता है। किन्तु उपभोक्ता की बचत को ठीक-ठीक मालूम करना इतना सरल नहीं है कि जितना हमें प्रतीत होता है। उपभोक्ता की बचत को ठीक-ठीक मालूम करने में बहुत सी कठिनाइयें उपस्थित होती हैं जो नीचे लिखी हैं।

(१) मांग-मूल्यों (demand prices) **की पूरी सूची हमारे पास नहीं होती :** सबसे पहली कठिनाई उपभोक्ता की बचत को जानने में यह उपस्थित होती है कि हम मांग अनुसूची (demand schedule) के एक अंश को ही जानते हैं। कोई भी व्यक्ति पूरी मांग अनुसूची को नहीं जनता। कहने का तात्पर्य यह कि हम नहीं जानते कि किसी व्यक्ति की प्रत्येक इकाई के लिए हम कितनी क़ीमत देने के लिए तैयार हैं। अस्तु उपभोक्ता की बचत को मालूम नहीं किया जासकता। हम कुछ इकाइयों के लिए जो क़ीमत देने के लिए तैयार हैं वह हमारा केवल अनुमान मात्र है, अतएव सैद्धान्तिक रूप से यह आपत्ति सही है। परन्तु व्यवहार मे हमारी माग का अनुसूची के उस अंश से ही सम्बध होता है जिससे हम परिचित होते हैं। वस्तु की क़ीमत में थोड़ा परिवर्त्तन होने से हमारी माग पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा उसे प्रत्येक व्यक्ति भली भाति जानता है। वास्तविक जीवन में हमें औपकाल्पनिक दुष्प्राप्यता मूल्यों (scarcity prices) से काम नहीं पड़ता।

(२) उपभोक्ता का बचतको मालूम करने में दूसरी कठिनाई यह है कि जीवन के लिए जो अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएँ हैं और जो रूढिगत आवश्यता (conventional necessaries) हैं उनकी उपभोक्ता की बचत अनिश्चित है। उसको नापना या मालूम करना असम्भव है। उदाहरण के लिए जीवित रहने के लिए जितने भोजन की आवश्यता के लिए मनुष्य क्या नहीं दे देगा। अस्तु उनकी उपभोक्ता की बचत मालूम करना असम्भव है। जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं तथा रूढिगत आवश्यताओं को पूरा करने मे वास्तव में कोई निश्चित सतोष या तृप्ति (positive satisfaction) प्राप्त नहीं होती। इन आवश्यकताओं (wants) को पूर्ण करने से केवल वह कष्ट मिटजाता है जो कि उनके पूरा न करने पर होता। उनसे कोई सुख या सतोष प्राप्त नहीं होता। कुछ अर्थ-शास्त्रियों (पैटन) ने उसे कष्ट की अर्थ-व्यवस्था (pain economy) के नाम से पुकारा है। उनका कहना है कि जब अनिवार्य आवश्यकताएं (necessaries) पूरी हो जाती हैं तभी उपभोक्ता की बचत प्रकट होती है। जब अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हो चुकती हैं तभी सुखकारी अर्थ-व्यवस्था (pleasure economy) प्रारम्भ होती है, अर्थात् उपभोक्ता की बचत प्रकट होती है।

का हिसाब लगाते हैं तो पहली इकाइयों की घटी हुई उपयोगिता का ध्यान नही रखते। उपभोक्ता की बचत को ठीक-ठीक मालूम करने के लिए यह आवश्यक हो जावेगा कि मॉग मूल्यों की सूची (demand prices list) फिर-फिर बनाई जाती रहे। यह आपत्ति उस समय तो ठीक थी कि यदि हम वस्तु की प्रत्येक इकाई की औसत उपयोगिता लेते न कि अतिरिक्त उपयोगिता क्योंकि औसत उपयोगिता तो बदलती है किन्तु अतिरिक्त उपयोगिता (additional utility) को बदलने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम पिछली नारंगियों की तालिका लें और यदि हम दो नारंगिया खायें तो हमारी औसत उपयोगिता ६ होगी और यदि हम ३ नारंगिया खायें तो औसत उपयोगिता ८ होगी, किन्तु सीमान्त उपयोगिता मे या अतिरिक्त उपयोगिता में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नही होगी, फिर चाहें कितनी इकाइया खरीदी जावें। प्रो० पीगू ने भी इस सम्बन्ध में लगभग यही मत दिया है। उनका कहना है कि इसकी सम्भावना बहुत कम है कि किसी वस्तु के उपभोग (consumption) में थोडे से परिवर्तन मात्र से उस वस्तु की पूर्व इकाइयो की उपयोगिता मे कोई बड़ा अन्तर आजावेगा। जब कि उस वस्तु के उपभोग मे बहुत अधिक परिवर्तन हो तभी इस बात की सम्भावना हो सकती है।

इसके अतिरिक्त उपभोक्ता की बचत को ठीक-ठीक नापने में यह कठिनाई और उपस्थित होती है कि प्रत्येक वस्तु की कुछ स्थानापन्न वस्तुएँ (substitutes) होती हैं, अतएव उन स्थानापन्न वस्तुओं की उपयोगिता को मालूम करना कठिन होता है। मार्शल ने इस कठिनाई को हल करने का सुझाव यह रक्खा कि उन वस्तुओं को जो कि एक दूसरे की स्थानापन्न हैं, एक वस्तु ही मान लिया जावे। उदाहरण के लिए चाय और कहवा एक ही वस्तु मानी जानी चाहिए।

प्रतिष्ठा के लिए खरीदी जाने वाली वस्तुओं की समस्या: कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जो प्रतिष्ठा के लिए खरीदी जाती हैं। उदाहरण के लिए हीरा। यदि हीरों की कीमत गिर जाय तो उससे हीरों की माग बढ़ नहीं जावेगी। जब इस प्रकार की वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं तो उनके उपभोग से शान-शौकत नहीं बढ़ती। अतएव उनकी मॉग घट सकती है। अस्तु, इस प्रकार की वस्तुओं की यदि कीमत गिर जाय तो उससे उपभोक्ता की बचत में कोई वृद्धि नहीं होगी।

ऊपर के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता की बचत को ठीक-ठीक जान सकना असम्भव है। किन्तु इसी कारण उपभोक्ता की बचत

विचार वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि यह ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जो सही नहीं हैं। उपभोक्ता की बचत को जानने के लिए यह मान लिया जाता है कि उपयोगिताओं को ठीक-ठीक नापा जा सकता है और उनको द्रव्य में परिणत किया जा सकता है। साथ ही इसमें यह भी मान लिया जाता है कि वस्तु की भिन्न-भिन्न इकाइयों की भिन्न-भिन्न उपयोगिता होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता (utility) को निरपेक्ष (absolute) मान लिया गया है जो कि वह वास्तव में नहीं है। जैसे-जैसे हम अधिकाधिक द्रव्य (money) व्यय करते जाते हैं वैसे-वैसे जो द्रव्य हमारे पास बच रहता है उसकी इकाइयों की उपयोगिता हमारे लिए अधिक होती जाती है, और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) कम होती जाती है। इससे उपभोक्ता की बचत को ठीक जानना कठिन हो जाता है।

अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) तथा रूढिगत आवश्यकताओं (conventional necessaries) के सम्बध मे तो उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त लागू ही नहीं होता। क्योंकि इनके लिए तो उपभोक्ता सब कुछ दे सकता है, अतएव इन वस्तुओं की उपयोगिता तो असीम होगी। एक करोड़पती मरुभूमि में प्यास के कारण मरने की स्थिति में एक गिलास पानी का एक लाख रुपए तक दे सकता है, परन्तु उसे एक पैसे में ही पानी मिल जाता है तो अर्थशास्त्री यह कह सकता है कि उसको ९९९९९ रु० १५ आने ६ पाई की उपभोक्ता की बचत प्राप्त होगई। परन्तु करोड़पति को यह विश्वास दिलाना कि उसे इतनी अधिक उपयोगिता प्राप्त होगई है तनिक कठिन होगा।

अस्तु, आलोचकों का कहना है कि यह सारा विचार ही भ्रमोत्पादक, ओपकाल्पनिक और अवास्तविक है। प्रत्येक समय मनुष्य यह नहीं कह सकता कि वह किसी वस्तु के लिए उतना मूल्य तक देने को तैयार है। बाजार में जब वह किसी वस्तु को खरीदने के लिए जाता है तो वह इस प्रकार कभी नहीं सोचता। बाजार मे उस वस्तु का जो मूल्य है उस पर वह उस वस्तु को कितनी मात्रा मे खरीदेगा उसे केवल यही निश्चय करना पड़ता है। अतएव उपभोक्ता की बचत का विचार अवास्तविक है। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि यदि उपभोक्ता को बचत प्राप्त हो तो उपभोक्ता में उस वस्तु को अधिकाधिक मात्रा मे खरीदने की चाह उत्पन्न होगी और वह वहीं तक खरीदता जायगा जहाँ तक कि उपभोक्ता की बचत समाप्त नहीं हो जाती। विद्वानों का कहना है कि उपभोक्ता की बचत रह ही नहीं सकती।

(२) उपभोक्ता की बचत के नियम का दूसरा लाभ राजस्व (public finance) में दृष्टिगोचर होता है। जब कि किसी देश का अर्थमंत्री नये कर लगाने की बात सोचता है तो वह इस बात का विचार करता है कि अधिकांश जनता किसी वस्तु के लिए कितनी कीमत तक देने को तैयार है। यदि मैं नया कर उस वस्तु पर लगा दूंगा तो उस वस्तु की कीमत कितनी बढ जावेगी। जब लोगों को किसी वस्तु में उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है तो उस पर कर लगाने से उसकी मांग (demand) पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है और कर आसानी से लगाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि कर लगाने मे जो वस्तु का मूल्य बढ़ेगा उससे वस्तु की मांग अधिक कम नहीं होगी। परन्तु इस प्रकार का कर (tax) जनता के लिए अधिक कष्टप्रद होता है, क्योंकि अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) पर उपभोक्ता की बचत अधिकतम होती है।

(३) एकाधिकार मूल्य (monopoly value) को निर्धारित करने में भी इस नियम का महत्त्व है। जब कोई एकाधिकारी (monopolist) तथा व्यवसायी देखता है कि उसके द्वारा बेची जाने वाली वस्तु में लोगों को यथेष्ट उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है तो वह उस वस्तु का मूल्य बढा देता है, क्योंकि वे उस वस्तु की अधिक कीमत भी देने को तैयार होंगे। व्यापारिक नीति के अनुसार व्यवसायी अथवा एकाधिकारी जितनी उपभोक्ता की बचत लोगों को प्राप्त होरही है उतनी ही उस वस्तु की कीमत नहीं बढावेगा कुछ कम बढ़ावेगा, जिससे कि उपभोक्ता भी प्रसन्न रहें और उसको लाभ भी अधिक मिले। वह सारी की सारी उपभोक्ता की बचत उनसे नही छीनेगा, उसका कुछ अंश ही लेगा।

(४) उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त से हम विनिमयमूल्य (value in exchange) तथा उपयोग मूल्य (value in use) के अंतर को भली भाँति समझ सकते हैं। इस नियम से हमें यह समझने में आसानी होती है कि किसी वस्तु के बाजार मूल्य (market value) तथा उपयोग मूल्य में अन्तर है। नमक, दियासलाई, सुई, निब इत्यादि वस्तुओं का विनिमय मूल्य बहुत कम है परन्तु उनका उपयोग मूल्य बहुत अधिक है। इन वस्तुओं में उपभोक्ता की बचत बहुत अधिक प्राप्त होती है। इनके लिए हम जो कीमत देते हैं उससे कहीं अधिक कीमत देकर भी हम उन्हें खरीदने के लिए तैयार होंगे। उपभोक्ता की बचत के नियम से हमें यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु

लिए हम जो कीमत देते हैं वह उससे प्राप्त होने वाली कुल तृप्ति से कम
ही है। उपभोक्ता की बचत (consumer's surplus) कुल उपयोगिता
total utility) अर्थात् उपयोगिता मूल्य पर निर्भर रहती है, जब कि
मत (price) या विनिमय मूल्य (value in exchange) सीमान्त
पयोगिता के बराबर होता है। अस्तु, उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त से
म उपयोगिता-मूल्य तथा विनिमय-मूल्य के भेद को भली भाँति जान सकते हैं।

(५) उपभोक्ता की बचत से हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (internat-
ional trade) से होने वाले लाभ को जान सकते हैं। जब हम किसी दूसरे
श से व्यापार करते हैं तो हम उन वस्तुओं का आयात (import) करते हैं
(जो सस्ता होती हैं। इन वस्तुओं पर आयात (import) करने से पूर्व हम
अधिक व्यय करते थे। अस्तु हम उनका आयात करके कुछ बचत करते हैं।
[illegible] उन वस्तुओं के आयात से होने वाली उपभोक्ता की बचत को हम
[illegible] से जान सकते हैं। पहले उन वस्तुओं पर हम जो व्यय करते थे उसमें
[illegible] यदि हम उस रकम को घटावें जो अब हम व्यय करते हैं तो हमें ज्ञात हो
[illegible] कि हम कितनी बचत हुई। जिन वस्तुओं का हम आयात (import)
[illegible] हैं उनसे हमें अतिरिक्त उपयोगिता (surplus utility) प्राप्त होती है।
[illegible] अतिरिक्त उपयोगिता जितनी ही अधिक होगी उतना ही अन्तर्राष्ट्रीय
व्यापार से अधिक लाभ समझना चाहिये। अस्तु; अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने
वाले लाभ को उपभोक्ता की बचत से नापा जा सकता है।

आरम्भ में वस्तु-स्थिति यही थी। उपभोक्ता अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मांग करता या आर्डर देता था, तब कारीगर उन वस्तुओं को बनाता था। उदाहरण के लिए जब किसी को जूते या कपड़े अथवा हल इत्यादि की आवश्यकता होती थी तो वह क्रमशः चमार, जुलाहे तथा बढ़ई को आर्डर देते थे। ये कारीगर उपभोक्ताओं की माग पर ही वस्तुओं को उत्पन्न करते थे। वे उपभोक्ताओं की माग की प्रतीक्षा करते रहते थे। उपभोक्ता जिस डिजाइन, आकार, रंग या सूरत की वस्तु चाहता था कारीगर वैसी वस्तु उसे बना देता था। उपभोक्ता को ठीक वही वस्तु मिलती थी जो कि वह चाहता था। वास्तव में वह आर्थिक जगत् का राजा था और सारी आर्थिक क्रियायें उसकी इच्छानुसार होती थीं।

किन्तु आधुनिक उत्पादक (producer) माग आने पर वस्तु का उत्पादन नहीं करता, वह माग का अनुमान करता है। आज साहसी का यह कार्य है कि वह उपभोक्ताओं की मांग को पहले से ही पढ़ने का प्रयत्न करता है। उसकी कुशलता और चतुराई इसमे होती है कि वह उपभोक्ताओं की माग का सही-सही अनुमान करले और उसी वस्तु का उत्पादन करके बाजार में उस वस्तु को रक्खे। आजकल उत्पादन सम्भावित मांग (demand) के आधार पर किया जाता है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उपभोक्ता का उत्पादन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। उपभोक्ता की इच्छाओं का उस पर पूरा प्रभाव पड़ता है। यदि उत्पादनकर्ता इतना चतुर और बुद्धिमान नहीं है, अथवा वह उस वस्तु की क़ीमत इतनी अधिक रख देता है कि जो उपभोक्ताओं की जेब के लिए अनुकूल नहीं है, या उनकी सामर्थ्य के बाहर है, अथवा उसने उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति (purchasing power) के सम्बन्ध में गलत अनुमान लगा लिया है तो उसकी वस्तुएँ बिक नहीं सकेंगी। कुछ समय तक चाहे वह घाटा सहकर भी बहादुरी के साथ उत्पादन कार्य में जुटा क्यों न रहे, परन्तु अन्त में वह समाप्त हो जावेगा। वह तभी जीवित रह सकता है और पनप सकता है कि जब वह अपनी वस्तुओं को उपभोक्ताओं की रुचि के अनुकूल बनावे और उनकी क्रय शक्ति को ध्यान में रखकर उसका मूल्य निर्धारित करे। इसके विपरीत यदि कोई उत्पादक उपभोक्ताओं की रुचि तथा उनकी क्रयशक्ति का ठीक-ठीक अनुमान करके उसके अनुसार उत्पादन कार्य करता है तो उसको अवश्य लाभ होता है और वह समृद्धिशाली बनता है।

पूंजीवादी पद्धति में वही कारबार सफल हो सकता है जो कि उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को सबसे अधिक पूरा करता है, अर्थात् जो उनको सब

अधिक संतोष प्रदान करता है। समाज को तभी अधिकतम लाभ होगा जबकि उपभोक्ता को अधिकतम तृप्ति होगी अन्यथा नहीं। उपभोक्ता जिस प्रकार अपना काम करता है उससे वह उत्पादन का नियन्त्रण करता है और किन वस्तुओं का उत्पादन होना चाहिये यह निश्चित करता है। वास्तव में उपभोक्ता अपने रुपयों के द्वारा जो कि वह वस्तुओं पर व्यय करता है उत्पादन का नियंत्रण करता है। जिस प्रकार चुनाव में जनता अपना मत देकर शासन का नियंत्रण करती है उसी प्रकार आर्थिक जगत में उपभोक्ता अपना रुपया या धन व्यय करके उत्पादन का नियंत्रण करता है। यदि उपभोक्ता अच्छी, सुन्दर कारीगरी का तथा उपयोगी वस्तुओं को छोड़ कर भद्दी, कलाविहीन तथा हानिकर वस्तुओं की ओर झुक जावें और उन पर वह अधिक धन व्यय करने लगें तो उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन करने लगेंगे। उपभोक्ताओं का आदेश उत्पादकों को शिरोधार्य करना ही पड़ता है, फिर चाहे वह बुद्धिमत्तापूर्ण हो अथवा मूर्खतापूर्ण हो।

उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता की सीमाएँ : परन्तु ऊपर के विवरण से यह मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिए कि उपभोक्ता की सत्ता या अधिकार असीम है। सच तो यह है कि उसकी यह सत्ता या सर्वभौमिकता बहुत सी बातों से सीमित हो गई है। हम नीचे उन कारणों की विवेचना करेंगे। जिनसे उपभोक्ता की सत्ता सीमित हो जाती है।

कोई महत्त्व इस दृष्टि से नहीं है। उत्पादक सामूहिक रूप से ही उत्पादन को निश्चित कर सकते हैं। उपभोक्ताओं की सम्मिलित माँग (demand) ही उत्पादन को निश्चित करती है।

(२) उपभोक्ता की शक्ति अथवा सत्ता जो वस्तु कि वास्तव में बाजार में उपलब्ध है उससे भी सीमित है। उपभोक्ता चाहे थोड़ी भिन्न वस्तु को चाहता हो, परन्तु यदि बाजार में वह उपलब्ध न हो तो वह उसे नहीं ले सकता। हाँ, यदि अधिकांश व्यक्ति उस प्रकार की वस्तु चाहते हैं तो कालान्तर में उत्पादक उस वस्तु को उत्पन्न करेगा। परन्तु तत्काल जिस प्रकार की वस्तु बाजार में है उसीको उपभोक्ताओं को लेना होगा। यही नहीं उत्पादन की भौतिक सीमायें भी होती हैं। वास्तविक उत्पादन औद्योगिक ज्ञान तथा कुशलता (technical knowledge and skill) पर निर्भर रहता है। उदाहरण के लिए यदि हम चाहते हैं कि रेलों के चलते समय कोई शोर न हो, अथवा वायुयानों के उड़ते समय सनसनाहट न हो, तो यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि औद्योगिक ज्ञान या कारीगरी तथा कुशलता इतनी अधिक विकसित न हो सके। उपभोक्ताओं की इच्छायें तत्कालीन कारीगरी से आगे बढ़ी हो सकती हैं, परन्तु जब तक कारीगरी उन्नत न हो तब तक उपभोक्ताओं की इच्छा व्यर्थ होगी।

(३) केवल इन्हीं कारणों से उपभोक्ता की सत्ता सीमित नहीं है, वरन् विज्ञापन-कला तथा विक्रय-कौशल (art of advertisement and salesmanship) से भी उपभोक्ता की सत्ता परिसीमित होती है। व्यवसायी तथा व्यापारी अपनी वस्तुओं का प्रचार विज्ञापन द्वारा तथा बेचने की कला के द्वारा इतना अधिक करते हैं कि उपभोक्ता भुलावे में आजाता है और उत्पादकों की इच्छानुसार वस्तुओं को खरीदने लगता है। आज विज्ञापन का युग है। विज्ञापन-कला इतनी अधिक विकसित हो गई है कि बेचारा उपभोक्ता वस्तुओं का अपनी इच्छानुसार चुनाव करने को स्वतन्त्र नहीं रहा है। उसकी इच्छा को उत्पादनकर्ता अपने प्रचार से बनाता और बिगाड़ता रहता है। आधुनिक व्यावसायिक जगत में विज्ञापन और विक्रय-कला पर व्यवसायी बहुत अधिक व्यय करते हैं। आधुनिक औद्योगिक देशों में विज्ञापन पर जितना व्यय किया जाता है उसकी साधारणतः कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। उपभोक्ता जहाँ जाता है वहाँ ही उसे विज्ञापन दिखलाई पड़ते हैं। इसका परिणाम होता है कि उत्पादकों का नियन्त्रण करने के बजाय उपभोक्ता उत्पादकों

(८) अधिकतर उपभोक्ता अज्ञ होते हैं, उन्हे यह ज्ञात नहीं होता उनके लिए सबसे अधिक लाभदायक कौनसी वस्तु होगी। जिस वस्तु को वे खाते रहते हैं बहुत समय तक बिना उसकी जॉच पड़ताल किये उपभोग करते रहते हैं। उनकी अज्ञता के कारण उन्हे यह नहीं ज्ञान होता कि उनका स किस वस्तु का उपभोग करने से अधिक सधता है। अज्ञता भी उपभोक्ता की सार्वभौमिकता अथवा सत्ता को मर्यादित करती है। यदि उपभोक्ता सत्ताधारी माना जाय तो अ धा और आलस्य मे जकड़ा हुआ है ऐसा माल पड़ेगा।

(६) आज हम देखते हैं कि उद्योग-धधों मे प्रमाणीकरण (standardisation) की प्रवृत्ति अधिक है। प्रत्येक उत्पादक प्रमाणीकृत वस्तु (standardised commodity) को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। यह इ बात का प्रमाण है कि उपभोक्ता की व्यक्तिगत इच्छा का उत्पादन कोई प्रभाव नही पड़ता। उत्पादनकर्त्ता सभी उपभोक्ताओं को एक समूह रख देता है किसी भी उपभोक्ता की व्यक्तिगत इच्छा की ओर वह ध्य नहीं देता।

आज स्थिति यह है कि उपभोक्ता की सत्ता बहुत ही सीमित हो गई किसी निर्धन किसान या मजदूर को यह विश्वास कदापि भी नहीं हो स कि जो बड़े-बड़े कारखाने व्यवसाय, कारबार, दूकानें चल रही हैं वह उ सकेत पर और उसकी इच्छानुसार कार्य कर रही हैं। वह तो केवल समझता है कि वे धन कमाने के लिए चल रही हैं।

वस्तु-स्थिति यह है कि अकेला उपभोक्ता अथवा उत्पादनकर्त्ता एक दूसरे पर नियन्त्रण स्थापित नहीं करता है। दोनो एक दूसरे पर निर्भर किसी देश की आर्थिक समृद्धि उत्पादन तथा उपभोग के उचित सामञ्जस्य निर्भर रहती है। जब तक देश मे कुशल उत्पादन तथा सावधान और उ उपभोग न हो आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं है।

की मांग होनी है। जब हम कहते हैं कि अमुक कीमत पर किसी वस्तु की अमुक माग है इसका अर्थ यह हुआ कि उस कीमत पर वह वस्तु कितनी खरीदी जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि कीमत के बिना मांग का कोई अर्थ नहीं है। किसी वस्तु की जब कीमत बदलती है तो उसकी माग भी बदल जाती है। यदि हम यह कहें कि 'अ' की प्रति दिन दूध की माग पांच सेर है तो यह गलत होगा। किस कीमत पर 'अ' प्रति दिन पांच सेर दूध खरीदेगा। यदि हम कल्पना करें कि जब दूध की कीमत एक रुपया का पांच सेर है तब 'अ' प्रति दिन पांच सेर दूध खरीदता है। अब यदि दूध की कीमत एक रुपया प्रति सेर हो जावे तो सम्भवत 'अ' प्रति दिन एक सेर ही खरीदेगा। उस दशा में एक रुपया प्रति सेर की कीमत पर उसकी दूध की माग प्रति दिन एक सेर होगी। अस्तु; बिना कीमत के माग अर्थहीन है उसका कोई अर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त माग का सम्बन्ध सदैव समय की इकाई से भी होता है, अर्थात् प्रति दिन, प्रति सप्ताह या प्रति मास अथवा प्रति वर्ष। अस्तु; जब तक हम यह न कहें कि अमुक वस्तु की अमुक मूल्य या कीमत पर अमुक समय अमुक मांग है तब तक कोई अर्थ नहीं निकलेगा। इससे यह स्पष्ट हो गया कि मांग का मूल्य तथा समय के साथ अविच्छेद सम्बन्ध है।

माग की अनुसूची (Demand Schedule): यह तो हम ऊपर बतला आये हैं कि जब तक हमें किसी चीज की कीमत का पता न हो तब तक हम यह नहीं कह सकते कि हमारी उस वस्तु के लिए क्या मांग होगी, हम उस वस्तु को कितनी मात्रा मे खरीदेंगे अथवा खरीदेंगे भी कि नहीं। इसको व्यक्त करने के लिए हम एक माग अनुसूची तैयार करते हैं जिससे यह प्रकट होता है कि अमुक कीमत पर कोई व्यक्ति अथवा बहुत से व्यक्ति उस वस्तु को कितनी मात्रा मे खरीदने को तैयार हैं।

यदि हम एक ऐसी सूची तैयार करें जिसमें एक ओर तो वस्तु का भिन्न भिन्न मूल्य दिया हो और दूसरी ओर उन मूल्यों के सामने उसकी वह मात्रा दी हुई हो जो प्रत्येक मूल्य पर खरीदी जावेगी तो इस प्रकार की सूची को हम उस वस्तु की माग की अनुसूची कहेंगे। अब यदि यह अनुसूची किसी एक व्यक्ति की है तो हम इसको व्यक्ति की मॉग की अनुसूची कहेंगे, और यदि यह समस्त बाजार की माग की अनुसूची है तो हम उसको बाजार की मॉग की अनुसूची कहेंगे। बाजार की मॉग से हमारा अर्थ उन तमाम लोगों की माग के योग से होता है जो उस बाजार में अमुक वस्तु खरीदते हैं।

नीचे हम एक मनुष्य की सेव की मॉग की अनुसूची देंगे।

की मांग होती है। जब हम कहते हैं कि अमुक कीमत पर किसी
अमुक माग है इसका अर्थ यह हुआ कि उस कीमत पर वह वस्तु कितनी
जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि कीमत के विना मांग का कोई अ
है। किसी वस्तु की जव कीमत वदलती है तो उसकी माग भी वदल ज
यदि हम यह कहें कि 'अ' की प्रति दिन दूध की मांग पाच सेर है
गलत होगा। किस कीमत पर 'अ' प्रति दिन पांच सेर दूध खरीदेगा
हम कल्पना करें कि जव दूध की कीमत एक रुपया का पाच सेर है
प्रति दिन पाच सेर दूध खरीदता है। अब यदि दूध की कीमत एक रुप
सेर हो जावे तो सम्भवत 'अ' प्रति दिन एक सेर ही खरीदेगा। उस
एक रुपया प्रति सेर की कीमत पर उसकी दूध की माग प्रति दिन एक सेर
अस्तु; विना कीमत के माग अर्थहीन है उसका कोई अर्थ नहीं होता
अतिरिक्त माग का सम्वन्ध सदैव समय की इकाई से भी होता है, अर्था
दिन, प्रति सप्ताह या प्रति मास अथवा प्रति वर्ष। अस्तु, जव तक
न कहें कि अमुक वस्तु की अमुक मूल्य या कीमत पर अमुक समय अ
है तव तक कोई अर्थ नहीं निकलेगा। इससे यह स्पष्ट हो गया कि
मूल्य तथा समय के साथ अविच्छेद सम्वन्ध है।

मांग की अनुसूची (Demand Schedule): यह तो ह
वतला आये हैं कि जव तक हमें किसी चीज की कीमत का पता न
तक हम यह नहीं कह सकते कि हमारी उस वस्तु के लिए क्या माग
हम उस वस्तु को कितनी मात्रा में खरीदेंगे अथवा खरीदेंगे भी वि
इसको व्यक्त करने के लिए हम एक माग अनुसूची तैयार करते है
यह प्रकट होता है कि अमुक कीमत पर कोई व्यक्ति अथवा वहुत से व्य
वस्तु को कितनी मात्रा में खरीदने को तैयार हैं।

यदि हम एक ऐसी सूची तैयार करें जिसमें एक ओर तो वस्तु
भिन्न मूल्य दिया हो और दूसरी ओर उन मूल्यों के सामने उसकी वह मा
हुई हो जो प्रत्येक मूल्य पर खरीदी जावेगी तो इस प्रकार की सूची को ह
वस्तु का माग की अनुसूची कहेंगे। अब यदि यह अनुसूची किसी एक व्य
है तो हम इसको व्यक्ति की मॉग की अनुसूची कहेंगे, और यदि यह समस्त
की माग की अनुसूची है तो हम उसको वाजार की मॉग की अनुसूची
वाजार की मॉग से हमारा अर्थ उन तमाम लोगों की मांग के योग से होत
एक ही वाजार में अमुक वस्तु खरीदते हैं।

नीचे हम एक मनुष्य की सेव की मॉग की अनुसूची देंगे।

एक व्यक्ति की सेव की मांग की अनुसूची

(Demand Schedule of an Individual)

मूल्य प्रति सेर सेव	माँग सेरों में
दो रुपया	१ सेर
डेढ़ रुपया	२ ,,
एक रुपया	४ ,,
बारह आना	६ ,,
आठ आना	१० ,,
छैह आना	१५ ,,

ऊपर हमने एक व्यक्ति को सेव की माग की अनुसूची दी, किन्तु बाजार की माँग की अनुसूची भी तैयार की जा सकती है। समस्त बाजार की किसी वस्तु की मांग की अनुसूची (demand schedule) मालूम करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न कीमतों पर उस वस्तु को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह कितनी मात्रा में खरीदेंगे यह मालूम कर लेना चाहिए और उसके योग को ही हम बाजार की अनुसूची कहेंगे। उदाहरण के लिए यदि हम कल्पना करें कि एक बाजार में केवल पाच ही खरीदार हैं, जिनको हम "क" "ख" "ग" "घ" "ङ" कहेंगे। उनकी नारंगियों की माग की अनुसूची नीचे लिखी है।

नारंगियों की बाजार मांग अनुसूची

(Market Demand Schedule)

प्रति दर्जन मूल्य	माग दर्जनों में					
रु०	क	ख	ग	घ	ङ	योग
६	१	२	नहीं	नहीं	नहीं	= ३
[illegible]	२	४	१	नहीं	नहीं	= ७
४	३	५	२½	[illegible]	नहीं	= ११
३	४	५½	३½	१	नहीं	= १४
२	६	७	५	२	१	= २१
१	९	१०	८	४	३	= ३४
आठ आना	१५	१५	१२	८	६	= ५६

ऊपर दी हुई अनुसूची से यह स्पष्ट हो जावेगा कि बाजार में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मांग अनुसूची भिन्न है। किस व्यक्ति की नारंगियों के लिए मांग अनुसूची क्या होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके लिए द्रव्य या मुद्रा (money) की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) तथा नारंगियों की सीमान्त उपयोगिता क्या है। अन्तिम कालम में बाजार की कुल मांग कितनी होगी यह दिया हुआ है। अब यदि पहले कालम को

दर्जन मूल्य को ले लें तथा अन्तिम कालम अर्थात माँग के योग को ले लें तो
मारंभियों की बाजार मांग अनुसूची प्राप्त हो जावेगी। वास्तव में बाजार
मांग अनुसूची ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक दृष्टि से उसका उपयोग
है। एक व्यवसायी को तथा सरकार को यह जानने की आवश्यकता होती
कि किस कीमत पर एक वस्तु की क्या बाजार मांग होगी। व्यवसायी
अपनी वस्तु की बिक्री की दृष्टि से तथा सरकार को कर (Tax)
की दृष्टि से किसी वस्तु की बाजार मांग अनुसूची की आवश्यकता होती है।

मांग अनुसूची के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने की है कि ऊपर दी हुई
निक माँग अनुसूचिया (demand schedule) तैयार कर लेना अत्यन्त
है, परन्तु किसी व्यक्ति की वास्तविक माँग अनुसूची तैयार करना तो
असम्भव ही है। प्रत्येक के लिए यह बता सकना कि किसी वस्तु-विशे
वह भिन्न-भिन्न कीमतों पर कितनी मात्रा मे खरीदेगा सरल नहीं है। व्यक्ति
इस प्रकार सोचते ही नहीं है अतएव उनके इस सम्बन्ध मे निश्चित और
विचार हों यह बताना कठिन है। यदि किसी व्यक्ति से पूँछा जावे कि भिन्न
कीमतों पर उसकी माँग कितनी होगी तो वह केवल अनुमान मात्र
सकेगा, निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना उसके लिए कठिन होगा। रुचि,
जलवायु, तथा व्यापार की अवस्था मे परिवर्तन इत्यादि से किसी भी व्यक्ति
माग अनुसूची क्या होगी इसमें परिवर्तन हो सकता है। वस्तुओं की उपयो
स्वतंत्र नहीं होती, वह अन्य वस्तुओं की उपयोगिता पर निर्भर रहती है।
कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की किसी वस्तु-विशेष के लिए माँग अनुसूची भिन्न
है, और एक ही व्यक्ति की माँग अनुसूची भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न हो

माँग अनुसूची की उपयोगिता : इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं
कि माँग अनुसूची (demand schedule) का कोई उपयोग नहीं है। य
माग अनुसूची का ठीक-ठीक बनाना कठिन है परन्तु फिर भी उसका व्यव
में बहुत उपयोग है। यद्यपि यह ठीक है कि हम शून्य से लेकर अनन्त
पर किसी वस्तु को कितनी मात्रा मे खरीदेंगे यह नहीं बतला सकते, परन्तु
यह अवश्य बतला सकते हैं कि यदि किसी वस्तु की कीमत मे थोड़ा इधर
उधर परिवर्तन हो तो उसका हमारी माँग पर क्या प्रभाव पड़ेगा। प्रच
कीमत के आस-पास की सीमा में कीमत में हेर फेर होने पर हमारी उस
की माँग में क्या परिवर्तन होगा यह हम सरलता से बतला सकते हैं और
जानना आवश्यक भी है। उदाहरण के लिए हमें यह जानने की तनि
। १५ ॥ नहीं है कि जब दूध एक पैसा सेर हो तब दूध की हमारी

होगी और जब दूध दस रुपये सेर हो तो हमारी दूध की माँग क्या होगी। तो यह जानना आवश्यक है कि प्रचलित कीमत में थोड़ा हेर फेर होने उसका हमारी माँग पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस दृष्टि से मांग अनुसूची बहुत महत्त्व है। अर्थमंत्री को यह देखना पड़ता है कि यदि वह किसी वस्तु कर लगावे तो उसकी कीमत बढ़ जाने के फल स्वरूप उसकी माग (demand) कितनी कम हो जावेगी। जिससे कि वह यह जान सके कि उस पर कर (tax) लगाने से कितनी आय होगी बिना इस प्रकार का हिसाब लिये बजट बनाना ही असम्भव हो जावेगा। यदि किसी धंधे पर एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित होगई तो उसका स्वामी अधिकतम एकाधिपत्य लाभ (maximum monopoly profits) प्राप्त करने के लिए यह जानना चाहेगा वस्तु की कीमत में हेर फेर करने से उपभोक्ता (consumers) की मांग क्या प्रभाव पड़ेगा। अस्तु माग अनुसूची की व्यवहारिक उपयोगिता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

माँग की वक्र रेखा (demand curve)· माग अनुसूची को हम वक्र रेखा के रूप में भी प्रगट कर सकते हैं। नीचे हम मांग की दो वक्र रेखायें देंगे। पहली व्यक्तिगत माग की वक्र रेखा होगी और दूसरी बाजार मांग वक्र रेखा (market demand curve) होगी ·—

व्यक्तिगत सेव की माँग की वक्र रेखा

(Individual Demand Curve for Apples)
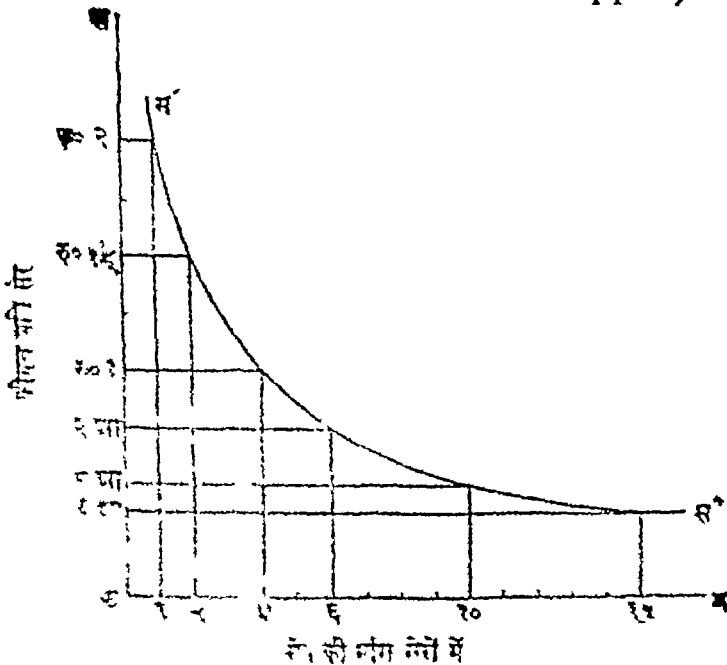
'क' 'ग' रेखा सेवों की मांग सेरों मे प्रगट करती है और 'क' 'ख' उसकी कीमत प्रगट करती है। स' स'' वक्र रेखा (curve) है जो मांग प्रगट करती है। इस चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सेव दो रुपए बिक रहे हैं तो हमारी कल्पना का व्यक्ति केवल एक सेर सेव खरीदेगा। मूल्य डेढ रुपया प्रति सेर हो जावेगा तो वह दो सेर सेव खरीदेगा। इसी प्र कीमत के घटने के साथ उसकी सेव की माग बढ़ती जावेगी। यहा तक कि आने प्रति सेर सेव हो जाने पर वह पद्रह सेर सेव खरीदने के लिए तैयार जावेगा।

नारंगियों की बाजार माँग की वक्र रेखा
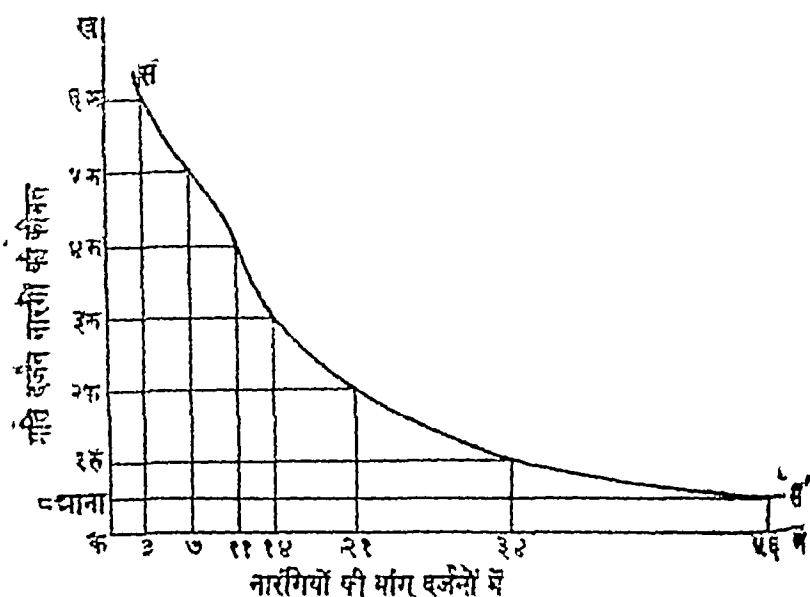
'क' 'ग' रेखा पर हम नारगियों की दर्जनों मे माग और क ख पर हम प्रति दर्जन नारगी की कीमत नापते हैं। स स' नारगियों की मांग वक्र रेखा है। इस चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे जैसे नारगियों कीमत घटती जाती है बाजार में नारगियों की माग बढती जाती है।

माग की वक्र रेखा (demand curve) बहुधा नीचे की ओर है। यदि हमने उपयोगिता ह्रास नियम (law of diminishing utility) भली भांति समझ लिया है तो हमें इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हमा अधिकांश की खरीदारी इसी नियम के अनुसार होती है। जब किसी वस्तु कीमत गिरती है तो हम उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदते हैं।

किसी वस्तु की कीमत गिरने लगती है तो बहुत से नए खरीदार जो पहले ऊंची कीमत के कारण नहीं खरीदते थे बाजार में प्रवेश करते हैं और उस वस्तु को खरीदने लगते हैं। साथ ही पुराने खरीदार अधिक मात्रा में खरीदते हैं। अतएव माग की वक्र रेखा को नीचे की ओर झुकना ही चाहिए। क्योंकि क ख रेखा पर हम कीमतों को व्यक्त करते हैं और क ग रेखा पर वस्तु की मात्रा को नापा जाना है। ऐसी दशा मे उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार यदि मांग की वृद्धि को गिरते हुए मूल्य के साथ प्रगट करना है तो मांग की वक्र रेखा नीचे को ही झुकेगी।

इस प्रश्न को हम एक दूसरी तरह से भी समझने का प्रयत्न कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास सीमित द्रव्य या मुद्रा (money) होती है और प्रत्येक उपभोक्ता (consumer) उससे अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अतएव यह प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) तथा सम सीमान्त उपयोगिता (law of equimarginal utility) के अनुसार अपना व्यय इस प्रकार निर्धारित करेगा कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये जाने वाले अन्तिम आने की सीमान्त उपयोगिता समान हो। यदि वस्तुओं की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो वह व्यय इसी प्रबन्ध को बनाये रक्खेगा। परन्तु यदि किसी एक वस्तु की कीमत जिसको कि वह खरीदता था गिर गई तो वह अपने व्यय में परिवर्तन करेगा। एक वस्तु की कीमत के गिर जाने से उसकी सीमान्त उपयोगिता और कीमत मे अन्तर उपस्थित हो जावेगा। इस अन्तर को दूर करना चाहिए। यह तभी हो सकता है कि जब उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदा जावे जिससे कि उसकी सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) कीमत के स्तर के बराबर हो जावे। यही कारण है कि जब किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो लोग उसे अधिक मात्रा में खरीदते हैं।

किन्तु कुछ दशाओं मे मनुष्य इसके विपरीत आचरण भी करता है अर्थात जब कीमत चढ़ती है तो वह अधिक मात्रा मे खरीदता है। उस दशा में मांग की वक्र रेखा ऊपर की ओर चढ़ेगी। यह ठीक है कि इस प्रकार की घटनाएँ कम ही होती हैं परन्तु वह हमें देखने को मिलती हैं इसमें शक भी नहीं है। नीचे लिखी स्थिति में कीमतों के ऊँची चढ़ने पर भी मांग अधिक हो सकती है। (१) यदि किसी वस्तु की भविष्य में बहुत कमी हो जाने की सम्भावना हो तो लोग घबड़ाकर उसे अधिक खरीदने लग जाते हैं यद्यपि उसकी कीमत ऊँची चढ़ रही होती है। इसका कारण यह है कि वे आशा

करते हैं कि भविष्य में उसकी कीमत और भी अधिक ऊँची हो
(२) जब किसी वस्तु के उपयोग से समाज में मान मिलता है तो
व्यक्ति हैं वे उस वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसे और अधिक खरीदते हैं कि
वे अधिक सम्भ्रांत व्यक्तियों में गिने जावें। (३) कभी कभी जानकारी न
कारण भी लोग ऊँची कीमत पर वस्तु को अधिक खरीदते हैं। (४)
जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य वस्तुओं (necessaries) की कीमत
हो जावे तो उपभोक्ता को अपने व्यय का नये ढंग से सतुलन बिठाना
ऐसी दशा में यह सम्भव है कि वह फल, दूध, वस्त्र अथवा अन्य किसी
आवश्यकता (necessary) पर व्यय कम करके अनाज दाल, तथा
पर व्यय अधिक करे और इस प्रकार यद्यपि इन खाद्य पदार्थों की कीमत
हो गई है फिर भी वह उनको पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में खरीदे।

माँग का नियम (law of demand) : माँग के सम्बन्ध में
जानकारी के बाद अब हम इस स्थिति मे हैं कि मांग के नियम का नि
करें। माग का नियम केवल वस्तु की मांग और उसकी कीमत का सम्बन्ध
करता है। सक्षेप में माग के नियम की इस प्रकार व्याख्या की जा सकती

"यदि जिन बातों का माग पर प्रभाव पड़ता है उनसे कोई परिवर्त
हो तो जब किसी वस्तु या सेवा की कीमत गिर जाती है तो उसकी माग
जाती है और यदि कीमत ऊँची चढ़ जाती है तो मांग गिर जाती है अथवा
हो जाती है। अथवा दूसरे शब्दों में हम नियम की व्याख्या इस प्रकार भी
सकते हैं। "प्रचलित कीमत पर किसी एक समय किसी वस्तु अथवा सेवा की मां
ऊँची कीमत पर होने वाली माग की तुलना में अधिक और कम कीमत पर हो
वाली मांग की तुलना में कम होगी।"

यदि देखा जावे तो माग का नियम उपयोगिता ह्रास नियम का परिणा
मात्र है। उपयोगिता ह्रास नियम हमको यह बतलाता है कि जैसे जैसे किसी व
की मात्रा में वृद्धि होती जाती है उससे मिलने वाली उपयोगिता कम होती जा
है। उपयोगिता कम होने का अर्थ यह है कि हम उसके लिए जो कीमत दे
चाहते हैं उसमें भी कमी होगी। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि कि
वस्तु के मूल्य या कीमत कम होने पर वह अधिक मात्रा में खरीदी जावेगी।
इसके विपरीत यदि कीमत बढ़ जावेगी तो वह कम मात्रा में खरीदी जावेगी।
क्योंकि जितनी कम मात्रा में हमारे पास कोई वस्तु होती है उतनी ही अधि
उपयोगिता हमको मिलेगा, और इस वास्ते उसके लिए हम उतना ही अधि
मूल्य देने को तैयार हो जावेंगे।

मांग के नियम की व्याख्या करते समय जो विशेषणात्मक वाक्य "जब मांग पर प्रभाव डालने वाली बातों में कोई परिवर्तन न हो" अथवा "किसी एक निश्चित समय" जोड़े गए हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि मांग पर बहुत सी बातों का प्रभाव पड़ता है जिसके सम्बन्ध में आगे चलकर लिखेंगे। जब वे प्रभाव काम करने लगते हैं तो मांग के नियम में बाधा पड़ती है।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखने की है। जब हम कहते हैं कि माग का नियम हमें यह बतलाता है कि किसी वस्तु की कीमत गिरने पर उस वस्तु की माग बढ़ेगी और कीमत ऊँची होने पर माग घटेगी तो इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस अनुपात में कीमत में परिवर्तन होगा उसी अनुपात में उस वस्तु की माग में परिवर्तन होगा। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु की कीमत में दस प्रतिशत वृद्धि होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मांग में भी दस प्रतिशत की कमी हो जावेगी। माग का नियम तो हमें केवल इतना ही बतलाता है कि कीमत के बढने पर मॉग कम होगी और कीमत के कम होने पर मांग बढेगी। मांग कितनी बढेगी या कम होगी यह मॉग की लचक (elasticity of demand) पर निर्भर रहेगा। मॉग की लचक के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

क्या उपभोक्ताओं के अधिमान (preferences) निश्चित होते हैं? : प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) तथा माग के नियम से प्रकट होता है कि उपभोक्ताओं (consumers) के निश्चित अधिमान (preferences) होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता के पास जो द्रव्य या मुद्रा (money) होता है उसको व्यय करते समय यह निश्चित रहता है कि वह कितना द्रव्य किस वस्तु पर व्यय करेगा। परन्तु कुछ अर्थशास्त्री इसका निम्नलिखित बातों के आधार पर विरोध करते हैं। (१) उनका कहना है कि जब मांग पर प्रभाव डालने वाली बातों—अर्थात् फैशन, रुचि, रिवाज़ अथवा मौसम में परिवर्तन हो जाता है तो माग में बहुत परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋतु के बदल जाने से खरबूजों और तरबूजों की माग एक दम गिर सकती है इत्यादि। किन्तु हम ऊपर ही लिख चुके हैं कि माग अनुसूची (demand schedule) इस आधार पर बनाये जाते हैं कि इन बातों में कोई परिवर्तन नहीं होता। यदि इन बातों में कोई परिवर्तन होता है तो हम एक नई मांग अनुसूची तैयार कर सकते हैं जो नये अधिमानों (new preferences) को प्रकट करेगी। (२) दूसरी आपत्ति यह उपस्थित की जाती है कि उपभोक्ता बार-बार

एक ही वस्तु को नहीं खरीदते हैं। उदाहरण के लिए जब हम भोजन खरीदते अथवा अन्य वस्तुएँ खरीदते हैं तो बार-बार एक ही चीज़ तो नहीं खरीदते। एक आवश्यकता बहुत प्रकार की वस्तुओं से पूर्ण हो सकती है, अस्तु हम भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं की मांग करते हैं। इस आपत्ति के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि हमारी मांग अनुसूची में एक ही आवश्यकता को पूरी करने वाली भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सम्मिलित किया जा सकता है। (३) तीसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि हमारी आय के कुछ भाग का व्यय हमारे पूर्व निश्चय के अनुसार निश्चित रहता है। उदाहरण के लिए किराया मकान इत्यादि। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का पूर्व निश्चित व्यय भी कुछ समय के उपरान्त बदला जा सकता है। फिर आय का थोड़ा सा भाग ही पूर्व निश्चित व्यय के लिए रहता है, शेष आय इतनी काफी होती है कि हम व्यय में आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं। (४) चौथी आपत्ति यह उठाई जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं खरीदारी नहीं करता, या तो गृह-स्वामिनी खरीदारी करती है अथवा बच्चों के लिए माता-पिता खरीदारी करते हैं। यह आपत्ति सारहीन है, क्योंकि व्यय का बटवारा सम सीमान्त उपयोगिता के आधार पर ही किया जाता है; फिर उसको कौन करता है अथवा किस उद्देश्य म वह करता है इससे व्यय का कोई सम्बन्ध नहीं होता। मांग-अनुसूची पर भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि कौन किसके लिए और किस उद्देश्य से खरीदता है। (५) पाचवी आपत्ति यह उठाई जाती है कि उपभोक्ता (consumers) स्वय नहीं जानते कि उनके अधिमान (preferences) क्या हैं अर्थात् वे किस वस्तु को कितनी चाहते हैं। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि एक व्यक्ति की किसी वस्तु को भिन्न भिन्न मूल्यों पर कितनी माग होगी यह जानना कठिन है, परन्तु साथ ही हम यह भी जानते है कि यदि किसी वस्तु की प्रचलित कीमत मे यदि थोड़ा सा ही हेर फेर हो तो उपभोक्ता यह जानते हैं कि उस वस्तु की उनकी माँग में क्या परिवर्तन होगा। अस्तु, इन आपत्तियों मे अधिक सार नहीं है। माँग अनुसूची कुछ मान्यताओं पर आधारित होती है। हम यह मान कर चल सकते हैं कि यदि कोई उपभोक्ता बुद्धिमत्तापूर्वक व्यय करते हैं और कोई भी जान बूझ कर व्यर्थ मे अपना रुपया बर्बाद नहीं करता। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अपने सीमित साधनों से अधिकतम तुष्टि प्राप्त करना चाहेगा, अतएव उनके वस्तुओं या सेवाओं के लिए निश्चित अधिमान होंगे। जब किसी वस्तु की कीमत गिरेगी तो उसको अधिक खरीदने से ही उपभोक्ता को अधिक तुष्टि होगी और वह उस वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदेगा।

माँग का समूहीकरण : माग के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। कोई भी व्यक्ति किसी एक अकेली वस्तु की माग नहीं करता। वह उसकी एक मांग प्रणाली के भाग के रूप में ही माग करता है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी नोट लिखने के लिए कागज चाहता है। किन्तु केवल कागज भर मिल जाने से विद्यार्थी की आवश्यकता पूरी नहीं हो जावेगी उसे पुस्तक कलम, दावात, मेज, कुर्सी तथा रोशनी इत्यादि चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें वस्तुओं की समूह मे आवश्यकता होती है।

जितनी आवश्यक वस्तुएँ (necessaries) आराम देने वाली वस्तुएँ (comforts) तथा विलासिता की वस्तुएँ (luxuries) कोई उपभोग करता है वह एक माग-प्रणाली (demand system) का निर्माण करती है। इन चीजों की माँग एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर निर्भर रहती है।

किसी व्यक्ति की माग-प्रणाली उसके रहन-सहन के द्वारा निर्धारित होती है। रहन-सहन का दर्जा (standard of living) कोई व्यक्तिगत चीज नहीं है। रहन-सहन का दर्जा व्यक्ति के वर्ग विशेष का होता है। यदि कोई व्यक्ति निर्धन वर्ग का है तो उसकी मांग-प्रणाली मे अधिकतर अनिवार्य आवश्यकताएँ होगी। यदि वह उच्च वर्ग का है तो उसकी माग-प्रणाली मे आराम और विलासिता की वस्तुएँ भी काफी मात्रा में होंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि रहन-सहन के दर्जे से मांग-प्रणाली निश्चित होती है।

किन्तु रहन सहन के दर्जे को बनाने मे भी बहुत-सी बातों का हाथ रहता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की रुचि, भावनायें, शिक्षा तथा आमदनी का उसके रहन-सहन के दर्जे को बनाने में बहुत हाथ रहता है। जब व्यक्ति की आय मे परिवर्तन होता है तो उसकी माग-प्रणाली मे भी परिवर्तन होता है। जब कि आय मे वृद्धि होती है तो भोजन तथा अनिवार्य आवश्यकताओं पर व्यय का प्रतिशत कम हो जाता है और जब आय कम होती है तो भोजन तथा अन्य अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) पर व्यय का प्रतिशत बढ जाता है। कन्जूस व्यक्ति इसका अपवाद होता है। उसकी आय अधिक हो जाने पर भी हो सकता है कि वह मोटा झोटा भोजन करता रहे, गंदे कपड़े पहनता रहे और गंदे मकान में रहता रहे। वह उसकी मांग-प्रणाली होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के समूह मे मांग-प्रणाली बनती है।

मांग मे परिवर्तन : मांग के नियम के सबन्ध में लिखते समय हम बतला चुके हैं कि माग कीगई मात्रा मूल्य के घटने-बढ़ने के साथ बढ़ती-घटती है। अब माग के घटने-बढ़ने से हमारा अभिप्राय क्या है इस सबन्ध मे तनिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

माग के नियम में जब हम माँग के बढने-घटने की बात कहते हैं तो एक प्रकार से देखा जावे तो इन शब्दों का ठीक उपयोग नहीं करते। वास्तव मे हमें मांग का विस्तार या सकोचन कहना चाहिए। अब हम यहाँ मांग के बढने या घटने तथा मॉग के विस्तार या सकोचन के भेद को जानने का प्रयत्न करेंगे। माग का विस्तार या सकोचन तब होता है जब केवल कीमत के घटने या बढने से मॉग बढती-घटती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कीमत में कोई परिवर्तन न हो तो मांग में भी कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसमें उपभोक्ता (consumer) स्वयं कुछ नहीं करता। वह निष्क्रिय रहता है, वह केवल कीमत के परिवर्तन के अनुसार ही मांग मे परिवर्तन कर देता है। उसकी माग-अनुसूची निश्चित है और तदनुसार उसकी मांग की एक वक्र रेखा (curve) है। वह कीमत के परिवर्तन के अनुसार ही अपनी माग मे घटा-बढी कर लेता है। यह आगे के चित्र से स्पष्ट हो जावेगा।
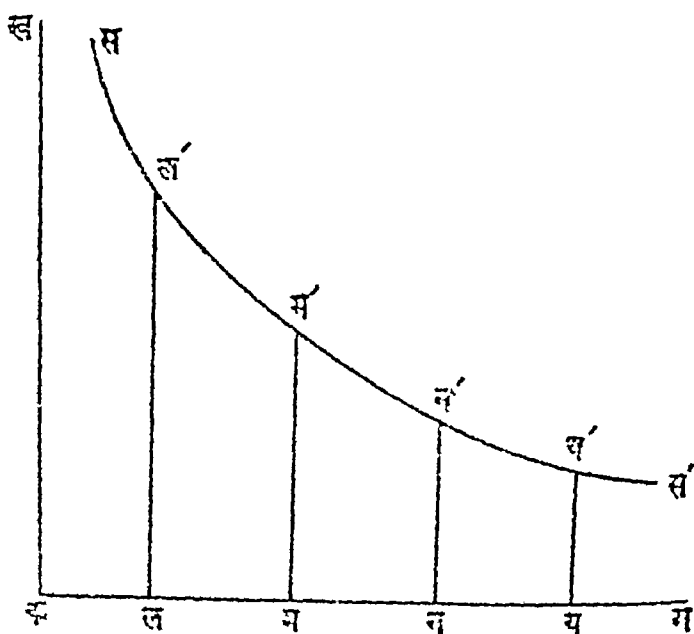
हमारा कल्पित उपभोक्ता स स' माग की वक्र रेखा पर चलता है। ल ल' कीमत पर वह क ल मात्रा में वस्तु खरीदेगा। यदि कीमत गिर कर म म' हो जाती है तो वह पहले से अधिक अर्थात् क म मात्रा में वस्तु को खरीदेगा और यदि कीमत और अधिक गिरती है तो उसकी मांग बढ कर क न या क य हो जावेगी। यदि कीमत गिरने के बजाय ऊंची होने लगे तो वह पीछे लौटने लगेगा, अर्थात् कम मात्रा में वस्तु को खरीदने लगेगा। इसीको हम मांग का विस्तार या सकोचन कहेंगे। एक ही मांग अनुसूची और एक ही मांग की वक्र रेखा से काम चल जाता है।

अब मांग के बढ़ने या घटने से हमारा क्या अभिप्राय है इस पर तनक विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। माग के बढने का एक अर्थ तो यह है कि जिस परिमाण में किसी वस्तु की पहले माग थी उसी कीमत पर अब उसकी अधिक परिमाण में माग है। माग बढ़ने का एक दूसरा रूप भी हो सकता है, और वह रूप यह होगा कि किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर भी उसकी माग पूर्ववत ही बनी रहे या अधिक हो जावे, कम न हो। उदाहरण के लिए जब एक आना प्रति संतरा बिकता है तो मेरी १० सतरों की माग है। अब यदि मेरी सतरों की माग बढ़ गई तो माग की यह वृद्धि दो प्रकार से प्रकट हो सकती है। एक तो एक आना प्रति सतरा के हिसाब मे ही मैं दस की अपेक्षा १५ सतरे खरीदूँ और दूसरी बात यह कि सतरे की कीमत दो आना हो जाने पर भी मैं दस ही सतरे खरीदूँ।

इसी प्रकार माग का घटना भी दो प्रकार से प्रकट हो सकता है। एक तो उसी कीमत पर वस्तु की माग कम हो, दूसरे कम कीमत पर भी चीज की उतनी ही मांग हो। सतरे वाले उक्त उदाहरण मे मेरी सतरे सम्बन्धी माग कम हो जाने का या तो यह अर्थ हो सकता है कि एक आने के हिसाब से दस के बजाय मैं आठ ही संतरे मोल लूँ या यह कि आध आना प्रति संतरा हो जाने पर भी मैं दस ही सतरे खरीदूँ। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है, और वह यह है कि किसी वस्तु की माग मे घटती या बढती होना और बात है और उस वस्तु की मात्रा या संख्या जिसकी माग की जावे उसमें घटती या बढ़ती होना दूसरी बात है। एक उदाहरण लेकर यह स्पष्ट करना आवश्यक है। कल्पना कीजिए कि जब एक आने की एक नारंगी बिकती है तो मैं दस नारंगी खरीदता हूँ, और जब नारंगियों की कीमत घट कर आध आना प्रति नारंगी हो जाती है तब मैं १५ नारंगियाँ खरीदता हूँ। यद्यपि यहाँ नारंगियों की संख्या अधिक हो गई, तथापि कुल मिला कर मैं नारंगियों पर पहले से

कम व्यय करता हूँ, इसलिए नारगी सम्बन्धी मेरी मांग को बढ़ी हुई नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार यदि नारंगी का मूल्य बढ कर दो आना प्रति नारंगी हो जाता है और मैं दस के बजाय केवल आठ ही नारगी खरीदता हूँ, तो जिस सख्या मे मैं नारगियाँ खरीदता हूँ वह तो कम अवश्य हो गई किन्तु मेरी नारगी की मांग कम हुई नहीं कही जा सकती। क्योंकि मैं नारगियों पर पहले से कम व्यय नहीं करता वरन् अधिक व्यय करता हूँ। अस्तु; मेरी नारंगी की मांग बढी हुई मानी जा सकनी है। अतः किसी वस्तु की मांग बढ़ने अथवा कम होने और जिस सख्या मे वह खरीदी जाती है उसके बढ़ने और कम होने में जो भेद है उसे हमको नहीं भूलना चाहिए।

ऊपर हम लिख आये हैं कि जब किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है तो उपभोक्ता निष्क्रिय रहता है, वह कीमत के अनुसार अपनी मांग का विस्तार या सकोचन कर लेता है। उसकी मांग-अनुसूची और मांग की वक्र रेखा एक समान रहती है।

किन्तु माग की वृद्धि या कमी उपभोक्ता के स्वयं निर्णय के कारण होती है। वह उस वस्तु को कीमत से प्रभावित होकर नहीं वरन अन्य कारणों से वस्तु को अधिक या कम खरीदता है। उस दशा में उपभोक्ता निष्क्रिय नहीं होता वरन सक्रिय होता है। ऐसी दशा में वह अपनी पारिवारिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से शासित होता है न कि वस्तु की कीमत से, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। माग की वृद्धि का अर्थ होता है मांग की आधारभूत शर्तों में परिवर्तन होना, अतएव एक नई माग की अनुसूची और नई मांग की वक्र रेखा आवश्यक होती है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति की मासिक आय पहले की अपेक्षा बढ जावे अथवा उसके परिवार की आवश्यकताएँ बढ़ जावें तो उपभोक्ता के अधिमान (preferences) बदल जावेंगे। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति की आय पहले से दुगुनी हो जाती है अर्थात् वह ढाई सौ रुपए मासिक से पाच सौ रुपए मासिक हो जाती है, तो वह दूध, घी, फल तथा कपड़ों इत्यादि को पहले की अपेक्षा अधिक खरीदने लगेगा। उस दशा मे उपभोक्ता (consumer) का उपभोग पुरानी माग की वक्ररेखा (damand curve) पर न चलकर एक नवीन वक्र रेखा पर चलेगा। उपभोक्ता इस बार कीमत पर कोई ध्यान नहीं देता वरन उसकी उपेक्षा करता है।

हम संक्षेप मे कह सकते हैं कि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने से जब मांग मे परिवर्तन होता है तो हम उसे मांग का विस्तार या संकोचन

हते हैं। उस दशा में उपभोक्ता उस वस्तु पर उतना ही रुपया व्यय करता है उतना कि वह पहले करता था, केवल वस्तु की मात्रा में वृद्धि या कमी होती । यदि उपभोक्ता पूर्ववत मूल्य पर अधिक मात्रा में वस्तु को खरीदता है, थवा बढ़ी हुई कीमत पर पहले जितनी मात्रा में ही वस्तु को खरीदता है, र्थात उस वस्तु पर पहले की अपेक्षा अधिक द्रव्य या मुद्रा (money) यय करता है तो हम मांग को बढ़ी हुई कहेंगे। और यदि पूर्ववत कीमत पर म मात्रा में अथवा पहले से घटी हुई कीमत पर पूर्ववत मात्रा में वस्तु को रीदा जावे तो उसे हम घटी हुई माग कहेंगे।

हम नीचे बढ़ी हुई और घटी हुई माग की वक्र रेखायें देते हैं।
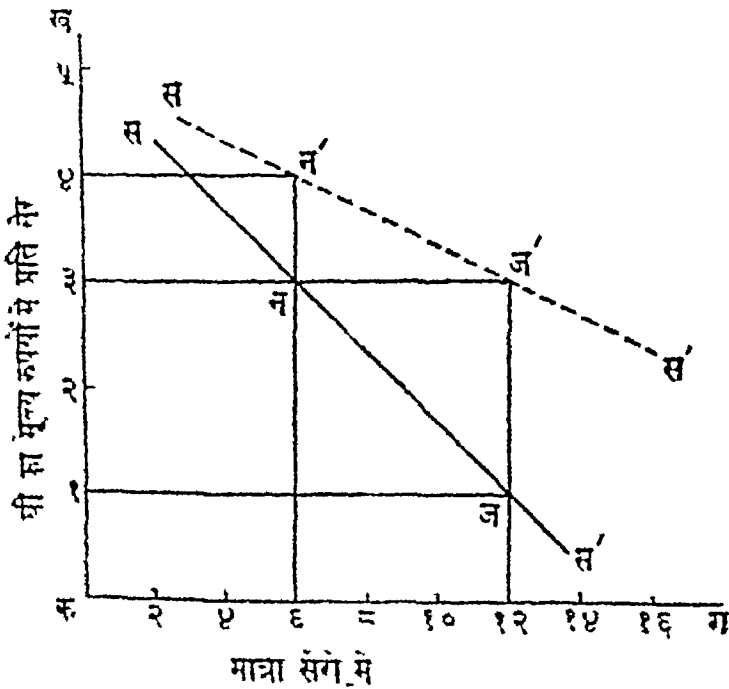
घी की मांग की वृद्धि

ऊपर की माग की वक्र रेखा में घी की मांग की वृद्धि को प्रकट किया गया है। जब घी की कीमत ३ रु० सेर है तो हमारा कल्पित उपभोक्ता ६ सेर घी एक महीने में खरीदता है। अब आय में वृद्धि होने अथवा अन्य किसी कारण से उसकी घी की माग बढ़ती है, अर्थात् ३ रु० प्रति सेर पर वह १२ सेर घी खरीदता है अथवा ४ रुपया प्रति सेर पर ६ सेर घी खरीदता है। अस्तु; न' तथा ज' बिन्दु नवीन माग रेखा स स' पर है।

मांग की कमी
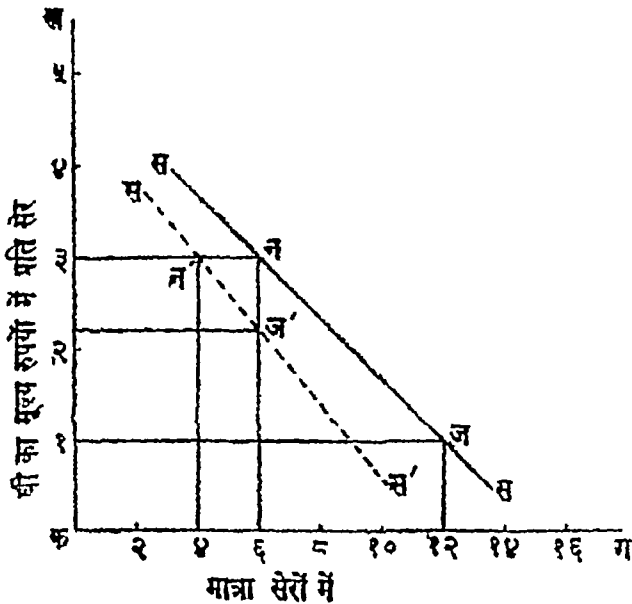
ऊपर की वक्र रेखा में पहले की अवस्था में जब घी की कीमत १ प्रति सेर थी तो ६ सेर घी की माग थी। जब मांग घटी तो ३ रु० प्रति से ४ सेर होगई या २ रु० ४ आना प्रति सेर पर ६ सेर रही। यह दोनों अव नई वक्र-रेखा जो कटी हुई है न' तथा ज' बिन्दुओं से प्रकट होती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम कहते हैं कि मॉग में कमी या वृ अर्थात् परिवर्तन हुआ तो हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि मांग की स्थि ही परिवर्तन होगया। पुरानी मांग-अनुसूची (demand schedule) मॉग की वक्ररेखा से अब काम नहीं चल सकता। अस्तु नई मॉग-अनुसूची वक्र रेखा की आवश्यकता होती है। उपभोक्ता ने अपनी मांग में ही प कर दिया है, वह केवल मॉग का विस्तार या संकोचन नहीं है। अब हम इ प्रश्न का अध्ययन करेंगे कि मॉग में परिवर्तन क्यों होता है।

मांगों में परिवर्तन क्यों होता है : मांग में परिवर्तन बहुत कारणों से होता है। नीचे लिखे कारण मुख्य है :—

रुचि तथा फैशन में परिवर्तन : रुचि अथवा फैशन में परिवर्तन होने के कारण माग में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए चाय की रुचि बढ़ने

घ और शक्कर की मांग बढ गई है। फैशन बदलने के कारण वस्त्रों तथा पोशाक की अन्य आवश्यक सामग्री की मांग में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए आज साफे की मांग कम होती जारही है, क्योंकि लोग अब साफा नहीं बाधते।

जलवायु या मौसम मे परिवर्तन : मौसम तथा जलवायु के कारण भी मांग में परिवर्तन होता है। जाड़ों में गरम कपड़ों, तथा ईधन की अधिक मांग होती है। वर्षा में छाते या बरसाती की माग होती है और गर्मियों में बिजली के पंखे तथा बरफ की माग होती है इत्यादि।

जन संख्या मे परिवर्तन : जन संख्या के बढ़ने या घटने से मांग में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए पूर्वीय पाकिस्तान मे जो लाखों की संख्या में हिन्दू आये हैं उनके कारण पश्चिमी बंगाल मे खाद्य पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं की माग बढ गई। पश्चिमीय पाकिस्तान से जो सिंधी-पजाबी भारत में आये हैं, वे जिन वस्तुओं का अधिक व्यवहार करते हैं उनकी माग उन स्थानों में जहा वे आकर बसे हैं बढ गई है। केवल जन सख्या की कमी या वृद्धि से ही मांग में परिवर्तन हो ऐसी बात नहीं है। जन सख्या में वृद्ध, युवक तथा बच्चों के अनुपात में परिवर्तन होने पर भी मांग मे परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए भारत जैसे देश मे जहाँ जन सख्या तेजी से बढ रही है और जहाँ प्रतिदिन बहुत बड़ी जन सख्या में बच्चे उत्पन्न होते हैं, वहाँ बच्चों के काम में आने वाली वस्तुएँ, खिलौने इत्यादि की माग अधिक होना स्वाभाविक है। युद्ध-काल में जब युवक रणक्षेत्र में होते हैं अथवा बहुत बड़ी संख्या में वे मारे जाते हैं, जैसा कि पिछले युद्ध में जरमनी इत्यादि देशों में हुआ, तो विवाह कम होते हैं और विवाह के समय भेंट दी जाने वाली वस्तुओं की मांग कम हो जाती है।

मुद्रा या द्रव्य के चलन मे वृद्धि : जब कि मुद्रा स्फीति (inflation of money) होता है, जैसा कि आजकल भारतवर्ष मे हो रहा है तो लोगों के पास क्रय-शक्ति अधिक होगी और कीमतें ऊँची होंगी। किन्तु कीमतें एक समान ऊँची नहीं होंगी। कुछ वस्तुओं की कीमतें बहुत ऊँची चढ़ जावेंगी और कुछ की कम चढेंगी। ऐसी दशा मे लोगों को अपनी मांग में परिवर्तन करना पड़ेगा। वे कुछ वस्तुओं की माग बहुत कम करदेंगे और कुछ वस्तुओं की मांग बढ़ जावेगी।

वास्तविक आय में वृद्धि (change in real income) जब कि वस्तुओं की कीमत गिरने लगती है तब मनुष्यों की वास्तविक आय में वृद्धि

होती है। वस्तुओं की कीमत गिरने से लोग अपनी पहली आवश्यकताओं को कम रुपया व्यय करके पूरा कर लेते हैं और बची हुई क्रय शक्ति को अन्य वस्तुओं के खरीदने मे लगाते हैं। ऐसी दशा में मांग-अनुसूची बदल जाती है। उदाहरण के लिए यदि वस्तुओं की कीमत ५० प्रतिशत गिर जाती है तो यह तो होने वाला नहीं है कि लोग प्रत्येक वस्तु को दुगुना खरीदने लगेंगे। हम अनाज, नमक जैसी वस्तुओं को तो अधिक नहीं खरीद सकते, अन्य वस्तुओं को भी दुगुना खरीदेंगे इसकी सम्भावना भी कम है। ऐसी दशा में हमें अपने उपभोग मे परिवर्तन करना होगा, कुछ वस्तुओं को छोड़ना होगा कुछ नई वस्तुओं को खरीदना होगा। गेहू की कीमत कम हो जाने पर बाजरा या ज्वार खाने वाले उसे छोड़कर गेहूँ खाने लगेंगे इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि उपभोक्ताओं (consumers) की मांग-अनुसूची बदल जावेगी।

धन के वितरण (distribution) में परिवर्तन : यदि राज्य करों (taxes) के द्वारा धनी व्यक्तियों से अधिकाधिक धन लेकर निर्धनों पर अधिकाधिक व्यय करे तो समाज में धन का वितरण अधिक सतुलित हो जावेगा। इससे मनुष्यों की माँग पर प्रभाव पड़ेगा। जिन लोगों पर राज्य धन व्यय करेगा उनकी मांग बढ जावेगी और जिन धनिकों से कर वसूल किये जावेंगे उनकी उन वस्तुओं की माग जिन्हें वे पहले खरीदते थे कम हो जावेगी।

वे वस्तुएँ जिनके मूल्य (value) एक दूसरे से सम्बन्धित हैं : जो वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न (substitutes) हैं, जैसे चाय और कहवा उनमे से यदि एक वस्तु की माग बढेगी तो दूसरी की मांग कम होगी। जो वस्तुएँ एक दूसरे की सम्पूरक (complementary) हैं; जैसे कि सुई और तागा या मोटर और पेट्रोल उनमें से यदि एक की मांग बढ़ेगी तो दूसरी की भी मांग बढ़ जावेगी।

जिन वस्तुओं का सम्मिलत पूर्ति (joint supply) होती है, जैसे गेहूँ और भूसा, खाल और मांस तो उनमे एक वस्तु की माग मे वृद्धि होती है तो दूसरी वस्तु की कीमत गिरती और आगे चलकर उसकी कीमत गिरने के कारण उसकी मांग का भी विस्तार होता है।

जिन वस्तुओ की सम्मिलित माग (joint demand) होती है, उदाहरण के लिए मकानों की यदि माग बढ जावे तो सीमेंट, चूना, ईंट आदि की भी माग अनायास बढ़ जावेगी।

माँग की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि और कीमत में थोड़ी सी वृद्धि हो जाने
माँग में बहुत बड़ी कमी हो जाती है तो हम उस वस्तु की माँग को
लचीली (elastic) कहेंगे। इसी प्रकार अगर किसी की कीमत में बहुत
हो जाने पर भी उसकी माँग की मात्रा में बहुत कम या नाम मात्र की वृद्धि
है, और कीमत के बहुत अधिक बढ जाने पर भी उसकी मांग की मात्रा में
थोड़ी या नाम मात्र की कमी आती है तो उस वस्तु की मांग को हम लचक
(inelastic) कहेंगे। नमक एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है
उसकी मांग पर उसकी कीमत के घटने अथवा बढने का बहुत कम
पड़ता है, इस कारण उसकी माँग लचक रहित है। उसके विपरीत भारत
साधारण स्थिति के लोगों की फलों सम्बन्धी माँग लचकवाली समझी
चाहिए। क्योंकि फलों के थोड़े सस्ते होने पर लोग उनको अधिक मात्रा
खरीदने लगते हैं और उनकी थोड़ी सी कीमत बढने पर उनके खरीदने
मात्रा में बहुत कमी आजावेगी।

मांग की लचक तथा उपयोगिता ह्रास नियम का सम्बन्ध:
की लचक तथा उपयोगिता ह्रास नियम (law of diminishing utility)
सम्बन्ध है। यह तो हम जानते ही हैं कि जब किसी वस्तु की पूर्ति (supp
बढ़ती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घट जा
और जब पूर्ति घटती है तो सीमान्त उपयोगिता बढ जाती है। किन्तु
वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता एक समान नहीं घटती। कुछ वस्तुओं
सीमान्त उपयोगिता बहुत तेजी से घटती है। उदाहरण के लिए नमक से
मन बहुत जल्दी भर जाता है और उसकी बड़ी तेजी से घटती है। इस प्रकार
वस्तुओं की माँग लचक रहित होती है और उनकी कीमत घटने पर भी
उनको अधिक नहीं खरीदते। कुछ वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होने से
सीमान्त उपयोगिता बहुत धीरे-धीरे गिरती है। उदाहरण के लिए विला
की वस्तुओं जैसे रेशमी कपड़े की मांग बहुत धीरे-धीरे कम होती है। ऐसी व
की यदि कीमत कम होगी तो उनकी मांग अवश्य बढ़ेगी। अर्थात उनकी मांग
वाली होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी वस्तु की सीमान्त उपयो
तेजी से कम होती है तो उसकी मांग लचकरहित होगी और यदि सीमान्त उपयो
धीरे-धीरे कम होती है तो मांग लचकवाली होगी।

मांग की लचक (elasticity) कीमत के साथ बदलती है
भिन्न वस्तुओं की मांग की लचक भिन्न होती है, किन्तु एक ही वस्तु की मांग

कीमतों पर भिन्न होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण मांग की अनु- (demand schedule) पर मांग की लचक एक समान नहीं होगी। उदाहरण के लिए हम गेहूँ को ले लें। कल्पना कीजिए कि गेहूं १६ रुपए मन बिक रहा है। यदि उसकी कीमत गिरकर ५ रु० मन हो जावे तो गेहूं की मांग तेजी से बढ जावेगी और लोग गेहूँ को आवश्यकतानुसार खरीद लेंगे। अब गेहूँ की कीमत ५ रु० मन से भी कम हो जावे तो अधिकांश लोग अधिक नहीं खरीदेंगे।

मांग की लचक और उपभोक्ता की बचत (Consumers Surplus) : मांग लचक वाली है अथवा लचक रहित है उस का उपभोक्ता की बचत पर प्रभाव पड़ता है। अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) तथा रस्मी अनिवार्य आवश्यकताओं (conventional necessaries) की मांग लचकरहित होती है। बाज़ार में उनकी कीमत वास्तव में कम रहती है जबकि खरीदार उनकी अधिक कीमत देने के लिए तैयार रहते हैं। जितनी कीमत किसी वस्तु की देने के लिए ग्राहक तैयार रहता है, और जितनी कीमत पर उसे वस्तु प्राप्त हो जाती है उसका अन्तर ही उपभोक्ता की बचत होती है। अस्तु; जिन वस्तुओं की माग लचक रहित होती है उनमें उपभोक्ता की बचत अधिक होगी और जिन वस्तुओं की मांग लचकवाली होती है उनमें उपभोक्ता की बचत कम होती है।

मांग की लचक किन बातों पर निर्भर रहती है : किन वस्तुओं की मांग लचक वाली (elastic) होगी और किन वस्तुओं की मांग लचक रहित (inelastic) होगी इसका वर्गीकरण करना असम्भव है, और न इसका कोई नियम ही बतलाया जा सकता है। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु की माग लचक वाली होगी। इस सम्बन्ध में केवल कुछ साधारण नियमों की ओर ही हम संकेत कर सकते हैं।

सच तो यह है कि माँग की लचक एक सापेक्षिक वस्तु है। उसका सम्बन्ध व्यक्ति तथा स्थान से होता है। एक व्यक्ति के लिए एक स्थान पर किसी वस्तु की मांग लचक वाली हो सकती है तो दूसरे व्यक्ति के लिये तथा दूसरे स्थान पर उसी वस्तु की मांग लचकरहित होती है। इस बात का ध्यान रखते हुए हम नीचे लिखे नियम निर्धारित कर सकते हैं।

अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) तथा रस्मी आवश्यकताओं (conventional necessaries) की मांग लचक रहित होती है : इसका कारण यह है कि जो वस्तुएँ जीवन के लिए आवश्यक होती हैं उनको तो लोग

मूल्य या कीमत का अधिक ध्यान दिए बिना ही खरीदते हैं। और आवश्यकतानुसार मात्रा में उनको खरीद लेने के बाद, फिर चाहे कीमत में कमी ही क्यों न होजावे उन वस्तुओं को अधिक मात्रा मे नहीं खरीदा... कीमत के परिवर्तन का इन वस्तुओं की मांग पर अधिक प्रभाव नहीं ... नमक, गेहूँ इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं। किन्तु भारत जैसे निर्धन देश में ... वस्तुओं की मांग भी कुछ लचकीली है। जब नमक-कर दुगना कर दिया ... था तब भारत में नमक की मांग कम होगई थी। गेहूँ की कीमत यदि ... जावे तो जहां तक उच्चवर्ग, तथा मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों की मांग का प्रश्न ... उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होगा, परन्तु जहां तक निर्धन व्यक्तियों का ... है, गेहूँ की कीमत गिरने पर उनकी गेहूँ की मांग अवश्य बढ जावेगी और ... बढ़ने पर उनकी गेहूँ की मांग कम हो जावेगी। उन देशों में जहाँ नमक ... कुछ कम होता है, नमक की मांग लचक वाली होती है। अस्तु, यह कहना ... प्रत्येक दशा में अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की माँग लचकरहित ... है, ठीक नहीं है। अस्तु; यह नियम निर्धारित कर देना कि अनिवार्य आवश्यकताएँ लचक रहित (inelastic) होंगी, ठीक नहीं होगा।

विलासिता की वस्तुओं (luxuries) की मांग लचक वाली होती है। इसका कारण यह है कि यदि विलासिता की वस्तुओं—जैसे रेडियो, रिफ्रिजरेटर, मोटरकार तथा सुन्दर कीमती वस्तुओं की कीमत गिर जावे तो उनकी मांग बढ़ जावेगी। उनको अधिक लोग खरीदने लगेंगे। किन्तु यहां यह न भूलना चाहिए कि धनी व्यक्तियों के लिए यह रस्मी अनिवार्य आवश्यकताएँ (conventional necessaries) हैं। उन्हे तो इन वस्तुओं को खरीदना ही होगा और एक खरीदने के बाद वे दूसरी तो खरीदेंगे नहीं, फिर उनकी कीमत चाहे कितनी गिर जावे। अस्तु, जहां तक धनी व्यक्तियों की मांग है वह लचकवाली नहीं है। अन्य लोगों के लिए, जो उन धनी व्यक्तियों से कुछ कम धनी हैं उनके लिए इन वस्तुएँ की मांग लचकीली (elastic) होगी। हम कोई ऐसा नियम नहीं बना सकते जो सब के लिए एक समान लागू हो। क्योंकि अनिवार्य आवश्यकताएँ (necessaries) तथा विलासिता की वस्तुएँ सापेक्षिक शब्द हैं। एक वस्तु भिन्न-भिन्न वर्ग के व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता या विलासिता की वस्तु हो सकती है। एक वस्तु जो कि निर्धन व्यक्ति के लिए विलासिता की ... है वही एक धनी के लिए आवश्यक वस्तु हो सकती है। एक देश में जो ... विलासिता की है वही दूसरे देश में आवश्यक वस्तु हो सकती है। जो वस्तुएँ ... तक विलासिता की वस्तुएँ समझी जाती थीं वही आज आवश्यक समझी जाती ...

भी हम कह सकते हैं कि साधारणत: विलासिता तथा आराम देने
वस्तुओं की मॉंग लचक वाली होती है, क्योंकि यह वस्तुऍं जीवन के लिए
ार्य नहीं हैं। अस्तु; यदि यह सस्ती होती हैं तो लोग इनको अधिक मात्रा में
दते हैं और यदि इनका मूल्य बढ जाता है तो इनके बिना भी काम चल
ा है। अस्तु; इन वस्तुओं के उपभोग पर उनके मूल्य के कम अधिक होने
बड़ा असर पड़ता है।

उन वस्तुओं की जिनके स्थानापन्न (substitutes) होते हैं
ा लचकीली होती है : यदि चाय की कीमत बढ जाती है तो लोग उसका
ोग कम करके कहवे का उपयोग अधिक कर सकते हैं। इसी प्रकार निर्धन
के यदि गेहूँ की कीमत बढ जाती है तो बाजरा, ज्वार तथा मक्का खरीदने
ते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि आज के चतुर व्यवसायी
ाधनों के द्वारा ग्राहकों को ऐसी आदत डाल देते हैं कि वे जिस वस्तु को
ोग करने के अभ्यस्त हो जाते हैं उसी को खरीदते हैं। उदाहरण के लिए
व्यक्ति चाय पीने का अभ्यस्त है वह कहवा पीना पसन्द नहीं करेगा।
ाधारणतया हम यह कहते हैं कि साबुन, तेल ब्लेड इत्यादि वस्तुओं के
ुत से स्थानापन्न होते हैं, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। जो लोग जिस
ार का साबुन, ब्लेड या तेल काम में लाने के अभ्यस्त होते हैं वे उसी को
ाम में लाना चाहते हैं, दूसरी वस्तु को नहीं पसन्द करते। उदाहरण के लिए
ो कैस्ट्रीन हेयर आयल काम में लाने के अभ्यस्त हैं वे दूसरे प्रकार का तेल
ाना पसन्द नहीं करेंगे इत्यादि।

इसी प्रकार उन वस्तुओं की मांग भी लचकदार होती है जो कि एक से
अधिक काम के लिए उपयोग में आती हैं। रबर और कोयला इसके उदाहरण हैं।
यदि इन वस्तुओं की कीमत बढ जावे तो कम आवश्यक कार्यों में इनका
उपयोग एक साथ कम कर दिया जावेगा, और अगर उनकी कीमत में
थोड़ी कमी हो जावे तो बहुत से कम आवश्यक कार्यों में भी उनका
उपयोग किया जाने लगेगा। उदाहरण के लिए यदि कोयला सस्ता हो जावे तो
उसका उपयोग मकान को जाड़ों में गरम करने के लिए भी किया जा सकता है।
रबर का प्रयोग अत्यन्त सस्ती होने पर सड़क बनाने में भी किया जा सकता
है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि इन वस्तुओं की कीमत ऊँची होगी तो
उनकी मांग संकुचित हो जाती है और यदि कीमत गिरती है तो मांग का
विस्तार होगा।

उन वस्तुओं की मॉग भी लचक वाली होती है कि जिनका उ (consumption) भविष्य के लिए छोड़ा जा सकता है। उदाहरण के युद्धकाल में लोगों ने मकान बनाना, कीमती फर्नीचर खरीदना तथा अनि आवश्यकता से अधिक ऊनी सूट बनाना रोक दिया था। जब कि वस्तुएँ स होती हैं तो हम उनको अधिक मात्रा में खरीदते हैं। उनकी मांग लचकदा (elastic) होती है।

अब हम माग पर कीमत का क्या असर पड़ना है इसका विचार करें प्रो० मार्शल ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि समाज की एक श्रेणी की मांग ही ख्याल रखते हुए हम कह सकते हैं कि जब वस्तुओं की कीमत अधिक हो है तो उनकी माग अधिक लचकदार होती है, और जब चीजों की कीमत बीच हालत मे होती है तब भी माग पहले से कुछ कम फिर भी अपेक्षाकृत लचकद ही होती है। किन्तु जब वस्तुओं की कीमत कम होती है तो मॉग कम लचकद होगी और जैसे-जैसे कीमन गिरती जावेगी माग की लचक कम होती जावेग यहा तक कि कीमत इतनी कम हो जावे कि उस श्रेणी के सब लोग आ उन वस्तुओं की पूर्ण रूप से तृप्ति करलें तो माग मे बिलकुल ही ल नहीं आवेगी।

यदि हम विभिन्न श्रेणियों का विचार छोड़दें तो हम देखेंगे कि य वस्तु की कीमत बहुत अधिक है तो उसकी मॉग कम लाचकवाली होगी। इस कारण यह है कि इतनी ऊँची कीमत पर उन वस्तुओं को वही खरीदेंगे बहुत धनी होंगे। और यदि उनकी कीमत में काफी कमी आजावेगी तो भी इतनी ऊँची होगी कि मध्यम श्रेणी तथा निम्न श्रेणी के लोगों की पहुँच बाहर होगी। वे उन्हें मोल नहीं ले सकेंगे। उदाहरण के लिए यदि हीरे जवा और बहुत कीमती मोटरकार के मूल्य मे कमी आ जावे तो भी उनकी मॉग कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी क्योंकि, अन्य श्रेणी के लोग तो अब भी इन वस्त को नहीं खरीद सकेंगे। ठीक इसी प्रकार यदि किसी वस्तु की कीमत बहुत है तो उसकी माग लचकरहित (inelastic) होगी। क्योंकि इतनी कीमत पर निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी अपनी आवश्यकता के अनुसार उस व को खरीद सकेंगे और इसलिए उसकी कीमत में और अधिक कमी होने पर माग मे कोई खास अन्तर नहीं पड़ेगा। कीमत मे थोड़ी वृद्धि हो जाने पर माग में अधिक अन्तर नहीं पड़ेगा, क्योंकि पहले ही कीमत इतनी कम थी यदि उसमें थोड़ी वृद्धि हो जाती है तो भी लोग अधिक चिन्ता नहीं करें

इसी प्रकार बहुत ऊँची कीमत वाली वस्तुओं में वृद्धि हो जाने पर भी उनकी माँग पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि जो धनी व्यक्ति उतनी ऊँची कीमत दे सकते हैं वे उससे भी अधिक दे सकेंगे।

अन्त में एक बात और भी है जिसका हमको उल्लेख कर देना चाहिए। अमेरिकन अर्थशास्त्रज्ञ श्री टाजिग का मत है कि समाज में धन (wealth) का वितरण (distribution) जितना ही समान होगा उतनी ही अधिकांश वस्तुओं की माँग अधिक लचकदार होगी। और वितरण जितना असमान होगा उतनी ही अधिकांश वस्तुओं की माँग कम लचकदार अथवा लचकरहित होगी। इसका कारण यह है कि जब सब लोगों के साधन लगभग समान होंगे तो कीमत के परिवर्तन का प्रभाव सारे समाज पर लगभग एक समान होगा। इसके फलस्वरूप समाज की माँग अधिक लचकदार होगी। इसके अतिरिक्त माँग की लचक पर आदत का भी असर होता है। जिस वस्तु का इस्तेमाल किसी की आदत में हो उस चीज की माँग लचकरहित होती है। जिन लोगों को सिगरेट या बीड़ी पीने की आदत है वे बिना कीमत का ध्यान किए अपनी बीड़ी या तम्बाकू की जरूरत पूरी करेंगे ही, और उस जरूरत को पूरी कर लेने के बाद फिर बीड़ी या तम्बाकू की कीमत में कुछ परिवर्तन हो तो उसका उनकी माँग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अन्त में हमें एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न उपयोग के अनुसार माँग लचक वाली अथवा लचक रहित हो सकती है। उदाहरण के लिए जब आदमियों के खाने के लिए गेहूँ, जौ, और चने का उपयोग होता है, तो उनकी माँग लचकरहित (inelastic) होती है; और जब इन्हीं अनाजों का उपयोग जानवरों को खिलाने में होता है, तो उनकी माँग लचकदार हो जाती है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस वस्तु की माँग लचकदार या लचकरहित होगी इसके लिए कोई कठोर नियम नहीं बनाये जा सकते।

माँग की लचक को नापने की रीतियाँ व्यवहार में स्थूल रूप से यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि किसी वस्तु की माँग लचकदार है, अथवा लचक रहित है। साधारणतया यह जानने की इच्छा होती है कि माँग कितनी लचकदार है, और इसके लिए माँग की लचक को नापना आवश्यक है। माँग की लचक को नापने के लिए दो रीतियों को उपयोग में लाया जाता है।

पहली रीति : माग की लचक को मालूम करने का पहला तरीका यह है कि कीमत में परिवर्तन होने से पूर्व तथा परिवर्तन होने के बाद उस वस्तु पर जो भी व्यय किया जाता है, उसकी तुलना की जावे। माग की लोच को हम तीन श्रेणियों मे बॉटते हैं, (१) इकाई (unity) (२) इकाई से अधिक (greater than unity) (३) इकाई से कम (less than unity)।

माग की लोच उस दशा मे इकाई के बराबर मानी जावेगी जब कि वस्तु की कीमत मे परिवर्तन होने पर भी उस वस्तु पर उतना ही व्यय किया जाए जितना कि पहले किया जाता था।

मांग की लोच उस दशा मे इकाई से अधिक मानी जावेगी कि जब कि कीमत कम होने पर उस वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय पहले की अपेक्षा अधिक हो, अथवा वस्तु की कीमत मे वृद्धि होने पर उस पर किया जाने वाला व्यय पहले की अपेक्षा कम हो।

दो कीमतों के बीच में मॉग की लचक उस दशा मे इकाई से कम मानी जावेगी कि जब उस वस्तु पर किया जाने वाला कुल व्यय कीमत बढने पर बढता है और कीमत घटने पर घटता है।

नीचे दी हुई अनुसूची (schedule) मे यह स्पष्ट हो जावेगा :—

	नारगियों की कीमत प्रति दर्जन	मॉग दर्जनो मे	कुल व्यय रु० आ०
१	१ रु० ८ आना	३ दर्जन	४ रु० ८ आ०
२	१ रु० ४ आना	४ ,,	५ रु०
३	१ रु०	५ ,,	५ रु०
४	१२ आने	६ ,,	४ रु० ८ आ०
५	८ आने	८ ,,	४ रु०

ऊपर दी हुई अनुसूची मे पहली और दूसरी कीमतों के बीच मे माग की लचक इकाई से अधिक है। दूसरी और तीसरी के बीच में माग की लचक बराबर है, तथा चौथी और पाचवी के बीच मे माग की लचक इकाई से कम है।

दूसरा तरीका—माग की लचक को जानने का दूसरा तरीका यह है कि हम, वस्तु की कीमत मे जो परिवर्तन हुआ है और उसके कारण माग मे जो परिवर्तन हुआ है उनके अनुपात की तुलना करे। उदाहरण के लिए जब किसी वस्तु की माग मे ठीक उसी अनुपात मे परिवर्तन हो कि जिस अनुपात में उसकी

कीमत में परिवर्तन हुआ है तो हम उस वस्तु की माँग की लचक को इकाई (unity) के बराबर मानेंगे। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु की कीमत ५० प्रतिशत कम हो जावे और उसकी माँग दुगनी हो जावे, अथवा उसकी कीमत ५० प्रतिशत बढ़ जावे और उसकी माँग आधी रह जावे, तो हम कहेंगे कि उस वस्तु की माँग की लचक इकाई (unity) के बराबर है। यदि माँग की मात्रा में कीमत के अनुपात से कम परिवर्तन होता है, तो हम उस वस्तु की माँग की लचक को इकाई से कम कहेंगे। जैसे कीमत के पचास प्रतिशत कम हो जाने पर भी माँग में केवल ३० प्रतिशत वृद्धि हो, अथवा कीमत में ५० प्रतिशत वृद्धि होने पर माँग में केवल ३० प्रतिशत कमी हो, तो उस वस्तु की माँग की लचक इकाई से कम कही जावेगी। इसके ठीक विपरीत यदि मूल्य में पचास प्रतिशत कमी हो जाने पर माँग में पचास प्रतिशत से अधिक वृद्धि हो और कीमत में पचास प्रतिशत वृद्धि हो जाने पर माँग में पचास प्रतिशत से अधिक कमी हो, तो हम उस वस्तु की माँग की लचक को इकाई से अधिक (greater than unity) कहेंगे।

व्यवसायियों तथा सरकार के अर्थविभाग को किसी वस्तु की माँग की लचक को ठीक ठीक जानना आवश्यक है। क्योंकि व्यवसायी अपने व्यवसाय की दृष्टि से तथा अर्थविभाग कर (tax) द्वारा होने वाली आय की दृष्टि से यह जानना चाहेंगे कि किस वस्तु पर लोग कुल कितना व्यय करेंगे। इस जानकारी के आधार पर ही व्यवसायी वस्तु की कीमत निर्धारित करेगा तथा सरकार का अर्थविभाग 'कर' की दर निर्धारित करेगा।

माँग की लचक को चित्रों द्वारा भी प्रदर्शित किया जा सकता है। हम नीचे माँग की लचक को प्रदर्शित करने वाले कुछ चित्र देते हैं जो वस्तुओं की माँग की लचक की मात्रा को प्रकट करते हैं।—
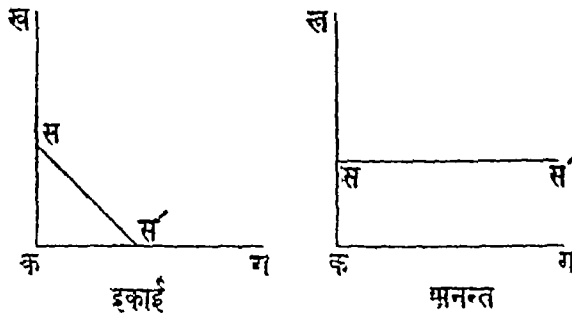
इन चित्रों में स स' माँग की रेखा है। माँग की लचक शून्य या अनन्त हो, यह तो केवल कल्पना की वस्तु है, परन्तु इसको भी हमने पहले तथा अब्दि चित्र से प्रदर्शित किया है। जब माँग की लचक शून्य है तब माँग की रेखा क ख के समानान्तर है और जब माँग की लचक अनन्त है, तो माँग की रेखा क ग के समानान्तर है। जितनी ही माँग की लचक कम होगी उतनी ही माँग की रेखा की स्थिति शून्य वाली रेखा के समीप अर्थात उस जैसी होगी। यदि माँग की लचक अधिक होगी तो माँग की रेखा की स्थिति 'अनन्त' की रेखा के समीप अर्थात उस जैसी होगी।

ऊपर के चित्रों में सरलता की दृष्टि से माँग की लचक की रेखायें सीधी बनाई गई हैं। जब वे सीधी रेखाये न होकर वक्र रेखा (curve) हों और भिन्न भिन्न विन्दुओं पर उनका झुकाव भिन्न हो, तो किसी विन्दु विशेष पर माग की लचक उस विन्दु पर टैंजैट के झुकाव से प्रकट होती है, जैसा कि नीचे दिए चित्र से प्रकट होता है।
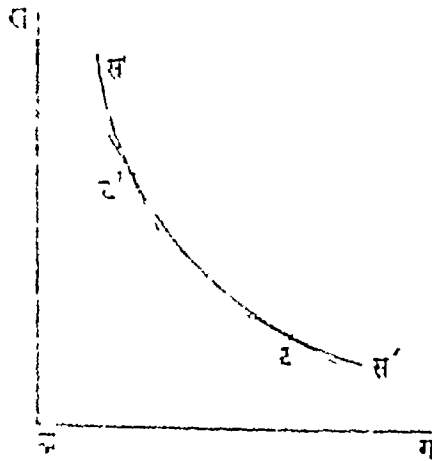
ऊपर दिए हुए चित्र में माग की वक्र रेखा (demand curve) म स' पर दो विन्दु ट¹ ट हैं। ट¹ विन्दु पर वक्र रेखा का झुकाव अधिक है, अस्तु उस बिन्दु पर माँग की लचक अधिक है, और ट विन्दु पर माँग की वक्र रेखा का झुकाव कम है, अस्तु उस विन्दु पर माँग की लचक कम है।

बैनहैम ने अपनी पुस्तक में नीचे दिया चित्र देकर माग की लचक को बड़े सुन्दर ढग से प्रकट किया है। नीचे दिए चित्र में क स माँग की वक्र रेखा है, कुल द्रव्य या मुद्रा (money) जो उस वस्तु पर व्यय की जाती है, वह क ख रेखा से प्रकट होती है, और वस्तु की जितनी मात्रा मोल ली जाती है वह क ग रेखा से प्रकट होती है।
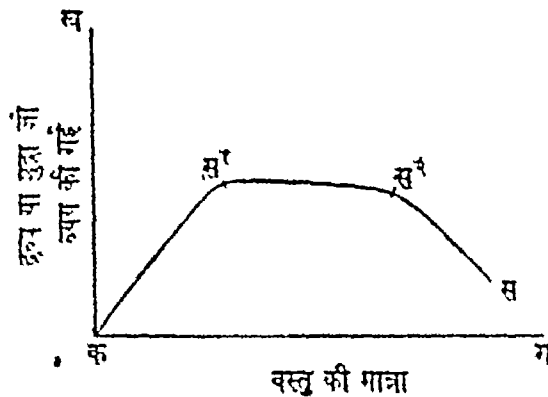
ऊपर के चित्र में जब माँग की वक्र रेखा ऊपर की ओर उठती है क स¹ तक, तब माँग की लचक इकाई से अधिक है। जब माँग की वक्र रेखा सीधी लेटी हुई प्रतीत होती है स¹ से स² तक, तब माँग की लचक इकाई के बराबर है, और जब माँग की वक्र रेखा नीचे गिरती है स² से स तक तब माँग की लचक इकाई से कम है।

माँग की लचक के विचार का व्यावहारिक महत्त्व : हम इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर चुके हैं कि माँग की लचक का विचार व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सरकार तथा वाणिज्य और व्यवसाय के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। [illegible] यदि उन वस्तुओं पर कर लगाती है जिनकी माँग लचक-रहित है तो कर से प्राप्त होने वाली आय के सम्बन्ध में अधिक निश्चिन्त हो [illegible] है। इसके साथ ही यह डर नहीं कि कर लगने पर वस्तु की माँग कम हो जायेगी; परन्तु क्योंकि इसकी माँग लचक रहित है, अतएव उसकी

नहीं होगी। परन्तु किसी प्रगतिशील राज्य में इस प्रकार की वस्तुओं पर कर नहीं लगाये जाते, क्योंकि इस प्रकार की वस्तुएँ अधिकतर जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती हैं, अतएव उनकी कीमत बढ जाने से सर्वसाधारण को कठिनाई होती है।

इसी प्रकार व्यवसायी-विशेषकर यदि उसे एकाधिपत्य (monopoly) प्राप्त है, अपनी वस्तु की कीमत को निर्धारित करते समय माँग के स्वरूप को देखता है। यदि वस्तु की माग लचकरहित (inelastic) है, तो उसका लाभ इसमें है कि वह कीमत को बढा दे, और पहले की अपेक्षा थोड़ी कम मात्रा में वस्तु को बेचे। इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग अधिक लचकदार है, तो वह कीमत कुछ घटा दे, जिसका परिणाम यह होगा, कि उस वस्तु की माँग बहुत बढ जावेगी, और एकाधिकारी (monopolist) को अधिकतम लाभ होगा।

जिन वस्तुओं का सम्मिलित उत्पादन (joint production) होता है, उनमें भी माग की लचक का विचार व्यवहार मे लागू होता है। कारण यह है, कि जो वस्तुएँ एक साथ सम्मिलित उत्पन्न होती हैं, उनका पृथक लागत-व्यय (cost of production) तो मालूम नहीं किया जा सकता, उत्पादक उनकी कीमत निर्धारित करते समय उनकी मांग के स्वरूप को ध्यान में रखता है। उदाहरण के लिए गेहूं और भूसा की सम्मिलित उत्पत्ति होती है। यदि गेहूँ की माग लचक रहित है, तो गेहूँ की कीमत अधिक रक्खी जावेगी, और यदि भूसे की माग लचकदार है, तो उसकी कीमत अधिक नहीं बढेगी। रेलें इसी सिद्धान्त के अनुसार माल पर भाड़ा निर्धारित करती हैं। एक मन चांदी पर एक मन कोयले या घास से कई गुना अधिक भाड़ा लिया जाता है। जब किसी धंधे में क्रमागत वृद्धि नियम (law of increasing returns) लागू होता है, तो उत्पादक (producer) कीमत घटा देता है, जिससे वस्तु की माग अधिक बढे (यदि उसकी माग लचकदार है) और वस्तु को कम से कम लागत पर अधिकतम मात्रा में उत्पन्न करके अधिकतम लाभ कमाता। कहने का तात्पर्य यह है, कि मांग की लचक केवल सैद्धान्तिक तथा अध्ययन की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन उसका व्यावहारिक महत्त्व भी बहुत है।

तीसरा भाग

उत्पत्ति (Production)

परिच्छेद ८

उत्पत्ति (Production)

अभी तक हम यह मान कर चले हैं, कि प्रतिदिन उपभोग के लिए आवश्यक उपभोग पदार्थ (consumption goods) एक मात्रा में बाजार में बिकने के लिए आते रहते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति आवश्यकतानुसार उनको खरीद लेता है। अब हमको यह देखना है कि यह उपभोग पदार्थ कितनी मात्रा में उत्पन्न किए जायँगे, यह किस प्रकार निश्चित होगा कि उत्पादन कितना हो, धन (wealth) की उत्पत्ति के लिए किन-किन साधनों की आवश्यकता होगी, तथा उत्पादन के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक बातें क्या हैं। उत्पत्ति (production) में हम इन्हीं प्रश्नों का अध्ययन करेंगे।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि प्रकृति की देन के स्वरूप जो मुक्त पदार्थ (free goods) हमें प्राप्त हैं, उनको छोड़कर अन्य वस्तुओं को तो उत्पन्न ही करना होगा। यह भी हम पहले कह चुके हैं कि मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित हैं, उनकी कोई सीमा नहीं है; अतएव उन आवश्यकताओं (wants) को पूरा करने के लिए उसे लगातार उत्पादन का कार्य करना ही होगा। यदि मनुष्य की आवश्यकताएँ परिमित होतीं तो वह एक सीमा तक ही धन का उत्पादन करता, किन्तु मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित हैं, इस कारण मनुष्य का धन उत्पन्न करने का आर्थिक प्रयत्न (economic effort) भी कभी नहीं रुकता। मनुष्य यदि अधिक धन (wealth) उत्पन्न करता है, तो वह आराम से रह सकेगा और यदि कम धन उत्पन्न करेगा तो निर्धनता में जीवन व्यतीत करेगा। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य अधिक से अधिक धन उत्पन्न करे। इसका फल यह हुआ कि धन का उत्पादन (production of wealth) मनुष्य के जीवन का एक मुख्य कार्य बन गया है।

धन का उत्पादन और समाज-हित

धन की उत्पत्ति का अध्ययन करने से पूर्व हमें यह [illegible] कि [illegible] समाज के लिए, मनोवृत्ति का [illegible] का उत्पादन [illegible] करते हैं, क्योंकि [illegible] सिद्धान्त के [illegible] और [illegible] प्रसिद्ध अर्थशास्त्री [illegible]

बढ़ती हुई रुचि का मुख्य कारण यही है। अधिकाश मनुष्यों का विचार है किसी भी देश की अर्थनीति (economic policy) का मुख्य उद्देश्य के नागरिकों की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना अर्थात् उनके रहन सहन दर्जे (standard of living) को ऊंचा उठाना ही होना चाहिए। सहन का दर्जा किसी व्यक्ति के उपभोग (consumption) पर होता है। जो वस्तुएँ (goods) और सेवायें (services) कोई उपभोग करता है वही उसका रहन-सहन निर्धारित करती हैं। यदि हम हैं कि अमुक परिवार निर्धन है, तो उसका अर्थ यह है कि उनको यथेष्ट पौष्टिक भोजन, यथेष्ट वस्त्र, एक हवादार स्वास्थ्यप्रद मकान, यथेष्ट चिकि शिक्षा अथवा मनोरजन इत्यादि की सुविधायें प्राप्त नही हैं। जब हम कहते कि औसत भारतीय निर्धन हैं, तो इससे हमारा यही अर्थ होता है कि उन्हें भोजन, वस्त्र, मकान, चिकित्सा, शिक्षा, मनोरजन इत्यादि की सुविधायें प्राप्त हैं। और जब हम पूछते हैं कि क्या कारण है कि भोजन, वस्त्र तथा मकानों कमी है, तो उसके हमें दो उत्तर मिलते हैं। पहला उत्तर तो यह मिलता है इन वस्तुओं का उत्पादन कम है। कुछ लोग एक दूसरी बात भी कहते हैं, समाज में थोड़े से लोग इतने धनी हैं और उनके पास यह वस्तुएँ इत अधिक मात्रा में हैं कि अन्य व्यक्तियों को यह वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में नहीं सकतीं। दूसरे शब्दों मे उनका कहना है कि धन (wealth) का असम वितरण (unequal distribution) भी निर्धनता का एक कारण परन्तु धनी व्यक्ति समाज मे इतने कम होते हैं कि यदि धन का सामान वितर भी कर दिया जावे तो भी सर्व साधारण के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता। अस्तु, हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि कोई देश समाज सुखी और समृद्धिशाली बनना चाहता है तो उसे अधिकाधिक (wealth) का उत्पादन (production) करना होगा। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि सर्व साधारण के रहन-सहन को ऊँ उठाने के लिए उत्पादन की वृद्धि के साथ ही धन का अधिक समान वित होना भी जरूरी है। परन्तु व्यवहार में हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि धन का अधिक उत्पादन ही देश के रहन-सहन के दर्जे को ऊँ करने के लिए आवश्यक है। वस्तुएँ आकाश से बरसती नहीं है, उन्हें उ करना होता है। अस्तु; संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसी देश की सम बहुत कुछ वहां के उत्पादन पर निर्भर है। यह ठीक है कि थोड़े समय के श्रम (labour) और पूँजी (capital) का मशीनों और इमारत

(१) रूप परिवर्तन (form utility) : किसी वस्तु के परिवर्तन कर देने से यदि उसकी उपयोगिता बढ़ जावे तो उसे रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि कहेंगे। उदाहरण के लिए जब बढ़ई लकड़ी को छाट कर मेज बनाता है, सुनार सोने के भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करता है, कुम्हार मिट्टी से खिलौने बनाता है, तो रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगिता बढ़ती है। यह सब लोग रूप में परिवर्त्तन करके उपयोगिता में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार रूप मे परिवर्तन के द्वारा खेती से कच्चा माल (raw material) उत्पन्न होता है और कच्चे माल को पक्के माल या तैयार माल (भिन्न-भिन्न वस्तुओं) में बदल दिया जाता है। कच्चे माल को बदलने के लिए कारीगर अपने घरों पर या कारखानों मे काम करते हैं।

(२) स्थान परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि (place utility) : स्थान परिवर्त्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से होती है। जिस जगह कोई चीज बहुत हो और उसे वहां से किसी ऐसी जगह ले जाया जाय कि जहां वह कम है, तो उस वस्तु की उपयोगिता बढ जावेगी। उदाहरण के लिए खानों से कोयला निकाल कर जब वह बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में लाया जाता है, जहाँ उसका कारखानों मे उपयोग होता है, तो उसकी उपयोगिता (utility) बढ़ जाती है। जंगल से लकड़ी काट कर बाजार में लाने से उसकी उपयोगिता बढ जाती है। आसाम में चाय की बहुतायत है, उसे रेल द्वारा दूसरे स्थानों पर पहुँचाने से अधिक उपयोगी हो जाती है। इसी प्रकार अनाज, फल, व सब्जी जहाँ अधिकता से उत्पन्न होती हैं वहा उनकी उपयोगिता कम होती है। जब मण्डी में लाए जाते हैं तो उनकी उपयोगिता बढ जाती है। यदि नागपुर के सतरे और चमन के अंगूर उन स्थानों से भिन्न-भिन्न शहरों में न भेजे जावे तो वह इतने उपयोगी न हों और बहुत कुछ वहीं पड़े पड़े सड़ जावें।

संचय द्वारा उपयोगिता-वृद्धि (time utility) : कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो किसी खास समय अथवा मौसम में ही होते हैं, किन्तु उनकी जरूरत भविष्य में भी होती है। यदि उनका सञ्चय न कर लिया जावे तो भविष्य में वह चीजें लोगों को न मिलेंगी। साथ ही जिस समय वे पैदा होती हैं उस समय वे इतनी अधिक मात्रा मे उपलब्ध हों, कि उनका ठीक उपयोग न हो सके। यदि उन वस्तुओं को सञ्चित करके भविष्य में उपयोग के लिए रखा जावे, तो उनकी उपयोगिता बढ जाती है। गेहूँ, गुड़, चावल, शक्कर, शराब

जिनका पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। गाने वाले, डाक्टर, वकील, शिक्षक, तमाशा दिखाने वाले, जज, पुलिसमैन तथा घर का नौकर सब ...तिक उपयोगिता (service utility) उत्पन्न करते हैं,। तमाशा दि... वाले तथा संगीतज्ञ लोगों को अपनी कला से प्रसन्न करते हैं, पुलिस, सेना, डाक्टर हमारी रक्षा करते हैं, शिक्षक हमारी बुद्धि का विकास करता इसलिए यह सभी उत्पादक हैं।

उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम (productive and unprod ctive labour) यह विचार कि कई एक प्रकार का श्रम दूसरे प्रकार श्रमों से अधिक महत्त्वपूर्ण है, अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। अरस्तु कुछ कार्यों को, जैसे कृषि इत्यादि को, प्राकृतिक तथा व्यापारिक कार्यों अप्राकृतिक बतलाया था। यह विचार भिन्न-भिन्न समय में भिन्न भिन्न मे हमारे सामने आया। आरम्भ मे अर्थशास्त्रियों का विश्वास था, कि विदेशी व्यापार अत्यन्त लाभदायक है, जिसके फल स्वरूप देश म ... आवे। इसके उपरान्त जो अर्थशास्त्रियो का एक दूसरा दल (physiocra... उत्पन्न हुआ। उसका कहना था कि व्यापारियों का कार्य व्यर्थ और अनुत्पा... है। उनके अनुसार कृषि सर्वोत्तम उत्पादक कार्य है, क्योंकि प्रकृति की की सहायता से हम अधिक धन (wealth) उत्पन्न करते हैं। ऐडम स्मि... ने इस विचार को अधिक स्पष्ट, विस्तृत और पुष्ट किया। उसने केवल ... को ही उत्पादक कार्य नही माना वरन सभी धधो तथा उनसे सम्बधित का... को उत्पादक स्वीकार किया। उसके अनुसार वह सब श्रम, जो विक्रय ... वस्तुओं को उत्पन्न करे, उत्पादक श्रम स्वीकार किया जाना चाहि... ऐडम स्मिथ के अनुसार वे केवल शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर ही न... वरन वे सभी लोग जो उत्पादन-कार्य का प्रबन्ध, नियत्रण व देखभाल करते उत्पादक श्रम की श्रेणी मे आजाते हैं। उसके अनुसार कारखाने का मैन... इंजीनियर तथा फोरमैन उत्पादक श्रम (productive labour) किन्तु ऐडम स्मिथ की उत्पादक श्रम की परिभाषा के अनुसार घरेलू नौ... सगीतज्ञ, शिक्षक, वकील धर्मोपदेशक, डाक्टर, कवि, लेखक, और अर्थश... के सिद्धान्तो ... का श्रम अनुत्पादक है। वह इस प्रकार के श्रम को उत्पा... श्रम की श्रेणी मे नहीं रखता।

यह परिभाषा कि केवल वही श्रम उत्पादक है, जो भौतिक वस्तु (material goods) को उत्पन्न करता है, 'मिल' की पुस्तक मे भी

को मिलती है। किन्तु 'मिल' यह भूल गया कि उत्पादक श्रम की यह पा स्वीकार करके बहुत सी असंगतियां उत्पन्न होंगी। इस परिभाषा सार संगीतज्ञ का श्रम अनुत्पादक है किन्तु संगीत-वाद्यों के बनाने वाले र का श्रम उत्पादक है। यदि उन लोगों का श्रम जो कि उस वाद्य यंत्र जायेंगे अनुत्पादक समझा जाय तो फिर वह वाद्य यंत्र बनाया ही क्यों ? और उस कारीगर का श्रम क्यों उत्पादक स्वीकार किया जावे, जो निर्माण करेगा। यदि उस वाद्य यंत्र को बनाने वाले कारीगर का श्रम दक है, तो उसके बजाने वाले का श्रम भी अवश्य ही उत्पादक माना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, कि मनुष्य किसी नवीन पदार्थ tter) को नहीं बनाता वरन वह प्रकृति द्वारा दी गई वस्तुओं की गिता (utility) में वृद्धि मात्र करता है। अस्तु यदि कारीगर लकड़ी र्मोनियम बनाकर उपयोगिता में वृद्धि करता है, तो संगीतज्ञ उसको र उसकी उपयोगिता में वृद्धि करता है, इस कारण उसका श्रम भी उतना दक है जितना कि कारीगर का।

श्रम जो किसी आवश्यकता की पूर्ति करने में लगा है, उत्पादक है : निक अर्थशास्त्रियों का मत है कि जो श्रम (labour) आवश्यकताओं ants) की पूर्ति करता है, वह उत्पादक (productive) है। जब कि ई व्यक्ति किसी वस्तु की मांग करता है, अथवा किसी व्यक्ति की सेवा के लिए [illegible] दाम या वेतन अथवा पारिश्रमिक देता है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि उसको प्राप्त करने की इच्छा रखता है, और इसलिए [illegible] जो [illegible] की पूर्ति करता है वास्तव में उत्पादक है। इस [illegible] मी, [illegible] अथवा डाक्टर का [illegible] उत्पादक है। केवल उन [illegible] को अनुत्पादक समझना चाहिए जो कि अपना काम पूरा करने [illegible] जो [illegible] की कोई मांग (demand) [illegible] किसी [illegible] नहीं बनाया जाता है, किन्तु [illegible] कुछ [illegible] [illegible] होगा।

[illegible] उन लोगों का श्रम उत्पादक है जिनके द्वारा समाज को हानि [illegible] ऐसा [illegible] यह उठता है कि क्या यह श्रम उत्पादक कहा

जावेगा, जिससे कि भौतिक हित की वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के। एक धोखेबाज़ व्यक्ति एक रद्दी दवा बनाकर बेचता है, क्या उसका श्रम दक कहा जावेगा? यद्यपि इस प्रकार की वस्तु से समाज को हानि होती परन्तु फिर भी अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार इस प्रकार का श्रम दक श्रम माना जावेगा। क्योंकि जब तक कोई खरीदार उस प्रकार की की माग करता और उसका मूल्य देने के लिए तैयार है, उसे उस कुछ तृप्ति अवश्य होगी, और इस लिए यह श्रम उत्पादक कहा जावेगा यदि हम उन वस्तुओं तथा सेवाओं को जिनको हम समझते हैं कि वे का आर्थिक हित नहीं बढाती, उत्पादक की श्रेणी से निकालने लगें तब कहना कठिन होगा कि कौनसा श्रम उत्पादक है, और कौनसा अनुत्पादक उदाहरण के लिए एक व्यक्ति कह सकता है, कि मदिरा से समाज का हित होता है, अत, उसको उत्पन्न करने मे किया गया श्रम अनुत्पादक परन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि से वह श्रम उत्पादक है, क्योंकि कुछ लोग खरीदते हैं और उसका मूल्य देते हैं। अस्तु, संक्षेप मे हम कह सकते कि वह सभी श्रम उत्पादक है, जो किसी आवश्यकता (want) की पूर्ति है। और ऐसे सभी लोग जो उपयोगिता की वृद्धि करते हैं, अथवा ऐसी (goods) या सेवा (service) उत्पन्न करते हैं, जिसकी माग है और जो किसी की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है, वे और उनका श्रम उत्पादक कहा जावेगा फिर चाहे वह समाज के लिए हितकर न भी हो।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है, कि समाज के अधिकांश व्यक्ति उत्पादक श्रम (productive labour) करते हैं, परन्तु कुछ व्यक्ति समाज मे ऐसे भी होते हैं, जो उत्पादको की श्रेणी मे नहीं रक्खे जाते जैसे भिक्षा पर जीवन व्यतीत करने वाले, चोर, ठग, और डाकू इत्यादि। साधारणत सैनिक का श्रम उत्पादक माना जावेगा क्योंकि देश मे शान्ति रखने के लिए और देश की बाहरी आक्रमण से रक्षा करने के लिए सेना आवश्यकता है। साथ ही देश मे शान्ति और बाहरी आक्रमण से रक्षा (wealth) के उत्पादन के लिए भी आवश्यक है। परन्तु यदि सेना का उपयोग केवल अन्य देशों पर आक्रमण करने के लिए और उनको नष्ट करने के ही लिए किया जाय, तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी सेना का श्रम अनुत्पादक होगा। उनमे और लुटेरो मे कोई अन्तर नहीं है। दुर्भाग्यवश संसार के अधिकांश ऐतिहासिक सेनापति बड़े डाकुओं से अधिक और कुछ नहीं थे।
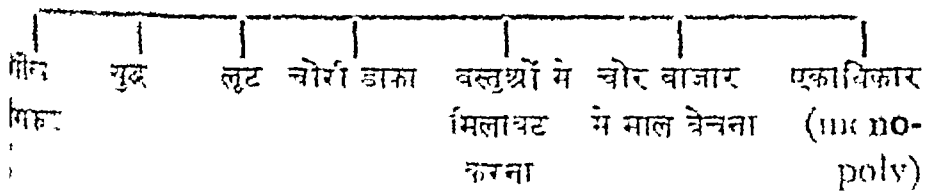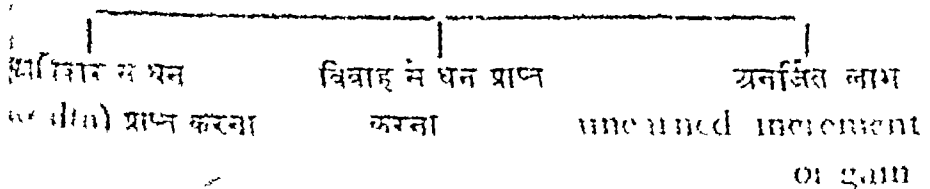
(ख) गौण धन्धे (Secondary Industries). गौण धन्धों में धन्धों से उत्पन्न कच्चे माल (raw material) को भिन्न-भिन्न प्रकार के माल में परिणत किया जाता है।

व्यापार सम्बन्धी कार्य (Commercial Occupations)

यातायात Transport	माल का बेचना Distribution	बैंकिंग और Banking a Insura
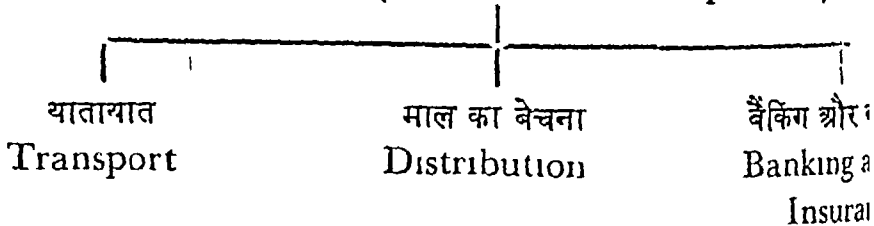
(३) सेवा कार्य (services)

(१) राज्य की सेवा (public services)

(२) घरेलू नौकरी (Domestic Service)

(३) शिक्षण कार्य (Education)

(४) किसी को अच्छा करना (Healing) चिकित्सा इत्यादि

(५) मनोरंजन करना (Amusing)

(६) वकालत करना (Advocating)

(७) विचार और भावना उत्पन्न करना (Inspiring)

ऊपर लिखे हुए तरीकों में पहला तरीका अनुत्पादक और हानि है। वह किसी भी सभ्य समाज में सहन नहीं किया जा सकता। राज्य का उसे वर्जित करता है अतएव लूटमार से कोई अपनी अजीवका चला कहीं भी सहन नहीं किया जा सकता। उत्तराधिकार तथा विवाह इत्या बहुत थोड़े ही लोग धन प्राप्त करते हैं। अस्तु, यदि हम ऊपर लिखे दोनों त को छोड़ दें तो तीसरा तरीका अर्थात् उत्पादन कार्य से ही अधिकांश अपनी आजीविका का प्रश्न हल करते हैं।

धनोत्पत्ति की मात्रा को नापने का तरीका : किसी देश में कि मात्रा में उत्पादन होता है उसको नापने के लिए एक वर्ष अत्यन्त सुविधा समय है, क्योंकि बहुत सी वस्तुओं की पैदावार मौसमी होती है। उदाहरण के यदि किसी देश में एक महीने में कितनी धनोत्पत्ति हुई यह जानना हो, तो है सकता है कि उसी महीने में खेती की फसलें तैयार हुई हों और उत्पत्ति अधिक प्रतीत हो जब कि वह फसल वर्ष में केवल एक बार होती है। अस्तु

धन की कितनी उत्पत्ति हो रही है उसका अनुमान करने के लिए एक वर्ष का समय ही उचित है।

साधारणत: किसी भी देश के निवासियों के रहन-सहन के दर्जे पर उस देश में उत्पन्न हुई उपभोग-वस्तुओं (consumers goods) का ही प्रभाव पड़ता है। परन्तु उत्पादक वस्तुएँ (capital goods), उदाहरण के लिए इमारतें, मशीनें, कच्चा माल तथा अर्द्ध तैयार माल उपभोग-वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए भूमि को खेती के योग्य बनाने, सड़कें बनाने, इमारतें खड़ी करने या मशीनें निर्माण करने का कार्य उतना ही उत्पादक है जितना कि कपड़ा बुनना और बिना इन कार्यों के किए जितनी उपभोग-वस्तुएँ (consumers goods) हम चाहते हैं हमें कभी नहीं मिल सकतीं। अस्तु, जब हम किसी देश में धनोत्पत्ति का हिसाब लगावेंगे तो इन सभी को उसमें गिनना होगा। अस्तु, जो भी वस्तुएँ तथा सेवाएँ देश में एक वर्ष में उत्पन्न हुईं उन सभी को हमें उत्पादन में जोड़ना होगा।

किन्तु ऐसा करने में एक ही वस्तु को दो बार गिनने की हमें भूल न करनी चाहिए। उदाहरण के लिए गेहूं से आटा बनता है और आटे से डबलरोटी तैयार होती है। यदि उत्पादन में सब गेहूं, आटा और सब डबलरोटी जोड़ दी जावे तो गेहूं को तीन बार और आटे को दो बार जोड़ा जावेगा। इससे अनुमान गलत हो जावेगा। अस्तु; जब हम किसी कारखाने या धंधे की उत्पत्ति का हिसाब लगाते हैं, तो हम शुद्ध उत्पत्ति (net production) को ही लेते हैं। शुद्ध उत्पत्ति से हमारा अर्थ उस उत्पत्ति से है जो उन कारखानों से प्राप्त हुई है। यदि हम ऊपर का उदाहरण लें तो गेहूं की उत्पत्ति जानने के लिए हमें [illegible] गेहूं में से बीज, खाद और उस चारे को घटाना होगा जो कि [illegible] खेतों में लगाया है। इसी प्रकार आटे के कारखाने [illegible] कितना [illegible] हुआ, [illegible] के लिए गेहूं के मूल्य तथा शक्ति (power) [illegible] गेहूं के मूल्य में से घटाना होगा। [illegible] हम उत्पादन [illegible] हैं।

कम हो जावेगा। अस्तु, वास्तविक उत्पादन को जानने के लिए कुल उत्पा में से पूँजी पर होने वाली घिसावट (depreciation) को निकाल दे होगा। तभी देश की पूँजी विना नष्ट हुए पूर्ववत वनी रह सकती है।

किन्तु उत्पादन का हिसाब लगाने में एक कठिनाई यह पडती है। हजारो प्रकार की वस्तुएँ और हजारों ही प्रकार की सेवाएँ उत्पन्न की ज हैं, फिर उनके आंकड़े किस प्रकार तैयार किए जावें, कि जिससे एक वर्ष उत्पादन की अन्य वर्षों मे तुलना की जासके। अस्तु, हम उन सब वस्तु तथा सेवाओं के द्रव्य मूल्य (money value) को जोड लेते है, और कहते हैं, कि इस वर्ष का इतना उत्पादन हुआ। किन्तु एक वर्ष मे वस्तु की कीमत दूसरे वर्षों से भिन्न हो सकती है, इस कारण यह ठीक-ठीक जानना कठिन होता है, कि किसी वर्ष में अन्य वर्षों की तुलना मे अधिक या क धनोत्पत्ति हुई। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष मे १९३९ मे जितना उत्पादन हुआ उससे १९४७ मे उत्पादन कम ही हुआ, किन्तु यदि दोनों वर्षो म जो कुछ वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन हुआ उनकी कीमत का हिसाब लगाया जावे, तो १९४७ मे उत्पादन वहुत अधिक जान पडेगा। अस्तु, उत्पादन को ठीक-ठीक जान सकना कठिन है, फिर भी यदि कीमतो मे अधिक हेर फेर न हो, तो उत्पन्न की हुई वस्तुओ और सेवाओं की कीमतो की तुलना करने हम उत्पत्ति का लगभग सही-सही अनुमान लगा सकते हैं।

उत्पादन (Production) पर प्रभाव डालने वाले कारण। उत्पादन अधिक होगा या कम होगा, यह तीन वातो पर निर्भर है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं —

(१) प्रकृति यदि अनुकूल हुई तो उत्पादन अधिक होगा। उदाहरण के लिए वर्षा यथेष्ट और उचित समय पर हुई और मौसम ठीक रहा तो फसलें अच्छी होगी, और उत्पादन अधिक होगा। और यदि वर्षा नहीं हुई, तूफान आया, ओले पड़े या भूकप आगया तो फसलें नष्ट हो जावेगी, और अन्न उत्पादन भी कम होगा। इस प्राकृतिक कारण पर मनुष्य का कोई भी वश नहीं है।

(२) दूसरा कारण जिस पर उत्पादन निर्भर रहता है, उस देश के कारीगरों की क्षमता है। यदि किसी देश मे कारीगरों की कुशलता अधिक है, नये-नये आविष्कार होते हैं, और उत्पादन मे उनका अधिकाधिक प्रयोग होता है तो उस देश मे उत्पादन अधिक होगा, अन्यथा कम।

विज्ञापन, एजेंटों तथा व्यापारियों के द्वारा बेचने के लिए प्रबन्धक (organiser) श्रम करता है, इस लिए उसको भी हम श्रम (labour) कहते हैं। परन्तु प्रबधक (organiser) का श्रम अन्य मज़दूरों से दूसरी तरह का होता है। दूसरे मजदूर तो केवल बतलाए हुए काम करते हैं, किन्तु प्रबंधक उनके कार्य की देखभाल करता है, और उत्पत्ति के दूसरे साधनों भूमि (land) श्रम (labour) और पूंजी (capital) को जुटाता है। आजकल इस कार्य का बड़ा महत्त्व है, इस लिए इसे धन की उत्पत्ति का एक साधन माना जाता है।

प्रबधक (organiser) के अतिरिक्त आजकल इस बात की भी जरूरत पड़ती है, कि कोई एक आदमी या बहुत से हिस्सेदार धन की उत्पत्ति के हानि-लाभ में जिम्मेदार हों। भूमि का मालिक अपना लगान लेगा, चाहे उत्पादन करने मे हानि हो या लाभ। मजदूर अपनी मजदूरी ले लेंगे, पूँजी देने वाला अपना व्याज मागेगा, और प्रबधक अपना मासिक वेतन ले लेंगे। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि कारखाने में लाभ होता है या घाटा। कारखाने के चलने या बद हो जाने तथा लाभ-हानि का उत्तरदायित्व उन व्यक्तियों या हिस्सेदारों पर है, जो उस कारखाने को चलाने का साहस करते हैं। बड़ी मात्रा में धन की उत्पत्ति (large scale production) करने की जोखिम (risk) उठाने का काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे भी धन की उत्पत्ति का एक साधन माना गया है। इस साहस को (enterprise) कहते हैं।

इस प्रकार धनोत्पत्ति (wealth production) के नीचे लिखे साधन (factors) हुए :—

(१) प्राकृतिक देन या भूमि (natural gift or land)'
(२) श्रम (labour)
(३) पूंजी (capital)
(४) प्रबध (organisation) } व्यवस्था (organisation)
(५) साहस (enterprise) }

बहुत से लेखक पिछले दो साधनों अर्थात प्रबध और साहस को व्यवस्था (organisation) के नाम से पुकारते हैं।

———

परिच्छेद ६

भूमि अर्थात प्राकृतिक देन (Land or Natural Gifts)

साधारण बोलचाल की भाषा में भूमि का अर्थ पृथ्वी की ऊपरी सतह लिया जाता है। लेकिन अर्थशास्त्र (economics) में भूमि से दूसरा अर्थ लिया जाता है। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ है, प्रकृति की देन (natural gifts) अर्थात प्रकृति ने जिन चीज़ों को उत्पन्न किया है और धन की उत्पत्ति में सहायक होती हैं वे इसके अन्तर्गत हैं। बात तो यह है "भूमि" शब्द भ्रम उत्पन्न करता है, इसके लिए प्रकृति की देन शब्द ही ठीक है। लेकिन "भूमि" शब्द बहुत अधिक प्रचलित है और अर्थशास्त्री इसी शब्द का बहुधा प्रयोग करते हैं। बात यह है कि भूमि से उन सभी प्राकृतिक देनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है जो कि हमें प्रकृति से प्राप्त हैं और जो धन (wealth) के उत्पादन में सहायक सिद्ध होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति ने एक हजार एकड़ भूमि खरीदता है तो उस भूमि पर प्राकृतिक वनस्पति के रूप में जो वृक्ष, घास इत्यादि खड़ी हैं, उस भूमि के नीचे जो खनिज पदार्थ हैं और उस भूमि पर जो वर्षा, धूप और वायु हैं उन सबका स्वामी बन जाता है। यह सभी प्राकृतिक देन भूमि से इस प्रकार बंधी हुई हैं कि उनको भूमि से पृथक नहीं किया जा सकता। किसी भूमि का स्वामी यह नहीं कर सकता कि अपनी एक हजार एकड़ भूमि तो बेच दे किन्तु इन चीज़ों को न दे। ये भूमि के साथ ही जायेंगी। अस्तु: अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ अधिक व्यापक है, अर्थात पृथ्वी का ऊपरी धरातल, उसके नीचे पृथ्वी के गर्भ में जो भी खनिज पदार्थ हैं वह, पृथ्वी के धरातल के ऊपर जो कुछ वनस्पति धूप, वर्षा और वायु आदि हैं वह सभी भूमि के अन्तर्गत हैं।

यह बात ध्यान में रखने की है कि प्रकृति द्वारा उत्पन्न चीज़ें अर्थात [illegible] भूमि (Land) के अन्तर्गत आती [illegible] के लिए कोई श्रम न किया हो। [illegible] उत्पन्न हैं [illegible] इत्यादि, पशु-पक्षी और औषधियाँ [illegible] पदार्थ (materials) [illegible] कि मजदूरों ने [illegible]

है। आजकल जंगलों की कमी के कारण प्रत्येक देश का जंगल-विभाग प... में वृक्ष लगाता है। इस प्रकार के वृक्षों को भूमि के अन्तर्गत नहीं माना जा सक... भूमि के अन्तर्गत जंगल, खानें, नदी, झील, समुद्र, और उनमें मिलने वा... चीजें, गरमी, सरदी, रोशनी, धूप, और वर्षा सभी प्रकृति की दी हुई ची... आ जाती हैं।

यह प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जंगल से हमें लकड़ी, तथा अन... सम्पत्ति मिलती है, खानें हमें खनिज पदार्थ देती है, समुद्र से हमें मछलियाँ त... दूसरी कीमती चीजें मिलती हैं। जलवायु का भी उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। किसी भी देश की पैदावार जलवायु तथा भूमि पर निर्भर रहती है। इसलिए इन सब चीजों को भूमि के अन्तर्गत माना गया है। 'भूमि' को दो दृष्टियों से समझा जा सकता है। एक दृष्टि से सब प्रकृति-दत्त पदार्थ 'भूमि' की परिभाषा मे आ सकते हैं। दूसरी दृष्टि से केवल वे प्रकृति दत्त-पदार्थ जो सीमित मात्रा में पाए जाते हैं वे ही 'भूमि' की श्रेणी मे गिने जावेंगे। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भूमि से हमारा तात्पर्य उस प्राकृतिक देन से है जो धन के उत्पादन मे सहायक होती है।

आर्थिक उन्नति का आधार भूमि (Land) है· यदि देखा जा... तो मनुष्य की आर्थिक उन्नति का आधार प्राकृतिक देन ही है। यदि आ... संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन समृद्धिशाली देश हैं, तो उसका एक मु... कारण है कि वहाँ की प्रकृति धनी है। भारतवर्ष व चीन यदि भविष्य... आर्थिक उन्नति करेंगे, तो उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इन देश... की प्रकृति अनुकूल है। और यदि सहारा, अरब, तथा गोबी का मरुस्थ... आर्थिक उन्नति की दृष्टि से सदैव पिछड़ा रहेगा तो उसका एक मात्र कार... यह है कि वहाँ की प्रकृति निर्धन है। मनुष्य समाज के आर्थिक विकास औ... उसके निवासस्थान की प्राकृतिक देन का घनिष्ठ सबन्ध है। यदि सूक्ष्म दृ... से देखें तो प्रकृति की देन उस देश की भौगोलिक परिस्थिति (geographic environments) को ही कहते हैं।

जिस स्थान मे मनुष्य निवास करता है उसी के अनुसार उसको अप... आर्थिक जीवन बनाना पड़ता है। किसी देश के मनुष्यों का मुख्य धंधा क्या हो... वहाँ का रहन-सहन और उस देश के निवासियों का स्वभाव कैसा हो... यह उस देश की भौगोलिक परिस्थिति पर ही अवलम्बित है। बात यह है कि किसी देश की भौगोलिक परिस्थिति उस देश के मुख्य धंधों को निर्धा... करती है और पेशे का मनुष्य के स्वभाव व रहन-सहन पर प्रभाव पड़ता है।

अर्थात् खेती से चीजें उत्पन्न की जाती हैं; किन्तु ठडे प्रदेशों में खेती के
जलवायु उपयुक्त न होने से उद्योग-धधे अधिक होते हैं।

धरातल की बनावट का उत्पत्ति पर प्रभाव: धरातल की ब
भी मनुष्य के आर्थिक जीवन पर वहुत प्रभाव डालती है। अप्रत्यक्ष
तो धरातल की बनावट पर प्रभाव पड़ता ही है, क्योंकि जलवायु वहुत
धरातल की बनावट पर ही अवलम्बित है। उदाहरण के लिए, पहाड़ों
वर्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त धरातल की बनावट पर
का अच्छी या बुरी होना भी निर्भर है, और मिट्टी पर खेती की पैदावार
है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से भी धरातल की बनावट मनुष्य के आर्थिक जीवन
प्रभाव डालती है। ऊचे पहाड़ी प्रदेश की आर्थिक उन्नति साधारणतया
होगी, क्योंकि वहाँ मार्गों की सुविधा नहीं होती। ऊचे पहाड़ी प्रदेश म
की भी उन्नति नहीं हो सकती, और न उद्योग धधे ही उन्नति कर सक
जव पहाड़ी प्रदेशों में धन का उत्पादन कम होता है, तो वहाँ पर जन
भी कम ही रहती है। इसके विरुद्ध नीचे समतल मैदानों में कृषि आदि धधे
उन्नति करते हैं, और मार्गों की सुविधा होने से व्यापार भी खूब होत
अत; जनसख्या भी घनी आवाद होती है।

शक्ति के साधन (sources of power): विना शक्ति के
कल कारखाने चल ही नहीं सकते। वड़ी-वड़ी मशीनों को चलाने के
भाप, विजली, या गैस की जरूरत होनी है। यह तीनों ही शक्तियाँ हमें
(land) से मिलती हैं। नदियों के जल से विजली तैयार होती है, को
भाप वनती है, और तेल से गैस वनाई जाती है। यदि किसी देश में पर्याप्त
के साधन नहीं हैं, तो वह औद्योगिक उन्नति नहीं कर सकता।

भौगोलिक परिस्थिति. कोई-कोई देश अपनी भौगोलिक स्थि
कारण दूसरे देशों से व्यापारिक सम्वन्ध स्थापित कर लेते हैं, और
व्यापार खूव चमक उठता है। उदाहरण के लिए, इङ्गलैंड की स्थिति के
ही उसका व्यापार इतना वढ सका। यदि किसी देश की भौगोलिक
खराव है, तो उसके विदेशी व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती।

नदियाँ. नदियाँ भी मनुष्य की आर्थिक उन्नति में वहुत सहायक
हैं किन्तु कहीं-कहीं वे विध्वंसक का कार्य भी करती हैं। खेती की सिंचा
आज भी नदियों से ही होती है, और उन्हीं के जल से विद्युत उत्पन्न
जाती है। नदियाँ व्यापार के लिए भी सहायक होती हैं। रेलों के

यों ही मुख्य व्यापारिक मार्ग थे। आज भी बहुत से देशों में नदियाँ महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग हैं। परन्तु कोई-कोई नदी विध्वंसकारी कार्य भी करती है।

भूमि (land) का महत्त्व : ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया, कि भूमि उत्पादन-कार्य में बहुत सहायक होती है। हम किसी प्रकार का भी उत्पादन-कार्य क्यों न करें, भूमि की हमें आवश्यकता होगी। खेती को यदि छोड़ भी दिया जाय जो कि भूमि पर नितान्त निर्भर है, तो तैयार माल बनाने के लिए कारखाने तो खड़े करने ही पड़ते हैं, और बिना भूमि के कारखाने कैसे खड़े किए जा सकते हैं? फिर कुछ धंधों के लिए विशेष प्रकार का जलवायु होना आवश्यक है। कच्चा माल (raw material) अर्थात वन-सम्पत्ति, खनिज पदार्थ, मछलियाँ और खेती की पैदावार सब भूमि से ही मिलती है। यदि कोई अभौतिक उपयोगिता अर्थात सेवा (service utility) करना चाहें, तो भी उसे रहने और काम करने के लिए कुछ स्थान तो चाहिए ही। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, कि बिना भूमि (land) की सहायता के उत्पत्ति नहीं हो सकती।

भूमि सब जगह एक प्रकार की नहीं होती : जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अर्थशास्त्र में भूमि शब्द अधिक व्यापक अर्थ में आता है। अर्थशास्त्र में भूमि शब्द का उपयोग प्राकृतिक देन के अर्थों में करते हैं। परन्तु भूमि में पृथ्वी के धरातल की बनावट (relief) और जलवायु का विशेष महत्त्व है। लेकिन इस अर्थ में भूमि सब जगह एकसी नहीं होती। कहीं की भूमि अधिक उपजाऊ होती है, तो कहीं की कम उपजाऊ होती है। कहीं जलवायु (वर्षा और गर्मी) इस प्रकार की होती है कि उसमें खेती आसानी से हो सकती है, तो कहीं की जलवायु खेती के लिए बाधक होती है। मनुष्य बहुत अधिक पूँजी (capital) और श्रम लगाकर ही उस भूमि पर खेती कर सकता है। उदाहरण के लिए जिस स्थान में भूमि उर्वरा हो तथा यथेष्ट वर्षा होती हो [illegible] जलवायु खेती के लिए उपयुक्त हो, जैसे कि बंगाल—वहाँ [illegible] हो सकती है। इसके विपरीत जहाँ भूमि कम उपजाऊ [illegible] हो, [illegible] न होती हो [illegible] अधिक गर्मी न पड़ती हो, [illegible] और पूँजी की आवश्यकता होगी। सिंचाई के [illegible] और यदि [illegible] हो तो वहाँ की [illegible] नहीं, यदि भूमि ऊसर है, अथवा पथरीली है, तो भी

खेती करना कठिन होगा। यदि भूमि अत्यन्त पथरीली हो, दलदल हो· अत्यन्त रेतीली हो, तो खेती करने मे कठिनाई होगी। इसी प्रकार यदि जमती हो, या बिलकुल वर्षा न होती हो, तो भी खेती करना कठिन हो अस्तु, जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है उसने सब भूमि एक-सी नहीं बनाई है।

केवल प्राकृतिक दृष्टि से ही सब भूमि एक-सी नही है यही बात नहीं स्थिति के अनुसार भी भूमि में भिन्नता पाई जाती है। भूमि की स्थिति कै है, इस पर भी उसका आर्थिक महत्त्व निर्भर है। यदि भूमि बाजार के स है, तो वह अच्छी है, यदि वह बहुत दूर है, तो उसकी पैदावार को अथवा बाजार तक लेजाने का खर्चा अधिक होगा।

अस्तु, भूमि (land) अच्छी है, अथवा खराब है यह निम्न दो बातों प निर्भर करता है—उसकी उर्वरा शक्ति तथा जलवायु पर, और बाजार (market की दृष्टि से उसकी स्थिति पर।

भूमि के विशेष गुण : यद्यपि भूमि प्रकृति दत्त वस्तु है, परन्तु उस कुछ विशेष गुण हैं, जिनके कारण वह उत्पादन का एक विशेष साध (factor of production) बन गई। भूमि के विशेष गुण नी लिखे हैं।

भूमि परिमित है. भूमि बढाई नही जासकती। जितनी भूमि प्रकृति दी है. मनुष्य उससे एक इंच भी नहीं बढा सकता। विज्ञान की अपनी मा जानकारी समाप्त करके भी कोई एक इंच भूमि नहीं बना सकता और जलवायु मे ही परिवर्तन कर सकता है। भूमि के अन्दर निकलने वाले ख पदार्थ भी परिमित ही होते हैं। उनको उत्पन्न नहीं किया जा सकता। लोग कह सकते हैं कि समुद्र को सुखाकर भूमि निकाली जा सकती है। प तो ऐसा करने मे बहुत व्यय करना पड़ता है, दूसरे वह भूमि का पैदा क नहीं कहा जा सकता। भूमि तो पहले से मोजूद थी। हाँ, मनुष्य अपने परि मे उसे अधिक उपयोगी बना सकता है। जगलो को साफ करके खेती के जमीन बनाई जा सकती है। पथरीली भूमि को भी परिश्रम करके खेत योग्य बनाया जा सकता है, रेगिस्तान मे सिंचाई के साधन उपलब्ध करके के योग्य बनाया जा सकता है, और दलदल तथा नम जमीन को भी ठीक जा सकता है। इस प्रकार के कार्यों मे व्यय अत्यधिक होगा इस कारण को अधिक उपयोगी एक हद तक ही बनाया जा सकता है। उदाहरण नई भूमि के निर्माण के नहीं है, यह तो केवल जो भूमि मे

(१) प्राकृतिक उपयुक्तता, (२) सुधार (३) स्थान अथवा भूमि का जिस कार्य के लिए उपयोग किया जावे, वह उसके लिए प्राकृतिक रूप से उपयुक्त होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, खेती के लिए जो भूमि अधिक उपजाऊ है, उस पर अच्छी फसल पैदा होगी। भूमि की उर्वरा शक्ति तीन बातों पर निर्भर होती है। (१) भूमि की बनावट, (२) भूमि की रासायनिक स्थिति तथा भूमि के सजीव तत्त्व (bacteria)।

भूमि जिन चट्टानों की बनी हुई होती है, उन्हीं के टूटने से ऊपर की मिट्टी बनती है। गरमी, हवा, जल, शीत और हिम की क्रियाओं से मिट्टी बनती है। अस्तु; उर्वरा शक्ति बहुत कुछ ऊपर की मिट्टी पर निर्भर रहती है।

मनुष्य भूमि मे अपना श्रम तथा पूँजी लगाकर सुधार भी करता है और उसे अधिक उपजाऊ बनाता है। आज जो भी खेती की भूमि हम देखते हैं उस पर मनुष्य ने यथेष्ट श्रम और पूँजी लगाकर उसे इतना उपजाऊ बनाया है।

भूमि की उपयोगिता तथा कार्य-शक्ति पर स्थिति का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। जिस भूमि की स्थिति अच्छी होती है, वह अधिक मूल्यवान तथा उपयोगी होती है।

भूमि का आर्थिक जीवन पर प्रभाव : ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया होगा, कि किसी देश अथवा समाज के आर्थिक जीवन पर भूमि का गहरा प्रभाव पड़ता है। भूमि वास्तव मे प्रकृति की देन को कहते हैं। अस्तु, कोई देश समृद्धिशाली होगा अथवा निर्धन होगा, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहता है, कि उस देश की प्रकृति धनी है, अथवा वह प्रकृति की देन की दृष्टि से निर्धन है। यह हो सकता है, कि प्रकृति की दृष्टि से धनी देश वहाँ के निवासियों की अकर्मण्यता के कारण निर्धन रह जाय, परन्तु प्राकृतिक देन के अभाव मे कोई देश धनी और समृद्धिशाली नहीं बन सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका, तथा ब्रिटेन इस कारण धनी हैं, क्योंकि वहाँ की प्रकृति धनी है। और यदि कभी भारत और चीन धनी राष्ट्र बनेंगे तो इस कारण क्योंकि यहाँ की प्रकृति धनी है। सहारा सब कुछ प्रयत्न करने पर भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा प्रदेश ही रहेगा।

भूमि की उत्पादन-शक्ति किन बातों पर निर्भर है : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं, कि भूमि की उत्पादन-शक्ति एकसी नहीं होती, उसे

का सतत प्रयत्न रहा है। वह प्रयत्न मानव जाति के जन्म से आज तक निरन्तर चलता आ रहा है, और आज भी वह समाप्त नहीं हो गया है। मनुष्य ने घने जंगलों को काट कर खेती के लिए भूमि प्राप्त की है। पहाड़ी प्रदेशों में कम पथरीली भूमि के पत्थर निकाल कर आश्चर्य चकित करने वाले परिश्रम द्वारा खेती योग्य भूमि बनाई है, दलदलों को सुखा कर उन्हें उपजाऊ बनाया है, और शुष्क प्रदेशों मे सिंचाई के साधन उपलब्ध करके मरुभूमि को लहलहाते उद्यानों मे परिणत किया है। पृथ्वी के गर्भ के रहस्यों को जानकर खनिज पदार्थों को उसके गर्भ से निकाला है, जल से विद्युत् उत्पन्न करके उसका मनुष्य की सेवा और लाभ के लिए उपयोग किया है। बिजली के द्वारा जाड़े मे गर्मी और गर्मी मे ठडक उत्पन्न की जासकती है, और रात्रि में भी दिन के समान कार्य किया जासकता है। मानव द्वारा प्रकृति पर विजय पाने का इतिहास अत्यन्त रोचक है। आज तक मनुष्य का यही प्रयत्न रहा है, कि वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करके उससे अधिक से अधिक सुख, धन और सुविधा प्राप्त करे। कृषि-विज्ञान मे उन्नति करके भूमि को गहरी जोतकर तथा उसमे आवश्यक खाद डाल कर वैज्ञानिक ढग से फसलों का हेर फेर करके तथा अच्छे बीजों को खोज कर मनुष्य ने प्रति एकड़ पैदावार को इतना अधिक बढा दिया है, कि आज आश्चर्य होता है। यदि प्रकृति को अकेला छोड़ दिया जावे, तो आज जितनी धनोत्पत्ति (production of wealth) होती है, उसका एक अंश मात्र ही उत्पादन हो। जिन देशों ने आर्थिक उन्नति की है, वहाँ के निवासियों ने अपने श्रम के द्वारा प्रकृति को अधिक से अधिक उत्पादन करने के लिए विवश किया है। अस्तु, दूसरी बात जिस पर भूमि की उत्पादन-शक्ति निर्भर करती है, वह है मानवी प्रयत्न अथवा श्रम।

(३) स्थिति तीसरी बात जिस पर भूमि की उत्पादन-शक्ति निर्भर रहती है वह है स्थिति। एक भूमि का टुकड़ा जो कि घने औद्योगिक केन्द्र के पास स्थित है, वह उस भूमि के टुकड़े से कहीं अधिक मूल्यवान् और उत्पादक माना जाता है जो उजाड़ जगल में बस्ती, सड़क और रेल मार्ग से दूर है। स्थिति का किसी भूमि की उत्पादन-शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। कल्पना कीजिये कि किसी भूमि के चारों ओर विकट पर्वत शृंखलायें हैं और उसके आस-पास के प्रदेशों से उसका सम्बन्ध नहीं है तो उस भूमि पर उत्पन्न की हुई वस्तुओं को लाने और ले जाने का व्यय बहुत अधिक होगा। यही कारण है कि बड़े केन्द्रों के पास, रेलवे स्टेशन तथा सड़कों के पास जो भूमि होती है उसको अधिक उपजाऊ और मूल्यवान माना

होता है। परन्तु मनुष्य अपने श्रम और प्रयत्न से भूमि की बुरी स्थिति को सुधार सकते हैं। रेलवे सड़क, जहाज तथा हवाई जहाज के द्वारा तथा डाक, बेतार के तार के द्वारा मनुष्य ने स्थिति के दोष को कम करने का प्रयत्न किया है। यातायात तथा सन्देशवाहक साधनों की उन्नति से स्थिति के दोष दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

भूमि और खेती

खेती और क्षेत्रफल का सम्बन्ध खेती के धंधे की सफलता के लिए भूमि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्पत्ति का साधन है। जिस सीमा तक खेती भूमि पर निर्भर है, उतना कोई भी धंधा भूमि पर निर्भर नहीं है। खेती की सफलता के लिए भूमि की प्राकृतिक अवस्था अर्थात उर्वरा शक्ति की ही आवश्यकता नहीं, स्थान अर्थात क्षेत्रफल की भी आवश्यकता है जिस पर पौधे उग सकें। जितना स्थान खेती के लिए आवश्यक होता है उतना किसी भी अन्य धंधे में आवश्यक नहीं होता। सच तो यह है कि एक यही ऐसा धंधा है जिसके लिए आबाद घने देशों में भूमि का टोटा पड़ जाता है।

करने के लिए लगभग एक लाख एकड़ भूमि चाहिए, और उसको पीसने के लिए आटे के मिल को खड़ा करने के लिए एक एकड़ भूमि ही चाहिए।

अन्ततः सब उद्योग धन्धे भी मूलतः खेती पर ही निर्भर हैं, प्रत्येक देश में भूमि का अधिक से अधिक उपयोग करके उसको बेकार न देने का प्रयत्न किया जाता है। भूमि के बेकार रहने के निम्न लिखित हैं। (१) अत्यधिक पथरीला होना, (२) बहुत अधिक नमी होना, अत्यन्त सूखा होना, (४) अत्यधिक रेह, शोरा तथा अन्य लवण पदार्थ पर जम जाना, (५) भूमि का कटाव होना।

पथरीली भूमि : पथरीली भूमि में से कुछ तो इतनी अधिक होती है कि वह खेती के सर्वथा अयोग्य होती है। परन्तु उस भूमि पर लगाकर लकड़ी और चारा उत्पन्न किया जाना चाहिए। जो भूमि कि अ कठोर और पथरीली नहीं है, उसे खेती के योग्य बनाया जा सकता है। प्राचीन समय से किसान इस प्रकार की पथरीली भूमि पर खेती करने के भगीरथ प्रयत्न करता रहा है। आज तो ऐसी मशीनों का आविष्कार चुका है, जो पत्थरों को चूर-चूर करके भूमि में छोड़ देती हैं। यह पत्थरों चूरा मिट्टी को अधिक उपजाऊ बनाता है। इस प्रकार आज-कल पथरी भूमि को खेती के योग्य बनाया जाता है। दक्षिण भारत में इस प्रकार भूमि है।

अत्यन्त नम भूमि : अत्यन्त नम भूमि भी खेती के लिए बेकार रा है। भारत में आसाम, सुन्दरवन, तथा हिमालय की तराई में ऐसी भूमि प जाती है। यदि इस प्रकार की भूमि की नमी या दलदल को सुखा दिया जा तो यह बहुत उपजाऊ सिद्ध होती है। हालैंड का अधिकांश क्षेत्रफल क अत्यन्त जलमय या दलदल था। किन्तु वहाँ की सरकार ने उसे सुखाकर बे दिया, और आज उस पर लहलहाते खेत खड़े हैं। इस प्रकार की जमीन प ऊपरी सतह में तथा उसके अन्दर नालियाँ बनाकर अनावश्यक जल को बाहर निकाल दिया जाता है।

अत्यन्त शुष्क भूमि . जो भूमि बहुत सूखी होती है और जिस इतनी नमी नहीं होती कि वह पौधे को खुराक दे सके, वह भूमि बेकार रह है। मानव जाति ने भूमि के इस दोष को मिटाने का सबसे अधिक प्रयत्न किया है। सिंचाई के जितने भी साधन आज हमें उपलब्ध हैं, वे इसी प्रयत्न के फल हैं। किन्तु अन्न में प्रदेश ऐसे हैं, जहाँ सिंचाई के साधन भी उपलब्ध

ी किए जा सकते। ऐसी भूमि पर खेती करने का एक नवीन उपाय निकाला
ा है जिसे 'सूखी खेती' (dry farming) कहते हैं। सूखी खेती में किसान
र के पानी का उपयोग नहीं करता, वरन् जो कुछ थोड़ा बहुत जल वर्षा के
ों में गिरता है, उसका अधिक से अधिक उपयोग करने का प्रयत्न करता
। सूखी खेती इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि वर्षा का जल धूप से न सूख जाय,
र उसका अधिक से अधिक उपयोग हो सके। सूखी खेती में किसान फसल
टने के उपरान्त ही खेत को खूब गहरा जोत देता है, जिससे जो भी वर्षा का
ी गिरे वह इधर-उधर न बहकर पृथ्वी में सूख जाय। यही नहीं, किसान
र समय पर भूमि को जोतता रहता है जिससे व्यर्थ के पौधे उग कर भूमि
अन्दर के पानी को नष्ट न कर दें। इसके अतिरिक्त वह भूमि की ऊपरी सतह
ी मिट्टी को बहुत ही बारीक कर देता है, जिससे पानी भाप बनकर न उड़ सके।
हीं-कहीं बारीक मिट्टी के ऊपर छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े बिछा दिए जाते
, जिससे पानी भाप बन कर न उड़ सके। किसी स्थान पर, जहाँ नीचे निकली
ी का [illegible] नहीं होता, मिट्टी को गहरी खोद कर उसे खेत से निकाल लिया
ता है, फिर नीचे की मिट्टी को कूट कर कठोर कर दिया जाता है। जिससे
ी की कठोर तह से पानी बहुत नीचे न चला जावे। उस कठोर सतह
ऊपर एक फीट मिट्टी डाल दी जाती है, जिससे कि वर्षा का पानी न तो
त नीचे जा सके, और न भाप बन कर उड़ ही सके। सूखी खेती का
मूल सिद्धान्त यह है, कि वर्षा का पानी भाप बन कर न उड़ सके। यदि
ऊपर की मिट्टी को बारीक कर दिया जाय, तो वर्षा का पानी भाप बन कर
नहीं उड़ेगा। कहीं-कहीं जहाँ शुष्कता बहुत अधिक होती है, सूखी खेती प्रति
वर्ष नहीं होती। एक वर्ष छोड़कर दूसरे वर्ष फसल उत्पन्न की जाती है।
ऐसी दशा में किसान अपनी भूमि के दो भाग कर लेता है। एक वर्ष आधी
भूमि पर खेती करता है, और आधी को जोतता रहता है, कि जिससे वह
[illegible], और दूसरे वर्ष उस पर खेती करता है। सूखी खेती में
[illegible] ध्यान रखना पड़ता है, कि केवल वही फसलें उत्पन्न की जावें जो
[illegible] कर सकें, और जो कम पानी लेती हों।

[illegible] या रेह वाली भूमि : कोई प्रकार की भूमि जो खेती के योग्य
[illegible] बनाई [illegible] है, वह
[illegible] इस प्रकार की [illegible] पानी
[illegible] प्रदेश में पाई जाती है, जहाँ वर्षा कम होती है,
[illegible] नदियों और नालों द्वारा समुद्र में नहीं जाता,

वरन् भाप बन कर उड़ता है। पानी अपने साथ पृथ्वी के लवण पदार्थ बहा लेजाता है, और यही कारण है, कि समुद्र का जल खारा होता किन्तु उन प्रदेशों में जहाँ वर्षा कम होती है, और जहाँ अधिकांश जल बन कर उड़ता है, वहाँ लवण भूमि पर ही जम जाता है। यदि ऐसे का ढाल बहुत अच्छा होता है, और बहाव शीघ्र होता है, तो लवण पर नहीं जमता, और बह जाता है। किन्तु जो भूमि चौरस है, उसका बहाव ठीक नहीं होता, वहाँ यह लवण भूमि पर ही जाता है। लवण या रेह के भूमि पर प्रकट हो जाने से भूमि खेती के बिलकुल बेकार हो जाती है। यदि किसी प्रकार लवण या रेह को किया जा सके, तो उस भूमि पर बहुत अच्छी फसलें उत्पन्न की हैं, क्योंकि इस प्रकार की भूमि चौरस और नीची होती है। ऊसर भूमि यह प्राकृतिक कारण है, किन्तु भारत में सिंचाई का भी ऊसर भूमि करने में हाथ रहा है। एक विशेष प्रकार की भूमि में जिसमें पानी रिसता या शीघ्र भिद सकता है, आवश्यकता से अधिक सिंचाई होने पर नमक रह जाते हैं। रेह वाली भूमि को खेती के योग्य बनाना एक अ महत्त्वपूर्ण समस्या है। भिन्न-भिन्न देशों में इस समस्या को हल करने उपाय ढूँढ निकाले गये हैं। नीचे लिखे उपायों से रेह वाली भूमि को खेती योग्य बनाया जाता है।

(१) भूमि के अन्दर नालियाँ बनाकर जल को बहाया जाता है (२) भूमि को खूब पानी से भर देने से नमक पृथ्वी में नीचे चला जाता (३) कुछ इंच मिट्टी को निकाल देने से रेह का अधिकाश अश नि जाता है। (४) बहुत गहरा जोतने से भी रेह से होने वाली हानि को किया जासकता है। (५) कहीं-कहीं कंकड़ तथा अन्य वस्तुओं का उप करके रेह के विनाशकारी प्रभाव को कम किया जासकता है। (६) कहीं रेह वाली ज़मीन मे रेत मिला देने से लाभ होता है। (७) लूसर्न नामक को उत्पन्न करके भी रेह के प्रभाव को कम किया जाता है। (८) भाप कर पानी उड़ने की क्रिया को जितना रोका जासके, उतना रोकना चाहि (९) ऐसी फसलें उत्पन्न करके भी इस समस्या को हल किया जासकता है, रेहवाली भूमि में भी उत्पन्न हो सके।

मिट्टी का कटाव (Soil Erosion): वर्षा का जल मिट्टी उपजाऊ अंश को बहा ले जाता है, उसी को मिट्टी का कटाव कहते हैं। वर्षा अधिक और तेज होती है, वहाँ यह समस्या उठ खड़ी होती है।

[illegible] का होता है, (१) समतल कटाव (sheet erosion) और (२) गहरा [illegible]। समतल कटाव अधिक हानिकर नहीं होता, क्योंकि प्रतिवर्ष थोड़ी सी [illegible] पानी द्वारा बहती है। यद्यपि इस प्रकार मिट्टी की उपजाऊ शक्ति [illegible] हो जाती है, परन्तु उस पर खेती की जा सकती है। परन्तु गहरा कटाव [illegible] भयंकर होता है। पानी जोर से बहकर भूमि को काट देता है, भूमि में [illegible] नाले बन जाते हैं, तथा प्रतिवर्ष अधिकाधिक भूमि कट जाती है, और [illegible] ही दिनों में बहुत बड़े विस्तृत क्षेत्र में गड्ढे या बीहड़ भूमि दिखलाई [illegible] लगती है। भूमि का क्षीजन या कटाव पानी के मनमाने बहाव के कारण [illegible] है। इस प्रकार उपजाऊ भूमि खेती के अयोग्य बन जाती है। उसका [illegible] दूसरा परिणाम यह होता है कि भूमि वर्षा के जल को सोख नहीं पाती, [illegible] इन नालियों व गड्ढों द्वारा बह जाता है। पानी के न सोखने से [illegible] पानी का तल नीचे चला जाता है। बहुत से कुँए बेकार [illegible] हो जाते हैं और सिंचाई में कठिनाई होती है।

मिट्टी के कटाव को रोकने के लिए दो उपाय काम में लाये जा सकते [illegible] तो यह है, कि भूमि की ऊपरी सतह में नालियों बनाने के साथ-[illegible] बीहड़ भूमि में से जाने वाली नदी के किनारे के हिस्से में बाँध बनाना, [illegible] कि पानी तो बह जाये परन्तु मिट्टी न बह सके। दूसरा उपाय यह है [illegible] बीहड़ भूमि में जंगल लगाकर भूमि के कटाव को रोका जाये।

खेती के धंधे की आर्थिक विशेषतायें

और बराबर नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिए, जुताई के उपरान्त ही
बोया जा सकता है, और बीज बो देने के उपरान्त ही सिंचाई और
सम्भव है। फसल पक जाने पर उसको काटने की क्रिया की जाती है
फसल कट जाने पर ही उसको साफ किया जा सकता है। अस्तु, प्रत्येक
के लिए जो यत्र होगा वह वर्ष में केवल कुछ दिन ही काम दे सकेगा,
दिनों में बेकार खड़ा रहेगा। अन्य धंधों में सब क्रियायें लगातार एक
हो सकती हैं। अतः उनमें प्रत्येक यत्र प्रति क्षण काम करता रहता है।
की मशीनें वर्ष के बहुत बड़े भाग में बेकार रहती हैं। अस्तु, मशीन में
हुई पूँजी पर सूद और घिसावट को देखते हुए, उससे होने वाली बचत
नहीं होती। इसके अतिरिक्त खेती में यंत्र एक स्थान पर खड़े रहकर
नहीं कर सकते, यन्त्र को बराबर चलना पड़ता है, अतः मशीनों में ही
ऐंजिन लगे हों तब ही वे खेती में काम दे सकती हैं। चालक ऐंजिन मशीनों
ही लगाने से यन्त्रों का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। अन्यथा खेती के यत्रों में
शक्ति का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यांत्रिक शक्ति से
लाभ है वह प्राप्त न होने के कारण यन्त्रों का खेती में उतना उपयोग नहीं
जितना कि अन्य धंधों में होता है।

भारत मे तो बड़े यन्त्रों का खेती में उपयोग और भी कठिन है, क्योंकि
यहां किसान के पास बहुत थोड़ी भूमि होती है और वह भी बिखरी होती है।

(३) खेती बहुत बड़ी मात्रा में अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होती
इसका मुख्य कारण यह है कि खेती में यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति का अन्य धंधों
अपेक्षा कम उपयोग हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़े फार्म
देखभाल और व्यवस्था करना बहुत खर्चीला और कठिन होता है।
कारखाने में जिसमें दस हजार मज़दूर काम करते हैं उनके कार्य की देखभाल
दस बीस फोरमैन कर लेते हैं; किन्तु जिस फार्म पर दस हजार मजदूर
करें उसके लिए सैकड़ों फोरमैन चाहिएँ, क्योंकि वह फार्म इतना ही वि
होगा। खेती में पूँजी और श्रम की अपेक्षा भूमि का बहुत अधिक भाग
है। फिर खेती में श्रम-विभाजन (division of labour) की
सुविधा और सम्भावना नहीं है। धंधा मौसमी होने के कारण प्रत्येक
लगातार नहीं हो सकती, इस कारण श्रम-विभाजन का पूरा उपयोग खेती
नहीं हो सकता। एक व्यक्ति सभी क्रियाएँ करता है। श्रम-विभाजन ही
मात्रा के उत्पादन की जान है। यही कारण है कि खेती में बहुत बड़ी मात्रा

जो प्रयत्न किया है, वही उसका आर्थिक प्रयत्न है। भूमि पर खेती करके फसलें उत्पन्न करने का कार्य मनुष्य हजारों वर्षों से कर रहा है। मनुष्य दो प्रकार की खेती करता है। (१) बिखरी खेती (extensive cultivation) और (२) गहरी खेती (intensive cultivation)।

बिखरी खेती में किसान अधिक से अधिक भूमि पर खेती करने का प्रयत्न करता है, और श्रम तथा पूँजी को नहीं बढाता। अथवा अपेक्षाकृत बहुत कम बढ़ाता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि किसान अधिक से अधिक क्षेत्रफल पर खेती करता है, उसको खाद इत्यादि नहीं देता। जब वह भूमि कम उपजाऊ बन जाती है, तो उसको थोड़े समय के लिए छोड देता है और नई भूमि पर खेती करने लगता है। इस प्रकार कुछ वर्षों बाद वह छोड़ी हुई भूमि फिर उर्वरा बन जाती है। कहने का तात्पार्य यह है, कि जब किसान अपेक्षाकृत कम पूँजी (capital) और श्रम (labour) का उपयोग करके अधिक से अधिक भूमि पर खेती करता है, तो उसको बिखरी खेती कहते हैं। उदाहरण के लिए, वह खाद बिलकुल नहीं देता, बीज दूर दूर बोता है, जुताई बहुत गहरी और अधिक नहीं करता, खेत की बाढ इत्यादि नहीं बनाता इत्यादि। बिखरी खेती बहुधा उन नये देशों मे होती है, जहां जनसख्या कम होती है, किन्तु भूमि बहुत अधिक होती है। बिखरी खेती में किसान का उद्देश्य यह होता है, कि वह अपने श्रम तथा पूजी के लिए अधिकतम परितोषण प्राप्त करे, फिर चाहे भूमि का थोड़ा दुरुपयोग ही क्यों न हो। ऐसी दशा मे किसान अधिक से अधिक भूमि को घेर लेता है, क्योंकि भूमि सस्ती होती है। किसान उस भूमि से अधिक से अधिक फसल उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करता, वरन् पूँजी और श्रम की प्रति इकाई से अधिक से अधिक उत्पादन करने की चेष्टा करता है।

गहरी खेती वहाँ होती है, जहाँ भूमि की कमी होती है, और इस कारण भूमि का बहुत अधिक मूल्य होता है। बहुधा पुराने देशों मे यह स्थिति पहुंच गई है। जब जनसख्या बहुत अधिक बढ जाती है, तो देश में खेती योग्य भूमि का टोटा पड़ जाता है। ऐसी दशा में प्रति एकड़ अधिक से अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न किया जाता है। यह तभी हो सकता है, जबकि थोड़ी सी भूमि पर अपेक्षाकृत अधिक श्रम और पूंजी लगायी जावे। अर्थात भूमि को खूब गहरा जोता जावे, उसमें यथेष्ट और अच्छा बीज डाला जावे, बढ़िया और यथेष्ट खाद डाली जावे, उचित सिंचाई की जावे, नाली

बना देगा। यदि एक उपजाऊ भूमि को किसी किसान को केवल पाँच या दस साल के लिए पट्टे पर दे दीजिए, वह उसे मरुभूमि बना कर छोड़ देगा। स्वामित्व का चमत्कार रेत को भी सोने में परिणत कर देता है"। इस स्वामित्व में प्रति एकड़ भूमि की पैदावार बहुत अधिक होती है, किसान कोई बात ऐसी नहीं करेगा, जिससे भूमि को हानि पहुँचे। वह उसकी उत्पादन शक्ति को बनाये रखने और उसके मूल्य को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करता है। जब भूमि उसकी होती है, तो किसान उसपर अथक परिश्रम करता है।

कृषक स्वामित्व की पद्धति से केवल यही लाभ नहीं होता, वरन सामाजिक और राजनैतिक लाभ भी होते हैं। जब किसान स्वयं भूमि का स्वामी होता है, तो उसका प्रभाव यह पड़ता है कि वह परिश्रमी, स्वाभिमानी और शान्तिपूर्ण अच्छा नागरिक बन जाता है। वह देश की रीढ़, और देश के प्रति सबसे अधिक वफादार, होता है। जब कभी देश पर विपत्ति आती है, तो यह वर्ग ही उसके लिए अपना सबसे अधिक बलिदान करता है। सेना में यही लोग अधिक जाते हैं। देश में स्थायी शासन होने से इस वर्ग को लाभ होता है; अतएव देश में उस वर्ग के प्रभावशाली और शक्तिवान होने के कारण राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्थायित्व आता है, राजनैतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल शीघ्र नहीं होती। पुत्र अपने पिता के पेशे को अपनाता है, अतएव वह अपने परिवार की प्रतिष्ठा को तथा अनुभव को भी प्राप्त करता है, और उसकी परम्पराओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसका परिणाम यह होता है, कि देश में एक बहुत बड़ा वर्ग देश की प्राचीन परम्पराओं का प्रशंसक बन जाता है।

किन्तु इस पद्धति के कतिपय दोष भी हैं। कृषक स्वामित्व की पद्धति में बहुधा जोत बहुत छोटी होती हैं और कालान्तर में वे और भी छोटी होती जाती हैं तथा बिखर जाती हैं। छोटी-सी जोत पर वह भी यदि बिखरी हुई हो, तो वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं हो सकती। फसलों का हेर-फेर (rotation of crops) नहीं हो सकता, और न आधुनिक यन्त्रों का ही उपयोग हो सकता है। यही नहीं, बहुत छोटे और बिखरे खेत होने के कारण एक साहसी किसान की व्यवस्थापक की योग्यता के लिए उस छोटे से खेत पर पूरा अवसर और सुविधा नहीं होती। इसके अलावा किसान के पास पूँजी बहुत कम होती है और बहुधा वह ऋण-ग्रस्त हो जाता है। अतः ऐसी दशा में आधुनिक ढंग की प्रगतिशील खेती होना असम्भव हो जाता है।

बना देगा। यदि एक उपजाऊ भूमि को किसी किसान को केवल पाँच या साल के लिए पट्टे पर दे दीजिए, वह उसे मरुभूमि बना कर छोड़ देगा। स्वामित्व का चमत्कार रेत को भी सोने में परिणत कर देता है"। इस स्वामित्व में प्रति एकड़ भूमि की पैदावार बहुत अधिक होती है, किसान कोई बात ऐसी नहीं करेगा, जिससे भूमि को हानि पहुँचे। वह उसकी उत्पादन शक्ति को बनाये रखने और उसके मूल्य को बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करता है। जब भूमि उसकी होती है, तो किसान उसपर अथक परिश्रम करता है।

कृषक स्वामित्व की पद्धति से केवल यही लाभ नहीं होता, वरन सामाजिक और राजनैतिक लाभ भी होते हैं। जब किसान स्वयं भूमि का स्वामी होता है तो उसका प्रभाव यह पड़ता है कि वह परिश्रमी, स्वाभिमानी और एक शान्तिपूर्ण अच्छा नागरिक बन जाता है। वह देश की रीढ़, और देश के प्रति सबसे अधिक वफादार, होता है। जब कभी देश पर विपत्ति आती है, तो यह वर्ग ही उसके लिए अपना सबसे अधिक बलिदान करता है। सेना में यही लोग अधिक जाते हैं। देश में स्थायी शासन होने से इस वर्ग को लाभ होता है; अतएव देश में उस वर्ग के प्रभावशाली और शक्तिवान होने के कारण राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्थायित्व आता है; राजनैतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल शीघ्र नहीं होती। पुत्र अपने पिता के पेशे को अपनाता है, अतएव वह अपने परिवार की प्रतिष्ठा को तथा अनुभव को भी प्राप्त करता है, और उसकी परम्पराओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। इसका परिणाम यह होता है, कि देश में एक बहुत बड़ा वर्ग देश की प्राचीन परम्पराओं का प्रशंसक बन जाता है।

किन्तु इस पद्धति के कतिपय दोष भी हैं। कृषक स्वामित्व की पद्धति में बहुधा जोत बहुत छोटी होती हैं और कालान्तर में वे और भी छोटी होती जाती हैं तथा बिखर जाती हैं। छोटी-सी जोत पर वह भी यदि बिखरी हुई हो, तो वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं हो सकती। फसलों का हेर-फेर (rotation of crops) नहीं हो सकता, और न आधुनिक यन्त्रों का ही उपयोग हो सकता है। यही नहीं, बहुत छोटे और बिखरे खेत होने के कारण एक साहसी किसान की व्यवस्थापक की योग्यता के लिए उस छोटे से खेत पर पूरा साधन और सुविधा नहीं होती। इसके अलावा किसान के पास पूँजी बहुत कम होती है और बहुधा वह ऋण-ग्रस्त हो जाता है। अतः ऐसी दशा में आधुनिक ढंग की प्रगतिशील खेती होना असम्भव हो जाता है।

निर्धन किसान बहुत अधिक मितव्ययी हो जाता है। गिरे हुए स्वास्थ्य वाला तथा अज्ञान में फँसा हुआ रुढ़िवादी किसान किसी नवीन सुधार को शीघ्र नहीं अपनाता, वह कट्टर पंथी बन जाता है।

भारतवर्ष में खेती के सुधार में एक बड़ी अड़चन यही है, कि जो साधन-सम्पन्न और योग्य किसान हैं, उनको अधिक भूमि नहीं मिल पाती। इस प्रकार की पद्धति में अधिकतर कानून द्वारा भूमि के हस्तान्तरकरण पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है, इसका यह परिणाम यह होता है कि खेती में पूँजी नहीं लग पाती। इस पद्धति में किसान को अपनी पैदावार की बिक्री में बड़ी अड़चन पड़ती है, और जब तक सहकारी बिक्री समिति का वे संगठन न करें, तब तक उन्हें पैदावार की बिक्री में कठिनाई होती है।

जमींदारी पद्धति : जमींदारी पद्धति इङ्गलैंड में प्रचलित है। जमींदार भूमि देने के अतिरिक्त, फार्म की इमारतें बनाता है, सड़कें तथा नालियां बनाता है तथा यंत्र इत्यादि देता है। भूमि में स्थायी सुधार करता है तथा किसान को बीज, खाद, इत्यादि मोल देता है, मजदूर रखता है, खेती की सब क्रियायें करता है। वह सरकार को निर्धारित लगान देकर सारा लाभ अपने पास रखता है। कहने का तात्पर्य यह कि वह साहसी (entrepreneur) का काम करता है। इगलैंड में यह पद्धति सफलतापूर्वक काम कर रही है। इङ्गलैंड का किसान जमींदार से प्रसन्न है, और जमींदार की सहायता के मूल्य को समझता है। परन्तु भारतवर्ष में जमींदार केवल एक शोषक है, न केवल किसान से अधिक लगान वसूल करता है, वह गॉव में न रहकर शहर में रहता है तथा जमीदारी की उन्नति की ओर तनक भी ध्यान नहीं देता। 'कारवर' ने ठीक ही कहा है कि दुर्भिक्ष को छोड़कर, ग्राम-समाज के लिए इस प्रकार के जमीदार जो गाँव में नहीं रहते सबसे बड़े विनाश का कारण होते हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष में चारों ओर से जमीदारों को समाप्त कर देने की आवाज आरही है, और लगभग सभी प्रान्तों में उनको समाप्त कर देने के सम्बन्ध मे कानून बन गए हैं।

बटाई पद्धति : बटाई पद्धति दक्षिण योरोप, तथा दक्षिणी अमेरिका मे प्रचलित है। भारत में भी कहीं-कहीं यह पद्धति प्रचलित है। किसान भूमि के स्वामी से भूमि ले लेता है, उस पर खेती करता है और पैदावार को आधी-आधी अथवा निश्चित अनुपात में बांट लेता है। इस पद्धति में लाभ यह है कि यदि फसल खराब होती है तो लगान स्वयं कम हो जाता है। परन्तु इसके-

यह भी है कि यदि फसल अच्छी होती है, तो लगान भी बढ जाता है। इस पद्धति में एक दोष यह है कि किसान मे अधिक परिश्रम करने का उत्साह जाग्रत नहीं होता, क्योंकि यदि पैदावार अधिक होती है; तो बिना कुछ किए ही जमीदार का हिस्सा बढ़ जाता है।

पट्टे की पद्धति : इस पद्धति मे किसान भूमि के मालिक स कुछ वर्षों के लिए पट्टे पर भूमि ले लेता है। सार्वजनिक हित की दृष्टि से यह अच्छा पद्धति नहीं हैं, क्योंकि किसान का यह प्रयत्न रहता है कि वह भूमि से अधिक से अधिक पैदावार करले किन्तु भूमि में खाद बगैरह न दे। किसान भूमि को विना विश्राम दिए, विना खाद दिए अथवा अन्य सुधार किये ही उस पर खेती करता रहता है। इसका परिणाम यह होता है, किं भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है। पट्टे की मियाद समाप्त होने के समय तो किसान भूमि के सुधार की ओर से और भी उदासीन हो जाता है। अतएव यदि भूमि पट्टे पर दी जावे तो उसमें यह शर्त होनी चाहिए कि यदि किसान भूमि में सुधार करेगा तो लगान में कमी कर दी जावेगी और यदि उसने भूमि मे कोई ऐसा सुधार किया है कि जिसके लाभ को वह पूरा नहीं उठा सका, तो उसका मुआवजा किसान को दे दिया जावेगा।

फार्म कितना वडा हो एक प्रश्न यह उठता है कि फार्म कितना बड़ा हो। इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता। यह तो हम पहले ही कह आए हैं, कि खेती एक ऐसा धन्धा है जिसमें बड़ी मात्रा के उत्पादन में होने वाले लाभ उतने अधिक नहीं होते, जितने कि अन्य धन्धों में होते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि फार्म का विस्तार कितना होना चाहिए। कुछ लोग तो वडे फार्म को पसन्द करने हैं। उनका यह कहना है, कि वडे फार्म पर आधुनिक ढग से खेनी हो सकती है, कृषि यन्त्रों का उपयोग हो सकता है, कुछ हद तक श्रम-विभाजन का उपयोग हो सकता है, और फसलों का हेर-फेर सरलता मे किया जा सकता है। फार्म को वाड़ मे घेरा जा सकता है, उस पर रहने के लिए मकान इत्यादि वनाये जा सकते हैं, सड़कें तथा पक्की नालियाँ निकाली जा सकती हैं, तथा पैदावार अधिक होने मे फसल की विक्री मे सुविधा और कम लागत पड़ती है। मालिक खेनी की क्रियाओं में न फॅसकर, सगठन तथा नीति की वातों पर अधिक ध्यान दे सकता है।

किन्तु छोटे खेत के भी लाभ हैं। व्यक्तिगत देखभाल अधिक हो सकती। फल, सब्जी तथा अन्य फसलें जिनमे व्यक्तिगत देखभाल और निरीक्षण की

धिक आवश्यकता होती है, पैदा की जा सकती हैं, मजदूरों की झंझट तथा ड़ताल इत्यादि का उनमें प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता तथा भूमि में सुधार रके और गहरी खेती करके अधिकाधिक पैदावार उत्पन्न की जा सकती है।

परन्तु यह सैद्धान्तिक रूप से तय नहीं किया जा सकता, कि बड़े फार्म अधिक लाभदायक होंगे अथवा छोटे फार्म। यह बहुत सी बातों पर निर्भर होगा, जैसे किसान के पास कितनी पूँजी है, सिंचाई की कितनी और कैसी सुविधा है, भूमि कैसी है, मज़दूरी अधिक है अथवा कम। यदि मजदूरी बहुत कम होगी तो मशीनों का उपयोग अधिक लाभदायक नहीं हो सकता। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही हम कह सकते हैं कि बड़ा फार्म लाभदायक होगा अथवा छोटा फार्म।

आदर्श जोत (Optimum Holding) सच तो यह है कि खेती में बहुत बड़े फार्म अधिक लाभदायक नहीं होते। सयुक्तराज्य अमेरिका में आरम्भ में बहुत बड़े फार्मों का चलन था, परन्तु वे अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हुए और अब एक हजार एकड़ से कम के फार्म अधिक हैं। साथ ही बहुत छोटी जोत भी लाभदायक नहीं होती। यदि जोत बहुत छोटी हो जाती है, तो उस पर आर्थिक दृष्टि से लाभदायक खेती नहीं हो सकती, अतएव आदर्श जोत वह है, जिसमे लागत-व्यय तथा पैदावार की दृष्टि से प्रति एकड़ सबसे अधिक लाभ मिल सके। आदर्श जोत क्या होगी, यह खेती की पद्धति, पूँजी, भूमि तथा श्रम को कुशलता, उत्पादन का स्वरूप तथा किसान की सामर्थ्य और योग्यता पर निर्भर रहेगा। राष्ट्र के आर्थिक हित की दृष्टि से आदर्श-जोत ही सर्वश्रेष्ठ है, और प्रत्येक देश को उसको स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि भारतवर्ष को लें तो आदर्श जोत सौ-दो सौ एकड़ की होगी, जिसमें खेती के लिए सभी अन्य सामग्री उपलब्ध हो। परन्तु आज की परिस्थिति मे यह सम्भव और व्यावहारिक नहीं है।

आर्थिक जोत भारतवर्ष मे जोत इतनी छोटी हैं, कि उन पर आर्थिक दृष्टि से लाभदायक खेती हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि किसान निर्धनता का जीवन व्यतीत करता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक किसान को कम से कम आर्थिक जोत अवश्य ही मिलनी चाहिए। 'आर्थिक जोत' क्या हो इस पर कतिपय विद्वानों का मतभेद है। किन्तु मोटे रूप में कहा जा सकता है, कि आर्थिक जोत वह है, कि जिस पर निर्भर रहकर कि परिवार साधारण रहन-सहन के दर्जे का निर्वाह कर सके, जिसमें ५

के सदस्यों को पूरा कार्य मिल सके, और आवश्यक पूँजी का पूरा-पूरा
हो सके। आर्थिक स्रोत भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न होगी। शुष्क प्रदेश
आर्थिक स्रोत जलपूरित प्रदेश से कहीं अधिक होगी।

परिच्छेद—१०

श्रम (Labour)

प्रकृति अपनी देन को चारों ओर बिखेर देती है, लेकिन उसके होते हुए भी बिना श्रम के सम्पत्ति (wealth) उत्पन्न नहीं होसकती। यदि जंगल में लकड़ी खड़ी रहे, पृथ्वी के गर्भ में खनिज-पदार्थ दबे पड़े रहें, और उस लकड़ी को काट कर अथवा खनिज-पदार्थ को खोदकर न लाया जावे, तो उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब तक किसान भूमि पर परिश्रम नहीं करता, उसको जोतता-बोता नहीं, तब तक कोई फसल पैदा नहीं हो सकती। सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए भूमि के साथ श्रम की भी आवश्यकता होती है।

श्रम शब्द का दो विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। श्रम का एक अर्थ मानव-प्रयत्न, उद्योग या श्रम-शक्ति से है। श्रम का दूसरा अर्थ श्रमी अथवा मज़दूर से होता है। अर्थशास्त्र में श्रम-शक्ति का उपयोग श्रम-शक्ति के अर्थों से होता है।

अर्थशास्त्र में श्रम का अर्थ "मनुष्य द्वारा किए गए उस शारीरिक अथवा दिमागी परिश्रम से होता है, जो अंशतः या पूर्णतः उस कार्य से प्रत्यक्ष प्राप्त होने वाले आनन्द के अतिरिक्त अन्य लाभ की दृष्टि से किया जाता है"। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि मनुष्य के वे सारे प्रयत्न जो कि वह मनोरंजन अथवा भावना की तुष्टि के लिए न करके धनोपार्जन के लिए करता है, 'श्रम' कहलाते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो परिश्रम धनोपार्जन करने अथवा सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए न किया जाकर केवल मनोरंजन अथवा अपनी किसी भावना को पूरा करने के लिए किया जाय वह आर्थिक दृष्टि से श्रम(labour)नहीं है। साधारणतः मेहनत करना प्रत्येक मनुष्य को अखरता है। अगर उसको श्रम के बदले में कुछ दिया न जाय तो वह साधारणतः मेहनत नहीं करेगा। हाँ, अपना मनोरंजन करने के लिए या किसी के प्रेम के कारण, कोई आदमी बहुत मेहनत कर सकता है। किन्तु वह आर्थिक श्रम नहीं है। उदाहरण के लिए, जो लोग अथवा स्वास्थ्य रक्षा के लिए हाकी, फ़ुटबाल, टेनिस, क्रिकेट, व

तथा अन्य खेल खेलते हैं तथा नाटक, सगीत इत्यादि का अभ्यास करते हैं। माता अपने बच्चों के लिए खाना बनाती है तथा और दूसरे सेवा करती है। देशभक्त लोग अपने देश की सेवा में अपने प्राण तक गँवा देते हैं, मानव-सेवा के व्रती अपना जीवन ही मानव-सेवा में लगा देते हैं, किन्तु इनका परिणाम आर्थिक श्रम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने ये कार्य आर्थिक लाभ के लिए नहीं किए। लेकिन एक पेशेवर ऐक्टर, लि- और रसोइये का काम आर्थिक श्रम कहलावेगा, क्योंकि वे आर्थिक लाभ के खयाल से ही काम करते हैं। प्रश्न हो सकता है, कि जब दो मनुष्य एक ही प्रकार का काम करते हैं, फिर एक के परिश्रम को हम आर्थिक श्रम मानें और दूसरे के परिश्रम को आर्थिक श्रम न मानें, यह क्यो। इसका मूल कारण यही है कि एक आर्थिक लाभ के लिए कार्य करता है दूसरा उसी कार्य को स्वेच्छा मे बिना किसी आर्थिक लाभ की आशा से करता है। दोनों के कार्य में एक मौलिक अन्तर है जो तनक ध्यान देने से स्पष्ट हो जावेगा। उदाहरण के लिए यदि हम एक सगीतज्ञ को लें जो केवल कला के प्रदर्शन अथवा मनोरजन के लिए स्वेच्छा से गाता है, किसी आर्थिक लाभ की आशा से नहीं गाता। ऐसी दशा मे वह गाने के लिए विवश नहीं है। यदि उसकी इच्छा हुई तो वह गायेगा, और यदि इच्छा न हुई तो नही गायेगा। किन्तु पेशेवर सगीतज्ञ जिसने पैसे लिए हैं, गाने से मना नही कर सकता, उसको गाना ही होगा। इसी प्रकार एक पर्यटक का परिश्रम आर्थिक श्रम नही है, किन्तु एक गाइड का परिश्रम आर्थिक श्रम है, क्योकि वह उन पहाड़ों पर इस कारण नहीं चढता क्योंकि पर्यटक की भॉति उसको प्राकृतिक दृश्य देखने म आनन्द आता है, परन्तु वह इस कारण उन पहाड़ों में पर्यटक को मार्ग बताता घूमता है क्योंकि उसको कुछ धन मिलने की आशा है। अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि जिस काम में आर्थिक लाभ का विचार होगा वही आर्थिक श्रम है। किन्तु आर्थिक श्रम के लिए यही भी आवश्यक है कि उसको सम्पत्ति के उत्पादन करने में लगाया जावे। चोर, जुआरी तथा भीख मॉगने वालों के श्रम को आर्थिक श्रम नहीं कहा जा सकता, क्योकि वे सम्पत्ति (wealth) या धन उत्पन्न नहीं करते। वे केवल दूसरों की सम्पत्ति लेकर उसका उपभोग करते हैं।

कुछ लोग शारीरिक श्रम तथा बौद्धिक श्रम मे भेद करते हैं। यदि देखा जाय तो जब एक कुली लोहे का लट्ठा अपने कन्धे पर उठा कर चलता है या फावड़े से मिट्टी खोदता है, तो उसका मस्तिष्क भी काम करता है। और जब एक लेखक लेख लिखता है, तो उसके शरीर को भी काम करना पड़ता है।

कुली के लट्ठा उठाने में शरीर को अधिक और मस्तिष्क को कम परिश्रम ना पड़ता है। इसी प्रकार लेखक के काम में मस्तिष्क को अधिक और ोर को कम काम करना पड़ता है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive ıbour) : प्राचीन अर्थशास्त्र के विद्वानों का यह विचार था कि केवल वही उत्पादक है, जिससे कि अनाज, तैयार माल या दूसरे स्पर्शनीय पदार्थ angible goods) पैदा हों। लेकिन सम्पत्ति या धन की उत्पत्ति (produıon) की जो परिभाषा हम उपर लिख चुके हैं, उसके अनुसार यह मत लकुल गलत है।

आज के विद्वानों का मत यह है, कि जिस श्रम से सम्पत्ति की उत्पत्ति सहायता मिले, वह उत्पादक है, और जिस श्रम से उत्पत्ति न होसके, थवा वह श्रम उत्पत्ति करने मे असफल हो जाय, वह अनुत्पादक है। मानलो कोई आदमी एक नदी के पास एक मकान बनाना चाहता है। वह मकान लिए सामान जुटाता है, और नक्शा बनवा कर नींव खुदाने लगता है, व उसे मालूम पड़ता है, कि नदी अपनी धारा बदल रही है। इस भय से नदी कहीं आगे उसके मकान को ही न बहा ले जाय, वह मकान बनवाना ोड़ देता है। उस दशा में अब तक का सारा श्रम अनुत्पादक कहलावेगा। क दूसरा उदाहरण लीजिए। एक सुरग खोदी जारही है, सुरग लगभग हुत कुछ तैयार हो गई हो, परन्तु एक चट्टान के हट जाने से सुरंग नष्ट ो गई, तो उसको बनाने का श्रम अनुत्पादक कहलावेगा। एक तीसरा दाहरण लीजिए। एक लेखक किसी राजनैनिक घटना पर लेख लिखता है, रन्तु वह ठीक समय पर नहीं छपता। देर हो जाने से उस लेख का कोई पयोग नहीं रहा, तो लेखक का श्रम का अनुत्पादक हो जावेगा।

श्रम (Labour) की विशेषताएँ उत्पत्ति के अन्य साधनों से श्रम ी कुछ विशेषताएँ हैं। अस्तु, श्रम के सम्बन्ध में अ ययन करने के लिए उनका अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

श्रम और श्रमजीवी को पृथक नहीं किया जासकता श्रम (labour) के सम्बन्ध मे पहली उल्लेखनीय बात यह है, कि श्रम को श्रमजीवी मे पृथक नहीं किया जा सकता, उनमें कोई अन्तर नहीं है। जब कोई श्रमजीवी अपने श्रम को बेचता है, तो यह नहीं हो सकता, कि वह वहाँ न जावे, जहाँ कि उसका मालिक उससे काम करवाना चाहता है।

मतलब यह हुआ, कि श्रमजीवी को स्वय उतनी देर के लिए बेच देना है। इस लिए जब हम यह कहते हैं, कि श्रम सस्ता है, तो इसका अर्थ हुआ कि श्रमजीवी सस्ते हैं।

श्रम की उक्त परिभाषा तर्क की दृष्टि से कई कठिनाइयाँ उपस्थित सकती है। वास्तव में कोई भी श्रम उस समय तक नहीं किया जावेगा, तक उससे श्रम करने वाले को सतोष न मिले। अस्तु, जब हम किसी के प्रयत्न को उपयोगिता-वृद्धि की दृष्टि से देखें, तो उसे हमें श्रम चाहिए। हाँ, जो प्रयत्न उस प्रयत्न से होने वाले संतोष अथवा आनन्द के ही किया जाय, उसे हम इस दृष्टि से श्रम नहीं भी गिन सकते हैं, क्योंकि अपने से भिन्न कोई उपयोगिता उत्पन्न नहीं कर सकता।

श्रम की नाशवानता (Labour is perishable) श्रम सब से अधिक नाशवान है। पूंजी (capital) तथा भूमि से चिरकाल तक उत्पन्न की जासकती है, किन्तु श्रम से दूसरी बार काम नहीं लिया जासकता जैसे जैसे समय बीतता जाता है, श्रम का नाश होता जाता है। उदाहरण लिए यदि किसी मजदूर को एक दिन काम नहीं मिलता, तो वह दूसरे दुगुना काम तो नहीं कर सकता। दो दिन काम न मिलने से तीसरे दिन तिगुना काम भी न कर सकेगा, और न वह बेकारी के दिन उसकी जिंदगी ही बढाये जासकते हैं। इसका मतलब यह हुआ, कि इतना श्रम नष्ट हो मजदूर को बेकारी के दिनों में जीवन निर्वाह करना कठिन हो जाता इस लिए वह अपने श्रम को हर समय बेचना चाहता है। इसका फल होता है, कि वह नौकर रखने वाले से भाव-ताव नही कर सकता। मालिक भी मजदूरी देता है, उसे लेनी पड़ती है। इससे मज़दूरो को कम मिलने की सम्भावना है।

श्रम के नाशवान होने का परिणाम यह होता है, कि मज़दूरी के बारे मे मोल-भाव सफलता-पूर्वक नहीं कर सकते। प्रथम मजदूरों के पास कुछ जमा पूंजी नहीं होती अतएव वे कुछ दिन ठहर सकते। उन्हे जिस मजदूरी पर काम मिलता है, वे उस पर काम करने लिए विवश होते हैं। दूसरे मालिकों को एक मजदूर की इतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि मजदूरों को काम की होती है। उदाहरण के लिए—मानलो कि एक मजदूर यह अनुभव करता है, कि उसे दूरी कम मिल रही है। वह एक कपड़े के कारखाने में काम करता है, जहाँ

: मजदूर काम करते हैं। अब एक या दस-बीस मजदूर काम करना ,तो मालिक को कोई हानि नहीं होगी। उसका काम रुका नहीं रहेगा। । यह मज़दूर बेकार हो जावेंगे। अतएव मजदूरों को उस मजदूरी पर तोष करना पडता है। एक मजदूर से मालिक मोल-भाव करने में दस : गुना अधिक है। यदि दस हज़ार मजदूर भी सगठित होकर एक (-सभा बनालें, मजदूर-सभा और सभी मजदूरों की ओर से मोल-भाव तो यह कमजोरी दूर हो सकती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं, कि पदार्थ का बेचने वाला कुछ समय तक ठहर कर पदार्थ को अच्छे दामों पर सकता है, किन्तु मजदूर ऐसा नहीं कर पाता।

श्रम (Labour) की पूर्ति (Supply) की परिवर्तनशीलता : भूमि र्ति सीमित है। उसकी अधिक माग होने पर उसकी पूर्ति बढाई नहीं कती। परन्तु श्रम की पूर्ति में परिवर्तन सम्भव है। अन्य पदार्थों र्ति की तरह श्रम की पूर्ति में शीघ्र परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के यदि शक्कर का भाव ऊँचा हो जावे, तो शक्कर की पूर्ति बढ जावेगी। यदि बढ़इयों और लुहारों की माग बहुत बढ जावे, तो उनकी पूर्ति । बढ नहीं सकेगी, क्योंकि इस काम के सीखने में कुछ वर्ष लगेंगे। यह ही कुशल कारीगरों की बात। लेकिन साधारण मजदूरों के विषय में यह बात लागू होती है। श्रम गतिशील नहीं होता। इस लिए साधारण रों की पूर्ति मे भी शीघ्र परिवर्तन नहीं होता। इस लिए जब किसी । पर नये कारखाने खुलते हैं, तो आरम्भ में बहुत समय तक मजदूरी र अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक रहती है। इसके विपरीत यदि किसी ए से मजदूरी की दर घट जावे, तो लुहार या बढई अपना पेशा नहीं देगा। हाँ भविष्य में उनके लडके कम संख्या में इन कामों को सीखेंगे। प्रकार बहुत समय मे जाकर पूर्ति कम होगी। साधारण मज़- का भी यही हाल है। यदि एक स्थान पर मजदूरी कम है, तो वहाँ के र सहसा अपना घर-बार छोड़कर मुश्किल से जावेंगे। अतएव उस । मे बहुत समय तक मज़दूरी कम रहेगी।

अनुभव-शून्य और अशिक्षित मजदूरों के सम्बध मे तो यह बात और भी होती है। उनको बहुधा यह मालूम ही नहीं हो पाता कि उनके श्रम माँग किस जगह अधिक है, उन्हें कहाँ सबसे अधिक मज़दूरी मिल ती है। इसलिए सभी देशों में, विशेष कर भारतवर्ष मे बहुत से मजदूरों को

जितनी मजदूरी मिल सकती है, उससे कम मजदूरी मिलती है। स्त्री सम्बध में तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। इससे यह स्पष्ट है, कि सब मजदूरों में स्वतन्त्र रूप से प्रतियोगिता हो सके, उन्हें क्या मिलेगा इसकी पूरी जानकारी हो, और स्थान्तर गमन की कठिनाइयाँ न हों, भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही काम के लिए मजदूरी लगभग समान हो, अधिक अन्तर न हो।

श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour) : श्रम का ... होना उत्पादन की दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि यदि श्रम बिलकुल गति... हो, तो कहीं जरूरत से ज्यादा मजदूर हो सकते हैं, और कहीं मजदूरों की ... कारण सम्पत्ति की उत्पत्ति ठीक-ठीक नहीं हो पाती। आर्थिक दृष्टि से यह ... नहीं है। जहाँ मजदूर जरूरत से ज्यादा होंगे, वहाँ कुछ मजदूर बेकार रहेंगे, वे समाज के लिए सम्पत्ति का उत्पादन न कर सकेंगे और जहा मजदूर कम ... वहाँ सम्पति का उत्पादन कम होगा। लेकिन श्रम की गतिशीलता बहुत कम ... श्रम की गतशीलिता कम क्यों है यहाँ हम इस पर विचार करेंगे।

गतिशीलता दो प्रकार की होती है। (१) स्थान-परिवर्तन (geographical mobility) (२) व्यवसाय परिवर्तन (occupational mobility)।

स्थान-परिवर्तन . मजदूर के अपने गाव और घर को छोड़ कर ... स्थान पर काम के लिए जाने मे सबसे बड़ी बाधा तो यह होती है कि वे अपने परिवार, मित्रों और अपने गांव या नगर को नहीं छोड़ना चाहते, क्योंकि इसका मोह होता है। फिर एक जगह से दूसरी जगह जाने म खर्च पड़... भिन्न-भिन्न स्थानों का रहन-महन, भाषा, आचार-व्यवहार और जलवायु ... होता है। किसी गाव के आदमी को ले लीजिए, वह बम्बई या कलकत्ते काम ... उस समय तक नहीं जाना चाहता, जब तक कि उसको गाव म काम मिल... है। क्योंकि बम्बई और कलकत्ता का जीवन दूसरी तरह का होता है। वह ... गाव को नहीं छोड़ना चाहता। जब गाव में उसे रोजी नहीं मिलती और ... जाना ही पड़ता है, तो वह उसी जगह जाता है, जहाँ कि उसके गाव वाले ... करते हैं। जैसे-जैसे शिक्षा और आमदरफ्त क साधन बढते जाते हैं, वैसे ... स्थान-परिवर्तन अधिक होता है।

व्यवसाय-परिवर्तन (Occupational mobility) व्यवसाय परिवर्तन का अर्थ है, एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय में चले ... या व्यवसाय की एक क्रिया को छोड़ कर दूसरी क्रिया म चले जाना। ... प्रकार की गतिशीलता मे बहुत सी बाधायें हैं। कोई भी आदमी एक व्यव...

ह कर वहां के काम की जानकारी प्राप्त कर लेता है, वह उस व्यवसाय में
हो जाता है। अगर उसे किसी वजह से उस व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे
ाय में जाना पड़े तो उसकी प्राप्त की हुई कुशलता किसी काम की नहीं रहेगी,
उसे कुछ समय नए व्यवसाय को सीखने में लगाना होगा; इसलिए साधा-
: वह अपने व्यवसाय को नहीं छोड़ेगा। उदाहरण के लिए यदि मानलें कि
की मांग कम हो जाने से या जुलाहों की सख्या बढ जाने से जुलाहों
जदूरी कम हो जाती है। फिर भी जुलाहे कपड़ा बुनना नहीं छोड़ सकते,
कि उन्होंने वर्षों मेहनत करके वह हुनर सीखा है। अब अगर वह कपड़ा
छोड़ कर बढ़ईगीरी करना चाहें तो नही कर सकते, क्योंकि वर्षों की मेहनत
जायगी, साथ ही बढईगीरी सीखने में बहुत सा समय लगाना पड़ेगा। हां
ऐसा मालूम पड़ा हो कि जुलाहों की मजदूरी हमेशा के लिए कम होगई है,
बढईगीरी से बहुत फायदा है, तो भविष्य में लोग बुनकर के धंधे में कम
ी और बढईगीरी में अधिक जावेंगे।

इसके अतिरिक्त व्यवसाय में एक और बाधा है। प्रत्येक आदमी को अपने
व्यवसाय से मोह हो जाता है, और उसका उसको गौरव या अभिमान होता
क्योंकि वह व्यवसाय उनके बाप-दादों के समय से उसके यहाँ होता चला
है। वह उसको करके गौरव का भान करता है, इस कारण भी वह
व्यवसाय को नहीं छोड़ना चाहता।

भारतवर्ष मे जाति प्रथा व्यवसाय-परिवर्तन में बाधा उपस्थित करती है।
के बन्धन तथा जाति की रीति-रस्में ऐसी कठोर हैं, कि जिनसे व्यवसाय-
र्तन में बाधा उपस्थित होती हैं। उदाहरण के लिए एक तेली चमार का
नहीं कर सकता और एक बढ़ई कुम्हार का काम नहीं कर सकता।

एक प्रकार की गतिशीलता यह भी है कि मजदूर अपने व्यवसाय की एक क्रिया
री क्रिया में चला जावे। उदाहरण के लिए कपास ओटने वाला सूत कातने
ाम करने लगे और सूत कातने का काम करने वाला कपड़ा बुनने लगे। जैसे-
मशीनों से उत्पादन का कार्य अधिक होने लगा है, वैसे-वैसे व्यवसाय-परिव-
े होने वाली गतिशीलता बढ गई है। क्योंकि मशीनों को चलाने का काम
न नहीं होता, थोड़े मे दिनों में ही हर एक आदमी किसी भी मशीन को
ना सीख सकता है, इसलिए अब मजदूर एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में
ानी से जा सकता है।

श्रम की गतिशीलता को बढ़ाने के लिए नीचे लिखी बातों आवश्यकता है:—

(१) गमनागमन के साधनों की उन्नति—हो। जितना ही आना सुगम और कम खर्चीला होगा, उतनी ही श्रम की गतिशीलता डाक, तार, बेतार, रेडियो इत्यादि के द्वारा भी एक स्थान पर रह कर स्थानों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इन सुविधाओं के परि स्वरूप भी श्रम की गतिशीलता में वृद्धि होती है। उद्योग-धंधों में बिभाजन (division of labour) का विकास होने तथा मशीनों अधिकाधिक चलन होने से भी श्रम की गतिशीलता बढ़ती है।

गमनागमन के साधनों की उन्नति होने तथा संदेशवाहक साधनों उन्नति से कोई भी व्यक्ति अपने मित्रों और सम्बन्धियों की आसान जानकारी प्राप्त कर सकता है और बिना अधिक कष्ट उठाये तथा अल्प व्यय किए अपने लोगों से मिल सकता है। उसको परदेश जाने में संकोच भय नहीं हो सकता। इसी प्रकार श्रम-विभाजन तथा मशीनों अधिक चलन से क्रियायें इतनी सरल-सुगम हो जाती हैं कि उनको सीखने श्रमजीवी को अधिक समय नहीं लगता। बहुत सी मशीनें तो विभिन्न में एकसी हो होती हैं। अतः मजदूर आसानी से एक धंधे से दूसरे धंधे एक क्रिया से दूसरी क्रिया में जा सकते हैं। उनको इस परिवर्तन से कोई हानि नहीं होती।

भारतीय श्रमजीवी और गतिशीलता. भारतीय श्रमजीवी गतिशीलता बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दुस्तान अधिकतर जनसंख्या गाँवों में रहती है और खेती-बारी करती है। जो कि खेती-बारी करते हैं वे स्वभावतः जल्दी अपना निवासस्थान नहीं बद सैकड़ों वर्षों से एक ही गाँव में किसान की बीसियों पीढ़ियां रहती रहीं इस कारण स्वभावतः वे गाँव छोड़ना नहीं चाहते। बाप-दादों की भूमि वे एक पवित्र धरोहर मानते हैं, इस कारण उसको छोड़ने से उन्हें घोर होता है। इसके अतिरिक्त यातायात के साधनों की कमी के कारण, तथा काम कहां मिल सकता है उसकी जानकारी न होने के कारण भी सीधे-सादे ग्रामीण की इच्छा अपने गाँव को छोड़कर जाने की नहीं होती। इसके अतिरिक्त भारतीय श्रमिकों की निर्धनता तथा अज्ञानता भी उस स्थान परिवर्तन में बाधक होती है। भारत एक विशाल देश है जलवायु तथा रहन-सहन के

क्षमा यहां बहुत पाई जाती है। निर्धन किसान जो अधिकतर अपने गांव में
न का अधिकांश भाग व्यतीत करता है, इस भिन्नता के कारण स्थान-
र्तन में संकोच करता है। कहीं-कहीं तो भाषाओं का भी भेद है।
कारणों से भारतीय श्रमजीवी साधारणतः स्थान-परिवर्तन से भयभीत
जाता है। वह अपने गांव को छोड़ना नहीं चाहता। रूढिवादी भारतीय
ोण जो निरक्षर होता है, ऊपर लिखे कारणों से अपने निवासस्थान को
कर ऐसे स्थान पर भी नहीं जाना चाहता जहा उसे काम मिल सके और
दूरी भी अधिक मिल सके। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली तथा अशिक्षा भी
न-परिवर्तन में बाधक होती है, क्योंकि गाव में यदि किसी युवक के लिए
म नहीं होता तो भी सम्मिलित कुटुम्ब उसका पालन-पोषण करता है और
शिक्षित होने के कारण उसे यह ज्ञात नहीं होता कि, वह कहा जावे और
ा करे।

ऊपर लिखे हुए कारणों से स्थान-परिवर्तन में बाधा उपस्थित होती है,
न्तु जाति-पांति, धर्म तथा औद्योगिक शिक्षा न होने के कारण भी व्यवसाय-
रिवर्तन मे बाधा उपस्थित होती है। एक जाति का आदमी दूसरी जाति का
म नहीं कर सकता। करे तो उसे बिरादरी से निकाल दिया जावे।
न्दुओं में जाति-पाँति का रोग प्रवल है। नाई धोबी का काम नहीं करेगा।
बी चमार का काम नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त छुआ-छूत के कारण
कठिनाई उपस्थित होती है। घरेलू नौकर रखते समय मालिक इस बात
ध्यान रखता है कि नौकर झूठे वर्तन इत्यादि उठावेगा या नहीं। इसके
तिरिक्त कला-कौशल की शिक्षा न होने के कारण एक ग्रामीण सिवाय
लीगीरी या मजदूरी के कुछ नहीं कर सकता। इन सब कारणों से
रतवर्ष में श्रम की गतिशीलता बढाने के लिए शिक्षा-प्रसार द्वारा जाति-पाँति
बंधन को ढीला करने, कला-कौशल की शिक्षा देने, गमनागमन के साधनों
ी उन्नति करने तथा रूढियों को नष्ट करने की आवश्यकता है।

— - —

परिच्छेद ११

श्रम की पूर्ति तथा जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त

(Supply of labour and Theory of population)

श्रम की पूर्ति उत्पत्ति के साधनों में मानवीय श्रम सबसे महत्त्वपूर्ण है। किसी देश में कितना धन या सम्पत्ति (wealth) होगी, यह इस बात पर निर्भर है, कि उत्पादन करने के लिए कितने श्रम विद्यमान हैं। श्रम की पूर्ति दो बातों पर निर्भर है। (१) जनसंख्या (२) उसकी कार्यक्षमता पर। अस्तु; हमें पहले जनसख्या का अध्ययन चाहिए। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि मनुष्य उत्पादक ही नहीं है, वरन सम्पत्ति के उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। अस्तु, जनसख्या का अर्थशास्त्री के दोहरा महत्त्व है। अर्थशास्त्री मनुष्य के कार्यों के प्रति इस कारण दिलचस्पी लेता है, क्योंकि वह सम्पत्ति का उत्पादक है, साथ ही वह सम्पत्ति का उपभोक्ता (consumer) भी है। इस परिच्छेद में हम जनसख्या के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे, जिनके द्वारा श्रमजीवियों की सख्या निर्धारित होती है। साथ ही हम श्रमजीवियों की कार्यक्षमता जिन बातों पर निर्भर होती है, उनका भी अध्ययन करेंगे। क्योंकि श्रम की पूर्ति केवल जनसख्या पर ही निर्भर नहीं होती वरन जनसख्या और उसकी कार्यकुशलता पर निर्भर होती है।

किसी भी देश में जनसख्या जन्म तथा मृत्युसख्या, तथा आवास और प्रवास पर निर्भर रहती है। इनमें जन्म और मृत्युसख्या जनसख्या पर अधिक प्रभाव डालती हैं।

मालथस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त : मालथस ने जनसंख्या सम्बंधी अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन १७९८ मे अपनी पुस्तक में किया। इस पुस्तक को उसने अपना नाम दिये विना ही छुपाया था। इस पुस्तिका में उसने जनसख्या विषयक अपने सिद्धान्त की तथा समाज की भावी उन्नति पर उसके प्रभाव की विवेचना की थी।

वास्तव में उसके सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि मनुष्य की सख्या-वृद्धि की कोई सीमा नहीं है। यौन भावना के कारण सतानोत्पत्ति

धिक होती है और जनसख्या तेज़ी से बढती है। २५ वर्षों में जनसख्या गुनी हो जाती है। साधारणतः २५ वर्षों में जनसंख्या दुगनी नहीं होती, सका कारण रोग तथा युद्ध हैं। यदि बीमारियाँ तथा युद्ध जनसख्या को ष्ट न करते रहें, तो साधारणतया जनसख्या तेजी से बढ जावे। किन्तु नसख्या को तेजी से बढने न देने का मुख्य कारण जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी है। मालथस का कहना था, कि जिस तेज़ी से जनसख्या में वृद्धि होती है, उस तेजी से खाद्य पदार्थों में वृद्धि नहीं होती। मालथस की भाषा में खाद्य पदार्थों की वृद्धि गणित के क्रम से तथा जनसख्या की वृद्धि ज्यामितिक क्रम मे होती है।

सयुक्तराज्य अमेरिका की जनसख्या का अध्ययन करने के उपरान्त मालथस इस नतीजे पर पहुँचा, कि जनसंख्या २५ वर्षो मे दुगुनी हो जाती है; परन्तु २५ वर्षो मे खाद्य पदार्थों की दुगुनी वृद्धि नहीं होसकती। अतएव किसी भी देश की जनसख्या की प्रवृत्ति वहा की खाद्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक तेजी से बढने की होती है। पहले भी जनसंख्या की यह प्रवृत्ति देखी गई है और भविष्य में भी यह प्रवृत्ति रहेगी, ऐसा माना जासकता है।

जब हम यह स्वीकार करते हैं, कि जनसख्या खाद्य पदार्थों की अपेक्षा तेज़ी से बढती है, यदि अन्य कारण (युद्ध तथा महामारी) उस को न रोकें, तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अन्त में जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी के कारण उसकी वृद्धि रुक जावेगी। जनसंख्या की वृद्धि दो प्रकार से रोकी जासकती है। जन्म-सख्या को कम करके, अथवा मृत्यु-संख्या को बढ़ाकर। जन्म-सख्या को दूरदर्शिता, नैतिक सयम, बड़ी उमर मे विवाह करके तथा सतति-निग्रह के उपायों को काम में लाकर कम किया जा सकता है। इनको हम प्रतिबधक उपाय (preventive checks) कहते हैं। मृत्यु-सख्या में वृद्धि महामारी, दुर्भिक्ष अथवा युद्ध इत्यादि के कारण होती है। इनको हम नैसर्गिक उपाय (positive checks) कहते हैं। मालथस का कहना यह था, कि यदि जनसंख्या की वृद्धि को प्रतिबधक उपायों द्वारा न रोका गया, तो अन्त में नैसर्गिक उपाय जनसख्या की वृद्धि को रोक देंगे। अर्थात मृत्यु-संख्या बहुत अधिक बढ जावेगी जिससे मानव-समाज को भयकर दुर्दशा का सामना करना होगा। सच तो यह है कि प्रतिबधक उपाय सदैव अपना काम करते रहते हैं। जैसे-जैसे मानव जाति उन्नति करती गई, पशु-श्रेणी से उसका विकास होता गया, वैसे-वैसे जीवन-निर्वाह के साधनों की कमी के भय से मनुष्य अपनी सख्या-वृद्धि को रोकने का प्रयत्न करने लगा। जो

जातियां अत्यन्त पिछड़ी हुई हैं, उन्हें छोड़कर सभी उन्नत समाजों में जनसख्या सीमा के अन्दर रहती है। जनसंख्या का यह नियत्रण नैसर्गिक कारणों अर्थात् युद्ध, दुर्भिक्ष, तथा महामारी के द्वारा नही होता, वरन मनुष्यों के दूरदर्शिता पूर्ण आत्म-संयम के द्वारा होता है। मालथस ने अपने देशवासियों को इस बात के लिए उत्साहित किया कि वे अधिकाधिक प्रतिबंधक उपायों के द्वारा जनसख्या की अनावश्यक वृद्धि को रोकें, जिससे कि युद्ध, महामारी तथा दुर्भिक्ष की विभीषिका से मानव-समाज बच सके।

संक्षेप मे यही मालथस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि मालथस का सिद्धान्त उत्पादन के क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) के सिद्धान्त पर आश्रित है। जैसे-जैसे जनसख्या बढती जाती है, भूमि पर अधिकाधिक गहरी खेती (intensive cultivation) की जाती है और क्रमागत ह्रास नियम लागू होता है। वास्तव में यही मालथस के सिद्धान्त का मूल आधार है। जब किसी देश की जनसख्या बढती है और बढ़ कर दुगुनी हो जाती है, तो भूमि पर अधिक श्रम लगाया जावेगा। खेती गहरी होवेगी, किन्तु खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति जनसख्या की वृद्धि के अनुपात मे नहीं बढेगी। इसका परिणाम यह होगा कि खाद्य पदार्थों की कमी हो जावेगी और जनसख्या को भुखमरी का सामना करना होगा। मालथस ने देखा कि जनसख्या के बढ़ने से श्रम अनायास ही बढ जावेगा, पूँजी भी अधिक इकट्ठी की जासकती है: परन्तु भूमि तो परिमित है, अतएव क्रमागत ह्रास नियम अवश्य लागू होगा और जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में खाद्य पदार्थों की वृद्धि नहीं होगी। अतएव भुखमरी तथा रोगों के द्वारा प्रकृति जनसख्या को कम कर देगी।

मालथस के सिद्धान्त की आलोचना · मालथस ने जिस निराशाजनक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसको समझने के लिए यह आवश्यक है, कि उस समय की स्थिति को समझ लिया जावे। बीसवीं शताब्दी में आधुनिक ढंग की खेती के फलस्वरूप खेती की पैदावार में आशातीत वृद्धि हुई। खेती में बहुत से सुधार हुए, वैज्ञानिक खेती की जाने लगी और उत्पादन बहुत बढ़ गया। अस्तु, उद्योग धन्धों और खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने से जो उत्पादन मे कल्पनातीत वृद्धि हुई, उसकी मालथस को कभी कल्पना भी न थी। उसको इस बात का ध्यान नहीं रहा कि उत्पादन के तरीके में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके क्रमागत ह्रास नियम को लागू होने से रोका जासकता है।

इसके अतिरिक्त मालथस ने यह मान लेने में भी भूल की, कि जनसंख्या की तेज वृद्धि होना अनिवार्य है। मालथस प्रगतिशील देशों में जनसंख्या पर प्रभाव डालने वाले विविध कारणों का प्रभाव सही-सही नहीं आँक सका। प्राणि-शास्त्र (biology) का यह नियम है, कि मनुष्य जैसे-जैसे अधिक सभ्य होता जाता है, सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति उसकी वैसे ही वैसे कम होती जाती है। सभ्यता, ऊँचा रहन-सहन तथा सुसंस्कृति मनुष्य की सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति दोनों ही को कम कर देती है। शिक्षित स्त्री-पुरुषों की मानसिक और नैतिक उन्नति होने के कारण वे कम सन्तान उत्पन्न करते हैं। विशेषकर शिक्षित स्त्रियां बहुत अधिक बच्चों की माता बनना कभी पसन्द नहीं करतीं। यदि एक शिक्षित दम्पती को एक कार तथा एक और बच्चे में से एक को पसन्द करने को कहा जावे, तो बहुधा शिक्षित दम्पती कार को पसन्द करेंगे। मालथस ने इस नियम की अवहेलना की। सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन होने से जनसंख्या अब अधिक तेजी से नहीं बढ़ती। अब बड़े परिवारों का होना उतने अधिक गौरव की बात नहीं मानी जाती जितनी पहले मानी जाती थी। उच्च श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के जीवन-स्तर ऊँचे हो जाने से भी उनकी जनसंख्या कम होगई है। उस समय ब्रिटेन एक खेतिहर राष्ट्र था, उद्योग-धधों का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था, खेती भी पिछड़ी दशा में थी। उधर अमेरिका तथा नवीन उपनिवेशों में उत्पादन के साधनों की प्रचुरता के कारण जनसंख्या तेजी से बढ रही थी। अस्तु; मालथस ने इससे प्रभावित होकर जनसंख्या सम्बधी अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) खेती पर शीघ्र लागू होता है। अस्तु, मालथस ने सोचा कि यदि मनुष्य अपनी वृद्धि को स्वयं रोकने का प्रयत्न नहीं करेगा तो युद्ध, भुखमरी, दुर्भिक्ष, रोग तथा अन्य प्राकृतिक उपद्रव उनको नष्ट करके रहेंगे। परन्तु मालथस को यह निराशावादी सिद्धान्त आगे की घटनाओं से गलत सिद्ध हुआ। जिस समय मालथस ने अपनी पुस्तक लिखी थी, उस समय औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ ही हुई थी। उसके कुछ समय बाद जब इङ्गलैंड औद्योगिक दृष्टि से उन्नत हुआ, तो उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैंड की जनसंख्या बहुत तेजी से बढी। साथ ही अंग्रेजों के रहन-सहन का दर्जा भी बहुत ऊँचा उठा। औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त इङ्गलैंड में जो जनसंख्या की तेज़ी से वृद्धि हुई और साथ ही अंग्रेज पहले से बहुत अधिक समृद्धिशाली हो उठे, यह इस बात को प्रमाणित करता है कि मालथस का सिद्धान्त पूर्ण रूप से

सही नहीं था। यही नहीं कि केवल इङ्गलैंड मे ही यह घटना घटी हो। औद्योगिक क्रान्ति के फल स्वरूप ससार के अन्य देशों में भी उत्पादन बहुत तेजी से बढा तथा जनसख्या बेहद बढ गई, फिर भी देश अत्यन्त समृद्धिशाली बन गए और सर्व साधारण के रहन-सहन का स्तर (standard of living) बहुत ऊंचा होता गया। बात यह थी कि उत्पादन के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया और उनसे क्रमागत ह्रास-नियम को लागू होने से रोक दिया गया। मालथस को यह ध्यान नहीं था कि क्रमागत ह्रास नियम को लागू होने से रोका जा सकता है। खेती के तरीकों में सुधार होने, गमनागमन के साधनों में उन्नति होने तथा विनिमय के साधनों मे उन्नति होने से क्रमागत ह्रास नियम की प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। सच तो यह है कि क्रमागत ह्रास नियम अपरिवर्तनशील (static) परिस्थिति में ही लागू होता है परिवर्तनशील (dynamic) परिस्थिति में उतना लागू नहीं होता।

मालथस का यह विचार था कि जीवन-निर्वाह के साधनों में वृद्धि होने पर जनसख्या में अवश्य वृद्धि होगी। परन्तु वस्तुतः इसका उलटा देखने में आता है। जैसे-जैसे मनुष्य अधिक समृद्धिशाली होता जाता है, उसकी सतानोत्पत्ति की शक्ति घटती जाती है।

मालथस ने खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति पर अनावश्यक जोर दिया जब कि सम्पत्ति (wealth) को अन्य रूपों मे उत्पन्न करने से मनुष्य अपनी सख्या को बढाते हुए भी अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठा सकता है। उदाहरण के लिए—इङ्गलैंड मे औद्योगिक उन्नति तेजी से हुई तथा जनसख्या तेजी से बढी। इङ्गलैंड उसी बढती हुई जनसख्या के लिए अधिक खाद्य-पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सका, किन्तु औद्योगिक माल बाहर विदेशों को भेज कर खाद्य-पदार्थ तथा कच्चा माल मँगाता रहा। मालथस को यह बात ध्यान में नहीं आई कि गमनागमन के साधनों की उन्नति के फलस्वरूप नये प्रदेश, जहा भूमि की बहुतायत है, घनी आबादी वाले राष्ट्रों को खाद्य-पदार्थ दे सकेंगे। अतएव खाद्य-पदार्थों को न उत्पन्न करने वाले राष्ट्र भी अन्य धंधों की उन्नति करके अपने माल को बेचकर, यथेष्ट खाद्य-पदार्थ प्राप्त कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त मालथस इस तथ्य को भी भूल गया कि जब जनसख्या बढ़ेगी, तो जहाँ एक ओर सम्पत्ति (wealth) का भोग करने वाले बढेंगे वहा दूसरी ओर सम्पत्ति (wealth) उत्पन्न करने वाले भी बढेंगे। मं

भी मनुष्य इस ससार में आता है, वह केवल मुँह और पेट लेकर ही नहीं आता, वरन काम करने तथा सम्पत्ति का उत्पादन करने के लिए दो हाथ भी लेकर आता है। जनसख्या की वृद्धि का अर्थ है श्रम की वृद्धि, और श्रम की वृद्धि के फलस्वरूप खेती तथा उद्योग-धंधों में क्रमागत वृद्धि-नियम (increasing returns) लागू हो सकता है। अधिक जनसंख्या का परिणाम यह होता है कि श्रम-विभाजन (division of labour) भली प्रकार हो सकता है। किसी धधे में जब श्रम-विभाजन भली प्रकार उन्नति कर जाता है, तो उसमें यन्त्रों तथा मशीनों का अधिकाधिक उपयोग हो सकता है। इस प्रकार खेती तथा उद्योग-धधों में क्रमागत वृद्धि नियम लागू हो सकता है। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जावे कि खेती में क्रमागत-वृद्धि नियम न भी लागू हो, तो श्रम-विभाजन में उन्नति होने तथा उसके फलस्वरूप अधिक मशीनों के उपयोग होने से, उद्योग-धधों में तो क्रमागत वृद्धि नियम अवश्य ही लागू होगा। फिर उस अधिक उत्पत्ति को अन्य देशों में भेजकर खाद्य-पदार्थ मँगवाये जा सकते हैं।

यही नहीं, आज के युग में सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्री-पुरुष अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाने का अधिक प्रयत्न करते हैं, और लम्बा-चौड़ा परिवार निर्माण करने की भावना प्रायः लुप्त होती जा रही है। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक देश में विवाह बड़ी उमर में होने लगे हैं। यथेष्ट सख्या में युवतियाँ और युवक विवाह नहीं करते। स्त्री-शिक्षा के फलस्वरूप स्त्रियाँ अब अधिक सन्तान उत्पन्न नहीं करना चाहतीं। बहुत से दम्पती सतति-निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम मे लाते हैं, जिससे कि जन्म-सख्या गिर गई है। रहन-सहन के दर्जे के अधिक ऊँचा होने का भी यही परिणाम होता है कि पुरुष देर मे विवाह करता है, क्योंकि आरम्भ में उसकी आय इतनी नहीं होती कि वह अपने परिवार को आराम मे रख सके। इन सब सामाजिक परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ कि जनसख्या तेजी से नहीं बढ पाती। सच तो यह है कि इन सबका किसी-किसी देश में तो ऐसा भीषण परिणाम हुआ है कि वहाँ जनसख्या कम होने लग गई है। जन सख्या का कम हो जाना भी देश के लिए घातक होता है।

अस्तु, मालथस की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। यही कारण है कि आज के अर्थशास्त्री मालथस के जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त को सही नहीं मानते।

भारत में मालथस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त लागू होता है : मालथस के जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त के बारे में जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, उसको ध्यान में रखते हुए यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मालथस के कथन में कुछ सत्यता अवश्य है। यदि जनसख्या को प्रतिबधक उपायों (preventive checks) अथवा नैसर्गिक उपायों से न रोका गया, तो जनसख्या उपलब्ध जीवन के साधनों से अधिक बढ जावेगी। एक सीमा के बाद विज्ञान की सहायता भी उत्पादन को जनसख्या के अनुपात में बढाने में सफल नही होगी। प्रत्येक देश में जो आज सतति-निग्रह के कृत्रिम उपायों को काम में लाया जारहा है, यह मालथस के सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण है, और जन-समाज ने मालथस की सलाह को हृदयगम कर लिया है। भारतवर्ष में आज लगभग वही परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिसका भय मालथस को था। भारत में जनसख्या प्रतिवर्ष १ प्रतिशत की गति से बढ रही है और उसका परिणाम क्या हो रहा है? देश मे भयकर निर्धनता का साम्राज्य है, महामारी और रोग फैलते हैं, जिनसे लाखों व्यक्ति प्रति दिन मरते हैं; तथा दुर्भिक्ष, साम्प्रदायिक दगे होते रहते हैं। इसके साथ ही देश की जनसख्या के रहन-सहन का दर्जा बहुत गिरा हुआ है। भारतवर्ष, चीन तथा अन्य पिछडे हुए देशों के बारे में मालथस का सिद्धान्त कुछ हद तक लागू होता है इसमें तनक भी सदेह नहीं।

आधुनिक जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त—सर्वोत्तम जनसख्या-सिद्धान्त (Optimum theory) : आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मालथस के जनसख्या-सम्बन्धी सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है। मालथस का सिद्धान्त अधिकतर जनसख्या का सिद्धान्त था, अर्थात् यदि जनसख्या उस सीमा से आगे बढी तो देश में दुख और दरिद्रता का साम्राज्य होगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उसके स्थान पर सर्वोत्तम जनसंख्या-सिद्धान्त (optimum theory) को अपनाया है।

सर्वोत्तम जनसख्या का सिद्धान्त (Optimum theory) : सर्वोत्तम जनसख्या-सिद्धान्त का अर्थ वह आदर्श सख्या है जो कि देश के आर्थिक साधनों को देखते हुए किसी देश मे होनी चाहिए। सर्वोत्तम जनसख्या किसी देश के लिए सबसे अधिक वाछनीय जनसख्या होती है, वही उस देश के लिए ठीक जनसख्या होती है। जब किसी देश की जनसख्या न अधिक होती है, और न कम होती है, लेकिन ठीक उतनी ही होती है

नी कि उस देश के आर्थिक साधनों को देखते हुए होनी चाहिए; तब उसे सर्वोत्तम जनसख्या (optimum population) कहते हैं। किसी देश के आर्थिक साधनों, शिल्प ज्ञान की उन्नति, तथा पूंजी को देखते हुए जनसख्या की राशि होगी, जिसमें प्रति व्यक्ति पीछे सबसे अधिक सम्पत्ति उत्पादन हो सकेगा। यदि उससे कम जनसख्या हुई तो उत्पादन कम ा, और यदि अधिक हुई तो बेकारी रहेगी तथा प्रति व्यक्ति उत्पादन धिकतम नहीं हो सकेगा। उसी जनसख्या को सर्वोत्तम जनसख्या (optimum population) कहते हैं। अतएव हम सर्वोत्तम जनसख्या उसको गे जिसमें कि प्रति व्यक्ति अधिकतम आय हो सके।

कम जनसख्या अथवा अधिक जनसख्या (under population d over population): यदि किसी देश का जनसंख्या सर्वोत्तम जनख्या से कम है, अर्थात् जितनी जनसख्या होनी चाहिए उससे कम है, तब गे कि देश में जनसख्या कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश के प्राकृक तथा पूंजीगत साधनों का पूरा उपयोग करने के लिए यथेष्ट जनसख्या ीं है। इसका परिणाम यह होगा कि देश के साधनों का उत्पादन के ए पूरा उपयोग न हो सकेगा, कुछ अछूते पड़े रहेंगे। श्रम-विभाजन के ए देश में कम गुंजाइश रहेगी। कुछ कार्य या तो नहीं किए जावेंगे, अथवा ी तरह से नही किए जावेंगे। देश की उत्पादक योजनाओं को श्रमजीयों की कमी के कारण रोकना होगा।

नये देशों मे यही स्थिति होती है। उन देशों के प्राकृतिक साधन ुत अधिक होते हैं। देश मे उत्पत्ति बहुत बढाई जासकती है, परन्तु मजदूरों ी कमी के कारण बढाई नही जासकती। ऐसे देशों में यदि जनसख्या की द्धि हो तो उसका स्वागत किया जावेगा। उससे श्रम की कमी दूर हो जावेगी। नसंख्या की वृद्धि से श्रम-विभाजन (division of labour) का विकास ोगा तथा देश के प्राकृतिक साधनों का पूरी तरह से उपयोग होसकेगा। त्पत्ति अधिक मात्रा में हो सकेगी तथा अधिक मात्रा की जो बचत है वह पलब्ध होगी। अधिक जनसख्या के होने से उत्पन्न किए गए पदार्थों की माग ढेगी, उनकी बिक्री के लिए बाजार मिलेगा, किसी भी धधे मे श्रम की कमी हीं रहेगी। ऐसी स्थिति मे जनसख्या में वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति पीछे आय वृद्धि होती है।

लेकिन यह वृद्धि अनिश्चित समय तक नहीं होती रहेगी। जब कि

श्रम की कमी दूर हो जावेगी तब यह वृद्धि रुक जावेगी। जब सर्वोत्तम सख्या हो जावेगी तब प्रति व्यक्ति पीछे अधिकतम आय उपलब्ध होगी।

लेकिन यदि जनसख्या बढती ही गई और सर्वोत्तम जनसंख्या से सख्या अधिक हो गई, तब हम कहेंगे कि जनसख्या अधिक हो गई। मे आवश्यकता से अधिक मनुष्य होंगे, प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना हो जावेगा, धधों मे आवश्यकता से अधिक व्यक्ति काम पाना चाहेंगे। जनसख्या होने से सघर्ष होता है और कुछ उत्पत्ति के साधन नष्ट हो हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक तथा पूंजी के इतने साधन होते कि सर्वो को लाभदायक काम मिल सके। बहुत अधिक जनसख्या हो आर्थिक साधन कम पड़ जावेंगे। भूमि पर जनसख्या का अत्यधिक भार जावेगा और प्रति व्यक्ति पीछे आय कम हो जावेगी। जनता के रहन सहन दर्जा गिर जावेगा। अधिक जनसख्या होने के ऊपर लिखे चिह्न हैं। रहन-सहन का दर्जा गिरने लगे, तब हमें यह जान लेना चाहिए कि सख्या अधिक है।

सर्वोत्तम जनसंख्या कोई निश्चित जनसंख्या नहीं है. यह समझ भूल होगी कि किसी देश के आर्थिक साधनों को दृष्टि में रखते हुए निश्चित जनसख्या सर्वोत्तम होगी। अर्थात् सर्वोत्तम जनसख्या एक निश्चि जनसख्या है जो सदैव सर्वोत्तम रहेगी, यह धारणा गलत है। सर्वोत्तम जनस कोई निश्चित जनसख्या नहीं है। वह उत्पादक साधनों की वृद्धि तथा के साथ घटती-बढती है।

यह तो हमने ऊपर ही कह दिया कि सर्वोत्तम जनसख्या (optimu population) कोई निश्चित जनसख्या नहीं है। जितनी हद तक कि देश के आर्थिक साधन उन्नति कर गए हों, उनको दृष्टि में रखते हुए हम सकते हैं कि आज की दशा में अमुक जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या है, प यदि आर्थिक उन्नति की विशेष योजनायें हाथ मे लेवे और उन्हें कर दिया जावे तो देश उससे भी अधिक जनसख्या का भली प्रकार निर्वाह सकता है। उस दशा मे प्रति व्यक्ति पीछे आय बढ जावेगी और पहले अधिक जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या बन जावेगी।

यदि युद्ध अथवा अशान्ति के कारण देश के कुछ आर्थिक सा नष्ट हो जावें, तो वर्तमान सर्वोत्तम जनसख्या अधिक जनसख्या बन जा और उस से जनसंख्या कम होने पर ही नई सर्वोत्तम जनसख्या हो सकेगी।

प्रत्येक देश मे परिस्थितियाँ परिवर्तनशील होती हैं। उत्पादन के ढंग
देव परिवर्तन होते रहते हैं। आधुनिक यन्त्रो का अधिकाधिक उपयोग होता
रा नई वस्तुओं की खोज होती रहती है। पूँजी बढती है, तथा आर्थिक
नों का अधिकाधिक उपयोग होता रहता है। ऐसी दशा में प्रति व्यक्ति
आय भी बढती रहती है। परन्तु जनसख्या में भी वृद्धि होती रहती है।
; आज जिसे हम सर्वोत्तम जनसख्या मानते हैं, वह कल अधिक या कम
सकती है। अस्तु, सर्वोत्तम जनसख्या बराबर बदलती रहती है। कोई
श्चित सख्या सर्वोत्तम जनसख्या नहीं हो सकती।

प्रश्न यह होता है कि क्या यह मालूम किया जासकता है कि किसी
के लिए सर्वोत्तम जनसख्या क्या होगी। सच तो यह है कि यह मालूम करना
किसी देश के लिए सर्वोत्तम जनसंख्या क्या होगी बहुत कठिन है। कारण
है कि देश की परिस्थिति सदैव बदलती रहती है। नये आर्थिक साधनों का
गस होता रहता है, नये यन्त्रों का निर्माण होता रहता है और उत्पादन के
नेन तरीकों की खोज होती रहती है। संक्षेप में यह कि आर्थिक शक्तियाँ
र नहीं रहतीं, उनमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। इस कारण किसी
स्थिति में जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या होगी इसका अनुमान लगाना
ठन है। जब तक आर्थिक शक्तियाँ स्थिर न हो जावें तब तक सर्वोत्तम
सख्या का अनुमान लगाना असम्भव है। और आर्थिक शक्तियां कभी स्थिर
ीं हो सकतीं।

क्या बढती हुई जनसंख्या हानिकर है: बढती हुई जनसख्या
व हानिकर हो ऐसा नहीं है, और न बढती हुई जनसख्या सदैव एक
दान ही सिद्ध होती है। बढती हुई जनसंख्या वरदान सिद्ध होगी अथवा
निकर, यह इस बात पर निर्भर है कि उस देश की आर्थिक स्थिति कैसी है।
तो यह है कि सर्वोत्तम जनसख्या का सिद्धान्त ही हमें उस दशा में
क निर्णय देने मे सहायता पहुँचा सकता है।

भारतवर्ष को ही यदि हम लें, तो हम देखते हैं कि भारत ससार का
से अधिक निर्धन राष्ट्र है। भारतीयों का रहन-सहन का दर्जा गिरा हुआ
ससार में प्रतिसैकड़ा मृत्यु-दर सबसे अधिक भारत की है। यहाँ दुर्भिक्ष
ये दिन खड़ा रहता है, और महामारी तथा रोग फैले रहते हैं। शारीरिक
ट से भारतीय सभ्य देशवासियों की तुलना में एक अत्यन्त निर्बल व्यक्ति हैं।
से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की आर्थिक स्थिति में भारत की

जनसंख्या अधिक है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि यदि भारत प्राकृतिक देन को भली प्रकार उन्नत किया जावे तो आज से अधिक ज... अधिक सम्पन्न अवस्था में नहीं रह सकती। परन्तु आज देश आर्थिक स्थिति जिस प्रकार की है, उसको देखते हुए जनसख्या अधिक होती है।

किन्तु बढती हुई जनसख्या सदैव हानिकर हो यह बात नहीं है। अ... जनसंख्या के फलस्वरूप सहयोग बढता है और उत्पादन की वृद्धि होती अधिक संख्या होने पर श्रम-विभाजन (division of labour) के अधिक क्षेत्र मिलता है। बढ़ती हुई जनसख्या के फलस्वरूप विस्तृत बाजार ... है, और पूँजी लगाकर उद्योग धधों की उन्नति के लिए अच्छा और लाभ... क्षेत्र उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए, यदि भारत मे कोई धधा ... किया जावे, तो उसके द्वारा तैयार किये गए माल की बिक्री के लिए कमी नहीं होगी। अधिक जनसख्या होने से उद्योग धधों के लिए विस्तृत बाजार मिलता है। बढती हुई जनसख्या के फलस्वरूप देश के आर्थिक सगठन ... लाभकारी परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए, ... देश, जहाँ कि जनसख्या बहुत अधिक होती है, वहाँ नये-नये उद्योग स्थापित होते रहते हैं और उत्पादन के नवीन तरीके अपनाए जाते हैं। आर्थिक संगठन में परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि नये कुशल कारी... और मजदूर उपलब्ध हों। क्योंकि उत्पादन के नये तरीकों को पुराने ... सहसा नहीं अपना सकते। जिस देश में जनसख्या सदैव बढती रहती उसमें नई पीढी के लोग उत्पादन के नवीन तरीकों को विना किसी कठि... के अपना लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन के तरीकों सदैव उन्नति होती रहती है, उसमे कभी अवनति नहीं होती।

किन्तु बढती हुई जनसख्या उसी दशा मे श्रेयस्कर है, जब कि ... सर्वोत्तम जनसख्या से कम हो। दूसरे शब्दों मे, जब कि देश मे इतनी जनस... न हो कि जो उस देश की प्राकृतिक देन का पूरी तरह से उत्पादन के उपयोग कर सके, तभी बढती हुई जनसख्या से लाभ होगा। दूसरे शब्दों... हम यह कह सकते हैं, कि देश की प्राकृतिक देन को देखते हुए ... मजदूरों की सख्या कम हो तभी जनसख्या की वृद्धि लाभदायक सिद्ध ... अन्यथा नहीं। जब जनसख्या कम हो, और उस समय यदि जनसख्या ... वृद्धि हो, तो देश मे सम्पत्ति (wealth) का उत्पादन बढ़ेगा; और व्यक्ति आय मे वृद्धि होगी और वह देश के लिए लाभदायक होगी।

जनसख्या सर्वोत्तम जनसंख्या (optimum population) से अधिक
ो जनसख्या मे कमी होना लाभदायक सिद्ध होगा।

शुद्ध जनसख्या वृद्धि की गति. यहा हमे एक बात समझ लेनी
हिए। जब हम किसी देश की जनसख्या-वृद्धि का अध्ययन करते हैं, तो
कतर साधारण व्यक्ति वार्षिक जन्म-सख्या और वार्षिक मृत्यु-सख्या को
देखते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में प्रति हजार जन्म-सख्या ३४'१ है
मृत्यु-सख्या २४'३ है, तो साधारण व्यक्ति यह कहेगा कि प्रतिवर्ष हजार
लगभग १० व्यक्ति बढ़ते हैं। परन्तु यह कथन सत्य नही है।

भारतवर्ष में आज हमारी यह स्थिति हो गई है कि देश के आर्थिक सगठन
सम्पत्ति के उत्पादन को देखते हुए हम कह सकते हैं कि जनसख्या अधिक
यही कारण है कि देश में बेकारी है और रहन सहन का दर्जा नीचा
हम सर्वोत्तम जनसख्या किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं, इसके लिए हमें
उपाय करने होंगे। पहला उपाय तो यह कि हमारी जनसख्या तेजी से
ढे, दूसरा यह कि हमारे आर्थिक साधनों की उन्नति हो। बहुउद्देश्य
ी सिंचाई तथा जलविद्युत उत्पन्न करने वाली योजनाओं को पूरा करके,
उद्योग-धन्धे खड़े करके, गमनागमन के साधनों की उन्नति करके तथा
निज और वनस्पति के धन्धों का विकास करके, तथा वैज्ञानिक ढग से गहरी
ी करके हम सम्पत्ति के उत्पादन को बढा सकते हैं। इस प्रकार हम देश
जनसख्या को बहुत अधिक न बढने देकर तथा उत्पत्ति को बढा कर सर्वोत्तम
सख्या को पासकते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि प्रति व्यक्ति पीछे
मदनी बढ जावेगी और इस प्रकार देश में सर्वोत्तम जनसख्या हो जावेगी।

हम नीचे एक चित्र देते हैं जो जनसख्या की भिन्न-भिन्न स्थितियों को
ट करता है।
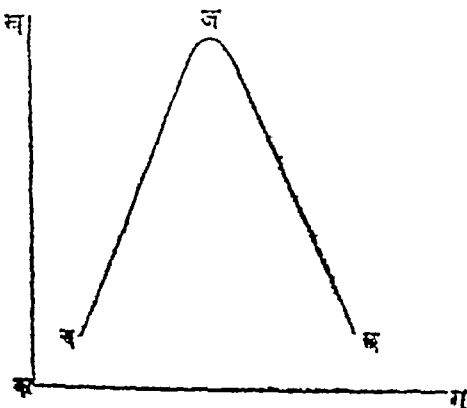
मानलो देश में 'च' जनसंख्या है। यह जनसंख्या देश के आर्थिक सा॰ को देखते हुए बहुत कम है। इसका परिणाम यह होता है कि भूमि को भांति खेती के काम में नहीं लाया जासकता, खनिज पदार्थों को निकाला॰ जासकता और उद्योग-धन्धों का पूरा-पूरा विकास नहीं किया जासकता, अ॰ अधिकतम उत्पादन नहीं किया जासकता। जब जनसंख्या 'च' से बढ़ कर ' तक पहुँचती है, तब सर्वोत्तम जनसंख्या होती है। 'च' से जनसंख्या ज्यों बढ़ती जाती है, प्रति व्यक्ति पीछे आय भी बढ़ती जाती है। 'ज' पर पहुँच कर प्रति व्यक्ति पीछे सबसे अधिक आय होती है। 'ज' से जनसंख्या अधिक बढ़ती है तब प्रति व्यक्ति पीछे आय घटने लगती है, यदि उस दशा में जनसंख्या को कम किया जासके तो प्रति व्यक्ति पीछे आ॰ बढ़ जावेगी।

अधिक जनसंख्या और कम जनसंख्या सापेक्षिक हैं। उनका सीधा स॰ आर्थिक साधनों से है। यदि किसी देश में आर्थिक साधनों की प्रचुरता हो, जनसंख्या कम हो सकती है, और यदि साधनों की कमी हो तो वही जनसं॰ अधिक हो सकती है। इसी प्रकार यदि किसी देश के आर्थिक साधनों उन्नति न हुई हो तो उस देश की जनसंख्या अधिक हो सकती है, और आ॰ साधनों की उन्नति के फलस्वरूप जनसंख्या अधिक न रहकर सर्वोत्तम हो स॰ है। अस्तु, एक परिस्थिति में जो अधिक जनसंख्या अथवा कम जनसंख्या है, दूसरी परिस्थिति में नहीं भी रह सकती है, जब कि आर्थिक साधनों की उ॰ अथवा विकास में परिवर्तन हो। यदि साधन उन्नत नहीं हों, तो ॰ जनसंख्या भी बहुत अधिक हो सकती है, और अधिक जनसंख्या भी आर्थिक उन्नति हो, तो अधिक प्रतीत नहीं होती।

सर्वोत्तम जनसंख्या कोई निश्चित जनसंख्या नहीं है, वह घटती-॰ रहती है। किसी देश के आर्थिक साधनों को देखते हुए एक देश के एक सर्वोत्तम जनसंख्या होगी, परन्तु वह कोई स्थायी जनसंख्या नहीं है॰ जैसे धनोत्पत्ति का कार्य देश में बढ़ेगा वैसे ही सर्वोत्तम जनसंख्या (optim॰ population) बढ़ेगी, और यदि धनोत्पत्ति का कार्य घटा तो सर्वोत्तम ॰ संख्या कम होगी। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष के आर्थिक साधनों ॰ औद्योगिक उन्नति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आज सर्वोत्तम जन॰ यह होगी, और यदि औद्योगिक उन्नति अधिक हो जावे तो सर्वोत्तम ॰ संख्या अधिक हो सकती है। यदि देश में विद्रोह के कारण, अथवा यु॰ कल-कारखानों के नष्ट हो जाने के कारण उत्पादन कम हो जावे, तब ॰

त्तम जनसंख्या (optimum population) अधिक जनसंख्या में णत हो जावेगी और उससे कम जनसंख्या सर्वोत्तम जनसख्या होगी।

प्रत्येक देश में आर्थिक जीवन गतिशील (dynamic) है। गति-हीन atic) नहीं है। उत्पादन के तरीकों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। यत्रों का आविष्कार होता रहता है, पूजी की वृद्धि होती रहती है, में नये कच्चे माल का उपयोग होता रहता है, नई-नई वस्तुएँ बनाई ती हैं, नये साधनों का विकास होता है, साथ ही थोड़ी-बहुत जनसख्या भी ती रहती है। अतएव आज जिसे हम सर्वोत्तम जनसख्या कहते हैं, कल वह धिक या कम जनसख्या मालूम पड़ सकती है।

क्या सर्वोत्तम जनसख्या को मालूम करना सम्भव है : सर्वोत्तम सख्या को मालूम करना कठिन है। किसी भी देश के लिए यह जान ना कि उसके लिए सर्वोत्तम जनसख्या क्या होगी, बहुत कठिन है, क्योंकि र्थिक जीवन निरतर बदलता रहता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका कि नये साधनों को बराबर ढूढ निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है, पादन के तरीकों में उन्नति होती रहती है। सक्षेप में आर्थिक जीवन गति-ल है, कभी स्थिर नहीं है। ऐसी दशा मे किसी देश मे कितना उत्पादन roduction) होता है उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। यही ीं कि सम्पत्ति के उत्पादन का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जासकता, न जन-गणना भी बिलकुल सही नहीं होपाती, क्योंकि राजनैतिक कारणों जनगणना भी बिलकुल सही नहीं होती। ऐसी दशा मे प्रति व्यक्ति पीछे र्थिक आय कितनी है यह ठीक-ठीक जान सकना सम्भव नहीं है। किसी देश में प्रति व्यक्ति पीछे जो वार्षिक आय का अनुमान लगाया जाता है, ह अटकल मात्र होता है। ऐसी दशा मे हम यह कैसे कह सकते हैं कि किस शा में सबसे अधिक आय प्राप्त होसकती है। भारतवर्ष मे प्रति वर्ष पीछे ार्षिक आय की बहुत-सी अटकलें लगाई गई। उदाहरण के लिए १८६७-७० श्री दादाभाई नौरोजी ने २० रु० १९१३-१४ में प्रोफेसर वाडिया और शी ने ४४ रु०, शिराज ने १९२२ में ११६ रु० और श्री वी के वी राव ने ९३१-३२ में ६५ रु० प्रति मनुष्य पीछे वार्षिक आमदनी की अटकल गाई थी। लेकिन किसी की भी अटकल को सबों ने स्वीकार नहीं किया। सी दशा मे यह पता लगा सकना कि कितनी जनसख्या सर्वो[illegible] सम्भव है।

क्या बढ़ती हुई जनसंख्या सदैव अभिशाप है ? बढ़ती हुई ... सदैव बुरी नहीं होती, और न वह सदैव वरदान ही सिद्ध होती है। ... जनसंख्या का सिद्धान्त ही हमें इस सम्बन्ध में एक सही दृष्टिकोण ... करता है।

श्री डार्लिंग महोदय ने एक स्थान पर भारत के सम्बन्ध में ... कि भारत मे प्रकृति की अभूतपूर्व देन तथा सरकार का अच्छा शासन ... हुई जनसख्या के कारण व्यर्थ हो जाता है, और उसका भारतीय जनता ... गरीबी मिटाने मे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका कहना था कि भारत ... वास्तव मे जनसख्या अधिक है। हमारे रहन-सहन का दर्जा बहुत गिरा ... है, ससार मे भारत में सबसे अधिक मृत्यु-सख्या है, आये दिन यहा ... पड़ता रहता है, और रोग तथा महामारी तो भारत को कभी छोड़ते ... नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि संसार मे भारत जैसी निर्धनता कहीं ... मिलती। भारतीय, अमेरिकन अथवा अग्रेज की तुलना मे शारीरिक ... बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। श्री डार्लिंग का कहना था कि ... सब अधिक जनसंख्या का परिणाम है।

लेकिन बढती हुई जनसंख्या सदैव एक अभिशाप हो यह बात ... है। अधिक जनसख्या आर्थिक सहयोग की भावना को जाग्रत करती है ... उत्पादन को बढ़ाती है। बढती हुई जनसंख्या श्रम-विभाजन (division ... labour) तथा विशेषीकरण को प्रोत्साहित करती है। बढ़ती हुई जनसंख्या ... कारण बाजार का विस्तार होता है, जिसके कारण पूंजी को लाभदायक ... धधों में लगाने की सुविधा मिलती है। भारतवर्ष में जनसख्या अधिक होने ... उद्योग-धधों के लिए एक विस्तृत बाजार है। इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई ... संख्या का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है, कि आर्थिक सगठन में ... उत्पादन के ढग मे उन्नति होती रहती है। नये-नये धधों की स्थापना ... देशों मे अधिक होती है जहा कि जनसख्या अधिक होती है। नवीन धधों ... स्थापना तथा नये यत्रों के उपयोग के फलस्वरूप नये मजदूरों की जरूरत ... है, जिनको आधुनिक धधों में काम करने की कुशलता प्राप्त हो। पुरानी ... के श्रमजीवी उन आधुनिक धधों में काम करने के लिए आवश्यक कुशलता ... प्राप्त नहीं कर पाते, इस कारण जिस देश में जनसख्या बढती है, वहाँ नये ... के लिए कुशल श्रमजीवियों की कमी नहीं रहती। अस्तु, जिस देश में ... सख्या बढती रहती है वहा उत्पादन की वृद्धि में कोई कठिनाई नहीं होती।

किन्तु वढती हुई जनसंख्या तभी लाभदायक और वरदान सिद्ध होती जवकि जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या से कम होती है। कारण यह है कि की प्राकृतिक देन का उपयोग करने के लिए यथेष्ट श्रम (labour) देश हीं होता, अतएव वढती हुई जनसख्या देश के लिए वरदान सिद्ध होती ऐसी दशा मे प्रति व्यक्ति पीछे आमदनी जनसख्या के वढने से वढ गी। यदि किसी देश में जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या से अधिक है, उस में जनसंख्या की वृद्धि एक अभिशाप सिद्ध होगी और उसका कम एक वरदान होगा।

अतएव वढती हुई जनसख्या देश के लिए हितकार है या घटती हुई सख्या देश के लिए हितकर होगी, यह इस बात पर निर्भर है कि जन- ा की स्थिति क्या है। यदि जनसख्या सर्वोत्तम जनसख्या से कम हे, तो सख्या में वृद्धि होना एक वरदान सिद्ध होगी, और यदि जनसख्या त्तम जनसख्या से अधिक है तो जनसंख्या की वृद्धि एक अभिशाप होगी।

श्रमकी कार्य-क्षमता (Efficiency of Labour) : यह तो ऊपर ही कह आये हैं कि श्रम की पूर्ति (supply of labour) सख्या तथा श्रम की कार्यक्षमता पर निर्भर होती है। हमने जनसंख्या के न्ध मे अध्ययन कर लिया, अब हम श्रम की कार्यक्षमता के सम्बन्ध में यन करेंगे। यह तो स्पष्ट है कि यदि एक व्यक्ति स्वस्थ है तथा अपने में निपुण है, तो वह अकेले दो आदमियों का काम कर सकता है। र यदि एक मजदूर निर्वल रोगी और अकुशल है, तो वह कम काम गा। अस्तु, अच्छे और कुशल मजदूर रद्दी और अकुशल मजदूरों की ा एक निश्चित समय के अन्दर बहुत अधिक उत्पादन-कार्य कर सकेंगे। ी दशा मे केवल जनसख्या से ही हम श्रम की पूर्ति का अनुमान नहीं ा सकते, हमे श्रम की कार्यक्षमता का भी अध्ययन करना होगा।

श्रम की कार्य-क्षमता निम्नलिखित बातों पर निर्भर है—जातीय ण मजदूर की कार्यक्षमता इस बात पर बहुत कुछ निर्भर है कि वह किस ति का है। कुछ जातियों के मजदूर अधिक क्षमतावान होते हैं और कुछ तियों के मजदूर कम क्षमतावान् होते हैं। उदाहरण के लिए पंजाब का सिक्ख जाट अधिक मजबूत और क्षमतावान होता है, तथा बगाली मजदूर इतना धिक हृष्ट-पुष्ट और क्षमतावान नहीं होता।

जलवायु : जलवायु का मजदूरों के स्वास्थ्य तथा कार्यक्षमता पर ... पड़ता है। शीतोष्ण जलवायु में रहने वाला मनुष्य कठोर परिश्रम कर ... बौद्धिक तथा शारीरिक परिश्रम, दोनों के ही लिए शीतोष्ण जलवायु ... है। अत्यन्त गरम और नम जलवायु में मनुष्य कुछ घण्टे काम करने ... जाता है। यही कारण है कि भूमध्य रेखा के समीप के घने वनों में जो ... निवास करती हैं, वे अत्यन्त आलसी और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई ... बात यह है कि मनुष्य अत्यन्त शीत और गरमी नमी और शुष्कता में ... परिश्रम नहीं कर पाता, और यही कारण है कि अत्यन्त गरम ... या भूमध्य रेखा पर स्थित सघन वनों से आच्छादित नम भूमि पर रहने ... जातियों तथा टुण्ड्रा मे निवास करने वाली जातियों का आर्थिक ... नहीं हो सका।

पौष्टिक और यथेष्ट भोजन : किसी व्यक्ति की कार्यशक्ति ... बात पर निर्भर रहती है, कि उसको यथेष्ट पौष्टिक भोजन प्राप्त होता है। जिन लोगों का रहन-सहन नीचे दर्जे का होता है, वे निर्धन होते हैं, उन्हें यथेष्ट पौष्टिक भोजन नहीं मिलता, उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और उनकी कार्यक्षमता क्षीण हो जाती है। हम बहुधा देखते हैं कि अत्यन्त निर्धन भारतीय मजदूर, जिन्हें यथेष्ट पौष्टिक भोजन नहीं मिलता, मन और तन से जर्जर होते हैं। उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। जिस प्रकार किसी स्टीम इंजन की शक्ति इस बात पर निर्भर होती है, कि उसमे कितना कोयला जलता है, उसी प्रकार किसी श्रमजीवी की कार्यशक्ति इस बात पर निर्भर होती है, कि उसको कितना और कैसा भोजन मिलता है। भारत के अधिकांश मजदूरों को यथेष्ट पौष्टिक भोजन नहीं मिलता, अतएव उनकी कार्यक्षमता कम है। यदि उन्हें यथेष्ट और पौष्टिक भोजन मिले तो उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो सकती है। भारतवर्ष में खाद्य पदार्थों की इतनी कमी है कि सर्व साधारण को यथेष्ट पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। विशेषज्ञों का कहना है कि देश मे ३० प्रतिशत अधिक अनाज ५० प्रतिशत अधिक फल १०० प्रतिशत अधिक सब्जी और ३०० प्रतिशत अधिक दूध और घी उत्पन्न किया जावे, तो कहीं जाकर जनसाधारण को यथेष्ट पौष्टिक भोजन मिल सकता है।

अच्छा रहन-सहन : पौष्टिक भोजन के साथ-साथ अच्छा रहन-सहन भी कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है। स्वच्छ और हवादार मकान यथेष्ट वस्त्र तथा जीवन-निर्वाह के लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं की ...

ार्यक्षमता को बढाने के लिए आवश्यकता होती है। जब किसी श्रमजीवी पास यथेष्ट हवादार, स्वच्छ, रोशनी वाला मकान हो जिसमें परिवार के हने योग्य स्थान हो, जहाँ वे एकान्त में आनन्दपूर्वक रह सकें, तो उस मजीवी की कार्यक्षमता अधिक होगी इसमें तनक भी सदेह नहीं है। मकान अतिरिक्त श्रमजीवी को जाड़े तथा गरमियों में शरीर की रक्षा के लिए थेष्ट वस्त्र भी होने चाहिएँ। साथ ही मनुष्य को जब तक इतना विश्राम न मिले कि वह जीवन का आनन्द ले सके, तब तक उसकी कार्यक्षमता नहीं बढ सकती। एक व्यक्ति जो कि बहुत अधिक समय कार्य करके थक जाता है, और उसको अपने परिवार वालों अथवा मित्रों के साथ बैठकर बात करने, थोड़ा मनोरजन करने तथा आमोद प्रमोद के लिए समय ही नहीं मिलता, उसकी कार्यक्षमता कभी नहीं बढ़ सकती। ऊपर लिखी बातें मनुष्य की कार्यक्षमता तथा उनके स्वास्थ्य को अच्छा बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं।

कारखानों का स्वच्छ, तथा अच्छा होना: मजदूरों को कैसा भोजन मिलता है, उनका रहन-सहन कैसा है, केवल इसी पर मजदूर की कार्यक्षमता निर्भर नहीं रहती; वरन जिस स्थान पर वह कार्य करता है वह कैसा है, इस पर भी उसकी कार्यक्षमता निर्भर रहती है। कार्य करने का स्थान यदि अच्छा होता है, तो उसका मजदूर के स्वास्थ्य तथा नैतिकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि कारखाने में रोशनी खूब आती है, कारखाना स्वच्छ है, हवा खूब आती है तो मजदूरों की कार्यक्षमता बढ जाती है। यही नहीं, यदि गरमी के दिनों में कारखाने को ठडा रक्खा जा सके, तथा कारखानों को उनमें होने वाले अत्यधिक कोलाहल से बचाया जा सके, तथा कारखाने की दीवारों का रग दृष्टि के लिए सुखदायक हो तो भी मजदूर की कार्यक्षमता बढ जाती है। एक गदे कारखाने में काम करने वाले मजदूर की कार्यक्षमता नहीं बढ सकती। जिस कारखाने मे रोशनी और हवा का उचित प्रबध न हो, दीवारें धुँए से काली होगई हों, बहुत अधिक शोर रहता हो और गर्मियों में वहाँ का तापमान बहुत अधिक बढ जाता हो, तो वहाँ रहकर कोई मजदूर अधिक कार्य नहीं कर सकता।

काम के घण्टे: श्रमजीवी की कार्यक्षमता पर काम के घण्टों का भी प्रभाव पड़ता है। अधिक लम्बे समय तक काम करते रहने पर मनुष्य का शरीर थक जाता है और उसका ध्यान कार्य में नहीं लगता। उससे काम करने पर तो शरीर बेहद थकावट अनुभव करने लगता है।

देखा गया है कि,कारखानों में जो दुर्घटनायें होती हैं, वे विशेषकर दि
अन्तिम घण्टों मे होती हैं जब कि मनुष्य का शरीर थकावट से चूर हो
है। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि काम के घटे अधिक लम्बे न हों
यदि काम के घटे अधिक लम्बे हों, तो उन्हें कम कर देना चाहिए और
दिन में विश्राम के लिए अल्प काल के लिए छुट्टी कर देनी चाहिए,
मजदूर अपने थके हुए शरीर को विश्राम दे सकें।

मजदूरों की निपुणता तथा बुद्धिमानी . श्रमजीवियों की कार्यक्ष
इस बात पर भी निर्भर रहती है कि वे अपने कार्य में कितने निपुण हैं औ
उनका बौद्धिक विकास कितना हुआ है। आधुनिक कारखानों में अ
पेचीदा और सूक्ष्म तथा बढिया यत्रों मे कार्य होता है। इस प्रकार के यत्रों प
बुद्धिमान मजदूर ही अच्छी तरह कार्य कर सकता है। मूर्ख श्रमजीवी इस प्रका
के वढिया यत्रों पर अच्छी प्रकार काम नही कर सकता। एक श्रमजीवी, जि
उस प्रकार के कार्य की शिक्षा दी गई है, और जो अपने कार्य में निपुण है
वह एक ऐसे मजदूर की अपेक्षा कहीं अच्छा काम कर सकता है कि जिसे उ
काम की शिक्षा नहीं मिली है और उसने उस कार्य मे निपुणता प्राप्त नहीं
की है। बौद्धिक विकास के लिए साधारण शिक्षा तथा किसी धधे व कार्य मे
निपुणता प्राप्त करने के लिए उस धधे अथवा दस्तकारी की शिक्षा आवश्यक
है। यही कारण है कि जहा साधारण शिक्षा तथा दस्तकारी की शिक्षा का
समुचित प्रबंध है, वहा के मजदूर अधिक कार्य-कुशल होते हैं।

इस सबन्ध मे एक बात ध्यान में रखने की है कि जहा तक ऐसे का
का प्रश्न है कि जिसमें कोई विशेष निपुणता आवश्यक नहीं है, उसमें साधारण
शिक्षा प्रत्यक्ष रूप से कार्यक्षमता को बढाने मे सहायक नहीं होती। परन्
साथ ही यह भी ठीक है कि साधारण शिक्षा परोक्ष रूप से श्रमजीवी की का
क्षमता को बढाती है। जिस देश में साधारण शिक्षा का अधिक विस्तार हु
है वहाँ का श्रमजीवी अधिक कुशल होगा इसमें तनक भी सदेह नहीं है
उद्योग-धधों तथा उत्पत्ति (production) के तरीकों मे उन देशों
सुधार और उन्नति शीघ्र होती है, जहाँ का श्रमजीवी अधिक बुद्धिम
होता है।

दस्तकारी तथा टेकनिकल शिक्षा का कुशलता (efficiency)
सीधा प्रभाव पड़ता है। आज जो हमे मशीनो में आश्चर्यजनक सुधार दे
को मिलते हैं, वह इस बात का प्रमाण है कि जो हमने पीढी दर प

जिनियरों की शिक्षा का प्रबन्ध किया, वह बेकार नहीं गया। सच तो यह है कि यंत्रों में जो सुधार हुए हैं या आविष्कार हुए हैं, और उत्पादन के तरीकों में जो भी सुधार हुए हैं, वे वर्कशापों में ही हुए हैं और इंजिनियरों तथा फोरमैनों के द्वारा हुए हैं। अस्तु, दस्तकारी तथा टेकनिकल शिक्षा का श्रमजीवियों की कार्यक्षमता पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। जिस देश में उद्योग-धंधों मे काम आने वाली दस्तकारी और टेकनिकल शिक्षा का अच्छा प्रबंध होता है, वहा के श्रमजीवी अधिक कुशल होते हैं, इसमें तनक भी संदेह नहीं है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) : पिछले दशाब्दों में संयुक्तराज्य अमेरिका तथा कतिपय अन्य देशों में कारखानों मे वैज्ञानिक प्रबंध के द्वारा मजदूर की कार्यक्षमता को बढाने का प्रयत्न किया गया है। वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) के आविष्कर्ताओं का कथन है कि साधारण से साधारण कार्य को करने के लिए एक वैज्ञानिक तरीका है, और उसके अनुसार ही कार्य करने पर अधिक से अधिक उत्पादन हो सकता है। उनका कहना है कि साधारण से साधारण क्रिया भी एक विज्ञान है। मालिकों को उस विज्ञान को ढूंढ निकालना चाहिए और मजदूरों को उसकी शिक्षा देनी चाहिए, तथा उसके अनुसार ही कार्य करने को उन्हें विवश करना चाहिए। तभी अधिक से अधिक उत्पादन हो सकता है और श्रमजीवी की कार्य-शक्ति बढ़ सकती है। यहा हम संक्षेप में यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि प्रत्येक क्रिया का विज्ञान किस प्रकार निर्धारित किया जाता है।

उदाहरण के लिए हम अत्यन्त अकुशल कार्य मिट्टी खोदने को ले लें। जो व्यक्ति मिट्टी खोदने के कार्य के विज्ञान को ढूंढ निकालना चाहता है, वह बहुत से मिट्टी खोदने वालों को इकट्ठा करेगा और एक विशेष प्रकार की घड़ी (स्टाप वाच) की सहायता से उनमे सारे शरीर-संचालन (movements) तथा क्रियाओं में कितना समय लगता है उसकी जॉच करेगा। उदाहरण के लिए वह यह देखेगा कि भिन्न-भिन्न मजदूर कितना ऊँचा फावड़ा उठाते हैं, वे कितने नीचे झुकते हैं, इत्यादि। सब मजदूरों द्वारा मिट्टी खोदने की क्रिया की जांच करने के उपरान्त वह यह तय करेगा कि फावड़ा कितना ऊँचा उठाना चाहिए, मजदूर को कितना झुकना चाहिए, डलिया कितनी दूर किस तरफ और किस स्थान पर होनी चाहिए, डलिया का नाप

चाहिए, फावड़े का नाप क्या होना चाहिए, किस प्रकार भरी हुई डलिया उठाना चाहिए और किस प्रकार उसे लेकर चलना चाहिए इत्यादि। का तात्पर्य है कि मिट्टी खोदने के विज्ञान का आविष्कार करने के लिए विभिन्न मजदूरों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं का अध्ययन करेगा, औजारों के नाप इत्यादि का अध्ययन करेगा, और फिर जो व्यर्थ की क्रियायें हैं, जिनमें अधिक समय लगता है, उनको निकाल कर उसके स्थान पर ऐसी क्रियाओं का समावेश करेगा जिनसे कम समय लगे, थकावट कम हो, और अधिक काम होसके। इसे "समय तथा क्रिया का अध्ययन" (time and motion study) भी कहते हैं। जब किसी कार्य के विज्ञान का ज्ञान हो जाता है, तो फिर उसी प्रकार के औज़ार दे दिए जाते हैं और प्रत्येक मजदूर को अपनी क्रियायें उसी प्रकार करनी पड़ती हैं जिस प्रकार उनका फोरमैन उन्हें बतलाता है। यदि कोई मजदूर उस प्रकार काम नहीं करता जो कि वैज्ञानिक है, तो फोरमैन उसको नहीं रखता। इस प्रकार संयुक्तराज्य अमेरिका में वैज्ञानिक प्रबन्ध के द्वारा उत्पादन को बहुत अधिक बढाने का प्रबन्ध किया गया है। परन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) में मनुष्य एक यंत्र की भाँति काम करता है, वह कार्य करने में भी स्वतन्त्र नहीं होता। यही इसका दोष है।

उन्नति की आशा : श्रमजीवी की कार्यक्षमता पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि उसे भविष्य में कितनी उन्नति करने की आशा है। यदि कोई मजदूर यह जानता है कि उसके लिए भविष्य में उन्नति करने के लिए कोई गुंजायश नहीं है, तो उसका उत्साह मंद हो जावेगा और वह शिथिल हो जावेगा। उसके विपरीत यदि श्रमजीवी यह समझता है कि उसके लिए उन्नति का द्वार खुला हुआ है, तो उसके उत्साह का वारापार नहीं होगा और वह लगन तथा उत्साह से अधिक कार्य करेगा। यदि श्रमजीवियों को यह विश्वास हो कि अच्छा काम करने पर उनका भविष्य उज्ज्वल है, और उनके लिए उन्नति के द्वार खुले हुए हैं, तो फिर उनकी कार्यक्षमता अनायास ही बढ़ जाती है।

कार्य करने की स्वतन्त्रता . मजदूर को कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह ठीक है कि मालिक उस को बतलावे कि उसको क्या काम करना है; और यह भी ठीक है कि यदि श्रमजीवी को शिक्षा तथा साधनों की आवश्यकता हो, तो मालिक उसका प्रबन्ध करे, परन्तु श्रमजीवी को कार्य

ने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। दासों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं ती थी, और न उन्हें कुछ अच्छे भविष्य की आशा ही होती थी। अतः उनमें र्य करने के लिए उत्साह भी नहीं होता था। वे एक पशु की भाति मालिक रा हाके जाते और निर्जीव यन्त्रों की भाति काम करते थे। यही कारण कि दासों की कार्यक्षमता कम होती थी।

परिवर्तन : कार्य में एकरसता होना भी कार्यक्षमता को कम करता । एक प्रकार से लगातार काम करते रहने पर कोई नयापन या काम करने उल्लास उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि आज के यन्त्र-युग में एकरसता का दोष लकुल बचाया नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी यदि कार्य मे परिवर्तन किया सके तथा जिन लोगों के साथ श्रमजीवी कार्य करता है उनमे परिवर्तन किया जा सके, तो श्रमजीव में नवीन स्फूर्ति, नव चेतना और नव निर्माणकारी ावना जाग्रत होती है और उससे उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

मालिकों की कार्यकुशलता और उनका व्यवहार : श्रमजवियों की ार्यक्षमता मालिकों की कार्य-कुशलता तथा प्रवन्ध निपुणता पर भी निर्भर हती है। यदि कारखानों की व्यवस्था अच्छी हो, उत्तम यन्त्र तथा कच्चा ाल मिलता हो, तथा मैनेजर और फोरमैन उदार तथा कुशल हों, तो मजदूर ी कार्य-क्षमता वढ जाती है। मजदूर केवल पैसा कमाना ही नहीं चाहता, ह यह भी चाहता है कि उसके साथ मनुष्योचित व्यवहार होना चाहिए। अतएव मजदूरों के साथ मालिक का व्यवहार कैसा है इस पर भी उसकी कार्यक्षमता निर्भर रहती है। जहाँ मालिक का व्यवहार मधुर, सहानुभूतिपूर्ण होता है, श्रमजीवियों के छोटे-मोटे कष्टों को दूर करने का मालिक प्रयत्न करता है, उनके विश्वास को प्राप्त कर लेता है, वहाँ का मजदूर अधिक क्षमतावान् होता है। वह अपने कार्य में दिलचस्पी लेता है, उसका उस कारखाने से ममत्व हो जाता है, और वह उस कारखाने में काम करने में गौरव अनुभव करता है।

वेतन : यदि श्रमजीवी को उचित वेतन मिलता है और उसकी कार्य-कुशलता के अनुरूप ही उसका वेतन होता है, तो उसकी कार्यक्षमता वढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, यदि कोई श्रमजीवी अधिक क्षमतावान् है और अधिक कार्य कर सकता है, तो यदि उसे दूसरों से अधिक वेतन मिले तो उसकी कार्यक्षमता मे अधिक वृद्धि होगी। किन्तु यदि उसे दूसरों के बराबर ही वेतन मिले तो फिर उसकी कार्यक्षमता कुंठित होजावेगी और वह जितना अधिक उत्पादन कर सकता है उतना नहीं करेगा।

<u>स्वाभिमान और कर्तव्य की भावना</u> : जो भी बातें मजदूर में
मिमान और कर्तव्य की भावना को जाग्रत करती हैं, वे श्रमजीवी की
क्षमता को वढ़ाती हैं। जिस व्यक्ति में स्वाभिमान नहीं है, और जो अपने
में गौरव नहीं अनुभव करता तथा जिसमें कर्तव्य की भावना जाग्रत नहीं
हुई, उसकी कार्यक्षमता कम रहेगी। साधारण शिक्षा और मजदूरों का संग
इस भावना को जाग्रत करते हैं और इस दृष्टि से वे मजदूरों की कार्यक्षमता
को बढाते हैं।

परिच्छेद ११

श्रम-विभाजन (Division of Labour)

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में आर्थिक दृष्टि से नितान्त स्वाव-
म्बी था, परन्तु बहुत जल्दी ही उसने श्रम-विभाजन के चमत्कारी प्रभाव को
खा और उसको क्रमश अपनाना आरम्भ कर दिया। पूर्व ऐतिहासिक काल
भी किसी न किसी दशा में श्रम-विभाजन का आविर्भाव हो गया था। कम
क्रम परिवार मे स्त्री और पुरुष तथा बच्चों के काम बँट गए थे। पुरुष
म-साध्य तथा कठोर कार्यों को करने लगा था, जिनमें उसे अधिकतर बाहर
हना पड़ता था। स्त्री घर-गृहस्थी के कार्यों को करने लगी थी। बच्चे हलके
ार्य करते थे। पुत्र पिता की तथा पुत्रियां माता की सहायता भी करती थीं।
स्तु, हम देखते हैं कि किसी रूप में श्रम-विभाजन अत्यन्त प्राचीन काल में
ी मौजूद था। आरम्भ में परिवार ही एक आर्थिक इकाई था, अतएव परिवार
ही श्रम-विभाजन का आरम्भ हुआ। परिवार आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी
ा। परन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया परिवार के स्थान पर एक ग्राम
ार्थिक इकाई बन गया। वास्तव में गावों का निर्माण भी परिवारों के आधार
र ही हुआ था। एक ही पूर्वजों से उत्पन्न होने वाले परिवार एक गांव
साते थे, अतएव उनमें पारिवारिक भावना बनी रहती थी। अतएव केवल एक
रिवार ही स्वावलम्बी न रहकर सारे ग्राम को स्वावलम्बी बनाने की भावना
ाग्रत हुई। अब एक गाव आर्थिक इकाई बन गया। प्रत्येक परिवार अपने
लिए कोई विशेष कार्य चुन लेता था और उस धंधे या पेशे को करके अपनी
उदर-पूर्ति करता था। इस प्रकार भिन्न-भिन्न परिवार भिन्न-भिन्न धंधों या पेशों
को चुनकर गाव को एक स्वावलम्बी आर्थिक इकाई बना देते थे। भारतवर्ष
की ग्राम-संस्था या ब्रिटेन के मैनर (गाव) का अध्ययन करने से हमे यह स्पष्ट
मात होता है, कि प्राचीन काल मे वे एक स्वावलम्बी आर्थिक इकाई थे। आज
भी भारतीय गाव का संगठन कुछ इसी प्रकार का है। गाव में बढई, कुम्हार,
लुहार, चमार, बुनकर तेली इत्यादि आज भी मिलते हैं। परन्तु जैसे-जैसे
गमनागमन के साधनों की उन्नति हुई, सड़कों रेलों, और समुद्री जहाजों
सहायता से माल दूर-दूर आने-जाने लगा; यन्त्रों के आविष्कार ने

बहुत बड़ी मात्रा में होने लगा और बाजार का विस्तार हुआ तथा मौ
सभ्यता पूर्ण रूप से विकसित हुई; वैसे ही वैसे आर्थिक क्षेत्र बहुत विं
हो गया। सच तो यह है कि आज सारी पृथ्वी एक आर्थिक इकाई बन
है। आर्थिक क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ श्रम-विभाजन बहुत ही जटिल औ
सूक्ष्म हो गया है। उदाहरण के लिए सूती कपड़ा बनाने का कार्य अ
बहुत-सी सूक्ष्म उपक्रियाओं में बाँट दिया गया है, जैसे—कातना, माड़ी क
बुनना इत्यादि।

श्रम-विभाजन की भिन्न भिन्न स्थितियाँ : श्रम-विभाजन का नीचे लि
स्थितियों के अनुसार उदय हुआ है। (१) सबसे पहले जब मनुष्य सब ध
को न करके एक धंधे को करने लगा, तब श्रम-विभाजन की पहली स्थि
प्रकट हुई। उदाहरण के लिए, जब बढ़ई, लुहार, तेली, कुम्हार इत्यादि
उदय हुआ, उस दशा में श्रम-विभाजन की पहली सीढ़ी प्रकट हुई।
दशा में प्रत्येक कारीगर एक पूरी वस्तु बनाता था और स्वतंत्र होकर
करता था। वह स्वयं मालिक था।

(२) कारखानों में काम करना : दूसरी स्थिति श्रम-विभाजन की
है जबकि कारीगर स्वयं अपने लिए काम नहीं करता वरन एक कारखा
अपने मालिक के लिए काम करता है, परन्तु वह फिर भी पूरी वस्तु ब
है। उदाहरण के लिए, एक बढ़ई अपने घर पर अपने सामान से पूरी
न बनाकर मालिक के कारखाने में उसके सामान से कुर्सी बनाता है।
वह अपने लिए काम नहीं करता, परन्तु फिर भी वह बनाता पूरी
ही है।

(३) धंधे का पूरी क्रियाओं में बांटा जाना : जब कोई धंधा
क्रियाओं में बाँट दिया जाता है, तब तीसरी स्थिति आरम्भ होती है।
हरण के लिए, जब हमने सूती कपड़े के धंधे को कपास को ओटने,
कातने, बुनने, रंगाई और छपाई इत्यादि पूरी-पूरी क्रियाओं में बाँट
तो तीसरी स्थिति आरम्भ हुई।

(४) एक क्रिया का बहुत-सी सूक्ष्म उपक्रियाओं में बांटा ज
जब एक पूरी क्रिया बहुत सी सूक्ष्म उपक्रियाओं में बाँट दी जाती
श्रम-विभाजन बहुत सूक्ष्म और जटिल हो जाता है; और तभी उस
उपक्रिया को करने के लिए यंत्र का आविष्कार होता है और आधुनि
के कारखाने में बड़ी मात्रा का उत्पादन हो सकता है।

श्रम-विभाजन की सफलता के लिए कुछ अनिवार्य शर्तें पूरी होना श्यक हैं :—

उत्पादन का बड़ी मात्रा मे होना : श्रम-विभाजन (division of our) का भली प्रकार तभी उपयोग हो सकता है, जब कि उत्पादन बड़ी र (large scale production) में हो। छोटी मात्रा के उत्पादन में विभाजन का पूरा उपयोग नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए, आधुनिक खाने मे एक क्रिया को इतनी अधिक सूक्ष्म और छोटी-छोटी उपक्रियाओं बाँट दिया गया है, कि सैकड़ों सूक्ष्म उपक्रियाओं के समूह से ही वह क्रिया होती है। प्रत्येक सूक्ष्म उपक्रिया के लिए एक मशीन का उपयोग होता अब यदि कोई कारीगर उन सब मशीनों का उपयोग करना चाहे और म श्रम-विभाजन का प्रयोग करे, किन्तु छोटी मात्रा में उत्पादन करना चाहे, यह बिलकुल नहीं चल सकता, क्योंकि वे यंत्र अधिकतर बेकार पड़े रहेंगे। ड़े से समय मे ही यन्त्रों की सहायता से उतना थोड़ा उत्पादन हो जावेगा र अधिकांश समय मशीनें बेकार खड़ी रहेंगी। क्रियाओं का कितना म विभाजन हुआ है, यह तो इसी से जाना जासकता है कि आलपीन सी साधारण वस्तु को बनाने में भी आधुनिक कारखानों में अस्सी से अधिक म उपक्रियायें करनी पड़ती हैं। उन अस्सी सूक्ष्म उपक्रियाओं को करने के ए उतनी ही मशीनों का उपयोग होता है। कल्पना कीजिए कि प्रति दिन क कारखाने में १० लाख आलपीन तैयार होती हैं तब प्रत्येक मशीन को र काम मिलता है। अब यदि कोई कारीगर केवल १०० आलपीन ही ाना चाहे और साथ ही वह उस सूक्ष्म श्रम-विभाजन का उपयोग करने के ए—जो कि आधुनिक कारखाने में प्रचलित है—उन सभी सूक्ष्म उपक्रियाओं करने वाली मशीनों को खरीद लेता है। अब यदि वह प्रति दिन केवल ०० आलपीन ही बनाना चाहता है, तो वे मशीनें केवल दो-चार मिनट काम रेंगी और फिर बेकार खड़ी रहेंगी। मशीनों में लगी हुई पूँजी (capital) ा सूद (interest) तथा घिसावट (depriciation) इतनी अधिक होगी क सौ या हजार आलपीन प्रति दिन बनाने से यह खर्चा पूरा नहीं पड़ कता, और लाभ होने के बजाय भारी हानि होगी। १०० या हजार आलपीन ति दिन बनाने वाला कारीगर सूक्ष्म श्रम-विभाजन का उपयोग नहीं कर सकता, से तो स्वयं तार को हथौड़े तथा अन्य औजारों से ठोक पीट कर आलपीन नानी होंगी और सारी क्रियायें स्वयं अकेले को करनी होंगी।

विवरण से यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि श्रम-विभाजन का पूर्ण उपयोग तभी हो सकता है, जब कि उत्पादन बड़ी मात्रा में हो।

बाजार का विस्तृत होना : (Extent of the Market) हम ऊपर बतला चुके हैं, कि श्रम विभाजन का पूर्ण उपयोग तभी हो सकता है उत्पादन बड़ी मात्रा में हो, परन्तु बड़ी मात्रा का उत्पादन (large scale production) तभी होसकता है जबकि बाजार विस्तृत हो। यदि बाजार सकुचित हुआ बड़ी मात्रा के उत्पादन से तैयार होने वाले माल की खपत सम्भव न होगी। जो यह भीमकाय पुतलीघर या कारखाने बहुत बड़ी राशि में माल तैयार हैं, उसकी खपत तभी हो सकती है जबकि उसकी खपत के लिए बहुत बाजार हो। गॉंव के अथवा स्थानीय बाजार के भरोसे कोई बड़ी मात्रा उत्पादन नहीं कर सकता। जबतक कि बाजार विस्तृत न हो, जो कि माल की खपत कर सके, तब तक बड़ी मात्रा का उत्पादन लाभदायक सिद्ध हो सकता। अतएव श्रम विभाजन के उपयोग की सीमा बाजार के विस्तार निर्भर है। यदि बाजार का क्षेत्र विस्तृत है, तो श्रम-विभाजन का पूरा उपयोग होसकता है, अन्यथा श्रम-विभाजन का पूरा उपयोग नहीं हो सकता। बाजार का क्षेत्र श्रम-विभाजन की सीमा को निर्धारित करता है।

लगातार अबाधित उत्पादन होना : (Continuous Production) : सूक्ष्म श्रम-विभाजन (minute division of labour) के उपयोग के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि उत्पादन-कार्य बिना रुकावट के लगातार अबाधित रूप से चलता रहे। साथ ही सारी क्रियाये एक साथ होती रहें। यदि उत्पादन ठहर-ठहर कर होता है, अर्थात कुछ समय तक उत्पादन होने के उपरान्त उत्पादन-कार्य कुछ समय के लिए रुक जाता है, मजदूरों को उस समय, जबकि काम नहीं होगा, किसी और धंधे में पड़ेगा। ऐसी दशा मे श्रम-विभाजन के जो आर्थिक लाभ हैं वे प्राप्त नहीं सकेंगे। इसके अतिरिक्त, यदि सभी क्रियायें एक समय पर एक साथ ही चलती रहीं तो भिन्न-भिन्न श्रमजीवी-समूहों के कार्य का मेल नहीं बैठ सकेगा।

मजदूरों मे सहयोग की भावना तथा कुशाग्र बुद्धि होना : श्रम विभाजन का सफलतापूर्वक प्रयोग तभी किया जा सकता है जब कि सभी मजदूरों में सहयोग की भावना हो, साथ ही वे इतने कुशाग्र बुद्धि हों, कि उस श्रमविभाग को भली भाँति समझ सकें और उसके अनुसार कार्य कर सकें।

साहसी (Entrepreneur) की संगठन-योग्यता : श्रम-विभाजन सफलता के लिए यह भी आवश्यक है, कि साहसी व्यवस्थापक में [illegible]न करने की कुशलता और योग्यता हो। नहीं तो श्रम-विभाजन का ठीक-प्रवन्ध नहीं हो सकता।

यह तो हम ऊपर ही लिख आये हैं कि श्रमविभाजन के उपयोग की सीमा [illegible]ार के क्षेत्र पर निर्भर है। जितना ही बाजार का क्षेत्र विस्तृत होगा, श्रम-[illegible]ाजन का उतना ही अधिक उपयोग हो सकेगा। यदि कोई जूते बनाने वाला सप्ताह में केवल एक जोड़ी जूता बेच पाता है, तो उसके लिए यह मूर्खता बात होगी कि वह आधे दर्जन व्यक्तियों को केवल अपर बनाने, आधे [illegible]न व्यक्तियों को सोल बनाने और आधे दर्जन व्यक्तियों को एड़ी बनाने के [illegible]ए नियुक्त करे, तथा आधे दर्जन व्यक्तियों को उनको जोड़ने के लिए [illegible]खे। इस प्रकार के उत्पादन के तरीके तभी काम मे लाये जा सकते हैं, जब उस वस्तु की माग अधिक हो, अर्थात् बाजार विस्तृत हो। या तो उस वस्तु [illegible]लिए विस्तृत बाजार मौजूद होना चाहिए, अथवा विस्तृत बाजार उत्पन्न [illegible]या जाना चाहिए, तभी श्रम-विभाजन का पूरा उपयोग हो सकता है। अतएव [illegible]-विभाजन के उपयोग की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यक शर्त बाजार का विस्तृत [illegible]ना है।

कुछ सीमा तक बाजार की सीमा भी श्रम-विभाजन पर निर्भर रहती [illegible] श्रम-विभाजन का पूरा उपयोग होने पर बड़ी मात्रा का उत्पादन होता और वस्तुएं सस्ती हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी माग [illegible] जाती है। और माग बढने का परिणाम यह होता है कि बाजार का विस्तार [illegible] जाता है। अस्तु, श्रम-विभाजन और बाजार एक-दूसरे पर निर्भर हैं। परन्तु यह [illegible]ना अधिक सही होगा, कि श्रम-विभाजन की सीमा को बाजार का क्षेत्र [illegible]धारित करता है।

श्रम-विभाजन के प्रकार श्रम-विभाजन तीन प्रकार का होता है। [illegible] श्रम-विभाजन (simple division of labour), जटिल श्रम-विभाजन (complex division of labour) तथा भौगोलिक अथवा प्रादेशिक [illegible] विभाजन (territorial or geographical division of labour)।

सरल श्रम-विभाजन वह होता है, जिसमें कारीगर या काम करने वाला [illegible] वस्तु का उत्पादन करता है। उदाहरण के लिए, चमार जूते की जोड़ी

बनाता है, अथवा बढ़ई मेज़ बनाता है इत्यादि। कहने का अर्थ यह कि ... कारीगर एक पूरी वस्तु का निर्माण करे तो सरल श्रम-विभाजन होगा।

जब एक पूरी क्रिया छोटी-छोटी सूक्ष्म उपक्रियाओं में बँट जाती... तब श्रम-विभाजन जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक आधुनिक... बनाने के कारखाने में एक चमार पूरे जूते को नहीं बनाता वरन् उसको ... श्रमजीवी बनाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति केवल एक छोटी-सी उपक्रिया करता है।

तीसरे प्रकार का श्रम-विभाजन भौगोलिक या प्रादेशिक श्रम-वि... होता है। जबकि यातायत के साधनों की विशेष उन्नति होजाती है, रेल, तथा समुद्री जहाजों की उन्नति होने से जब आदमियों के आने-जाने तथा ... लाने और लेजाने की सुविधा हो जाती है और एक प्रदेश अथवा देश किसी ... विशेष को पैदा करने अथवा उसका निर्माण करने में विशेष दक्षता प्राप्त ... लेता है, और उस प्रदेश या देश में वही वस्तु अधिकतर उत्पन्न की ... लगती है, तब भौगोलिक श्रम-विभाजन का उदय होता है। उदाहरण के ... बंगाल में जूट, संयुक्तप्रान्त में गन्ना और बरार में कपास उत्पन्न होत... अथवा सूती कपड़े का धंधा अहमदाबाद और बम्बई में केन्द्रित है। यह ... विभाजन उस प्रदेश की प्राकृतिक सुविधाओं अथवा श्रमजीवियों की ... तथा दक्षता पर निर्भर रहता है। इसे धंधे का स्थानीयकरण (localis... of industries) भी कहते हैं। इसके सम्बन्ध में हम आगे के परि... विस्तार से लिखेंगे।

श्रम-विभाजन के गुण : श्रम-विभाजन के बहुत से गुण हैं। ऐडम ... ने श्रम-विभाजन के जो गुण अपनी पुस्तक में लिखे हैं, वे आज भी ... हैं। उसके अनुसार श्रम-विभाजन के नीचे लिखे विशेष गुण हैं।

उत्पादन-वृद्धि (Increased Production) ऐडम स्मिथ का ... है, कि श्रम-विभाजन में श्रमजीवी की उत्पादन-शक्ति बेहद बढ़ जाती है ... आलपीन के कारखाने का उदाहरण लिया है। वह लिखता है कि, य... कारीगर स्वयं अकेला आलपीन बनावे तो दिन भर में २० आलपीन से ... नहीं बना सकता। यदि आलपीन बनाने की क्रिया को छोटी-छोटी उप... में बाँट दिया जावे और प्रत्येक उपक्रिया को एक आदमी के सुपुर्द क... जावे—जैसा कि उस कारखाने में किया गया था—तो दस आदमी ४८०... एक दिन में बनादेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक दिन में एक ... ४८०० पिनें बनावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रम-विभाजन का ...

गुण यह है कि इसके परिणामस्वरूप उत्पादन बेहद बढ़ जाता है। इसमें तनक भी सदेह नहीं कि श्रम-विभाजन ने मनुष्य-समाज की उत्पादन-शक्ति बहुत अधिक बढा दिया है। परन्तु यह कहना कि मनुष्य-समाज की उत्पादन-क्ति में जो आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है, वह एक मात्र श्रम-विभाजन के कारण ही बहुत सही नहीं होगा। उत्पादन की आश्चर्यजनक वृद्धि के श्रम-विभाजन के तिरिक्त अन्य कारण भी हैं। उदाहरण के लिए, आविष्कारों और नई खोजों, नीनियरिंग कुशलता तथा पूँजी के इकट्ठा होने से भी समाज की उत्पादन-शक्ति वृद्धि हुई है। विज्ञान ने भूमि की उत्पादन-शक्ति को बहुत बढाया है, और त्रा ने मानवीय श्रम की कुशलता में बहुत अधिक वृद्धि की है। इन सब रणों से ही उत्पादन में यह आश्चर्यजनक वृद्धि होसकी है। यदि समाज की पादन-शक्ति इतनी अधिक न वढ जाती, तो आज जितनी जनसख्या है का एक बहुत छोटा भाग ही जीवित रह सकता, और वह भी बहुत नीचे न-सहन के दर्जे (low standard of living) में ही रह सकता था। अत-ब उत्पादन में जो वृद्धि हुई है, वह एक मात्र श्रम-विभाजन का परिणाम हीं है। परन्तु यह तो हर एक को स्वीकार करना पड़ेगा, कि श्रम-विभाजन त्पादन में वृद्धि होने का एक बहुत बड़ा कारण है। श्रम-विभाजन द्वारा होने ली उत्पादन-वृद्धि नीचे दिए हुए कारणों से होती है।

प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता अनुसार कार्य दिया जा सकता . श्रम-विभाजन से होने वाली उत्पादन-वृद्धि का पहला कारण तो यह है, कि कार्य का उचित बँटवारा किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को वह काम दिया जा सकता है, जिसके लिए वह सबसे अधिक योग्य है। इसका परिणाम ह होगा कि श्रम-जीवियों की शक्ति का पूरा उपयोग हो सकेगा और उसका पव्यय बद हो जावेगा। उदाहरण के लिए, प्रत्येक कार्य मे कुछ उपक्रियायें सी होती हैं, जिनको साधारण मजदूर भी कुशलतापूर्वक कर सकता है। अस्तु, श्रम-विभाजन के द्वारा यह लाभ होगा कि जिस कार्य में विशेष कारीगरी की आवश्यकता नहीं है, उसको साधारण मजदूरों को दिया जा सकता है; और जिस कार्य में विशेष कारीगरी की आवश्यकता है, उसको केवल कारीगर ही करेंगे। यदि श्रम-विभाजन न हो तो दक्ष कारीगरों को भी साधारण कार्य में अपना समय लगाना पडे। अस्तु; श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य मिल जाता है, जिसके लिए उसमें विशेष अभिरुचि, यो... तथा दक्षता है—अर्थात जिसके लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त और यो...

श्रम-विभाजन श्रमजीवी की दक्षता तथा कुशलता में वृद्धि करता। लगातार एक कार्य को करते रहने से प्रत्येक व्यक्ति उस कार्य में विशेष तथा कुशलता प्राप्त कर लेता है, अतएव श्रमजीवी कुशल और निपुण जाते हैं। साथ ही इस प्रकार के विशेषीकरण से एक और भी लाभ होता। एक आदमी दूसरे आदमी से हर एक काम अच्छा कर सकता है। हर एक बात में दूसरों से अच्छा है, किन्तु यह उत्तमता कुछ बातों में अधिक होती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अच्छा कातता है और अच्छा ही बुनता है, परन्तु जहाँ कपड़ा बुनने का प्रश्न उसकी श्रेष्ठता सूत कातने की अपेक्षा अधिक है। ऐसी दशा में जहाँ विभाजन का पूरा-पूरा उपयोग होता है, वहाँ वह व्यक्ति अपना सारा कपड़ा बुनने में ही लगावेगा, क्योंकि कपड़ा बुनने में उसकी श्रेष्ठता सर्वोच्च है। यही सिद्धान्त 'तुलनात्मक लागत' (comparative cost) के सिद्धान्त में भी लागू होता है जिसके द्वारा एक देश विदेशी व्यापार से लाभ करता है।

समय और औजारों की बचत : श्रम-विभाजन से समय और पूँजी (औजारों) की बहुत बचत होती है। क्योंकि श्रमजीवी लगातार एक ही क्रिया करता रहता है। वह एक क्रिया से दूसरी क्रिया करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में समय बरबाद नहीं करता। उदाहरण के लिए एक क्रिया को छोड़कर दूसरी क्रिया के करने मे कुछ समय तो अवश्य ही व्यर्थ नष्ट हो जाता है। अस्तु, यदि एक श्रमजीवी लगातार एक ही कार्य करता है, तो समय की यह बरबादी बच जाती है। समय की एक दूसरी तरह बचत होती है। श्रम-विभाजन से एक बड़ा लाभ यह होता है कि श्रमजीवी को एक क्रिया का बहुत थोड़ा ही अंश जानने की आवश्यकता होती है। अतः उस हुनर को जानने के लिए बहुत थोड़ा समय लगता है। उदाहरण के लिए बढ़ईगीरी या लुहारी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए कई वर्ष लग जाते हैं, परन्तु जहाँ श्रमविभाजन चरम सीमा तक पहुँच गया है, वहा श्रमजीवी को सूक्ष्म उपक्रिया को सीखने में बहुत थोड़ा-सा समय लगता है। इस प्रकार धन्धे की शिक्षा प्राप्त करने में भी बहुत थोड़ा समय लगता है। इस प्रकार श्रम विभाजन से समय और शक्ति की बचत होती है।

श्रम-विभाजन से पूँजी की भी बचत होती है। औजार लगातार काम में आते हैं, बेकार नहीं रहते। एक बढ़ई को ले लीजिए। जिस समय

आरे से लकड़ी चीरता है उस समय उसके दूसरे औजार वेकार रहते हैं। विभाजन होने पर आरा चलाने वाला आरा चलाते रहेंगे और दूसरी यें करने वाले दूसरी क्रियायें करते रहेंगे, अतएव प्रत्येक औजार का तार उपयोग होता रहेगा। इसी प्रकार एक बड़े कारखाने में जहा मशीनों काम होता है, वहां भी प्रत्येक मशीन लगातार चलती रहेगी, कोई मशीन र नहीं खड़ी रहेगी, अतएव श्रम-विभाजन से पूंजी की वचत व किफायत ती है।

मशीनों का आविष्कार : श्रम-विभाजन से मशीनो का भी आविष्कार होता है। जब प्रत्येक क्रिया को छोटी छोटी सूक्ष्म उपक्रियाओं मे बॉट या जाता है, तब प्रत्येक उपक्रिया अत्यन्त सरल और आसान हो जाती है। तव मे वह इतनी आसान हो जाती है कि उसको करने के लिए एक मशीन आविष्कार किया जा सकता है। मशीन की विशेषता यह है कि वह एक सूक्ष्म क्रिया कर सकती है। मनुष्य अपने हाथ को घुमा-फिरा कर सैकड़ों यें कर सकता है, किन्तु मशीन तो केवल एक सूक्ष्म क्रिया ही कर सकती । उदाहरण के लिए, एक वोरिंग मशीन केवल छेद कर सकती है, वह लकड़ी रंदा नहीं कर सकती। जब श्रमविभाजन सूक्ष्म हो जाता है, तब एक क्रिया बहुत-सी अत्यन्त सरल और सामान्य सूक्ष्म क्रियाओं मे बॅट जाती है, उस मय उसको करने के लिए कोई भी बुद्धिमान कारीगर मशीन का आविष्कार र सकता है। कुशाग्र-बुद्धि मिस्त्री या श्रमजीवी भी इन सूक्ष्म क्रियाओं को खकर उनके लिए मशीनो का आविष्कार कर सकता है। एडम स्मिथ ने उस च्चे का उदाहरण दिया है, जो कि स्टीम ऐंजिन पर रक्खा गया था, किन्तु सको इतना सरल कार्य करना पड़ता था कि उसने एक आविष्कार कर लिया। रिणाम यह हुआ कि वह स्वय खेलने चला जाता था, और उसके जिम्मे जो काम । वह उस आविष्कार के द्वारा स्वत होता रहता था। इस प्रकार अनायास उस वालक ने स्टीम ऐंजिन मे सुधार कर दिया। इस प्रकार आविष्कार होने फलस्वरूप श्रम-विभाजन के कारण उत्पादन की आश्चर्यजनक गति से वृद्धि ई और लागत-व्यय बहुत कम हो गया।

श्रम-विभाजन के फलस्वरूप कार्यों की विभिन्नता बढ़ जाती है: म विभाजन के फलस्वरूप कार्यों की विभिन्नता इतनी अधिक बढ जाती है, कि त्येक व्यक्ति अपनी रुचि और योग्यता का कार्य पा सकता है। साथ ही जब र्य एक सूक्ष्म क्रिया मे परिणत हो जाता है, तो प्रत्येक धन्धे मे एक समान

बहुत-सी सूक्ष्म क्रियायें हो जाती हैं, इस कारण श्रमजीवी बहुत आसानी से धन्धे से दूसरे धन्धे में जा सकता है। उसकी गतिशीलता (mobility) जाती है।

बड़ी मात्रा का उत्पादन (Large Scale Production): विभाजन के फलस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन अनिवार्य हो जाता है। को बड़ी मात्रा के सभी लाभ प्राप्त होते हैं। उसे सब वस्तुएँ सस्ती मिलने हैं और रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जाता है। यही नहीं कि वस्तुएँ मिलने लगती हैं, वे उत्तम भी होती हैं; क्योंकि उन्हें श्रम-विभाजन के परि स्वरूप दक्ष कारीगर ही बनाते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्रम विभाजन से समाज को बहु लाभ होते हैं।

श्रम विभाजन के दोष : परन्तु श्रम-विभाजन में दोष भी कुछ का हैं। सूक्ष्म श्रम-विभाजन के नीचे लिखे दोष हैं।

कारीगरी और निपुणता का ह्रास : सूक्ष्म श्रम-विभाजन का णाम यह होता है कि कारीगरी और निपुणता का ह्रास हो जाता है। जीवी मे उत्तरदायित्व की भावना नष्ट हो जाती है। उदाहरण के लि चमार जो कि पूरा जूता बनाता है, और एक मजदूर जो कि जूते के क में काम करता है, उनको लें, तो जो कारखाने मे काम करता है वह सूक्ष्म क्रिया ही करता है; शायद कीलें ही ठोकता है, और चमार जूता ही बनाता है। उन दोनों की कारीगरी का कोई मुकाबला नहीं हो चमार, जो कि पूरा जूता बनता है, उसको यह विचार सदैव बना कि जूता अच्छा बनना चाहिए, नहीं तो उसका ग्राहक प्रसन्न नहीं किन्तु कारखाने के मजदूर को इसका ध्यान भी नहीं आता। उसका केवल कीलें ठोक देना मात्र है। कारखाने का मजदूर तो यत्रवत यंत्र को रहता है, और उस क्रिया को करता जाता है। उसको अपने कार्य में का अनुभव नहीं होता, और न उसे अपनी वस्तु का गौरव ही ह क्योंकि वस्तु केवल उसकी बनाई हुई नहीं होती। वह तो सैकड़ों व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयत्न का फल होती है। वे लोग एक-दूसरे को जानते नहीं, और बहुत करके वे एक-दूसरे से हजारों मील दूर होते हैं। उस वस्तु पूर्ण रूप से बनाने का उत्तरदायित्व हजारों व्यक्तियों पर होता है, इस का उत्तरदायित्व की भावना प्रायः उदय ही नहीं होती।

श्रम-विभाजन के कार्य में नीरसता उत्पन्न होती है : जब श्रम-
ी अपने जीवन में लगातार एक ही क्रिया करता रहता है और एक ही
ीन को चलाता रहता है, उसका बौद्धिक सुख जाता रहता है। उसकी बुद्धि
पड़ जाती है, उसकी कलात्मक भावना नष्ट हो जाती है और उसका दृष्टिकोण
र्ण हो जाता है। उसमे नवीन कार्यों को करने की तथा नवीन साहस बताने की
क और भावना जाती रहती है। यह तो साधारण-सी बात है। कल्पना कीजिए
एक मनुष्य जीवन भर जूते के तले में कील ठोकने का ही कार्य करता रहा, तो
को उस कार्य के करने में क्या सुख प्राप्त हो सकता है। उसके लिए वह कार्य
न्त नीरस हो जावेगा और उसको करके उसे कोई प्रसन्नता अनुभव नहीं
ी। एक बढई जब एक बढिया मेज या कुर्सी तैयार करता है, तो उसे जो
त्म-सन्तोष और सुख प्राप्त होता है वह फैक्टरी मे कार्य करने वाले एक
जीवी को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता।

श्रम-विभाजन से बेकारी मे वृद्धि हो सकती है : जबकि कोई मज़-
केवल एक क्रिया को ही करता रहता है, तो उसके लिए अन्य क्रियाये
-सी रहती हैं। वह उनको नहीं कर सकता। ऐसी दशा में जब कि मज़दूर
ल एक क्रिया पर इतने अधिक निर्भर हो जाते हैं, और यदि उस वस्तु की
ग बाजार में कम हो जावे, तो बहुत से मज़दूर बेकार हो जावेंगे। अस्तु; श्रम-
भाजन से, जबकि आर्थिक मन्दी हो तो, बेकारी अधिक भयंकर रूप धारण
होती है।

प्रादेशिक श्रम-विभाजन से बेकारी का भय. जब कि प्रादेशिक
-विभाजन बहुत अधिक हो जाता है और एक स्थान पर एक ही धधा
न्द्रित हो उठता है, तो उससे एक हानि यह होती है कि वह सारा प्रदेश
ही धधे पर निर्भर हो उठता है। और यदि किसी कारण वश उस धधे
स्थिति खराब हो जावे, अथवा उसमें मंदी हो जावे, अथवा किसी कारण-
श वह धधा कुछ लम्बे समय के लिए बंद होजावे तो उस प्रदेश में बेकारी
द दर्जे की बढ सकती है। कल्पना कीजिए कि एक देश दूसरे देश से खाद्य-
दार्थ मँगाता है और उसमें यथेष्ट खाद्य-पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। ऐसी दशा
यदि दोनों मे किसी कारण वश युद्ध छिड़ जावे, तो फिर उस देश की
स्थिति भयावह हो उठेगी। हम एक दूसरा उदाहरण लें। यदि हम कल्पना
रें कि एक देश केवल एक ही धंधे पर निर्भर है, और यदि किसी कारण-
श वह धंधा नष्ट हो जावे, अथवा उस धधे की स्थिति खराब हो जावे

तो फिर वहां एक आर्थिक सकट (economic crisis) की स्थिति ० खड़ी होगी।

प्रादेशिक श्रम-विभाजन धर्धों के स्थानीयकरण (localisation of industries) को जन्म देता है। जिन धधों का स्थानीयकरण हो जाता है उनमे अधिकतर एक ही प्रकार के श्रम-जीवियों की आवश्यकता पड सकता है। उदाहरण के लिए, यदि लोहे का धधा कही केन्द्रित हो, तो उस जिले में हृष्ट पुष्ट बड़े आदमियों की ही आवश्यकता होगी। बच्चों और स्त्रियों को धधे कार्य मिलना कठिन होगा। ऐसी दशा में यदि मजदूर का वेतन ऊँचा भी हो, तो भी उसके परिवार की आय कम रहेगी। बहुधा ऐसा होता है कि द धधा किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित हो जाता है और उसमें बच्चों और स्त्रियों के लिए काम नहीं मिलता, तो वहाँ अन्य सहायक या पूरक धर्धों स्थपित करके ही इस कमी को पूरा किया जा सकता है। इन सहायक धधों मुख्य धधो मे कार्य करने वाले श्रमजीवियो की स्त्रिया और उनके बच्चे काम जाते हैं।

उत्पादन कार्य में मशीन का प्रयोग—उसके गुण-दोष : यह तो ऊपर ही कह आये हैं कि जटिल तथा सूक्ष्म श्रम-विभाजन का मशीनों आविष्कार से घनिष्ठ सबन्ध है। जब श्रम-विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म और जटि हो जाता है, तो उस सूक्ष्म क्रिया को करने के लिए मशीन का आविष्कार कि जा सकता है। जब उत्पादन-कार्य मे श्रम-विभाजन जटिल और सूक्ष्म होग तभी मशीनो का आविष्कार हुआ, और यन्त्रों के आविष्कार के परिणामस्व ही औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) हुई। औद्योगिक क्रा के फलस्वरूप उत्पादन-कार्य का स्वरूप ही बदल गया। गृह-उद्योग (cottage industries) का स्थान भीमकाय पुतलीघर और फैक्टरि लेने लगीं और बड़ी मात्रा का उत्पादन होने लगा धंधो का केन्द्रियकरण लगा। अब हम यहाँ श्रमजीवी के स्थान पर मशीनों के प्रयोग के गुण-दोषों विवेचना करेंगे।

मशीनों के उपयोग से होने वाले लाभ : उत्पादन में मशीनों उपयोग का एक बहुत बड़ा लाभ तो यह है, कि कुछ कार्य—जिन्हें कि मानवी श्रम कभी कर ही नहीं सकता, सरलता से हो सकते हैं। उदाहरण के लि आज जो बड़े-बड़े क्रेन भारी से भारी वस्तुओं को तिनके के समान उठाक एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देते हैं, एंजिन भारी से भारी बोझे खींच लेता है, वह मानवी-श्रम से सम्भव नहीं था। मनुष्य ने प्रकृति

क्तियों का उपयोग करके यन्त्रों की सहायता से जो कार्य आज करना आरम्भ [दिया है, वह बिना मशीनों के कभी भी सम्भव नहीं हो सकता था। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मशीनों का आविष्कार नहीं होता, तो बहुत कार्य जो आज मनुष्य उनकी सहायता से करता है कभी नहीं कर पाता।

दूसरा लाभ मशीनों से यह है कि मनुष्य की अपेक्षा मशीन बहुत शीघ्रता कार्य करती है, और मशीन के द्वारा इतना अधिक उत्पादन होता है, जिसकी ल्पना भी नहीं की जा सकती। मानवीय शक्ति इतनी शीघ्रता से और इतना धिक उत्पादन कभी कर ही नहीं सकती। कर्घे को ले लीजिए। हाथ-कर्घा जतना कपड़ा एक घण्टे में तैयार करता है, उससे कई गुना कपड़ा शक्ति-चालित कर्घे से एक घण्टे में तैयार होता है। दो आरा चलाने वाले कई देनों में एक पेड़ के तने को चीर कर उसके तख्ते बनाते हैं, परन्तु मशीन के ारा बड़े से बड़े पेड़ के तख्ते घण्टे या आध घण्टे में तैयार हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मशीन अत्यन्त शीघ्रता से कार्य करती है जो मानवीय शक्ति के बाहर है।

मशीन से एक लाभ यह भी है कि मशीन जो भी कार्य करती है, वह इतना सही करती है कि जो मनुष्य के हाथ से सम्भव नहीं हो सकता। मशीन एक कार्य को बार-बार करते हुए भी इतना सही और ठीक करती है कि मनुष्य उतना सही कभी नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए एक छेद करने की मशीन को ले लीजिए। मशीन हजारों छेद करगी किन्तु उसमें कोई अन्तर नहीं होगा। परन्तु मनुष्य अपने हाथ से उतने सही छेद नहीं कर सकता। मशीन का प्रत्येक हिस्सा या पुर्जा एक समान होता है। यदि एक हिस्सा खराब हो जावे या घिस जावे तो बाजार से दूसरा हिस्सा मोल लेकर लगाया जा सकता है। वह बिलकुल फिट हो जावेगा। कल्पना कीजिए कि हमारी साइकिल का एक पहिया खराब हो जाता है। हम तुरन्त बाजार जाकर दूसरा पहिया डलवा लेते हैं। यह पहिये मशीनों के द्वारा तैयार किये गये हैं इस कारण उनके फिट होने में तनक भी देर नहीं लगती। यदि साइकिल हाथ से बनाई गई होती तो उसके लिये पहिये को भी खास तौर से तैयार कराना पड़ता। क्योंकि प्रत्येक पहिया तो उस साइकिल में फिट नहीं हो सकता। मशीन का यह गुण इतना महत्त्वपूर्ण है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि मशीन के पुर्जे या हिस्से बदले जा सकने वाले नहीं होते, तो की उपयोगिता बहुत कम होती। इस कारण मशीन की उपयोगि

उत्पादन-शक्ति बढती है, तथा मशीन द्वारा उत्पादन-कार्य होने के कारण व्यय कम होता है।

मशीन का एक बहुत बड़ा गुण यह है कि मशीन द्वारा उत्पादन-कार्य होने से लागत-व्यय बहुत कम होता है। कल्पना कीजिये उस समय की, जब सारा उत्पादन-कार्य मनुष्य अपनी शक्ति के द्वारा औजारों की सहायता से होता था। उस समय उत्पादन-व्यय इतना अधिक था कि बहुत-सी वस्तुएँ केवल धनी व्यक्ति ही काम में ला सकते थे। उदाहरण के लिए कपडे को ले लीजिये। मलमल तथा अन्य अच्छे कपड़े केवल धनी व्यक्ति ही खरीद सकते थे, किन्तु आज तो मजदूर भी मलमल इत्यादि कपडे व्यवहार करता है, क्योंकि वे इतने सस्ते हो गये हैं। केवल वस्त्र मे ही यह बात नहीं है, अन्य वस्तुओं के साथ भी यही स्थिति है।

मशीन का श्रम पर प्रभाव : मशीन मनुष्य के कार्य को हलका कर देती है। जो कार्य बहुत कठिन और कष्टसाध्य होता है, उसको मशीन करती है। जो कार्य अत्यन्त नीरस होते हैं, जिनमें लगातार एकसी क्रिया करनी पड़ती है और जो मनुष्य को कभी भी रुचिकर नहीं हो सकते, वह मशीन करती है; अतएव मनुष्य को अरुचिकर और नीरस कार्य नहीं करना पड़ता। आप किसी आधुनिक छापेखाने मे जाइये। कम्पोज से लेकर छपाई और अखबार को मोड़ कर पैकट बनाने तक का सारा कार्य मशीन करती है। मनुष्य को अखबार का पैकट भी नहीं बनाना पडता। इस प्रकार के कार्य जिनमें हद दर्जे की नीरसता और थकावट आती हो, वे मनुष्य को नहीं करने पड़ते। मशीन उनको करती है। मशीन मे श्रमजीवी को एक दूसरा लाभ यह होता है कि मशीन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए मजदूर को कुशाग्र-बुद्धि होना तथा उसमे थोड़ी जिम्मेदारी की भावना को जाग्रत करना आवश्यक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब मजदूर मशीन पर काम करता है तो उसमें बुद्धि का विकास होता है और उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है। मशीन में सैकड़ों प्रकार के कल-पुर्जे होते हैं। जब एक मजदूर उस जटिल और वैज्ञानिक वस्तु पर काम करता है, तो उसको स्वत: उसकी बनावट का ज्ञान होता है और उसकी बुद्धि का विकास होता है। साथ ही क्योंकि मशीन तो बराबर बिना रुके कार्य करती है, अतएव मजदूर को उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है, इस कारण उसमे उत्तरदायित्व की भावना का भी उदय होता है।

मशीन से श्रमजीवियों को एक तीसरा लाभ यह होता है कि वह उनकी तिशीलता (mobility) को बढा देती है। कारण यह है कि एक मशीन जो एक सूक्ष्म क्रिया को करती है, वह एक से अधिक धंधों में काम आसकती। इस कारण मजदूर जो कि उस मशीन पर काम करता है, वह बहुत से धधों काम पा सकता है। यही कारण है कि आज एक मजदूर आसानी से एक धे को छोड़कर दूसरे धधे में चला जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी मजदूर ने घड़ी बनाने के कारखाने में काम किया है, तो वह आसानी से बदूक बनाने के कारखाने में काम कर सकता है; क्योंकि बदूक बनाने के कारखाने में अधिकतर वे ही मशीनें होती हैं जो घड़ी बनाने के कारखाने में काम आती हैं।

मशीनों से एक लाभ यह भी होता है कि मजदूरों की कार्य-कुशलता बढ़ जाती है और उनकी मजदूरी बढ जाती है। उत्पादन जितना ही अधिक पूँजी (capital) पर आश्रित होगा उतना ही अधिक मशीनों का उपयोग होगा। फलतः लागत-व्यय उतना ही कम होकर लाभ (profit) अधिक होगा, और उसके साथ ही मजदूरी भी अधिक होगी। मशीनों के अधिकाधिक उपयोग से मजदूरी बढेगी इसमें कोई सदेह नहीं है।

मशीनों के दोष : मशीन से जहा लाभ हैं, वहाँ उससे हानिया भी हैं। मशीन से एक बड़ी हानि तो यह होती है कि उसके उपयोग से मनुष्य बेकार हो जाते हैं। एक मशीन सैकड़ों मजदूरों का काम करती है, अर्थात एक मशीन से सैकड़ों मनुष्यों का काम छिन जाता है। मशीनें तो बनती ही रहती हैं, अस्तु, मशीनों के यकायक उपयोग से मजदूरों में बेकारी फैलती है—उन्हें काम नहीं मिल पाता। कुछ विद्वानों का कहना है कि मशीन के उपयोग से बाद को उत्पादन इतना सरल और लागत-व्यय (cost of production) इतना कम हो जाता है कि वस्तु सस्ती हो जाती है। फलतः उसकी माग इतनी अधिक बढ जाती है कि उसकी माग को पूरा करने के लिए इतना अधिक उत्पादन करना पड़ता है कि वास्तव में अधिक मजदूर उस धधे मे काम पा जाते हैं। उदाहरण के लिए पहले ढाके की मलमल का मूल्य (जब कि वह हाथ-करघों पर बनाई जाती थी) इतना अधिक होता था, कि उसको बहुत धनी व्यक्ति ही काम मे ला सकते थे, इस कारण उसकी माँग बहुत कम रहती थी। परन्तु जब से मलमल मशीनों द्वारा बड़े-बड़े कारखानों में बनने लगी है, उसका मूल्य इतना कम होगया है कि उसको साधारण से साधारण

व्यक्ति भी खरीद सकता है, अतः उसकी मॉग इतनी अधिक है कि पहले की अपेक्षा अधिक व्यक्ति उसे बनाने में काम करते हैं। यह ठीक है कि किसी-किसी धधे मे मूल्य गिर जाने से मांग बहुत अधिक हो जाती है और अन्ततः अधिक व्यक्ति काम पा जाते हैं, परन्तु यह तो मानना होगा कि मशीन के उपयोग का तत्कालीन प्रभाव यह होता है कि लोग वेकार हो जाते हैं, और कुछ समय बाद ही उस धधे मे अधिक व्यक्तियो की माग होती है। उसमें जिन व्यक्तियों को मशीन ने वेकार किया है वही काम पा जावेंगे, इस कोई भरोसा नही रहता। अतएव यह तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना ही होगा, कि मशीन का तत्कालीन प्रभाव यह होता है कि धधों में लगे व्यक्तियो का वहाँ से हटाया जाय। यही कारण है कि आरम्भ म मजदूर मशीनों के उपयोग का विरोध करते थे। मशीनो का उपयोग तभी हो सकता है, कि श्रम-विभाजन पूर्णरूप से स्थापित होगया हो। अतएव मशीन के दोष विभाजन के भी दोष बन जाते हैं। इङ्गलैड में जब औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) हुई तब वहां गृह- उद्योग धधों में लगे व्यक्तियों को भयकर वेकारी का सामना करना पड़ा (सन १७६० से १ तक)। भारत के भी गॉवों में हम इसका उदाहरण मिल जाता है।

मशीन का दूसरा सबसे बडा दोप यह है कि उसका मालिक और मजदूर सम्वन्ध पर बुरा असर पड़ता है। जो कारीगर पहले गॉवों में घरेलू धधों म करते थे, उन्हें मशीन के कारण वेकार होना पडा और वे औद्योगिक में आने के लिए विवश होगए। जो मजदूर वेकारी के कारण गाँव छोड़ औद्योगिक केन्द्रो मे आने के लिए विवश होते हैं, उन्हें मिलों में काम जाता है, परन्तु उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता (economic freedom) जाती है। गांव में अपने घर में काम करने वाला कारीगर स्वय अपना होता है, परन्तु कारखाने में वह एक मात्र मजदूर बन जाता है। मजदूरों ऊँचा वेतन पाने वाले मैनेजर में कोई व्यक्तिगत सवन्ध नहीं होता। घरेलू धधों का वातावरण नष्ट हो जाता है और मजदूर तथा एक दूसरे को अपना विरोधी मानने लगते हैं। मिल-मालिको तथा के हित एक-दूसरे के विरुद्ध हो उठते हैं। यहीं से वर्ग-युद्ध (class war) श्रीगणेश होता है।

मशीन का एक बहुत बड़ा दोप यह भी है कि उसका मजदूरों के स्वास्थ्य और नैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कारखानो के गदे वाता

कारण में लम्बे समय तक मजदूरों को मशीनों पर काम करना पड़ता है। इसका उसके स्वास्थ्य और मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं कि काम करने के स्थान ही गंदा होता है, वरन् जहाँ मजदूर रहते हैं, वे स्थान और भी गंदे और अस्वास्थ्यकर होते हैं। थका हुआ मजदूर जब कारखानों से इन गंदे स्थानों पर रात्रि में आता है, तो उसको कोई हर्ष या संतोष नहीं होता। कारखाने की यह थकावट उसके स्नायु मंडल पर बहुत गहरा प्रभाव डालती है और वह थकावट बढ़ती ही जाती है। इसका प्रभाव मजदूर के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है। वह निस्तेज, जीवन-हीन तथा स्फूर्तिविहीन बन जाता है। होना तो यह चाहिए कि मजदूर को यथेष्ट विश्राम मिले, उसको पुष्टिकर भोजन प्राप्त हो, तथा स्वास्थ्य, मनोरंजन, रहने के लिए हवादार स्वच्छ स्थान मिले। तभी उसका नैतिक पतन रुक सकता है। परन्तु ऐसा नहीं होता। वह थका हुआ आता है, और गंदा घर उसे कोई प्रसन्नता तथा स्फूर्ति प्रदान नहीं करता, तब वह ताड़ी या शराब की दूकान पर जाकर क्षणिक स्फूर्ति प्राप्त करता है, तथा जुए के अड्डे पर उत्तेजना प्राप्त करने जाता है। इससे उसका स्वास्थ्य तथा नैतिक दृष्टि से और भी अधिक पतन होता है। कारखानों में बालकों तथा स्त्रियों को भी ऐसे गंदे वातावरण में काम करना पड़ता है, कि उनका भी स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। गंदे वातावरण में रहने और काम करने वाले व्यक्ति का मन और शरीर कभी स्वस्थ नहीं रह सकते। औद्योगिक केन्द्रों में स्त्री-पुरुषों के साथ-साथ काम करने तथा गोपनीयता के अभाव से व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है और मजदूरों का नैतिक पतन होजाता है। यह सारे दोष यंत्र तथा मशीनों के स्वाभाविक दुर्गुण नहीं हैं, किन्तु मशीनों के उपयोग से उद्योग-धंधों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनके अनुरूप औद्योगिक संगठन को न बनाने तथा पूँजीपतियों के लालच का परिणाम हैं। यदि फैक्टरी-कानून अच्छे हों, उनको कठोरता से उपयोग में लाकर सामाजिक सुधार किया जावे तो यह दोष दूर किए जासकते हैं। अस्तु, यह दोष स्वाभाविक और स्थायी नहीं हैं, प्रयत्न करने पर यह दूर किए जासकते हैं। परन्तु अभी तक यह दोष दूर नहीं किए जासके हैं। इन दोषों के रहते हुए यंत्रों ने मानव जाति की बहुत सेवा की है। आज जो यंत्रों के द्वारा बड़े-बड़े कारखानों का विकास हुआ है और उनमें मजदूरों को पशुवत जीवन व्यतीत करना पड़ता है, वह यंत्र का दोष नहीं है, वरन् पूँजीवादी पद्धति का दोष है। मशीन ने मनुष्य के बहुत से कार्यों को अपने ऊपर लेकर उसको अधिक आराम दिया है। मनुष्य का जीवन अधिक सुखी और ऐश्वर्यशाली बनाया है।

मशीन और बेकारी : जब पहले पहल किसी क्रिया में मशीन उपयोग किया जाता है। तो उसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि मजदूर काम से हटा दिए जाते हैं। जिस कार्य को १०० मजदूर करते थे, मशीन की सहायता से चार या पाँच व्यक्ति ही कर सकते हैं। अस्तु; के उपयोग का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि ६५ व्यक्तियों को अपने से हटना होगा। यह ठीक है कि आगे चल कर मशीन के द्वारा होने के कारण वस्तु इतनी अधिक सस्ती हो सकती है, कि उसकी माग अधिक बढ़ जावे, और उस धंधे में पहले से भी अधिक व्यक्ति काम परन्तु थोड़े समय के लिए तो मशीन के उपयोग का यही परिणाम होगा बहुत से मजदूर बेकार हो जावेंगे। अस्तु, थोड़े समय को ही यदि हम में रक्खें तो मशीन के उपयोग से मजदूर बहुधा बेकार हो जाते हैं। ऐसा होता है कि श्रम (labour) तथा पूँजी (capital) में प्रतिस्पर्द्धा हो रही है और एक-दूसरे को अपने स्थान से हटा देना चाहता है।

यही कारण है कि बहुधा मजदूर-संघ मशीनों के उपयोग का विरोध करते हैं। जब इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति हुई और नई-नई मशीनों का उत्पादन में उपयोग किया जाने लगा, तो मजदूर बहुधा बिगड़ उठते थे। कारखानों में दंगा हो जाता था और मजदूर उन नये यन्त्रों और मशीनों को तोड़-फोड़ देते थे। कारण यह था कि मजदूर समझते थे कि मशीनों के कारण उनको हटना होगा। भारतवर्ष तथा अन्य देशों में जब-जब कारखानों में नई मशीनों का उपयोग किया गया, अथवा उत्पादन के तरीके मे सुधार किया गया, जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होने की सम्भावना हुई, तो मजदूर-नेताओं ने उसका सदैव विरोध किया। किन्तु वस्तु-स्थिति इतनी दयनीय नहीं होती जितनी कि मजदूर-नेता बतलाया करते हैं। इस संघर्ष में वे लोग यह भूल जाते हैं कि धनोत्पत्ति (production of wealth) बिना श्रम और पूँजी (capital) के सहयोग के नहीं हो सकती। बिना श्रम (labour) के पूँजी व्यर्थ है, और बिना पूँजी के श्रम की कुशलता (efficiency) बहुत कम हो जावेगी। यदि दोनों सहयोग करें तो उत्पादन अधिक होगा और दोनों की आय अधिकाधिक बढ़ेगी। सच तो यह है कि यदि हम लम्बे समय का ध्यान रखकर देखें तो मशीन के उपयोग से बेकारी अधिक बढ़ने के स्थान पर मजदूरों को अधिक काम मिलता है। कल्पना कीजिए कि सूती वस्त्र के कारखाने ने एक नई मशीन का उपयोग किया जाता है। उसके फलस्वरूप कुछ मजदूरों को अवश्य अपने काम से हटना होगा, वे बेकार हो जावेंगे। किन्तु आगे

कर उनको काम मिल जावेगा। मशीनों के उपयोग से सूती वस्त्र बहुत सस्ते हो जावेंगे। यदि सूती वस्त्रों की मांग (demand) लचकदार (elastic) है, तो वस्त्र के सस्ते होने पर उसकी मांग बहुत बढ़ेगी और धन्धे का अधिक विस्तार होगा और हटे हुए मजदूर धन्धे में फिर काम पा जावेंगे। यदि मान लिया जाय कि वस्तु की माँग लचकदार नहीं है वरन लोचहीन (inelastic) और जनसाधारण उपभोक्ता (consumer) उसको अधिक नहीं खरीदता, तो उनका उस वस्तु पर व्यय कम होगा, क्योंकि वह सस्ती होगी। अतएव उपभोक्ताओं के पास अन्य वस्तुओं पर व्यय करने के लिए अधिक द्रव्य (money) बच रहेगा। अतः वे अन्य वस्तुओं की खरीदारी पर अधिक द्रव्य व्यय करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उन वस्तुओं की मांग (demand) बढ़ेगी और उत्पादन (production) बढ़ाने के लिए उन धधों का विस्तार किया जावेगा और उनमें अधिक मजदूर काम पा सकेंगे। कुछ मजदूर तो उन मशीनों के बनाने के कारखाने में ही काम पाजावेंगे। इसके अतिरिक्त मशीनों के अधिक उपयोग से जो मजदूर कि उन धधों मे काम करेंगे उनकी कार्य-कुशलता (efficiency) बढ़ेगी और उनको पहले से अधिक मजदूरी (wages) मिलेगी। अधिक मज़दूरी मिलने से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं पर अधिक द्रव्य व्यय करेंगे। उसके परिणामस्वरूप बहुत से हटे हुए मजदूरों को काम मिलेगा। साथ ही हमे यह न भूल जाना चाहिए कि मशीनों से वस्तुएँ सस्ती होती हैं, और मजदूर भी जहाँ तक उनको खरीदना है उसको लाभ होता है। वास्तव में बात यह है कि जिन वस्तुओं का अधिकतर मजदूर उपभोग करते हैं, उनमें ही सुधार और आविष्कार अधिक होते हैं। अस्तु; थोड़े समय को ध्यान में रखकर देखें तब तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रम (labour) और पूँजी (capital) एक दूसरे के प्रतिस्पर्द्धी हैं, परन्तु लम्बे समय की दृष्टि से यदि देखा जावे तो ये एक-दूसरे के पूरक है।

किन्तु हमे यह न भूल जाना चाहिए कि यह सब कुछ बहुत धीरे-धीरे होता है और मशीन के उपयोग के फलस्वरूप जो उलट-फेर होती है और जो अन्त में मज़दूरों के लिए अधिक काम बढ़ता है वह बहुत लम्बे समय के बाद बढ़ता है। तब तक बहुत से हटाये गये मज़दूरों की दुर्दशा हो जाती है। कुछ का तो विनाश हो जाता है। बेकार रहने से कुछ का रहन-सहन का दर्जा गिर जाता है और उनकी कार्य-कुशलता कम हो जाती है। इसलिए उनको काम मिलने में कठिनाई होने लगती है। कुछ को बहुत ढूँढ-खोज के बाद यदि किसी

दूसरे धन्धे में काम मिल भी जाता है, तो उसको उस काम की जानकारी होती और न उसकी उस कार्य के लिए कोई शिक्षा हुई होती है। अतः काम में दक्षता न होने के कारण उन्हें पहले से कम मज़दूरी मिलती है। में औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) के समय तथा वर्ष में विदेशी वस्तुओं के अबाध गति से आने के परिणामस्वरूप कारीगरों जो दुर्दशा हुई, वह प्रत्येक व्यक्ति जानता है। वे पहले सम्भ्रान्त और समृद्धि वर्ग में गिने जाते थे, किन्तु बाद को वे साधारण मजदूरों की स्थिति में आ भारत मे तो वे खेती या साधारण मजदूरी करने लगे। कल्पना कीजिए कि नई-नई मशीनों का तेजी से आविष्कार हो और धन्धों में जल्दी-जल्दी हो, तो उसके फलस्वरूप जो मजदूर हटेंगे उनको कल्पनातीत आर्थिक उठाना होगा। वेकारी की अवधि कितनी लम्बी होगी, यह इस बात पर होगा कि उस देश का औद्योगिक संगठन (industrial organisation किस प्रकार का है। यदि औद्योगिक नेतृत्व प्रगतिशील और साहसी है, तो का विकास शीघ्र होगा, और बेकारी की अवधि कम होगी, अन्यथा वेकारी अवधि लम्बी हो सकती है।

बड़ी मात्रा के उत्पादन के लाभ (Advantages of Lar scale prodution) : श्रम-विभाजन (division of labour) में मशी उपयोग का अवश्यम्भावी परिणाम है बड़ी मात्रा का उत्पादन। बडी मा उत्पादन के विना श्रम-विभाजन तथा मशीनों का उपयोग कदापि नहीं सकता। कल्पना कीजिए, एक जूते के कारखाने मे सारी जूता वनाने की को दो सौ सूक्ष्म क्रियाओं मे बॉट दिया गया है। अब यदि दो सौ व्यक्ति क्रियाओ को करते हैं और केवल एक जोड़ा जूता दिन भर मे तैयार जावे, तो प्रत्येक व्यक्ति कुछ मिनट ही काम करेगा और सारे दिन रहेगा। इसी प्रकार मशीन भी वेकार खड़ी रहेगी। अतएव यदि मशीन श्रम-विभाजन का उत्पादन मे उपयोग करना है, तो बड़ी मात्रा का उत्पादन ही होगा। बड़ी मात्रा के उत्पादन का रूप बडे-बडे कारखानो और मिलों में देखने को मिलता है।

बडी मात्रा के उत्पादन के लाभ : बड़ी मात्रा के उत्पादन के लाभ हैं। मारशल ने उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा है और उन्हे वाह्य (external economy) और आन्तरिक बचत (internal econo का नाम दिया है।

बाह्य बचत (External Economy) : बाह्य-बचत हम उसको कहते हैं जिसका सम्बन्ध किसी एक कारखाने, मिल या कारबार से नहीं होता, वरन पूरे धंधे से होता है। बाह्य बचत का लाभ सब बराबर उठाते हैं। उदाहरण के लिए, किसी स्थान-विशेष पर यातायात की तथा बैंकिंग की विशेष सुविधा हो। बड़े धंधों को यह सुविधा रहती है कि वे अपना संगठन कर सकें और अपने स्वार्थों की रक्षा कर सकें। उदाहरण के लिए, जूट-मिल-ऐसोसियेशन अथवा सूती वस्त्र-मिल-ऐसोसियेशन आवश्यकता पड़ने पर सरकार से अपने धंधे के हितों के बारे में बात-चीत कर सकती हैं। बाह्य-बचत वह बचत है, जो किसी एक कारखाने के आकार पर निर्भर नहीं होती, वरन सम्पूर्ण धंधे की वृद्धि पर निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए, जब मशीनों की अधिक मांग होने लगती है और वे अधिक संख्या में बनाई जाने लगती हैं, तो उनका लागत-व्यय कम हो जाता है। जितनी ही सूती मिलें स्थापित होंगी, उतनी ही मशीनों की अधिक मांग होगी और मशीनें सस्ती हो जावेंगी, क्योंकि वे अधिक संख्या में तैयार होंगी। धंधों के स्थानीयकरण (localisation of industries) के जो लाभ हैं वे सब बाह्य बचत (external economy) के अन्तर्गत आते हैं। हम धंधों के स्थानीकरण के विषय में आगे चलकर लिखेंगे। जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, कि जब धंधे एक स्थान पर केन्द्रित होते हैं तो उन्हें यातायात, बैंकिंग, तथा विशेषज्ञों की सलाह इत्यादि की जो विशेष सुविधा मिलती है, तथा वे अपना संगठन करके जो अपने हितों की रक्षा कर सकते हैं, यह सब बाह्य बचत के अन्तर्गत आती हैं।

आन्तरिक बचत (Internal Economy) : आन्तरिक बचत वह बचत है जो किसी व्यापार अथवा फर्म में उसका आकार बढ़ने पर होती है। आन्तरिक बचत का उस सम्पूर्ण धंधे की वृद्धि अथवा उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आन्तरिक बचत किसी फर्म या कारबार के प्रबन्ध की दक्षता या कुशलता पर निर्भर रहती है। बड़ी मात्रा में उत्पादन करने में नीचे लिखी आन्तरिक बचत होती हैं।

श्रम की बचत (Economy of Labour) बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) में श्रम-विभाजन (division of labour) का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है. श्रम-विभाजन को चरम सीमा तक पहुंचाया जा सकता है। श्रम-विभाजन से होने वाले लाभ बड़ी मात्रा के उत्पादन में प्राप्त किए जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बड़ी मात्रा

दन में ही यह सम्भव है, कि जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य है वह कार्य उस दिया जासके; और प्रत्येक व्यक्ति की दक्षता और कार्यकुशलता का पूरा उठाया जासके। उदाहरण के लिए, यदि कोई मजदूर लकड़ी काटने में कुशल है, तो अधिकतम उत्पादन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि वह लकड़ी काटने का ही काम करे, वार्निश इत्यादि न करे। किन्तु यह तभी सकता है जब कि उत्पादन बड़ी मात्रा में हो जिससे उसके पास इतनी लक काटने के लिए रहे कि उसका सारा समय उस काम में लग सके।

मशीन की बचत : बड़ी मात्रा में उत्पादक छोटी से छोटी क्रिया लिए भी मशीन का उपयोग कर सकता है। प्रत्येक क्रिया के लिए मशीन उपयोग करने से उत्पादन-व्यय बहुत कम होता है। बड़ा कारखाना आधु तम उत्तम और मूल्यवान मशीनों को भी खरीद सकता है। बड़ी मात्रा उत्पादन में ही यह सम्भव है कि मशीनों का पूरा उपयोग होसके और से छोटी क्रिया भी मशीन से की जासके। उदाहरण के लिए यदि मानलें, समाचार-पत्र को मोड़ कर पैक करने के लिए एक मशीन है जो एक दस हजार समाचार-पत्रों को मोड़ कर पैक कर देती है। जिस समाचार-प पचासहजार या एक लाख प्रतियाँ प्रति दिन छपती हैं, उसके लिए यह लाभदायक होगी, परन्तु जो समाचार-पत्र केवल हजार दो हजार की में छपता है, उसके लिए इस प्रकार की मशीन की कोई आवश्यकता नहीं बिना बड़ी मात्रा के उत्पादन के मशीनों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं होस बड़ी मात्रा का उत्पादन मशीनों का पूरा उपयोग कर सकता है, इस वह छोटी मात्रा के उत्पादक (small scale producer) से कम में वस्तु को तैयार कर लेता है।

कच्चे माल की बचत : बड़े कारखाने में कच्चे माल की भी बचत होती है। बात यह है कि जब किसी वस्तु को तैयार किया जाता कुछ न कुछ कच्चा माल व्यर्थ नष्ट होजाता है। उदाहरण के लि कातने में कुछ रुई अवश्य नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जूते बनाने में चमड़ा व्यर्थ चला जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु के करने में कच्चा माल कुछ न कुछ नष्ट अवश्य हो जाता है। यदि छोटी मात्रा में होता है, तो यह बचा हुआ रद्दी कच्चा माल व्य जाता है, परन्तु बड़े कारखाने में यह बचा हुआ रद्दी कच्चा माल अधिक राशि में होता है, कि उसको भी उपयोग में लाया जासकता

उसके द्वारा अन्य वस्तुएँ बनाई जासकती हैं। यही नहीं, किसी-किसी वस्तु को उत्पन्न करने में मुख्य वस्तु के अतिरिक्त कुछ गौण पदार्थ (by products) भी निकलते हैं। छोटी मात्रा के उत्पादन में वे व्यर्थ नष्ट होजाते हैं, परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन मे उनके अधिक राशि में होने के कारण उनका उपयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए, शक्कर के कारखाने में शीरा निकलता है। यदि रद्दी बचे हुए कच्चे माल से बनी हुई वस्तु अथवा गौण पदार्थ को बेचकर उत्पादक कुछ भी पैदा प्राप्त कर लेता है, तो मुख्य वस्तु को सस्ते भाव में बेचा जासकता है।

अधिक मात्रा मे खरीदारी करने मे बचत : बड़ी मात्रा के उत्पादकों को कच्चा माल बहुत बड़ी राशि में खरीदना पड़ता है, अतएव उन्हें कच्चा माल सस्ते भाव में मिल जाता है। बड़े उत्पादक बड़ी मात्रा में कच्चा माल खरीदते हैं, अतएव थोक व्यापारियों अथवा कच्चा माल उत्पन्न करने वालों से सीधे खरीदने के कारण उन्हें कच्चा माल सस्ते भाव पर मिल जाता है। उदाहरण के लिए, जूट और कपास तथा शक्कर के कारखाने अपने एजेंटों द्वारा सीधे किसान से कच्चा माल सस्ते दामों पर ले लेते हैं। किन्हीं-किन्हीं दशाओं में यह भी सम्भव है कि कारखाना कच्चा माल स्वय उत्पन्न करे। उदाहरण के लिए, जावा मे शक्कर के कारखाने अपना गन्ना स्वय उत्पन्न करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बड़ी मात्रा के उत्पादक को कच्चा माल छोटी मात्रा के उत्पादक की अपेक्षा सस्ते दामों पर मिल जाता है।

अधिक मात्रा में बिक्री करने मे बचत : बड़ी मात्रा में बिक्री करने में भी बचत होती है। माल को बेचने में कुछ तो व्यय होता ही है। जितना ही माल अधिक होगा उतना व्यय कम आवेगा। कल्पना कीजिए कि एक जूते का कारखाना वर्ष में दस लाख जोड़े जूते बनाता है, और एक कारखाना केवल दस हजार जूते बनाता है। अब यदि बड़ा कारखाना विज्ञापन देता है या एजेंटों और प्रचारकों को भेजकर अथवा अन्य प्रकार से अपने जूतों की विज्ञप्ति और प्रचार करता है, तो उसका उतना ही व्यय होगा जितना कि छोटे कारखाने का पत्रों में विज्ञापन देने का। व्यय एक समान होगा, फिर चाहे वह दस लाख जोड़े जूते बेचें अथवा दस हजार। इसी प्रकार प्रचारकों, एजेंटों इत्यादि का व्यय प्रति जोड़ा जूता बड़े कारखाने का कम होगा और छोटे कारखाने का अधिक होगा। जो छोटे कारीगर हैं उनका बिक्री-व्यय बहुत अधिक होता है। कल्पना कीजिए कि एक जुलाहा एक या दो थान बनाकर

पास के शहर या मडी में कधे पर डालकर उसको बेचता है। वह पूरा एक दिन नष्ट करके, जिसमें कि वह बीस गज कपड़ा तैयार कर लेता है, कपड़ा बेच पाता है। अतएव उसका बिक्री-व्यय बहुत अधिक है। बड़ी मात्रा उत्पादक को विज्ञापन देने तथा अपने माल का प्रचार करने में अपेक्षाकृत व्यय कम ही नहीं करना पड़ता, वरन वह अपने माल की बिक्री के लिए दुकानें भी स्थापित कर सकता है और इस प्रकार जो लाभ थोक तथा फुटकर व्यापारी को होता है वह भी बड़ी मात्रा के उत्पादक को प्राप्त हो सकता है।

वाजार का परिवर्तन बड़ी मात्रा के उत्पादन पर कम प्रभाव डालता है और छोटी मात्रा के उत्पादन पर अधिक प्रभाव डालता है। बड़ी मात्रा के उत्पादन करने वाले कारखाने का प्रबन्ध योग्य और कुशल मैनेजरों के हाथ में होता है। यह लोग दूरदर्शी और अनुभवी होते हैं। बाजार का रुख किधर जारहा है वे इसका सफलतापूर्वक अध्ययन कर सकते हैं। उनके माल की भविष्य मे बिक्री कैसी होगी, मैनेजर इसका ठीक-ठीक अंदाज करके उसी के अनुसार कारखाने मे माल तैयार करवाता है। यदि वह समझता है कि माग (demand) बढेगी तो वह माल अधिक तैयार करवाता है और यदि उसका अनुमान हो कि मांग कम होगी तो उसी के अनुसार वह पूर्ति (supply) को घटा देता है। बड़ी मात्रा का उत्पादन अन्य कारखानों की प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकता है, उसका दृढता से मुकाबला कर सकता है। कारखाने का मैनेजर उत्पादन की साधारण बातों मे फसा नहीं रहता, वरन अपनी जानकारी और बुद्धि का उपयोग बाजार का रुख जानने में, उत्पादन म और अधिक बचत करने मे, तथा अपने माल की बाजार में अधिकाधिक खपत करने में करता है।

बड़ी मात्रा का उत्पादक प्रयोग और अनुसंधान कर सकता है। बड़ा उत्पादक प्रयोग और अनुसधान पर अधिक व्यय कर सकता है, परन्तु यह अधिक व्यय उसको नहीं अखरता, क्योंकि प्रति वस्तु अनुसधान का व्यय कम होता है। अनुसधान के द्वारा वह उत्पादन-क्रिया मे सुधार कर सकता है, नये कच्चे माल का उत्पादन में उपयोग कर सकता है तथा वैज्ञानिक उन्नति की उसकी जानकारी का पूरा लाभ उठा सकता है। छोटी मात्रा का उत्पादक अनुसधान तथा प्रयोग पर व्यय नहीं कर सकता और न वह उत्पादन क्रिया में शीघ्र सुधार ही कर सकता है।

शक्ति की बचत : बड़े उत्पादक का शक्ति उत्पन्न करने में भी अपेक्षाकृत कम व्यय होता है।

एक बड़ा कारखाना आर्थिक संकट अथवा मंदी का सामना छोटे कार-
ों की अपेक्षा अच्छी तरह से कर सकता है, क्योंकि उसके पास साधन
धिक होते हैं।

एक बड़ा कारखाना केवल आधुनिकतम मशीनों को ही खड़ा नहीं
ता, वरन एक वर्कशाप भी रखता है जिसमें आवश्यकता पड़ने पर मशीनों
मरम्मत हो सके और उसे अविश्वसनीय मिस्त्रियों पर निर्भर न रहना पड़े।

बड़े कारखाने में प्रति वस्तु ऊपरी व्यय कम होता है। यह व्यय प्रबंध
ौर व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है। इसमें मैनेजर, उसका कार्यालय, क्लर्क
राया, विज्ञापन-व्यय इत्यादि सम्मिलित होता है। छोटे उत्पादन को प्रति
स्तु इन मदों में अधिक व्यय करना पड़ता है।

छोटी मात्रा मे उत्पादन के गुण (Advantages of Small scale
Production) छोटी मात्रा के उत्पादन के कुछ गुण हैं जिस कारण किसी-
किसी धंधे मे छोटी मात्रा का उत्पादक भी बड़ी मात्रा के उत्पादक के मुकाबले
ें खड़ा रह सकता है।

(१) छोटी मात्रा के उत्पादन का एक गुण यह है कि उत्पादक बाजार
की परिस्थिति और माग के अनुसार अपने उत्पादन में शीघ्र हेर-फेर कर सकता
है, परन्तु एक बड़ा कारखाना, जिसमें उत्पादन का विशेषीकरण (specialis-
ation of production) होता है, उत्पादन मे जल्दी परिवर्तन नहीं
कर सकता।

(२) छोटी मात्रा के उत्पादन मे स्वामी की दृष्टि सब जगह रह
सकती है, अतएव उसे उतना पेचीदा हिसाब-किताब नहीं रखना पड़ता जितना
कि एक बड़े कारखाने में रखना आवश्यक होता है। और न अपव्यय और
जालसाजी से रक्षा करने के लिए बहुत से नियंत्रण लगाने पड़ते हैं। छोटी से
छोटी बात भी उसकी दृष्टि से नहीं बच सकती और न वह लाल फीते की
झंझट मे पड़ता है। वह तुरन्त किसी भी बात का निर्णय कर देता है। उसकी
देख भाल में सारा कार्य सुचारु रूप से चलता है।

(३) छोटी मात्रा के उत्पादन मे मालिक और मजदूरों का सीधा
सम्पर्क स्थापित होता है, अतएव मालिक अपने मधुर व्यवहार से तथा उनकी
आवश्यकताओं की ओर अधिक ध्यान देकर मजदूरों से अच्छा सम्बन्ध
स्थापित कर सकता है, और मालिक और मजदूरों का संघर्ष बचाया
सकता है।

(४) छोटी मात्रा के उत्पादन में उत्पादन-कर्त्ता का ग्राहकों से सम्पर्क स्थापित होता है, अतएव ग्राहकों को वह अधिक सतुष्ट कर सकता है।

(५) यदि वस्तु की मांग केवल स्थानीय है और अधिक परि- शील है, तो छोटी मात्रा के उत्पादक के लिए अधिक अनुकूल परिस्थि होती है।

(६) जिन धंधों में ग्राहकों की व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक होता है, वहाँ छोटी मात्रा के उत्पादकों को अधिक सुविधा है। उदाहरण के लिए, दर्जी का धंधा लीजिए। प्रत्येक ग्राहक की अपनी इच्छायें रहती हैं। एक बड़ा कारखाना उनको पूरी नहीं कर सक दर्जी ही उनको पूरी कर सकता है।

(७) छोटी मात्रा का उत्पादक बहुधा अकेला स्वय मालिक होता अतएव वह अपने कारबार में जितने उत्साह और परिश्रम से काम करता है, उतना बड़ी मात्रा के उत्पादन में मैनेजर इत्यादि नहीं कर सकते।

ऊपर हमने बड़ी मात्रा में गुणों का विवेचन किया है; परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन में जो लाभ या बचत है उसका एक बहुत बड़ा कारण यह है, कि उत्पादन में उत्पादक के साधनों (factors of production) की एक सीमा है, जिसके नीचे उनको विभाजित नहीं किया जा सकता। उसको हम उत्पादन के साधनों की अविभाजनीय इकाई कह सकते हैं। कल्पना कीजिए कि कालेज में एक मैस है। उसमें कम से कम खाना पकाने के लिए कुछ अनिवार्य बरतन और एक रसोइया और एक कहार तो आवश्यक हैं। इससे कम से तो काम नहीं चल सकता। यदि इतने साधनों से २० लड़कों को खाना खिलाया जा सकता है, परन्तु मैस में केवल दस ही लड़के हैं तो प्रति छात्र मैस का व्यय अधिक होगा और रसोइये और नौकर के लिए पूरा काम नहीं होगा। अतएव मैस में दस लड़के रखना एक प्रकार से साधनो का अपव्यय करना होगा। इसी प्रकार एक अध्यापक अविभाजनीय इकाई है। वह ५० छात्रों को भली प्रकार शिक्षा दे सकता है। यदि कक्षा में केवल दस ही छात्र हैं, तो उसका पूरा उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार से एक कारखाने की स्थिति है। कारखाने में कुछ इमारतें, मशीनें, क्लर्क और अन्य कर्मचारी अविभाजनीय हैं। उनको बांटा नहीं जा सकता है। उदाहरण के लिए मैनेजर, इंजिनियर, रसायनवेत्ता, हिसाब रखने वाले अकाउण्टेंट, क्लर्क, चौकीदार अविभाजनीय हैं। उनको बाँटा नहीं

सकता। उन्हें रखना ही होगा। अब यदि कारखाना अपनी उत्पादन-शक्ति कम उत्पादन कर रहा है, तो इनका पूरा-पूरा उपयोग नहीं हो सकेगा और कुछ अंश में वह व्यर्थ जावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि लागत-व्यय अधिक होगा। अतएव उत्पादक इतना अधिक उत्पादन करना चाहेगा। जिससे उत्पादन के साधनों की अविभाजनीय इकाई का पूरा-पूरा उपयोग हो सके।

उत्पादक कितना उत्पन्न करेगा? बड़ी मात्रा के उत्पादन में होने वाली बचतों को ध्यान में रखकर 'बेनहम' के शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक फर्म या कारखाना उस सीमा तक उत्पादन (production) करेगा जिससे कि सीमान्त लागत-व्यय (marginal cost) कीमत (price) के बराबर हो। भिन्न-भिन्न कारखानों की उत्पादन-कुशलता (productive-efficiency) का परिणाम यह नहीं होगा कि भिन्न भिन्न कारखानों की सीमान्त लागत भिन्न हो। उनकी सीमान्त लागत एक समान होगी, परन्तु उन कारखानों की कुशलता की भिन्नता इस बात में प्रकट होगी कि वे कितना उत्पादन करते हैं।

कारखाने के विस्तार की सीमा : यह तो हम ऊपर ही लिख आये हैं कि बड़ी मात्रा के उत्पादन के बहुत से गुण हैं तथा आन्तरिक और बाह्य-बचतों (internal and external economics) के कारण लागत-व्यय कम होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) से इतने लाभ हैं, तो कारखाने लगातार विस्तार करते-करते एक सीमा के बाद अपना विस्तार रोक क्यो देते हैं। यदि कारखानों के लगातार विस्तार करने से बराबर अधिकाधिक लाभ होता रहे तो केवल थोड़े से कारखाने उस वस्तु की सारी माग को पूरा कर सकते हैं और उन कारखानों का कल्पनातीत विस्तार हो सकता है। लेकिन हम देखते हैं कि लगभग प्रत्येक धंधे में बहुत बड़े-बड़े कारखानों के साथ-साथ छोटे उत्पादक भी उत्पादन-कार्य करते हैं। इसका कारण यह है कि बड़ी मात्रा के उत्पादन से लाभ प्राप्त करने की भी एक सीमा है। जैसे जैसे एक कारखाने का विस्तार होता जाता है, वैसे ही वैसे उसका अधिक विस्तार करने से जो लाभ मिलते हैं वे कम होते जाते हैं और उसके प्रबन्ध तथा व्यवस्था की कठिनाइयाँ बढ़ती जाती हैं। प्रथम, श्रम-विभाजन (division of labour) और बड़ी मशीनों के उपयोग से होने वाला लाभ अन

असीम नहीं है। एक सीमा के वाद अधिक श्रम-विभाजन और बड़ी मशीनों के अधिक उपयोग से वचत नहीं होगी। एक बडी भट्टी एक छोटी भट्टी से अधिक लाभदायक और कम खर्चीली होती है, परन्तु एक सीमा के वाद एक भट्टी का आकार वढाया जावे तो वह लाभदायक सिद्ध न होगी। इसके अतिरिक्त व्यवस्था और प्रवध की योग्यता की एक सीमा है और कारखाने का विस्तार इससे सीमित होजाता है। जव कारखाने का विस्तार होता है, श्रम-विभाजन का अधिक विकास किया जाता है, नये विभाग स्थापित किए जाते हैं, तव व्यवस्था और प्रवन्ध-कार्य उतना ही कठिन और दुरूह हो जाता है। भिन्न-भिन्न विभागों का सम्वधीकरण भी उतना ही कठिन हो जाता है। एक वहुत वड़ा कारखाना वास्तव में अर्द्ध स्वतात्र विभागों का एक समूह होता है जो विभागीय विशेषज्ञों की अधीनता में कार्य करता है। अन्त में जव कोई निर्णय करना पड़ता है तो वहुत से विभागीय अध्यक्षों की सम्मति लेनी पडती है और इस कारण निर्णय करने में वहुत देर लग जाती है। जब कारखाने का विस्तार वहुत अधिक हो जाता है तो व्यवस्था और प्रवध की कठिनाई और झझट इतने अधिक वढ जाते हैं कि वड़ी मात्रा से होनेवाली वचत नष्ट हो जाती है। हजारों व्यक्तियों स ठीक प्रकार काम लेना और भिन्न-भिन्न विभागों और शाखाओं का प्रवन्ध करना कुछ सरल नहीं है। तीसरे वहुत वड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए वहुत अधिक पूंजी (capital) की आवश्यकता होती है। यदि किसी कारखाने का विस्तार करना है तो अधिक द्रव्य (money) की आवश्यकता होगी, और ठीक समय पर अधिक पूँजी का प्रवन्ध हो सके यह सम्भव नहीं है। यदि कोई व्यवसायी अपने कारवार को वढाना चाहता है और उसके पास लगाने के लिए रुपया नहीं है, तो उसे वैंकों से उधार लेना होगा। उस दशा में उसे सूद देना पड़ेगा। सूद की दर इतनी अधिक हो सकती है, कि व्यवसायी के लिए कारखाने का विस्तार करना लाभदायक सिद्ध न हो। वह अपने कारवार को मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी (joint stock company) का रूप देकर जनता से हिस्सों के रूप में पूंजी (capital) प्राप्त कर सकता है। किन्तु उस दशा पर से उसका आधिपत्य और स्वामित्व हट जावेगा और उसको हिस्सेदारों की इच्छानुसार कार्य करना होगा। इसका परिणाम यह होगा कि व्यवसायी का उस धधे मे उतना प्रभाव नहीं रहेगा और उसकी कुशलता पर वुरा प्रभाव पड़ेगा, जिससे कारवार की अवनति होगी। चौथा, जो वस्तु कि कारखाना वनाता है, उसकी मॉग अस्थिर और परिवर्तनशील हो सकती

अतएव बड़ी मात्रा के उत्पादक को उस धंधे मे कठिनाई हो सकती है, क्योंकि आवश्यकतानुसार अपना उत्पादन घटा-बढ़ा नही सकता। क्योंकि बडे रखाने का विस्तार अधिक होता है और उसके उत्पादन के उपकरणों का शिष्टीकरण चरम सीमा पर पहुँचा होता है। अन्त में यद्यपि एक फर्म अपना स्तार करके कुछ बचत प्राप्त कर सकती है, परन्तु फिर भी हो सकता है कि यह विस्तार लाभदायक सिद्ध न हो, क्योंकि विस्तार का भी लागत-व्यय (cost of growth) होता है जिसके कारण विस्तार रोकना पड़ता है। फर्म यदि अपना उत्पादन बढ़ा लेती है, तो उसे उसकी बिक्री पर अधिक व्यय करना होगा। बिक्री-विभाग तथा बिक्री के लिए किये गये अन्य प्रयत्नों पर व्यय इतनी तेजी से बढ सकता है—जब फर्म एक सीमा से अधिक कारबार को बढाना चाहती है—कि वह लाभदायक न हो। दोषपूर्ण बाजार (imperfect markets) और खरीदारों की शिथिलता किसी एक कारखाने के आकार की सीमा निर्धारित कर देते हैं।

उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण (Localisation of industries). आज हम बहुधा देखते हैं कि अमुक धंधा एक विशेष स्थान पर केन्द्रित है। उदाहरण के लिए, भारत में जूट का धंधा कलकत्ता के समीपवर्ती प्रदेश में केन्द्रित है, और सूती कपडे का धंधा बम्बई और अहमदाबाद मे केन्द्रित है। ऐसी विशेष स्थान पर अमुक धंधा केन्द्रित हो, इसी को धंधों का स्थानीयकरण कहते हैं। जब किसी वस्तु-विशेष को उत्पन्न करने वाली, अथवा उसकी बिक्री करने वाली फर्में एक स्थान पर अपना कारबार केन्द्रित करती हैं, उसी को धंधे का स्थानीकरण कहते हैं।

धन्धों के स्थानीयकरण के कारण: अब हम देखेंगे कि धन्धों के स्थानीयकरण के क्या कारण हैं, और क्यों धन्धे एक स्थान पर केन्द्रित होते हैं। एक व्यवसायी अपने कारखाने को उसी स्थान पर खड़ा करना चाहेगा जहाँ कि उसका उत्पादन-व्यय (cost of production) सबसे कम हो। अतएव वह उस स्थान को चुनेगा जहाँ अधिक से अधिक सुविधायें हों। इन सुविधाओं को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं (१) प्राकृतिक (२) आर्थिक तथा (३) राजनैतिक।

प्राकृतिक सुविधायें (Physical): धन्धों के स्थानीयकरण के लिए प्राकृतिक सुविधायें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृतिक सुविधाओं में भूमि, जलवायु, खनिज पदार्थों की उपलब्धि, शक्ति के साधन, कच्चा माल इत्यादि सभी आ जाते हैं।

कच्चा माल : जिन स्थानों में कच्चा माल (raw material) होता है अथवा जिन व्यापारिक मण्डियों मे वह बिकने आता है, वहां भी खड़े हो जाते हैं। यदि कच्चा माल और शक्ति एक ही स्थान पर तो धधा वहीं केन्द्रित हो जावेगा। उदाहरण के लिये, जहाँ लोहा और समीप ही पाया जाता है, वहाँ लोहे का धधा केन्द्रित हो जाता है। जिन के लिये कच्चा माल आसानी से नहीं लाया जासकता, अथवा जिनको तक लाने में भाड़ा बहुत लगता है, उन कारखानों को कच्चा माल उत्पन्न करते स्थानों पर ही स्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिये, शकर के मक्खन के कारखाने, तथा मांस तैयार करने वाले कारखाने उन्हीं स्थानों स्थापित किये जा सकते हैं, जहाँ कच्चा माल उत्पन्न होता है। जिन धधों कच्चा माल हल्का और कीमती होता है, जिसे कारखाने तक ले जाने अधिक कठिनाई या व्यय नहीं होता, उनमें कारखाने कच्चे माल के प्राप्त के स्थान से दूर भी स्थापित किये जाते हैं।

शक्ति का साधन (Source of Power) : शक्ति के साधन का के स्थानीयकरण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी के अधिकांश औद्योगिक केन्द्र कोयले की खानों के पास केन्द्रित हैं। जिन धधों का कच्चा माल बहुत भारी होता है, जिसके ले जाने में व्यय अधिक होता है, वह तभी उन्नत हो सकते हैं जब शक्ति और कच्चा माल समीप ही पाया जावे। उदाहरण के लिये, लोहे का धधा तथा अन्य ऐसे ही धधे तभी सफलतापूर्वक चलते जब कोयला और कच्चा माल एक ही स्थान पर पाया जाता है। फिर भी यदि लोहा अथवा अन्य धातुएँ कोयले की खानों के समीप नहीं मिलतीं तो कच्ची धातुओं को कोयले की खानों के समीप ले जाकर वहाँ उसका धधा खड़ा किया जाता है। जलविद्युत् का अधिकाधिक उपभोग होने से धधों का विकेन्द्रियकरण (decentralisation) सम्भव होगा।

सस्ती भूमि : कभी-कभी धधे ऐसी जगह स्थापित किये जाते हैं जहाँ भूमि सस्ती होती है और आबादी घनी नहीं होती। ऐसी जगह विशेषकर वे धंधे स्थापित किये जाते हैं जिनमें कोयले की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती, अथवा जो चीज तैयार की जाती है वह अधिक मूल्यवान् होती है। अधिकतर रेलवे कम्पनियाँ अपना वर्कशाप ऐसी जगहों पर बनाती हैं जहाँ भूमि की कमी न हो और कोयला इत्यादि वस्तुओं को लाने में अड़चन न हो।

प्राकृतिक स्थिति और जलवायु : जलवायु का धन्धे के स्थानीयकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जलवायु कच्चे माल के वितरण को निर्धारित

...ती है। फिर कुछ धंधों को एक विशेष प्रकार की जलवायु चाहिये। ...हरण के लिये, सूती वस्त्र का धंधा वहाँ अच्छी तरह से पनपता है जहाँ ...वायु में नमी रहती हो, जिससे सूत के तार टूटें नहीं। फिल्म का धंधा वहाँ ...द्रत होता है जहाँ अधिक बादल न होते हों और आकाश स्वच्छ ...ता हो। प्राकृतिक स्थिति और जलवायु ही बंदरगाह, नदियाँ और ...द्र की स्थिति को निर्धारित करती हैं जिससे कि माल को एक स्थान से ...रे स्थान तक ले जाने की सुविधा मिलती है। बंदरगाह और नदियाँ बाजार ... विस्तृत बनाती हैं।

... आर्थिक सुविधायें : आर्थिक सुविधाओं में माल बेचने की सुविधा ...से अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी भी धंधे की सफलता के लिए माल को बेचने ... सुविधा का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि तैयार किया हुआ माल ...री होता है, तो यह और भी आवश्यक होजाता है कि धंधा ऐसे स्थान पर ...ापित किया जावे जहा से माल भेजने की सुविधा हो। यही कारण है कि ...त से धंधे बंदरगाहों में केन्द्रित हैं। रेलवे जंकशन और बंदरगाह इसी कारण ...ौद्योगिक केन्द्र बन जाते हैं। बहुधा यह भी देखने में आता है कि धंधे उन ...ों में अथवा उस स्थान पर केन्द्रित किये जाते हैं जहा उस धंधे के तैयार ...ल का ...पत हो। उदाहरण के लिए, सूती-वस्त्र के धंधे के लिए मशीनें बनाने ... धंधा वहीं केन्द्रित होगा जहा बहुत से सूती वस्त्र के कारखाने हों।

श्रम (Labour) : दूसरी आर्थिक सुविधा श्रम की है। व्यवसायियों को कारखाने स्थापित करते समय मजदूरों की समस्या पर भी विचार करना ...ड़ता है। सस्ती मजदूरी पर यथेष्ट मजदूर मिलना धंधे को केन्द्रित करने के लिए एक विशेष आकर्षण होता है। कलकत्ते के पास धंधों के केन्द्रित होने का एक कारण सस्ते मजदूरों का मिलना भी है। जिन धंधों मे कुशल मजदूरों की विशेष आवश्यकता होती है, उनको स्थापित करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जहा कारखाना स्थापित करना है वहां कुशल मजदूर यथेष्ट मिल सकते हैं अथवा नहीं। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक कारणों से एक तरह के कुशल मजदूर एक स्थान पर बस जाते हैं। ऐसी दशा में उस धंधे को उसी स्थान पर केन्द्रित करना पड़ता है जहा कुशल मजदूर निवास करते हैं।

यही कारण है कि हमें कई धंधे ऐसे देखने को मिलते हैं कि जो केवल कुशल मजदूरों के कारण किसी स्थान-विशेष पर स्थापित किये गए थे। जब कोई धंधा कुछ समय तक एक स्थान पर ही चलता रहता है, तो वहां के मजदूरों को उस धंधे का अनुभव हो जाता है, और वे अधिक कुशल होजाते

हैं। अतएव यदि उस चीज को तैयार करने के लिए कोई नया कारखाना स्थापित होता है, तो कुशल मजदूरों की सुविधा के कारण उसी स्थान पर खोला जाता है।

राजनैतिक कारण : राज्य का संरक्षण भी किसी धंधे का स्थान-विशेष पर केन्द्रित होने का मुख्य कारण होता है। ढाका की मलमल का धंधा और मुर्शिदाबाद का रेशम का धंधा वहां के मुसलिम और हिन्दू शासकों के संरक्षण की देन थे।

पूर्वारम्भ होने के लाभ : कहीं-कहीं कोई धंधा केवल इस कारण केन्द्रित हो जाता है कि वहां जब वह धंधा खड़ा किया गया तो अन्यत्र वह धंधा नहीं चलता था। इस कारण उस केन्द्र में उस धंधे के लिए अच्छी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वहां के कारीगर और मजदूर अधिक कुशल होते हैं, तथा अन्य सुविधायें उपस्थित हो जाती हैं। अस्तु, कहीं कहीं केवल पूर्वारम्भ के लाभ के कारण ही धंधा केन्द्रित हो जाता है। फिर वहां बहुत सी पूंजी लग चुकी होती है इस कारण भी धंधा उस स्थान पर चलता रहता है। यही नहीं, उस स्थान की उस वस्तु के लिए प्रसिद्धि भी हो जाती है, अतएव प्रत्येक व्यवसायी उस धंधे को उसी केन्द्र में स्थापित करना चाहता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई चाकू-कैंची इत्यादि बनाने का कारबार करे तो उसे शैफील्ड में ही अपना धंधा स्थापित करना होगा क्योंकि शैफील्ड के बने चाकू और कैंचियाँ प्रसिद्ध हैं।

जातीय गुण तथा संस्कृतिक स्थिति : किसी देश के निवासियों की कार्यक्षमता तथा गुण भी धंधों की उन्नति पर प्रभाव डालते हैं तथा उस देश के संस्कृतिक स्तर पर भी धंधों की उन्नति निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए चीनी लोग कलाप्रेमी होते हैं तथा किसी वस्तु की नकल करने में विशेष निपुण होते हैं।

धंधों के स्थानीयकरण के लाभ (Advantages of Localisation) : धंधों के स्थानीयकरण के बहुत से लाभ हैं। जब एक धंधा एक स्थान विशेष पर केन्द्रित हो जाता है, तो उस धंधे को बहुत से लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। पहला लाभ तो यह होता है कि उस धंधे की प्रसिद्धि हो जाती है और वहाँ के कारखानों के बने माल की बाजार में अच्छी माग होती है। उदाहरण के लिये स्विटजरलैंड की घड़ियाँ और शैफील्ड के कैंची-चाकू इत्यादि संसार भर में प्रसिद्ध हैं। दूसरे उस धंधे का मजदूरों को अनुभव हो जाता है और

उस धंधे के लिये कुशल मजदूर मिल जाते हैं। उस धंधे की जानकारी वहाँ बच्चों तक को हो जाती है और वे भविष्य में कुशल कारीगर बन जाते हैं। भी कुशल कारीगर होते हैं, वे उसी केन्द्र में आते हैं, क्योंकि वहाँ उन कारीगरों की बराबर माँग बनी रहती है। अतएव उस केन्द्र में कुशल कारीगर लब्ध हो जाते हैं। यदि कोई नया कारखाना उस केन्द्र में स्थापित होता है उसको कुशल कारीगर आसानी से मिल जाते हैं। स्थानीयकरण का चौथा म यह है कि उस धन्धे के गौण धन्धे वहाँ केन्द्रित हो जाते हैं। उस धन्धे कच्चे माल के बचे हुए रद्दी भाग का उपयोग अन्य पदार्थों के बनाने में होता और क्योंकि वहाँ यथेष्ट मात्रा में कारखानों का कच्चा माल प्राप्त हो ता है। यही नहीं उस धन्धे में काम आने वाली मशीनों और औजारों के बनाने के कारखाने भी वहीं स्थापित हो जाते हैं और वे एक-दूसरे से स्पर्द्धा करते हैं, जिससे धन्धे को अच्छी से अच्छी मशीनें प्राप्त होने की सुविधा मिल जाती है। धन्धे की आवश्यकताओं की जानकारी होने के कारण मशीनों में सुधार होते हैं और नये-नये आविष्कार करने का अवसर मिलता है। जब कोई धंधा किसी स्थानविशेष पर केन्द्रित हो जाता है, तो उसको पूँजी (capital) और साख (credit) मिलने की सुविधा मिल जाती है। क्योंकि वहाँ बैंक इत्यादि स्थापित हो जाते हैं और वे उस धन्धे को विशेष रूप से साख देते हैं। धंधों के स्थानीयकरण का एक लाभ यह भी होता है कि रेलवे तथा जहाज इत्यादि उस धंधे के माल को लाने-लेजाने में अधिक सुविधायें प्रदान करते हैं। जब धंधा एक स्थान पर केन्द्रित होता है तो उस धन्धे में जो कारखाने उत्पादन-कार्य करते हैं वे संगठित होकर अपने हितों की रक्षा करते अथवा हितों की वृद्धि का संगठित प्रयत्न करते हैं। यदि राज्य से धंधे को कोई संरक्षण अथवा सहायता की आवश्यकता होती है, तो सभी कारखाने संगठित प्रयत्न कर सकते हैं। एक बहुत बड़ा लाभ धंधे के स्थानीयकरण का यह भी है कि उस केन्द्र में धंधे के कच्चे माल की बड़ी मंडी स्थापित हो जाती है, जिससे धंधे को कच्चा माल यथेष्ट और सुविधापूर्वक मिल जाता है।

धन्धों के स्थानीयकरण के दोष : परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि स्थानीयकरण के कोई दोष नहीं हैं। सबसे पहला दोष यह है कि एक औद्योगिक केन्द्र जो एक धंधे पर ही निर्भर हो जाता जोखिम से खाली नहीं है। यदि उस धंधे की आर्थिक स्थिति खराब हो जाय, अथवा [illegible] जाय, तो उस केन्द्र में भयंकर बेकारी फैल जायेगी और जितने भी लोग उस धंधे में काम करते हैं वे आर्थिक संकट में फँस जावेंगे। उस केन्द्र की

जनसंख्या पर जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उस धंधे पर आश्रित है, बुरा असर पड़ेगा। एक डलिया में सारे अंडे रखने वाले की-सी स्थिति उस केन्द्र की हो जावेगी।

स्थानीयकरण का दूसरा दोष यह है कि जब धंधे का किसी स्थान में स्थानीयकरण (localisation) होता है तो उस धंधे में एक प्रकार के ही लोग काम पाते हैं। उदाहरण के लिए लोहे के धंधे में केवल पुरुष मज़दूरों की आवश्यकता होती है, स्त्रियों और बच्चों की आवश्यकता नहीं होती। परिवार के अन्य सदस्य, अर्थात् स्त्रिया और बच्चे, काम नहीं पाते रहते हैं। यद्यपि इस प्रकार के धंधों में मज़दूरी कुछ ऊंची होती है, किन्तु ऊंची नहीं होती कि सबका ठीक से गुजारा हो सके। इसके विपरीत म भी अपने मजदूरों को अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी देनी पड़ती है। मज अधिक मजदूरी देने से लागत-व्यय अधिक होता है। किन्तु यह कठिनाई नहीं है कि जिसको दूर न किया जा सके। इस प्रकार के केन्द्र में मुख्य ध सहायक अथवा गौण धंधे स्थापित किए जा सकते हैं जिनमें स्त्रियां और काम पा सकते हैं।

स्थानीयकरण का तीसरा दोष यह है कि मजदूर एक ही धंधे में लग काम करते रहने के कारण अपनी गतिशीलता (mobility) खो बैठते हैं।

धंधों का वैज्ञानीकरण (Rationalisation of Industri पिछले तीस वर्षों में धंधों का नवीन आधार पर संगठन करके उनके वैज्ञानी पर बहुत जोर दिया जा रहा है। बात यह है कि प्रथम योरोपीय महायु उपरान्त आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप यह आवश्यक हो गया है कि ध नवीन रूप से संगठन किया जावे। कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी के तक ब्रिटेन ही सर्व प्रधान औद्योगिक राष्ट्र था, उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न किन्तु १६२० के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, जरमनी, तथा के अन्य देश प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उपस्थित हो गए और एक राष्ट्र की दूसरे भीषण प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हो गई। अतएव प्रत्येक देश में धंधों के वैज्ञा (rationalisation) की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वैज्ञानिक अर्थ है कि धंधों को वैज्ञानिक आधार पर संगठित किया जावे। १६२७ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ था, उसने धंधे के वैज्ञानिक न की निम्न परिभाषा दी थी। आर्थिक सम्मेलन की दृष्टि में वैज्ञानिकन (rationalisat औद्योगिक उत्पादन तथा संगठन की उस पद्धति को कहेंगे जिसमें श्रम या

य या अपव्यय (waste) कम से कम हो। किसी धंधे में अपव्यय को रोकने
ी नाम वैज्ञानिकन है। श्रम तथा सामग्री के अपव्यय को रोकने के लिए, धंधों
चे लिखी बातों में सुधार करना होता है। वैज्ञानिकन (rationalisation)
न्तर्गत उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं का प्रमाणीकरण (standardi-
ion) करना आवश्यक होता है। यदि किसी कारखाने में बहुत किस्म की
एँ बनती हैं, तो उसमें श्रम और सामग्री का अपव्यय अवश्य होता है।
रव वैज्ञानिकन में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं का प्रमाणीकरण करना
श्यक हो जाता है। केवल उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं का ही प्रमाणीकरण
श्यक नहीं होता, वरन् जो सामग्री उत्पादन में काम आती है उसका भी
णीकरण (standardisation) करना आवश्यक हो जाता है, जिससे
ग्री का पूरा उपयोग हो सके, तनक भी अपव्यय न हो। वैज्ञानिकन में प्रत्येक
ी से छोटी क्रिया के लिए आधुनिकतम अच्छी से अच्छी मशीनों का उपयोग
ा है। जहा तक हो सके हाथ के श्रम के स्थान पर मशीन को काम में लाया
, यह आवश्यक है। इससे श्रम का क्षय या अपव्यय रुक सकता है। यही
ण है कि जब धंधों का वैज्ञानीकरण किया जाता है, तब मजदूर उसका विरोध
ते हैं, क्योंकि इसका तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि मजदूरों को कम
मिलता है, और कुछ मजदूर बेकार हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त धंधों
ज्ञानीकरण में वैज्ञानिक प्रबन्ध (scientific management) का भी
योग किया जाता है। जैसा कि पिछले परिच्छेद में बताया जा चुका है,
ानिक प्रबंध के द्वारा प्रत्येक मजदूर से अधिक से अधिक उत्पादन की व्यवस्था
जाती है, और संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका सबसे अधिक प्रयोग हुआ
। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकन में सब प्रकार के अपव्यय को बन्द किया जाता
। धंधों के वैज्ञानीकरण में भिन्न-भिन्न कारखानों का संयोग (combination)
किया जाता है, जो कारखाने अलाभकारी होते हैं, उन्हें बन्द कर दिया
ता है। कारखानों के संयोग से प्लांट अर्थात् मशीनों का विशेषीकरण होता
ऊपरी लागत (overhead cost) कम हो जाती है और माल की बिक्री में
न [illegible] होता है। कारखानों के संयोग या मिलन से यह लाभ होना स्वाभाविक
है। यदि पचास कारखाने मिलकर एक होते हैं, तो जितना व्यवस्था-व्यय
का पहले होता था, उतना मिलने पर नहीं होगा। इसी तरह माल की बिक्री
लिए विज्ञापन, प्रदर्शन तथा एजेंटों इत्यादि पर किया जाने वाला व्यय भी
म हो जायेगा। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि धन्धों का वैज्ञानीकरण लागत
म करने का एक वैज्ञानिक तरीका है।

वास्तव में धन्धों का वैज्ञानीकरण (rationalisation of industr... देश के आर्थिक संगठन को दृष्टि में रखते हुए एक सम्पूर्ण धंधे का अ... ढग से नव संगठन करना है। इसके लिए एक प्रतिभावान् नेतृत्व की आ... होती है जो सम्पूर्ण धधे का वैज्ञानीकरण कर सके।

वैज्ञानीकरण के बहुत से तरीके हैं। उदाहरण के लिए किसी धंधे केवल आर्थिक वैज्ञानीकरण (financial organisation) किया जा... है। अर्थात् यदि धन्धे में आवश्यकता से अधिक पूँजी (capital) लगी हुई तो उसको कम किया जावे। या धन्धे में सयोग या मिलन (combination) के द्वारा उसमें काम करने वाले सब कारखानों को एक सूत्र में बाध दिया... अथवा उसका अर्थ केवल प्रामाणीकरण (standardisation) से हो... हाथ का काम अधिकाधिक मशीन से कराया जावे। धधों का वैज्ञानी... (rationalisation of industries) वैज्ञानिक प्रबध (scientific management) से थोड़ा भिन्न है। वैज्ञानिक प्रबध का अर्थ एक कारखाने को इकाई मान कर उसके उत्पादन का अच्छे से अच्छा प्रबध करना और उसमें होने वाले अपव्यय को रोकना है। धन्धे का वैज्ञानीकरण सम्पूर्ण धन्धे को सुसगठित और विकसित करने के लिए किया जाता है। जहाँ वैज्ञानिक प्र... (scientific management) में उत्पादन क्रियाओं के सुधार पर ही अधि... धिक ध्यान दिया जाता है, वहाँ धधों के वैज्ञानीकरण में धंधे की आर्थिक स्थिति सुधारने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। धधों का वैज्ञानीकरण दे... आर्थिक सगठन को दृष्टि में रख कर धंधे के योजनाबद्ध पुनर्संगठन का दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक प्रबन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि धंधे में कारखानों का मिलन या सयोग (combination) हो, परन्तु धंधे के वैज्ञानीकरण में कारखानों का मिलन या सयोग कुछ हद तक आवश्यक है। सच तो यह है कि धधों का वैज्ञानीकरण एक औद्योगिक नीति है, जिसको सफल बनाने के लिए प्रभावशाली नेतृत्व और धन्धे पर नियत्रण स्थापित करना आवश्यक है। इस कारण धधे के वैज्ञानीकरण के साथ-साथ धधे में ट्रस्ट (trust) अथवा एकाधिपत्य स्थापित हो जाना अनिवार्य है।

वैज्ञानीकरण के लाभ : धंधों के वैज्ञानीकरण का एक बड़ा ला... यह है कि देश का आर्थिक सगठन बहुत व्यवस्थित हो जाता है, न्यूनतम व्यय... अधिकतम उत्पादन होता है। लागत-व्यय (cost of production) कम हो जाता है, वस्तुओं के मूल्य गिरते हैं, और उनकी माग बढने से उत्पादन बढ़...

श्रम, कच्चा माल तथा शक्ति का अपव्यय रुक जाता है। जहाँ तक उपभोक्ताओं (consumers) का सम्बन्ध है उन्हें वस्तुएं कम मूल्य पर मिलती हैं। उत्पादकों (producers) के लिए भी धंधों के वैज्ञानीकरण से यह लाभ है कि उनकी वस्तुओं की माग बढती है, बाजार विस्तृत होता है, कारबार चमकता है और लाभ अधिक होता है। जब धंधों का वैज्ञानीकरण होता है तो मिलन अथवा संयोग से बहुत बडे भीमकाय सगठन खड़े होते हैं। उन्हें पूँजी कम सूद पर मिलती है। इन बड़े कारखानों के आर्थिक साधन बहुत अधिक होने के कारण वे आधुनिकतम मशीनें खरीद सकते हैं, अनुसधान और खोज पर व्यय कर सकते हैं और योग्य व्यक्तियों को नौकर रख सकते हैं। समाज को भी धंधों के वैज्ञानीकरण से लाभ होता है, क्योंकि धंधे आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिवान और स्थायी हो जाते हैं, उनका कारबार अधिक विस्तृत होने से उनके असफल होने की जोखिम कम रहती है, और उत्पादन में स्थायित्व आता है। सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं का मूल्य गिरने से मजदूरों तथा निम्न वर्ग के रहन-सहन का दर्जा ऊंचा उठता है।

वैज्ञानीकरण की कठिनाइयां : यद्यपि वैज्ञानीकरण के ऊपर लिखे लाभ हैं, परन्तु वैज्ञानीकरण की कुछ कठिनाइयां भी हैं जो कि वैज्ञानीकरण के रास्ते में उपस्थित होती हैं और जिनको लेकर लोग इसकी आलोचना करते हैं। सबसे पहली कठिनाई मूल्यनिर्धारण की नीति से ही सम्बन्ध रखती है। हम वैज्ञानीकरण के लाभ गिनाते समय कह आये हैं कि वैज्ञानीकरण का अर्थ है, मूल्य का कम होना। परन्तु जब धंधे में एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित हो जाता है, तो यह खतरा बराबर बना रहता है कि व्यवसायी उस एकाधिपत्य का अनुचित लाभ उठाकर एकाधिकार मूल्य (monopoly price) न लेने लगें। जब धंधे में प्रतिस्पर्द्धा होती है और भिन्न-भिन्न उत्पादक एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा (competition) करते हैं, तो बाजार में माग (demand) और पूर्ति (supply) के प्रभाव से मूल्य निश्चित होता है। प्रत्येक फर्म को उस बाजार-मूल्य से अपनी उत्पत्ति को निश्चित करना पड़ता है। लेकिन वैज्ञानीकरण में यह सम्भव नहीं होगा। व्यवसायी समाज के हितों का ध्यान न रखके वस्तुओं का मूल्य बढ़ा सकते हैं, उनको केवल सरकार ही रोक सकती है। इस खतरे से बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं है।

योग्य नेतृत्व की समस्या : धंधों के वैज्ञानीकरण में दूसरी कठिनाई योग्य नेतृत्व का उपस्थित होना है। जब धंधों का वैज्ञानीकरण (ration-

sation of industries) होता है, तो बहुत दक्ष और योग्य व्यावसायिक की आवश्यकता होती है। यह सम्भव है कि इस पीढ़ी में वैसा योग्य नेतृत्व हो सके। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आने वाली पीढियाँ भी उतने दक्ष योग्य व्यावसायिक नेता उत्पन्न कर सकें। धधों के वैज्ञानीकरण के फलस्वरूप भीमकाय व्यवसायिक सयोग के मिलन (combination) खडे हो रहे हैं, प्रतिस्पर्द्धा में कोई छोटा कारखाना खड़ा नहीं हो सकता। इन भीमकाय व्यावसायिक सगठनों के फलस्वरूप जो कल्पनानीत आर्थिक शक्ति कुछ थोड़े व्यावसायियों के हाथ मे आजाती है, उसके कारण महत्त्वाकांक्षी तरुण व्यक्ति को व्यवसाय में पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। अत्यन्त उच्च कोटि व्यवसायिक बुद्धि अथवा योग्यता रखने वालों को भी इन बडे ट्रस्टों अथवा व्यावसायिक सगठनों का पुर्जा मात्र वन कर रहने पर विवश होना पड़ता है वे स्वतत्र रूप से अपना व्यवसाय खड़ा नहीं कर सकते। इसका परिणाम भविष्य में यह हो सकता है कि समाज में व्यावसायिक नेतृत्व का सर्वथा अभाव हो जावे। भविष्य में धधों के वैज्ञानीकरण हो जाने पर व्यावसायिक नेतृत्व का प्रश्न एक गम्भीर समस्या के रूप मे उपस्थित हो सकता है।

धधों का वैज्ञानीकरण और बेकारी—धधों के वैज्ञानीकरण (rationalisation of industries) के विरुद्ध एक वात यह कही जाती है कि उसके कारण वेकारी फैलेगी। वैज्ञानीकरण का प्रधान उद्देश्य यह है कि प्रति मजदूर अधिक से अधिक उत्पादन हो। धधे के वैज्ञानीकरण से सम्बधित होने वाले परिवर्तनों का परिणाम श्रम (labour) की वचत होती है। कहने का तात्पर्य यह कि पहले से कम मजदूरों की आवश्यकता होती है। जहाँ-जहाँ धधों का वैज्ञानीकरण हुआ है वहा-वहा प्रति मजदूर उत्पादन वहुत अधिक वढ गया है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि धधों के वेज्ञानीकरण के फलस्वरूप वेकारी फैलती है।

किन्तु वैज्ञानीकरण कई तरह का होता है, और सव प्रकार के वैज्ञानीकरण मे मजदूरों का वेकार हो जाना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिये, वस्तु आर्थिक वैज्ञानीकरण (financial rationalisation) का परिणाम वेकारी नहीं हो सकती। किन्तु धधों के एकीकरण (integration) और उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं के प्रमाणीकरण (standardisation) से अवश्य कुछ वेकारी फैलती है। यदि धधे का वैज्ञानीकरण उस समय किया जाय जबकि वस्तुओं के मूल्य गिर रहे हों, तो भी वेकारी वढ सकती है। क्योंकि

वस्तुओं का मूल्य गिरता है तो मजदूरी उसी अनुपात में नहीं गिरती। ऐसी
ा में व्यवसायी बचत करने के उद्देश्य से अधिक से अधिक मजदूरों को
टने का प्रयत्न करेगा। परन्तु इससे यह नतीजा निकालना उचित नहीं होगा
धंधों के वैज्ञानीकरण का सर्वदा यही परिमाण होगा, कि मजदूरों में बेकारी
ते। धंधों में अनुसंधान, अन्वेषण तथा सुधार होने से समाज की क्रय-शक्ति
purchasing power) तो घटती नहीं है, केवल क्रय-शक्ति का रुख बदल
ता है। यदि कुछ वस्तुओं की माग कम हो जाती है, तो अन्य वस्तुओं की
ग बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त धंधों के वैज्ञानीकरण के फलस्वरूप वस्तुओं
मूल्य कम हो जाता है और उपभोक्ता (consumers) कम खर्च करके
उतनी ही मात्रा में वस्तुओं को खरीदते हैं जितनी कि पहले खरीदते थे, अत-
उपभोक्ताओं के पास कुछ द्रव्य (money) बच जाता है जो कि वे खर्च कर
कते हैं। यदि उपभोक्ता इस बचे हुए द्रव्य को, खर्च करने अथवा अन्य धंधों
पूँजी (capital) की भांति लगाने के स्थान पर उस द्रव्य को जमीन में
ढ़ कर अथवा तिजोरी में बन्द करके रखलें, तो अवश्य बेकारी बढ सकती
। किन्तु आजकल साधारणत मनुष्य अपनी बचत को गाढ कर नहीं रखता,
या तो वह अन्य वस्तुओं पर व्यय करता है अथवा उसको किसी धंधे में
गाकर अधिक धन कमाता है। अब यदि वह अन्य वस्तुओं पर पहले से अधिक
य करता है, तो उनकी माग बढ़ेगी; और उनका उत्पादन (production)
ने से मजदूरों की माग तो बढ़ेगी ही। इसके अतिरिक्त धंधों के वैज्ञानीकरण
धंधों में लाभ अधिक होता है, जिसके परिणामस्वरूप धंधों में अधिक पूँजी
गने लगती है। अतएव धंधों के वैज्ञानीकरण के फलस्वरूप उपभोक्ता अपनी
चत को अधिकाधिक उद्योग-धंधों में लगाने के लिए उत्साहित होते हैं। यदि
सा हो, तो फिर धंधों के वैज्ञानीकरण के फलस्वरूप बेकारी फैलने का कोई
य नहीं रहता। यही नहीं, कुछ समय के बाद वस्तुओं का मूल्य गिरने से
नसाधारण का रहन-सहन का दर्जा (standard of living) ऊँचा
गा और बेकारी कम हो जावेगी। लोगों को काम अधिक मिलने लगेगा। यह
वश्य है कि धंधों के वैज्ञानीकरण से होने वाला यह परिणाम एक लम्बे समय
उपरान्त दृष्टिगोचर होगा। उस समय तक कुछ बेकारी उत्पन्न हो सकती
। इस परिवर्तन-काल में श्रम (labour) की गतिशीलता (mobility)
म कम होने से मजदूरों को बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ सकती
। यही नहीं, मजदूरों में गतिशीलता की कमी के कारण उन्हें आर्थिक कष्ट
उठाना पड़ता ही है, परन्तु जो औद्योगिक परिवर्तन होना चाहिए उसमें भी

देर लगती है, और मजदूरों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। इस अस्थायी बे
के अलावा धन्धों के वैज्ञानीकरण से अथवा उत्पादन सम्बन्धी सुधारों से बे
नहीं बढती। जरमनी तथा अन्य देशों में, जहाँ-जहाँ धंधों का वैज्ञानीकरण हु
वहाँ यह सिद्ध नहीं हुआ कि वैज्ञानीकरण का अवश्यम्भावी परिणाम म
की बेकारी होता है। उदाहरण के लिए, जब १६२४-२७ में जरमनी में
नीकरण हुआ तो पहले १८ महीनों में बेकारी कम हुई, बाद के १८ महीनों
भीषण बेकारी फैली और अन्तिम वर्ष में फिर बेकारी बहुत कम हो गई।
यह कहना बहुत कठिन है कि धन्धों के वैज्ञानीकरण और बेकारी का
सम्बन्ध है।

परिच्छेद १३

पूँजी (Capital)

पूँजी (Capital) क्या है ? अर्थशास्त्र में पूँजी को लेकर बहुत धिक विवाद उपस्थित होता है। सभी अर्थशास्त्रज्ञ इस बात में एक मत हैं कि जी; धन या सम्पत्ति (wealth) की उत्पत्ति का एक साधन (factor) है। थ ही सभी अर्थशास्त्री इस बात पर भी एक मत हैं कि पूँजी प्रारम्भिक थवा मूल साधन नहीं है। प्रारम्भिक अथवा मूल साधन तो भूमि (land) और श्रम (labour) ही हैं। अस्तु; जहाँ तक पूँजी को उत्पत्ति का एक साधन मानने की बात है, अर्थशास्त्रियों में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु पूँजी के अन्तर्गत हम किन वस्तुओं की गणना करें इसमें बहुत मतभेद है। इस सम्बन्ध में कोई एक मत नहीं है कि पूँजी के अन्तर्गत हम किन वस्तुओं की गणना करें। पूँजी के सम्बन्ध में जो शास्त्रीय मत है वह प्रचलित मत से भिन्न है। अतएव हम पहले प्रचलित मत का अध्ययन करेंगे।

पूँजी उन वस्तुओं को कहते हैं जिनका उपयोग उत्पादन के लिए हो : यदि हम किसी व्यवसायी से पूछें कि तुम्हारे धंधे में कितनी पूँजी लगी हुई है, तो सम्भवत. उसने जितना रुपया इमारतों, मशीनों, तथा कच्चा माल इत्यादि मोल लेने में लगाया है वह उसको बतादेगा; हो सकता है कि अपने कारखाने के चलते हुए रूप में उसका जितना मूल्य है उसको उस कारखाने की पूँजी बतावे। इस दशा में वह इमारतों, मशीनों, या कच्चे माल इत्यादि का मूल्य ही नहीं बतावेगा, वरन अपने कारखाने की प्रसिद्धि (goodwill) भी उसमें सम्मिलित कर लेगा। लेकिन अर्थशास्त्री का पूँजी (capital) के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसका पूँजी से अर्थ उन वस्तुओं और साधनों से होता है (प्रकृति और श्रम को छोड़कर), जिनका उपयोग उत्पादन में हो। अर्थशास्त्र में पूँजी या पूर्व पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) से होता है, अर्थात् वे वस्तुएँ जो कि मनुष्य के पिछले श्रम का फल होती हैं, और जिनका उनका उपभोग (consumption) न करके धन या सम्पत्ति (wealth) के उत्पादन में उपयोग करना अभीष्ट होता है। उदाहरण के लिए, मकान या इमारतें, जिनमें उद्योग धंधे चलते हैं, फरनीचर और यन्त्र, जिनका उपयोग उत्पादन में होता है; कच्चा माल जिसको तैयार माल में परिवर्तन किया जा

और वे खाद्य तथा अन्य पदार्थ जिन पर निर्भर रहकर मज़दूर उत्पादन ... है, पूँजीगत वस्तुएँ (capital goods) माने जावेंगे, और उनको ही, अर्थशास्त्र की परिभाषा मे पूँजी (capital) कहेंगे।

यही कारण है कि अर्थशास्त्रियों ने पूँजी की परिभाषा इस प्रकार ... है—"पूँजी उत्पत्ति (production) के उत्पन्न किए हुए साधनों को ... हैं।" इस सम्बन्ध मे "उत्पन्न किए हुए" शब्द पर अधिक ध्यान देने ... आवश्यकता है। सभी पूँजीगत वस्तुएँ पिछले किये गए मानवीय श्रम ... परिणाम हैं। इस दृष्टि से पूँजी और भूमि तथा श्रम मे भेद है। भूमि और श्रम पिछले किये गए श्रम का परिणाम नही है। कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं ... भूमि को पूँजी स्वीकार करते हैं, और कुछ तो श्रम को भी पूँजी के अन्तर्गत मानने को तैयार हैं। इसमे संदेह नही कि पूँजी शब्द के अर्थ को हम इतना व्यापक मान सकते हैं कि उसमें भूमि का भी समावेश कर लिया जाय। परन्तु अधिकाश अर्थशास्त्रियों का मत है कि भूमि को पूँजी के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस सम्बन्ध मे हम आगे चलकर विस्तारपूर्वक लिखेंगे। पूँजी, श्रम और प्रकृति के साधनों के व्यय से उत्पन्न होती है। 'विकसेल' के शब्दों में पूँजी वर्षों के समय में बचाये और इकट्ठा किये गए श्रम और भूमि ... एक रूप है।

पूँजी उन वस्तुओं से भिन्न है जिनका तुरन्त उपभोग कर लिया जाता है। किन्तु पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) और उपभोग-पदार्थों (consumption goods) मे एक श्रेणी का ही भेद है। एक ही पदार्थ ... समय पूँजीगत वस्तु हो सकता है, और दूसरे क्षण उपभोग-पदार्थ हो सकता है। उदाहरण के लिए, मैं जिस मकान में रहता हूँ वह पूँजी नही है, परन्तु ... मै उसमे एक प्रेस खड़ा कर देता हूँ, तो वह पूँजी हो जाता है। ... प्रकार जो कोयला हम अपने मकान को गरम करने या खाना पकाने के ... में लाते हैं, वह पूँजी नही है; परन्तु जो कोयला इञ्जन मे शक्ति उत्पन्न ... या किसी लोहे के कारखाने मे लोहा गलाने के काम आता है, वह ... कहलावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थ पूँजी भी हो सकता है और पूँजी नहीं भी हो सकता है। उनमे कोई मौलिक भेद नहीं होता। ... उनके उपयोग पर निर्भर होता है, कि वह पूँजी के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं अथवा नहीं।

पूँजी के सम्बन्ध मे अधिकाश अर्थशास्त्रियों का ऊपर लिखा हुआ मत ... प्रचलित आर्थिक मत यही है कि पूँजी वह सञ्चित किया हुआ धन या ...

wealth) है जिसको अधिक धन या सम्पत्ति के उत्पन्न करने में व्यय या जावे। परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों—जिनमें फिशर मुख्य हैं—का मत इससे न है। उनका पूँजी (capital) के सम्बन्ध में अधिक तर्कपूर्ण और के संगत मत है। वे पूँजी को आय से सम्बन्धित करते हैं। उनका कहना है पूँजी और आय का गहरा सम्बन्ध है। अस्तु, उनके मतानुसार पूँजी वह ार्थ अथवा वस्तुएँ हैं जिनसे हमें आय होती है। किन्तु द्रव्य (money) से ने वाली आय से हमको वास्तविक आय का अनुमान मात्र होता है, उसके छे वास्तविक आय (real income) छिपी होती है। वास्तविक आय किसी तु के उपभोग (consumption) से मिलने वाली उपयोगिता (utility) ा कहते हैं। अस्तु, आय किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली उपयोगिता अथवा तृप्ति ो कहते हैं। अतएव फिशर इत्यादि का कहना है कि क्योंकि सभी वस्तुओं से हमें पयोगिता प्राप्त होती है, इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ हुआ कि सब प्रकार ा धन या सम्पत्ति (wealth) से हमें उपयोगिता (utility) मिलती है, तः सब धन या सम्पत्ति पूँजी (capital) हुई। दूसरे शब्दों में फिशर का हना है कि धन या सम्पत्ति ही पूँजी है। आय वस्तुओं से मिलने वाली उपयोगिता का अविरल प्रवाह है जो एक निश्चित समय में उन वस्तुओं से प्राप्त होता है। और पूँजी उन उपयोगिताओं के कोष का वर्तमान मूल्य है। फिशर की पूँजी की यह परिभाषा, कि सभी धन या सम्पत्ति पूँजी हैं, तर्कपूर्ण अवश्य है, परन्तु व्यवहार में उसको स्वीकार करना कठिन है। यही कारण है कि अधिकांश अर्थशास्त्री पूँजी की ऊपर दी हुई परिभाषा "पूँजी वह संचित की हुई सम्पत्ति या धन है कि जिसका अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने में उपयोग किया जाय" स्वीकार करते हैं।

क्या भूमि पूँजी है ? अर्थशास्त्री प्रकृति-दत्त वस्तुओं को, जो धन या सम्पत्ति के उत्पादन में सहायक होती हैं, भूमि (land) के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र उत्पत्ति के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। अस्तु, वे भूमि को पूँजी से पृथक मानते हैं। परन्तु कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं, जिनका मत है कि भूमि तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की पूँजी में कोई अन्तर नहीं है। जो लोग पूँजी और भूमि में भेद करते हैं, यह उनका भ्रम है, और आर्थिक अध्ययन के लिए व्यर्थ की बात है। भूमि और पूँजी में नीचे लिखे आधार पर भेद किया जाता है—प्रथम—भूमि प्रकृति द्वारा दी हुई मुफ्त वस्तु (free good) है, जबकि पूँजी श्रम का परिणाम है, अर्थात् श्रम द्वारा उत्पन्न है। दूसरा भेद यह है कि भूमि नष्ट न होने वाली वस्तु है, जबकि पूँजी का विनाश हो जाता है।

तीसरे भूमि की मात्रा निश्चित है। प्रकृति ने जितनी भूमि को उत्पन्न कि‍.
उससे अधिक भूमि बढाई नहीं जा सकती, क्योंकि उसको उत्पन्न नहीं
जा सकता। चौथा भेद उन नियमों के आधार पर किया जाता है कि जो
अथवा पूँजी से होने वाली आय को निर्धारित करते हैं। कहने का तात्पर्य
है कि भूमि से तथा पूँजी से होने वाली आय जिन नियमों से निर्धारित होती
वे एक समान नहीं हैं। वे भिन्न-भिन्न हैं इस आधार पर भूमि और पूँजी में भेद
किया जाता है।

भूमि प्रकृति-दत्त मुक्त वस्तु है (Land is free Gift of Nature)
भूमि और पूँजी को एक न मानने वालों का पहला तर्क यह है कि भूमि प्रकृति-दत्त
मुक्त वस्तु है, जबकि पूँजी श्रम (labour) के परिश्रम का परिणाम है। जो विद्वान्
भूमि और पूँजी में कोई भेद नहीं मानते, उनका कहना है कि इस प्रकार
अन्य वस्तुएँ भी अपने मूल रूप में प्रकृति-दत्त-मुक्त वस्तुएँ ही होती हैं। उदाहरण
के लिए एक मशीन को ले लीजिए। मूल रूप में तो वह भी लोहा ही था,
कि प्रकृति-दत्त मुक्त वस्तु है। उनका कहना यह भी है कि अधिकतर भूमि
मनुष्य ने इतना ही अधिक परिश्रम किया है जितना कि वह मूल्यवान् वस्तु
को उत्पन्न करने में करता है। यदि मनुष्य ने कल्पनातीत परिश्रम करके भूमि
को खेती के योग्य न बनाया होता, बाँध, कुयें और नहरें बनाकर उन
सिंचाई के साधन उपलब्ध न किए होते, उन पर खाद डालकर उनकी उर्वरा
शक्ति को न बढाया होता, बाढ लगा कर उस पर उत्पन्न होने वाली फसल
रक्षा न की होती, तो अधिकाश भूमि आज बेकार होती, उस पर कुछ भी उत्पन्न
न हो सकता। इसमें तो तनक भी सदेह नहीं कि आज जो खेती की भूमि
दिखलाई देती है, वह प्रकृति-दत्त भूमि से सर्वथा भिन्न है, और युगों-युगों
चले आ रहे मनुष्य के सचित श्रम का परिणाम है। जो विद्वान् भूमि और पूँजी
मे कोई भेद नहीं मानते, उनका कहना है कि यह कोई कारण नहीं है कि
मनुष्य भूमि पर अपना श्रम (labour) लगावे और उसको एक उत्पादक
(खेत) के रूप में परिणत करदे, तो उसको पूँजी न माना जावे। और जब
श्रम भूमि के गर्भ मे प्रकृति द्वारा सचित किए हुए लोहे को निकाल कर
गला कर तथा अन्य क्रियायें करके मशीन के रूप में परिणत कर दे
उसको पूँजी मान लिया जाय। उनका यह उचित प्रश्न है कि मनुष्य के
द्वारा निर्मित खेत और मशीन मे अन्तर कहा है। दोनों का स्वरूप एक है
।५न उनमें भेद करना उचित न होगा।

दूसरा तर्क कि भूमि नाशवान नहीं है जबकि अन्य वस्तुएँ नाशवान् भी युक्तिसगत नहीं है। आर्थिक दृष्टि से भूमि उतनी ही नाशवान् है तनी कि पूंजीगत वस्तुएँ नाशवान हैं। यह तो सभी जानते हैं कि भूमि के वे सायनिक तत्व जिन पर भूमि की उर्वराशक्ति निर्भर है, नष्ट हो जाते हैं। नको पूरा करने के लिए ही हमें भूमि को खाद देनी पड़ती है। यदि भूमि में ाद के द्वारा उन तत्वों को फिर न वापस पहुंचाया जावे तो कुछ वर्षों में वह त बेकार हो जावें और उन पर फसल उत्पन्न न हो सके। अच्छी से अच्छी मि भी खाद न देने से कुछ वर्षों के उपरान्त बेकार हो जावेगी। अतएव र्थिक दृष्टि से भूमि भी उतनी ही नाशवान् है जितने कि अन्य पूंजीगत पदार्थ capital goods) नाशवान हैं।

उन विद्वानों का, जो भूमि और पूंजी में भेद करते हैं, तीसरा तर्क यह , कि भौगोलिक दृष्टि से भूमि निश्चित है, उसको बढ़ाया नहीं जा सकता, बकि अन्य पदार्थों को उत्पन्न करके उनकी मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। स दृष्टि से पृथ्वी में जितने पदार्थ हैं उनकी मात्रा निश्चित है, उनको बढ़ाया हीं जा सकता। क्या लोहे की मात्रा निश्चित नहीं है? लोहे की खानों में कृति ने जितना लोहा भर दिया है, उससे अधिक लोहा तो मनुष्य पैदा नहीं र सकता। खानें तो कभी भी न समाप्त होने वाली नहीं हैं। वे एक न क दिन समाप्त होंगी। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि नई मि बिलकुल अप्राप्य है। आज भी बहुत से प्रदेश हैं जहां कि भूमि बेकार पड़ी है। समय आने पर तथा भूमि की अधिक कमी मालूम पड़ने पर मनुष्य उसको ी उपयोग में लावेगा। उदाहरण के लिए, सायबेरिया इत्यादि भागों में भूमि ा काम में लाया जाने लगा है। फिर एक बात और भी है। प्रसिद्ध अर्थ ास्त्री 'कैनन' के मतानुसार मनुष्य के लिए इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है कि भूमि कितनी मात्रा में है, परन्तु इस बात का महत्त्व है कि वास्तव में उसकी उर्वरा-शक्ति कितनी है। एक तरह भूमि की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाना ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक टन लोहे को हम स्टीम ऐंजिन के रूप में दल देते हैं, तो उस लोहे की संचालन शक्ति (horse power) में वृद्धि हो जाती है।

पूंजी और भूमि में चौथा भेद यह बताया जाता है, कि पूंजी में होने वाली खाद एक समय पर एक ही बाजार अर्थात् एक ही क्षेत्र में एक समान दर से होगी। इसको यदि हम अधिक स्पष्ट करें, तो कह सकते हैं कि पूंजी के

होने वाली आय एक स्थान और एक समय में एक समान होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि पूंजी से होने वाली आय एक ही स्थान और एक ही समय में भिन्न-भिन्न हो। इसके विपरीत भूमि से होने वाली आय (लगान) एक ही समय, एक ही स्थान पर एक समान नहीं होती। हम देखते हैं कि एक ही स्थान में एक खेत की प्रति बीघा लगान अधिक होती है और दूसरे खेत की प्रति बीघा लगान कम होती है। इसका उत्तर वे लोग जो कि भूमि और पूंजी में भेद नहीं मानते, यह देते हैं कि भूमि और पूंजी से होने वाली आय को नापने के आधार भिन्न हैं, इसी कारण दोनों से होने वाली आय के रूप में यह भिन्नता पाई जाती है। उनका कहना है, कि भूमि से होने वाली आय अर्थात् लगान को नापने का आधार सतह का क्षेत्रफल है, और पूँजी से होने वाली आय अर्थात् सूद को नापने का आधार उसका मूल्य है। इसी आधार की भिन्नता के कारण यह भिन्नता है।

भूमि और पूँजी का भेद केवल श्रेणी का भेद है इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भूमि और पूँजी मे बहुत कुछ साम्य है। जो विद्वान् भूमि और पूंजी को उत्पत्ति के पृथक साधन मानते हैं, वे भी इस साम्य को बिलकुल अस्वीकार करते हों, ऐसी बात नहीं है। वास्तविक बात यह है कि इन दोनों में कोई मूलभूत भेद नही है। केवल श्रेणी का भेद है। यद्यपि भूमि और पूंजी में बहुत कुछ साम्य है, किन्तु उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। भूमि की कमी एक साधारण और स्थायी बात है। हम सभी जानते हैं कि आज जिन देशों में भी तनक जन सख्या बढ गई है, वहाँ भूमि का टोटा हो गया है। इसके विपरीत अन्य पदार्थों की कमी अस्थायी और अपवादरूप से ही होती है। भूमि की कमी हमें बहुत जल्दी प्रतीत होने लगती है, अन्य पदार्थों की कमी इतनी अधिक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि बहुत से पदार्थ एक ही काम मे आते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक उन्नति या आर्थिक विकास का भूमि तथा अन्य पदार्थों पर एक समान प्रभाव नहीं पड़ता। जब भौतिक सभ्यता का अधिकाधिक विकास होता है, समाज की आर्थिक उन्नति होती है, तब अन्य पदार्थों का मूल्य गिरने लगता है, वे सस्ते होने लगते हैं, किन्तु भूमि का मूल्य ऊंचा चढने लगता है। यदि हम औद्योगिक क्रान्ति के बाद के काल का अध्ययन करें, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी से आज तक के आर्थिक इतिहास को देखें, तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि जहा समाज द्वारा व्यवहार मे लाई जाने वाली अन्य वस्तुओं का मूल्य गिरता गया है, वहाँ भूमि का मूल्य जनसख्या के बढने पर बराबर बढता गया है। अतएव भूमि और पूंजी में बहुत कुछ साम्य होने पर भी हम इन दोनों को इस आधार पर पृ

न सकते हैं, कि भूमि की पूर्ति (supply) कम लचीली (inelastic) अथवा क्हीन है। यही कारण है कि यदि हम भूमि को उत्पत्ति के एक पृथक धन के रूप में अध्ययन करें, तो यह अनुचित नहीं होगा।

पूंजी का वर्गीकरण : हम पूंजी का वर्गीकरण समाज तथा व्यक्ति के ष्टिकोण से कर सकते हैं। यदि हम इस आधार पर पूंजी का वर्गीकरण करें हम पूंजी को दो श्रेणियों में बांट सकते हैं (१) सामाजिक पूंजी (social pital) तथा (२) व्यक्तिगत पूंजी (private capital)। जैसा कि हम ले ही कह चुके हैं कि सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि को छोड़कर व सभी र्थ जिनसे आमदनी होती है, पूंजी के अन्तर्गत हैं। सामाजिक पूंजी में वह तुएँ भी सम्मिलित करली जावेंगी, जिनपर राज्य का स्वामित्व है। व्यक्तिगत थवा निजी पूंजी (private capital) वह पूंजी है जिससे व्यक्ति आय त करने की आशा करता है। यहाँ सामाजिक पूंजी तथा व्यक्तिगत पूंजी भेद को जान लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, किसी देश की रकार अपने नागरिकों से ऋण लेती है। तो जहाँ तक नागरिकों के दृष्टिकोण हम देखें तो यह ऋण उनकी व्यक्तिगत अथवा निजी पूंजी है, क्योंकि उससे में एक निश्चित आय की आशा है। यह ऋण सामाजिक पूंजी में म्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे समाज को कोई आय प्त नहीं होती।

सामाजिक पूंजी को भी दो श्रेणियों में बाटा जाता है, (१) उपभोक्ताओं की पूंजी (consumers capital) तथा (२) उत्पादकों की पूंजी (producers capital)। उपभोक्ताओं की पूंजी के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं, जिन पर धन की उत्पत्ति करते समय उपभोक्ता निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, एक मज़दूर जो कि उपभोक्ता (consumer) है, मकान जिसमें कि वह रहता है, खाद्य पदार्थ जिनको खाकर वह जीवित रहता है और शक्ति सञ्चय करता है। उसके उत्पादन-कार्य के लिए उपर लिखी वस्तुओं का उपभोग आवश्यक है अतः इन वस्तुओं को उपभोक्ताओं की पूंजी कहेंगे।

उत्पादकों की पूंजी (producers capital) के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएँ आती हैं जो उत्पादन-कार्य में सहायता करती हैं। उदाहरण के लिए, मशीनें, औज़ार, फैक्टरियां, रेलवे, जहाज इत्यादि उत्पादकों की पूंजी के अन्तर्गत गिने जावेंगे।

होने वाली आय एक स्थान और एक समय में एक समान होगी। यह नहीं हो सकता कि पूंजी से होने वाली आय एक ही स्थान और एक ही समय में भिन्न-भिन्न हो। इसके विपरीत भूमि से होने वाली आय (लगान) एक ही समय एक ही स्थान पर एक समान नहीं होती। हम देखते हैं कि ऐक ही स्थान में एक खेत की प्रति बीघा लगान अधिक होती है और दूसरे खेत की प्रति बीघा लगान कम होती है। इसका उत्तर वे लोग जो कि भूमि और पूंजी में भेद नहीं मानते, यह देते हैं कि भूमि और पूंजी से होने वाली आय को नापने के आधार ही भिन्न हैं, इसी कारण दोनो से होने वाली आय के रूप मे यह भिन्नता पाई जाती है। उनका कहना है, कि भूमि से होने वाली आय अर्थात् लगान को नापने का आधार सतह का क्षेत्रफल है, और पूँजी से होने वाली आय अर्थात् सूद को नापने का आधार उसका मूल्य है। इसी आधार की भिन्नता के कारण यह भिन्नता है।

भूमि और पूँजी का भेद केवल श्रेणी का भेद है इसमें कोई सदेह नहीं है कि भूमि और पूँजी मे बहुत कुछ साम्य है। जो विद्वान् भूमि और पूंजी को उत्पत्ति के पृथक साधन मानते हैं, वे भी इस साम्य को बिलकुल अस्वीकार करते हों, ऐसी बात नहीं है। वास्तविक बात यह है कि इन दोनों म कोई मूलभूत भेद नही है। केवल श्रेणी का भेद है। यद्यपि भूमि और पूंजी म बहुत कुछ साम्य है, किन्तु उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। भूमि की कमी एक साधारण और स्थायी बात है। हम सभी जानते हैं कि आज जिन देशों में भी तनक जन सख्या बढ गई है, वहाँ भूमि का टोटा हो गया है। इसके विपरीत अन्य पदार्थों की कमी अस्थायी और अपवादरूप से ही होती है। भूमि की कमी हमें बहुत जल्दी प्रतीत होने लगती है, अन्य पदार्थों की कमी इतनी अधिक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि बहुत से पदार्थ एक ही काम मे आते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक उन्नति या आर्थिक विकास का भूमि तथा अन्य पदार्थों पर एक समान प्रभाव नहीं पड़ता। जब भौतिक सभ्यता का अधिकाधिक विकास होता है, समाज की आर्थिक उन्नति होती है, तब अन्य पदार्थों का मूल्य गिरने लगता है, वे सस्ते होने लगते हैं, किन्तु भूमि का मूल्य ऊंचा चढने लगता है। यदि हम औद्योगिक क्रान्ति के बाद के काल का अध्ययन करें, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी म आज तक के आर्थिक इतिहास को देखें, तो हम स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि जहा समाज द्वारा व्यवहार मे लाई जाने वाली अन्य वस्तुओं का मूल्य गिरता गया है, वहाँ भूमि का मूल्य जनसख्या के बढने पर बराबर बढता गया है। अतएव भूमि और पूंजी में बहुत कुछ साम्य होने पर भी हम इन दोनों को इस आधार पर पृथक

मान सकते हैं, कि भूमि की पूर्ति (supply) कम लचीली (inelastic) अथवा अनकटीन है। यही कारण है कि यदि हम भूमि को उत्पत्ति के एक पृथक साधन के रूप में अध्ययन करें, तो यह अनुचित नहीं होगा।

पूंजी का वर्गीकरण : हम पूंजी का वर्गीकरण समाज तथा व्यक्ति के दृष्टिकोण से कर सकते हैं। यदि हम इस आधार पर पूंजी का वर्गीकरण करें तो हम पूंजी को दो श्रेणियों में बांट सकते हैं (१) सामाजिक पूंजी (social capital) तथा (२) व्यक्तिगत पूंजी (private capital)। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि को छोड़कर वे सभी पदार्थ जिनसे आमदनी होती है, पूंजी के अन्तर्गत हैं। सामाजिक पूंजी में वह वस्तुएँ भी सम्मिलित करली जावेंगी, जिनपर राज्य का स्वामित्व है। व्यक्तिगत अथवा निजी पूंजी (private capital) वह पूंजी है जिससे व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा करता है। यहाँ सामाजिक पूंजी तथा व्यक्तिगत पूंजी के भेद को जान लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, किसी देश की सरकार अपने नागरिकों से ऋण लेती है। तो जहाँ तक नागरिकों के दृष्टिकोण से हम देखें तो यह ऋण उनकी व्यक्तिगत अथवा निजी पूंजी है, क्योंकि उससे उन्हें एक निश्चित आय की आशा है। यह ऋण सामाजिक पूंजी में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे समाज को कोई आय प्राप्त नहीं होती।

सामाजिक पूंजी को भी दो श्रेणियों में बांटा जाता है, (१) उपभोक्ताओं की पूंजी (consumers capital) तथा (२) उत्पादकों की पूंजी (producers capital)। उपभोक्ताओं की पूंजी के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं, जिन पर धन की उत्पत्ति करते समय उपभोक्ता निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, एक मजदूर जो कि उपभोक्ता (consumer) है, मकान जिसमें कि वह रहता है, खाद्य पदार्थ जिनको खाकर वह जीवित रहता है और शक्ति संचय करता है। उसके इस कार्य के लिए ऊपर लिखी वस्तुओं का उपभोग आवश्यक है अतः इन वस्तुओं को उपभोक्ताओं की पूंजी कहेंगे।

उत्पादकों की पूंजी (producers capital) के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएँ आती हैं जो उत्पादन-कार्य में श्रमजीवियों की सहायता करती हैं। उदाहरण के लिए, मशीनें, औजार, फैक्टरियां, रेलवे, जहाज इत्यादि उत्पादकों की पूंजी के

होने वाली आय एक स्थान और एक समय में एक समान होगी। यह नहीं हो सकता कि पूंजी से होने वाली आय एक ही स्थान और एक ही समय में भिन्न भिन्न हो। इसके विपरीत भूमि से होने वाली आय (लगान) एक ही समय एक ही स्थान पर एक समान नहीं होती। हम देखते हैं कि एक ही स्थान में एक खेत की प्रति बीघा लगान अधिक होती है और दूसरे खेत की प्रति बीघा लगान कम होती है। इसका उत्तर वे लोग जो कि भूमि और पूंजी में भेद नहीं मानते यह देते हैं कि भूमि और पूंजी से होने वाली आय को नापने के आधार ही भिन्न हैं, इसी कारण दोनों से होने वाली आय के रूप में यह भिन्नता पाई जाती है। उनका कहना है, कि भूमि से होने वाली आय अर्थात् लगान को नापने का आधार सतह का क्षेत्रफल है, और पूँजी से होने वाली आय अर्थात् सूद को नापने का आधार उसका मूल्य है। इसी आधार की भिन्नता के कारण यह भिन्नता है।

भूमि और पूँजी का भेद केवल श्रेणी का भेद है इसमें कोई संदेह नहीं है कि भूमि और पूँजी में बहुत कुछ साम्य है। जो विद्वान् भूमि और पूंजी को उत्पत्ति के पृथक साधन मानते हैं, वे भी इस साम्य को बिलकुल अस्वीकार करते हों, ऐसी बात नहीं है। वास्तविक बात यह है कि इन दोनों में कोई मूलभूत भेद नहीं है। केवल श्रेणी का भेद है। यद्यपि भूमि और पूंजी में बहुत कुछ साम्य है, किन्तु उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। भूमि की कमी एक साधारण और स्थायी बात है। हम सभी जानते हैं कि आज जिन देशों में भी तनक जन संख्या बढ़ गई है, वहाँ भूमि का टोटा हो गया है। इसके विपरीत अन्य पदार्थों की कमी अस्थायी और अपवादरूप से ही होती है। भूमि की कमी हमें बहुत जल्दी प्रतीत होने लगती है, अन्य पदार्थों की कमी इतनी अधिक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि बहुत से पदार्थ एक ही काम में आते हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक उन्नति या आर्थिक विकास का भूमि तथा अन्य पदार्थों पर एक समान प्रभाव नहीं पड़ता। जब भौतिक सभ्यता का अधिकाधिक विकास होता है, समाज की आर्थिक उन्नति होती है, तब अन्य पदार्थों का मूल्य गिरने लगता है, वे सस्ते होने लगते हैं; किन्तु भूमि का मूल्य ऊंचा चढ़ने लगता है। यदि हम औद्योगिक क्रान्ति के बाद के काल का अध्ययन करें, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी से आज तक के आर्थिक इतिहास को देखें, तो हमें स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि जहा समाज द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली अन्य वस्तुओं का मूल्य गिरता गया है, वहाँ भूमि का मूल्य जनसंख्या के बढ़ने पर बराबर बढ़ता गया है। अतएव भूमि और पूंजी में बहुत कुछ साम्य होने पर भी हम इन दोनों को इस आधार पर पृथक

जान सकते हैं, कि भूमि की पूर्ति (supply) कम लचीली (inelastic) अनकहीन है। यही कारण है कि यदि हम भूमि को उत्पत्ति के एक साधन के रूप में अध्ययन करें, तो यह अनुचित नहीं होगा।

पूंजी का वर्गीकरण : हम पूंजी का वर्गीकरण समाज तथा व्यक्ति दृष्टिकोण से कर सकते हैं। यदि हम इस आधार पर पूंजी का वर्गीकरण तो हम पूंजी को दो श्रेणियों में बाट सकते हैं (१) सामाजिक पूंजी (social capital) तथा (२) व्यक्तिगत पूंजी (private capital)। जैसा कि पहले ही कह चुके हैं कि सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि को छोड़कर व पदार्थ जिनसे आमदनी होती है, पूंजी के अन्तर्गत है। सामाजिक पूंजी वस्तुएँ भी सम्मिलित करली जावेंगी, जिसपर राज्य का स्वामित्व है। व्यक्ति अथवा निजी पूंजी (private capital) वह पूंजी है जिससे व्यक्ति प्राप्त करने की आशा करता है। यहाँ सामाजिक पूंजी तथा व्यक्तिगत के भेद को जान लेना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, किसी देश सरकार अपने नागरिकों से ऋण लेती है। तो जहाँ तक नागरिकों के दृष्टि से इस देखें तो यह ऋण उनकी व्यक्तिगत अथवा निजी पूंजी है, क्योंकि उन्हें एक निश्चित आय की आशा है। यह ऋण सामाजिक पूंजी सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे समाज को कोई प्राप्त नहीं होती।

सामाजिक पूंजी को भी दो श्रेणियों मे बाटा जाता है, (१) उपभोक्ता की पूंजी (consumers capital) तथा (२) उत्पादकों की पूंजी (producers capital)। उपभोक्ताओं की पूंजी के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं, जिन पर की उत्पत्ति करते समय उपभोक्ता निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए, मजदूर जो कि उपभोक्ता (consumer) है, मकान जिसमें कि वह रहता है, पदार्थ जिनको खाकर वह जीवित रहता है और शक्ति सञ्चय करता है। उत्पादन-कार्य के लिए ऊपर लिखी वस्तुओं का उपभोग आवश्यक है अत. [illegible] उपभोक्ताओं की पूंजी कहेंगे।

उत्पादकों की पूंजी (producers capital) के अन्तर्गत वे सारी [illegible] आती हैं जो उत्पादन-कार्य में श्रमजीवी की सहायता करती हैं। उदाहरण [illegible], मशीनें, औजार, फैक्टरियां, रेलवे, जहाज इत्यादि उत्पादकों की पूंजी [illegible] जायेंगे।

सामाजिक पूंजी को पुनः दो श्रेणियों में और बांटा जाता है। (१) अचल पूंजी (fixed capital) तथा (२) परिचल पूंजी (circulating capital)। अचलपूजी उन पूंजीगत वस्तुओं को कहते हैं जो अधिक टिकाऊ होती हैं और जिनकी उत्पादन-कार्य के लिए उपयोगिता बहुत समय तक बनी रहती है। अर्थात् जिनको उत्पादन-कार्य में बहुत बार उपयोग में लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मशीन अचल पूंजी है, क्योंकि उसकी उपयोगिता बहुत समय तक बनी रहती है। परिचल पूंजी (circulating capital) के अन्तर्गत वे वस्तुएँ आती हैं जो कि केवल एक बार ही उपयोग में आसकती हैं। उदाहरण के लिए, कोयला केवल एक बार ऐंजिन में काम में आता है, इसी प्रकार एक सूती कपड़े के कारखाने में कपास का उपयोग एक बार होता है। जब उस कपास का सूत बन गया तो फिर उसका दुबारा सूत बनाने में उपयोग नहीं हो सकता। एक बार कपास का उपयोग सूत बनाने में हो गया तो फिर वह कपास नहीं रह जाती। इस सम्बंध में हमें पुराने विनियोग (old investments) तथा चल पूंजी (floating capital) के भेद को भी जान लेना चाहिए। जब एक बार द्रव्य (money) मशीनों, औजारों तथा फैक्टरियों की इमारतों में लग जाता है तो वहां सदैव के लिए लगा रहता है। कुछ समय के उपरान्त उन मशीनों का मूल्य उनकी उत्पादक शक्ति पर निर्भर होगा न कि जितना द्रव्य उनमें लगा है उसपर। अस्तु, वह मशीनें पुराने विनियोग (old investments) कहे जावेंगे। द्रव्य(money)के रूप में जो मनुष्य के हाथ में वस्तुओं को मोल लेने का अधिकार आ जाता है, और उसका जिस वस्तु को चाहे मोल लेने में उपयोग किया जा सकता है, वह द्रव्य मुक्त या चल पूंजी (free or floating capital) कहलाती है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जावेगा। एक व्यक्ति ने मानलो एक करोड़ रुपया एक सूती कपड़े के कारखाने को स्थापित करने में लगा दिया। अर्थात् उसने उस कारखाने की मशीनों, औजारों तथा अन्य सामान लेने तथा इमारत इत्यादि के बनाने में लगा दिया है। अब यदि वह चाहे तो उस पूँजी को अन्य किसी धन्धे या कारबार में नहीं लगा सकता। इसी लिए उसको हम पुराना विनियोग (old investment) कहेंगे। किन्तु जिस व्यक्ति के पास नकदी में बचत मौजूद है, उस द्रव्य रूप में जो वस्तुओं को प्राप्त करने का अधिकार उससे पास है उसका उपयोग वह चाहे जिस कारबार में कर सकता है।

पूँजी की सहायता से उत्पादन-कार्य : पूँजी की सहायता से जो उत्पादन होता है वह सीधा न होकर टेढ़ा-मेढ़ा होता है। 'बोहम बेवर्क' इसका

उत्तम उदाहरण देता है। अत्यन्त प्राचीन काल में जबकि पूँजी नहीं थी, तब यदि मनुष्य को प्यास लगती थी तब वह झरने के पास जाकर अपनी अंजुली में पानी पी लेता था। वह जल को जमा करके नहीं रख सकता था, अतएव उसको बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। जब मनुष्य को प्यास लगती तभी पशुओं की भांति उसको नदी या झरने के पास जाकर पानी पीना पड़ता था। कल्पना करिये कि अपनी प्यास को वह सीधे नदी के पास जाकर बुझाने के बदले एक दिन वह परिश्रम करके लकड़ी का डोल बना लेता है, और उसमें झरने से पानी भरकर रख लेता है। अब उसको प्यास लगने पर झरने या नदी के पास जाकर जल पीने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कल्पना कीजिए, कि बाद को उस व्यक्ति की बुद्धि में यह विचार आता है, कि वह उस नदी से एक पाइप लाइन लगा कर अपने मकान में पानी ले आवे। थोड़ा परिश्रम करके वह नदी से पाइप ले आता है। अब हर समय उसके मकान में पानी बना रहता है। पाइप डालने में उसको डोल बनाने से अधिक परिश्रम और समय लगेगा इसमें तनक भी सन्देह नहीं है; परन्तु अब पाइप लाइन के बन जाने से वह झरना उसके मकान में ही आगया, और वह हर समय मनमाना जल उससे पा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि जितनी अधिक पूँजी का हम धन या सम्पत्ति के उत्पादन में उपयोग करते हैं, उतना ही उत्पादन सीधा न होकर टेढ़ा-मेढ़ा होगा। साथ ही यह भी हमें समझ लेना चाहिए कि उत्पादन का ढंग जितना ही अधिक टेढ़ा-मेढ़ा होगा, उत्पादन उतना ही अधिक होगा।

एक और व्यक्ति को लीजिए जो कि जंगल में रहता है। उसके पास शिकार के कोई औजार अर्थात् पूँजी नहीं है, जंगल में घंटों दौड़ भाग कर छोटे मोटे जंगली पशुओं को अथवा ढेला मार कर पक्षियों को पकड़ता है और उनसे अपनी क्षुधा मिटाता है। यह स्पष्ट है कि उसकी बहुत सी शक्ति और समय जंगल में शिकार पकड़ने में लग जाते हैं। अब यदि वह एक दिन समय लगाकर एक कमान और तीर बनालेता है, तो थोड़े समय में ही वह अपने लायक यथेष्ट मांस प्राप्त कर सकता है। यह उत्पादन सीधा न होकर घुमाव-फिराव से होता है, किन्तु उत्पादन अधिक होता है इसमें तनक भी सन्देह नहीं।

पूँजी के कार्य (Functions of Capital). आगे आर्थिक ... उत्पादन का ... उत्पादन यह होता है कि उपयोगिता (utility) की ...

अधिक बढ़ा कर और लागत-व्यय (cost of production) को घटाकर अधिक से अधिक अतिरिक्त उपयोगिता (surplus utility) को प्राप्त किया जावे। इसी को हम लाभ भी कहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के उत्पादन में इसको दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है। एक तो उत्पादन बढ़ा कर अर्थात् अधिकाधिक वस्तुएँ उत्पन्न करके। दूसरे लागत-व्यय घटाकर। पूँजी के द्वारा उत्पादन बहुत अधिक बढाया जासकता है, साथ ही लागत व्यय भी बहुत कम किया जा सकता है। पूँजी श्रम को उत्पादन में सहायता देती है। श्रमजीवी को औजारों तथा यन्त्रों को देकर पूँजी श्रमजीवी की उत्पादन शक्ति को बढाती है और उत्पादन की वृद्धि करके उसके लागत व्यय को घटाती है। उदाहरण के लिए, आज जितना कपड़ा सूती मिलों में यन्त्रों के द्वारा तैयार होता है, उतना हाथ-कर्घों पर तैयार नहीं होता था। और कपड़े का लागत-व्यय भी पहले से कम हो गया है।

पूँजीवादी उत्पादन की पद्धति हेर-फेर की पद्धति है। पूँजी मजदूरों को केवल औजार और यन्त्र ही नहीं देती, वरन उत्पादन-काल में उनको जीवन-निर्वाह के साधन भी उपलब्ध कराती है। उत्पादन की पूँजीवादी पद्धति एक लम्बी और हेर-फेर की पद्धति है। पहले एक कारीगर एक वस्तु को आरम्भ से अन्त तक बनाता था। एक गाँव का मोची आरम्भ से लेकर अन्त तक जूते को बनाता था। वह चमडे को कमाता, जूता बनाता, उसकी सारी क्रियायें करता और अन्त में उसको बाजार में वेचता भी था। यदि उसके पास अपनी निज की पूँजी नहीं होती, कि जिस पर वह उस समय, जबकि जूता बना रहा है, निर्भर रह सकता तो उसका उत्पादन काल में जीवन-निर्वाह कठिन होता। उसको उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी जबतक कि वह जूते को बेच नहीं देता था, यद्यपि जूते को बनाने में अधिक लम्बा समय नहीं लगता था। अधिक से अधिक एक जोड़े जूते को बनाने में दो या तीन दिन लगते थे, और वह चाहे कैसा ही निर्धन हो, उसके पास दो-तीन दिन के लिए खाने-पीने को तो होता ही था। एक गाँव का मोची एक जोड़ा जूता तैयार करके फिर दूसरा जोड़ा बनाना आरम्भ करता है। परन्तु आधुनिक कारखाने मे एक सिरे पर कच्चा माल आता है तो दूसरे सिरे पर तैयार माल बनकर निकलता रहता है। अस्तु, एक ही समय जूते बनाना आरम्भ होते हैं और जूते बनकर तैयार होते रहते हैं। अस्तु, पूँजी का एक महत्त्व-पूर्ण कार्य यह है कि वह श्रम और उपभोग को एक साथ

होने देने की सुविधा प्रदान करनी है। श्रमजीवी को उस समय तक के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती, जब तक कि तैयार माल बिक न जावे। उसको दैनिक मजदूरी मिलती है। पूँजीपति मजदूर को उसकी दैनिक मजदूरी प्रति-दिन या प्रति सप्ताह चुका देता है, जब कि वह वस्तु जिसमें कि मजदूर का हिस्सा है उपभोक्ताओं के पास महीनों बाद पहुँचती है। इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति एक बहुत लम्बी और हेर-फेर की उत्पादन-पद्धति है।

पूँजी धंधे के लिए आवश्यक उपकरणों के द्वारा मजदूरों की सहायता करती है। पूँजी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह मजदूर को बहुत प्रकार के आवश्यक उपकरण तथा साधन जुटा कर उत्पादन में सहायता प्रदान करती है। मजदूर आधे बने या तैयार माल को काम में लाकर उनको पूर्ण तैयार माल में परिणत करते हैं। जब तक कि पूँजी का अधिक उपयोग न हो तब तक इस प्रकार का उत्पादन नहीं हो सकता। यही नहीं, जो भी अन्य उपकरण या साधन उत्पत्ति के लिए आवश्यक होते हैं, वे सभी पूँजी ही के द्वारा प्राप्त होते हैं।

पूँजी का एकत्रित होना : पूँजी बचत के द्वारा इकट्ठी होती है। पूँजीगत वस्तुओं की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है। जो व्यक्ति कि आज उपभोक्ता-पदार्थों को उत्पन्न करते हैं, वे कुछ दिनों तक अधिक परिश्रम से अधिक लम्बे समय तक काम करें और इस प्रकार पहले से अधिक उपभोक्ता-पदार्थ प्राप्त करलें। इन उपभोक्ता-पदार्थों में से कुछ को बचा लिया जावे, अर्थात् उनका तुरन्त उपभोग न किया जाकर उन दिनों में किया जावे जबकि वे पूँजीगत पदार्थों (capital goods) को तैयार करें। उदाहरण के लिए, हम कल्पना करें कि एक जगल में एक व्यक्ति रहता है। वह बिलकुल जंगली अवस्था में है। वनों में आठ घंटा भटक कर वह छोटे-छोटे पशुओं को दौड़कर पकड़ता है या ढेले मार कर पक्षियों को गिराता है अथवा नदी से हाथ द्वारा मछलियों को पकड़ता है। उसके पास तीर-कमान अथवा जाल इत्यादि नहीं होने से के छह घटे तक परिश्रम करते रहने पर उसे अपना पेट भरने के लिए भोजन प्राप्त होता है। अब यदि वह एक दिन दस या बारह घंटे कार्य करके अधिक भोजन प्राप्त कर लेता है, तो वह दूसरे दिन जंगल में शिकार के लिए न जाकर उस भोजन पर निर्भर रहकर उस दिन तीर-कमान बनाने में समय लगाता है। इस प्रकार श्रम द्वारा उत्पन्न धन या सम्पत्ति (wealth) की बचत करके पूँजी का प्रादुर्भाव हुआ। अतएव पूँजीगत पदार्थों को प्राप्त करने का एक तरीका यह है कि अधिक परिश्रम करके अथवा अधिक समय लगाकर अधिक उपभोक्ता-पदार्थों को उत्पन्न किया जावे, और उसकी बचत से पूँजीगत पदार्थ प्राप्त किए जावें। पूँजीगत पदार्थों को प्राप्त करने का दूसरा तरीका यह है, कि लोग अपने समय का कुछ भाग उपभोक्ता-पदार्थों को उत्पन्न करने में लगावें शेष पूँजीगत पदार्थों को उत्पन्न करने में लगावें। उस दशा में उन्हें अपने उपभोग (consumption) में कुछ कमी करनी होगी, अर्थात पहले वे जितने उपभोक्ता-पदार्थों का उपभोग करते थे, उससे कम पदार्थों का उपभोग करें। तीसरा तरीका पूँजीगत पदार्थों (capital goods) को प्राप्त करने का यह है कि कुछ लोग तो केवल उपभोक्ता-पदार्थों को ही उत्पन्न करते रहें, और दूसरे लोग पूँजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करते रहें। ऐसी दशा में जो उपभोक्ता-पदार्थों को उत्पन्न कर रहे हैं, वे अपने द्वारा उत्पन्न किए हुए सब पदार्थों को उपभोग नहीं कर सकते। उन्हें अपने उन साथियों का निर्वाह करना होगा, उन्हें उपभोक्ता-पदार्थ देने होंगे, जो कि मशीनों के बनाने में लगे हुए हैं। इन आदमियों का, उत्पादन के साधारण समय तक पोषण करना होगा। अर्थात् उस समय तक इन आदमियों का पोषण करना होगा जब तक कि उन मशीनों से जो कि ये लोग

लगा रहे हैं, अन्तिम उपभोक्ता-पदार्थ (consumer goods) उत्पन्न न हो जावे। अस्तु, प्रत्येक दशा में यदि पूँजी इकट्ठी करनी है, तो समाज में जितने उपभोक्ता-पदार्थ हैं, उन सबका उपभोग नहीं किया जा सकता। कुछ पदार्थों के उपभोग को छोड़ना होगा। दूसरे अर्थों में हम कह सकते हैं कि यदि लोग चाहते हैं कि पूँजी (capital) की वृद्धि हो, तो उन्हें अपनी सारी आमदनी का उपभोग करना छोड़ना होगा, उन्हें अपनी आमदनी का कुछ भाग बचाना होगा। बिना बचत किए पूँजी की वृद्धि हो ही नहीं सकती। यह प्रश्न किया जा सकता है, कि लोग अपनी सम्पूर्ण आमदनी का उपभोग करना क्यों न छोड़ेंगे। व उसके एक भाग को छोड़ देना क्यों पसन्द करेंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार के त्याग से ही पूँजीगत-पदार्थों (capital goods) का उत्पादन सम्भव है। पूँजी की सहायता से श्रम (labour) की उत्पादन-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। अस्तु, यदि हम थोड़ा-सा त्याग करें और बचत करने का कष्ट उठावें, तो जो पूँजी एकत्र होगी उसकी सहायता से हमारे उपभोग के लिए उससे कहीं अधिक पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे, जितने कि उस दशा में उत्पन्न होंगे जबकि हम अपनी सारी शक्ति, समय और साधन केवल उपभोक्ता-पदार्थों को उत्पन्न करने में लगावें।

बुद्धिमान होते हैं, और वे जानते हैं कि जीवन में बहुत सी दुर्घटनायें हो सकती हैं, उसके कारवार मे हानि हो सकती है, कारबार चौपट हो सकता है, उसकी नौकरी छूट सकती है, अथवा वह बहुत लम्बे समय के लिए बीमार पड़ सकता है। अतएव इन सब दुर्घटनाओं अथवा जोखिमों से अपना बीमा करने के लिए उसे कुछ बचा कर रखना चाहिए। कल्पना कीजिए, कि किसी मनुष्य के जीवन-काल में यह दुर्घटनायें न भी उपस्थित हों; परन्तु यह तो निश्चित ही है कि उसकी वृद्धावस्था में उसकी आमदनी कम हो जावेगी, और उसको अपने निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता होगी। अतएव बुद्धिमान तथा दूरदर्शी व्यक्ति आपत्ति काल के लिए बचत करता है। बहुत से व्यक्ति पारिवारिक स्नेह तथा उत्तरदायित्व की भावना से भी प्रेरित होकर बचत करते हैं। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति यदि अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा दिलाना चाहता है, उन्हें विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजना चाहता है, अथवा अपनी पुत्री का अच्छी जगह विवाह-सम्बन्ध करना चाहता है तो उसे अधिकाधिक बचत करनी होगी। तीसरा कारण मनुष्य को बचाने की प्रेरणा देने वाला यह है कि मनुष्य अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना चाहता है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने रहन-सहन को ऊँचा उठावे। इस प्रेरणा से प्रभावित होकर वह बचाता है। किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों की यह भी भावना रहती है, कि वे धनी मरें और एक बहुत बड़ी धन-राशि अपने आश्रितों को छोड़ जावें, जिससे कि उनकी पत्नी और पुत्र इत्यादि सुख-पूर्वक रह सकें। वास्तव में इसमें दो भावनायें काम करती हैं। एक भावना तो यह कि मरने पर एक बहुत बड़ी धन-राशि छोड़ जाने से जो आत्म-तुष्टि होती है, वह उसको बचत करने के लिए प्रेरित करती है; दूसरे वह अपने बच्चों और स्त्री को कष्ट न हो इसलिए यथेष्ट सम्पत्ति छोड़ जाना चाहता है। बचत की प्रेरणा देने वाला पांचवाँ कारण यह है कि आधुनिक समाज में धनी व्यक्ति को आदर, मान, शक्ति, पद, प्रतिष्ठा, और प्रभाव सभी प्राप्त होते हैं; अतएव मनुष्य को धन बचाने की प्रेरणा मिलती है। जो व्यक्ति कि शक्ति, प्रभाव, प्रतिष्ठा का इच्छुक होता है, वह स्वभावतः अधिक धन एकत्रित करना चाहता है। मनुष्यों को बचाने की प्रेरणा देने वाला एक अन्तिम कारण कंजूसी भी है। कुछ लोग स्वभाव से ही बेहद कंजूस होते हैं और उन्हें व्यय करते आन्तरिक कष्ट होता है। वे धन जोड़ने में ही सुख प्राप्त करते हैं।

ऊपर लिखे उद्देश्यों को, जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य बचत करता है, संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। "बुद्धिमानी, दूरदर्शिता, उन्नति

पारिवारिक स्नेह, अहंकार तथा लालच से प्रेरित होकर मनुष्य धन बचाता है।"

व्यापार-वृद्धि : एक और भी कारण है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य धन की बचत करता है। कल्पना कीजिए की एक व्यक्ति है जिसके पास २५ हजार की पूँजी है, जो उसने अपने व्यापार में लगा रक्खी है। उससे उसको वार्षिक दस हजार का लाभ होता है। अब यदि वह चाहे तो दस हजार को खर्च कर सकता है; परन्तु वह अपने व्यापार को बढ़ाना चाहता है अतएव इस प्रेरणा से प्रेरित होकर वह प्रतिवर्ष अधिकाधिक बचत करके पूँजी की वृद्धि करता है और अपने व्यापार को बढाता है।

सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा बचत : आधुनिक समय में केवल व्यक्ति ही बचत करते हों ऐसी बात नहीं है। सार्वजनिक संस्थायें बहुत अधिक बचत करती हैं। उदाहरण के लिए, मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियां (joint stock-companies) बहुत अधिक बचत करती हैं। जो व्यक्ति इन कम्पनियों को चलाते हैं, वे बुद्धिमानी और दूरदर्शिता के कारण कुछ बचा कर रक्षित कोष (reserve fund) के रूप में रखना आवश्यक समझते हैं। वे अपनी सारी सम्पत्ति (assets) पर घिसावट (depreciation) का प्रबन्ध करने की दृष्टि से बचाना आवश्यक समझते हैं। उदाहरण के लिए, मशीनों, इमारतों, इत्यादि की घिसावट के लिए कुछ कोष इकट्ठा करना आवश्यक है। इसी प्रकार रक्षित कोष (reserve fund) भी आवश्यक होता है। आर्थिक मंदी (economic depression) के समय जब कारबार मन्दा हो जावे, तब धंधे को नष्ट न होने देने तथा दैनिक कारबार के लिए कुछ नकदी रखने की भी आवश्यकता पड़ती है। यही नहीं, जो कारखाने बहुत सफल होते हैं, उन्हें अपने कारबार को अधिक फैलाने और अधिक बढ़ाने के लिए अधिकाधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। वे यदि और अधिक हिस्सेदार बनावें तो वे [illegible] में हिस्सेदार हो जाते हैं, इसलिए कम्पनी के डायरेक्टर प्रतिवर्ष लाभ [illegible] बचा कर रक्खे जाते हैं। इस प्रकार कम्पनी के पास बहुत पूँजी [illegible] है जो कारबार के विस्तार में लग जाती है। इस प्रकार बिना नए [illegible] हिस्सेदार बनाये कम्पनी के डायरेक्टर कम्पनी के लिए [illegible] कर लेते हैं।

जनधन की रक्षा का आश्वासन : ऊपर दिये हुए [illegible] होकर ही मनुष्य अपनी आय के कुछ अंश को बचाता है। पर

प्रेरक शक्ति बहुत सी परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। यदि परिस्थितियां अनुकूल रहीं तब तो यह प्रेरक उद्देश्य अधिक तेज़ी से काम करेंगे, नहीं तो यह प्रेरक उद्देश्य भी अशक्त हो जावेंगे और मनुष्य बचत नही करेगा। उदाहरण के लिए, मनुष्य को अपनी जान माल की सुरक्षा का आश्वासन होना चाहिए, तभी वह अपनी आमदनी के कुछ भाग को बचावेगा, अन्यथा वह सारी आमदनी व्यय कर देगा। यदि किसी देश मे जान-माल की सुरक्षा न हो, तो कोई क्यों कुछ बचावेगा। वह सारी आय व्यय करदेगा। यह तो स्वाभाविक ही है, कि मनुष्य जब आय को व्यय न करके बचत करता है तो वह तात्कालिक सुख और तृप्ति को छोड़कर भविष्य में उससे अधिक उपयोगिता (utility) तथा तृप्ति प्राप्त करने की आशा रखता है। ऐसी दशा मे जब तक जान-माल की सुरक्षा की व्यवस्था न हो तब तक पूँजी की वृद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए देश में सुदृढ़ सरकार का होना आवश्यक है। पूँजी की वृद्धि के लिए शान्ति, सुव्यवस्था तथा प्रगतिशीलता अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि देश मे अराजकता, अशान्ति तथा अव्यवस्था होगी तो पूंजी की वृद्धि रुक जावेगी।

केवल सुव्यवस्था और शान्ति से ही पूँजी की वृद्धि नहीं होती। यदि किसी देश मे पूँजी को लाभदायक कारबार में लगाने की अधिक सुविधायें हैं—अर्थात् औद्योगिक उन्नति हुई है, बैंक और बीमा कंपनियाँ अधिक सख्या मे हैं, तो बचत को प्रोत्साहन मिलेगा और पूँजी की वृद्धि होगी। जिस देश मे कारबार और धधों की उन्नति अवस्था हो, बैंकों का देश मे एक जाल बिछा हो, तो वहाँ पूँजी की वृद्धि शीघ्रतापूर्वक होगी। इन प्रेरक उद्देश्यों की शक्ति—जिनकी प्रेरणा से मनुष्य बचत करता है, प्रत्येक देश की शिक्षा, रीति-रिवाज धर्म तथा मनुष्यों के स्वभाव पर भी निर्भर रहती है। जिन जातियों और देशों मे सामाजिक रीति-रिवाजों तथा धार्मिक कृत्यों पर अंधाधुंध व्यय करने की परिपाटी होती है, वहां पूँजी कम एकत्रित होती है। जहाँ सामाजिक कृत्यों तथा धार्मिक कृत्यों पर लोग अधिक व्यय नहीं करते, वहाँ अधिक बचत होने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार कुछ जातियों का रहन-सहन फिजूल-खर्ची से भरा हुआ होता है वे लोग तड़क भड़क तथा विलासिता से रहने के अभ्यस्त होते हैं। उसके विपरीत कुछ जातियों का जीवन सादा होता है, और वे लोग अधिक व्यय नहीं करते। जो जाति मितव्ययी होती है, वहाँ पूँजी शीघ्रता पूर्वक एकत्रित होती है।

सूद की दर और बचत : सूद की दर का बचत पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में पिछले दिनों एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। कुछ विद्वानों का—जिन में मारशल प्रमुख हैं—मत है कि सूद की दर का, और कितनी बचत होगी इसका, गहरा सम्बन्ध है। मारशल तथा उसके समर्थकों का कहना है कि सूद (interest) की दर जितनी ही अधिक होगी, सर्व साधारण में उतनी ही अधिक बचाने की भावना बढ़ेगी। और सूद की दर जितनी ही कम होगी सर्व साधारण में बचाने की भावना उतनी ही कम काम करेगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'मारशल' के मतानुसार सूद की दर जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही समाज में पूँजी अधिक इकट्ठी होगी, और सूद की दर जितनी ही कम होगी पूँजी उतनी ही कम इकट्ठी होगी। यह ठीक है, कि समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य रहेंगे जो सूद की दर ऊँची हो जाने पर भी कम बचावेंगे। जिन लोगों को भावी जीवन के लिए एक निश्चित रकम आमदनी के रूप में प्राप्त करना ही ध्येय है, वे यदि सूद की दर ऊँची हो जावेगी तो स्वभावतः कम बचावेंगे। कल्पना करें कि एक अध्यापक अपनी वृद्धावस्था में प्रतिवर्ष एक हजार रुपये की निश्चित आमदनी चाहता है। यदि सूद की दर [illegible] प्रतिशत है और वह चालीस हजार रुपया जमा करे तो उसको एक हजार वार्षिक प्राप्त होगी परन्तु यदि सूद की दर पांच प्रतिशत हो जावे तो उसे केवल बीस हजार, बचाने में ही एक हजार रुपये की वार्षिक आय हो जावेगी। इस प्रकार के लोगों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग होंगे जो सूद की दर से प्रभावित न होकर जितना पहले बचाते थे, उतना बचाते रहेंगे। ऐसे वे लोग होते हैं जो बहुत अधिक धनी होते हैं, अथवा अत्यन्त बुद्धिमान और दूरदर्शी होते हैं। जो बहुत धनी हैं जिनकी आमदनी बहुत अधिक है, उनको तो बचाना ही होगा; फिर चाहे सूद की दर ऊँची हो या कम हो। क्योंकि उनकी आमदनी इतनी अधिक है कि यदि सारी आमदनी को व्यय किया जावे तो उपयोगिता (utility) उनको प्राप्त होगी वह कम होगी, [illegible] फ़िज़ूल वस्तुओं पर ही धन व्यय करेगा। ऐसी दशा में सूद की दर का इनकी बचत पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। यही दशा अत्यन्त बुद्धिमान और दूरदर्शी की होगी। वह जानता है कि दुर्घटना हो सकती है, आर्थिक [illegible] आ सकती है, इसलिए बचाना अवश्य चाहिए; अतः इस पर भी सूद की दर का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसके अतिरिक्त आधुनिक [illegible] लिमिटेड पूँजी वाली कम्पनियाँ (joint stock companies) [illegible] हैं जो इकट्ठा रखती हैं, जिन पर सूद की दर से कभी प्रभावित नहीं

होतीं; क्योंकि उन्हें तो अपने कारबार को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ बनाने के अभिप्राय से रक्षित कोष (reserve fund) जमा करना पड़ता है। सूद की दर ऊंची हैं या नीची, उसका उनकी बचत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि बहुत से लेखकों—जिनमें लार्ड कीन्स प्रमुख थे—का मत है कि सूद की दर का तथा बचत का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनकी राय में यदि सूद की दर ऊंची होगी, तो आर्थिक कारबार मन्दा हो जावेगा, क्योंकि व्यवसायियों तथा व्यापारियों को अपने कारबार के लिए अधिक मूल्य अर्थात ऊंचे सूद पर पूँजी (capital) उधार मिलेगी। अस्तु, वे कारबार कम करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि (सूद की दर ऊंची होने से) कारबार में लोग पूँजी कम लगावेंगे, क्योंकि पूँजी का मूल्य (सूद) अधिक देना होगा। जबकि कारबार पर मन्दी आवेगी तो द्रव्य-आय(money income) कम होगी और फलस्वरूप बचत भी कम होगी। बचत दो बातों पर निर्भर है। एक तो इस बात पर कि आमदनी का स्तर कैसा है, अर्थात सर्वसाधारण की औसत आमदनी कम या अधिक है दूसरे जनता की इच्छा तथा प्रेरणा बचाने की कितनी है।

परिच्छेद १४

व्यवस्था (Organisation)

कोई भी उत्पत्ति का साधन (factor of production) अकेला कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि भूमि को यों ही छोड़ दिया जावे तो कुछ वनस्पति अवश्य उत्पन्न हो जावेगी, किन्तु वह नहीं के बराबर होगी, क्योंकि इनसे आज के समाज की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं। अकेला श्रम (labour) या पूँजी (capital) भी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकते। पूँजी तो स्वयं क्रियाशील नहीं है, वह चेतना-रहित है। श्रम उसका उपभोग करता है। फिर यह उत्पत्ति के साधन बिखरे हुए रहते हैं और एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं, उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है कि जो इन सब को एक साथ इकट्ठा करे और उनको उत्पादन (production) के लिए प्रेरित करे। आज के समय में यह कार्य व्यवस्थापक या साहसी (entrepreneur) करता है।

आर्थिक विकास के प्रारम्भिक युग में स्वतन्त्र कार्य-कर्ता सभी साधनों का स्वामी होता था। उदाहरण के लिए, उसकी स्वयं की भूमि (land) होती थी, उसकी स्वयं की पूँजी (capital) होती थी, वह अपने निज के औज़ारों से काम करता था, उत्पादन का प्रबन्ध स्वयं करता था और उस व्यापार की हानि लाभ को स्वयं उठाता था। संक्षेप में वह स्वयं ही भूमिपति, पूँजीपति, मज़दूर और साहसी था। किन्तु आज की बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) में जो कठिनाइयाँ और उलझनें होती हैं और अधिक मात्रा में भूमि, श्रम और पूँजी की आवश्यकता पड़ती है उसके कारण कोई अकेला व्यक्ति इन सब साधनों को जुटा नहीं सकता है।

करता है। हो सकता है कि उसके पास भूमि न हो। यह भी सम्भव है कि उसके पास पूँजी (capital) भी न हो, और वह साधारण श्रमी (labourer) की भाँति काम भी नहीं करता, परन्तु उसके पास एक चीज होती है। उसके पास सगठन और व्यवस्था करने की योग्यता तथा व्यावसायिक बुद्धि होती है। वह भूमि लगान (rent) देकर ले लेता है, पूँजी (capital) को या तो उधार ले लेता है अथवा हिस्सों (shares) के रूप में इकट्ठा करता है, और मजदूरों को मजदूरी पर रख लेता है। वह इन साधनों को इकट्ठा करके उनके द्वारा धन (wealth) का उत्पादन करवाता है। किन्तु उत्पत्ति (production) की व्यवस्था करते समय वह इस बात का ध्यान रखता है कि प्रत्येक उत्पत्ति का साधन (factor of production) इतनी मात्रा अथवा अनुपात में काम में लाया जावे कि उसका अच्छा से अच्छा परिणाम निकले, अर्थात् कम से कम लागत-व्यय में अधिक से अधिक उत्पादन हो सके।

व्यवस्थापक या साहसी (entrepreneur) का कार्य अन्य उत्पत्ति के साधनों का सगठन करना और उनका एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करना है। वह कारबार को स्थापित करता है, उसकी देखभाल करता है, उसकी व्यवस्था करता है और हानि-लाभ की जोखिम उठाता है। वह अन्य साधनों को उनके परितोषण (remuneration) के देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। उदाहरण के लिए, वह भूस्वामी को उसकी भूमि का लगान (rent), मजदूरों को उनकी मजदूरी और पूँजीपतियों (capitalists) को उनकी पूंजी पर सूद देता है। इस के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। साहसी या व्यवस्थापक उत्पादन होने के साथ-साथ ही भूस्वामी को उसका लगान, मजदूरों को मजदूरी और पूंजीपतियों को सूद देता चलता है। वह इन साधनों (factors) को उनका परितोषण (remuneration) पेशगी दे देता है, तैयार माल की बिक्री होने तक वह नहीं ठहरता। जो कुछ इन साधनों में बाँटने से बच जाता है, वह उसका होता है। यदि सब साधनों को उनका परितोषण दे देने के उपरान्त कुछ बच जाता है, तो उसे लाभ (profit) प्राप्त होता है और कारबार सफल कहलाता है, और यदि कुछ नहीं बचता तो उसे कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होता। किसी किसी दशा में उसे हानि भी उठानी पड़ती है। ऐसा कारबार असफल हो जाता है।

कारबार सफल होगा अथवा असफल यह इस बात पर निर्भर रहता है कि व्यवस्थापक कितना दूरदर्शी और अच्छा सगठन-कर्त्ता है। एक दूसरा

और बुद्धिमान व्यवस्थापक (entrepreneur) यह जानता है कि यदि वह उपभोक्ताओं (consumrs) को अधिक से अधिक सन्तुष्ट कर सका तो उसको अधिक से अधिक लाभ होगा। यदि उसने उपभोक्ताओं की इच्छा का ठीक-ठीक अनुमान लगा लिया है और वह उत्पादन का ठीक तरह से प्रबन्ध करता है, तो वह अवश्य ही सफल होगा। व्यवस्थापक के मुख्य दो कार्य हैं। संगठन और व्यवस्था करना (organisation), तथा धंधे की जोखिम उठाना (risk taking)।

व्यवस्थापक की समस्यायें : व्यवस्थापक को अपना कार्य करने में बहुत सी कठिनाइयों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है। सबसे पहले उसको यह तय करना पड़ता है कि वह किस धंधे को शुरू करे। उसे ऐसा धन्धा चुनना चाहिए कि जिसका भविष्य में अधिक विस्तार हो सके और जो नया होने के कारण उसमें अधिक लाभ की आशा हो। यह तय कर लेने के उपरान्त, कि वह किस धंधे में घुसेगा, उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कारखाने का आकार या विस्तार कितना हो। यह निश्चित कर लेने के उपरान्त कि वह कौन-सा धन्धा खड़ा करेगा और कारखाने का आकार और विस्तार कितना हो, उसको यह निश्चित करना पड़ता है कि कारखाना कहाँ स्थापित किया जावे। स्थान निश्चित करने में उसे यह ध्यान में रखना पड़ता है कि उत्पत्ति के साधन (factors of production) वहाँ उपलब्ध हैं अथवा नहीं और यातायात के साधन हैं कि नहीं। कारखाना उसी स्थान पर स्थापित किया जा सकता है, जहाँ उत्पत्ति के साधन उपलब्ध हों और यातायात के साधनों की सुविधा हो। यातायात के साधनों की सुविधा का कारखाना स्थापित करने के लिये महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि कारखाने के लिए कच्चा माल (raw material) की सुविधा और तैयार माल को बाजारों (markets) में भेजने का प्रबंध करना पड़ता है। यह सब निश्चित हो जाने पर उसको यह तय करना पड़ता है कि उसके लिए यन्त्र किस प्रकार के और किस आकार और किस कम्पनी(?) के खरीदने चाहिएँ। यन्त्रों को खरीदने के उपरान्त उनको कारखाने में लगाना, तथा माल तथा अन्य सामग्री को खरीदना, मजदूरों को भर्ती करना, तथा उनसे अच्छी तरह से काम लेने की व्यवस्था करनी पड़ती है। इतना करने पर उत्पादन-कार्य आरम्भ होता है। जब उत्पादन-कार्य आरम्भ हो जाता है, तब भी कितनी(?) समस्यायें सामने उपस्थित होती हैं और व्यवस्थापक को उनके सम्बन्ध में निर्णय करना पड़ता है। एक समस्या [illegible] है कि [illegible] कारखाना [illegible] है। [illegible] व्यवस्थापक को यहाँ [illegible]

यारो से काम करना पड़ता है। तैयार माल कितना बनाया जावे और किस किस्म का बनाया जावे, यह भी व्यवस्थापक को ही निश्चित करना पड़ता है। और उस माल को बाजार में बेचने के लिए भी एक बिक्री-विभाग संगठित करना पड़ेगा। सच तो यह है कि व्यवस्थापक को इतनी अधिक जिम्मेदारी और जोखिम उठानी पड़ती है कि साधारण व्यक्ति उसको नहीं उठा सकता। व्यवस्थापक में असाधारण गुण होना आवश्यक है।

व्यवस्थापक बनने के लिए आवश्यक गुण : एक सफल व्यवस्थापक बनने के लिए नीचे लिखे आवश्यक गुण होने चाहिएँ। व्यवस्थापक बनने के लिए किसी व्यक्ति में बुद्धिमानी, धैर्य, गम्भीरता, व्यापार तथा व्यवसाय की जानकारी, किसी बात को ध्यानपूर्वक देखने तथा उसके परीक्षण करने की शक्ति, हानि-लाभ का विश्लेषण करने की अन्तर्दृष्टि, व्यक्तियों को समझने की शक्ति, और नेतृत्व कर सकने का गुण होना आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापक में जोखिम उठाने का साहस तथा दृढता भी होनी आवश्यक है। इन सब गुणों का होना एक व्यवस्थापक में अत्यन्त आवश्यक है, तभी वह सफल हो सकता है।

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यदि ऊपर लिखे गुण किसी व्यवस्थापक में हों तो वह अवश्य ही सफल होगा। कारण यह है कि धंधे की सफलता केवल व्यवस्थापक की योग्यता पर ही निर्भर नहीं होती, वरन् आर्थिक हलचलें भी धंधे की सफलता या असफलता का कारण बन सकती हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी धंधे को आर्थिक मंदी (depression) का सामना करना पड़ रहा है तो योग्य व्यवस्थापक को भी हानि उठानी पड़ सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा आर्थिक ढांचा अभी तक ऐसा नहीं है कि उसमें जोखिम न हो, या उसके टूटने की कोई सम्भावना न हो। व्यवस्थापक यदि कुशल हो, तो उन जोखिम तथा गड़बड़ को कुछ सीमा तक कम कर सकता है, परन्तु उसको बिलकुल हटा सके यह सम्भव नहीं है। कुछ दशाओं में वह विवश हो जाता है, और सब कुछ योग्यता रखते हुए भी उसको सफलता प्राप्त नहीं होती।

व्यवस्थापक की समस्याएँ : हम ऊपर लिख चुके हैं कि व्यवस्थापक के सामने कुछ समस्याएँ खड़ी होती हैं जिनको उसे हल करना पड़ता है। अब हम उनके सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखेंगे।

धन्धे का चुनाव : सबसे पहला प्रश्न धंधे के चुनाव का है। धंधा चुनते समय व्यवस्थापक को यह ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि वह [illegible]

के साधनों (factors of production) का मूल्य बढ जावेगा। उन्हें लगान (rent) मजदूरी (wages) तथा सूद (interest) के रूप में अधिक देना होगा तभी वे अधिक मात्रा में उस धन्धे की ओर आकर्षित होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि लागत-व्यय (cost of production) बढ़ जावेगा। इसके विपरीत जब उत्पादन बढेगा तो बाजार में उस वस्तु का मूल्य गिर जावेगा। धीरे-धीरे लागत व्यय अधिक होता जावेगा और मूल्य गिरता जावेगा। व्यवस्थापक (entrepreneur) उस सीमा तक कारबार का विस्तार करता जावेगा जब तक कि सीमान्त लाभ (marginal revenue) (बढ़ी हुई उत्पत्ति से होने वाली बढी हुई आय) सीमान्त लागत (marginal cost) (बढ़ी हुई उत्पत्ति की लागत) से अधिक है। जब बढ़ी हुई उत्पत्ति की सीमान्त लागत उसके सीमान्त लाभ के बराबर पहुंच जावेगी, तब व्यवस्थापक कारबार को बढाना बन्द करदेगा। उससे पहले फर्म के आकार को बढ़ाना बन्द कर देने से उसको अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं हो सकता और उसके बाद भी फर्म का विस्तार करने से उसको हानि होगी। फर्म के आकार का विस्तार करने में यह एक ऐसी रुकावट है, जिसे व्यवस्थापक दूर नहीं कर सकता है।

किन्तु फर्म के आकार को बढाने में सबसे बड़ी रुकावट तो उसकी अपनी योग्यता और प्रबन्ध-पटुता की कमी होती है। जो व्यवस्थापक जितना ही पटु होगा वह उतनी ही बड़ी फर्म का प्रबध कर सकेगा। परन्तु एक सीमा के बाद फर्म का विस्तार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उतने बडे कारबार का प्रबन्ध कोई भी व्यवस्थापक फिर वह चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो, नहीं कर सकता। एक सीमा पर योग्यतम व्यवस्थापक भी यह अनुभव करने लगेगा कि उसका कारबार इतना बड़ा होगया है, कि उसका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। उस दशा में उस विस्तृत कारखाने का सुव्यवस्थित रखना कठिन हो जावेगा। जालसाजी तथा ऐसी ही अन्य झंझटों से कारखाने की रक्षा करने में व्यय अधिक होने लगेगा। अस्तु बड़ी मात्रा से होने वाली बचत क्रमशः कम हो जावेगी और लाभ के स्थान पर हानि होने लगेगी। फलतः क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing return) लागू हो जावेगा। इसमें व्यवस्थापक द्वारा प्रबन्धक स्थिर साधन होगा और अन्य उत्पत्ति के साधनों (factors of production) में वृद्धि होगी। अस्तु, क्रमागत ह्रास नियम लागू हो जाता है। फलतः फर्म का आकार व्यावसायिक योग्यता द्वारा सीमित होता है।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी कारण हैं, जो कि किसी फर्म के आकार को सीमित कर देते हैं। जबकि किसी वस्तु की माग (demand) कम हो

हो और अपेक्षाकृत उसका मूल्य कम हो, उसके लिए भी बड़ा प्लाण्ट नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए, ईंटें बनाने का भट्टा या साग सब्जी पैदा करने वाला फार्म बहुत बड़ा नहीं हो सकता।

कुछ धंधों में, जैसे-लोहे और स्टील के कारखाने में प्लाण्ट बहुत बड़ा होता है, क्योंकि यदि वह बहुत बड़ा न हो, तो बहुत से गौण पदार्थ (by products) जिनका लाभदायक उपयोग किया जा सकता है, व्यर्थ चले जावें। उदाहरण के लिए, शक्कर के प्लाण्ट के साथ-साथ डिस्टिलरी होना भी आवश्यक है, जिससे उसके शीरे का उपयोग किया जासके।

भारतीय टैरिफ बोर्ड ने अपनी रिपोर्टों में इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया है, कि भिन्न-भिन्न धंधों में कारखाने में अनुकूलतम आकार (optimum size) क्या है। उनके मतानुसार सूती कपड़े के कारखाने में एक हजार कर्घे और ४०,००० चर्खियाँ, सीमेंट के कारखाने में ६०,००० टन प्रतिदिन सीमेंट की उत्पादन शक्ति, लोहे और स्टील के कारखाने में ६ लाख टन प्रतिदिन पिग लोहा और ४ लाख टन स्टील प्रतिदिन की उत्पत्ति अनुकूलतम उत्पत्ति है। शक्कर के कारखाने में चार सौ टन प्रतिदिन और दियासलाई के कारखाने में दस हजार ग्रोस बाक्सों की उत्पत्ति अनुकूलतम है।

ऊपर हमने व्यवस्थापक (entrepreneur) को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनका विवेचन किया, अब हम व्यवस्था के भेदों का विचार करेंगे। आज हमारे देखने में व्यवस्था के निम्नलिखित भेद आते हैं: एकाकी उत्पादक अथवा एकाकी व्यवस्थापक (individual entrepreneur), साझेदारी (partnership), मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियाँ (joint stock companies), सूत्रधारी कम्पनी (holding company), मैनेजिंग एजेंसी पद्धति (managing agency system), एकाधिकार और ट्रस्ट (monopolies and trusts), सहकारी व्यवस्था (co-operative organisation) तथा राष्ट्रीयकरण (nationalisation) अथवा राज्य द्वारा संचालित धंधे। अब हम इनमें से प्रत्येक का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

एकाकी व्यवस्थापक (Individual Entrepreneur)

व्यवस्था के इस रूप में कारबार का एक व्यक्ति ही मालिक होता है, और वही उसकी व्यवस्था भी करता है। धंधे में हानि-लाभ की जोखिम भी वही

चलाता है। एक दूकानदार या किसान इस व्यवस्था के अच्छे उदाहरण हैं। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूंजी (capital) श्रम तथा भूमि से ही काम करता है। यदि आवश्यकता पड़ जाती है तो वह महाजनों से पूंजी उधार ले लेता है और कुछ दूसरे मजदूरों को मजदूरी पर रख लेता है। कच्चे माल को जुटाता है, उत्पादन की देखभाल करता है और बिक्री की व्यवस्था करता है।

इस पद्धति के निम्नलिखित गुण हैं—व्यवस्थापक स्वयं अपना काम करता है तथा धंधे की देखभाल करता है, इस कारण खूब मन लगाकर काम करता है और धंधे को चमका देता है। जो कुछ भी वह उत्पन्न करता है वह स्थानीय ग्राहकों के लिए ही उत्पन्न करता है, अतएव वह उनकी माँग (demand) का अनुमान भली भाँति लगा सकता है और उसके अनुसार उत्पादन कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक ग्राहक की व्यक्तिगत रुचि और आवश्यकताओं का ध्यान रख सकता है और उन्हें सन्तुष्ट कर सकता है। एकाकी व्यवस्थापक स्वयं अपने लिए उत्तरदायी होता है, अतएव वह किसी बात का निर्णय तुरन्त कर सकता है। उसे किसी व्यक्ति से सलाह लेने का आवश्यकता नहीं होती। साझेदारी तथा मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों में दूसरे से सलाह लेनी पड़ती है। उसके कारबार का रहस्य किसी दूसरे व्यक्ति पर प्रकट नहीं होता। साझेदारी में किसी साझेदार की नासमझी से धंधे के रहस्य प्रकट

लाभदायक धंधे का विस्तार नहीं कर सकता। आधुनिक व्यवसाय में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। यदि किसी एक व्यक्ति के पास यथेष्ट पूँजी हो भी तो वह अपनी सारी पूँजी एक धंधे में लगाने की भयकर जोखिम कभी नहीं उठावेगा, क्योंकि यदि वह किसी कारण उसमें असफल होगया तो उसकी सारी पूँजी नष्ट हो जावेगी। आज प्रत्येक व्यवसायी अपनी पूँजी को एक कारबार में न लगाकर बहुत से धंधों में लगाता है, जिससे जोखिम (risk) कम हो जावे।

पूँजी की कठिनाई के अतिरिक्त इस व्यवस्था में एक कठिनाई यह है कि अकेले आदमी को सारे कारबार का ठीक तरह से नियत्रण करने में, उसकी देखभाल करने में कठिनाई होती है। चाहे कितना ही योग्य व्यक्ति हो, उसकी शक्तियाँ सीमित होती हैं। अतएव एकाकी व्यवस्थापक को बहुत से अवसर—जिन पर कि वह लाभदायक कारबार कर सकता है। खो देने पड़ते हैं। जब कि व्यवस्थापक वृद्ध हो जाता है और उसमें युवावस्था की सी स्फूर्ति नहीं रहती तो उसे और भी कठिनाई होती है और धंधे का प्रबन्ध पहले जैसी दक्षता से नहीं होता।

एकाकी व्यवस्था में एक बड़ा दोष यह भी है कि एक साहसी और पुरुषार्थी व्यवस्थापक अपने परिश्रम और योग्यता से एक अत्यन्त सफल धंधे की स्थापना करता है और अपने जीवनकाल में उसको उन्नत करता है। उसकी मृत्यु के उपरान्त स्वभावत. उसका प्रबन्ध उसके उत्तराधिकारियों के अधिकार मे जाता है। यह आवश्यक नही है कि उसके उत्तराधिकारी भी उतने ही क्षमतावान् और योग्य हों, ऐसी दशा में वह कारबार अवनत होकर नष्ट हो जाता है। साझेदारी तथा मिश्रित पूंजीवाली कंपनी (joint stock company) मे नया रुधिर लाया जा सकता है, इस कारण उनका प्रबंध पूर्ण कुशल और योग्य व्यक्तियों के हाथों में रहता है।

एकाकी व्यवस्थापक-प्रणाली छोटी मात्रा के उत्पादन के लिए विशेष उपयुक्त थी, बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) के लिए वह सर्वथा अनुपयुक्त है। कोई प्रथम श्रेणी का बहुत बड़ा धंधा इस आधार पर खड़ा नहीं किया जा सकता। और न कोई देश इस व्यवस्था से औद्योगिक क्षेत्र मे बहुत अधिक उन्नति कर सकता है।

एकाकी व्यवस्थापक प्रणाली खेती तथा छोटी मात्रा के कारबार के लिये ही उपयुक्त है।

मिल सकती है, क्योंकि लेनदारों (creditors) का रुपया सुरक्षित रहता है। साझेदारी का दूसरा गुण यह है कि साझेदारी में योग्य व्यक्तियों को लिया जा सकता है, जिनकी सहायता से कारबार की ठीक से व्यवस्था हो सकती है। प्रत्येक साझीदार व्यवसाय के एक विभाग में दक्षता प्राप्त करके उसकी देखभाल कर सकता है। प्रत्येक विभाग का एक साझीदार विशेषज्ञ बन सकता है। इससे धंधा अधिक निपुणतापूर्वक चलाया जा सकता है और वह अधिक सफल हो सकता है। एक साझीदार कच्चा माल इत्यादि खरीदने का काम कर सकता है, दूसरा उत्पादन (production) की देखभाल कर सकता है, तीसरा तैयार माल की बिक्री का प्रबन्ध कर सकता है और चौथा हिसाब की देखभाल कर सकता है। इस प्रकार धंधे की सफलता ठीक प्रकार से हो सकती है। यदि साझीदारों को यह अनुभव हो कि कारबार को अधिक सफल बनाने के लिए नये रुधिर की आवश्यकता है तो वे किसी नये साझीदार को साझेदारी में ले सकते हैं।

साझेदारी में एक लाभ यह भी है कि जब कई व्यक्ति मिलकर एक निर्णय करते हैं तो उनके ठीक निर्णय करने की सम्भावना अधिक रहती है। साझेदारी में कई व्यवसायी मिलते हैं, उनके व्यक्तिगत व्यावसायिक सम्बन्ध होते हैं, उन सबका लाभ साझेदारी को मिलता है।

साझेदारी के साधन अधिक होते हैं इस कारण कारबार बड़ी मात्रा (large scale) पर चलाया जा सकता है, और बड़ी मात्रा के कारबार में होने वाली बचत का लाभ साझेदारी को मिलता है।

साझेदारी का एक बड़ा लाभ यह है कि व्यवसाय-जगत में परिवर्तन होने पर साझेदारी में उसी के अनुसार शीघ्र परिवर्तन किया जा सकता है। साझीदार शीघ्र ही निर्णय कर सकते हैं, उसमें देरी नहीं होती।

अपरिमित दायित्व होने के कारण साझीदार कारबार में अधिक सावधान और सतर्क रहते हैं। उनमें सट्टे की प्रवृत्ति जाग्रत नहीं होती अतएव वे जल्दबाजी और अधिक जोखिम से बचते हैं।

यदि साझीदार मिलकर सद्भावना के साथ काम करें तो साझेदारी में कुशलता, समय के अनुसार परिवर्तन करने की शक्ति और जीवन शक्ति अधिक रहती है।

साझेदारी के दोष : यदि साझीदार मेल से रहकर एक साथ मिलकर सद्भावनापूर्वक लगन से कार्य करें, तो व्यवसाय अवश्य सफल और

उन्नति करें, परन्तु ऐसा नहीं होता। बहुधा ऐसा होता है कि प्रत्येक साझेदार अपने स्वार्थ को ही देखता है। प्रत्येक साझेदार साझेदारी के लिए कम से कम कार्य करके अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। यदि कोई हानि हो जाती है तो प्रत्येक एक-दूसरे को दोष देता है। साझेदारी में सद्भावना और मैत्री का स्वप्न कभी चरितार्थ नहीं होता और आपस की फूट और मनोमालिन्य के कारण कारबार उन्नति नहीं कर पाता। यही कारण है कि अधिकतर साझेदारी सफल नहीं होती।

साझेदारी का दूसरा दोष यह है कि कानून के अनुसार यदि एक भी साझेदार मर जाय, दिवालिया हो जाय या पागल हो जावे, तो साझेदारी टूट जाती है। अतएव साझेदारी अधिक लम्बे समय नहीं चलती, उसका जीवन थोड़ा ही होता है।

साझेदारी का सबसे बड़ा दोष साझेदारों का अपरिमित दायित्व (unlimited liability) है। प्रत्येक साझेदार दूसरे को बाँध सकता है। एक साझेदार की भूल अथवा दुराग्रह से सब डूब सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक साझेदार कोई अत्यन्त जोखिम का कारबार करता है, जिसका कि दूसरे साझेदारों को पता भी नहीं है, और उसमें हानि हो जाती है, तो अन्य साझेदार यह नहीं कह सकते कि उसके लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं। यदि साझेदारी असफल हो जावे और हानि हो, तो साझेदारी फर्म पर जो ऋण हो वह किसी भी साझेदार से वसूल किया जा सकता है। और उसकी निजी जायदाद भी साझेदारी के ऋणों को चुकाने के लिए कुर्क की जा सकती है। कोई साझेदार यह नहीं कह सकता कि मैं केवल अपने हिस्से का देनदार हूँ। अपरिमित दायित्व (unlimited liability) के कारण साझेदारी फर्म [illegible] अधिक महत्वपूर्ण नहीं होती।

बनाते हैं। जो भी व्यक्ति कंपनी के साझीदार बनते हैं, वे कंपनी के हिस्से (shares) खरीदते हैं। कंपनियाँ दो प्रकार की होती हैं—निजी कम्पनियाँ (private companies) तथा सार्वजनिक कम्पनियां (public companies)। दोनों प्रकार की कम्पनियों में हिस्सेदार हिस्से खरीदकर पूँजी इकट्ठी करते हैं। हिस्सेदारों का दायित्व सीमित (limited liability) होता है।

निजी सीमित दायित्व वाली कंपनियाँ (Private Limited Companies) : निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी स्थापित करने के लिए कम से कम दो हिस्सेदारों की आवश्यकता होती है। निजी कम्पनी में कम से कम दो और अधिक से अधिक ५० हिस्सेदार हो सकते हैं। हिस्सेदार मैमोरैंडम आव ऐसोशियेसन तथा साधारण नियम (articles of association) बनाकर मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रार (जो कि एक सरकारी अधिकारी होता है) के सामने उपस्थित करते हैं। और रजिस्ट्रार जब उसको स्वीकार कर लेता है और प्रमाण-पत्र (certificate of incorporation) दे देता है तो कम्पनी अपना कारबार आरम्भ कर सकती है। प्रमाण-पत्र मिल जाने पर कम्पनी का एक कानूनी व्यक्तित्व हो जाता है। कम्पनी फिर दूसरों पर अपने नाम से मुकद्दमा दायर कर सकती है, कम्पनी पर दूसरे लोग मुकदमा दायर कर सकते हैं, और कम्पनी अपने नाम से सौदा कर सकती है।

मैमोरैंडम आव ऐसोशियेसन में कम्पनी का नाम, प्रधान कार्यालय कहाँ होगा, दायित्व सीमित होगा, अधिकृत पूंजी (authorised capital) कितनी होगी और वह कितनी कीमत के हिस्सों में बँटी रहेगी। कम्पनी के उद्देश्य क्या होंगे, अर्थात वह किस प्रकार का काम कर सकेगी इत्यादि का उल्लेख रहता है। कम्पनी के मैमोरेंडम में जितनी पूंजी लिख दी गई है, उससे अधिक पूंजी साधारणतया बढ़ाई नहीं जा सकती। जिन उद्देश्यों का मैमोरैंडम में उल्लेख है, उनके अतिरिक्त कम्पनी अन्य कारबार नहीं कर सकती। विशेष दशा में राज्य की आज्ञा से ही उसमें परिवर्तन हो सकता है।

जब कोई धंधा, जो साझेदारी के आधार पर संगठित किया गया हो अथवा एकाकी व्यवस्था के आधार पर संगठित किया गया हो, विशेष सफलता प्राप्त करता तथा उसका विस्तार बहुत हो जाये, तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि साझेदार अथवा एकाकी व्यवस्थापक इसको निजी सीमित

मर्यादित दायित्व वाली कम्पनी (private limited company) में परिणत कर देना उचित समझते हैं। कारण यह है कि जब कारोबार का विस्तार अधिक हो जाता है तो जोखिम (risk) भी उतनी ही अधिक हो जाती है, और उतनी ही अधिक हानि की सम्भावना रहती है, जो कि साझीदारों अथवा एकाकी व्यवस्थापक की शक्ति के बाहर होती है। इस दशा में साझीदार अथवा एकाकी व्यवस्थापक उस धंधे को निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी के रूप में परिणत कर देते हैं। इससे उनको यह लाभ होता है कि धंधा या कारबार पर उनका ही आधिपत्य रहता है और उनका दायित्व सीमित (limited liability) हो जाता है। यह साझीदार कम्पनी में ऊँचे वेतन पर स्वयं अपने को भिन्न-भिन्न पदों पर नियुक्त कर लेते हैं तथा अपने मित्रों और सम्बन्धियों को ऊँचे वेतन पर नियुक्त कर देते हैं। किसी-किसी दशा में यह लोग इतना अधिक वेतन ले लेते हैं कि लाभ के रूप में बाँटने के लिए कुछ कम बचता है। इससे उनको तो कोई हानि होती नहीं, क्योंकि उन्हें तो वेतन के रूप में वह मिल ही जाता है। हाँ जो थोड़े से नये हिस्सेदार इस कम्पनी के हिस्से खरीद लेते हैं, उन्हें अवश्य हानि होती है। क्योंकि उनका बदले में कोई हिस्सा नहीं होता।

इस प्रकार की व्यवस्था में साझेदारी के सभी लाभ हैं। जैसे गोपनीयता, शीघ्र कार्य में सहायता। साझीदारों की ही भाँति उनका आधिपत्य धंधे पर बना रहता है और अधिकांश पूँजी उन्हीं की होती है। अतः वे अपने धंधे की स्वयं देखभाल करते हैं, व्यापार में व्यापारिक कुशलता भी होता है। परन्तु इस व्यवस्था में साझेदारी का सबसे बड़ा दोष अपरिमित दायित्व (unlimited liability) नहीं है।

(balance sheet) तथा अन्य लेखा भेजना पड़ता है। किन्तु निजी कम्पनी अपने हिस्सों को बेचने के लिए कोई विज्ञापन नहीं कर सकती और न प्रविवरण (prospectus) छापती है। निजी कम्पनी के हिस्से हस्तांतरित (transfer) भी नही किए जा सकते।

जिन धंधों में बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् साधारण आकार वाले धंधों के लिए व्यवस्था का यह रूप बहुत अधिक उपयुक्त है। बहुधा ऐसा होता है कि कोई धंधा निजी कम्पनी के रूप में स्थापित किया जाता है, और जब वह सफल हो जाता है, तो उसको सार्वजनिक कम्पनी का रूप दे दिया जाता है।

सार्वजनिक कम्पनी (Public Company) : कम से कम सात व्यक्ति एक सार्वजनिक कम्पनी बना सकते हैं। सार्वजनिक कम्पनी में अधिक से अधिक कितने हिस्सेदार हों इसकी कोई सीमा नहीं है। कोई भी सात व्यक्ति जो कि एक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी (joint stock company) को स्थापित करना चाहते हैं, मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास मैमोरैंडम आव-ऐसोशियेसन तथा पार्षद अन्तर्नियम (articles of association) उसकी स्वीकृति के लिए भेजते हैं। मैमोरैंडम में कम्पनी का नाम, मुख्य कार्यालय का स्थान, उद्देश्य, हिस्सा पूँजी (share capital) का ब्यौरा तथा हिस्से कितनी तरह हैं, और इस बात की घोषणा कि कम्पनी का दायित्व सीमित (limited liability) है, रहता है। पार्षद अन्तर्नियम (articles of association) में कम्पनी के उपनियम होते हैं जिनके अनुसार कम्पनी का दैनिक कारबार चलता है।

यदि रजिस्ट्रार को यह संतोष हो जाता है कि सब कानूनी कार्यवाहियाँ पूरी करदी गई है, तो वह कम्पनी के आरम्भ होने का (incorporation) का प्रमाणपत्र दे देता है। किन्तु कम्पनी तुरन्त कारबार शुरू नहीं कर सकती। कम्पनी के जन्म देने वाले (promoters) एक न्यूनतम हिस्सा पूँजी (minimum share capital) रखते हैं। जब तक उतनी रकम के हिस्से न बिक जायें तब तक कम्पनी कार्य आरम्भ नहीं कर सकती। इस प्रकार का नियम इसलिए बनाया गया है कि कहीं चतुर और बेईमान कम्पनी स्थापित करने वाले भोले और अज्ञान लोगों को धोखा न दें। न्यूनतम हिस्सा पूँजी के सब आने से जायेगा कि और भी बहुत से लोग इसमें हिस्सा लेंगे, अतएव यह बिलकुल धोखा ही नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई सूती वस्त्र का

कारखाना चलाने के लिए कम्पनी स्थापित करता है और न्यूनतम हिस्सा पूंजी पचास लाख रुपये रखता है, तो जो उस कम्पनी के हिस्से खरीदेगा उसको यह भरोसा तो होगा कि जब तक पचास लाख रुपये के हिस्से नहीं बिक जावेंगे तब तक कम्पनी कारबार आरम्भ नहीं कर सकेगी।

कम्पनी की रजिस्ट्री हो जाने के उपरान्त उसको जन्म देने वाले (promoters) एक विवरण पत्र (prospectus) छपाते हैं, उसका खूब विज्ञापन करते हैं, प्रचारक रखते हैं, ब्रोकरों द्वारा हिस्सों को बिकवाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर हिस्सों को बेचने के लिए उनका अभिगोपन (underwriting) करवाते हैं। कोई अभिगोपक (underwriter) इस बात का उत्तरदायित्व ले लेता है, कि यदि कम्पनी के हिस्से नहीं बिके तो वह स्वयं उन सब हिस्सों को खरीद लेगा। इस प्रकार कम्पनी के हिस्से बेचे जाते हैं।

हिस्सों का पूरा मूल्य तुरन्त नहीं चुकाया जाता। कुछ रुपया प्रार्थनापत्र के साथ भेजा जाता है। जब कम्पनी के डायरेक्टर हिस्से देते हैं अर्थात् प्रार्थनापत्र को स्वीकार करके प्रत्येक प्रार्थी को हिस्से देते हैं, तब कुछ रुपया लिया जाता है। इसे आवंटन द्रव्य (allotment money) कहते हैं। इसके उपरान्त जैसे-जैसे कम्पनी को आवश्यकता होती है तीन या चार महीने बाद शेष रुपया दो या तीन बार में मंगा लिया जाता है। इसे याचना-राशि (call money) कहते हैं।

बने रहते हैं, क्योंकि जब पुनः चुनाव होता है तो वे फिर अपने को चुनवा लेते हैं। इस प्रकार वास्तव में कम्पनी के कर्ता धर्ता वे ही बन जाते हैं।

मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी हिस्से (shares) या ऋणपत्र (debentures) बेचकर पूंजी (capital) इकट्ठी करती है अतएव हम हिस्सों के बारे में अध्ययन करेंगे।

हिस्सा पूँजी तथा हिस्से (Share Capital and Shares)

अधिकृत या नाममात्र की पूँजी (Authorised or Nominal Capital) : अधिकृत पूंजी उस पूंजी को कहते हैं, जिसका मैमोरैंडम में उल्लेख होता है और जितने से कम्पनी की रजिस्ट्री हुई है। इसका तात्पर्य यह है कि कम्पनी उतनी राशि से अधिक के हिस्से कभी भी नहीं बेच सकेगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं, वह कम्पनी की अधिकतम पूंजी की सीमा है। व्यवहार में कम्पनी की वास्तविक पूंजी उससे बहुत कम होती है। अतः वास्तव में यह नाम मात्र (nominal) पूंजी है, वास्तविक पूंजी इससे सर्वथा भिन्न होती है। अधिकृत पूंजी का एक भाग ही जनता को बेचा जाता है।

(Issued Capital) : उस हिस्सा पूंजी को कहते हैं, जितने को खरीदने के लिए जनता को आमन्त्रित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी कम्पनी की अधिकृत पूंजी (authorised capital) एक करोड़ रुपये है जो सौ-सौ रुपये के एक लाख हिस्सों में बँटी हुई है। अब यदि डायरेक्टर पचास लाख रुपये के पचास हजार हिस्सों को निकालते हैं, अर्थात् जनता को खरीदने के लिए आमन्त्रित करते हैं तो इसे (Issued capital) कहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि कम्पनी के द्वारा निकाले हुए सभी हिस्से लिए जावें।

विक्रित पूँजी (Subscribed Capital) . विक्रित पूंजी का अर्थ यह है कि उतनी राशि के हिस्से खरीद लिए गए। उदाहरण के लिए ऊपर दिए हुए उदाहरण में यदि कम्पनी ने ५० लाख रुपये के मूल्य के पचास हजार हिस्से जनता के लिए निकाले हैं, तो यह आवश्यक नहीं है कि सब हिस्से बिक ही जावें। कल्पना कीजिए कि ३० लाख रुपये के मूल्य के केवल तीस हजार हिस्से ही बिकते हैं, तो ३० लाख विक्रित पूंजी होगी।

चुकता पूँजी (Paid up Capital) हम ऊपर ही कह चुके हैं कि हिस्सों का मूल्य तुरन्त पूरा नहीं चुकाया जाता कुछ प्रार्थना पत्र के साथ हिस्सों के दिये जाने पर आवंटन द्रव्य (allotment money) के रूप

बने रहते हैं; क्योंकि जब पुनः चुनाव होता है तो वे फिर अपने को चुनवा लेते हैं। इस प्रकार वास्तव में कम्पनी के कर्ता धर्ता वे ही बन जाते हैं।

मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी हिस्से (shares) या ऋणपत्र (debentures) बेचकर पूंजी (capital) इकट्ठी करती है अतएव हम हिस्सों के बारे में अध्ययन करेंगे।

हिस्सा पूँजी तथा हिस्से (Share Capital and Shares)

अधिकृत या नाममात्र की पूँजी (Authorised or Nominal Capital) : अधिकृत पूंजी उस पूंजी को कहते हैं, जिसका मैमोरैंडम में उल्लेख होता है और जितने से कम्पनी की रजिस्ट्री हुई है। इसका तात्पर्य यह है कि कम्पनी उतनी राशि से अधिक के हिस्से कभी भी नहीं बेच सकेगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं, वह कम्पनी की अधिकतम पूंजी की सीमा है। व्यवहार में कम्पनी की वास्तविक पूंजी उससे बहुत कम होती है। अस्तु वास्तव में यह नाम मात्र (nominal) पूंजी है, वास्तविक पूंजी इससे सर्वथा भिन्न होती है। अधिकृत पूंजी का एक भाग ही जनता को बेचा जाता है।

(Issued Capital) · उस हिस्सा पूंजी को कहते हैं, जितने को खरीदने के लिए जनता को आमंत्रित किया जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी कम्पनी की अधिकृत पूंजी (authorised capital) एक करोड़ रुपये है जो सौ-सौ रुपये के एक लाख हिस्सों में बँटी हुई है। अब यदि डायरेक्टर पचास लाख रुपये के पचास हजार हिस्सों को निकालते हैं, अर्थात् जनता को खरीदने के लिए आमन्त्रित करते हैं तो इसे (Issued capital) कहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि कम्पनी के द्वारा निकाले हुए सभी हिस्से लिए जावें।

विक्रित पूँजी (Subscribed Capital) : विक्रित पूंजी का अर्थ यह है कि उतनी राशि के हिस्से खरीद लिए गए। उदाहरण के लिए ऊपर दिए हुए उदाहरण में यदि कम्पनी ने ५० लाख रुपये के मूल्य के पचास हजार हिस्से जनता के लिए निकाले हैं, तो यह आवश्यक नहीं है कि सब हिस्से बिक ही जावें। कल्पना कीजिए कि ३० लाख रुपये के मूल्य के केवल ३० हजार हिस्से ही बिकते हैं, तो ३० लाख विक्रित पूंजी होगी।

चुकता पूँजी (Paid up Capital) : हम ऊपर ही कह चुके हैं कि हिस्सों का मूल्य तुरन्त पूरा नहीं चुकाया जाता कुछ प्रार्थना पत्र के साथ हिस्सों के मिल जाने पर आवंटन द्रव्य (allotment money) के रूप

और फिर जैसे-जैसे कम्पनी को अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, वैसे-वैसे कम्पनी शेष राशि को माँगती रहती है, जिसे याचना-द्रव्य (call money) कहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कम्पनी हिस्से का पूरा मूल्य कभी भी नहीं लेती। कुछ हिस्सेदारों के साथ यह भी होता है कि वे हिस्से खरीद तो लेते हैं, परन्तु बाद को मूल्य नहीं चुका पाते। अतएव यह आवश्यक नहीं है कि जितनी राशि के हिस्से बिक गए हैं उतनी राशि चुकता पूंजी के रूप में कम्पनी के पास आजावे। अस्तु, चुकता पूंजी (paid up capital) का अर्थ उस राशि से है जो कि कम्पनी को प्राप्त होगई है।

जब कोई कम्पनी पूंजी (capital) इकट्ठा करने के लिए हिस्से बेचती है, तो यह आवश्यक नहीं है कि वह एक ही प्रकार के हिस्से निकाले। हिस्से तीन प्रकार के होते हैं और यदि कोई कम्पनी चाहे तो तीनों प्रकार के हिस्से निकाल सकती है। हिस्से नीचे लिखे अनुसार होते हैं।

रियायती हिस्से या पूर्वाधिकार हिस्से (Preference Shares). रियायती हिस्सों (preference shares) के खरीदार को एक निश्चित प्रतिशत लाभ की गारटी दी जाती है। उदाहरण के लिए यदि कम्पनी ६ प्रतिशत के रियायती हिस्से निकालती है, तो उन हिस्सेदारों को लाभ होने की दशा में पहले ६ प्रतिशत लाभ (profit) बांट दिया जावेगा, तब कुछ साधारण हिस्सेदारों (ordinary share holders) को दिया जावेगा। जब तक रियायती हिस्सेदारों को उनकी हिस्सा पूंजी (share capital) पर ६ प्रतिशत नहीं मिल जाता, तब तक साधारण हिस्सेदारों को कुछ नहीं मिल सकता। किन्तु बहुत अधिक लाभ होने की दशा में भी रियायती हिस्सेदारों को ६ प्रतिशत से अधिक नहीं मिल सकता, फिर चाहे साधारण हिस्सेदारों को कितना ही क्यों न मिले। रियायती अथवा पूर्वाधिकार हिस्से दो तरह के होते हैं 'सचयी' (cumulative) तथा 'असचयी' (non cumulative)। सचयी रियायती हिस्से (cumulative preference shares) के खरीदारों को यह लाभ रहता है कि यदि किसी वर्ष कपनी में लाभ नहीं हुआ, तो उस वर्ष का लाभ भी हिसाब मे जमा कर लिया जावेगा। और जब कभी कम्पनी को लाभ होगा तो जितने वर्षों का लाभ देना शेष है उतना देदिया जावेगा तब साधारण हिस्सेदारों को कुछ मिलेगा। उदाहरण के लिए यदि ६ प्रतिशत सचयी रियायती हिस्से हों और तीन वर्षों तक कम्पनी को लाभ न हो, और चौथे वर्ष कम्पनी को लाभ हो, तो जब तक संचयी रियायती हिस्सेदारों

(cumulative preference share holders) को उनकी पूंजी पर १८ प्रतिशत लाभ नहीं बांट दिया जाता तब तक एक साधारण हिस्सेदार को कुछ नहीं मिल सकता। "असचयी रियायती हिस्सेदारों" (non cumulative preference share holders) को यह सुविधा नहीं होती। यदि किसी वर्ष कम्पनी को लाभ हुआ है तब तो असचयी रियायती हिस्सेदारों को उनका निर्धारित लाभ मिल जावेगा, और यदि लाभ नहीं हुआ है तो उनको भविष्य में भी कुछ नहीं दिया जावेगा।

साधारण हिस्से (Ordinary Shares) : साधारण हिस्सेदारों को रियायती हिस्सेदारों के बाद लाभ मिलता है। उदाहरण के लिए यदि कम्पनी में रियायती हिस्से (preference shares) हैं और उनको ६ प्रतिशत लाभ दे दिया जावेगा तभी साधारण हिस्सेदारों को लाभ मिल सकता। यदि लाभ केवल इतना ही है कि रियायती हिस्सेदारों को ही ६ प्रतिशत चुकाने में समाप्त हो जावे, तो साधारण हिस्सेदारों को लाभ नहीं मिलेगा। रियायती हिस्सेदारों को उनका निश्चित लाभ मिल जाने के उपरान्त ही साधारण हिस्सेदारों को लाभ मिलता है।

आस्थगित या विलम्बित हिस्से (Deferred Shares), इन को (founders shares) भी कहते हैं। इन हिस्सेदारों को लाभ उसी दशा में मिलता है जब रियायती हिस्सेदारों तथा साधारण हिस्सेदारों को उनका निश्चित लाभ मिल जाता है। जहा आस्थगित या विलम्बित हिस्से होते हैं, वहा साधारण हिस्सेदारों का लाभ भी निश्चित कर दिया जाता है।

ऋण पत्र (Debentures) : जब मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों को अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और साथ ही वे अधिक हिस्सेदार नहीं बनाना चाहतीं, तो वे ऋण पत्र बेचती हैं। ऋण पत्र खरीदने वाले (debenture holders) कम्पनी के हिस्सेदार नहीं होते वरन् लेनदार (creditors) होते हैं। उन्हें सूद (interest) मिलता है। ऋण पत्र बीस या तीस वर्ष के लिए निकाले जाते हैं जिसके उपरान्त उनको चुका दिया जाता है। वास्तव में होता यह है कि जब कोई कम्पनी सफलता प्राप्त कर लेती है और उसको लाभ होने लगता है और यदि उस समय कम्पनी को अपने कारबार का विस्तार करने के लिए अधिक पूंजी (capital) चाहिए, तो वह हिस्से न निकाल कर ऋण-पत्र बेचती है जिससे कि थोड़ा सूद देकर उन्हें यथेष्ट

मेल जावे। यदि वे नये हिस्से निकालें तो लाभ को नये हिस्सेदारों में भी बांटना होगा।

मिश्रत पूंजी वाली कपनियों के लाभ : मिश्रित पूंजी वाली कपनियों के निम्नलिखित गुण या लाभ हैं:—

(१) मिश्रित पूंजी वाली कपनी का एक बड़ा लाभ यह है कि उसका कारबार बहुधा बड़ी मात्रा का होता है, अतएव उसको बड़ी मात्रा के उत्पादन (Large scale production) के सभी लाभ और बचत प्राप्त होती है। उसको आन्तरिक और वाह्य-बचत (Internal and external economies) जैसे—श्रम (labour) यन्त्रो का विशेषीकरण तथा व्यापारिक लाभ जैसे खरीद विक्री में लाभ, लगान या किराया (rent) में लाभ, विज्ञापन के खर्चे में कमी, तथा अनुसधान और खोज में सुविधा और कम खर्च इत्यादि सभी लाभ प्राप्त होते हैं। और लागत-व्यय कम होने से सभी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं, तथा उपभोक्ताओं को लाभ होता है।

(२) इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था के कुछ विशेष गुण हैं। मिश्रित पूंजी वाली कपनी-व्यवस्था मे ही यह सम्भव है कि इतनी अधिक पूंजी इकट्ठी की जा सके। यह हम पहले ही कह आये हैं कि हिस्से छोटी रकम के होते हैं और वे कई तरह के होते हैं अतएव साधारण आर्थिक स्थित वाले भी उन्हें अपनी शक्ति अनुसार खरीद सकते हैं। यही नहीं हिस्से कई तरह के होते हैं अतएव हर एक मनोवृत्ति का व्यक्ति अपनी पूंजी कपनी में लगा सकता है। उदाहरण के लिए जो अत्यन्त सतर्क और सावधान हो और जोखिम न उठाना चाहते हों, वे रियायती हिस्से ले सकते हैं। और जो अधिक जोखिम उठाना चाहते हों वे विलम्बित हिस्से (deferred shares) ले सकते हैं। मिश्रित पूंजी कपनियों के द्वारा लोगों की थोड़ी से थोडी वचत भी उत्पादन-कार्य में लग सकती है अन्यथा वह वेकार रहे। यही कारण हैं कि इस व्यवस्था मे पूंजी अधिक इकट्ठी हो सकती है।

(३) मिश्रित पूंजी वाली कपनियों में हिस्सेदारों का दायित्व सीमित होता है और हिस्से हस्तातरित किए जा सकते हैं, इसलिए बहुत से लोग उनके हिस्से खरीद लेते हैं। अतएव देश के प्रत्येक भाग में जो थोड़ी-थोड़ी पूंजी (capital) लोगों के पास विखरी होती है, वह उत्पादन-कार्य में लग जाती है। जनसमुदाय में मितव्ययिता की भावना का उदय होता है और बड़े धंधों के

पूंजी की कमी नहीं रहती। कुछ धंधे तो बिना बहुत अधिक पूंजी के खड़े ही नहीं किए जा सकते। उदाहरण के लिए रेलवे, लोहे तथा स्टील इत्यादि के कारखानों के लिये बहुत अधिक पूंजी चाहिये। इतनी पूंजी केवल मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी (joint stock companies) की व्यवस्था में ही इकट्ठी की जा सकती है। यही कारण है कि करोड़ों रुपयों की पूंजी से आज कंपनियां स्थापित की जाती हैं। बड़ी मात्रा के उत्पादन से सभी वस्तुएँ सस्ती हो जाती हैं।

मिश्रित पूंजी वाली व्यवस्था के कारण सर्व-साधारण में मितव्ययिता का भाव जाग्रत होता है, उनकी कोई सी भी पूंजी बेकार नहीं रहती। शेयर बाजारों के स्थापित हो जाने से लोग हिस्से आसानीसे खरीद और बेच सकते हैं। यही नहीं, जोखिम भी अपनी रुचि के अनुसार लिया या बचाया जा सकता है। जो बिलकुल भी जोखिम उठाना नहीं चाहते वे ऋण-पत्र (debentures) में अपना रुपया लगा सकते हैं। हिस्से हस्तांतरित हो सकते हैं, इस कारण जब भी कोई चाहे तो हिस्सों को बेच कर अपना रुपया धंधे में से निकाल सकता है। साथ ही हिस्सों के हस्तान्तरित हो सकने के कारण प्रबन्ध योग्य हाथों में ही रहता है। साझेदारी की भांति किसी साझीदार के मरने पर संस्था नष्ट नहीं होती। वास्तव में मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी बहुत अधिक स्थायी होती है, क्योंकि जो लोग अधिक योग्य, कारबार को अच्छी तरह सम्हालने की क्षमता रखने वाले तथा साहसी होते हैं वे उन लोगों से हिस्से खरीद लेते हैं जो कि कारबार का प्रबन्ध नहीं कर सकते और जोखिम लेने से घबराते हैं।

मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी की व्यवस्था का एक बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा उन धंधों की भी स्थापना हो सकी कि जो बहुत जोखिम वाले थे। यदि सीमित दायित्व (limited liability) का सिद्धान्त न अपनाया जाता और मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी की व्यवस्था न होती तो वे धंधे जिनमें अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है, और जोखिम (risk) बहुत अधिक है कभी भी स्थापित नहीं होते।

मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी का एक बड़ा गुण यह भी है कि वह अधिक स्थायी होती है। साझेदारी में जिस प्रकार किसी साझीदार की मृत्यु से साझेदारी टूट जाती है, उसी प्रकार किसी हिस्सेदार के मर जाने से कम्पनी नहीं टूटती। कम्पनी के प्रबन्ध में भी लचीलापन होता है, क्योंकि संचालक बोर्ड (board of directors) में नवीन रुधिर लिया जा सकता है। पुराने डायरेक्टरों के रिटायर होने या मरने पर नये डायरेक्टर लिए जा सकते हैं।

म्पनी के पास प्रचुर साधन होने के कारण वह कुशल योग्य व्यक्तियों को मैनेजर त्यादि जिम्मेदारी के पद पर रख सकती है। इस प्रकार कम्पनी का प्रवन्ध चार रूप से चलता रहता है।

मिश्रित पूजी वाली कम्पनी का एक गुण यह भी है कि ऐसा व्यवसायी, जेसके पास पूजी (capital) तो नहीं है परन्तु व्यावसायिक योग्यता वहुत है, वह पूजी प्राप्त कर सकता है और कारवार खड़ाकर सकता है। साथ ही मिश्रित पूजा वाली कम्पनी से उन पूजीपतियों के लिए भी सुविधा हो गई कि जिनके पास पूजी तो होती है परन्तु व्यावसायिक योग्यता और साहस नही होता है।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी के दोष . मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी के दोष भी वहुत से हैं। हम अव उसके दोषों का विचार करेंगे। मिश्रित पूजी वाली कम्पनी का एक वड़ा दोष यह है कि उसका सचालन देखने मे तो जनतान्त्रिक (democratic) ढग से होता है, परन्तु वास्तव में वह कुछ थोड़े से लोगों की जागीर वन जाती है। होता तो यह है कि कुछ व्यवसायी कम्पनी स्थापित करते हैं और स्वय हिस्से खरीद कर तथा अपने मित्रों और सम्वन्धियों से हिस्से खरीद करवा कर इतने हिस्से अपने अधिकार मे कर लेते हैं कि वे कम्पनी पर प्रभुत्व स्थापित कर सकें। वे स्वय डायरेक्टर वन जाते हैं और जव कोईडायरेक्टर रिटायर होता है तो वह फिर अपने का चुनवा लेता है। वात यह है कि जो अनेक हिस्सेदार थोड़े-थोड़े हिस्से खरीदते हैं वे इतनी दूर विखरे रहते हैं कि न तो वे सगठित हो सकते हैं और न वे कम्पनी में दिलचस्पी ले सकते है। अस्तु, वे दूसरों की पूजी को लेकर उपयोग करते हैं, और सारी सत्ता अपने अधिकार मे रखते हैं। यही नहीं कभी-कभी चतुर डायरेक्टर जो कि वहुत ईमा-दार नहीं होते, वे अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हैं। जव उन्हें यह ज्ञात होता है कि इस वर्ष कम्पनी को लाभ अधिक होगा तो वे चुपके से कम्पनी के हिस्से शेयर वाजार से खरीद लेते हैं और कुछ समय वाद अधिक लाभ होने के कारण जव कम्पनी के हिस्सों का मूल्य वढ जाता है तो उनको वेच देते हैं। ये हिस्सों का सट्टा (speculation) करते हैं जो कि वाञ्छनीय नहीं होता। जव इन डायरेक्टरों को यह ज्ञात होता है कि कम्पनी की स्थिति अच्छी नहीं है उसको भीषण हानि होने वाली है तो वे उसके हिस्सों को चुपके से वेच देते हैं साधारण खरीदार को धोखा होता है और उसको हानि उठानी पड़ती है।

डायरेक्टरों तथा हिस्सेदारों में कोई सहयोग नहीं होता : मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी का एक दोष यह भी है कि हिस्सेदार इतने अधिक होते हैं और इतने बिखरे होते हैं कि उनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, और हिस्सेदार इतनी जल्दी बदलते रहते हैं कि उनका कम्पनी से कोई घनिष्ट सम्बन्ध भी स्थापित नहीं हो सकता। हिस्सों की खरीद-बिक्री इतनी अधिक होती है कि अधिकांश हिस्सेदार शीघ्र ही बदल जाते हैं। साझेदारी में जिस प्रकार सब साझीदार मिलकर कारबार को देखते हैं और उसमें दिलचस्पी लेते हैं वह मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी में देखने को भी नहीं मिलता। यदि कम्पनी की स्थिति खराब होने लगती है तो प्रत्येक हिस्सेदार अपने हिस्से को बेचने की उतावली करता है और हिस्सों का मूल्य और भी कम हो जाता है। प्रत्येक हिस्सेदार अपने स्वार्थ को देखता है इससे हर एक की हानि होती है। सामूहिक हानि-लाभ उठाने की भावना तिरोहित हो जाती है।

मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी का एक दोष जिसकी ओर बहुधा लोगों का ध्यान नहीं जाता यह है कि उसमें कार्य-सचालन का भार किसी एक व्यक्ति पर नहीं होता उत्तरदायित्व बँटा हुआ होता है, अतएव प्रवन्ध में शिथिलता होने की सम्भावना बनी रहती है। डायरेक्टर चाहे जितने योग्य कुशल और अनुभवी क्यों न हों, उन्हें अपनी कुछ न कुछ जिम्मेदारी अपने अधीनस्थ कर्मचारियों पर छोड़नी ही पड़ती है। प्रत्येक विभाग एक विभागीय अध्यक्ष के अधिकार में होता है और उन सब पर एक मैनेजर होता है। कभी कभी इन विभागों में पूरा सहयोग स्थापित नहीं होता।

यह तो स्पष्ट है कि जितनी जिम्मेदारी लगन और मेहनत से एकाकी व्यवस्थापक या साझीदार कारबार को देखते हैं उतनी लगन और जिम्मेदारी डायरेक्टरों में नहीं आ सकती। यही नहीं, डायरेक्टरों में कभी-कभी निश्चिन्तता भी उत्पन्न हो जाती है और वे जोखिम लेने में भयभीत होने लगते हैं। मैनेजर ही वास्तव में धन्धे को चलाता और देखभाल करता है, और मैनेजर अपनी ओर से जोखिम के कार्यों को नहीं कर सकता। परन्तु इस कमी को कुछ हद तक यह भावना पूरा कर देती है कि मनुष्य मात्र में यश प्राप्त करने और अपनी योग्यता को प्रमाणित करने की भी साध होती है। वह केवल आर्थिक लाभ से ही कार्य करने के लिये प्रेरित नहीं होता। कभी-कभी योग्य और क्षमतावान मैनेजर को कम्पनी में लाभ का हिस्सा देकर उसको कम्पनी के कारबार में अधिक दिलचस्पी पैदा की जाती है।

कम्पनी के मालिक अर्थात् हिस्सेदार कम्पनी के कारबार में रुचि नहीं लेते, वे केवल लाभ की ओर देखते हैं। कारखाने के मजदूरों की सुख सुविधा से उन्हें कोई मतलब नहीं होता। वेतनभोगी मैनेजर अधिक लाभ कमाने के लिए मजदूरों के हितों की ओर ध्यान नहीं देते। मालिक और मजदूर में जो एक मानवीय सम्बन्ध होना चाहिये वह बिलकुल स्थापित नहीं हो पाता।

हिस्सेदारों का दायित्व सीमित होता है, और क्योंकि हिस्से हस्तान्तरित किये जा सकते हैं, इस कारण वे कम्पनी के कारबार मे कोई रुचि नहीं रखते और न वे कभी हिस्सेदारों की सभा में आते हैं। उनकी इस उदासीनता का फल यह होता है कि सारी सत्ता और अधिकार डायरेक्टरों के हाथ मे आ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपने मित्रों और सगे-सम्बन्धियों को ऊचे पदों पर रखते हैं, अपने जान-पहचान के व्यापारियों से कच्चा माल तथा अन्य समग्री मोल लेते हैं, और अपने ही आदमियों को कारखाने के तैयार माल का थोक डिस्ट्रीब्यूटर बना देते हैं।

डायरेक्टरों की अपनी पूंजी तो कम्पनी में बहुत कम लगी होती है, इस कारण उन्हें कम्पनी के हानि-लाभ की इतनी अधिक चिन्ता नहीं होती और बिना सोचे-समझे वे अत्यन्त जोखिम के काम कर बैठते हैं।

इतने पर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी के दोषों को देखते हुए उसके गुण अधिक हैं। फिर बड़ी मात्रा का उत्पादन (large scale production) बिना मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी-व्यवस्था के कभी भी सम्भव नहीं हो सकता था। इस व्यवस्था का जो आज इतना प्राबल्य है वह इस बात का प्रमाण है कि यही व्यवस्था आधुनिक कारबार के लिए उपयुक्त और उपयोगी है।

सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company). सूत्रधारी कम्पनी-व्यवस्था का कोई नवीन रूप नहीं है। यह मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी का ही एक रूप है। इसमें एक कम्पनी अन्य कम्पनियों के अधिकाश हिस्से खरीद कर उन पर अपना नियन्त्रण या आधिपत्य स्थापित कर लेती है। जो कम्पनी अन्य कम्पनियों के अधिकाश हिस्से खरीद कर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेती है, उस कम्पनी को सूत्रधारी कम्पनी (holding company) कहते हैं। जो कम्पनियाँ इस प्रकार किसी सूत्रधारी कम्पनी के अधिकार में चली जाती हैं, उन्हें सहायक कम्पनियाँ (subsidiary company) कहते हैं।

कभी-कभी तो अन्य कम्पनियों के अधिकाश हिस्से खरीद कर उन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए ही सूत्रधारी कम्पनी को जन्म दिया जाता है। वह स्वय कोई कारबार या धंधा न करके अपने अधीनस्थ कम्पनियों का नियन्त्रण और सचालन करती है। कभी-कभी कोई कम्पनी जो कारबार करती है, उन कम्पनियों को जो कि उससे प्रतिस्पर्द्धा करती हैं, खरीद लेती है, अथवा अन्य किसी लाभ के कारण खरीद लेती है।

सूत्रधारी कम्पनी के लाभ . सूत्रधारी कम्पनी के कुछ विशेष लाभ हैं। इससे बहुत प्रकार की बचत होती है। मिलन (integration) के जो लाभ हैं वे सभी सूत्रधारी कम्पनी (holding company) को प्राप्त होते हैं। अन्य कम्पनियों में जो अच्छे इजिनियर तथा विशेषज्ञ होते हैं उनका सभी कम्पनियों को लाभ प्राप्त होता है। कई कम्पनियों के लिए कच्चा माल तथा अन्य सामग्री एक साथ खरीदने में बचत होती है। एक प्रबन्ध और सचालन के कारण प्रशासन मे भी बहुत बचत होती है। प्रत्येक कम्पनी के जो पेटेंट हैं, वे सभी कम्पनियों के काम आते हैं, जब किसी कारणवश किसी धधे मे ट्रस्ट (trust) स्थापित नहीं हो सकता तो सूत्रधारी कम्पनी के द्वारा ट्रस्ट के सभी लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न कम्पनियों का पृथक व्यक्तित्व बना रहता है।

सूत्रधारी कम्पनी के दोष : जहां सूत्रधारी कम्पनी मे बहुत प्रकार की बचत होती है, तथा बहुत से दूसरे गुण हैं वहा उसके कुछ भयकर दोष भी हैं। पहला बड़ा दोष तो यह है कि दो-चार बडे पूजीपति एक सूत्रधारी कम्पनी खड़ी करके सभी कम्पनियों के यदि ५१ प्रतिशत हिस्से खरीदलें तो वे जिस प्रकार चाहें उन कम्पनियों का अपने लाभ के लिए सचालन करें, और ४९ प्रतिशत बिखरे हुए हिस्सेदारों को आर्थिक हानि उठानी पड़ सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि साधारण हिस्सेदारों के स्वार्थों की उस व्यवस्था में नितान्त उपेक्षा की जाती है। इस प्रकार जब धधो मे सूत्रधारी कम्पनिया स्थापित हो जाती हैं और अधिकाश कम्पनिया उनकी सहायक कम्पनिया (subsidiary companies) बन जाती हैं, ऐसी दशा मे हिस्सेदारों के स्वार्थों की तनिक भी परवाह नहीं की जाती है, और उनका उन कम्पनियों के सचालन में कोई हाथ नहीं रहता, जो सर्वथा अनुचित है।

जनता की दृष्टि से सूत्रधारी कम्पनी का दूसरा बड़ा दोष यह है कि यदि सहायक कम्पनिया निजी स्वामित्व वाली कम्पनी (private limited com

-any) हैं, तो सूत्रधारी कम्पनी उनके लेनो देनो के लेखे (balance sheet) को प्रकाशित ही न करें और इस प्रकार जनता को उन कम्पनियों के बारे में कुछ भी मालूम न हो सके।

जरमनी में सूत्रधारी कम्पनियाँ बहुत हैं जो इस प्रकार अन्य कम्पनियों पर नियत्रण-स्थापित कर लेती हैं। भारत में सूत्रधारी कम्पनिया तो नहीं हैं, परन्तु उससे मिलती-जुलती मैनेजिंग ऐजेंसी-पद्धति है जो कि कम्पनी न होकर पारिवारिक फर्म होती है और जो अनेक कम्पनियों को स्थापित करके उनका सचालन करती है। उदाहरण के लिए बिरला ब्रदर्स, ताता एण्ड सस, डालमिया इत्यादि। इनके अपने बैंक हैं, बीमा कम्पनिया हैं, शक्कर, सूती कपड़े, कोयले की खानें, हवाई जहाजी कम्पनिया, सीमेट, कागज इत्यादि के कारखाने हैं।

व्यवस्था के नीचे लिखे रूपों के सम्बन्ध में हम विशेष रूप से पृथक परिच्छेदों मे अध्ययन करेंगे :—

(१) मेनेजिंग एजेंसी-पद्धति (Managing Agency System)।
(२) एकाधिकार तथा ट्रस्ट (Monopoly and Trust)।
(३) सहकारिता (Co operation)।
(४) राष्ट्रीयकरण अथवा राज्य द्वारा सचालित धधे (Nationalisation or State Management)।

परिच्छेद १५

मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति

उद्योग-धंधों की व्यवस्था में मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति का एक विशेष है, और भारतवर्ष में ही यह पाई जाती है। सच तो यह है कि यह परिस्थितिवश इस देश में पनपी और क्रमशः इसकी जड़ जम गई। आरम्भ ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में और उसके उपरान्त जब ब्रि पूँजीपतियो ने अपनी पूँजी भारत के भिन्न-भिन्न धधों मे लगानी आरम्भ तो कम्पनिया तो ब्रिटेन में स्थापित हुई किन्तु कारखाने, खानें और बाग इत भारतवर्ष में थे। उनका प्रबन्ध कौन करे यह समस्या उठ खड़ी हुई। कम्पनियों के डायरेक्टरों ने कारखाने इत्यादि का प्रबन्ध उन अँग्रेजी एवं फर्मों को सौंप दिया कि जो भारत के बन्दरगाहो में स्थापित थीं और वि व्यापार करती थीं। यह एजेंसी फर्में उनके कारखानों इत्यादि का प्रब देखने लगीं। किसी-किसी दशा में यह भी हुआ, कि कोई विदेशी फर्म ग कारबार चलाती थी, परन्तु उसका मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा साझीदार मर ग अथवा वह अपने स्वदेश लौट जाना चाहता था, तो वे इन एजेंसी फर्मों को अपने कारबार का प्रबन्ध सौंप देते थे। क्रमश. मैनेजिंग एजेंटों को उद्योग धधों को चलाने का अनुभव हो गया और दूसरों के कारबार का प्रबन्ध करने की अपेक्षा वे स्वय अपने कारखाने और कारबार स्थापित करने लगे। इस प्रकार भारत मे मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। ज भारतीय पूँजीपतियों ने यहा अपने कारखाने और कारबार आधुनिक ढग पर स्थापित करने आरम्भ किये, तो विदेशी पूँजीपतियों की देखा-देखी उन्होंने भी मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति को स्वीकार किया और स्व मैनेजिंग एजेंट बन गए। उदाहरण के लिए आज भारत के समस्त धंधे विदेशी या भारतीय मैनेजिंग एजेंटों की अधीनता में चल रहे हैं। उदाहरण के लि [illegible]-तूल, शा वैलेस एण्ड कम्पनी, टाटा एण्ड सस, बिरला ब्रदर्स इत्यादि मैनेजिंग एजेंट ही हैं। अब भारतीय पूँजीपतियो ने अपनी मैनेजिंग एजेंसी [illegible] बनाकर क्रमश उद्योग-धधों को अपने हाथ मे कर लिया है। इन मैनेजिंग एजेंसियो ने देश की औद्योगिक उन्नति मे विशेष भाग लिया है और उन्हें अनुभव था देश के औद्योगिक विकास मे पूरा लाभ मिला है। मैनेजिंग

ऐजेंसिया अधिकतर या तो साझेदारी फर्म होती है, अथवा निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी (private limited company) होती हैं।

कार्य · मैनेजिग एजेंट के तीन मुख्य कार्य होते हैं (१) वे नये धधों को स्थापित करते हैं और धधे या कारबार के सस्थापक (promoter) का काम करते हैं। (२) वे धधे के लिए चल (fixed) और कार्यशील पूँजी (working capital) का प्रबन्ध करते हैं। (३) वे कारबार को चलाते हैं और उसका प्रबन्ध करते हैं। अन्य देशों में जो कार्य कि मैनेजर अथवा मैनेजिंग डायरेक्टर करता है, वह कार्य भारत में मैनेजिग एजेंट करते हैं।

(१) नये धंधों की स्थापना . मैनेजिग एजेंट सदैव नवीन कारबार को स्थापित करने की वात सोचते रहते हैं, वे नवीन व्यावसायिक प्रस्तावों की खोज में रहते हैं। जब कोई नवीन व्यावसायिक प्रस्ताव उनके मस्तिष्क में आता है, अथवा वे उसको खोज निकालते हैं, तब फिर वे उसकी व्यावहारिकता का अध्ययन करते हैं, विशेषज्ञों को उसकी जाँच के लिए नियुक्त करते हैं। जब उनको यह निश्चय हो जाता है कि उस व्यावसायिक प्रस्ताव के व्यापारिक दृष्टि से सफल होने की सम्भावना है, तब वे आवश्यक साधन जुटाने का कार्य आरम्भ करते हैं। भूमि लेना, पेटेंट लेना, आवश्यक प्लाएट इत्यादि का प्रबन्ध करना तथा विशेषज्ञों को जुटाना इत्यादि। इसके साथ ही वे उस कारबार को चलाने के लिए एक कम्पनी को खड़ी करते हैं। कम्पनी को स्थापित करने में जितनी भी आवश्यक कानूनी कार्यवाही करनी पड़ती है मैनेजिंग एजेंट ही करते हैं। देश में आज औद्योगिक कारबार सारा का सारा मैनेजिंग एजेंटों के हाथों में ही है। जब यह मैनेजिंग एजेट कोई कम्पनी स्थापित करते हैं, नो सर्व साधारण उसके हिस्से खरीद लेते हैं। इन मैनेजिग एजेन्टों का ब्रोकरों, वैंकों तथा द्रव्य बाजार पर प्रभाव होता है। सर्व साधारण का उसकी साख में विश्वास होता है, जिससे यदि वे किसी कम्पनी को स्थापित करते हैं तो उसके हिस्से खरीद लिए जाते हैं। अन्य कोई, जिसका नाम बाजार में प्रसिद्ध नहीं है, कम्पनी खोले तो उसके हिस्से विकना कठिन हो जावे। किन्तु मैनेजिंग एजेंट उस कम्पनी के इतने हिस्से अपने अथवा अपने सबन्धियों और मित्रों के नाम अवश्य ले लेते हैं कि वे कम्पनी के सर्वेसर्वा बने रह सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि कम्पनी के नियत्रक हिस्से अपने हाथ में रखते हैं

(२) पूँजी जुटाना : मैनेजिंग एजेंट कारबार के लिए पूँ जुटाते हैं। यही नहीं कि जब कम्पनी स्थापित होती है तभी उनकी

कारण हिस्से विकते हैं, वल्कि आवश्यकता पड़ने पर वे उसका अभिगोप
(underwriting) भी करते हैं, तथा स्वय अपनी पूँजी कम्पनी में लगाते
है और अपने प्रभाव से सर्वसाधारण में हिस्से बिकवाते हैं। कम्पनी के स्थापित
हो जाने पर आवश्यकता पड़ने पर मैनेजिंग एजेंट कम्पनी को ऋण भी देते हैं।
यदि कम्पनी को वाहर से ऋण लेना पड़ता है, तो वह मैनेजिंग एजेंट की साख
पर ही मिलता है। उदाहरण के लिए, यदि कम्पनी किसी बैंक से ऋण लेती है
तो डायरेक्टरों के अतिरिक्त बैंक उस कपनी के मैनेजिंग एजेंट से अवश्य
इकरारनामे पर हस्ताक्षर करवाते हैं। यदि कम्पनी अन्य किसी पूँजीपति से
ऋण लेती है, तो भी वह मैनेजिंग एजेंट की साख पर ही मिलता है। बम्बई
प्रान्त मे सूती वस्त्र के कारखानों मे सर्वसाधारण से डिपाजिट स्वीकार करने
की पद्धति है। लम्बे समय की मुद्दती जमा (fixed deposit) यह कारखाने
स्वीकार करते हैं। किन्तु सर्व साधारण जो अपना रुपया कारखानों में जमा
करते हैं वह कारखाने की स्थिति को ध्यान में रखकर नहीं करते, वरन मैनेजिंग
एजेंट की साख और आर्थिक स्थिति को ध्यान मे रखकर करते हैं। कहने का
तात्पर्य यह है कि कम्पनी को अचल (fixed) तथा कार्यशील पूँजी के लिए
अधिकतर मेनेजिंग एजेंट पर निर्भर रहना पड़ता है।

(३) मेनेजिंग एजेंट कम्पनी के दैनिक कारवार की देखभाल तथा
उस कारखाने का प्रवन्ध करते हैं। उच्च कर्मचारियों की नियुक्ति, कौनसा माल
कितना बनेगा इसका निश्चय, तथा माल की विक्री का प्रवन्ध भी मैनेजिंग
एजेण्ट ही करते हैं। कच्चा माल तथा यत्र इत्यादि खरीदना आदि कार्य
भी मेनेजिंग एजेंट करते है।

ऊपर लिखी सेवाओं के वदले मे मेनेजिग एजेंट उस कम्पनी मे मैनेजिंग
एजेंसी का अधिकार प्राप्त कर लेते है। सच तो यह है कि कम्पनी उन्हीं की
होती है, वे जिन्हे चाहते है उन्हें डायरेक्टर रख देते हैं। उनके सम्बन्धी,
वन्धु, रिश्तेदार तथा मित्र ही डायरेक्टर होते हैं। कुछ डायरेक्टर तो मैनेजिंग
एजेंट द्वारा ही मनोनीत किये जाते हैं। वस्तुत. सभी डायरेक्टरों की नियुक्ति
मैनेजिंग एजेंट द्वारा होतीहै। मैनेजिग एजेंट इस सेवा के वदले में पाँच-दस हजार
अथवा जैसा भी हो, अपने कार्यालय का भत्ता पाते हैं। बात यह है कि मैनेजिंग
एजेंट केवल एक कारखाने का तो मैनेजिंग एजेंट होता नहीं, वह तो कई
कारखानों का मैनेजिंग एजेंट होता है; अतएव प्रत्येक कारखाने से वह एक

रकम अपने कार्यालय के भत्ते के रूप में ले लेता है। इसके अतिरिक्त मैनेजिंग एजेंट लाभ पर दस या पद्रह प्रतिशत कमीशन लेता है। १९३६ के पूर्व मैनेजिंग एजेण्ट माल के उत्पादन या उस माल की बिक्री के आधार पर भी कमीशन लेते थे। परन्तु १९३६ के सशोधित कानून के अनुसार अब वे केवल वार्षिक लाभ पर ही अपना कमीशन लेते हैं। वार्षिक लाभ पर कमीशन पाने के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेण्ट को एक निश्चित कमीशन और मिलता है, फिर चाहे कम्पनी को हानि ही हो। उदाहरण के लिए किसी कम्पनी को हानि हो, तो भी मैनेजिग एजेण्ट को तो अपना निर्धारित कमीशन मिलेगा ही।

इसस यह न समझना चाहिए कि मैनेजिंग एजेण्ट केवल इतना ही पारिश्रमिक पाते हैं। सच तो यह है कि मैनेजिंग एजेण्ट बहुत से अन्य तरीकों से और भी लाभ कमाते हैं। उदाहरण के लिए, जब कारखाना कच्चा माल खरीदता है, तो मैनेजिंग एजेण्ट एक नाम मात्र का सगठन खड़ा कर देते हैं, और उसी से कच्चा माल खरीदते हैं। इस प्रकार कच्चे माल पर उन्हें कमीशन मिलता है। जब वे कारखाने के लिए मशीन अथवा प्लांट खरीदते हैं तो उस पर उन्हें कमीशन मिलता है। यही नहीं, कारखाने के द्वारा जो माल तैयार होता है उसकी सोल एजेंसी अपनी ही किसी नाममात्र की ट्रेडिंग कम्पनी को देकर बिक्री का भी कमीशन खा जाते हैं। जब मैनेजिंग एजेण्ट कम्पनी स्थापित करता है, और उसके हिस्सों का अभिगोपन (under-writing) करता है, तो उस पर कमीशन लेता है। मैनेजिंग एजेण्ट के लाभ की सीमा यहीं समाप्त नहीं होती। वह ऊँचे पदों पर भारी वेतन देकर अपने भाई बदों और सम्बन्धियों को नौकर रख देता है। जब वह दान देता है और उसके कारण राजनैतिक तथा सामाजिक प्रभाव स्थापित करना है, तो दान का धन स्वय न देकर कारखाने के नाम लिख देता है। अन्ततः मैनेजिंग एजेण्ट ही कम्पनी का सर्वे-सर्वा तथा मालिक होता है। साधारण हिस्सेदार का न तो कम्पनी के प्रवन्ध में कोई हाथ होता है, न वह डाइरेक्टरों को ही चुन पाता है; क्योंकि नियंत्रक हिस्से मैनेजिंग एजेण्ट के हाथ में होते हैं। फुटकर बिखरे हुए हिस्सेदार कभी सगठित हो ही नहीं पाते। यदि मैनेजिंग एजेण्ट अच्छा व्यवस्थापक हुआ और हिस्सेदारों को पाँच-दस प्रतिशत मिल गया, तो साधारण हिस्सेदार को इतने से ही संतोष हो जाता है। अधिक साधारण हिस्सेदार की न तो कम्पनी में रुचि ही होती उसका कम्पनी के प्रबन्ध में कोई हाथ ही होता है।

मैनेजिंग एजेंसी के दो रूप : यो तो समस्त देश में उद्योग-धन्धे मैनेजिंग एजेण्टों के हाथ मे हैं, किन्तु देश मे मैनेजिंग एजेंसी के दो स्वरूप हैं। एक वम्बई के मैनेजिंग एजेण्ट और दूसरे कलकत्ते के मैनेजिग एजेण्ट। कुछ औद्योगिक केन्द्रों में दोनों प्रकार के मैनेजिंग एजेण्ट पाये जाते हैं, परन्तु कुछ केन्द्रो मे केवल एक प्रकार के ही मैनेजिंग एजेण्ट पाये जाते हैं। यद्यपि इन दोनों प्रकार के मैनेजिंग एजेण्टों में कोई स्पष्ट और स्थायी भेद नही है, परन्तु मोटे रूप मे नीचे लिखे भेद पाये जाते हैं। (१) बम्बई मे अधिकाश मैनेजिंग एजेंसी फर्में भारतीयों की हैं, परन्तु कलकत्ते में अधिकाश योरोपीय मैनेजिग एजेंसी फर्में हैं। (२) वम्वई की मैनेजिग एजेंसियाँ अधिकतर एक धंधे अर्थात् वस्त्र व्यवसाय मे रुचि रखती हैं। यद्यपि वहाँ ताता एण्ड सस भी हैं, जो लोहा-स्टील, सूती वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, तेल, जल विद्युत् इत्यादि के कारखानों को चलाते हैं, परन्तु अधिकाश मैनेजिंग एजेण्ट केवल सूती वस्त्र-व्यवसाय में ही रुचि रखते हैं। परन्तु कलकत्ते में मैनेजिग एजेण्ट केवल एक धंधे में ही रुचि नहीं रखते। वे बहुत से धंधे चलाते हैं। कलकत्ते के मैनेजिग एजेण्ट चाय के बाग, जूट के कारखाने, कोयले की खानें, सीमेण्ट तथा बिजली के कारखानों को चलाते हैं। (३) बम्बई में मैनेजिंग एजेंसियाँ पैतृक सम्पत्ति होती हैं। बाप की मृत्यु के उपरान्त बड़ा पुत्र ही उसका कर्त्ता-धर्त्ता होता है। वम्बई मे मैनेजिंग एजेंसी एक परिवार मे सीमित रहती है। यह आवश्यक नही कि एक प्रतिभावान् कुशल उद्योगपति के पुत्र भी कुशल और योग्य हों। अतएव उनमें नवीन रुधिर न आने से उनकी अवनति हो जाती है। कलकत्ते की मैनेजिग एजेंसियो में साझीदार होते हैं। एक साझीदार के मर जाने पर दूसरा योग्य व्यक्ति साझीदार बना लिया जाता है। बहुधा ऐसा होता है कि योग्य और कुशल कर्मचारियों मे से ही साझीदार बना लिया जाता है। अतएव नया रुधिर बराबर आता रहता है। अस्तु, वहाँ मैनेजिग एजेंसियाँ कुशल और योग्य हाथों मे रहती हैं। बम्बई की मैनेजिंग एजेंसियों मे मैनेजिंग एजेण्ट कम्पनियो के यथेष्ट हिस्से अपने हाथ मे रखते हैं, वे कम्पनी में यथेष्ट पूँजी लगाये रखते हैं। कलकत्ते के मैनेजिंग एजेण्ट परम्परावश हिस्सों को बहुत अधिक अपने पास नहीं रखते। इसका दूसरा कारण यह भी है कि उन्हें अपनी पूँजी बहुत से धंधों मे लगानी पड़ती है। कलकत्ते के मैनेजिंग एजेण्ट अपने हिस्सों को बेचकर पूँजी नये धंधे मे लगा देते हैं। बम्बई के मैनेजिंग एजेण्ट अपने लाभ को व्यय कर देते हैं, परन्तु कलकत्ते के मैनेजिग एजेण्ट उस लाभ को कारबार मे ही लगा देते हैं, इससे कारबार की आर्थिक स्थिति

अच्छी हो जाती है। मोटे रूप में दोनों प्रकार की मैनेजिंग एजेंसियों में ऊपर लिखे भेद हैं। परन्तु इन दोनों में कोई स्पष्ट बहुत गम्भीर भेद नहीं हैं। यद्यपि पिछले दिनों से इनमे परिवर्तन भी हो रहे हैं, किन्तु साधारण तौर पर ये भेद इन दोनों प्रकार की एजेंसियों में देखने को मिलते हैं।

मैनेजिंग एजेंसी से हानि-लाभ

लाभ : मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति के बहुत से गुण हैं। हम यहाँ मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति के गुणों का वर्णन करेंगे।

(१) मैनेजिंग एजेण्टों को धधों के स्थापित करने तथा उनके चलाने का बहुत अनुभव होता है। वे किसी धधे की लाभ देने की शक्ति का ठीक-ठीक अनुमान कर सकते हैं। अतएव मैनेजिंग एजेण्ट नवीन धधों की सरलता से स्थापना कर सकते हैं। यदि देखा जावे तो भारतवर्ष में जो भी नवीन धधे स्थापित हुए हैं, उनको स्थापित करने का श्रेय मैनेजिंग एजेण्टों को ही है।

(२) मैनेजिंग एजेण्टों के द्वारा कारखाने का सचालन स्थायी रूप से ठीक तरह होता है। यदि मैनेजिंग एजेण्ट न हो, तो प्रबन्ध मे बार-बार परिवर्तन होने से कारबार को क्षति पहुँचने का भय रहता है। मैनेजिंग एजेण्टों के व्यावसायिक अनुभव का कारखाने को लाभ मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि यदि कारखाना किसी योग्य ईमानदार और कुशल मैनेजिंग एजेण्ट के सचालन मे होता है, तो उसकी सफलता की अधिक सम्भावना रहती है।

(३) मैनेजिंग एजेण्ट स्वय बहुत बड़े पूँजीपति होते हैं, तथा उनकी बाजार में साख बहुत होती है, अतएव उनके द्वारा कारखाने को उचित सूद पर पूँजी मिलने में बहुत आसानी रहती है। यही नहीं कि उनके द्वारा कारखानों को बाहर से ऋण मिल जाता है, वे स्वय भी कारखाने को ऋण देते हैं और उनकी अधीनता में जो बहुत से कारखाने होते हैं, वे भी एक-दूसरे की आर्थिक सहायता करते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक कारखाने को पूँजी की अधिक आवश्यकता है और उसी मैनेजिग एजेण्ट की एजेंसी में एक दूसरा कारखाना है, जिसके पास अधिक फालतू पूँजी है, तो वह आसानी से पहले कारखाने को ऋण दे सकता है।

(४) मैनेजिंग एजेण्ट केवल एक कारखाना नहीं चलाते हैं, पचीसियों कारखाने चलाते हैं, अतएव बिना किसी बधन के उन कारखानों को सयोग (combination) के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए,

मैनेजिंग एजेण्ट एक साथ सभी कारखानों के लिए कच्चा माल, मशीनें, प्लाट यदि सभी अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदता है, अतएव बहुत बड़ी राशि म खरीदने के कारण कम्पनियों अथवा कारखानों को वस्तुएँ सस्ते मूल्य पर मिल जाती हैं। एक लाभ और भी होता है। प्रत्येक कारखाना बहुत खर्चीले विशेषज्ञ को नहीं रख सकता, परन्तु मैनेजिंग एजेण्ट एक योग्य और खर्चीले विशेषज्ञ को रख लेता है, और उसका व्यय सम्बन्धित सब कारखानों पर डाल दिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि मैनेजिंग एजेंसी के फलस्वरूप कारखाने के लिए कच्चा माल यंत्र इत्यादि खरीदने तथा विशेषज्ञों के रखने में बहुत सुविधा और बचत होती है। कार्यालय-व्यय मे भी बहुत बचत होती है। मैनेजिंग एजेण्ट एक कार्यालय रखता है और वही सारे कारखानों के काम को देखता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस पद्धति से बहुत-सी बचत होती है।

इस पद्धति में साझेदारी और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (joint stock companies) के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। मैनेजिंग एजेंसी फर्म या तो साझेदारी फर्म होती हैं अथवा निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी (private limited company) होती है। वास्तव में मैनेजिंग एजेंसी और मिश्रित पूंजी वाली कम्पनी के सम्बन्ध से, जो व्यक्तिगत स्वार्थ, उत्साह तथा अपना समझ कर काम करने की प्रवृत्ति साझेदारी मे होती है, वह मिश्रित पूंजीवाली कम्पनी को अनायास मिल जाती है।

कभी-कभी आड़े समय पर मैनेजिंग एजेण्ट अपनी कम्पनियों की बहुत सहायता करते हैं। उनकी आर्थिक सहायता करते हैं। वे कम्पनियों को डूबने से बचाते हैं और आवश्यकता पड़ने पर अच्छे मैनेजिंग एजेण्ट अपना कमीशन भी छोड़ देते हैं।

दोष : किन्तु मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति मे बहुत से दोष भी उत्पन्न हो गए हैं। बात यह है कि जब एक कम्पनी का सारा अधिकार कुछ हाथों में पहुँच जाता है, तो उसमें दोष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है।

(१) कम्पनी के हिस्सेदारों के स्वार्थ की मैनेजिंग एजेण्ट उपेक्षा अवहेलना करते हैं। कभी कभी मैनेजिंग एजेंसी की शर्त ऐसी होती है, जब कि कम्पनी को हानि हो रही हो, तब भी मैनेजिंग एजेण्ट अपनी आय अथवा कमीशन इत्यादि को बढ़ा लेता है।

(२) इसमें बेईमानी की बहुत गुंजाइश होती है, और जो मैनेजिंग एजेण्ट ईमानदार नहीं होते, वे अपनी स्थिति का बेजा लाभ उठाते हैं। उदाहरण

के लिए, यदि मैनेजिंग एजेण्ट ने कोई सौदा किया है, और उसमें हानि होने की सम्भावना है, तो वह उस सौदे को कम्पनी के नाम कर देता है, और यदि लाभ की सम्भावना है, तो वह अपने नाम कर लेता है। यही नहीं, मैनेजिंग एजेण्ट जो भी वस्तुएँ कम्पनी के लिए लेते हैं, उन पर कमीशन हड़प कर जाते हैं।

(३) एक ही मैनेजिंग एजेंसी के अधिकार मे जो बहुत से कारखाने होते हैं, उनके स्वार्थ एक समान नहीं होते, इसका परिणाम यह होता है कि जब भिन्न-भिन्न कारखानों के स्वार्थों में आपस में टक्कर होती है, तो कुछ कारखानों के स्वार्थों की अवहेलना होती है।

(४) मैनेजिंग एजेसी पद्धति का एक बुरा परिणाम यह हुआ है कि, स्वतन्त्र रूप से कम्पनियों का सचालन नहीं हो सकता। जितने भी डायरेक्टर होते हैं, वे मैनेजिंग एजेंट के अनुचर होते हैं, और नाम मात्र के डायरेक्टर होते हैं। वे मेनेजिंग एजेंट की कृपा पर निर्भर रहते हैं और उसकी हाँ में हाँ मिलाते हैं। यदि कोई भी डायरेक्टर स्वतत्र रूप से कुछ कहता है, तो वह तुरन्त हटा दिया जाता है। अस्तु, डायरेक्टर केवल कठपुतली होते हैं।

(५) मेनेजिंग एजेण्ट एक ही प्रकार के कारखानों का सचालन करते हों, ऐसी बात नहीं है। वे भिन्न-भिन्न प्रकार के कारखानों को चलाते हैं। उदाहरण के लिए, एक ही मैनेजिंग एजेण्ट कोयले की खानों, चाय के बागों, जूट, तथा सूती वस्त्र के कारखानों, सीमेंट, शक्कर, हवाई जहाज की कम्पनी, बैंक, बीमा-कम्पनियों इत्यादि का सचालन करते हैं। एक मैनेजिंग एजेण्ट को एक धंधे का अनुभव हो सकता है, बहुत से धधों को वह कुशलतापूर्वक चला सके इसकी कम सम्भावना होती है। इसका परिणाम यह होता है, कि धधों का सचालन योग्यता-पूर्वक नही हो पाता।

(६) बहुधा मैनेजिंग एजेण्ट एक कम्पनी का रुपया दूसरी कम्पनी मे लगा देते हैं, और यदि वह कम्पनी सफल न हुई तो पहली कम्पनी का रुपया मारा जाता है अथवा उसको हानि होती है। मैनेजिंग एजेंसी का यह एक बड़ा दोष है और बहुधा इससे कुछ कम्पनियों को हानि होती है।

(७) मैनेजिंग एजेंसी या तो साझीदारी फर्म होती है, अथवा निजी सीमित दायित्व वाली कम्पनी होती है। कहने का तात्पर्य यह है, कि वह एक पारिवारिक कारबार होता है, जिसमें पिता की मृत्यु के उपरान्त बेटे कर्त्ता-धर्ता

वनते है । यह आवश्यक नही है कि वेटे में भी-पिता की जैसी व्यावसायिक योग्यता तथा कुशलता हो । इसका परिणाम यह होता है, कि नया रुधिर न आने से धधों की अवनति हो सकती है ।

(८) अधिकांश मैनेजिंग एजेण्ट व्यापारी वर्ग के हैं, अतएव उद्योग-धधों की अपेक्षा व्यापारिक कार्यों की ओर अधिक रुचि रखते हैं और उद्योग-धधों की उन्नति तेजी से नहीं हो पाती ।

(९) मैनेजिग एजेण्टों की पद्धति के कारण आज ऐसी स्थिति हो गई है, कि यदि कोई स्वतन्त्र रूप से कोई काम-धधा करना चाहे, और वह कम्पनी स्थापित करना चाहे, तो उसके लिए यह कठिन होगा । इससे देश की औद्योगिक उन्नति में वाधा पड़ती है । कोई भी मैनेजिंग ऐजेंसी कितनी भी सुसगठित और कुशल हो, सभी प्रकार के धधों को तेजी से स्थापित नहीं कर सकती । कहने का तात्पर्य यह है कि मैनेजिंग एजेंसी-पद्धति के फल स्वरूप स्वतन्त्र व्यवसायियों के मार्ग में वाधा पड़ती है ।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि यदि ईमानदार, योग्य और कर्त्तव्य-परायण मैनेजिंग एजेण्ट हों, तो धधे के विकास में सहायना मिलती है। परन्तु वहुधा मैनेजिंग एजेण्ट अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाते हैं और हिस्सेदारों के स्वार्थों की उपेक्षा करते है । यही नहीं, मैनेजिंग ऐजेंसी वहुत खर्चीली साबित होती हैं । धधे उनके भार को सहन नहीं कर सकते । फिर भी मैनेजिंग एजेंसी के पक्ष में यह कहना ही होगा कि उससे धधों के विकास में वहुत सहायता मिली है और वहुत से धधे केवल उनके प्रयत्न से ही स्थापित हो सके हैं ।

परिच्छेद १६

एकाधिकार (Monopoly) तथा संयोग (Combination)

औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) के उपरान्त जब उत्पादन (production) बड़ी मात्रा में फैक्टरियों में होने लगा, तो किसी को यह ज्ञात नहीं था कि भविष्य में बड़े-बड़े ट्रस्ट (trust) तथा संयोग (combinations) भी स्थापित होंगे और धंधों पर एकाधिकार (monopoly) स्थापित हो जावेगा। एकाधिकार का अर्थ है किसी वस्तु को बेचने या उत्पन्न करने का एकमात्र अधिकार किसी एक व्यक्ति, कम्पनी या संस्था के हाथ में आजावे। फिर वह अधिकार चाहे प्रतिस्पर्द्धा (competition) के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करके अथवा सरकार या नगरपालिका (municipality) के द्वारा लायसैंस मिलने से प्राप्त हुआ हो। उदाहरण के लिए, इस देश मे भारत सरकार का डाकखाने की सेवा पर एकाधिकार स्थापित है। कोई अन्य व्यक्ति अथवा संस्था डाकखाने का काम नहीं कर सकती। हमारे देश के बड़े-बडे नगरों मे नगरपालिका और राज्य की सरकार ने बिजली कम्पनियों को उन नगरों में बिजली देने का एकाधिकार सौंप दिया है। उदाहरण के लिए प्रत्येक बडे नगर मे किसी न किसी बिजली कम्पनी को उस नगर मे बिजली देने का एकाधिकार प्राप्त है। कोई दूसरी कम्पनी उस नगर मे बिजली उत्पन्न करके बेच नहीं सकती। इसी प्रकार किसी धंधे मे कुछ बडे कारखाने भीषण प्रतियोगिता करके अन्य कारखानों को ठप्प कर देते है। और वे बडे आपस में मिल जाते हैं अथवा एक बड़ा कारखाना अन्य कारखानों को खरीद लेता है तो उस धंधे पर उस संयोग (combination) का अथवा उस बडे कारखाने का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। क्योंकि उस धंधे में फिर वही एकमात्र उत्पादक रह जाता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब किसी भी प्रकार किसी वस्तु का उत्पादन और उसको बेचने का अधिकार एक व्यक्ति अथवा एक संस्था के हाथ में आजाता है, तो उसे एकाधिकार (monopoly) स्थापित होना कहते हैं।

एकाधिकार (Monopoly) का वर्गीकरण · एकाधिकार ... लिखे प्रकार के होते हैं।

(१) प्रकृतिदत्त एकाधिकार (Natural Monopoly) प्रकृतिदत्त एकाधिकार किसी प्रदेश को प्राप्त होता है। जब प्रकृति किसी वस्तु का उत्पादन किसी क्षेत्र विशेष में केन्द्रित कर देती है, तो उस क्षेत्र में उस वस्तु का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका मे ससार मे मिलने वाले सभी हीरे निकलते हैं। दक्षिण अफ्रीका का हीरों पर एकाधिकार स्थापित है। इसी प्रकार भारत और पाकिस्तान मे ससार का सारा जूट उत्पन्न होता है। चिली (दक्षिण अमेरिका) में नाइट्रेट उत्पन्न होता है और उस पर उसका एकाधिकार है। इस प्रकार का एकाधिकार प्रकृतिदत्त है।

(२) सामाजिक एकाधिकार (Social Monopoly)। कुछ धंधे या कारबार ऐसे होते हैं कि जिनको समाज के हित में चलाने के लिए उन पर एकाधिकार स्थापित करना नितान्त आवश्यक होता है। नहीं तो उनको चलाना असम्भव हो जावे अथवा व्यर्थ मे व्यय अधिक हो। उदाहरण के लिए, यदि एक नगर मे दो या अधिक बिजली की कम्पनियों को बिजली देने का अधिकार दे दिया जावे तो उनके तार सारे शहर में एक जाल सा बिछा दें। कोई व्यक्ति किसी कम्पनी से बिजली का कनकशन ले तो दूसरा किसी दूसरी कम्पनी से। इसका परिणाम यह हो कि प्रत्येक बिजली कम्पनी को बिजली उत्पन्न करने का व्यय अधिक हो और लोगों को मँहगे दामों पर बिजली मिले। साथ ही लोगों को उतनी सुविधा भी न हो। कल्पना कीजिए कि कई टेलीफोन कम्पनियों को टेलीफोन का काम सौंप दिया जावे तो टेलीफोन का खर्चा तो बढ़ ही जावेगा, क्योंकि प्रत्येक कम्पनी को अपनी लाइन सभी क्षेत्रों मे ले जानी होगी। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का टेलीफोन एक ही कम्पनी का न होने के कारण बातचीत करने मे भी अड़चन हो सकती है। इसी प्रकार यदि डाकखाने का काम बहुत-सी कम्पनियों के सुपुर्द कर दिया जाय और हर एक कम्पनी प्रत्येक नगर और कस्बे मे अपना-अपना डाकखाना रक्खे, तो केवल उसका व्यय ही नहीं बढ़ जावे वरन डाक का ऐसा सुन्दर प्रबन्ध भी न हो सके। यही स्थिति रेलवे की भी है। समाज के हित में यही है कि एक क्षेत्र मे एक ही रेलवे लाइन निकाली जावे, अन्यथा समाज को व्यर्थ मे यात्रा पर अधिक व्यय करना होगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुछ कारबार ऐसे हैं जिनको कम व्यय पर सुचारु रूप मे करने के लिए उस धंधे पर एकाधिकार स्थापित करना ही होगा, नहीं तो समाज का अहित होगा तथा व्यर्थ मे बहुत व्यय होगा। इन धंधों की विशेषता यही है कि इन पर एकाधिकार स्थापित किए बिना यह सुचारु रूप से चलाये नहीं जा सकते। फिर चाहे राज्य या नगरपालिका उन पर एकाधिकार

स्थापित करे अथवा कोई कम्पनी। इस प्रकार के एकाधिकार को सामाजिक एकाधिकार कहते हैं। अधिकतर इस प्रकार के कारबार पर राज्य अपना एकाधिकार स्थापित कर लेता है।

कानूनी एकाधिकार अथवा सार्वजनिक हित के लिए एकाधिकार (Legal Monopolies or General Welfare Monopolies) : कुछ एकाधिकार कानून द्वारा स्थापित कर दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी ने कोई नवीन खोज की हो, नई क्रिया का आविष्कार किया हो, नया यत्र बनाया हो, तो वह उसको पेटेंट करवा सकता है। दूसरा कोई उसकी नक़ल नहीं कर सकता। केवल वही उससे लाभ उठा सकता है जिसने उसका आविष्कार किया है। इसी प्रकार यदि किसी उत्पादक की कोई वस्तु बहुत प्रसिद्ध हो गई हो और उसका व्यापार-चिह्न (trade mark) बाजार में प्रचलित हो गया हो, तो वह उसकी रजिस्ट्री करवा सकता है। कोई अन्य व्यवसायी उस व्यापार-चिह्न को काम मे नहीं ला सकता। इसी प्रकार जब कोई लेखक एक पुस्तक लिखता है तो उसका सर्वाधिकार (कापीराइट) उसके हाथ में रहता है, कोई भी व्यक्ति न तो उस पुस्तक की नक़ल कर सकता है और न उसको छाप सकता है। कानून के द्वारा यह एकाधिकार उस व्यक्ति को दे दिए जाते हैं। यदि इस प्रकार का एकाधिकार आविष्कर्ता या लेखक को न दिया जाय तो कोई क्यों खोज करने या नई पुस्तक लिखने का कष्ट उठाये। इसका परिणाम यह हो कि समाज इन आविष्कारों तथा नई पुस्तकों से वचित रहे। समाज का हित इसी मे है, सर्वसाधारण का भी हित इसी मे है कि इस प्रकार का कानूनी एकाधिकार स्थापित किया जावे। यदि इस प्रकार आविष्कार करने वालों को प्रोत्साहन न दिया जावे, तो फिर नये आविष्कार न हो और उनसे मिलने वाला लाभ समाज को न मिले।

निर्मित एकाधिकार (Created Monopoly) : जब बहुत से उत्पादक मिलकर एक सयोग (combination) बनाते हैं और धधे पर एकाधिकार स्थापित करते हैं, तो उसको हम निर्मित एकाधिकार कहेगे। यह सयोग ट्रस्ट (trust) मूल्य सघ (kartel), पूल (pool), एसोसियेशन-सम्मेलन (conference) या कारनर (corner) कहलाते हैं। इस प्रकार के सगठनों का एकमात्र उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धा को दूर करके धधे पर एकाधिकार स्थापित करना होता है। इस प्रकार का एकाधिकार बडे और प्रभावशाली कारख द्वारा छोटे और निर्बल कारखानों को अपने में मिला देने से अथवा

प्रतिस्पर्द्धा मे पराजित करके नष्ट कर देने से स्थापित होता है। इस प्रकार यह एकाधिकार गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा के उपरान्त स्थापित होता है।

उद्रग (Vertical) तथा क्षैतिज (Horizontal) संयोग (Combination) : उद्रग सयोग (vertical combination) उसको कहते हैं जिसमे कच्चे माल से लेकर तैयार माल बनाने तक सारी क्रियाओं पर एकाधिकार स्थापित किया जावे। उदाहरण के लिए यदि लोहे की खानों पर भी एकाधिकार स्थापित हो जावे और स्टील भी एक ही उत्पादक बनावे तो यह कहा जावेगा कि लोहे और स्टील का उद्रग सयोग स्थापित हो गया। इस प्रकार के एकाधिकार कम होते हैं। परन्तु कुछ कारबार ऐसे अवश्य हैं जिन्होंने कच्चे माल से तैयार माल तक उत्पादन पर एकाधिकार स्थापित कर लिया है। यदि कपास ओटने के सब कारखाने, सूत कातने और कपड़ा बुनने के सब कारखाने एक सूत्र मे बँध जावें तो हम उसे उद्रग सयोग कहेंगे।

क्षैतिज सयोग (horizontal combination) उस सम्मिलन को कहते हैं, जिसमे उत्पादन की एक अवस्था मे लगे हुए कारखाने सम्मिलित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि स्टील बनाने वाले सभी कारखाने मिलकर एक सयोग (combination) बनालें, तो उसे क्षैतिज सयोग कहेंगे। क्षैतिज सयोग गला काट प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए अथवा मूल्य को ऊँचा उठाने के लिए स्थापित किए जाते हैं। यदि भारत मे सभी सूती वस्त्र बनाने वाले कारखाने एक सूत्र मे बाँध दिए जावे तो हम उसे क्षैतिज संयोग कहेंगे।

जब व्यवसायियो द्वारा एकाधिकार स्थापित किया जाता है तो उनका रूप एक-सा नहीं होता। आवश्यकतानुसार एकाधिकार सम्बन्धी समझौते का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। उनका हम नीचे उल्लेख करेंगे.—

(क) उत्पादन का नियन्त्रण करना : जब कोई धधा गिरी हुई अवस्था में होता है, और धधे को कठिन समय मे से होकर गुज़रना पड़ता है, तो उत्पादक मिलकर उस स्थिति का सामना करने के लिए मिल जाते हैं तथा उत्पादन को कम करके अथवा नियन्त्रित करके मूल्य को गिरने से रोकते हैं। जब द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जूट के धधे की स्थिति खराब होगई थी। जूट के सामान की माँग कम हो गई और मूल्य गिरने लगा, धधा सकटपूर्ण स्थिति में आगया, तो सभी जूट-मिलो ने मिलकर एक समझौता किया। उस समझौते के अनुसार मिलें सप्ताह में केवल पाँच दिन काम करने लगीं और उनके कुछ करघों पर मुहर लगा दी गई जिससे कि वे कम करघों पर उत्पादन करें। इसका

रेणाम, यह हुआ कि जूट का माल कम तैयार होने लगा और इस प्रकार उसकी मत अधिक नहीं गिरी।

(ख) मूल्य निर्धारण जब भिन्न-भिन्न कारखानों में गला काट तिस्पर्द्धा होने लगती है, और उसके फल-स्वरूप प्रत्येक कारखाना वस्तु के मूल्य को बहुत घटा देना है, तब इस प्रकार का समझौता होता है। इस प्रकार के समझौते के अनुसार वस्तु का न्यूनतम मूल्य निर्धारित कर दिया जाता है। उससे कम पर कोई कारखाना उस वस्तु को नहीं बेच सकता। इस दृष्टि से कि भिन्न-भिन्न कारखाने इस समझौते की अवहेलना करने के लिए रेल-भाड़ा, कमीशन और डिस्काउ ट (बट्टा) अधिक देने लगें, इस सम्बन्ध मे भी एक समान दरे निर्धारित करदी जाती हैं। अर्थात् कोई कारखाना निर्धारित कमीशन या डिस्काउंट से अधिक नहीं देगा।

प्रदेशों का विभाजन . कभी-कभी आपसी प्रतिस्पर्द्धा को बचाने के लिए उत्पादक बाजार का आपस में बॅटवारा कर लेते हैं। प्रत्येक उत्पादक अपने र्धारित क्षेत्र में ही अपना माल बेचता है, दूसरे के क्षेत्र में अपना माल नहीं रता। इस प्रकार आपसी प्रतिस्पर्द्धा बच जाती है। इम्पीरियल टुबैको कम्पनी था अमेरिकन टुबैको ट्रस्ट ने इसी प्रकार का समझौता कर रक्खा है। उन्होंने पने क्षेत्रों को बॉट लिया है। एक दूसरे के क्षेत्र में अपना माल नहीं बेचता।

ट्रस्ट (Trust) तथा मूल्य संघ (Kartel) : एकाधिकार (monopoly) के सम्बन्ध में लिखते हुए हम ऊपर कह आये हैं कि एकाधिकार प्रकृतिदत्त, सामाजिक, कानूनी, और स्वनिर्मित (voluntary) होते हैं। आज की स्थति में स्वनिर्मित एकाधिकार सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। स्वनिमित एकाधिकार परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले उत्पादकों के मिलन अथवा संयोग (combination) से स्थापित होता है। आधुनिक धंधों के निरन्तर विकास का परिणाम यह हुआ कि मिश्रित पूॅजी वाली कम्पनी (joint stock company) भी विकसित धधों की व्यवस्था करने के लिए उपयुक्त नहीं रहीं। और जिस प्रकार से व्यक्तिगत व्यवस्थापक को साझेदारी और बाद में मिश्रित पूॅजी वाली कम्पनी के रूप में सगठित होने पर विवश होना पड़ा, उसी प्रकार मिश्रित पूॅजी वाली कम्पनियों को भी मिलन [illegible] के लिए [illegible] पड़ा। इस प्रकार का मिलन (amalgamation) अथवा संयोग (combination) बहुत से रूप धारण करता है, [illegible] ट्रस्ट या मूल्य संघ [illegible] इसका सबसे अधिक प्रचलित तथा महत्वपूर्ण रूप है।

वस्तु स्थिति यह है कि जब किसी धंधे का विकास होता है और उन्में अनेकों मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियां उत्पादन (production) करती हैं तो स्थिति ऐसी आती है जब कि प्रतिस्पर्द्धा अनिवार्य हो जाती है। प्रत्येक कम्पनी अपने माल को अधिकाधिक बेचना चाहती है, और साथ ही उत्पादन भी बढाना चाहती है। प्रतिस्पर्द्धा प्रतिदिन तीव्र होती जाती है और अन्त में गला काट प्रतिस्पर्द्धा (cut throat competition) उत्पन्न हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत सी कम्पनियाँ जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है अथवा जिनकी व्यवस्था ठीक नहीं है, और जिनका लागत व्यय अधिक होता है, वे इस भीषण प्रतिस्पर्द्धा में नहीं ठहर सकतीं और उन्हें अपना कारबार बन्द कर देना पडता है। ऐसा दशा में अधिक क्षमतावान् कम्पनियाँ, जिनकी व्यवस्था तथा सगठन अधिक दृढ होते हैं तथा जिनका लागत-व्यय कम होता है, इन निर्बल कम्पनियों को अपने में मिला लेती है अथवा इनको खरीद लेती हैं। इस प्रकार क्रमशः जब एक धंधे में अपेक्षाकृत थोड़ी-सी ही प्रभावशाली, सुव्यवस्थित तथा सुसगठित कम्पनियाँ क्षेत्र में रह जाती हैं, जिनका लागत-व्यय लगभग एक सा होता है, तो फिर प्रतिस्पर्द्धा भयानक हो उठती है और उस भीषण प्रतिस्पर्द्धा मे किसी को भी लाभ नहीं होता, केवल उपभोक्ताओं (consumers) को वस्तु सस्ते दामों पर मिलने लगती है। ऐसी अवस्था मे जो दूरदर्शी प्रभावशाली और क्षमतावान् व्यवस्थापक होते हैं, वे बचे हुए कारखानों के मिलन (amalgamation) अथवा सघट (combination) की योजना उपस्थित करते हैं और इस प्रकार ट्रस्ट, मूल्य सघ (kartel) तथा अन्य किसी रूप में एकाधिकार स्थापित हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आर्थिक मदी के कारण एक धंधे के सब कारखानो को किसी समझौते के द्वारा धंधे की स्थिति को सँभालने का प्रयत्न करना पड़ता है। जो भी हो, किसी धंधे मे ट्रस्ट अथवा मूल्य-सघ (kartel) अथवा अन्य प्रकार का सयोग (combination) तभी स्थापित होता है जब कि वह धंधा विकसित हो चुकता है और उसमे क्षमतावान तथा प्रभावशाली उत्पादक उत्पन्न हो जाते हैं। अब हम इन सगठनों के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन करेंगे।

ट्रस्ट (Trust) या मूल्य सघ (Kartel) ट्रस्ट या कार्टेल प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप जन्म लेते हैं। जैसे-जैसे मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों का सगठन होता जाता है, बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production

के लाभ दृष्टि-गोचर होने लगते हैं और उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होने लगता है। प्रत्येक कम्पनी अपने माल के लिए बाजार को सुरक्षित रखने और उसका विस्तार करने का प्रयत्न करती है। इसलिए एक ही उपाय काम में लाया जाता है, अर्थात् वस्तु के मूल्य को लगातार घटाया जाता है। मूल्य के घटने से निर्बल कम्पनिया या तो समाप्त हो जाती हैं, अथवा उनको बड़ी और क्षमतावान कम्पनियाँ अपने मे मिला लेती हैं। इस प्रकार जब सारा उत्पादन कुछ थोड़े से साधन-सम्पन्न उत्पादकों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है, तो भयावह प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है। वे कच्चे माल के लिए तथा बाजार के लिए भीषण प्रतिस्पर्द्धा करने लगते हैं। ऐसी दशा में उन प्रभावशाली तथा क्षमतावान् उत्पादकों का विनाश तभी रोका जा सकता है जबकि वे आपस मे कोई समझौता करलें और धधे पर एकाधिकार स्थापित करलें। उस स्थिति में ट्रस्ट या कार्टेल की स्थापना होती है। सयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी तथा ब्रिटेन मे इस प्रकार के सगठनों का विशेष रूप से उदय हुआ। यद्यपि आज सभी देशों मे इस प्रकार के सगठनों का आविर्भाव होरहा है। ब्रिटेन तथा सयुक्तराज्य अमेरिका में इन्हें ट्रस्ट कहते हैं और जरमनी मे कार्टेल कहते हैं।

ट्रस्ट (Trust) ट्रस्ट वास्तव मे क्षैतिज सयोग (horizontal-combination) होता है। जब कि एक ही कारबार करने वाली कपनियाँ अपने कारबार को एक बोर्ड आव ट्रस्टी को सौंप देती हैं, और वह बोर्ड उनका सचालन करता है। वास्तव में सभी कम्पनियों का मिलन होता है और भिन्न-भिन्न कम्पनियों का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। होता यह है कि कुछ बडे पूँजीपति या उद्योगपति उन सभी बची हुई कम्पनियों को हस्तगत करके धधे पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। किसी-किसी दशा में ट्रस्ट उत्पादन की भिन्न-भिन्न स्थितियों का नियत्रण करता है। उस दशा में वह उद्ग्र सयोग (vertical-combination) होता है।

ट्रस्ट मे जो भी कम्पनियाँ मिलती हैं वे अपने व्यक्तित्व को बिलकुल समाप्त कर देती है। और एक नवीन संगठन खड़ा किया जाता है जिसे विलयन (merger) भी कहते हैं। यह विलयन अथवा ट्रस्ट एक नया नाम धारण करता है और समस्त धधे पर अधिकार स्थापित कर लेता है। विलयन या ट्रस्ट का निर्माण वास्तव मे किसी चतुर अत्यधिक साधन सम्पन्न उद्योगपति अथवा थोड़े से उद्योगपतियो या पूँजीपतियों की सूझ होती है और वे ही इस प्रकार एक धधे पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं।

भारत में १६३६ में सीमेंट के कारखानों ने ए० सी० सी० (एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी आफ इंडिया) के नाम से एक बड़ा विलयन या ट्रस्ट स्थापित किया। इस ट्रस्ट ने सभी मिलने वाली सीमेंट कम्पनियों को खरीद लिया। उन कम्पनियों का अस्तित्व समाप्त होगया और एक नवीन सगठन का जन्म हुआ। अब यह ट्रस्ट सीमेंट के उत्पादन तथा वितरण का नियन्त्रण करता है।

मूल्य संघ या कार्टेल (Kartel) : जब भिन्न-भिन्न कम्पनियाँ अपने अस्तित्व को नष्ट करने के लिये तैयार नहीं होती, किन्तु पृथक रहकर कारबार करना चाहती हैं, साथ ही प्रतिस्पर्द्धा को नष्ट करदेना चाहती हैं; तो वे अपने कुछ कार्य-विशेष का—बिक्री का कार्य-एक नवीन सगठन को सौंप देती हैं। उस नवीन सगठन को मूल्य-सघ या कार्टेल (kartel) कहते हैं। कार्टेल ट्रस्ट की अपेक्षा एक शिथिल क्षैतिज सयोग होता है। इससे सम्बन्धित सभी कम्पनियों का अस्तित्व पृथक रहता है। कार्टेल केवल इस बात का नियन्त्रण करता है, कि प्रत्येक कम्पनी कितना उत्पादन करेगी। साथ ही कार्टेल मूल्य भी निर्धारित करती है तथा प्रत्येक सम्बन्धित कम्पनी का माल केवल कार्टेल ही बेचता है। सम्बन्धित कम्पनिया अपने माल को स्वय नहीं बेच सकती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कार्टेल प्रत्येक कम्पनी के लिये एक क्षेत्र निर्धारित कर देती हैं। उसी क्षेत्र में उक्त कम्पनी अपना माल बेच सकती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सारे आर्डर कार्टेल के पास आते हैं और कार्टेल किसी भी सम्बन्धित कम्पनी को आर्डर का माल भेजने के लिये आज्ञा दे देती है। बहुधा यह होता है कि पृथक-पृथक कारखाने उत्पादन-कार्य करते रहते हैं, किन्तु तैयार माल कार्टेल को बेचने के लिये सुपुर्द कर दिया जाता है। भारत में १६३६ में सभी शक्कर के कारखानों ने अखिल भारतीय शुगर सिंडिकेट स्थापित की थी, और अपनी शक्कर को बेचने का एकाधिकार उस सिंडिकेट को दे दिया था। शुगर सिंडिकेट वास्तव में कार्टेल का ही रूप था।

कार्टेल अधिकतर जरमनी में पाई जाती हैं। कार्टेल उतनी स्थायी नहीं होतीं, जितना कि ट्रस्ट अथवा विलयन (merger) कार्टेल कभी-कभी कुछ समय के लिये ही स्थापित की जाती हैं। कभी-कभी सम्बन्धित कम्पनियों के द्वारा समझौते की शर्तों को पूरी तरह पूरा न करने के कारण कार्टेल विघटित हो जाते है अतएव कार्टेल उतनी दृढ़, प्रभावशाली और स्थायी नहीं होती जितना कि ट्रस्ट और विलयन।

ट्रस्ट और कार्टेल के भेद : ट्रस्ट और कार्टेल मे कुछ मौलिक भेद हैं जो नीचे लिखे हैं :—

(१) ट्रस्ट एक नवीन सगठन होता है जिसमें मिलकर कम्पनियाँ अपना अस्तित्व समाप्त कर देती है। परन्तु कार्टेल में उन कम्पनियों का अस्तित्व पृथक रहता है।

(२) ट्रस्ट में उत्पादन (production) और वितरण (distribution) ट्रस्ट की आधीनता में होते हैं, परन्तु कार्टेल मे उत्पादन पृथक और स्वतन्त्र रूप से होता है, केवल वितरण ही केन्द्रीय नियन्त्रण अर्थात् कार्टेल की देखरेख में होता है।

(३) ट्रस्ट एक स्थायी सगठन होता है, क्योंकि उसमें उदरस्थ कम्पनियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वे फिर कभी जीवन धारण नहीं कर सकतीं। परन्तु कार्टेल अस्थायी संगठन होता है और वहुधा उसका जीवन थोड़ा होता है उनसे सम्बन्धित कम्पनियाँ अपने निजी स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देती हैं, और जब उन्हें कार्टेल से बाहर निकल जाने मे लाभ प्रतीत होता है, तो वे कार्टेल से पृथक हो जाती हैं।

एक दृष्टि से देखा जावे तो कार्टेल ट्रस्ट की अपेक्षा अधिक अच्छा सगठन है। यह कठोर नहीं होता। इस सगठन मे लचीलापन है। वह उत्पादकों को उत्पादन-कार्य में स्वतन्त्र छोड देता है। प्रत्येक उत्पादक उत्पादन-कार्य में अधिक उन्नति करने की चेष्टा करता है और उत्पादन अधिक कुशलता पूर्वक होता है। साथ ही कार्टेल में अधिक पूँजीयन (over-capitalisation) का भय नहीं रहता जबकि ट्रस्ट में वह अनिवार्य हो जाता है।

ट्रस्ट और कार्टेल के लाभ : ट्रस्ट वास्तव में बडी मात्रा के उत्पादन की चरम सीमा का प्रतीक है। अतएव बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) का पूरा लाभ ट्रस्ट को ही प्राप्त होता है। बडी मात्रा के उत्पादन मे जिन वाह्य तथा आन्तरिक बचतों (external and internal economies) का उल्लेख किया जाता है, वह ट्रस्ट को ही पूर्ण रूप से प्राप्त होतीं हैं। बड़ी मात्रा के उत्पादन से होने वाली बचतों के अतिरिक्त निम्नलिखित लाभ ट्रस्ट को और होते हैं :—

(१) प्रबन्ध में बचत—ट्रस्ट के स्थापित हो जाने से उत्पादन और बिक्री का प्रबन्ध करने में बहुत अधिक बचत होती है। उदाहरण के लिए बीस

या पच्चीस बड़ी कम्पनियों के मिलन से एक ट्रस्ट स्थापित होता है तो प्रबन्ध व्यय बहुत कम हो जावेगा। साथ ही बिक्री का प्रबन्ध भी एक ही विभाग करेगा, अतएव उत्पादन और बिक्री के प्रबन्ध का व्यय पहले की अपेक्षा बहुत कम हो जावेगा। सारे धधे का प्रबन्ध एक स्थान से होगा, अतएव उसमें बहुत अधिक बचत होगी।

(२) प्रबन्ध की कुशलता और योग्यता: ट्रस्ट को एक सुविधा यह होती है कि उसमें विलीन होने वाली कम्पनियों के योग्यतम कर्मचारियों और प्रबन्धकों को वह रखलेगा और उनकी योग्यता का लाभ सभी विलीन होने वाले कारखानों को मिलेगा। इसके अतिरिक्त उत्पादन की पद्धति और क्रिया में भी बहुत सुधार होजाता है। प्रत्येक कारखाने के कुछ उत्पादन-रहस्य होते हैं। ट्रस्ट को वे सभी सुलभ हो जावेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि जो भी पद्धति सबसे उत्तम होगी उसका प्रत्येक कारखाने में अनुगमन होगा और उत्पादन की कुशलता बढ जावेगी।

(३) ट्रस्ट अथवा कार्टेल के द्वारा पूर्ति (Supply) नियमित होती है: जब ट्रस्ट या कार्टेल स्थापित हो जाता है, तो उस वस्तु की पूर्ति नियमित रूप से हो सकती है। क्योंकि यदि एक कारखाने मे किसी कारणवश उत्पादन रुक जावे तो दूसरे कारखानों में उत्पादन को बढा कर उसकी पूर्ति की जा सकती है। यह तो मानी हुई बात है कि सगठन जितना ही अधिक बड़ा और विस्तृत होगा, उतना ही उत्पादन अधिक नियमित होगा।

एक कारखाने की अपेक्षा एक ट्रस्ट अथवा कार्टेल बुरे समय का सामना करने की अधिक क्षमता रखता है। क्योंकि जब आर्थिक मदी का समय होता है अथवा धधा किसी अन्य कठिनाई का सामना कर रहा होता है, तो ट्रस्ट अथवा कार्टल उसका सामना अच्छी तरह से कर सकता है। वह उत्पादन को घटाकर तथा व्यय को कम करके अधिक मदी का सामना अधिक अच्छी तरह से कर सकता है।

(४) ट्रस्ट को एक बड़ा लाभ यह होता है कि वह अपने अन्तर्गत आये हुए कारखानों के प्रचलित ट्रेटमार्कों तथा अनुसधानों का पूरा उपयोग कर सकता है। यदि कल्पना करें कि भारतवर्ष मे ऊनी कारखानों का एक ट्रस्ट स्थापित हो जाने, तो वह लालइमली तथा धारीवाल के ट्रेड मार्कों का उपयोग अपने कारखानों से उत्पन्न किये जाने वाले समस्त कपड़े पर कर सकता है।

(५) ट्रस्ट तथा कार्टेल के पास एकाधिकार होने के कारण उन्हें कुछ और सुविधायें भी प्राप्त हो जाती हैं,जो कि अकेले कारखानों को प्राप्त नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, कच्चा माल तथा मशीने तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने में तथा तैयार माल बेचने में ट्रस्ट अथवा कार्टेल को बहुत लाभ होता है। एकाधिकार होने के कारणट्र स्ट अपने माल का ऊँचा मूल्य लेता है, तथा कच्चे माल इत्यादि का अकेला खरीदार होने के कारण उसे मूल्य में भारी रियायत मिल जाती है।

(६) उत्पादन-कार्य मे भी ट्रस्ट अधिक कुशलना प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वह योग्यतम व्यक्तियों को उचित वेतन पर रख सकता है, और अनुसधान तथा खोज पर बहुत अधिक व्यय कर सकता है।

(७) ट्रस्ट अथवा कार्टेल अपने माल को बड़ी आसानी से विज्ञापन तथा प्रचार पर बिना अधिक व्यय किये बेच सकता है। बात यह है कि ट्रस्ट का कोई प्रतिस्पर्द्धी तो होता नहीं। ट्रस्ट प्रत्येक जिले तथा छोटे प्रदेश में अपनी एक ब्राच खोल सकता है और उस प्रदेश या जिले के ग्राहक उस ब्रान्च से अपनी आवश्यकता की चीजें खरीद सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विज्ञापन करने तथा एजेण्ट और कनवेसरों का व्यय कम पड़ता है तथा रेल-भाड़ा इत्यादि व्यय भी कम होता है।

(८) ट्रस्ट अथवा कार्टेल के स्थापित हो जाने पर श्रमजीवियों की स्थिति उतनी मजबूत नहीं रहती जितनी कि पृथक कारखानों मे रहती है। क्योंकि यदि किसी एक कारखाने में हड़ताल हो जावे तो ट्रस्ट अन्य कारखानो के द्वारा उत्पादन की कमी को पूरा कर सकता है।

ट्रस्ट तथा कार्टेल की हानियाँ

(१) ट्रस्ट तथा कार्टेल पूर्ति (Supply) तथा मूल्य का नियन्त्रण करता है जब किसी धधे में ट्रस्ट अथवा कार्टेल स्थापित हो जाता है तो वह पूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है और इस प्रकार ऊँचा मूल्य निर्धारित कर सकता है। यदि ट्रस्ट अथवा कार्टेल यह देखता है कि पूर्ति को कम करके वस्तु को ऊँचे भाव पर बेचने मे अधिक लाभ होता है, तो वह पूर्ति को कम कर देगा और उससे उपभोक्ताओं (consumers) को हानि होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता ट्रस्ट की दया पर निर्भर हो जाते हैं।

(२) उत्पादन-कुशलता की उन्नति रुक सकती है : ट्रस्ट अथवा कार्टेल स्थापित हो जाने पर जहाँ उत्पादन-कुशलता की उन्नति हो सकती है, वहाँ यह सम्भावना भी हो सकती है कि उत्पादन-कुशलता की गति अवरुद्ध हो जावे, जब किसी कारखाने को अन्य कारखानों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है, तो उसका निरन्तर प्रयत्न यह होता है कि उत्पादन पद्धति में सुधार हो, लागत व्यय कम हो। परन्तु ट्रस्ट अथवा कार्टेल स्थापित हो जाने पर प्रतिद्वन्द्विता का भय नहीं रहता। अतएव इस सुरक्षा के आवरण मे ट्रस्ट प्रतिगामी और रूढिवादी बन सकता है। उत्पादन पद्धति में सुधार करने का प्रयत्न ही वह नहीं करता है।

कार्टेल का एक बड़ा दोष यह भी है कि वह अच्छे उन्नतिशील कारखानों तथा रद्दी पुराने ढग के कारखानों को सगठित करता है और उनकी आपसी प्रतिस्पर्द्धा को रोक कर रद्दी कारखानों को भी जीवित रखता है।

(३) प्रतिस्पर्द्धा मे अनैतिक तथा अनुचित ढंग काम मे लाये जाते है : जब कोई ट्रस्ट अथवा कार्टेल स्थापित होता है, तो अपने विरोधियों तथा प्रतिद्विन्द्वियों को समाप्त करने के लिए अत्यन्त अनुचित तरीके काम में लाये जाते हैं। कोई भी ट्रस्ट या कार्टेल यह सहन नही कर सकता कि उस धन्धे मे उनका कोई प्रतिस्पर्द्धी खड़ा हो। मूल्य-युद्ध (price war) के द्वारा यह ट्रस्ट अथवा कार्टेल अपने सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर देते हैं। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका मे स्टैन्डर्ड आयल ट्रस्ट का तेल कुओं पर एकाधिकार स्थापित है। यदि कोई नया तेल क्षेत्र निकलता है, और उस तेल-क्षेत्र को कोई अन्य व्यवसायी ले लेता है, तो स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट उससे खरीदने की चेष्टा करता है। यदि ट्रस्ट इसमे सफल नहीं होता, तो एक कल्पित नाम की कम्पनी उस तेल-क्षेत्र में स्थापित करदी जाती है और वह नई कम्पनी उस नये प्रतिस्पर्द्धी के विरुद्ध बहुत कम कीमत पर तेल बेचने लगती है। ट्रस्ट उस क्षेत्र मे थोड़ा घाटा सह लेता है, परन्तु ट्रस्ट को जो अरबों रुपया का वार्षिक लाभ होता है उसकी तुलना मे यह हानि नगण्य होती है, परन्तु वह नया प्रतिस्पर्द्धी खड़ा नहीं रह सकता और उसे विवश होकर अपना कारबार बन्द कर देना पड़ता है। तदुपरान्त ट्रस्ट उन तेल-कूपों को खरीद लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ट्रस्ट नये कारबार को जन्म नहीं लेने देते। यही नहीं कि ट्रस्ट भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार मूल्य को घटाते बढ़ाते रहते हैं। कहीं उस वस्तु का अधिक मूल्य लेते हैं तो कहीं कम लेते हैं। किसी

क्षेत्र के लिए रेल भाड़ा अपने पास से दे देते हैं अथवा कम रेलभाडा लगाते हैं तो किसी क्षेत्र से अधिक। यह ट्रस्ट भिन्न-भिन्न प्रदेशों के व्यवसायियो से गुप्त सधि कर लेते हैं और इस प्रकार वे अपने प्रतिस्पर्द्धियों को कुचल कर समाप्त कर देते तथा उपभोक्ताओं (consumer) का शोषण करते हैं। हमने ऊपर स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट की चर्चा की थी। इन ट्रस्टों का वार्षिक लाभ अरबों रुपया होता है। वे केवल एक धन्धे पर ही अपना एकाधिकार स्थापित नही करते वरन् वे क्रमश अन्य समान धन्धों पर भी अपना प्रभाव जमाते है। उदाहरण के लिए, स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट गैस तथा विजली के कारखानों को भी क्रमश मोल ले लेता है। यही नहीं, स्टैंडर्ड आयल ने बहुत से बैंकों तथा कई रेलवे लाइनों को भी खरीद लिया है। स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट के प्रतिस्पर्द्धी को यह बैंक कभी ऋण नही देंगे, अथवा बहुत अधिक सूद पर ऋण देंगे। रेलवे कम्पनियाँ उसके प्रतिस्पर्द्धी के तेल को रास्ते में ही नष्ट कर देगी। इसका फल यह होगा कि स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट के प्रतिस्पर्द्धी का तेल उसके ग्राहक के पास कभी पहुँचेगा ही नहीं, रेलवे उसका हर्जाना दे देगी। फिर यदि कोई रेलवे कम्पनी अथवा बैंक स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट का न भी हो, तो भी वह इतने बड़े ग्राहक को कभी नाराज नहीं करना चाहेंगे, और उसके सकेत पर उसके प्रतिस्पर्द्धी को कोई सुविधा नही देंगे। इस प्रकार ट्रस्ट अथवा कार्टल अपने प्रतिस्पर्द्धियो को पनपने ही नहीं देते और उन्हें कुचल डालते हैं तथा उपभोक्ताओं का मनमाने ढग से शोषण करते हैं।

(४) **पूँजी और श्रम बेकार हो जाता है** जब ट्रस्ट बनते हैं तो स्वभावत: वह ट्रस्ट वस्तु के मूल्य को ऊँचा उठाने के अभिप्राय से उत्पादन को कुछ कम करना चाहता है। और जो कारखाने कि अच्छे नहीं होते, जिनकी व्यवस्था बहुत अच्छी नही होती और जो अधिक लाभदायक नहीं होते, उन्हें वह बन्द कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से मजदूर बेकार हो जाते हैं और पूँजी भी बेकार हो जाती है। किन्तु यह अस्थायी हानि है। उन कारखानों को बन्द कर देने से जो कि व्यवस्थित नही हैं, अन्तत उत्पादन की कुशलता बढ जाती हैं, लागत-व्यय कम हो जाता है और धन्धे की स्थिति अच्छी हो जाती है।

(५) **अधिक पूंजीयन (over-capitalisation) तथा सट्टे (speculation) की प्रवृत्ति बढती है** जब ट्रस्ट बनते है तो सट्टे तथा अधिक पूँजीयन की प्रवृत्ति बढती है। बात यह होती है कि जब भीषण प्रतिस्पर्द्धा

के उपरान्त शक्तिवान और बडे कारखाने रह जाते है और उनको मिलाकर ट्रस्ट बनाया जाता है। तब किसी कारखाने में लगी हुई पूँजी अथवा उसके वार्षिक लाभ के आधार पर उसका मूल्य नही कूता जाता; वरन उसकी युद्ध करने तथा प्रतिस्पर्द्धा में खडे रहने की शक्ति पर कूता जाता है। कल्पना करिये कि एक कारखाना जिसे कि ट्रस्ट बनाने वाले लेना चाहते हैं, उसमें पाँच करोड़ की पूँजी लगी हुई है। परन्तु उस कारखाने के स्वामी उसको पन्द्रह करोड़ रुपये में ही देना चाहते है। तो ट्रस्ट बनाने वालों को उस मूल्य को चुकाना होता है। बहुधा यह होता है कि जब ट्रस्ट बनता है और बचे हुए कारखानों को लेता है, तो उनमे लगी हुई पूँजी से बहुत अधिक मूल्य दिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि भारत में शक्कर के सारे कारखानों को मिलाकर एक ट्रस्ट बनाया जावे और उन सभी कारखानो में ५० करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है और ट्रस्ट उनको १०० करोड़ मे खरीद ले, तो फिर इसका परिणाम यह होगा कि ट्रस्ट की पूँजी (capital) तो सौ करोड रुपये की होगी, परन्तु कारखानों के रूप में उसकी जायदाद या लेनी (assets) वास्तव मे ५० करोड़ रुपये की ही होगी इसको "पूँजी का तरलन" (watering of capitals) कहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आरम्भ से ही धन्धे पर बहुत अधिक पूँजी का भार हो जाता है, और कभी-कभी यही कारबार के विनाश का कारण बनता है। यह ठीक है कि ट्रस्ट से होने वाली बचतों (economies) के कारण कभी-कभी 'पूँजी के तरलन' होने पर भी वह लाभदायक सिद्ध होता है, परन्तु कभी-कभी इससे बहुत हानि होती है, और वह व्यक्ति जो यह नहीं जानता कि इसमे पूँजी का तरलन हुआ है और उस नये ट्रस्ट के हिस्से खरीद लेता है, उसे धोखा होता है।

(६) सामाजिक बुराइयाँ ट्रस्ट तथा कार्टेल से सामाजिक बुराइयाँ भी फैलती हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि ट्रस्ट किसी नये व्यवसायों को उस धंधे मे पनपने नहीं देता इससे समाज की आर्थिक उन्नति मे बाधा उपस्थित होती है। यही नहीं, यदि 'पूँजी का तरलन' अधिक हो, तो थोड़ी पूँजी वाला जो कि इन ट्रस्टों के हिस्सों मे अपनी पूँजी लगाता है, उसको भारी हानि उठानी पड़ती है। यही नहीं, मजदूरो को भी हानि उठानी पड़ती है और वे बेकार हो जाते हैं। ट्रस्ट तथा कार्टेल मे सबसे भयंकर हानि यह होती है कि इन शक्तिमान ट्रस्टो के स्वामी कुछ थोड़े से पूँजीपति होते हैं। उनके पास कल्पनातीत धन एकत्रित हो जाता है। समाज मे आर्थिक विषमता बहुत अधिक

ो जाती है और थोड़े से धन-कुबेर उत्पन्न हो जाते हैं। यह धन-कुबेर अपने श के राजनैतिक दलों को उनके चुनाव मे आर्थिक सहायता प्रदान करके नपर अपना प्रभाव जमा लेते हैं, तथा समाचार पत्रों को खरीद लेते हैं। इसका रिणाम यह होता है कि इन धनकुबेरों का राजनैतिक प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है और वे सरकार से अपने हित के कानूनों को पास करवाते हैं। एक कार से प्रजातन्त्र व्यग्य हो जाता है, सारी सत्ता इन धन कुबेरों के हाथ में चली जाती है। यही नहीं जब इन धन कुबेरों को अपने देश में ही अपनी बढती हुई पूँजी को लाभदायक ढग से लगाने का अवसर नहीं रहता, तो फिर वे अन्य देशों में अपनी पूँजी लगाने का अवसर ढूँढते हैं और वे अपनी सरकार को अन्य पिछड़े हुए निर्बल राष्ट्रों पर राजनैतिक प्रभाव कायम करने को विवश करते हैं। ब्रिटेन, संयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी इत्यादि देशों में जो साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का उदय हुआ यह पूँजीवाद की बढती हुई शक्ति का ही परिणाम है। इतनी अधिक आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में इकट्ठी हो जाना देश के लिए कभी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती।

अन्य प्रकार, संयोग (Combinations)

ट्रस्ट अथवा कार्टेल के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी सयोग होते हैं, जो ट्रस्ट अथवा कार्टेल से मिलते-जुलते हैं, यद्यपि उनमें थोडी भिन्नता अवश्य होती है। इनमें नीचे लिखे मुख्य हैं.—

(१) सूत्रधारी कम्पनी या प्रमण्डल (Holding Company) सूत्रधारी कम्पनी के सम्बन्ध में हम 'व्यवस्था' के परिच्छेद में लिख आये हैं। कुछ पूँजीपति एक कम्पनी स्थापित करते हैं, वह कम्पनी क्रमश' एक धधा विशेष म लगी हुई सारी कम्पनियों के नियंत्रण हिस्से (controlling shares) अपने अधिकार में कर लेती है। तदुपरान्त यह कम्पनी उन कम्पनियों के बोर्ड आव-डायरेक्टर मे अपने आदमी रख देती है और उन कम्पनियो का सारा कारबार उस सूत्रधारी कम्पनी के देख-रेख में होता है।

(२) व्यावसायिक संघ (Pool) पूल या व्यावसायिक सघ उत्पादकों (producers) के उस सगठन को कहते हैं, जिसमे कि उत्पादक परस्पर प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए एक समझौता कर लेते हैं। उस समझौते के अनुसार या तो बाज़ार को आपस में बाँट लिया जाता है और एक उत्पादक दूसरे के बाज़ार-क्षेत्र में अपनी वस्तु नहीं बेचता, अथवा कुल उत्पन्न की हुई वस्तु या पैदावार इकट्ठी करली जाती है और फिर उसको किसी निर्धारित आधार

पर बाँट लिया जाता है। या फिर सब उत्पादक आय को एक साथ मिलाकर फिर किसी निर्धारित आधार पर बाँट लेते हैं। उदाहरण के लिए 'क' और 'ख' स्थान के बीच में प्रतिदिन २० मोटर-बस चलती हैं। उन बसों में भीषण प्रतिस्पर्द्धा रहती है। वे सवारियों को आकर्षित करने के लिए किराये को कम करती हैं इसलिए सब को हानि होती है। अब यदि वे सब मिलकर एक 'पूल' बनालें और यह निश्चय करलें कि सब बसें एक ही किराया लेंगी, वह किराया एक जगह जमा होगा और किसी बस में कितनी सवारी गई हैं इसका ध्यान न करके सभी बसों को वह आय बराबर बाँट दी जावेगी, तो फिर प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जावेगी और किसी को भी हानि न होगी।

(३) पूँजीपतियों का गुट्ट (Ring) जब कुछ बड़े पूँजीपति व्यापारी एक गुट्ट बनाकर किसी वस्तु की पूर्ति (supply) को, जो कि बाजार में बिकने के लिए आवे, नियन्त्रित कर लेते हैं और इस प्रकार उस वस्तु के मूल्य को ऊँचा रखने का प्रयत्न करते हैं, तो उसे गुट्ट या रिंग (ring) कहते हैं।

(४) बाजार मुट्ठी में करना (Cornering the Market) जब किसी वस्तु की कुल पूर्ति को एक व्यापारी अथवा कुछ बड़े व्यापारी मिलकर अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं, तब उसे बाजार मुट्ठी में करना (cornering) कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई बहुत बड़ा पूँजीपति अथवा कुछ बड़े पूँजीपति मिलकर भारतवर्ष की सारी कपास खरीद ले, तो उसे कपास मुट्ठी में करना (cornering the cotton) कहेंगे। किन्तु आजकल किसी वस्तु की समस्त पूर्ति को खरीद सकने के लिए जितनी पूँजी चाहिए उतनी पूँजी आमतौर में किसी के पास नहीं होती। फिर यातायात के साधन इतने उन्नत हो गए हैं कि इस प्रकार के प्रयत्न सफल होना कठिन है। बाज़ार मुट्ठी में करने के लिए जो भी व्यापारी प्रयत्नशील होता है, वह बिना किसी को बताये हुए कल्पित नामों से बाज़ार में खरीदारी करने लगता है। लोगों को यह कल्पना भी नहीं होती कि कोई बाज़ार मुट्ठी में कर रहा है। वे कपास को बेचते हैं उनके पास कपास तो होती नहीं, आगे के वायदे पर कपास बेच दी जाती है। जब खरीदार देखता है कि अधिकांश कपास मेरी मुट्ठी में आगई, तो वह यह खबर कर देता है कि कपास का बाजार मुट्ठी में कर लिया गया है। जिन लोगों ने कपास बेच दी है, उन्हें अब यह जल्दी पड़ती है कि वे कपास खरीदें। सारी कपास तो उस एक खरीदार के हाथ में पहुंच जाती है, अतएव अब वह कपास का मनमाना ऊँचा दाम लेता है। परन्तु इसमें बहुत बड़ी जोखिम भी है। यदि

यह बात फैल जावे कि कोई व्यापारी कपास के बाजार को मुट्ठी में करने का प्रयत्न कर रहा है, अथवा खरीदने के लिए खरीदार के पास यथेष्ट पूँजी न रहे तो वह दिवालिया हो जावेगा। उस दशा में कपास का भाव नीचे चला जावेगा और कपास के बाजार को मुट्ठी में करने वाले को बहुत अधिक हानि होगी। कई बार चाँदी के बाजार को मुट्ठी मे करने के प्रयत्न हुए, परन्तु वह असफल रहे और कई बैंक इस प्रयत्न में धराशायी होगए।

(५) कान्फ्रैंस (Conference) जब जहाजी कम्पनियाँ अपना एक गुट्ट बना लेती हैं और अपना सगठन कर लेती हैं, तो उसे कान्फ्रैंस कहते हैं इस प्रकार एक गुट्टबना लेने पर जहाजी कम्पनियाँ अपने नये प्रतिद्वन्द्वियों को पनपने ही नहीं देतीं उनका सबसे बड़ा शस्त्र बट्टा देने की पद्धति है। कान्फ्रैंस में सम्मिलित सभी जहाजी कम्पनियों की भाड़ा-दर एक होती है। जो व्यापारी वर्ष भर तक अपना माल जहाजी कम्पनियों के द्वारा जो कि गुट्ट में सम्मिलित है भेजता है, उसको वर्ष के अन्त में उसने जितना भाड़ा दिया है उसका दस अथवा निश्चित प्रतिशत वापस कर दिया जाता है। परन्तु यदि वह व्यापारी एक बार भी अपना माल किसी दूसरी कम्पनी द्वारा जो कि गुट्ट में सम्मिलित नहीं है, भेज देता है, तो उसका वर्ष भर का बट्टा (rebate) जो कि उसको मिलना चाहिए था, मारा जाता है। होता यह है कि नई कम्पनी इतनी क्षमतावान और सबल तो होती नहीं कि सब देशों को लगातार अपने जहाज भेज सके, अतः उसके द्वारा एक दो स्थानों को माल भेजकर वर्ष भर का रिबेट (बट्टा) कौन खोये। भारत में विदेशी जहाजी कम्पनियों ने इसी प्रकार अपना गुट्ट बना लिया था, और सिन्धिया कम्पनी को जो कि भारतीय कम्पनी थी, इसी कठिनाई का सामना करना पड़ता था।

(६) संयोग (combine). सयोग शब्द ऊपर लिखे किसी भी प्रकार के संगठन के बारे में व्यवहार में लाया जा सकता है। जब उत्पादक किसी प्रकार का समझौता या संगठन करके आपसी प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करदें और अपनी वस्तु का मूल्य ऊँचा रखने का प्रयत्न करें, उस सगठन को सयोग कहेंगे। किन्तु इस शब्द का श्रम के सगठन के बारे में भी उपयोग होता है। ऊपर लिखे सगठन तो पूँजी (capital) के सयोग हैं।

(७) विवेचना एकाधिकार (discriminating monoply) जिस सगठन के पास भी किसी धंधे अथवा किसी वस्तु के उत्पादन का एकाधिकार है, वह अपनी वस्तु का एक समान मूल्य नहीं लेता। रेलवे कम्पनियां सभी यात्रियों से,

जो कि एक समान दूरी की यात्रा करते हैं, एक समान रेलभाड़ा नहीं लेती और न सभी प्रकार के माल पर एक दूरी पर एक समान भाड़ा लेती है। प्रयाग से कानपुर जाने वाले प्रथम श्रेणी के यात्री से तीसरी श्रेणी के यात्री की अपेक्षा कई गुना भाड़ा लिया जाता है। इसी प्रकार एक मन रेशम पर एक मन कोयले या घास की अपेक्षा एक समान दूरी के लिए कई गुना भाड़ा लिया जाता है। बिजली देने वाली कम्पनिया अपने भिन्न प्रकार के ग्राहकों से बिजली का भिन्न मूल्य लेती है। ऊपर लिखे उदाहरण विवेचन एकाधिकार के उदाहरण हैं। मूल्य विवेचन (price discrimination) नीचे लिखे अनुसार होता है:—

(क) व्यक्तियों में विवेचन · बडे-बडे स्टोर, धनी व्यक्तियों से जो कि प्रतिष्ठा और स्थिति के कारण उन बडे स्टोरो से ही खरीदते है। किसी भी वस्तु का अधिक मूल्य लेते हैं और साधारण व्यक्तियों से कम मूल्य लेते हैं।

(ख) वर्गों (classes) मे विवेचन एक कुशल और प्रसिद्ध डाक्टर धनी रोगियो से अधिक फीस ले सकता है, इसी प्रकार रेलवे प्रथम व द्वितीय श्रेणियों के यात्रियों से अधिक भाड़ा लेती है। चतुर प्रकाशक किसी बढिया पुस्तक का राज सस्करण निकाल कर उसका बहुत ऊँचा दाम रखते है और धनी ग्राहको को पुस्तक बेच देता है। दूसरा सस्करण साधारण मूल्य का मध्यम श्रेणी के पाठकों के लिए निकालता है, और सस्ता सस्करण सर्व साधारण के लिए निकालता है।

(ग) उपयोग मे विवेचन (Discrimination) · बिजली देने वाली कम्पनिया व्यावसायिक कार्य के लिए ली जाने वाली बिजली का कम और घरेलू कार्य के लिए ली जाने वाली बिजली का अधिक मूल्य लेती है। यदि वे ऐसा न करे तो बिजली का उपयोग व्यावसायिक कार्य के लिए नहीं हो सके।

(घ) स्थानों में विवेचन · कभी-कभी एकाधिकारी (monopolist) भिन्न-भिन्न स्थानों म अपनी वस्तु का मूल्य भिन्न लेता है। बहुधा एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य अपने देश मे अधिक लेता है, एक ही देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे मूल्य भिन्न रहता है। रेलवे कम्पनिया जब किसी प्रदेश को जो कि पिछड़ा होता है, उसको आर्थिक दृष्टि से उन्नत बनाना चाहती है, तो उन प्रदेश के लिए भाड़ा कम कर देती है। उदाहरण के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका की रेलों ने पश्चिमीय राज्यों के लिए कम भाड़ा लेकर उनको बसाने और उन्नत बनाने

बहुत बड़ी सहायता की है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है, यह नीति तभी सफल हो सकती है, जबकि उस वस्तु को जो कि सस्ते दामों एक स्थान पर बेची गई है, उस स्थान पर जहाँ कि वही वस्तु ऊंचे दामों बेची जा रही है, भेजी भी जा सके। उदाहरण के लिए यदि कोई एकाधिकारी देश के बाजार को हथियाने के लिए अपने माल को वहा बहुत सस्ते दामों बेच रहा है, तो ऐसा न हो कि वही माल फिर लौटकर उसके अपने देश में चे मूल्य पर बिकने लगे।

एकाधिकारी इस प्रकार मूल्य में विवेचन (Discrimination) के अपने लाभ को बहुत बढा सकता है। प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक उपयोग उसके र पृथक बाजार होता है, अतएव वह प्रत्येक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार धिक से अधिक मूल्य लेना चाहता है। यदि एकाधिकारी सभी से एक समान य ले तो कुल लाभ बहुत कम हो, क्योंकि बहुत से उपभोक्ता (consumers) वस्तु का जितना मूल्य दे सकते थे उससे कम देंगे।

बाजार पाट देना या राशिपातन (Dumping) सयोग ombination) कभी-कभी विदेशो में लागत-मूल्य से भी कम पर अपनी ु को बेचने के दोषी होते हैं। वे अपने देश में तो ऊँचे भाव पर वस्तु को ते हैं, पर विदेशो मे उसी वस्तु को सस्ते दामों पर बेचते हैं। स्वदेश के ार में प्रचलित मूल्य तथा विदेशों में लिए जाने वाले मूल्य का अन्तर इतना धिक नहीं होना चाहिए कि विदेशी व्यापारी उसी वस्तु को फिर भेजकर र्यात (export) करने वाले देश मे सस्ते दामो पर उसे बेचने लगे। ादकों को जो विदेशों मे कम मूल्य पर वस्तु बेचने से हानि होती है, वह ेश में ऊँचे मूल्य पर बेचने से पूरी हो जाती है।

यदि धधे में क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) ा है अर्थात् सीमान्त लागत व्यय (marginal cost) बढ़ रहा है तो शिपातन (dumping) से स्वदेश के बाजार मे वस्तु का मूल्य बहुत बढ़ ेगा यदि धधे में क्रमागत वृद्धि नियम (Law of increasing returns) ा है अर्थात् सीमान्त लागत-व्यय गिर रहा है, तो स्वदेश के बाजार में ा घटेगा, और यदि क्रमागत स्थिर नियम (law of constant returns) ा हो अर्थात् सीमात लागत-व्यय स्थिर हो तो स्वदेश में मूल्य स्थिर

बाजार पाट देने या राशिपातन (dumping) के ... ा है :—

(क) किसी विदेशी बाजार को हथियाने के लिए अथवा विदेशी बाजार को अपने हाथ में रखने के लिए। यदि विदेश में कोई नया धंधा शुरू हो रहा हो तो उसको समाप्त कर देने के लिए भी राशिपातन (dumping) किया जाता है।

(ख) यदि किसी उत्पादक के पास बहुत अधिक माल है और अपने देश में उसकी खपत नहीं हो सकती, तो उस आवश्यकता से अधिक माल को बाहर खपाने के लिए सस्ते भाव पर विदेशों में बेचना पड़ता है।

(ग) अपने धंधे का विस्तार करने के लिए भी राशिपातन किया जाता है, जिससे कि क्रमागत वृद्धि नियम का लाभ उठाया जासके।

(घ) नये व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी राशिपातन किया जाता है।

बाजार पाटना अथवा राशिपातन (dumping) कोई स्थायी वस्तु नहीं होती, वह केवल विदेशी धंधों को न पनपने देने के लिए ही किया जाता है। उससे विदेशों को लाभ होने के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश अपने धंधों की इससे रक्षा करने का प्रयत्न करता है।

अस्थायी समझौता (Agreement). कभी-कभी परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले उत्पादक तथा व्यापारी आपस मे प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए एक अस्थायी समझौता कर लेते हैं। वह समझौता इस आशय का होता है कि सब लोग ऐक-सा मूल्य लें। उदाहरण के लिए, ताँगे या रिक्शा वाले कहीं-कहीं आपस में समझौता कर लेते हैं कि किराया घटायेंगे नहीं। कहीं-कहीं वे यह भी समझौता कर लेते हैं कि वे नम्बर से सवारी लेजावेंगे, आपस में प्रतिस्पर्द्धा नहीं करेंगे। दूध वाले, नाई, तथा अन्य व्यापारी शहरों में समझौता करके आपस में क्षेत्र बाँट लेते हैं। इस प्रकार के समझौते बहुत आसानी से हो सकते हैं। प्रत्येक सदस्य अपना कार्य करने में स्वतन्त्र रहता है, साथ ही प्रतिस्पर्द्धा भी नहीं होती। यह समझौता कामचलाऊ और अस्थाई होता है।

पार्षद या ऐसोसियेशन : कभी कभी मिलें अथवा व्यापारी अधिक जाब्ते का समझौता करते हैं, वह अधिक टिकाऊ होता है। पार्षद दो उद्देश्यों से स्थापित किया जाता है। मूल्य निर्धारित करने अथवा उत्पादन का नियन्त्रण करने के लिए। जब किसी धंधे में मंदी का सामाना करना पड़ता है, और उत्पादन माँग (demand) से अधिक होता है, तो पार्षद स्थापित करते

उत्पादन को नियन्त्रित कर दिया जाता है। अर्थात् कोई भी मिल निश्चित राशि से अधिक उत्पादन नहीं करेगी। परन्तु बहुधा यह प्रयत्न सफल नही होते। कुछ मिलें समझौते के अनुसार काम नहीं करतीं और समझौता टूट जाता है।

सयोग (Combination) अथवा एकाधिकार (Monopoly) स्थापित होने के लिए अनुकूल साधन : हम यहाँ उन कतिपय कारणों का अध्ययन करेंगे जो सयोग अथवा एकाधिकार के स्थापित होने मे सहायता प्रदान करते हैं। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो भी कारण परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले उत्पादकों में सहयोग अथवा मिलकर काम करने की भावना जाग्रत करते हैं, वे ही सयोग अथवा एकाधिकार की स्थापना में सहायक होते हैं। अब हम नीचे उन कारणों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

(१) यदि किसी वस्तु का उत्पादन प्रकृति से ही अत्यन्त सीमित और न्यून है, तो उस पर एकाधिकार स्थापित हो जाने की अधिक सम्भावना होती है। इसी तरह यदि किसी धधे का अत्यन्त आवश्यक कच्चा माल किसी एक अथवा थोडे से उत्पादकों के अधिकार में है, तो उस धधे पर एकाधिकार स्थापित हो जाना स्वाभाविक है।

(२) धधों का सरक्षण (protection) ट्रस्टों या एकाधिकार का जनक है। जबकि किसी देश की सरकार बाहर से आने वाले माल पर भारी कर लगा देती है, तो विदेशी माल देश के धधे की प्रतिस्पर्द्धा करने में असमर्थ हो जाता है। उस दशा मे देशी मिलें अथवा उत्पादक मिलकर 'सयोग' स्थापित कर लेते हैं जिससे कि अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। इसमें तनक भी सदेह नहीं कि धधों को सरक्षण देने से 'सयोग' की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) जब किसी धधे में उत्पादक बहुत थोड़े होते हैं और धधा एक स्थान-विशेष पर केन्द्रित होता है, तब सयोग सरल हो जाता है। किसी धधे मे उत्पादकों की सख्या तभी कम होगी जब या तो सरकार नये कारखाने स्थापित करने पर प्रतिबध लगादे, अथवा धधे मे इतनी अधिक पूँजी (capital) की आवश्यकता हो कि अधिक कारखाने स्थापित ही न हो सकें।

(४) प्रमाणीकृत उत्पत्ति (Standardised Product) : जबकि उत्पत्ति सब उत्पादकों की एकसी हो, उसमें तनक भी अन्तर न हो, तब [illegible] स्थापित हो जाने की सम्भावना रहती है।

(५) जिस देश में सम्मिलित उत्पादन-कार्य की अधिक दृढ परम्परा होती है, वहाँ सयोग तथा एकाधिकार के स्थापित हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है। परन्तु जिस देश में उत्पादन-कार्य में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना अधिक दृढ होती है, वहाँ सयोग तथा एकाधिकार इतनी अधिक सरलता से स्थापित नहीं होते।

संयोग के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ : कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनसे सयोग स्थापित होने में बाधा उपस्थित होती है। यदि किसी धन्धे में नया कारबार खड़ा करने म कोई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं होती, तो उसमे सयोग अथवा एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना नहीं रहती। यदि किसी धन्धे में उत्पादक एक स्थान पर केन्द्रित न होकर दूर-दूर बिखरे हों, और प्रत्येक उत्पादक कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा अ श या प्रतिशत बाजार के लिए उत्पन्न करता हो, तो भी सयोग अथवा एकाधिकार स्थापित होना सरल नहीं है। यदि किसी धन्धे मे वस्तु का गुण अधिक महत्त्वपूर्ण है, और उसमें ग्राहक की आवश्यकताओं पर उत्पादन को व्यक्तिगत ध्यान देने की जरूरत होती है, तो उसमें भी सयोग अथवा एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना नही रहती। यदि किसी धन्धे में कुछ बहुत प्रबल तथा सफल बड़े उत्पादक हैं, जिन्हें एक प्रकार से सीमित एकाधिकार प्राप्त है, तो वे भी अपने को किसी सयोग मे मिलाने के लिए इच्छुक नहीं होंगे।

सयोग तथा एकाधिकार को नष्ट करने वाले कारण : एक बार यदि संयोग अथवा एकाधिकार स्थापित हो जाने के बाद उसको स्थायी बनाये रखना भी कोई सरल काम नहीं है। एकाधिकार तथा सयोग को नष्ट करने के लिए दो प्रकार की शक्तिया काम करती हैं। यह भीतर और बाहर से सयोग को नष्ट करने का प्रयत्न करती हैं।

संयोग के अन्दर ही कुछ कारखाने ऐसे होते हैं, जो विचलित होने लगते हैं। वे ऐसा मानने लगते हैं कि समझोते से हमें बहुत भार सहन करना पड रहा है, और हमारे ऊपर अधिक बन्धन लगा दिए गए हैं। उन्हें सहयोग से अधिक लाभ प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि किसी कारखाने ने उत्पादन की किसी क्रिया में कोई विशेष सुधार किया है, तो उससे वह लाभ उठाना चाहता है। ऐसा हो जाता है कि यदि उस पर बंधन न हो तो वह बाजार के अधिक भाग पर कब्जा कर सकता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सयोग (combination) ने जो कोटा अर्थात हिस्सा प्रत्येक कारखाने के लिए निर्धारित

ा है, उसे कुछ क्षमतावान् कारखाने न्यायपूर्ण नहीं मानते। वे समझते हैं उन्हें अधिक मिलना चाहिए था। कभी-कभी सयोग इस कारण स्थापित ा जाता है, क्योंकि उस समय धन्धे को अत्यन्त कठिनाई का सामना करना रहा था। जब धन्वे के बुरे दिन समाप्त हो जाते है, मदी (depression) हो जाती है, तो फिर सयोग की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सयोग में छे क्षमतावान् तथा कुशल कारखाने यह अनुभव करने लगते हैं कि वे ल तथा निकम्मे कारखानों को जीवित रखने के लिए त्याग कर रहे हैं। व्यवसाय या धन्धे में परिवर्तन के साथ-साथ सयोग में सम्मिलित खानों की उस सयोग की ओर से भक्ति नष्ट हो जाती है, और वे उससे त्र हो जाने के लिए उत्सुक होने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि योग को छोड़ने लगते हैं।

परन्तु यह तो आन्तरिक कारण हैं, जिनसे कि सयोग नष्ट होते हैं। के अतिरिक्त बाह्य कारण भी हैं जिनसे कि सयोग नष्ट हो जाते हैं। कभी वाहर वालों का विरोध और दबाव इतना प्रबल हो उठता है, कि ग उसके कारण टूट जाता है। सयोग उत्पादन को कम करके अथवा त्रित करके मूल्य को ऊँचा रखने का प्रयत्न करता है, इसका अर्थ यह कि प्रत्येक कारखाने को अपनी क्षमता से कम उत्पादन करना पड़ता है। तु नये कारखाने जो उस धन्धे में प्रवेश करते हैं, उन पर तो यह बन्धन होता कि वे कम घण्टे काम करें। अतएव वे ऊँचे मूल्य का लाभ उठाकर अधिक अधिक उत्पादन करना चाहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो फर्म कारखाने सयोग के बाहर होते हैं उन्हें लाभ होता है, और सयोग में म्मलित कारखानों को हानि होती है। जब यह वाह्य दबाव बहुत अधिक ा हो जाता है, तो सयोग को तोड देना पडता है, और सम्मिलित कारखानों छूट दे देनी पड़ती है कि वे मनमाने ढग से उत्पादन कर सकें। भारतवर्ष ाब जूट मिल ऐसोसियेशन ने इस प्रकार सगठन किया, और प्रत्येक कारखाने कुछ प्रतिशत करघों को मुहर बन्द कर दिया, तथा काम के घण्टे कम कर , तो उन्हें यह कठिनाई प्रतीत हुई। कई नये कारखाने स्थापित हुए और स समझौते को न मानकर मनमाने ढग से काम करने लगे। इनका णाम यह हुआ कि समझौता चल न सका और जूट-मिल ऐसोसियेशन ने मिलों का स्वतंत्र कर दिया।

एकाधिकार के आर्थिक दोष · किसी व्यवसाय में एकाधिकार के पित हो जाने से उपभोक्ताओं (consumers), उत्पन्न की हुई वस्तु के

गुणों, और श्रमजीवी तथा अन्य उत्पत्ति के साधनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतएव हम यहाँ एकाधिकार (monopoly) के आर्थिक प्रभाव का विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

(१) किसी धन्धे में एकाधिकार स्थापित हो जाने से उत्पत्ति के साधनों (factors of production) का पारितोषण (remuneration) कम हो जाता है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि उत्पत्ति के साधनों की माग एकाधिकार स्थापित हो जाने से कम हो जाती है। जब परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले कारखाने होते हैं, तो उत्पत्ति के साधनों की माँग अपेक्षाकृत अधिक रहती है। दूसरा कारण यह है कि जब धन्धे में एकाधिकार स्थापित हो जाता है, तो एकाधिकारी ही उनका अकेला ग्राहक होता है, अतएव वह उनसे भाव करने में अधिक प्रभावशाली होता है, और उनका पारितोषण कम कर देता है।

(२) जब सयोग (combination) होता है तो प्रत्येक कारखाने के लिए कोटा निश्चित किया जाता है। प्रत्येक कारखाना जितना उत्पादन करता है, उससे कम कोटा निर्धारित किया जाता है। उसका फल यह होता है कि कुछ उत्पादन के साधन वेकार रहते हैं।

(३) जव निश्चित समय के उपरान्त सम्मिलित कारखानों का कोटा फिर से निर्धारित होने का समय आता है, तो प्रत्येक कारखाना अपना कोटा वढवाने का प्रयत्न करता है, और प्रत्येक कारखाना चुपके से अधिक मशीनें खड़ी कर लेता है। इस प्रकार धन्धे में अतिरिक्त उत्पादन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

(४) प्रत्येक कारखाने को कितनी उत्पत्ति करनी होगी, इसको निश्चित करने का परिणाम यह होता है कि जो कुशल कारखाने हैं, उनके अतिरिक्त कम दक्ष और अकुशल कारखानों को भी कुछ कोटा निर्धारित किया जाता है। इसका फल यह होता है कि अकुशल कारखानों को जीवित रहने देने के लिए अच्छे कारखानों को अपनी शक्ति से कम उत्पादन करना पड़ता है। उपभोक्ताओं (consumers) की दृष्टि से यह कदापि वाञ्छनीय नहीं है।

(५) एकाधिकार स्थापित हो जाने पर उत्पत्ति के साधनों (factors of production) का उपयोग उपभोक्ताओं की रुचि को ध्यान में न रखकर एकाधिकारी की इच्छानुसार होता है। उपभोक्ता का जो साधारणतया उत्पादन पर प्रभुत्व होता है, वह एकाधिकार में समाप्त हो जाता है।

(६) जब किसी धन्वे पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है, तो एकाधि-
री धन्वे में नवीन पूँजी (capital) और साहस (enterprise) को
हीं घुसने देता। इसका परिणाम यह होता है कि धंधे मे नया रुधिर नहीं
पाता, और उस धन्धे का विकास रुक जाता है।

(७) एकाधिकार स्थापित हो जाने पर औद्योगिक (technical)
गति भी रुक सकती है। एकाधिकारी को किसी प्रतिस्पर्द्धी का भय तो होता
हीं, इस कारण उसे अपने पुराने यन्त्रों को हटा कर नये यन्त्रों को लगाने की
तनी अधिक आवश्यकता नहीं रहती। यदि किसी धन्धे में किसी नवीन यन्त्र
आविष्कार हो, तो प्रत्येक कारखाने को तुरन्त उस नवीन यन्त्र को लगाना
गा। अन्यथा उसका प्रतिद्वन्द्वी उसको लगाकर कम लागत-व्यय पर उत्पादन
के अपने माल को बाजार में बेचने लगेगा। एकाधिकारी को इस बात का
तो रहता नहीं, अतएव जब तक उसकी पुरानी मशीनें काम दे सकती हैं,
उन्हें घिसता रहता है, छोड़ता नहीं है, क्योंकि उसे अपना लागत-व्यय कम
ने की आवश्यकता नहीं होती। इसका फल यह होता है कि उस धन्धे में
म आने वाली मशीनों में नये आविष्कारों अथवा सुधारों को प्रोत्साहन
हीं मिलता।

एकाधिकारी तभी पुरानी मशीनों को हटाकर नये प्लाएट को खड़ा
गा, जब कि वह बिलकुल बेकार होगई हों और काम न दे सकती हों।
थवा नवीन आविष्कार इतना अधिक लाभदायक हो, कि पुराने प्लाएट को
ाकर नवीन प्लाएट को लगाना लाभदायक हो। कहने का तात्पर्य यह, कि
नये प्लाएट से उत्पादन करने का व्यय, उस पर सूद तथा उसकी घिसावट,
रा खर्चा पुराने प्लाएट से उत्पादन करने के व्यय से कम हो। अन्यथा एकाधि-
री नवीन आविष्कार का उपयोग नहीं करेगा। और समाज तथा उपभोक्ताओं
उन्नत ढग से उत्पादन करने से जो लाभ होता, वह नहीं होगा। यदि परस्पर
तिस्पर्द्धा करने वाले कारखाने होते, तो वे तुरन्त नये आविष्कार को अपना लेते
र उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचता।

(८) जब किसी धन्धे पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है तो उत्पादक
पादन को कम करता है। उसे भय रहता है कि अधिक उत्पादन से कहीं
जार-भाव बिगड़ न जावे और मूल्य गिर जावे। कभी-कभी यदि उत्पादन
धिक हो जाता है और उत्पादक को भय रहता है कि मूल्य गिर जावेगा, तो वह
दन की हुई वस्तु को नष्ट कर देता है। ईस्ट इ डिया कम्पनी को जब भारत

से व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था, उस समय बहुधा वह अपने [illegible] से लदे हुए कुछ जहाज टेम्स में इसलिए डुबो देती थी, कि जिससे बचे हुए [illegible] का दुगुना तिगुना मूल्य मिल सके और लाभ अधिक हो। ब्राजील में इसी प्रकार कहवे के मूल्य को ऊंचा रखने के लिए कभी-कभी उसको नष्ट कर दिया जाता है। यदि एकाधिकार न हो, तो परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले [illegible] अधिक से अधिक उत्पादन करें। एकाधिकारी अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादन को नियन्त्रित करता है, अथवा उत्पन्न की हुई वस्तु को नष्ट कर देता है। नये आविष्कारों का उपयोग न करके नई पूँजी और साहस को धन्धे में न घुसने देकर भी एकाधिकारी उत्पादन को नियन्त्रित करता है।

(९) एकाधिकारी की स्थिति ऐसी होती है कि वह चाहे तो वस्तु के मूल्य को बहुत कम कर सकता है। क्योंकि एकाधिकारी को आन्तरिक तथा [illegible] बचतों (internal and external economics) का पूरा लाभ मिलता है। उसे विज्ञापन और प्रचार पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है, उसे खरीदने और बेचने में लाभ होता है, उसको बड़ी मात्रा के उत्पादन का पूरा-पूरा [illegible] प्राप्त होता है। अतएव एकाधिकारी लागत-व्यय को कम करने में सफल हो सकता है। परन्तु देखने में यह आता है कि एकाधिकार स्थापित हो जाने के उपरान्त वस्तु का मूल्य ऊँचा हो जाता है। यह मानवीय स्वभाव है कि [illegible] अपनी स्थिति का पूरा लाभ उठाये। एकाधिकारी वह मूल्य निर्धारित करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। अधिकतर एकाधिकारी उपभोक्ताओं का शोषण करता है।

(१०) एकाधिकार से एक बड़ी हानि यह होती है कि समाज में [illegible] वितरण बहुत विषम हो जाता है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में [illegible]तीत धन-राशि इकट्ठी हो जाती है, और वे समाज के आर्थिक और [illegible] जीवन पर हावी हो जाते हैं।

एकाधिकारी की शक्ति अबाधित नहीं है : ऊपर के विवरण से यह न मान लेना चाहिए कि एकाधिकारी की शक्ति पर कोई रोक-थाम नहीं है, [illegible] जितना मूल्य चाहे ले सकता है और चाहे जो कर सकता है। वास्तव में [illegible]धिकारी एक निरंकुश शासक के समान कार्य नहीं कर सकता। उस पर [illegible] में बंधन होते हैं और उसके रास्ते में बहुत-सी रुकावटें होती हैं।

पहली रुकावट तो यह है कि वह सम्भावित प्रतिद्वन्द्वियों से बहुत [illegible] रहता है। यदि वह अपनी वस्तु का बहुत अधिक मूल्य लेता है, तो कोई प्रतिद्वन्द्वी अवश्य उपस्थित हो जावेगा।

दूसरे यदि एकाधिकारी मनमाने ढग से मूल्य बढा कर उपभोक्ताओं का शोषण करना चाहता है, तो वे भी उसका विरोध करने पर उतारू हो सकते हैं। उपभोक्ता एक सीमा के उपरान्त विद्रोह कर सकते हैं, वे सगठित होकर एकाधिकारी के माल का वहिष्कार कर सकते हैं। कोई भी एकाधिकारी उपभोक्ताओं की सहानुभूति की उपेक्षा नहीं कर सकता।

तीसरे ऐसी कोई भी वस्तु इस ससार में नहीं है, जिसकी जगह लेने वाली अच्छी या बुरी दूसरी वस्तु नहीं हो। यदि एकाधिकारी अपनी वस्तु का आवश्यकता से अधिक मूल्य लेने लगे, तो उपभोक्ता उस वस्तु की जगह उसकी स्थानापन्न वस्तुओं का उपयोग करने लगेंगे।

चौथे एकाधिकारी मांग (demand) की नितान्त उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि किसी वस्तु की माग कम है अथवा वह अत्यन्त लोचदार (elastic) है, तो एकाधिकारी की स्थिति कमजोर रहती है।

पाँचवे यह तो हम देख ही चुके हैं कि सयोग को वाह्य तथा आन्तरिक शक्तियाँ नष्ट करने की चेष्टा करती रहती हैं। किसी सयोग को स्थायी बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। घर में ही भेद होने के कारण सयोग टूट जाता है।

अन्तिम रुकावट यह है, कि एकाधिकारी को राज्य के हस्तक्षेप का सदैव भय बना रहना है। राज्य किसी एकाधिकारी (monpolist) को जनता का अनवरत शोषण नहीं करने दे सकता, क्योंकि वह जनता के हितों का रक्षक है। यदि आवश्यकता हो तो वह अवश्य हस्तक्षेप करेगा। इस भय से एकाधिकारी निरकुश नहीं हो पाता।

एकाधिकार के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण · एक समय था जबकि धधे या किसी व्यापार में एकाधिकार स्थापित हो जाना जनहित के विरुद्ध समझा जाता था। यही कारण था कि अमेरिका में ट्रस्ट-विरोधी कानून बनाये गये तथा अन्य देशों में भी ट्रस्ट तथा एकाधिकार पर नजर रक्खी जाती थी। उन्हें खतरनाक समझा जाता था।

किन्तु अब यह दृष्टिकोण बदल गया है। एकाधिकार या सयोग जनहित के विरुद्ध और उसका शत्रु नहीं समझा जाता। सच तो यह है कि धधे के वैज्ञानीकरण (rationalisation) के लिए यह आवश्यक है। जब प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी में धधों के अस्तित्व को बनाये रखने के

धधों के वैज्ञानीकरण की आवश्यकता हुई, तो आपसी प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के लिए वहाँ 'सयोग' (combination) आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार रद्दी और अकुशल पुराने ढाँचे के कारखानों को समाप्त कर दिया गया। केवल आधुनिकतम प्लाट वाले सुसगठित कारखानों को मिलाकर सयोग स्थापित किये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन आधुनिक ढग से होने लगा। माल की बिक्री के लिए केन्द्रीय व्यवस्था हो गई, जिससे बिक्री का व्यय कम हो गया और जर्मन धधे नष्ट होने से बच गए। यही नहीं, धधों को ससार के बाजार मे जीवित रखने के लिए यह आवश्यक होगया कि माल का प्रमाणीकरण (standardisation) किया जाय। यह तभी हो सकता था जब कि धधों में सयोग स्थापित हों। बिखरे हुए स्वतन्त्र छोटे कारखानों के रहते जर्मनी के धधे टिक नही सकते थे। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन के धधों के सामने भी यही प्रश्न उपस्थित हुआ। ससार के बाजारों में टिके रहने के लिए तथा धधों को पुनर्जीवित करने के लिए सरकार ने सयोग आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। वस्त्र तथा स्टील के धधे तथा अन्य धधों के कारखानों को राज्य ने भी तभी आर्थिक सहायता प्रदान की, जब उन्होंने मिलकर संयोग स्थापित करना स्वीकार कर लिया। जर्मनी में जो सयोग स्थापित करने का प्रयोग हुआ, उसका परिणाम बहुत अच्छा निकला, अतएव अमेरिका जापान, ब्रिटेन तथा अन्य देशों में भी यह आन्दोलन बल पकड़ गया। सभी देशों में सरकारों ने दबाव डालकर तथा आर्थिक सहायता देकर धधों का नवीन सगठन करने तथा सयोग स्थापित करने में सहायता दी। इसके उपरान्त जो भयकर आर्थिक मदी ससार में छाई उसने सयोग तथा एकाधिकार को और भी आवश्यक बना दिया, क्योंकि उस आर्थिक मदी (economic depression) में धधों का वैज्ञानीकरण करना अत्यन्त अनिवार्य होगया।

भारतवर्ष में केवल जूट तथा सीमेण्ट मे इस तरह का प्रयत्न हुआ, किन्तु जूट का सगठन नष्ट होगया। कोयला तथा वस्त्र-व्यवसाय में कोई भी संगठन खड़ा न हो सका। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि औद्योगिक दक्षता के लिए सयोग अथवा एकाधिकार आवश्यक है।

एकाधिकार पर राज्य का नियन्त्रण और अधिकार . यह हम देख चुके हैं कि एकाधिकारी अधिकतर उत्पादन को इसलिए कम करता है, कि वह उस वस्तु का अधिक मूल्य ले सके, और अधिकतम लाभ कमा सके। यह समाज विरोधी बात है, और सर्वसाधारण कि हितों के विरुद्ध है। अतएव राज्य

जो कि जनता के स्वार्थों का रक्षक है, उसे इन समाज-विरोधी प्रवृत्तियों और एकाधिकारी की अधिकतम लाभ प्राप्त करने की लालसा को दबाना चाहिए, और उपभोक्ताओं के स्वार्थों की रक्षा करनी चाहिए। एकाधिकार पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए नीचे लिखे उपायों से काम लिया जा सकता है।

(१) सयोग विरोधी क़ानून बनाकर : सयुक्तराज्य अमेरिका मे १८९० में शर्मन ट्रस्ट-विरोधी कानून बनाये गए, और १९१४ में क्लेटन ट्रस्ट-विरोधी कानून बनाये गए। इन कानूनों का अभिप्राय यह था कि ट्रस्ट स्थापित न हों। इन कानूनों के अनुसार कारखानों का मिलन वर्जित कर दिया गया। किन्तु वहाँ के व्यवसायियों ने सूत्रधारी कम्पनी (holding company) स्थापित करके सारे धधे पर अपना एकाधिकार जमा लिया। जर्मनी और आस्ट्रिया में कार्टेल के विरुद्ध कानून बनाये गए। किन्तु इस प्रकार के कानून बहुधा सफल नहीं हुए। क्योंकि जब कानून द्वारा एक प्रकार का सयोग गैरकानूनी बना दिया गया, तो दूसरे रूप में सयोग स्थापित कर लिया गया और कभी-कभी अदृश्य सयोग स्थापित हो जाते थे, जो कि न तो ऊपर से दिखलाई देते थे और न उनका कोई जान्ते से सगठन ही होता था।

(२) एकाधिकारी के अनुचित तरीकों को रोकना प्रो० पिगू का कहना है कि राष्य को एकाधिकारी के प्रतिस्पर्द्धियों को सुरक्षित रखना चाहिए। और इन तरीकों को जिनके द्वारा एकाधिकारी अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करता है, रोक देना चाहिए। एकाधिकारी गला काट प्रतियोगिता, राशिपातन (dumping) तथा बहिष्कार के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त कर देता है। राज्य को इन पर रोक-थाम लगानी चाहिए। परन्तु इसमें भी आंशिक सफलता ही प्राप्त होती है।

(३) मूल्य तथा लाभ का नियत्रण करना राज्य एकाधिकारी के लाभ और वस्तु के मूल्य को निर्धारित करक एकाधिकारी का नियत्रण कर सकता है। परन्तु उचित मूल्य निर्धारित करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइया अवश्य हैं। ऐसा मूल्य निर्धारित करना, जो उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों की दृष्टि से उचित हो, सरल नहीं है। भारत में आजकल यह कठिनाई अनुभव हो रही है। फिर एकाधिकारी राज्य तथा जनता की आँखों मे धूल डालने का प्रयत्न करेगा। फिर भी राज्य एकाधिकारी का इस प्रकार नियत्रण करने का प्रयत्न कर सकता है। खरीदारों का भी सगठन खड़ा किया जा सकता है।

(४) प्रचार : कुछ लोगों का कहना है कि राज्य को समय-समय पर एकाधिकार की जाँच करवा लेनी चाहिए, और उसके सम्बन्ध में जो भी जान-

कारी प्राप्त हो उसको प्रकाशित करते रहना चाहिए। उसका परिणाम यह होगा कि ट्रस्ट अथवा एकाधिकारी अपनी स्थिति का अनुचित लाभ नहीं उठावेंगे।

(५) राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) : अन्त में इस समस्या का एक हल यह भी है, कि जिस धन्धे में एकाधिकार स्थापित हो जावे उसका राष्ट्रीयकरण कर लिया जावे। जिन धधों में ढर्रे से काम होता है, जिनकी वस्तु का बाजार सुनिश्चित है, और जिनमें साहसी (entrepreneur) की व्यक्तिगत देखभाल तथा प्रयत्न की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जिनका कारबार नियमित ढग से चलाना सुलभ है, इस प्रकार के धंधों का राष्ट्रीयकरण अवश्य कर लेना चाहिए।

क्रेता संघ (Monopsony) : खरीदारों के एकाधिकार को क्रेता सघ कहते हैं। यदि एकाधिकारी यह कह सकते हैं, कि तुम्हें खरीदना है, तो हम से खरीदो अन्यथा न खरीदो, तो खरीदार भी सगठित हो कर कह सकते हैं कि वेचना हो तो हमको वेचो, अन्यथा न वेचो। अमेरिका के मोटरकार के वनाने वालों ने सगठित होकर रवर का मूल्य—जिस पर उच्च एकाधिकार स्थापित है—कम करा दिया।

परन्तु खरीदारों का एकाधिकार बहुत कम स्थापित हो पाता है, और यदि स्थापित हो जाता है तो उसके वनाये रखना और भी कठिन है। क्योंकि खरीदार अपने एकाधिकार को तभी कायम कर सकते हैं, जब कि वे आवश्यक पदार्थों की खरीद को कम करें। परन्तु ऐसा करने में जितना वे उत्पादकों को दड देते हैं उतने स्वय भी दडित होते हैं।

फिर खरीदार समस्त देश में विखरे होते हैं और किसी-किसी दशा में तो समस्त ससार में विखरे होते हैं। उन्हें अपना सगठन वनाने मे वड़ी कठिनाई होती है। यही कारण है कि खरीदार अपना सयोग या सघ बहुत कम वना पाते हैं। यदि खरीदार किसी दूकानदार से अप्रसन्न हों, तो वे दूसरी दूकान से वस्तुएँ खरीद सकते हैं, किन्तु यदि उस धधे में एकाधिकार स्थापित हो चुका तो मूल्य तो उन्हें वही देना होगा जो एकाधिकारी निश्चित करेगा।

यदि उपभोक्ता अपना सयोग या सघ वनाने मे सफल भी हो जाँय और कीमतों को नीचा करादें, तो भी यह विजय स्थायी नहीं होगी। यदि उपभोक्ता ऐसी कीमत निर्धारित करना चाहें जिससे उत्पादक को अधिक लाभ न हो,

उस धधे से पूँजी (capital) हट जावेगी और अन्त में मूल्य फिर ऊँचा हो जावेगा।

यदि किसी वस्तु की मांग लचकदार नहीं है अर्थात् अलचकदार (inealstic) है, तो खरीदारों का सयोग अथवा सघ वेकार हो जावेगा। क्योंकि वे उसको खरीदे बिना रह नहीं सकते। वह जीवन के लिए आवश्यक अथवा किसी धधे का आवश्यक कच्चा माल हो सकता है। ऐसी दशा मे उत्पादक की स्थिति अधिक मजबूत होती है, और वह खरीदारों के सघ को नष्ट कर सकता है। फिर यदि खरीदार अपना सघ वना भी लें, तो उत्पादक भी अन्य बाजार ढूँढ सकता है।

उपभोक्ताओं के लिए सबसे प्रभावशाली सगठन का तरीका उपभोक्ता स्टोर (consumers' stores) स्थापित करना है। परन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि वे अपनी बातों को मानने के लिए उत्पादकों को विवश नहीं कर सकते।

मालिक-सघ एक दूसरा उदाहरण है कि जब श्रम (labour) के खरीदार मिलकर मजदूरों को अपनी बातें मानने पर विवश कर सकते हैं, परन्तु यदि मजदूर अच्छी तरह सगठित हों, तो मालिक-सघ उनका शोषण नहीं कर सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि खरीदारों का एकाधिकार बहुत कम स्थापित होना है। यदि कभी होता भी है तो वह अधिक प्रभावशाली नहीं होता, निर्बल होता है।

परिच्छेद १७
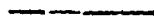
सहकारिता (Co-operation)

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि सहकारिता भी व्यवस्था (organisation) का एक रूप है। आज का आर्थिक संगठन इस प्रकार का बन गया है, कि पूंजीपति (capitalist) श्रमजीवी वर्ग का शोषण करते हैं। फलस्वरूप पूँजीपतियों और श्रमजीवियों का संघर्ष छिड़ा हुआ है। श्रमजीवी समुदाय पूँजीपतियों के अस्तित्व को नष्ट कर देना चाहता है। सहकारिता आन्दोलन एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है, जिसमें इस प्रकार का युद्ध न होगा, जहा भिन्न-भिन्न वर्ग एक दूसरे का साथ देंगे और आर्थिक विषमता का यह भयंकर रूप नष्ट हो जावेगा। जब समाज के निर्धन सदस्य किसी भी आर्थिक कार्य अर्थात् उत्पत्ति (production), उपभोग (consumption), विनिमय (exchange) तथा वितरण (distribution) में सम्मिलित प्रयत्न से उत्पन्न हुए लाभ को आपस में न्यायपूर्ण प्रणाली से बाँट लें, तो ऐसे संगठन को सहकारी समिति कहेंगे।

प्रत्येक आर्थिक हलचल में सहकारिता के सिद्धान्तों का उपयोग किया जा सकता है। सहकारिता के सिद्धान्त को पूर्णतया समझने के लिए आवश्यक है कि हम सहकारी समितियों तथा आधुनिक औद्योगिक संस्थाओं का भेद समझ लें। मानलो कि कुछ मोची अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने की दृष्टि से अपनी थोड़ी-थोड़ी पूँजी लेकर एक संगठन में सम्मिलित होते हैं, और निश्चित करते हैं कि वे सम्मिलित रूप से जूते का व्यवसाय करेंगे। समिति के संचालन में प्रत्येक सदस्य का समान अधिकार होगा, और वार्षिक लाभ सदस्यों की पूँजी के अनुपात में न बांटा जाकर, सदस्यों की जूतों की उत्पत्ति के अनुपात में बाँटा जावेगा, तो इस समिति को 'सहकारी उत्पादक समिति' कहेंगे।

सहकारी उत्पादक समितियों तथा मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (joint stock companies) में यही भेद है, कि एक तो मनुष्यों का संघ है और दूसरा पूँजी का। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों में हिस्सेदारों को कार्य संचालन का अधिकार तथा लाभ पूँजी के अनुपात में ही मिलता है। उत्पादक सहकारी

समितियों (co-operative producers societies) के सगठन में मजदूर पूँजी को किराये पर लेकर धधे की जोखिम उठाते हैं, किन्तु पूँजीवाली कम्पनियों में हिस्सेदार स्वय कार्य न करके मजदूरो को नौकर रखते हैं, और धधे की जोखिम उठाते हैं। उत्पादक सहकारी समितिया पूँजी (capital) के लिए उचित सूद देती हैं और लाभ अपने सदस्यों में वॉट देती हैं। किन्तु मिश्रित पूँजी वाली कपनियों में निश्चित मजदूरी देकर मजदूर रक्खे जाते हैं और लाभ हिस्सेदारों में पूँजी (capital) के अनुपात मे वाट लिया जाता है। सहकारी समितियों में पूँजी को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, उसको सम्पत्ति या धन (wealth) उत्पन्न करने का एक साधन मात्र समझा जाता है। यही कारण है कि समिति के प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट (मत) का अधिकार मिलता है। उसका समिति के कार्य सचालन में उतना ही अधिकार होता है, जितना कि किसी दूसरे सदस्य का। परन्तु मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी मे पूँजी का ही सर्वोच्च स्थान होता है। हिस्सेदारों को धधे का लाभ तथा कार्य-सचालन-अधिकार पूँजी के अनुपात में दिया जाता है।

सहकारी समितियों (co-operative societies) और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (joint s ock compar ies) में एक और भी मौलिक भेद है। स्थापित हो जाने के उपरान्त कपनिया नये हिस्सेदारों को नहीं लेतीं, अतएव जव कपनी सफलतापूर्वक चलने लगती है और बहुत अधिक लाभ देने लगती है, तो उसका सौ रुपये का हिस्सा हजार रुपये में भी विकता है। लेकिन सहकारी समिति का द्वार सदैव खुला रहता है। जव भी कोई व्यक्ति चाहे उसका सदस्य वन सकता है। अतएव उसके हिस्सों का मूल्य कभी वढता नहीं। यही नहीं, कम्पनी में एक व्यक्ति जितने हिस्से खरीद सकता है, उसी के अनुपात में उसे कम्पनी के प्रवन्ध में हिस्सा मिलता है; किन्तु सहकारी समिति में प्रत्येक व्यक्ति चाहे जितने हिस्से ले, परन्तु प्रत्येक सदस्य का केवल एक ही वोट (मत) होता है।

इन दोनो में एक भेद और है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों की सफलता, अन्य कम्पनियों की प्रतिस्पर्द्धा में सफलतापूर्वक खड़े रहने में है। प्रत्येक कपनी दूसरी कम्पनियों को कुचल कर आगे वढना चाहती है। सहकारी समितिया एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ी नहीं होतीं। वे मिलकर एक सघ की स्थापना करती हैं, और उनके सरक्षण मे काम करती हैं। यह सघ सहकारी समितियों को एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करने देता।

सहकारिता आन्दोलन धन या सम्पत्ति (wealth) उत्पन्न करने वालों की ही रक्षा नहीं करता, वह सब वर्गों को सहायता पहुचाता है। आधुनिक औद्योगिक सगठन मे उपभोक्ता का वस्तुओ के मूल्य निर्धारण में कोई हाथ नहीं होता, और न धधों के सचालन में ही उसकी आवाज सुनी जाती है। उत्पादकों (producers) तथा उपभोक्ताओं के बीच मे अगणित दलाल काम करते हैं, जो उपभोक्ताओं (consumers) तथा उत्पत्ति करने वालों को लूटते हैं। उपभोक्ता जो वस्तु का मूल्य देता है, उसका एक अ श ही उत्पादक को मिलता है, शेष दलालों की जेब मे जाता है। सहकारिता-आन्दोलन जहाँ यह प्रयत्न करता है कि उत्पादकों को अधिक से अधिक लाभ हो, वहाँ उसका यह भी प्रयत्न होता है कि उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अच्छी वस्तुएँ मिलें, जिससे उनका भार हलका हो सके। सहकारिता दलालों की श्रेणी को उपभोक्ता तथा उत्पादक के बीच से हटा देना चाहती है। दलाल आज जो उपभोक्ता तथा उत्पादक का शोषण कर रहे हैं, उसे सहकारिता-आन्दोलन रोक देना चाहता है।

सहकारिता की विशेषताएँ.—अब हम सहकारिता की उन विशेषताओं का अध्ययन करेंगे, जिनके कारण सहकारिता मानव जाति के लिए एक विशेष महत्त्व रखती है।

(१) **सहकारिता आन्दोलन मे लोग स्वेच्छा से आते है:** दबाव डाल कर या किसी प्रकार का प्रलोभन देकर किसी को सहकारी समिति का सदस्य नहीं बनाया जाता। जो व्यक्ति उसकी उपयोगिता को समझते हैं, वे स्वेच्छा से उसके सदस्य बनते हैं।

(२) **पारस्परिक सहायता के द्वारा निज की सहायता:** सहकारिता आन्दोलन की दूसरी विशेषता यह है, कि वह पारस्परिक सहायता के द्वारा निज की सहायता के सिद्धान्त पर आधारित है। सहकारी सगठन ऐसे व्यक्तियों का सगठन नहीं होता जो दूसरे का शोषण करके अपने सदस्यों को लाभ पहुचाते हैं। वह उन लोगों का सगठन होता है, जिन्हे सहायता की आवश्यकता होती है, किन्तु जो बाहरी लोगों की सहायता पर निर्भर नहीं रहते। वे अपने साधनों को इकट्ठा करने के लिए सहयोग करते हैं और एक दूसरे की मदद करके वे अपनी मदद करते हैं। वे अपने को शक्तिवान् बनाने के लिए 'सब (समूह) एक (व्यक्ति) के लिए, और प्रत्येक (व्यक्ति) सबों (समूह) के लिए" के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। जो सहायता लेते हैं और जिन्हें सहायता की आवश्यकता होती है, उनके स्वार्थों में कोई संघर्ष नहीं होता, क्योंकि सहायता लेने वाले और सहायता देने [illegible] होते हैं।

(३) सहकारिता मे व्यक्तिवाद (Individualism) का स्थान नहीं होता : पारस्परिक सहायता के द्वारा स्वय अपनी सहायता के सिद्धान्त को अपनाने के फलस्वरूप सहकारिता आन्दोलन में व्यक्तिवाद के लिए कोई जगह नहीं रहती। व्यक्तिवाद प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देता है, और सहकारिता उसको समाज से निकाल देना चाहती है।

(४) सहकारिता का आधार जनतंत्र है : सहकारिता का एक प्रमुख आधार जनतत्र है। सहकारी सगठन जनतत्री आधार पर खड़े किये जाते है। सहकारी सगठन मे सभी व्यक्ति बराबर है, सबके समान अधिकार होते है।

(५) सहकारिता का चरित्र पर विशेष बल होता है व्यापार सगठन के अन्य तरीकों के विरुद्ध सहकारी सगठन में मानवीयता पर विशेष बल दिया जाता है। अन्य व्यापारिक सगठन अपने सदस्यों के चरित्र पर इतना बल नहीं देते। वे तो केवल उन उद्देश्यों की पूर्ति पर ही बल देते हैं, जिनके लिए वे खड़े किए गए हैं।

उत्पादकों का सहयोग (Producers Co-operation) अथवा सहकारी उत्पादक संगठन ' सहकारिता का उपयोग उत्पादन (production) के लिए बहुत देशों में किया गया है। परन्तु जहाँ तक बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) का प्रश्न है, सहकारी सगठन अधिक सफल नहीं हुआ। परन्तु छोटी मात्रा के उत्पादन और विशेषकर गृह-उद्योग-धंधों (cottage industries) मे सहकारी सगठन को अधिक सफलता मिली है। अब हम इनके सम्बन्ध मे विस्तार-पूर्वक लिखेंगे।

सहकारी फैक्टरियों की असफलता के कारण

बड़ी मात्रा के उत्पादन में सहकारी सगठन सफल नहीं हुआ उसके नीचे लिखे मुख्य कारण हैं—

(१) पूँजी (capital) का अभाव . सहकारी फैक्टरियो के स्वामी मजदूर होते हैं, वे इतने धनी नहीं होते कि यथेष्ट पूँजी इकट्ठी कर सकें। फिर मजदूरों द्वारा स्थापित सहकारी कारखानों को बैंक तथा अन्य संस्थायें ऋण भी नहीं देती। मजदूरों द्वारा सगठित सहकारी कारखानो की साख (credit) कम होती है, अतएव इन कारखानों को पूँजी का सर्वथा अभाव

रहता है। सच तो यह है, कि साधारण मजदूरों द्वारा बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना असम्भव है, क्योंकि एक बड़े कारखाने के स्थापित करने के लिए जितनी पूँजी चाहिए वह मजदूर इकट्ठी नहीं कर सकते। जहाँ-जहाँ सहकारी कारखाने स्थापित हुए हैं, वहा किसी कारखाने के उदार मालिक द्वारा मजदूरों को लाभ मे हिस्सा देने के फलस्वरूप, एक लम्बे समय के बाद, मजदूरों को कारखाने का मालिक बना दिया गया है। मजदूरों को वार्षिक लाभ नकदी के रूप में न दे कर हिस्सों (shares) के रूप में देकर उन्हें कारखाने का मालिक बना दिया गया। ऐसे उदार मालिक कम ही मिलते हैं। फिर आगे भी कारखानों को पूँजी की आवश्यकता होती है और सहकारी कारखानों की साख (credit) न होने के कारण बैंक इत्यादि उन्हें ऋण नही देते। यही नहीं, सहकारी कारखानों के प्रति बैंक इत्यादि को द्वेष भी रहता है, क्योंकि वे पूँजीपतियों द्वारा सचालित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह, कि सहकारी कारखानों में पूँजी का सदैव अभाव रहता है।

(२) कुशल और योग्य विशेषज्ञों का प्राप्त न होना . मजदूरों द्वारा सचालित सहकारी कारखानों को योग्य और कुशल मैनेजर, इंजिनियर, रसायनवेत्ता, एकाउण्टेंट, तथा अन्य विशेषज्ञ प्राप्त नहीं होते। इसका मुख्य कारण यह है कि वे लोग उस प्रकार के कारखाने में, जिनमें मजदूर उनके स्वामी होते। नौकरी करना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते हैं। फिर एक बात और भी है, इस प्रकार के कारखानों का प्रबन्ध मजदूरों के हाथ मे होता है, और वे इन विशेषज्ञों को उनकी योग्यता के अनुसार ऊँचा वेतन देना नहीं चाहते। जो मजदूर जीवन भर चालीस या पचास रुपये मासिक पाता रहा है, वह किसी मैनेजर, इंजिनियर अथवा अन्य किसी विशेषज्ञ को चार या पाँच हजार रुपये मासिक वेतन देने की कल्पना ही नहीं कर पाता।

(३) अनुशासन की कमी · सहकारी कारखानों मे अनुशासन की भी समस्या उपस्थित होती है, और बहुधा इस प्रकार के कारखानों में अनुशासन की कमी रहती है। कारण यह है कि मजदूर कारखाने के स्वामी होते हैं, फोरमैन, मैनेजर तथा अन्य अधिकारी उनसे भली प्रकार काम नहीं ले पाते। यदि कोई फोरमैन कठोरता से काम लेता है, तो मजदूर उसको नौकरी से पृथक कर सकते हैं। बहुधा यह देखा गया है, कि जो कामचोर और अनुशासनहीन होते हैं वे ही मजदूरों का नेतृत्व करते हैं। ऐसी दशा मे फोरमैन या मैनेजर उनसे तो कुछ अधिक कह नहीं सकता, वे काम से बचते हैं, उनको देखकर

और मजदूर भी शिथिल हो जाते हैं तथा कारखाने का अनुशासन ढीला हो जाता है।

(४) अन्य कारखानों का सहयोग प्राप्त न होना : किसी भी धन्धे के कारखाने यद्यपि आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, परन्तु बहुत कार्यों में उन्हें सहयोग अथवा सगठन करना पड़ता है। जो समस्यायें धन्धे के सामने उपस्थित होती हैं, उनको हल करने के लिए मिल मालिकों का सगठन आवश्यक होता है। परन्तु अन्य कारखाने तो पूँजीपतियों द्वारा सचालित होते हैं, अतएव वे सहकारी कारखानों से तनक भी सहयोग नहीं करते। यही नहीं, वे सहकारी कारखानों को सदेह और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें असफल करने की चेष्टा करते हैं। सहकारी कारखानों को अपने माल की बिक्री करने में काफी अड़चन आती है।

(५) निर्णय करने मे देरी : व्यापारिक तथा व्यावसायिक कार्यों में तत किसी प्रश्न का निर्णय करना अनिवार्य होता है। पूँजिपतियो द्वारा चालित कारखानों मे मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा मैनेजिंग एजेण्ट किसी भी न पर तुरन्त अपना निर्णय दे देते हैं, क्योंकि कारखाने में अधिकाँश पूँजी नकी होने के कारण उनका एक प्रकार से कारखानो पर पूर्ण प्रभुत्व होता है। रन्तु सहकारी कारखानों में विना प्रबन्धकारिणी समिति को बुलाये कोई नर्णय नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि कोई एक व्यक्ति वहाँ ऐसा नहीं होता कि जो अपने ऊपर सारा उत्तरदायित्व ले सके। अतएव इस प्रकार के कारखानों में निर्णय करने मे देरी होती है, जो हानिकारक होती है।

(६) हानि उठाने की क्षमता का अभाव : बड़ी मात्रा के उत्पादन में सफलता तभी प्राप्त होती है, जब कि नवीन प्रयोग किए जावें तथा नई दिशा में कारबार किया जावे। किन्तु इसमे जोखिम होती है तथा हानि होने का भय बना रहता है। पूँजीपतियों द्वारा संचालित कारखाने उस हानि को उठाने की क्षमता रखते हैं, परन्तु सहकारी कारखाने इस प्रकार का कोई प्रयोग नहीं कर सकते। वे कोई ऐसा कार्य नहीं करते, जिसमे हानि होने का भय रहता है।

ऊपर लिखे कारणों से बड़ी मात्रा के उत्पादन में सहकारी संगठन सफल नहीं हुआ।

जहाँ बड़ी मात्रा के उत्पादन में सहकारी सगठन असफल हुआ है, वहा गृह-उद्योग धन्धों (cottage industries) को सगठित करने में वह बहुत सफल हुआ है। हम यहा उसका विस्तृत विवरण देंगे।

गृह-उद्योग-धन्धों की कठिनाइयाँ

गृह-उद्योग-धधों में लगे हुए कारीगरों के सामने आज बहुत सी कठिनाइ हैं, जिनके कारण गृह-उद्योग-धन्धों का ह्रास होरहा है। गृह-उद्योग धन्धों की उन समस्याओं को सहकारिता के द्वारा हल किया जा सकता है, और उनकी उन्नति की जा सकती है। अब हम उन समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

(१) पूँजी का अभाव : कारीगर को पूँजी उधार लेनी पड़ती है। महाजन तथा व्यापारी उसे ऋण तो दे देता है, किन्तु सूद इतना अधिक लेता है कि बेचारे कारीगर को धन्धे से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। किसी किसी दशा में तो कारीगर महाजन या व्यापारी का क्रीत दास बन जाता है। कारीगर को कच्चा माल अथवा नकदी ऋण स्वरूप दी जाती है, और कारीगर को अपना तैयार माल उस व्यापारी या महाजन को सस्ते दामों पर देना पड़ता है। इस प्रकार कारीगर का शोषण होता है।

(२) कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने की कठिनाई : माल खरीदना तथा बेचना भी एक कला है, जिससे निर्धन और साधनहीन कारीगर नितान्त अनभिज्ञ होता है। बात यह है कि यह कारीगर कच्चा माल थोड़ी मात्रा में खरीदते हैं, वह भी अधिकतर उधार, इसलिए उन्हें कच्चे माल का अधिक मूल्य देना पड़ता है। फिर भी माल अच्छा नहीं मिलता। तैयार माल को बेचने में भी कारीगर को अत्यन्त कठिनाई होती है। वह थोड़ी मात्रा में माल तैयार करता है, इस कारण वह आधुनिक ढंग से बेच नहीं सकता। औद्योगिक उन्नति के युग में माल के लिए बाजार में माग पैदा करनी पड़ती है, केवल माल तैयार करने से कुछ नहीं होता। माल को बाजार में खपत करने के लिए विज्ञापन करना पड़ता है, एजेण्ट तथा केनवेसर भेजने पड़ते हैं, और माल नुमाइशों तथा दूकानों में प्रदर्शित करना पड़ता है। कारीगर यह सब कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि वह थोड़ी मात्रा में माल तैयार करता है। उसके पास विज्ञापन के साधन नहीं होते और वह उस कला को जानता भी नहीं।

(३) संगठन का अभाव : कारीगर पुराने ढंग से पुराने डिजाइन का माल तैयार करता है। जनता की रुचि बदलती रहती है, किन्तु अशिक्षित कारीगर को उसका ज्ञान नहीं होता। यदि वह जान भी जाता है कि जनता कौन सी वस्तु मांगती है, तो उसे नवीन वस्तु को तैयार करने की शिक्षा देने वाला कोई नहीं होता। यही नहीं, उत्पादन के नये तरीकों का आविष्कार करने, उन्नत औज़ारों को उपयोग में लाने की भी व्यवस्था नहीं हो पाती। इसका परिणाम

यह होता है कि गृह-उद्योग-धन्धे पनप नहीं पाते। अतः कारीगर को परामर्श तथा नवीन प्रणाली से नये ढंग का माल तैयार करने की शिक्षा देने के लिए सगठन की आवश्यकता है।

सहकारी उत्पादक समितियां (Industrial Co-operatives)

यदि गृह-उद्योग-धन्धों का सगठन सहकारी उत्पादक समितियों द्वारा किया जावे तो यह सब कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। उत्पादक सहकारी समितियां प्रत्येक धधे मे लगे हुए कारीगरों का सगठन करेंगी। एक समिति एक ही धधे का सगठन कर सकेगी। समिति परिमित दायित्व (limited liability) वाली होगी। प्रत्येक सदस्य कारीगर समिति का हिस्सा खरीदेगा। समिति डिपाजिट भी स्वीकार करेगी तथा सहकारी बैंकों से ऋण भी लेगी। हिस्सा पूँजी (share-capital), जमा (deposit), तथा ऋण समिति की कार्यशील पूँजी (working capital) होगी। सदस्य कारीगरों को केवल साख देने का प्रबन्ध कर देने से ही समिति उनकी अवस्था नहीं सुधार सकती। समिति को वे सब कार्य करने होंगे जो कि व्यवसायी करता है। व्यवसायी कारीगर को ऋण देता है, कच्चा माल वेचता है तथा तैयार माल खरीदता है। यह समिति केवल साख का ही प्रबन्ध करके रह जायगी, तो कारीगर कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल वेचने में लूटा जावेगा। और जो कुछ उसे सूद में लाभ हुआ है, वह व्यवसायी की मेंट हो जावेगा। यदि उत्पादक-सहकारी समितियाँ वास्तव में कारीगर की आर्थिक उन्नति करना चाहती हैं, तो उन्हें व्यवसायी को क्षेत्र से बिलकुल हटाना होगा। अर्थात् उसके सब कार्य अपने हाथ में लेने होंगे।

जब तक उत्पादक सहकारी समितियाँ सदस्यों के लिए उचित मूल्य पर कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल को वेचने का प्रवन्ध नहीं करतीं, तब तक गृह-उद्योग-धंधे पनप नहीं सकते। किन्तु इतने से ही धंधे का सगठन पूर्ण नहीं हो सकता। समिति को कारीगरों को आधुनिक वैज्ञानिक ढग से वस्तुएँ तैयार करने की शिक्षा दिलानी होगी और उत्तम सुधरे हुए औजारों तथा हल्के यंत्रों का प्रचार करना होगा।

यह सब कार्य केवल सहकारी समिति सफलतापूर्वक नहीं कर सकती, क्योंकि तैयार माल वेचने के लिए विज्ञापन देने, बाजार का अध्ययन करने, एजेन्ट तथा कैनवेसर भेजने तथा प्रदर्शनियों का आयोजन करने की आवश्यकता होती है, यह कार्य एक समिति की शक्ति के बाहर है। अतः उत्पादक-समितियों को एक सहकारी यूनियन मे अपने को सगठित कर लेना आवश्यक होगा

यूनियन से सैकड़ों उत्पादक-समितियाँ सम्बन्धित होती हैं। वे प्रत्येक ऐसे कार्य के लिए, जिसमें विशेष योग्यता और कुशलता की आवश्यकता होती है, विशेष नौकर रखती हैं। उदाहरण के लिए, यदि बुनकरों की एक यूनियन स्थापित की जावे, तो यूनियन बुनाई-कला को जानने वाले कुछ ऐसे विशेष नौकर रक्खेगी जो घूम-घूम कर कुछ समय प्रत्येक समिति के सदस्यों को न[ए] डिजाइन का कपड़ा तैयार करना, अच्छे कर्घे के लाभ तथा अन्य आवश्यक सुधारों की शिक्षा देंगे। यूनियन विज्ञापन के द्वारा समितियों के कपड़े का प्रचार करेगी, भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्टोर स्थापित करके कपडे को वेचने का प्रवन्ध करेगी, तथा एजेएट और केनवेसर रक्खेगी। यूनियन वाजार का अध्ययन करके समितियों को यह सूचना दिया करेगी, कि किस प्रकार के कपड़े की वाजार में अधिक माँग है। समितियाँ उसी प्रकार के कपड़े को सदस्यों से तैयार करावेंगी। यूनियन कच्चा माल थोक मूल्य पर खरीदकर समितियों के सदस्यों को देती है। सदस्यों को कच्चा माल व्यापारियों से खरीदना नहीं पड़ता और सस्ते दामों पर मिल जाता है। सदस्य तैयार माल समिति को दे देता है। समिति उसका थोड़ा मूल्य उसी समय सदस्य को दे देती है। वाकी रुपया माल विक जाने पर चुकाया जाता है। समिति कुछ प्रतिशत कमीशन ले लेती है। वर्ष के अन्त में जो लाभ होता है, वह सदस्यों मे उस अनुपात मे वांट दिया जाना है जिस अनुपात में वे समिति के पास तैयार माल वेचने लाते हैं। समितियों की यूनियन अच्छे औजारों का भी सदस्यों मे प्रचार करती है। इस प्रकार उत्पादक-सहकारी समितियाँ गृह-उद्योग-धन्धों का सगठन कर सकती हैं।

ससार के वहुत से देशों मे गृह-उद्योग-धधों को सगठित करने के लिए सहकारिता का उपयोग किया गया है। डेनमार्क, आयरलैंड और जरमनी में दूध तथा मक्खन का धन्धा सहकारी समितियों के कारण ही उन्नति कर सका। चीन में तो गृह-उद्योग-धन्धों की उन्नति केवल सहकारी समितियों के कारण ही सम्भव हो सकी। भारत में भी बुनकर-सम्मितियां, घी समितियाँ तथा अन्य उत्पादक समितियाँ स्थापित हैं।

सहकारी उपभोक्ता स्टोर (Consumers Stores)

मनुष्य-समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए कुछ वस्तुओं का उपभोग करता है। इस तरह वह उपभोक्ता है। यदि देखा जावे तो उत्पादन करने वाले तथा उपभोग करने वालों का घनिष्ट सम्बन्ध है। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर निर्भर है, किन्तु उत्पादन करने वालों तथा उपभोग करने वालों के वीच मे इतने दलाल हैं, कि वे ए[क]

दूसरे से बहुत दूर पड़ जाते हैं। दलाल जो मूल्य उत्पादकों को देते हैं, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक मूल्य उपभोक्ताओं से वसूल करते हैं। उपभोक्ताओं को वस्तु का मूल्य अधिक देना पड़ता है, साथ ही वस्तुओं में मिलावट होती है तथा वे अच्छी नहीं होतीं। सहकारी स्टोर दलालों को अपने स्थान से हटा कर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तुओं को देने में सफल हुए हैं।

सर्वप्रथम इंगलैण्ड में राकडेल नामक स्थान के फलालैन के बुनकरों ने अपनी आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए सहकारी स्टोर चलाया था। इसलिए उन्हें ही इस आन्दोलन का सूत्रधार माना जाता है। ससार को सहकारी उपभोक्ता स्टोर जैसी उपयोगी संस्था देने वाले इन बुनकरों का इतिहास बहुत आकर्षक है। सन् १८४४ में फलालैन बुनने वाले इन २८ बुनकरों ने, जो अत्यन्त निर्धन थे किन्तु जिनमें विश्वास, धैर्य, साहस और बुद्धिमता कूट-कूट कर भरी हुई थी, एक दूकान खोली। इन बुनकरों के पास केवल २८ पौंड पूँजी थी जो कि उन्होंने एक-एक शिलिंग एकत्र करके कई महीनों में जमा की थी। किन्तु उनमें साहस और उत्साह बहुत था, इस कारण वे सफल हो गए।

इसके पहले कुछ स्टोर राबर्ट ओवन के नेतृत्व मे खुले थे, किन्तु वे असफल रहे, कारण वे स्टोर वस्तुएँ उधार देते थे और उनका मूल्य बाजार से कम रखते थे। राकडेल के बुनकरों ने वस्तुओं को नकद और बाजार-भाव पर बेचना आरम्भ किया। वर्ष के अन्त में खर्च काटकर जो लाभ होता, उसको वह आपस में अपनी खरीद के अनुपात में बाट लेते। इन बुनकरों ने एक हिस्से का मूल्य एक पौंड रक्खा। दो पेंस प्रति सप्ताह किस्त लेकर पूँजी इकट्ठी की और आरम्भ मे केवल पांच वस्तुओं को बेचने का प्रबन्ध किया। मक्खन, शक्कर, ओट (जई) का आटा, मोमबत्ती तथा गेहू का आटा। स्टोर सौदा उधार नहीं देता था, किन्तु वस्तुएं शुद्ध और तोल में पूरी होती थीं। प्रत्येक सदस्य का एक वोट (मत) होता था। एक तिहाई लाभ सुरक्षित कोष में रख दिया जाता था, एक तिहाई सदस्यों में बाट दिया जाता था और शेष एक तिहाई शिक्षा पर व्यय किया जाता था।

राकडेल के बुनकरों ने अपने स्टोर का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि शीघ्र ही उसके नये सदस्य बनने लगे तथा स्टोर की उन्नति होने लगी। स्टोर क्रमशः सदस्यों को सभी आवश्यक वस्तुएँ देने लगा। इस स्टोर की सफलता को देखकर उत्तरी इंगलैंड में बहुत से स्टोर खुल गए।

इससे फुटकर विक्रेता चौंके। उन्होंने इनका विरोध करना आरम्भ किया। जब फुटकर विक्रेता सफल न हुए, तो उन्होंने थोक व्यापारियों पर जोर डाला कि वे स्टोरों को वस्तुएँ अधिक मूल्य पर दें। अब सहकारी स्टोरों के सामने एक नई समस्या उपस्थित हुई। इस समस्या को हल करने के लिए इङ्गलैंड के स्टोरों ने मिलकर होलसेल सोसायटी स्थापित की। होलसेल सोसायटी माल को थोक व्यापारियों के बजाय सीधे मिलों और कारखानों से खरीदकर सदस्य स्टोरों को वेचने लगी। इस प्रकार थोक व्यापारियों को भी सहकारिता आन्दोलन ने अपने स्थान से हटा दिया और उनके लाभ को भी उपभोक्ताओं के लिए सुरक्षित कर लिया। क्रमशः आन्दोलन तीव्र गति से बढता गया और स्टोरों की संख्या बढती गई। तब होलसेल सोसायटी ने उत्पादन का कार्य भी अपने हाथ में ले लिया। बिस्कुट, मिठाई, जूते, साबुन, मुरब्बे, मोमबत्ती, कपड़ा धोने का पाऊडर, मोजे, बनियान, फलालैन, कपड़े, फर्नीचर, ब्रुश, सिगरेट, आटा, लोहे का सामान, टिन, छापाखाना, तेल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को बनाने के लिए अपने कारखाने स्थापित किए। पीछे जाकर एक कोयले की खान भी खरीदली। होलसेल सोसायटी ने अनाज, फल और सब्जी उत्पन्न करने के लिए फार्म भी खरीद लिए हैं। सोसायटी ने कनाडा और दक्षिण अफ्रीका में फार्म खरीद लिए हैं। जहां उनके सदस्यों के लिए अनाज उत्पन्न होता है और आसाम में सोसायटी ने चाय के बाग खरीदे हैं। होल सेल सोसायटी के अपने जहाज हैं, जो कि विदेशों से माल लाते हैं। देखते-देखते २८ बुनकरों की वह छोटी-सी दूकान विशाल सहकारी स्टोर बन गयी।

होलसेल सोसायटी से संबन्धित प्रारम्भिक स्टोर उसके हिस्से खरीदते हैं। केवल प्रारम्भिक सहकारी स्टोर ही होलसेल सोसायटी के सदस्य बन सकते हैं। प्रारम्भिक स्टोरों को बाजार के थोक भाव पर माल बेचा जाता है। वार्षिक लाभ प्रारम्भिक स्टोरों में उनकी खरीद के अनुपात में बाँट दिया जाता है। प्रारम्भिक स्टोर अपने प्रतिनिधि चुनकर होलसेल सोसायटी की मीटिंग में भेजते हैं। यह प्रतिनिधि सचालक बोर्ड का चुनाव करते हैं। यह डायरेक्टर ही सोसायटी का प्रबन्ध करते हैं।

उपभोक्ता स्टोर का संचालन किस प्रकार होता है, अब हम उसका संक्षेप में वर्णन करेंगे। सहकारी उपभोक्ता स्टोर का दायित्व सीमित (limited liability) होता है। प्रत्येक सदस्य कम से कम उसका एक हिस्सा लेता

है। स्टोर का नियम होता है कि वह उन वस्तुओं को जो कि स्टोर बेचता है केवल स्टोर से ही खरीदेगा, अन्य किसी स्थान से नहीं खरीदेगा। स्टोर बाजार-भाव पर वस्तुओं को बेचता है। वार्षिक लाभ का कुछ अंश रक्षित कोष (reserve fund) में रखकर शेष सदस्यों मे उनकी खरीदारी के अनुपात में बाँट दिया जाता है। स्टोर अपने सदस्यों को वस्तु उधार नहीं देता। प्रत्येक सदस्य का केवल एक वोट होता है। साधारण सभा एक सचालक समिति को चुन देती है, जो कि स्टोर का प्रबन्ध करती है।

प्रारम्भिक स्टोर मिलकर होलसेल सोसायटी का निर्माण करते हैं और होलसेल सोसायटी स्टोरों के लिए थोक मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध करती है। आज ससार के प्रत्येक देश में स्टोर-आन्दोलन फैल गया है।

इनके अतिरिक्त साख (credit) की व्यवस्था करने के लिए भी सहकारिता का सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है। जरमनी में रेफीसन तथा शुल्ज महोदय द्वारा स्थापित ग्राम्य साख-समितियों तथा नगर-साख-समितियों की स्थापना लगभग प्रत्येक देश में होगई है। हम इनके सम्बन्ध में बैंकिंग के परिच्छेद में लिखेंगे।

सहकारिता के आधार पर उत्पादन, उपभोग तथा साख का सगठन यदि पूर्ण रूप से सफल हो जावे, तो समाज की एक बहुत बड़ी आर्थिक समस्या हल हो जावे।

परिच्छेद १८

धन्धों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Industries)

धन्धों के राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि धन्धों को राज्य अपने अधिकार मे ले और राज्य ही उनको चलावे। आज प्रत्येक देश में धन्धों के राष्ट्रीयकरण की मांग की जारही है। भारतवर्ष में भी धन्धों के राष्ट्रीयकरण की मांग की जारही है। अस्तु, हमें यह देखना चाहिए कि धन्धों को राज्य के द्वारा चलाने से तथा धन्धों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करने से क्या लाभ या हानि है।

धन्धों के राष्ट्रीयकरण से लाभ : धन्धों के राष्ट्रीयकरण से निम्न लिखित लाभ हैं:—

(१) श्रमजीवी-समुदाय यह अनुभव करता है कि धन्धों पर राज्य का अधिकार हो जाने से पूँजीपतियों (capitalists) के द्वारा उनका शोषण बन्द हो जावेगा। और यद्यपि धन्धों के प्रबन्ध मे मजदूरों का प्रत्यक्ष कोई हाथ नहीं रहता, परन्तु उस राष्ट्र के एक नागरिक की हैसियत से वे उन धन्धों के प्रबन्ध को परोक्ष रूप से प्रभावित कर सकते हैं, जिन पर राज्य का अधिकार स्थापित होगया है।

(२) धधों के राष्ट्रीयकरण का दूसरा लाभ यह है कि जब धन्धों पर राज्य का अधिकार स्थापित हो जाता है और राज्य ही धधों का स्वामी होता है, तो आर्थिक शक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों, अर्थात् पूँजीपतियों के हाथों में एकत्रित नहीं होती; जैसा कि पूँजीवादी पद्धति मे होता है। धधों के व्यक्तिगत स्वामित्व का एक बड़ा दोप यह होता है कि बहुत अधिक लाभ कुछ थोड़े से पूँजीपतियों की तिजोरी में जाता है, और उसके पास आर्थिक शक्ति एकत्रित होती है, जिसका वे दुरुपयोग करते हैं।

(३) धन्धों के राष्ट्रीयकरण का तीसरा लाभ यह है कि सारा धन्धा एक प्रबन्ध और नियन्त्रण में रहता है तथा उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में होता है, इस कारण उसे बड़ी मात्रा के उत्पादन के लाभ तथा प्रबन्ध और नियन्त्रण की एकता के सारे लाभ प्राप्त होते हैं। यद्यपि आज उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को वस्तु उचित मूल्य पर मिल जाती है, और धन्धों पर राज्य का

नियंत्रण स्थापित हो जाने से वह प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जाती है, फिर भी यह आशा की जा सकती है कि राज्य उपभोक्ताओं (consumers) के स्वार्थ को भी ध्यान में रक्खेगा। यदि ऐसा न भी हो, और उपभोक्ताओं को वस्तु उचित मूल्य पर न भी मिले, तो भी उन्हें यह संतोष होगा कि उनकी हानि समाज का लाभ है।

(४) राष्ट्रीयकरण का चौथा लाभ यह है कि राज्य देश के औद्योगीकरण की योजना देश के सुदीर्घकालीन हानि-लाभ को ध्यान में रखकर बना सकता है। व्यक्तिगत व्यवसायी तो तात्कालिक लाभ को ध्यान में रखकर ही धन्धों की स्थापना करता है। उदाहरण के लिए, यदि देश की आर्थिक उन्नति के लिए जल विद्युत् उत्पन्न करने के कारखानों की अधिक आवश्यकता हो, परन्तु उनमें अधिक लाभ की आशा न हो, तो व्यवसायी उनको स्थापित नहीं करेगा। परन्तु राज्य को अधिक लाभ का इतना मोह न होगा, अतएव वह इन कारखानों को देश के हितार्थ अवश्य स्थापित करेगा। यही नहीं, राज्य राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर उन धंधों का भी विकास करेगा जो कि सम्भवतः कभी लाभदायक न हों, परन्तु जिनकी देश के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्रीयकरण से एक दूसरा लाभ और है। राज्य खनिज पदार्थों का उपयोग बड़ी किफायत से करेगा और उनको व्यर्थ नष्ट न होने देगा। व्यक्तिगत पूँजीपति की दृष्टि केवल तत्कालीन लाभ पर रहती है अतएव वे राष्ट्र-हित की ओर ध्यान नहीं देते। उदाहरण के लिए, यदि भारतवर्ष में बढ़िया कोयला बहुत कम है, और यदि कोयले की खानों पर राज्य का स्वामित्व हो, तो वह उस कोयले को बड़ी किफायत से केवल बहुत आवश्यक कार्यों में ही व्यय करने देगा। यही नहीं, पूँजीपति यदि देखेगा कि किसी खान को अधिक खोदना लाभदायक नहीं है, तो वह उसको वहीं छोड़ देगा, और बहुत कोयला उसमें नष्ट हो जावेगा। किन्तु राज्य ऐसा नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि राज्य देश की प्राकृतिक देन को सुरक्षित रखने तथा उसको किफायत से व्यय करने का प्रयत्न करेगा।

(५) राष्ट्रीयकरण का पाँचवाँ लाभ यह है, कि यदि किसी धन्धे में कुछ थोड़े समय तक हानि होने की सम्भावना हो, किन्तु उससे लाभ अधिक होने की सम्भावना है, अथवा देश-हित के लिए वह धंधा आवश्यक है, तो राज्य उस धंधे को खड़ा कर देगा, परन्तु व्यक्तिगत पूँजीपति उसको खड़ा करने में हिचकिचायेगा। यही नहीं, राज्य धंधों में होनेवाली हानि को उठाने की जितनी क्षमता रखता है, उतनी क्षमता बड़े से बड़ा पूँजीपति भी नहीं रखता।

(६) राष्ट्रीयकरण का एक यह भी लाभ है, कि औद्योगिक विशेषज्ञ इंजिनियर, वैज्ञानिक तथा अन्य कर्मचारी जो कि उद्योग-धंधों में काम करते हैं, राज्य की नौकरी के लिए अपेक्षाकृत कम वेतन पर मिल जावेंगे। यह सर्वमान्य बात है, कि लोग किसी व्यक्ति विशेष की नौकरी करने की अपेक्षा राज्य की नौकरी करना अधिक पसन्द करते हैं और कम वेतन लेना भी स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि राज्य की नौकरी अधिक स्थायी होती है, साथ ही काम करने वाले को यह भावना प्रसन्न करती है कि मैं राष्ट्र की सेवा कर रहा हूँ। कोई भी भला, ईमानदार, स्वाभिमानी और योग्य व्यक्ति किसी पूँजीपति की नौकरी करने की अपेक्षा राज्य द्वारा देश की सेवा करना अधिक पसन्द करेगा।

(७) राष्ट्रीयकरण का एक लाभ यह भी है कि जब राज्य के हाथ में ही सारे धंधे होंगे, तो राज्य प्रत्येक नवीन धंधे की स्थापना के पूर्व उस धंधे से होने वाले लाभ-हानि का भी ध्यान रखेगा। जब हम हानि लाभ की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य केवल रुपये-पैसे के हानि लाभ से ही नहीं होता, वरन् सामाजिक हानि-लाभ अथवा सामाजिक लागत (social cost) से होता है। उदाहरण के लिए, यदि राज्य ही किसी विलासिता की वस्तु का निर्माण करने के लिए किसी कारखाने को स्थापित करने की बात सोचेगा, तो वह केवल रुपये के हानि-लाभ की बात ही नहीं सोचेगा, वरन् यह भी सोचेगा कि उससे समाज को लाभ होगा या हानि। व्यक्तिगत पूँजीपति इस प्रकार के हानि-लाभ की ओर ध्यान ही नहीं देता है, फिर वह वस्तु जिसे वह उत्पन्न करना चाहता है, समाज के लिए हानिकर है इससे उसको कोई मतलब नहीं होता।

(८) राष्ट्रीयकरण का एक लाभ यह है कि राज्य नये धंधे स्थापित करते समय उन्हें योजनाबद्ध स्थापित करता है। किस स्थान पर नये धंधे को स्थापित करना ठीक होगा, इसको ध्यान में रखता है। जिन औद्योगिक केन्द्रों में स्थान की बहुत कमी है, और वहाँ अत्यधिक जनसंख्या होने के कारण बहुत अधिक भीड़, गंदगी और अन्य सामाजिक बुराइयों के फैलने का भय हो, राज्य उस केन्द्र में नवीन धंधे स्थापित न करके ऐसे स्थान पर स्थापित करेगा, जहाँ यह कठिनाइयाँ न हों। व्यक्तिगत पूँजीपति इस ओर ध्यान नहीं देता। उदाहरण के लिए, १६१६ में औद्योगिक कमीशन ने यह राय दी थी कि बम्बई में कोई नया कारखाना स्थापित नहीं होना चाहिए। परन्तु उसके बाद बहुत से नये कारखाने वहाँ स्थापित हुए, और आज तो वहाँ इतनी अधिक भीड़ है

वहा रहना भी कठिन है। यदि धधों का राष्ट्रीयकरण हो जावे, तो राज्य चित स्थानों पर ही नये धधे खड़ा करेगा।

राष्ट्रीयकरण से हानियाँ : राष्ट्रीयकरण के पक्ष में जहाँ ऊपर लिखे बल तर्क उपस्थित किए जाते हैं, वहा उसके विरुद्ध जो दलीलें उपस्थित की जाती हैं, वे भी तथ्यहीन नहीं हैं। हमें राष्ट्रीयकरण के विरोधियों के तर्कों का भी ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

(१) राष्ट्रीयकरण के विरोधियों का कहना है कि जब सारे धधे राज्य द्वारा सचालित होंगे, तो राज्य के कर्मचारी ही उनको चलावेंगे और उनका प्रबन्ध करेंगे। सरकारी कर्मचारी तथा नौकरशाही लाल फीते की पद्धति को अपनावेगी, उससे व्यावसायिक प्रयत्न रुक जावेगा, धधों के प्रबन्ध करने का व्यय बढ जावेगा, व्यावसायिक अनुभव तथा योग्यता का मूल्य कम हो जावेगा, और उपभोक्ताओं को असतोष होगा। बात यह है कि जिस कार्य को राजकीय विभाग करता है, उसमें इतनी अधिक कानूनी तथा रस्मी बातों की खानापूरी करनी पड़ती है, कि उसके किसी बात के निर्णय में बहुत देर लग जाती है। व्यावसायिक कार्य में तुरन्त निर्णय करने की आवश्यकता होती है। राजकीय विभाग में यह सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त राज्यकर्मचारियों की उन्नति, उनकी कुशलता व योग्यता पर इतनी निर्भर नहीं होती जितनी कि उनकी ज्येष्ठता पर। अस्तु; योग्य और कुशल व्यक्ति वहा उतनी तेजी से उन्नति नहीं कर पाता। एक पूँजीपति यदि किसी नये कर्मचारी को अधिक कुशल और योग्य देखता है, तो उसे तुरन्त जिम्मेदारी का काम सौंप देता है। वह यह नहीं देखता कि कौन पुराना है और कौन नया है।

(२) इसके अतिरिक्त नौकरशाही के जो परम्परागत गुण हैं—सतर्कता अत्यन्त सावधानी, किसी भी प्रश्न के बहुत विस्तार में जाना इत्यादि, वे व्यावसायिक सफलता के लिए उतने लाभदायक नहीं हैं। जब भी कोई योजना या प्रश्न सरकार के सामने उपस्थित होता है, तो उससे सम्बन्धित विभाग में उसके सम्बन्ध में सलाह करना, प्रत्येक सम्बन्धित कर्मचारी की उसके सम्बन्ध में राय जान लेना आवश्यक हो जाता है। इसमें अनावश्यक देरी होती है और काम में अड़चन पड़ती है।

(३) राज्य द्वारा धधों के स्थापित करने और सचालन करने में अड़चन यह आती है, कि राजस्व विभाग कभी सारी योजना को ही

देता है। राजस्व विभाग का मुख्य कार्य व्यय को काटना-छाँटना है, जिससे कि अन्य विभाग अनावश्यक व्यय न करें। दूसरे प्रत्येक पैसा के कि खर्च किया गया उसका ठीक-ठीक हिसाब रक्खा जावे। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसी बहुत-सी योजनायें, जो कि एक व्यवसायी को आकर्षक प्रतीत होंगी, राजस्व विभाग उन्हें व्यर्थ और अधिक जोखिम की कह कर हाथ में नहीं लेने देगा।

(४) व्यक्तिगत पूँजीपति जब कोई नया कारबार करता है, तब उसमें जोखिम तो रहती ही है, परन्तु वह उस जोखिम को उठाता है तथा कारबार आरम्भ करता है, परन्तु सरकार जोखिम उठाने में थोड़ी भयभीत रहती है। कारण यह कि यदि सरकार कोई कारबार करे और वह असफल हो जाय तथा सार्वजनिक पूँजी उसमें डूब जाय, तो स्वभावत: सरकार की बड़ी कटु आलोचना हो और उसका अगले चुनावों पर बुरा असर पड़े। बहुधा ऐसा देखा गया है, कि नये कारबार व्यक्तिगत पूँजीपतियों ने ही हाथ में लिए, और जोखिम उठाकर उनको स्थापित किया। जब उन व्यवसायों का लोगों को अनुभव हो गया और उनकी जोखिम कम होगई, तो फिर राज्य ने उनमें हाथ डाला। उदाहरण के लिए, जब स्वर्गीय जमशेदजी ताता भारत में स्टील बनाने का कारखाना स्थापित करने से लिए प्रयत्नशील थे, उस समय भारत सरकार के विशेषज्ञों ने उन्हें बहुतेरा भयभीत किया कि भारत में स्टील का कारखाना कभी सफल नहीं हो सकता, किन्तु स्वर्गीय ताता ने साहस के साथ उस जोखिम को उठाया और कारखाना स्थापित कर दिया। इसी प्रकार जब भारत में जलविद्युत् उत्पन्न करना बहुत जोखिम का व्यवसाय समझा जाता था, तब स्वर्गीय ताता ने पश्चिमी घाट पर जलविद्युत् उत्पन्न करने के कारखाने स्थापित किए।

(५) धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर सरकार के सामने एक प्रश्न यह उपस्थित होती है, कि राज्य जब कोई कारबार अपने हाथ में ले लेता है, तो उस पर जनता का राजनैतिक दबाव पड़ने लगता है कि वह उस वस्तु या सेवा का मूल्य कम करे। वस्तु या सेवा सस्ती और अच्छी हो और उसमें काम करने वाले मजदूरों और कर्मचारियों की मजदूरी ऊँची हो तथा काम करने की परिस्थितियों में सुधार हो। उदाहरण के लिए रेल अथवा डाक के विभागों को ही ले लीजिए। इन पर भारत सरकार का एकाधिपत्य है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि डाक-महसूल कम हो, डाक का प्रबन्ध अधिक अच्छा हो, डाक

। काम करने वालों का वेतन बढाया जावे, उनकी सुख-सुविधा का समुचित ध्यान रक्खा जावे। रेलों की भी यही स्थिति है। जनता चाहती है कि रेलों का किराया घटे, मुसाफिरों को सारी यात्रा सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त हों, तथा रेलवे कर्मचारी को अच्छा वेतन और अन्य सुविधायें प्राप्त हों, काम करने के घंटे कम हों इत्यादि। यदि आज बिजली सरकार उत्पन्न करने लगे, तो बिजली के सम्बन्ध में भी यही स्थिति होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि सरकार जिस कारबार को करती है, उसके द्वारा मिलने वाली वस्तु अथवा सेवा का मूल्य कम किया जावे और वह अच्छी हो इसके लिए सरकार पर बराबर राजनैतिक दबाव डाला जाता है। आप पार्लियामेंट की बहसों को पढिये, रेलों और डाकखानों के सम्बन्ध में बराबर जनता के प्रतिनिधि इस आशय के प्रस्ताव लाते रहते हैं। व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथ में जब कोई कारबार होता है, तो उन पर कोई राजनैतिक दबाव नहीं पड़ता।

(६) इस सम्बन्ध मे एक और बात ध्यान में रखने की है कि राष्ट्रीयकरण के हो जाने पर इस बात की बड़ी सम्भावना रहती है कि धन्धे या कारबार के दैनिक सचालन में राजनैतिक हस्तक्षेप हो। उस दशा में वह धंधा सफलता पूर्वक नहीं चलाया जा सकता। यह खतरा व्यक्तिगत पूँजीपतियों द्वारा चलाये जाने वाले धंधों में नहीं रहता।

(७) राष्ट्रीयकरण का एक दोप यह भी है कि धंधे का वैज्ञानीकरण (rationalisation) करना कठिन होता है। कल्पना कीजिए कि नवीन यन्त्रों स उत्पादन अधिक और कम खर्च से होसकता है, तथा उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन करने से थोडे समय में और थोड़ी लागत से अधिक उत्पादन हो सकता है; परन्तु इस नवीन पद्धति को अपनाने से यदि कुछ मजदूरों की आवश्यकता नहीं रहनी, उन्हें हटाना पड़ता है, तो मजदूर सरकार पर दबाव डालेंगे कि धंधे का वैज्ञानीकरण (rationalisation) न किया जावे। जब आज मिल-मालिक धंधों का वैज्ञानीकरण करते हैं, और मजदूरों को भय होने लगता है कि उनके फलस्वरूप छँटनी होगी, तो वे आन्दोलन करते हैं। जब धंधे राज्य के अधिकार मे होंगे तो इस दबाव को सहन कर सकना राज्य के लिए कठिन होगा और उत्पादन-पद्धति में सुधार कर सकना कठिन हो जावेगा।

(८) राष्ट्रीयकरण से एक हानि यह भी हो सकती है कि धंधों को एक स्थान पर केन्द्रित करने की योजना अन्य केन्द्रों के विरोध करने के कारण छोड़ देनी पड़े। जब राज्य का एक धंधे विशेष पर एकाधिपत्य है, और उत्पाद-

की सुविधाओं को देखते हुए राज्य उस धंधे को एक उपयुक्त केन्द्र में केन्द्रित कर देना चाहता है, परन्तु इससे अन्य केन्द्रों का महत्त्व कम हो सकता है, अतः उनके विरोध के भय के कारण राज्य इस आवश्यक सुधार को करते हिचकिचायेगा। भारतवर्ष में देशी राज्यों का जब विलीनीकरण हुआ, राजधानी के प्रश्न को लेकर तथा हाईकोर्ट कहाँ रहे, अमुक राजकीय विभाग का प्रमुख कार्यालय कहाँ रहे, इन प्रश्नों को लेकर कितना प्रबल राजनैतिक आन्दोलन हुआ, राजनैतिक कार्यकर्ताओं मे कैसी कटुता बढी और कितनी दलबन्दी हुई, उसकी कल्पना भी नहीं की जासकती। मध्यभारत में तो कुछ समय तक दो राजधानियाँ ग्वालियर और इन्दौर रहीं। राजस्थान मे राज्य के प्रमुख विभागों का बँटवारा कर दिया गया और कोई न कोई राजकीय विभाग सम्मिलित राज्यों की पुरानी राजधानियों को दे दिया गया। ऐसी दशा में राज्य किसी एक केन्द्र में एक प्रमुख धंधे को केन्द्रित करना चाहे, तो कितना विरोध होगा इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। फिर चाहे धंधे की दृष्टि से वह कितना ही उचित और महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। धंधे का एक स्थान पर केन्द्रीयकरण हो इसका विरोध केवल दूसरे केन्द्र करें, यही नहीं होगा, वरन् मजदूरों की ओर से भी इसका विरोध हो सकता है, क्योंकि उनको अपने स्थान से हटकर दूर जाना होगा।

(९) धंधों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर राज्य को अत्यन्त कटु आलोचना का शिकार होना पड़ेगा। कहीं भाव में तेजी आई या वस्तु अच्छी न हुई या पर्याप्त परिमाण मे प्राप्त न हुई तो सरकार के विरोधियों को उसके विरुद्ध प्रचार करने का एक अच्छा साधन मिल जावेगा। जब धंधे व्यक्तिगत पूँजीपतियों के अधिकार में चलते हैं, तो उद्योगपति बाजार का भाव यही है अथवा आर्थिक स्थिति ऐसी ही है, कह कर छूट जाते हैं, परन्तु जब सारे धंधों पर राज्य का अधिकार होगा तो राज्य बाजार की आड़ में अपना बचाव नहीं कर सकेगा।

(१०) कुछ लोग राष्ट्रीयकरण का एक दूसरी दृष्टि से विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यदि समस्त धंधों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जावेगा तो सरकार का देश के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर एकछत्र आधिपत्य स्थापित हो जावेगा। सर्व साधारण की आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जावेगी। आर्थिक जीवन पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित हो जाने का परिणाम यह होगा कि उपभोक्ताओं (consumers) का उत्पादन (pro

duction) पर कोई प्रभाव नहीं रहेगा। आज तो उद्योगपति उपभोक्ताओं की माँग (demand) का अध्ययन करते हैं, और उसी के अनुसार उत्पादन करते हैं। जिस वस्तु का बाजार में अधिक चलन होता है, अथवा जिसका फैशन अधिक होता है, कारखाने उसी वस्तु को, उसी डिजाइन को अधिक तैयार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह, कि आज तो उपभोक्ता यह निर्धारित करते हैं कि कौनसी वस्तु कैसी और कितनी उत्पन्न की जावेगी। किन्तु धधों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर उपभोक्ताओं का यह अधिकार और प्रभाव जाता रहेगा। क्योंकि धधों पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित होगा, ऐसी दशा में राज्य के कारखाने जो वस्तु उत्पन्न करेंगे और जितनी उत्पन्न करेंगे उपभोक्ताओं को उसी से सन्तुष्ट होना पडेगा। उदाहरण के लिए, यदि भारत-सरकार का सूती वस्त्र-व्यवसाय पर एकाधिपत्य स्थापित हो जावे और राज्य केवल मोटा कपड़ा ही तैयार कराये, क्योंकि वह बढ़िया कपास विदेशों से मँगाना नहीं चाहता, तो लोगों को विवश होकर मोटा कपड़ा ही पहनना होगा।

(११) धधों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित होजाने से यह भी एक खतरा खड़ा हो सकता, है कि जनता की राजनैतिक स्वतन्त्रता भी छिन जावे। जब उद्योग-धंधों पर भी राज्य का एकाधिपत्य होगा, तो देश की अधिकाश जनसंख्या राज्य की नौकर होगी। राज्यकर्मचारियो पर जो बहुत से बधन होते हैं, वे उनपर भी लागू होंगे। साथ ही सरकार आसानी से इस स्थिति का लाभ अपने विरोधी दलों को पराजित करने में कर सकती है। जब देश की अधिकांश जनसख्या राज्य की नौकर होगी, तो सरकार जनमत को अपने पक्ष में आसानी से प्रभावित कर सकती है। जनतत्र के लिए यह एक भयङ्कर खतरा बन सकता है।

(१२) इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण हो जाने पर उद्योग-धधो-सम्बन्धी इतने अधिक कानून बनाने होंगे और समय-समय पर इस शीघ्रता से कानून बनाने की आवश्यकता होगी कि राज्य की व्यवस्थापिका सभायें उस भार को सहन नहीं कर सकेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि जनतान्त्रिक पद्धति को तिलाजलि दे दी जावेगी और मन्त्रिमडल अपने अधिकार को अधिकाधिक बढाता जावेगा।

(१३) धधों के राष्ट्रीयकरण से यह भी सम्भावना है कि उत्पादन गिर जावे, क्योंकि व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा से जो पूँजीपति मन लगाकर धधे का काम करता है, वैसी एकाग्रता, लगन और निष्ठा सरकारी कर्मचारियों में नहीं होगी। इसका परिणाम यह होगा कि प्रबन्ध ठीक न होने के कारण उत्पादन

गिर जावेगा। ब्रिटेन में तथा अन्य देशों में जहाँ कुछ धधों का राष्ट्रीयकरण हुआ, वहाँ उत्पादन गिर गया है।

(१४) राष्ट्रीयकरण के विरोधी, धंधों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध यह भी क हैं, कि सरकारी प्रवन्ध में कारखानों का अनुशासन गिर जावेगा। उन कहना है सरकार को जब असंख्य मजदूरों का अगले चुनावों में मत प्राप्त क है, तो वह मजदूरों को अप्रसन्न करना नहीं चाहेगी। ऐसी दशा में कारखान में अनुशासन शिथिल हो जावेगा और उत्पादन कम होगा। धधों की उन्नति न हो सकेगी।

धधों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष और विपक्ष में ऊपर लिखे तर्क उपस्थित किये जाते हैं। सच तो यह है कि यह कहना कि राष्ट्रीयकरण सभी दशाओं में हानिकारक या लाभदायक है गलत होगा। प्रत्येक दशा में स्थानीय बातों को देखकर ही यह निर्णय करना होगा कि इस धधे का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नहीं। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है कि जिन धधों में एकाधिकार (monopoly) स्थापित होजाने की सम्भावना और प्रवृत्ति अधिक हो, जहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व धधे के पूर्ण विकास अथवा उत्पादन-पद्धति के सुधार में वाधक हो रहा हो, और जिस धधे का कारवार इस प्रकार का हो कि जिसका एक ढर्रा वनाया जासके और जिस धधे के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तु की माँग स्थायी और सुरक्षित हो, उस धधे का राष्ट्रीयकरण कर देने से समाज को लाभ होगा।

इसके विरुद्ध जिस धधे की स्थिति अधिक परिवर्तनशील हो; जिसमें सफलता प्राप्त करने के लिए साहस, खोज, तथा परिश्रम की अधिक आवश्यकता हो, अथवा जिसकी माँग अनिश्चित हो, फिर चाहे वह विदेशों की प्रतिस्पर्धा के कारण हो या उस वस्तु की स्वत. ही माँग अनिश्चित हो, उन धधों के राष्ट्रीयकरण से उतना लाभ नहीं हो सकता।

———

परिच्छेद १६

क्रमागत ह्रास-नियम (Law of Diminishing Returns)

अत्यन्त प्राचीनकाल से मनुष्य-समाज ने खेती में यह अनुभव किया कि भूमि पर फसल पैदा करने से भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होती है। पौधा भूमि के कुछ तत्वों को नष्ट कर देता है। यह तत्व तभी पूरे किए जा सकते हैं जब या तो भूमि को यथेष्ट विश्राम दिया जाय, जिससे वह प्रकृति से उन्हीं तत्वों को प्राप्त करले, अथवा भूमि को खाद देकर उन तत्वों को पूरा किया जावे। यही कारण था कि अत्यन्त प्राचीनकाल से मनुष्य ने खेती की पद्धति का विकास इसी अनुभव के आधार पर किया था। परन्तु किसान अनुभव से जानता है कि भूमि पर एक सीमा के बाद पूँजी (capital) और श्रम (labour) को लगाने मे लाभ नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह, कि भूमि पर एक सीमा तक ही श्रम और पूँजी को बढ़ाया जा सकता है, उसके उपरान्त श्रम और पूँजी को लगाने से अधिक लाभ नहीं होगा। यदि एक भूमि के टुकड़े पर जितना अधिक श्रम और पूँजी हम लगाते जावें उसी अनुपात मे पैदावार भी बढ सकती, तो ससार भर के लिए खाद्य-पदार्थ और कच्चा माल एक छोटे से भूमि के टुकड़े मे पैदा किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यदि भूमि पर श्रम और पूँजी बढ़ाई जाती रहे तो एक सीमा के बाद उत्पत्ति मे वृद्धि तो अवश्य होगी, परन्तु वह श्रम और पूँजी मे की गई वृद्धि के अनुपात मे नहीं होगी, कम होगी। इसी को उत्पादन का क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) कहते हैं। खेती के अनुभव से मनुष्य ने इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्पादन नियम (law of production) को ढूँढ निकाला। क्रमागत ह्रास-नियम उत्पादन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नियम है और धनोत्पत्ति इसी पर निर्भर है। यदि क्रमागत ह्रास-नियम उत्पादन मे लागू न हो तो सारा अर्थशास्त्र ही मूलत. बदल जावे।

जहाँ तक भूमि के सम्बन्ध में क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने की बात है प्रो० मार्शल ने क्रमागत ह्रास-नियम की व्याख्या इस प्रकार की है 'यदि खेती की भूमि पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाई जावे तो उत्पत्ति श्रम और पूँजी

की वृद्धि के अनुपात से कम होगी, जब तक कि श्रम और पूँजी की वृद्धि के साथ ही खेती की पद्धति में भी सुधार न हो।"

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि खेती मे एक सीमा के बाद भूमि मनुष्य के प्रयत्नों के प्रति पूर्ववत सहयोग नहीं करती। इसका परिणाम यह होता है, कि उस सीमा के पहुच जाने पर यदि मनुष्य अधिक श्रम और पूँजी लगा भूमि से अधिक उत्पत्ति की मॉग करता है तो उत्पत्ति में कुछ वृद्धि तो अवश्य होती है, परन्तु श्रम और पूँजी के अनुपात में वृद्धि नहीं होती।

सच तो यह है, कि उत्पादन मे जितने भी उत्पत्ति के साधन (factors of production) हैं, उनका एक सानुपातिक आदर्श सगठन होता है। और वह सानुपातिक आदर्श सगठन किसी एक साधन को पूर्ववत रखने से तथा अन्य साधनों को लगातार बढाते जाने से बिगड़ जाता है, तो क्रमागत ह्रास नियम लागू हो जाता है।

उदाहरण के लिए, यदि हम मानलें कि सौ बीघा भूमि पर १० मनुष्यों का श्रम तथा दो जोडी हल बैल, १०० गाड़ी खाद, १२ मन अच्छा बीज, ... बार सिंचाई, खेत के चारों ओर ऊँची बाढ उत्पत्ति के साधनों का एक आदर्श सानुपातिक सगठन है, और इस प्रकार खेती करने से हमे १००० मन गेहूँ मिलते हैं। अब यदि हम भूमि तो १०० बीघा ही रक्खे और श्रम तथा पूँजी को दुगना करदें, तो पैदावार दो हजार मन कदापि नहीं होगी, इसका कारण यह है कि भूमि, श्रम और पूँजी की अपेक्षा शक्तिहीन हो जावेगी और पूर्व क्षमता से उत्पादन कार्य मे सहयोग न कर सकेगी। श्रम और पूँजी शक्तिवान हो जावेंगे और वे अधिक वेग और तीव्रता से भूमि में उत्पादन करना चाहेंगे, परन्तु भूमि उसी वेग और क्षमता से उत्पादन में सहयोग न कर सकेगी, और क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा।

हम एक काल्पनिक उदाहरण लेकर इसको और भी अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। कल्पना करिये कि एक किसान भारतवर्ष से आस्ट्रेलिया चला जाता है। वहॉ भूमि की तो कोई कमी नही है, जो भी व्यक्ति जितनी ... पा सकता है। वह पॉच सौ एकड़ भूमि पर अपना अधिकार कर लेता है। उसके परिवार में दस प्रौढ व्यक्ति हैं, अतएव वह इन दस आदमियों (श्रम) ... उनके लिए आवश्यक औज़ार तथा पूँजी को जिसे हम पूँजी की दस इकाई ... भूमि पर लगाता है। कल्पना कीजिए कि वह गेहूँ उत्पन्न करता है और ...

एकड़ पर ढाई हजार मन गेहूं उत्पन्न करता है। स्पष्ट है कि उसके पास भूमि त है और उसके अनुपात मे पूँजी और श्रम कम है, अतएव आदर्श सानुपातिक टन नहीं है। ऐसी दशा में यदि पूँजी और श्रम को दुगना कर दिया जावे उत्पादन दुगने मे अधिक होगा अर्थात् आठ हजार मन गेहूं उत्पन्न होगा। को क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) कहते हैं। म कल्पना कीजिए कि इससे प्रोत्साहित होकर किसान फिर श्रम और पूँजी दुगना कर देता है, परन्तु इस बार उसको केवल १६ हजार मन गेहूँ मिलते । इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम और पूँजी को दुगना करने से उत्पत्ति ठीक नी बढी नहीं, इसको क्रमागत सम उत्पादन-नियम (law of constant turns) कहेंगे। किसान फिर भी श्रम और पूँजी को दुगना कर देता है, स बार उत्पत्ति ३२ हजार मन न होकर केवल २४ हजार मन ही होती है, सका अर्थ यह हुआ कि क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो गया। दूसरे शब्दों में म कह सकते हैं, कि उत्पत्ति के साधनो का आदर्श सानुपातिक सगठन उस मय उपलब्ध होगया जबकि १६ हजार मन उत्पत्ति हुई। उसके उपरान्त मि को न बढाकर केवल श्रम और पूँजी को बढाने का परिणाम यह हुआ कि मि अपेक्षाकृत कम होगई और वह पूँजी और श्रम के साथ उतने वेग और तना स सहयोग न कर सकी और उत्पत्ति मे यद्यपि वृद्धि हुई परन्तु जिस नुपात मे श्रम और पूँजी को बढाया गया था, उस अनुपात मे उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हुई।

इस नियम का हम तनक विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। कोई किसान भी व्यवहार में अपनी पूँजी और श्रम को एक साथ दुगना नहीं करता है। हम क दूसरा उदाहरण लेकर यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि यदि किसान एक-एक इकाई पूँजी और श्रम की क्रमश. वृद्धि करे तो क्रमागत ह्रास-नियम किस प्रकार लागू होगा। कल्पना कीजिए कि एक किसान के पास सौ एकड़ भूमि है और वह स्वय उस पर कार्य करता है। हम यह मान लेते हैं कि उस भूमि पर एक इकाई श्रम और पूँजी लगती है, और कुल पैदावार २०० मन होती है। दूसरे वर्ष वही किसान एक और आदमी रखता है तथा पूँजी भी बढाता है अर्थात दो इकाई श्रम और पूँजी लगाता है, और कुल उत्पत्ति ५०० मन होती है अर्थात् दूसरी इकाई ३०० मन की वृद्धि करती है। किसान एक तीसरा मजदूर रखता है और उसे आवश्यक पूँजी दे देता है अर्थात् तीसरी इकाई लगाता है, इस बार उत्पत्ति ८०० मन होती है अर्थात् श्रम और पूँजी की तीसरी इकाई भी ३०० मन गेहूं की वृद्धि करती है। किसान चौथी इ

लगाता है, और कुल उत्पत्ति १२५० मन होती है अर्थात् चौथी इकाई २५० मन की वृद्धि करती है। अब यदि किसान पाँचवी इकाई और ल है तो कुल उत्पत्ति १३५० मन होती है अर्थात् पाँचवी इकाई केवल १० की वृद्धि करती है। छठी इकाई लगाने पर कुल उत्पत्ति केवल १३५० मन है अर्थात् छठी इकाई केवल १०० मन की ही वृद्धि करती है, और यदि इकाई और लगाता है तो कुल उत्पत्ति १४०० मन होती है अर्थात् सातवीं केवल ५० मन की वृद्धि करती है।

अब ऊपर के उदाहरण में जब किसान श्रम और पूँजी की दूसरी लगाता है, तो क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) होता है, जब तीसरी इकाई लगाता है तो क्रमागत सम उत्पत्ति-नियम (law constant returns) लागू होता है। जब किसान चौथी इकाई ल है तो वृद्धि ३०० मन की न होकर केवल २५० मन ही होती है और क्र ह्रास-नियम लागू हो जाता है। इसके उपरान्त जैसे-जैसे किसान अधिक श्रम और पूँजी की इकाई लगाता जाता है वैसे ही वैसे क्रमागत ह्रास नियम होता जाता है।

अब प्रश्न यह है कि किसान कौनसी स्थिति में अधिक श्रम और की इकाई लगाना बन्द कर देगा, क्या वह तीसरी इकाई लगाने के उपरान्त जावेगा अर्थात् जब क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने लगे तभी वह रुक जावे यह आवश्यक नहीं है कि किसान क्रमागत ह्रास-नियम (law of minishing returns) के लागू होने से पहले ही रुक जावे। यह बात पर निर्भर होगा कि एक श्रम और पूँजी की इकाई का लागत व्यय है। यदि हम मानलें कि एक श्रम और पूँजी की इकाई का लागत व्यय (co १०० मन गेहूँ है, तो यद्यपि क्रमागत ह्रास-नियम चौथी श्रम (labour) पूँजी (capital) की इकाई लगाने के साथ साथ लागू हो जाता है, परन्तु कि चौथी इकाई अवश्य लगावेगा, क्योंकि किसान को चौथी श्रम और पूँजी की को खरीदने में केवल १०० मन गेहूँ की लागत लगेगी, किन्तु उसको २५० मन की अधिक प्राप्ति होगी। किसान पाँचवी इकाई भी लगावेगा, क्योंकि पाँचवीं इ २०० मन की वृद्धि करेगी और उसकी लागत केवल १००मन होगी। छठी इ केवल१००मन की वृद्धि करेगी और उसकी लागत भी१००मन होगी। यदि कि सातवीं इकाई लगाने की मूर्खता करेगा तो उसको केवल ५० मन की प्राप्ति हो और १०० मन देना होगा। कहने का तात्पर्य यह, कि यद्यपि क्रमागत ह्रास नि

थीं इकाई लगाने पर ही लागू हो जाता है, परन्तु किसान छठी इकाई तक
पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगावेगा। इसके उपरान्त यदि वह अधिक
जी और श्रम लगावेगा तो उसे हानि होने लगेगी।

क्रमागत ह्रास-नियम का तालिका के रूप में प्रदर्शन : अब हम
ागत ह्रास-नियम को एक तालिका के रूप में समझाने का प्रयत्न करेंगे
सने क्रमागत ह्रास-नियम अधिक स्पष्ट हो जावे। नीचे दिए हुए आंकड़े
ल्पनिक हैं :—

१०० एकड़ के फार्म पर लगातार अधिक श्रम और पूँजी की इकाइयों लगाने से होने वाली उत्पत्ति का काल्पनिक ब्यौरा :—

उत्पादन इकाई (श्रम और पूँजी की इकाई)	कुल उत्पत्ति मनों में	सीमान्त उत्पत्ति मनों में	औसत उत्पत्ति मनों में
१	८०	८०	८०
२	१७०	९०	८५
३	२७०	१००	९०
४	३६८	९८	९२
५	४३०	७०	८६
६	४८०	५०	८०
७	५०४	२४	७२
८	५०४	०	६३
९	४९५	–९	५५
१०	४७०	–२५	४७

ऊपर दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि क्रमागत ह्रास-नियम के
[illegible] स्वरूप हैं —

(१) जहाँ तक कुल उत्पत्ति की दृष्टि से क्रमागत ह्रास-नियम का सम्बन्ध
यह तब लागू होता है जबकि ९ इकाई भूमि पर लगती हैं। उससे
[illegible] जितनी भी इकाई भूमि पर लगाई गई वे कुछ न कुछ उत्पन्न करती
थीं। जब ८ इकाई लगाई गई तो आठवीं इकाई ने कुछ भी उत्पन्न
[illegible] और उत्पादन उतना ही रहा कि जितना सातवीं इकाई लगाने से

था। नवीं और दसवीं इकाई से उत्पादन इतना गड़बड़ हो गया, कि
उत्पत्ति कम होगई। सच तो व्यवहार मे किसान इस स्थिति तक पहुंच ही न
पाता है। और क्योंकि मजदूर को रखने तथा पूँजी लगाने में व्यय होता है, वे
विना मूल्य दिए नहीं मिल जाते इस कारण किसान सातवीं इकाई के बा
रुक जावेगा।

(२) क्रमागत सीमान्त उत्पत्ति ह्रास का नियम (Law of
Diminishing Marginal Returns) : इस दृष्टि से सीमान्त उत्प
(marginal production) तीसरी इकाई तक बढती जाती है। उत्पत्ति म
इस वृद्धि का कारण यह था कि भूमि (land) की तुलना में उत्पादन
इकाई अर्थात् श्रम और पूँजी इत्यादि कम थीं, इस कारण भूमि को अच्छी त
से जोता नहीं जा सकता था। यह अवस्था उन देशों में होती है जहां भू
वहुत अधिक होती है और जनसख्या तथा पूँजी कम होती है। नये देशों
आरम्भ में यह अवस्था होती है क्योंकि आरम्भ मे भूमि वहुत अधिक होने
कारण प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि घेर लेता है, और जो भी
वहुत पूँजी उसके पास होती है उसको लगाकर वह विखरी खेती (extensive
cultivation) करता है। परन्तु जव कि सख्या तथा पूँजी की वृद्धि
जाती है, तो यह स्थिति नही रहती। पुराने तथा घने आवाद देशों में
मे यह स्थिति कभी भी नही रहती। खेती की यह स्थिति अस्थिर है और अ
समय नहीं रह सकती, क्योंकि जव किसान को यह ज्ञात होगा कि वह
श्रम (labour) तथा पूँजी (capital) लगाकर अनुपात से अधिक उ
प्राप्त कर सकता है तो वह अवश्य ही ऐसा करेगा। उसका परिणाम यह
कि तीसरी उत्पादन इकाई के उपरान्त सीमान्त उत्पादन कम होता
और ८ वीं इकाई पर सीमान्त उत्पादन शून्य हो जावेगा। नवीं और द
इकाई अन्य उत्पादक इकाइयों को उत्पादन कार्य करने मे वाधा पहुंचा
काम करेंगी और वे नकारात्मक उत्पादन (negative production
करेंगी। छोटे से खेत पर जव आवश्यकता से वहुत अधिक मजदूरों का
भाड़ होगी और आवश्यकता से अधिक जुताई-सिंचाई या खाद इत्यादि
दी जावेगी तो उत्पादन वढनेके स्थान पर उत्पादन कम होगा, यह स्वाभावि
है। यहां यह न भूल जाना चाहिए कि सीमान्त उत्पादन अन्तिम मजदूर
पूँजी की अन्तिम इकाई के उत्पादन को नहीं कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक
तथा पूँजी की प्रत्येक इकाई की उत्पादन क्षमता एक समान है। म

त्ति (marginal production) उत्पत्ति की उस वृद्धि को कहते हैं, जो क सीमान्त उत्पादन की इकाई द्वारा होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दि पहला मजदूर दसवें मजदूर की स्थिति में रख दिया जावे तो वह भी उतना ी उत्पादन करेगा जितना कि इस समय दसवा मजदूर कर रहा है।

(३) औसत उत्पत्ति का क्रमागत ह्रास-नियम : औसत उत्पादन सबसे धिक उस समय होता है कि जब चौथी उत्पादन इकाई लगाई जाती है। यह ान में रखने की बात है कि अधिकतम सीमान्त उत्पत्ति उस समय प्राप्त होती है ब कि तीन उत्पादन इकाइया भूमि पर लगाई जाती हैं। अर्थात् एक पग आगे ढकर अधिकतम औसत उत्पादन होता है। दोनों अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति और ौसत उत्पत्ति उस समय बराबर होगी जब कि सम्भवत. ४½ इकाई लगाई जावें; योंकि व्यवहार मे मजदूर को बाटा नहीं जा सकता अस्तु व्यवहार में सीमान्त त्पत्ति को तथा औसत उत्पत्ति को बराबर कर सकना कठिन है। इससे यह भी पष्ट है, कि यह सम्भव है, कि औसत उत्पत्ति बढ़ती रहे जब कि सीमान्त उत्पत्ति टट रही हो।

क्रमागत ह्रास-नियम की सीमायें (Limitations of Law of Diminishing Returns) जब हम क्रमागत ह्रास-नियम का अध्ययन करते हैं, तो में यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उसकी दो सीमायें हैं। (१) पहली मान्यता ो यह है कि खेती स्थैतिक (static) है, प्रवैगिक (dynamic) अर्थात् रिवर्तनशील नहीं है। वास्तविकता यह है कि खेती क्या सभी उत्पादन कार्य गतिशील हैं सदैव एक समान नहीं रहते। समय के अनुसार उनमे परिवर्तन होता रहता है। दूसरे शब्दों मे पहली मान्यता यह है कि खेती की क्रियाओं में ोई सुधार होने वाला नहीं है। यह मान्यता वास्तव में बिलकुल ठीक नही है। मनुष्य आदि काल से अपनी बुद्धि के द्वारा इस नियम को न लगने देने के लिए खेती में सुधार करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। उसने वैज्ञानिक ढग से खेती करने के लिए फसलों के हेर-फेर की विधि को निकाला, बीजों की उन्नति की, खाद देने की विधि को ढूँढ निकाला, तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध किये और उसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन बहुत अधिक बढ गया। परन्तु उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में नहीं होती, अतएव अन्ततः प्रकृति की इस कंजूसी के कारण क्रमागत ह्रास-नियम देर से या जल्दी पहले अवश्य लागू होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। अतएव क्रमागत ह्रास-नियम की पहली सीमा यह है कि मनुष्य के प्रयत्न से कुछ समय के लिए उसको लागू होने से रोका जा सकता है।

नई भूमि और मिट्टी क्रमागत ह्रास-नियम की दूसरी सीमा यह है, कि यदि किसी नई भूमि पर खेती करना आरम्भ किया जावे और लगातार उत्पादन की इकाइयां उस पर एक के बाद दूसरी लगाई जावें तो कुछ समय तक इकाइयों के अनुपात से अधिक उत्पत्ति होगी, और कुछ समय के उपरान्त क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति प्रकट होगी। इसका एक मात्र कारण यह है कि आरम्भ में जब कि नई भूमि पर उत्पादन आरम्भ होगा तो कुछ समय तक भूमि की तुलना में उत्पादन के अन्य साधन (उत्पादन की इकाइयां) कम होंगे, अतएव उनको बढाने से अनुपात में अधिक उत्पत्ति होगी। जब उत्पत्ति के साधनों का आदर्श सगठन हो जायगा तो उसके बाद क्रमागत ह्रास-नियम लागू होगा।

क्रमागत ह्रास-नियम उत्पादन के साधनों के सर्वोत्कृष्ट तथा क्षमतावान् संगठन का प्रतीक है: हम एक और भी उदाहरण लेकर क्रमागत ह्रास-नियम का उदाहरण देंगे। कल्पना कीजिए कि एक जगल में दस फल वाले वृक्ष हैं। उस वन में एक परिवार रहता है, जिसमें पाच सदस्य हैं, एक स्त्री, एक पुरुष तथा तीन बच्चे। पांचों लोग दिन में एक घन्टे फलों के वृक्षों के पास जाकर जमीन पर खड़े होकर फलों से लदी हुई पास की डालियों से पके फल तोड़ते हैं तथा टपके हुए फलों को जमीन पर से उठा लेते हैं। प्रतिदिन एक घंटे में वे ५०० फल इकट्ठा कर लेते हैं। कुछ समय के उपरान्त एक और परिवार—जिसमें उसी प्रकार पाच सदस्य हैं—उन फल के वृक्षों के बारे में जान जाता है, आकर फल इकट्ठा करने लगता है। अब एक घण्टे में वे दोनों परिवार पांच सौ पाच सौ फल इकट्ठा नहीं कर पाते क्योंकि अब नीचे की डालियों पर उतने फल नहीं हैं कि वे खड़े-खड़े इकट्ठे कर सकें। उन्हें ऊपर चढकर फल तोड़ने पड़ते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि भूमि (land) सीमित होगई अर्थात् फलों के केवल दस वृक्ष ही हैं परन्तु उत्पादन इकाई अर्थात् श्रम (labour) दुगुना होगया, अस्तु भूमि श्रम के साथ उतने वेग से उत्पादन में सहयोग नहीं करती और उत्पादन दुगुना न होकर दुगुने से कम होता है।

यदि हम ऊपर दी हुई तालिका का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि व्यवहार में पहली से तीसरी उत्पादन की इकाई की स्थिति दिखलाई नहीं देगी। जब कि भूमि अधिक है और उसको जोतने वाले मजदूर तथा बीज इत्यादि नितान्त अपर्याप्त है, उस दशा में यदि अधिक श्रम और पूँजी लगाई जावेगी तो क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होगा अर्थात् जिस अनुपात में श्रम तथा पूँजी बढ़ाई जावेगी उससे अधिक उत्पादन बढ़ेगा। व्यवहार में यह स्थिति

ो नहीं दिखलाई देगी जो कि ऊपर दी हुई तालिका में आठवीं नवीं तथा दसवीं काई के लगाने से लक्षित होती है, क्योंकि आठवाँ, नवां और दसवा मजदूर त्पादन में किंचित भी वृद्धि नहीं करेगा। ऐसी दशा मे किसान उन्हें क्यों रखेगा? यदि वह भूल से ऐसा करेगा तो श्रम (labour) का अपव्यय होगा। परन्तु, वास्तव में फार्म पर केवल ३ से ७ इकाई श्रम और पूँजी लगाई जावेगी। इस स्थिति में यह ध्यान देने योग्य है, कि यदि श्रम और पूँजी की इकाई मे वृद्धि की जाती है तो प्रति इकाई उत्पादन कम होता है। अर्थात् ६३ से ७२ मन रह जाता है। इसी प्रकार यदि भूमि को स्थिर रखकर मजदूर और पूँजी बढाई जावें, जैसा कि सातवीं इकाई लगाने पर होता है तो प्रति एकड़ उत्पत्ति अधिकतम हो जाती है (५०४ मन को १०० एकड़ से भाग दीजिए), और कुल उत्पत्ति भी अधिकतम हो जाती है। इस स्थिति में यदि ऊपर की ओर बढा जावे अर्थात् ७ से कम श्रम तथा पूँजी की इकाइया लगाई जावें तो कुल उत्पत्ति ही कम नहीं होगी वरन् प्रति एकड़ उत्पत्ति कम होती जावेगी। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार भूमि तथा उत्पादन की इकाइयों का ऐसा सुन्दर और आदर्श सम्मिलन हो जाता है कि यदि भूमि का अनुपात उत्पादन की इकाइयों की तुलना में बढ जाता है तो प्रति एकड़ भूमि की औसत उत्पत्ति कम हो जाती है और यदि आदर्श सम्मिलन से उत्पादन की इकाइयों का भूमि की अपेक्षा अनुपात बढ जाता है तो प्रति इकाई उत्पादन का औसत कम हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रमागत ह्रास-नियम उत्पादन के साधनों (factors of proudction) का सर्वोत्कृष्ट कुशल संगठन है। यदि प्रत्येक श्रमजीवी को बहुत अधिक भूमि दे दी जावे अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रति एकड़ बहुत कम श्रम और पूँजी लगाई जावे तो हमें प्रति व्यक्ति उत्पादन मे क्रमागत वृद्धि (increasing returns) प्राप्त हो सकती है। और भूमि पर बहुत अधिक व्यक्ति (श्रम और पूँजी) लगाकर प्रति एकड़ उत्पादन में क्रमागत वृद्धि प्राप्त हो सकता है। परन्तु ऐसा करने में किसान पहली अवस्था में एकड़ (भूमि) का तथा दूसरी अवस्था मे मजदूरों (श्रम तथा पूँजी) का घोर अपव्यय करेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) का तात्पर्य यह है कि या तो श्रम और पूँजी का अथवा भूमि का घोर अपव्यय होरहा है। इसके विपरीत क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) श्रम, पूँजी तथा भूमि का सर्वोत्कृष्ट तथा कुशल सम्मिलन का प्रतीक है।

किसान वास्तव में कितनी श्रम और पूँजी की इकाइयां लगावेगा। यह तो हम देख ही चुके हैं कि वह तीन इकाइयों से कम नहीं लगावेगा, क्योंकि तीन इकाइयों तक सीमान्त उत्पत्ति बढ़ती जाती है और वह आठवीं इकाई इसलिए नहीं लगावेगा क्योंकि वैसा करने से सीमान्त उत्पत्ति (marginal production) शून्य हो जाती है। नवीं तथा दसवी इकाई तो वह किसी भी प्रकार नहीं लगावेगा। अस्तु, वह तीन से सात इकाइयों के बीच में लगावेगा। परन्तु प्रश्न यह है कि वास्तव में कितनी इकाइयाँ लगावेगा। यदि श्रम और पूँजी मुफ्त में मिलती हो उसके लिए कुछ देना न पड़े तो किसान अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाता जावेगा जब तक कि सीमान्त उत्पत्ति शून्य न हो जावे। परन्तु श्रमजीवी अथवा पूँजी प्रकृतिदत्त मुक्त वस्तु (free goods) तो हैं नहीं उनके लिए मजदूरी और सूद देना पड़ता है, अस्तु, वह उतना श्रम और पूँजी लगावेगा जिनकी मजदूरी और सूद सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो। वह सीमान्त उत्पत्ति तथा मजदूरी और सूद की तुलना करेगा। और वही उत्पादन इकाई लगावेगा कि जिसका व्यय सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो। यह अन्तिम श्रमजीवी तथा पूँजी की इकाई सीमान्त श्रमजीवी (marginal worker) या पूँजी की सीमान्त इकाई (marginal unit of capital) कहलावेगी। यदि मजदूरी या सूद की दर कम हो जावे तो अधिक मजदूर और पूँजी लगाना लाभदायक हो सकता है और यदि मजदूरी अथवा सूद का भाव ऊँचा हो जावे तो कम मजदूर तथा पूँजी लगाना लाभदायक होगा।

गहरी (Intensive) तथा बिखरी खेती (Extensive cultivation) में नियम का लागू होना : ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम अकेले भूमि को बढ़ावें तथा उत्पत्ति के साधनों (factors of production) को न बढ़ावें, और अकेले उत्पत्ति के साधनों को बढ़ावें तथा भूमि को उसी अनुपात में न बढ़ावें तो उत्पत्ति के साधनों का औसत उत्पादन घट जावेगा; अर्थात् जिस अनुपात में उत्पत्ति के साधन बढ़ाए गए हैं, उस अनुपात में उत्पत्ति की वृद्धि नहीं होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि क्रमागत ह्रास-नियम दो प्रकार का हुआ— एक गहरी खेती में क्रमागत ह्रास-नियम तथा दूसरा बिखरी खेती में क्रमागत ह्रास-नियम।

यह तो मानी हुई बात है कि किसान पहले अपनी सर्वोत्तम भूमि (उर्वरा शक्ति तथा स्थिति को देखते हुए) को जोतेगा। जब तक कि उस भूमि से अतिरिक्त पैदावार उत्पन्न करने का व्यय अतिरिक्त पैदावार की आय अथवा प्राप्ति से कम होगा, तब तक वह लगातार घटिया भूमि पर खेती करता जावेगा।

वह घटिया भूमि को अपने खेतों में मिलाता जावेगा। वह उस स्थिति में खेती का विस्तार करना रोक देगा जब कि अतिरिक्त पैदावार की आय अथवा प्राप्ति इसको पैदा करने मे होने वाले व्यय के बराबर होगी। अर्थात् अतिरिक्त आय और अतिरिक्त व्यय बराबर होगा। यही भूमि सीमान्त भूमि (marginal land) कहलाती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि बाजार में प्रचलित मूल्य तथा खेती के व्यय को देखते हुए इस भूमि पर खेती करने से लागत व्यय मात्र निकलता है अधिक नहीं बचता। यही बिखरी खेती मे क्रमागत ह्रास-नियम का लागू होना है।

लेकिन जब किसान भूमि का विस्तार न करके एक निश्चित भूमि के टुकड़े पर लगातार अधिकाधिक श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ लगाता जाता है, तो प्रत्येक नई श्रम और पूँजी की इकाई अनुपात से कम उत्पादन में वृद्धि करेगी। किसान अतिरिक्त इकाइयों को उस स्थिति में लगाना रोक देगा, जब श्रम और पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों को लगाने का व्यय उससे उत्पन्न होने वाली पैदावार की आय के बराबर होगा। दूसरे शब्दों मे जब अतिरिक्त इकाइयों का लागत व्यय अतिरिक्त आय के बराबर होगा। इकाई के लागत व्यय तथा बाजार में पैदावार के प्रचलित मूल्य (value) को देखते हुए जो अन्तिम इकाई लगाई गई है, जिसका लागत व्यय तथा उससे उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त पैदावार की आय बराबर है, उसी को सीमान्त इकाई (marginal dose) कहते हैं। यही गहरी खेती में क्रमागत ह्रास-नियम का लागू होना है।

ऊपर हमने जो क्रमागत ह्रास-नियम का अध्ययन किया है, उसमें एक बात ध्यान में रखने की है। जब हम उत्पत्ति की वृद्धि की बात कहते हैं, तो उसको हम उसके मूल्य मे नहीं नापते, वरन उसकी राशि (quantity) में नापते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम यह कहें कि एक इकाई श्रम और पूँजी दस मन गेहूं उत्पन्न करती है और दूसरी इकाई लगाने में केवल आठ मन ही गेहूं की उत्पत्ति में वृद्धि होती है, तो हम उसे क्रमागत ह्रास-नियम कहेंगे। कल्पना कीजिए कि उत्पादन तो दस मन से घटकर आठ मन हो गया किन्तु बाजार में भाव ४ रुपये प्रतिमन से ६ रुपये प्रतिमन हो गया, और ४० रुपये के स्थान पर हमें ४८ रुपये मिलने लगे जब कि दस मन के केवल ४० रुपये ही मिलते थे, तो हम इसे क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing return) नहीं कहेंगे। यह क्रमागत ह्रास-नियम का ही उदाहरण। कहने का तात्पर्य यह कि जब क्रमागत ह्रास-नियम की बात कहते हैं तो हम अतिरिक्त पैदावार परिमाण में पूछ रहे हैं अथवा जहाँ हमने उसका निर्णय करते हैं, उसके मूल्य द्वारा उसका निर्णय नहीं करते।

क्या क्रमागत ह्रास-नियम को लागू होने से रोका जा सकता है। हाँ क्रमागत ह्रास नियम कुछ समय के लिए लागू होने से रोका जा सकता है और रोका गया है। यदि किसी प्रकार भूमि में सुधार किया जा सके जिससे कि वह पहले से अधिक उत्पत्ति करने लगे अथवा किसी कारणवश उत्पत्ति के मूल्य में वृद्धि हो सके तो क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने से रोका जा सकता है।

भूमि मे खाद डालकर उसकी उर्वरा शक्ति को बढाने, उत्तम बीज आधुनिक यन्त्र तथा खेती के औजारों, गहरी जुताई, यथेष्ट सिंचाई तथा वैज्ञानिक खेती की क्रियाओं के द्वारा हम इस नियम को लागू होने से रोक सकते हैं। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक खेती क्रमागत ह्रास नियम को लागू होने से रोक सकती है। सभी उन्नतिशील राष्ट्रों मे खेती विज्ञान की सहायता लेकर, यातायात के साधनों की उन्नति करके तथा बिक्री का उचित प्रबन्ध करके क्रमागत ह्रास-नियम को लागू होने से रोक दिया गया। पश्चिमी देशों मे खेती में सुधार करने से आश्चर्यचकित कर देने वाले परिणाम निकले हैं। सोवियत रूस, सयुक्तराज्य अमेरिका तथा कनाडा मे विज्ञान की सहायता से उत्पादन की आश्चर्यजनक गति से वृद्धि हुई है, और ऐसा प्रतीत होने लगा है कि क्रमागत ह्रास-नियम मानो लागू ही नहीं होता। भारत में भी इस प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता है, क्योंकि हमारे देश की अधिकाश जनसख्या खेती पर निर्वाह करती है और हमारे यहाँ भूमि की उत्पादन शक्ति ससार में सबसे कम है।

क्रमागत ह्रास-नियम सभी धंधों में लागू होता है अभी तक क्रमागत-ह्रास नियम का अध्ययन केवल खेती के सम्बन्ध मे किया है परन्तु यह नियम केवल खेती मे ही लागू नही होता वरन् अन्य धन्धों मे भी लागू होता है। और न यह नियम केवल भूमि के सम्बन्ध में ही लागू होता, वरन् किसी एक उत्पादन के साधन (factor of production) को स्थिर रखने पर अन्य साधनों को बढाने पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए, हमने देखा कि यदि हम श्रम और पूंजी को न बढावें तथा भूमि को बढाते जावें तो भी क्रमागत ह्रास नियम लागू हो जाता है। अस्तु, क्रमागत ह्रास-नियम खनिज धन्धे मछलियों के धन्धे तथा इमारतों के धन्धे मे तथा अन्य सभी धन्धो मे लागू होता है।

खानों मे - खानो के धन्धे मे आरम्भ मे उन्हीं खानों को खोदा जावेगा जिनकी स्थिति अच्छी है और जिन्हें आसानी से खोदा जा सकता है, अर्थात् जो पास के भीतर हैं। जब अधिक पूंजी और श्रम धन्धे मे लगाना होगा तो फिर क्रमश उन खानो को भी खोदा जावेगा जो दूरी पर स्थित हैं और जो

खोदने में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई है और जो उतनी अच्छी नहीं है। ऐसी दशा में जो श्रम और पूंजी (labour and capital) घटिया खानों पर लगाई जावेगी वह उतना उत्पादन नहीं करेगी, जितना कि बढिया खानों पर लगाई गई पूंजी और श्रम। इसी प्रकार यदि किसी खान को अधिकाधिक गहरा खोदा जावे तो जितनी अधिक पूंजी और श्रम की इकाइया खान को गहरा खोदने में लगाई जावेंगी अनुपात में उत्पादन कम होता जावेगा। कारण यह है कि जैसे-जैसे गहरी खुदाई होती जावेगी खनिज पदार्थ को निकालने का लागत व्यय अधिक बढता जावेगा। अन्दर रेलवे लाइन डालनी होगी, प्रकाश की व्यवस्था करनी होगी, जल को खींचकर ऊपर निकालना होगा, ऊपर की सतह को मजबूत खम्भों से रोकना होगा, तथा मजदूरों को खान के अन्दर पहुँचाने तथा निकालने की यान्त्रिक व्यवस्था करनी होगी और धातुओं को हजारों फीट की गहराई से ऊपर ढोना होगा। यही नहीं खान जितनी अधिक गहरी होती जाती है, धातु बहुधा कम होती जाती है। अस्तु यह स्पष्ट है कि खान जितनी ही गहरी होती जावेगी उतनी श्रम और पूँजी की इकाई के अनुपात में उत्पादन गिरता जावेगा। जब सतह पर ही खोदना हो तो यदि एक निश्चित श्रम और पूँजी की इकाई लगाने से एक लाख टन कोयला निकलता है, तो एक हजार फीट जाने पर खान में उतनी ही पूँजी और श्रम लगाने पर सम्भवतः पचास हजार टन ही निकलेगा। कहने का तात्पर्य यह कि खान जैसे-जैसे गहरी होती जावेगी, धातु निकालने का लागत व्यय उतना ही बढता जावेगा।

ऊपर हमने दो उदाहरण दिए एक तो बिखरे उत्पादन (extensive production) का, जब कि बढिया खानों के बाद श्रम और पूँजी घटिया खानों पर लगाई गई, और दूसरा गहरे उत्पादन (intensive production) का उदाहरण दिया, जब कि अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाकर खान को अधिक गहरा खोदा गया। हमने देखा कि दोनों दशाओं में क्रमागत ह्रास-नियम लागू होगया।

इमारतों में—इमारतों में भी क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता है। उदाहरण के लिए जो इमारतें व्यापारिक तथा रहने की दृष्टि से अत्यन्त [illegible] स्थान पर होती हैं, उनका किराया अधिक होता है और वैसी ही इमारत यदि [illegible] मौके पर नहीं होती तो उनका किराया बहुत कम होता है। यह [illegible] नगर में देखा जा सकता है। जो इमारतें कि नगर के हृदय में व्यापारिक केन्द्र, अदालत, तथा अन्य प्रमुख स्थानों पर होती हैं, उनका किराया बहुत

होता है, परन्तु वैसी ही इमारत शहर से दूरी पर स्थित होती है तो उसक किराया बहुत कम होता है।

आधुनिक काल में लोहे के मजबूत ढाचे खड़े करके कई मजिलों की इमारत बनाई जा सकती है, और बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में जहाँ इमारत के लिए भूमि की बहुत कमी है, कई मजिलों की इमारतें बहुधा बनाई जाती हैं परन्तु जैसे-जैसे अधिकाधिक मजिलें बनती जाती हैं वैसे ही वैसे रहने वालों की कठिनाइया बढ़ती जाती हैं तथा उन इमारतों की उपयोगिता व्यापार तथा रहने की दृष्टि से घटती जाती है। जब बहुत मजिलें बन जाती हैं तो नीचे की मजिलों में हवा और रोशनी का अभाव हो जाता है, ऊपर की मजिलों मे रहने वालों को उतरने चढने मे परिश्रम होगा तथा समय का नाश होगा। यदि लिफ्ट इत्यादि लगाये जावेंगे तो व्यय अधिक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इमारत में भी क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा।

मछलियों मे मछलियों में भी क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता है। यदि नदी में अथवा समुद्र तट पर एक केन्द्र पर मछली पकड़ने में सारे साधन और श्रम केन्द्रित कर दिये जावें, तो जितना अधिक श्रम और पूँजी मछली पकड़ने में लगाई जावेगी अनुपात मे मछली कम पकड़ी जावेंगी। जहा तक नदियों और समुद्र तट की मछलियों का प्रश्न है, अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाने से क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा। परन्तु गहरे समुद्र की मछलियों मे कुछ लोगों का विचार है कि क्रमागत ह्रास-नियम लागू नहीं हो सकता। गहरे समुद्र की मछलियों मे अधिक श्रम और पूँजी लगाने से क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता है। परन्तु गहरे समुद्र की मछलियों मे भी यह सम्भावना है कि यदि बहुत लम्बे समय तक बहुत बड़ी मात्रा और आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से मछलिया पकड़ने का कार्य किया जावे तो गहरे समुद्र की मछलियों मे भी क्रमागत ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगेंगे। उत्तरी समुद्र, तथा जापान द्वीपों के उत्तर में तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के उत्तर पश्चिमी समुद्र मे जो मछलियों की कमी हो गई यह इस बात का प्रमाण है। हा यदि उस समुद्र को कुछ समय के लिए अछूता छोड़ दिया जावे तो फिर मछलिया अधिक राशि मे उत्पन्न हो जावेंगी। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि मछलियों को पुन. अधिक राशि मे उत्पन्न होने देने के लिए मनुष्य को प्रकृति पर ही छोड़ना होगा वह उसमें अधिक कुछ नहीं कर सकता जैसा कि वह खेती में करता है।

क्रमागत ह्रास-नियम की सार्वभौमिकता : यह तो हम ऊपर बता चुके कि क्रमागत ह्रास-नियम खेती तथा उन मुख्य धंधों (primary industries) में अवश्य लागू होता है जिनमें प्रकृति का प्रमुख भाग होता है। मुख्य धन्धों में अर्थात् निस्सारक उद्योग (extractive industries) में भी प्रकृति अर्थात् भूमि का उत्पादन कार्य में प्रमुख भाग होता है, तथा श्रम और श्रम-जनित पूँजी का उतना महत्त्वपूर्ण भाग नहीं होता। खेती, खनिज, मछली, वनस्पति इत्यादि में प्रकृति ही उत्पादक कार्य में अधिकांश कार्य करती है। इस लिए अधिकतर अर्थशास्त्री कहते हैं "कि उत्पादन में प्रकृति जो कार्य करती है वह क्रमागत ह्रास का रूप है, और जो कार्य मनुष्य करता है वह क्रमागत वृद्धि का रूप है।" दूसरे शब्दों में इस कथन का तात्पर्य यह है कि खेती तथा खनिज इत्यादि धन्धों में जिनमें प्रकृति प्रमुख है, क्रमागत ह्रास-नियम प्रकट होता है, और गौण धन्धों में (secondary industries) जिनमें मनुष्य प्रमुख है, क्रमागत वृद्धि नियम प्रकट होता है।

इसमें तनक भी सन्देह नहीं कि खेती में क्रमागत ह्रास नियम लागू होने के बहुत से प्रबल कारण हैं। खेती की क्रिया बहुत बड़े क्षेत्र में फैली होती है, अतएव काम करने वाले मजदूरों के कार्य की देख-भाल अच्छी तरह से नहीं हो सकती। खेती की जो भी क्रियायें होती हैं उनमें कोई विशेषीकरण (specialisation) नहीं होता और प्रत्येक मजदूर को एक साथ ही बहुत सी क्रियायें करनी पड़ती हैं। उद्योग धन्धों में जिस प्रकार श्रम विभाजन (division of labour) होता है, वह खेती में सम्भव नहीं है। यही नहीं खेती में यन्त्रों का उपयोग बहुत सीमित ही हो सकता है। अस्तु, बड़ी मात्रा के उत्पादन की बचत (economy of large scale production) खेती में किसान को प्राप्त नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त खेती का धन्धा मौसमी धन्धा है, इस कारण भी इस धन्धे की विशेष सीमायें हैं। इस धन्धे में जुताई, बुवाई, सिंचाई और फसल की कटाई इत्यादि नियत समय पर ही हो सकती हैं, आगे पीछे नहीं हो सकती हैं। अतएव किसान को बहुत-सी अड़चनों का सामना करना पड़ता है। यही नहीं खेती में वर्षा तथा अन्य जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन समय-समय पर विघ्न डालदेते हैं। कभी-कभी ओले, कोहरा, शीत, टिड्डी, असमय की वर्षा, फसलों के रोग या कीड़े आदि किसान के सारे परिश्रम को व्यर्थ कर देते हैं। मनुष्य प्रकृति को पूरी तरह अपने वश में नहीं कर पाया है, अस्तु कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कृषि में क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता है।

इसी प्रकार यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि निर्माणकारी धन्धों (manufacturing industries) में क्रमागत वृद्धि प्रकट होती है। मनुष्य की सृजन शक्ति तथा बुद्धि को कार्य करने का अपरिमित क्षेत्र है। व्यवसायी धन्धे में सूक्ष्म श्रम विभाजन (minute division of labour) का उपयोग करके सस्ती यांत्रिक शक्ति का उपयोग करके, आधुनिक ढग की उत्पादन क्रियाओं को अपनाकर उत्पादन को कल्पनातीत बढा सकता है। एक ही स्थान पर हजारों की संख्या में मजदूरों के काम करने के कारण उनकी देखभाल करने में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रकृति के कुप्रभावों का उसके उत्पादन कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह आन्तरिक (internal) तथा बाह्य बचतों (external economies) का पूरा लाभ उठा सकता है। अतएव निर्माणकारी उद्योगों में क्रमागत वृद्धि नियम लागू होता है।

फिर भी निर्माणकारी उद्योग धन्धों में कच्चा माल आवश्यक होता है। कच्चा माल अधिकतर प्रकृति पर निर्भर है। अतएव शक्कर, कागज तथा लोहे के धन्धे में क्रमागत वृद्धि-नियम की सम्भावनायें कुछ सीमित होंगी। इसके विपरीत यदि कच्चे माल की लागत उस वस्तु के निर्माण मे अपेक्षाकृत नहीं के बराबर हो अथवा बहुत कम हो। उदाहरण के लिए पिन अथवा सेफ्टी उस्तरे के ब्लेड बनाने का धन्धा। इसमें मनुष्य की सृजन शक्ति तथा कार्यक्षमता को पूर्ण खुला क्षेत्र मिलता है और इसी कारण क्रमागत वृद्धि-नियम के लिए बहुत अधिक सम्भावनायें होती हैं।

लेकिन यह कहना कि खेती के धन्धे में क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता है और क्रमागत वृद्धि-नियम निर्माणकारी उद्योगों में लागू होता है बहुत ठीक नहीं होगा। क्योंकि वस्तुत क्रमागत ह्रास-नियम सार्वभौमिक सिद्धान्त है। जिस प्रकार कि जीवन का नियम सार्वभौमिक है, उसी प्रकार क्रमागत ह्रास नियम भी सार्वभौमिक है। वह केवल खेती के धन्धे में ही लागू नहीं होता, वरन निर्माणकारी धन्धों में भी लागू होता है। यदि उद्योग को लगातार बढाया जावे और इतना विशाल कारखाना हो जावे कि उसकी व्यवस्था अथवा प्रवन्ध करना ही कठिन हो जावे तो देखभाल कठिन हो जावेगी और प्रवन्ध और व्यवस्था शिथिल हो जाने के कारण क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा। खेती तथा उद्योग में केवल अन्तर यही है कि जहा खेती में क्रमागत ह्रास-नियम शीघ्र ही प्रकट हो जाता है, वहा उद्योग मे वह बहुत बाद की स्थिति में प्रकट होता है। एक निपुण तथा चतुर व्यवस्थापक उस स्थिति को जब कि क्रमागत ह्रास नियम लागू

को बहुत समय तक आने न दे। खेती में भी आरम्भ की अवस्था में क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होता है। सच तो यह है कि जैसा हम आगे देखेंगे क्रमागत वृद्धि-नियम और क्रमागत ह्रास-नियम एक ही नियम के दो रूप मात्र हैं। उसे उत्पादन का आनुपातिक नियम (law of proportionality) भी कहते हैं।

क्रमागत ह्रास-नियम का चित्र द्वारा प्रदर्शन

अब हम एक चित्र द्वारा क्रमागत ह्रास-नियम का प्रदर्शन करेंगे। कल्पना कीजिए कि एक १० बीघा खेत है, उसमें पहले एक मजदूर से खेती की जाती है, फिर दो मजदूरों से फिर तीन, चार और पॉच मजदूरों से खेती की जाती है। प्रत्येक मजदूर को एक हल तथा अन्य आवश्यक खेती के औजार दिए जाते हैं, भूमि को यथेष्ट खाद दी जाती है, और सिंचाई भी की जाती है। प्रत्येक दशा में जो उत्पादन होता है वह नीचे लिखे अनुसार है।

भूमि	मजदूर	कुल उत्पादन	अतिरिक्त उत्पादन
१० बीघा	१ मजदूर	३० मन	
१० बीघा	२ मजदूर	७० मन	४० मन
१० बीघा	३ मजदूर	११० मन	४० मन
१० बीघा	४ मजदूर	१४० मन	३० मन
१० बीघा	५ मजदूर	१६५ मन	२५ मन
१० बीघा	६ मजदूर	१८० मन	१५ मन

ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट है कि जब हम दूसरे मजदूर को खेत पर लगाते हैं, तो पहले मजदूर से मिलने वाली उत्पत्ति (३० मन) से अधिक उत्पत्ति (४० मन) होती है। इसका कारण यह है कि एक मजदूर तथा उसके पास जो कुछ पूँजी (हल इत्यादि) है वह दस बीघा के लिए यथेष्ट नहीं है, अतएव दूसरा मजदूर रखने पर क्रमागत वृद्धि होती है। किसान अब तीसरा मजदूर रखता है। उसका परिणाम यह होता है कि उत्पत्ति में उसी अनुपात में वृद्धि (४० मन) होती है, अर्थात् सम उत्पादन (constant return) होता है। जब खेत पर चौथा मजदूर रक्खा जाता है, तो उत्पत्ति [illegible] न होकर उससे कम अनुपात में (३० मन) होती है। अर्थात् क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जाता है। पाचवाँ मजदूर रखने पर उत्पत्ति का अनुपात और अधिक गिरता है, अर्थात (२५ मन) क्रमागत ह्रास-नियम प्रकट होता है। छठा मजदूर और भी कम उत्पत्ति करता है। इस स्थिति को हम एक रेखा चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।
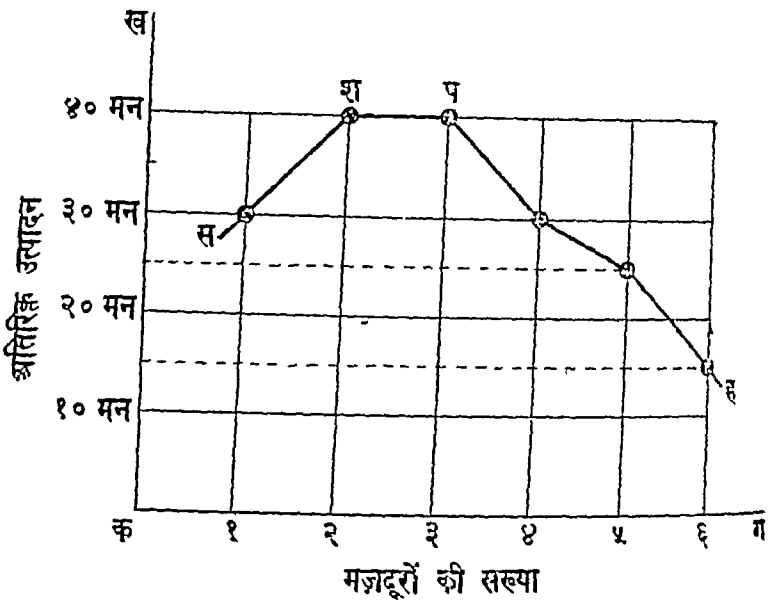
ऊपर दिए रेखा चित्र में स, श, ष, ह रेखा क्रमागत ह्रास-नियम को प्रकट करती है। स श तक क्रमागत वृद्धि (increasing returns) का द्योतक है, श प सम उत्पत्ति (constant returns) का द्योतक है, और प ह क्रमागत ह्रास-नियम (diminishing returns) का द्योतक है। सच तो यह है, कि उत्पत्ति का नियम एक ही है, क्रमागत वृद्धि-नियम और सम उत्पत्ति-नियम तो उसकी विशेष स्थितियाँ मात्र हैं।

क्रमागत ह्रास-नियम के सम्बन्ध मे आधुनिक विचार ब्रिटेन के प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने क्रमागत ह्रास-नियम का सम्बन्ध भूमि के साथ जोड़कर उसके वास्तविक महत्त्व को कम कर दिया। खेती में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिससे कि इस नियम का सम्बन्ध केवल उसी से जोड़ा जावे। सच तो यह है कि वैज्ञानिकों ने नवीन अनुसधान करके, खेती के धन्धे मे विज्ञान का उपयोग करके उन्नतिशील देशों मे क्रमागत ह्रास-नियम लागू होने से रोक दिया। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि यद्यपि आज उन देशों में जनसख्या के बढ़ जाने तथा रहन-सहन के दर्जे में बहुत अधिक सुधार हो जाने के कारण पहले से बहुत अधिक भोजन पदार्थ तथा कच्चे माल की खपत होती है, परन्तु खेती में लगे हुए श्रमजीवियों की पहले से सख्या घट गई है। पहले की अपेक्षा अन्य देशों में खेतों पर निर्भर रहने वाली जनसख्या का प्रतिशत घट गया है। हाँ, भारत में अवश्य खेती पर निर्भर रहने वाली जनसख्या का प्रतिशत बढ गया है। एक समय था जब ब्रिटेन मे यह नियम लागू था, और तत्कालीन परिस्थिति में [illegible]

लिए वह सत्य था। परन्तु 'मालथस' तथा उसके उत्तराधिकारियों ने स अस्थायी और स्थानीय परिस्थिति को ऐसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य के प मे उपस्थित किया जो मानो सब काल और देशों में लागू होने वाला है।

सच तो यह है कि यह नियम केवल खेती में ही लागू नहीं होता वरन् भी धन्धों में लागू होता है। मूल में क्रमागत ह्रास-नियम उत्पत्ति के साधनों factors of production) के आदर्श सगठन के सिद्धान्त को लक्षित रता है। साधारण तौर पर हम इस नियम की इस प्रकार व्याख्या कर कते हैं, कि यदि एक परिवर्तनशील उत्पत्ति के साधन को एक स्थिर उत्पत्ति के धन के साथ मिलाया जावे तो परिवर्तनशील साधन की औसत तथा सीमान्त त्पत्ति कम हो जावेगी। कहने का तात्पर्य यह, कि यदि किसी उत्पत्ति के साधन को स्थिर रक्खा जावे तथा अन्य साधनों को बढाया जावे तो क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा, अर्थात् उत्पत्ति अनुपात में कम होगी। इसका एक मात्र कारण यह है कि उत्पादन के साधनों का यह सम्मिलन ठीक और आदर्श अनुपातिक सम्मिलन नहीं है। इसमें कुछ साधनों की अन्य साधनों की अपेक्षा अनावश्यक बहुतायत है, अर्थात् कुछ साधन तो कम हैं तथा अन्य साधन अधिक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उत्पत्ति के साधनों का सतुलन बिगड़ जावेगा। यदि वह सतुलन ठीक कर दिया जाये, अर्थात् जो साधन कम हैं उनको बढा दिया जावे तो क्रमागत ह्रास-नियम फिर लागू नहीं होगा। अतएव क्रमागत ह्रास-नियम कोई स्थायी रूप से लागू हो जावे ऐसा बात नहीं है। वह अस्थायी रूप से लागू होता है। व्यवहार मे तो यह तभी लागू होता है जब कि उत्पत्ति के साधनों की कमी या अभाव हो। यदि उत्पत्ति के साधनों के सम्मिलन में कोई एक उत्पत्ति का साधन कम है अथवा घटिया है तो क्रमागत ह्रास-नियम अवश्य ही लागू हो जावेगा। यदि हम किसी धंधे का विस्तार करना चाहें और यदि किसी उत्पत्ति के साधन को हम उचित मात्रा मे प्राप्त न कर सकें तो क्रमागत ह्रास-नियम का लागू होना अवश्यम्भावी है। बेनहम ने इसी नियम को इस प्रकार व्यक्त किया है, "यदि उत्पत्ति के साधनों के सम्मिलन में एक सीमा के बाद किसी साधन के अनुपात से बढाया जावेगा तो उस उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पत्ति (marginal production) तथा औसत उत्पत्ति कम हो जावेगी"। यह [illegible] मान्यता स्वीकार करली गई है कि उत्पादन के तरीके में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने जो भूमि में क्रमागत ह्रास-नियम का सबन्ध जोड़ा [illegible] कारण यही था कि उत्पत्ति के अन्य साधन को बढाने का

सकते हैं, परन्तु किसी देश में प्राकृतिक देन सीमित है। कल्पना कीजिए कि एक नवीन देश है। जनसख्या उस देश की बढ ही रही है, अतएव श्रम बढ़ जावेगा पूँजी भी प्रयत्न करने पर अथवा धनी देशों से ऋण स्वरूप लेकर बढ़ायी, जावेगी। यदि जनसंख्या बढती है, तो व्यावसायिक निपुणता और कुशल तथा योग्य व्यवस्थापकों की सख्या भी बढ़ेगी, परन्तु प्रकृति की देन अर्थात् भूमि एक ऐसा साधन है जो सीमित है, अतः पुराने लेखकों ने क्रमागत ह्रास नियम का सम्बन्ध भूमि से जोड़ दिया है।

क्रमागत ह्रास-नियम का अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के लिए महत्त्व

क्रमागत ह्रास-नियम अर्थशास्त्र के बहुत से अन्य सिद्धान्तों का आधार है। उदाहरण के लिए मालथस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त और रिकार्डो का सिद्धान्त क्रमागत ह्रास-नियम पर ही आधारित हैं। मालथस का सिद्धान्त इसी बात पर आधारित है कि जनसख्या भोज्य पदार्थों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ती है। यह केवल क्रमागत ह्रास-नियम पर ही आधारित होती है।

इसी प्रकार रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त भी इसी बात पर आधारित है कि क्रमागत ह्रास-नियम के लागू होने के करण कम उपजाऊ भूमि को जोतना होगा, इसका परिणाम यह होगा कि घटिया भूमि सीमान्त भूमि (marginal) बन जावेगी और लगान (rent) ऊँचा हो जावेगा।

किसी कारवार का अनुकूलतम (optimum size) की व्याख्या भी इसी नियम के आधार पर की जाती है। सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (marginal utility theory) तथा सीमान्त उत्पत्ति के सिद्धान्त (marginal productivity theory) जिससे कि उत्पत्ति के साधनों का धनोत्पत्ति में हिस्सा निर्धारित होता है, अर्थात् धन का वितरण (distribution of wealth) भी इसी महत्त्वपूर्ण नियम पर आधारित है। अतएव क्रमागत ह्रास-नियम का अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चौथा भाग

विनिमय (Exchange)

परिच्छेद २०

विनिमय (Exchange)

यह तो हम पहले ही बतला चुके हैं कि श्रम-विभाजन (division of labour) का उत्पादन में प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ विनिमय का प्रश्न समाज के सामने प्रमुख रूप में उपस्थित होगया। श्रम-विभाजन के फलस्वरूप मनुष्य आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं रहा। अस्तु; अपनी आवश्यकताओं को वह तभी पूरा कर सकता था जबकि अपनी उत्पन्न की हुई वस्तु को दूसरों की उत्पन्न की हुई वस्तुओं से बदल सकता। अत. विनिमय (exchange) की समस्या उठ खड़ी हुई।

यों यदि देखा जावे, तो जब मनुष्य आर्थिक स्वावलम्बन की अवस्था में था, तब भी विनिमय का प्रश्न उसके सामने उपस्थित होता रहता था। विनिमय का अर्थ तो यही है कि एक वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु ली जावे। अर्थात् मूलत: वह प्रतिस्थापन (substitution) की क्रिया मात्र है। अस्तु, आर्थिक स्वावलम्बन की स्थिति में रहने वाला जंगली मनुष्य जब एक घंटा काम करने के बजाय वह समय आराम करने में व्यतीत करता है, अथवा वह एक दिन अपनी कुटिया को ठीक करने में लगाता है और उस दिन जंगल में शिकार करने नहीं जाता, तो वह वास्तव में विनिमय करता है। परन्तु व्यवहार में इसके द्वारा कोई महत्त्वपूर्ण आर्थिक समस्या नहीं उठती। साधारणतया विनिमय की समस्या तभी उपस्थित होती है, जबकि दो व्यक्ति एक दूसरे की चीज लेते-देते हैं।

यदि हम ध्यान से अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि विनिमय दो प्रकार से होता है। जो जातियाँ आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं, उनमें विनिमय अदल-बदल (barter) के द्वारा होता है। इस प्रणाली में एक वस्तु को दूसरी वस्तु से बदला जाता है। उदाहरण के लिए, प्राचीन काल में समाज में जानवरों को बदला जाता था, जानवर या खाल से कपड़ा अथवा अन्य बहुमूल्य पदार्थ बदले जाते थे इत्यादि। आज भी अदल बदल (barter) की प्रथा बिलकुल समाप्त होगई हो ऐसा न[illegible] गाँवों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, चमार, धोबी इत्यादि अपनी प

को अथवा सेवाओं को वर्ष में निश्चित मात्रा में अनाज लेकर किन्हें को देते हैं। स्त्रियाँ अनाज देकर फल या सब्जी मोल लेती हैं। शहरों में पुराने कपड़े देकर बर्तन खरीद लेती हैं।

यद्यपि कहीं-कहीं अदल बदल के द्वारा विनिमय होता दिखलाई पड़ता है, परन्तु आज उन्नतिशील समाज में अधिकतर मुद्रा या द्रव्य (money) के द्वारा ही विनिमय होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी उत्पन्न की हुई वस्तु को अथवा अपनी सेवा को मुद्रा में बेच देता है और उस मुद्रा या द्रव्य (रुपए) से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद लेता है। अस्तु, आधुनिक समाज में बाजार (market) में खरीदार और विक्रेता के बीच में विनिमय होता है।

आधुनिक समाज में उत्पादन श्रम-विभाजन (division of labour) के द्वारा होता है। श्रम-विभाजन इतना जटिल होगया है कि बहुधा मनुष्य वस्तु को बाजार में बेचने के लिए ही उत्पन्न करता है, स्वयं उपभोग करने के लिए उसको उत्पन्न नहीं करता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति आज धन का उत्पादन (production) अथवा सेवा इस कारण करता है, क्योंकि वह आय (income) प्राप्त करना चाहता है। इस आय को वह बाज़ार से अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को खरीदने में व्यय करता है।

इस सम्बन्ध में हमे एक बात न भूल जानी चाहिए, कि यद्यपि मुद्रा (money) के द्वारा विनिमय करने में बहुत सरलता हो जाती है, किन्तु उससे विनिमय के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्ततः मनुष्य एक दूसरे की वस्तुओं या सेवाओं को अदल-बदल करके ही जीवित रहते हैं। अतएव विनिमय वस्तुतः अदल बदल ही है।

अदल-बदल (Barter) किस दशा में सम्भव है. अब हम देखेंगे कि अदल-बदल किस स्थिति में सम्भव होता है। सरलता के लिए हम दो व्यक्तियों को लेते हैं। कल्पना कीजिए, कि रामू के पास गेहूँ है और श्यामू के पास गाढ़ा है। रामू को गाढ़े की आवश्यकता है और श्यामू को गेहूँ की आवश्यकता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि रामू तथा श्यामू किस स्थिति में विनिमय करने पर तैयार होंगे।

हम सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम (law of diminishing utility) का अध्ययन पहले ही कर चुके हैं। उस नियम के अनुसार किसी व्यक्ति के पास जितनी ही अधिक किसी वस्तु की मात्रा होगी, उस वस्तु की उस व्यक्ति के लिए उतनी ही कम सीमान्त उपयोगिता होगी। अब ऊपर के उदाहरण

तो रामू गेहूं देकर श्यामू का गाढा तभी लेगा जबकि उसके पास गेहूं इतनी अधिक मात्रा में हो, कि उसकी गेहूं की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) गाढे की सीमान्त उपयोगिता से कम हो। उसी दशा में उसको गेहूं देकर गाढ़ा लेने मे उपयोगिता-लाभ होगा। इसी प्रकार श्यामू के लिए गेहूं की सीमान्त उपयोगिता गाढे की सीमान्त उपयोगिता से अधिक होनी चाहिए। उसी दशा में उसको उपयोगिता-लाभ होगा।

विनिमय की यह पहली शर्त है कि दो व्यक्ति तभी अपनी वस्तुओं का विनिमय करेंगे, जबकि उसके द्वारा उन दोनों व्यक्तियों को उपयोगिता-लाभ प्राप्त होगा।

अब हम कल्पना करें कि रामू के लिए गाढे की सीमान्त उपयोगिता गेहूं से अधिक है, और श्यामू के लिए गेहूं की सीमान्त उपयोगिता गाढे से अधिक है, अर्थात् विनिमय के लिए आवश्यक शर्त पूरी हो जाती है और विनिमय होता है। थोड़ी देर के लिए हम इस प्रश्न को छोड़ देते हैं कि कितना गेहूं एक गज गाढे के लिए दिया जाता है। जैसे-जैसे रामू गेहूं देकर गाढा लेता जाता है और श्यामू गाढा देकर गेहूं लेता जाता है, रामू के लिए गेहूं की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है, और श्यामू के लिए गाढे की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। साथ ही रामू के लिए गाढे की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है, और श्यामू के लिए गेहूं की उपयोगिता घटती जाती है। इसका कारण यह है, कि जब रामू गेहूं देकर गाढा लेता जाता है, तो उसके पास गेहूं की मात्रा कम होती जाती है और गाढे की मात्रा बढ़ती जाती है। अस्तु; सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार गेहूं की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है और गाढे की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों विनिमय होता जाता है, श्यामू के पास गाढा कम होता जाता है, अतः उसके लिए गाढे की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है और गेहूं की वृद्धि होने के कारण गेहूं की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घटती जाती है। यदि इसी प्रकार देर तक विनिमय होता रहे, तो इसका परिणाम यह होगा कि एक स्थिति ऐसी आ जायेगी—फिर चाहे वह अकेले रामू के लिए आवे, अथवा दोनों के लिए एक साथ आवे जब कि गाढे और गेहूं की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जायेगी। उदाहरण के लिए, हम कल्पना कर लेते हैं कि श्यामू के लिए यह स्थिति पहले उपस्थित हो जाती है, अर्थात् उसके गाढे की एक इकाई (एक गज) गेहूं की एक इकाई (कुछ वजन) के बराबर है। अब यदि श्यामू इसके बाद विनिमय करेगा तो एक इकाई गाढा देकर वह जितना गेहूं पायेगा, उस

गेहूँ की उपयोगिता गाढ़े से कम होगी, और श्यामू को मिलने वाली कुल उपयोगिता कम होने लगेगी। अस्तु, वह उस स्थिति पर पहुचकर विनिमय करना बन्द कर देगा, जहाँ कि गेहू और गाढ़े की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए एक समान होगी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, कि जब श्यामू के लिए दोनों वस्तुएँ एक समान महत्त्वपूर्ण या उपयोगी हो जावें तभी वह आगे विनिमय करना रोक देगा। जब तक किसी व्यक्ति के लिए दो वस्तुओं का महत्त्व भिन्न भिन्न है तब तक उसको प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता (total utility) उस वस्तु को देकर जो कम महत्त्वपूर्ण है और उसके बदले में वह वस्तु लेकर जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा उपयोगी है बढाई जासकती है। दो व्यक्तियों के बीच विनिमय तभी सम्भव है, जब कि दो वस्तुओं का महत्त्व और उपयोगिता उनकी दृष्टि में एक दूसरे के विपरीत है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि विनिमय तभी सम्भव है, जब कि एक व्यक्ति एक वस्तु को अधिक महत्त्वपूर्ण या उपयोगी मानता हो और दूसरा व्यक्ति दूसरी वस्तु को अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा उपयोगी मानता हो। अर्थशास्त्र की भाषा में हम यह कह सकते हैं कि विनिमय (exchange) तभी सम्भव है जब कि दो व्यक्तियों के लिए दो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) की दरें भिन्न भिन्न हों।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution)· ऊपर हमने जिसे सीमान्त उपयोगिता दर (ratio of marginal utilities) कहा है उसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों–'हिक्स' तथा 'एलेन' ने प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का नाम दिया है। उनका मत है कि इसको स्वीकार करने से हम विनिमय की व्याख्या करने में उपयोगिता के प्रश्न को छोड़ सकते है। क्योंकि उपयोगिता की मात्रा को नाप सकना सम्भव नहीं है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न उपयोगिता केवल अनुभव की जा सकती है। अस्तु यह नया शब्द (प्रतिस्थापन की सीमान्त दर) अधिक श्रेष्ठ है। इस नवीन शब्दावली से, जिसे हम पहले सीमान्त उपयोगिता-ह्रास (diminishing marginal utility) कहते थे, वह बढती हुई प्रतिस्थापन सीमान्त दर (increasing marginal rate of substitution) कहलाती है। हम यह पहले ही अध्ययन कर चुके हैं, कि विनिमय (प्रतिस्थापन) तभी तक सम्भव है जब तक किसी व्यक्ति के लिए एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता दूसरी की सीमान्त उपयोगिता से भिन्न है। वह उस वस्तु को जिसकी सीमान्त उपयोगिता उसके लिए ऊँची है, लेकर बदले में उस वस्तु को देता है जिसकी सीमान्त

उपयोगिता उसके लिए कम है। दूसरे शब्दों में जैसे-जैसे विनिमय अथवा प्रतिस्थापन (substitution) होता चलता है, वैसे ही वैसे मनुष्य उस वस्तु की अधिकाधिक मात्रा लेना चाहता है जिसको लेकर वह अपनी उस वस्तु को देता है जो कि उसके पास है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति कुर्सियाँ देकर मेज का विनिमय कर रहा है, तो जैसे-जैसे विनिमय होता चलेगा वैसे-वैसे वह एक दर्जन कुर्सियों के लिए पहले की अपेक्षा अधिक मेज चाहेगा। अथवा हम कल्पना करें कि आरम्भ में एक व्यक्ति है जिसके पास अनार हैं। वह एक दूसरे व्यक्ति को एक दर्जन अनार देकर आधे दर्जन संतरे लेता है। किन्तु जैसे विनिमय होता चलेगा और पहले व्यक्ति के पास कुछ संतरे हो जायेंगे, तब वह एक दर्जन अनार के बदले में आधे दर्जन संतरे से अधिक चाहेगा। अस्तु, जैसे ही उसके लिए संतरे की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) गिरने लगती है, वैसे ही उसके लिए संतरे की प्रतिस्थापन सीमान्त दर (marginal rate of substitution) बढ़ने लगती है। ऊपर हमने प्रतिस्थापन सीमान्त दर के सम्बन्ध में विवेचन किया है। किन्तु अब हम आगे विनिमय का अध्ययन करने में पूर्ववत सीमान्त उपयोगिता का आधार ही लेंगे।

अदल-बदल (Barter) में विनिमय अनुपात (Exchange ratio) कैसे निश्चित होता है : अब हम यह अध्ययन करेंगे कि अदल-बदल में विनिमय का अनुपात या दर किस प्रकार निर्धारित होते हैं। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि विनिमय तभी सम्भव होता है जब कि दो व्यक्तियों के पास दो वस्तुएँ हैं, उनको एक दूसरा चाहता है, और उन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उनके लिए भिन्न-भिन्न होती है। हम यह भी जानते हैं कि विनिमय तब तक होता रहेगा जब तक कि दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता एक बराबर नहीं हो जाती। अब हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि उन वस्तुओं का किस अनुपात में विनिमय होता है, अर्थात् एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु कितनी मात्रा में दी जाती है।

यह तो स्पष्ट ही है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की वस्तु को प्राप्त करने की चाहे कितनी ही इच्छा रखता हो, परन्तु विनिमय तब तक नहीं होगा जब तक कि विनिमय की शर्त अर्थात एक वस्तु के लिए दूसरी वस्तु कितनी दी या ली जायेगी, दोनों व्यक्तियों के लिए आकर्षक न हो। उदाहरण के लिए हम दो व्यक्तियों को लेते हैं। एक के पास अनार हैं और दूसरे के पास सन्तरे हैं। पहला व्यक्ति संतरे चाहता है और दूसरा व्यक्ति अनार चाहता है। किन्तु पहला व्यक्ति तब तक अपने अनार देकर संतरे नहीं लेना चाहता, जब तक कि

उसे एक दर्जन अनार के लिए तीन दर्जन सतरे न मिलें। और दूसरा व्यक्ति एक दर्जन अनार के लिए दो दर्जन सतरे से अधिक नहीं देना चाहता है। ऐसी दशा मे विनिमय सम्भव नहीं होगा। कारण यह है कि पहले व्यक्ति के लिए एक दर्जन अनार की उपयोगिता तीन दर्जन सतरे के बराबर है। ऐसी दशा मे यदि वह एक दर्जन अनार के लिए दो दर्जन सतरे स्वीकार कर लेता है, तो वह अधिक उपयोगिता की वस्तु (एक दर्जन अनार) को कम उपयोगिता की वस्तु (२ दर्जन सतरे) से बदलेगा। अर्थात् उसको उपयोगिता की हानि होगी जो कि वह कभी नहीं करेगा।

अब हम कल्पना करते हैं, कि पहला व्यक्ति एक दर्जन अनार देकर एक दर्जन सतरा लेने को तैयार है, और दूसरा व्यक्ति एक दर्जन सतरे देकर चार अनार लेने को तैयार है। ऐसी दशा में विनिमय सम्भव होगा। अब प्रश्न यह है, कि वास्तव मे कितने अनार के लिए कितने सतरे लिए और दिए जावेंगे। विनिमय का अनुपात (rate of exchange) अनिश्चित होगा। हम यह नहीं कह सकते हैं कि वास्तव में कितने अनार के लिए कितने सतरे लिए या दिए जावेंगे। परन्तु हम केवल उन सीमाओं को बतला सकते हैं, जिनके बीच में वास्तविक अनुपात निश्चित होगा। वह सीमायें नीचे लिखी होंगी—

एक दर्जन अनार = १ दर्जन सतरे के
एक दर्जन अनार = ३ दर्जन सतरे के

पहला व्यक्ति एक दर्जन सतरे के लिए एक दर्जन अनार से अधिक नहीं देगा और दूसरा व्यक्ति एक दर्जन अनार के लिए ३ दर्जन सतरे से अधिक नहीं देगा। इन दो सीमाओं के बीच मे वास्तविक अनुपात उन दोनों व्यक्तियों के सौदा पटाने की चतुराई अथवा उन दोनों व्यक्तियों की मांग (demand) की सापेक्षिक तीव्रता पर निर्भर रहेगा। यदि पहला व्यक्ति सौदा पटाने में अधिक चतुर है तो वास्तविक भाव एक दर्जन अनार प्रति ३ दर्जन सतरे के अधिक निकट होगा, और यदि दूसरा अधिक चतुर है, तो भाव एक दर्जन अनार प्रति एक दर्जन सतरे के अधिक निकट रहेगा। इसी प्रकार यदि पहले व्यक्ति की माँग अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है, तो भाव एक दर्जन अनार प्रति एक दर्जन सतरे के अधिक निकट रहेगा, और यदि दूसरे व्यक्ति की अनार की माग अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है, तो भाव एक दर्जन अनार प्रति ३ दर्जन सतरे के अधिक समीप रहेगा।

ऊपर हमने जो उदाहरण लिया वह एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति

विनिमय करने का उदाहरण है। व्यावहारिक जगत् मे तो यह स्थिति बाजार मे तभी सम्भव है जब कि दो व्यक्तियों का अपनी-अपनी वस्तुओं पर एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित हो गया हो। उदाहरण के लिए, यदि लोहे का एक ट्रस्ट अथवा एकाधिपत्य स्थापित हो गया हो और सूती वस्त्र के कारखानो का एक ट्रस्ट या एकाधिपत्य स्थापित हो गया हो, और यदि उन दोनों मे अदला-बदली-पद्धति से विनिमय हो, तो ऊपर लिखे अनुसार लोहे और वस्त्र के विनिमय का अनुपात निर्धारित होगा। इसी प्रकार यदि किसी धंधे मे सब मिल-मालिक एक संघ मे संगठित हों और मजदूरों का भी सुदृढ संगठन हो अर्थात दोनों की ही अवस्था एकाधिपत्य (monopolist) की हो, तो ऊपर लिखे सिद्धान्त से ही मजदूरी निर्धारित होगी।

परन्तु वास्तविक जगत् मे स्थिति सर्वथा भिन्न होती है। यह भी सम्भव है कि ऊपर लिखे अनुसार द्विपक्षीय एकाधिपत्य (bilateral monopoly) हो और द्विपक्षीय प्रतिस्पर्द्धा (bilateral competition) हो। अर्थात दोनों पक्ष मे एक से अधिक प्रतिस्पर्द्धा करने वाले हों। अथवा यह स्थिति भी हो सकती है कि एक पक्ष मे एकाधिपत्य हो और दूसरे पक्ष मे एक से अधिक प्रतिस्पर्द्धा करने वाले हो। ऐसी स्थिति मे विनिमय अनुपात (ratio of exchange) अर्थात् मूल्य (value) निर्धारण की समस्या बहुत जटिल हो जाती है, परन्तु मूल्य अथवा विनिमय अनुपात के निर्धारण सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हम ऊपर लिखी हुई तीनों परिस्थितियों में अदल-बदल की आर्थिक व्यवस्था मे मूल्य (value) किस प्रकार निर्धारित होता है यह अध्ययन कर सकते हैं। परन्तु क्योंकि वास्तविक जगत् मे विनिमय द्रव्य या मुद्रा (money) के द्वारा ही होता है, अतः हम इस विषय का अध्ययन कीमतों (prices) के निर्धारित होने की दृष्टि से करेंगे। क्योंकि जब किसी वस्तु का मूल्य (value) मुद्रा में प्रकट किया जाता है, तब वह कीमत कहलाती है। ऊपर हमने अदल-बदल (barter) प्रणाली के कुछ उदाहरण इस कारण लिए जिससे कि यह स्पष्ट हो जाये कि मुद्रा में किसी वस्तु का मूल्य या कीमत के निर्धारण के पीछे, कौन सी बातें प्रभाव डालती हैं।

विनिमय की समस्याएँ (Problems of Exchange) ऊपर हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि विनिमय (exchange) का अर्थ क्या है। अब हमें यह जानना आवश्यक है कि विनिमय के अन्तर्गत हम किन समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

विनिमय की मुख्य समस्या मूल्य-निर्धारण (determination

value) है। मूल्य-निर्धारण तभी हो सकता है जब कि उस वस्तु को बेचा और खरीदा जावे। आज क्योंकि श्रम-विभाजन (division of labour) बहुत विकसित है, अत: प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ उत्पन्न कर रहा है वह बाजार में बेचने के लिए उत्पादन करता है। इसलिए विनिमय बाजार में बेचने वाले तथा खरीदने वालों के बीच में होता है। अदल-बदल की अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति एक साथ ही खरीदार और विक्रेता दोनों ही होता है। किन्तु जब मुद्रा (money) के द्वारा विनमय होता है, तो जो व्यक्ति कि अपनी वस्तु या सेवा को बेचता है वह बेचने वाला और जो रुपया देकर उसको खरीदता है, वह खरीदने वाला कहलाता है। अब खरीदने वाला एकाधिकारी (monopolist) हो सकता है या बेचने वाला एकाधिकारी हो सकता है, अथवा दोनों ही व्यक्ति एकाधिकारी हो सकते हैं। खरीदार और बेचने वाले एक देश के भी हो सकते हैं। और भिन्न-भिन्न देशों के भी हो सकते हैं। उस दशा में विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय होगा। हमें मूल्य-निर्धारण की समस्या को इन सभी स्थितियों में अध्ययन करना है।

मूल्य-निर्धारण के अतिरिक्त हमें बाजार (markets), द्रव्य या मुद्रा जिसके द्वारा विनिमय होता है, उनका अध्ययन करना होगा। मुद्रा के बहुत से रूप हैं तथा साख (credit) से भी मुद्रा का काम चलता है, अत. हमें साख का भी अध्ययन करना होगा। आजकल मुद्रा और साख का प्रबन्ध बैंक करते हैं, अतएव विनिमय के अन्तर्गत हमें बैंकिंग का भी अध्ययन करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश का खरीदार दूसरे देश के बेचने वाले को उसके देश की मुद्रा में कीमत चुकाना है, अतएव हमें विनिमय के अन्तर्गत विदेशी विनिमय (foreign exchange) की समस्या का भी अध्ययन करना होगा। आगे के परिच्छेदों में हम इनका अध्ययन करेंगे।

परिच्छेद २१

बाजार (Market)

बाजार : साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार का अर्थ उस स्थान विशेष से होता है कि जहाँ बेचने वाले अपनी वस्तुओं को खरीदारों को बेचते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ दूसरा ही है। अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का उपयोग किसी स्थान विशेष के लिए न करके किसी वस्तु विशेष और उसके बेचने वाले और खरीदारों के लिए करते हैं। फिर उस वस्तु के खरीदार चाहे एक स्थान पर जमा हों, अथवा देश के अन्तर्गत बिखरे हों, अथवा सारे विश्व में फैले हों। "अर्थशास्त्र में बाजार शब्द से हमारा अर्थ किसी ऐसे स्थान विशेष से नहीं होता जहां चीजें बेची और खरीदी जाती हैं, बल्कि उस सारे क्षेत्र से होता है जिसमें फैले हुए किसी वस्तु विशेष के खरीदने और बेचनेवाले आपस में प्रतिस्पर्द्धा कर सकते हैं, और परिणाम स्वरूप उस क्षेत्र भर के लिए एक वस्तु का एक ही भाव तय करते हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी वस्तुएँ हैं उतने ही बाजार होते हैं। यही कारण है कि बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्रों में हमें कपास-बाजार, लोहा-बाजार, सोने और चाँदी का बाजार, गल्ला बाजार, कम्पनी के हिस्सों का बाजार इत्यादि बहुत से बाजार दिखलाई देते हैं. यदि बड़े व्यापारिक केन्द्र की बात छोड़ भी दें, तो साधारण नगर, कस्बे या गाँव में जब हम कोई वस्तु खरीदते हैं, तो हम उस वस्तु के बाजार में कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम किसी गाँव की हाट में वस्त्र खरीदते हैं, तो हम वस्त्र बाजार में विनिमय करते हैं, और जब हम कपास या गेहूँ खरीदते हैं तो गेहूँ या कपास के बाजार में होते हैं। जो गाँव की हाट या बाजार में जितनी वस्तुएँ बिकती हैं, उतने ही बाजार उस हाट में होते हैं। यह हाट इन बाजारों का एक समूह मात्र होता है। परन्तु; यह बात स्पष्ट हो गई कि बाजार का सम्बन्ध स्थान से नहीं है, वरन बाजार का सम्बन्ध किसी वस्तु विशेष और उसके खरीदारों और बेचने वालों से होता है। फिर चाहे उस वस्तु के खरीदार और बेचने वाले एक गाँव या कस्बे में हों, अथवा किसी देश के किसी प्रान्त में फैले हों; अथवा समस्त संसार में फैले हों, उनका एक बाजार होगा। फिर वे चाहे [illegible] के द्वारा प्रतिनिधियों के द्वारा, [illegible]

डाक की सहायता से, अथवा छपी हुई मूल्य-सूचियों के द्वारा अथवा तार, टेलीफोन या बेतार या केबिल के द्वारा एक दूसरे से भाव-ताव करते हैं और सौदा तय करते हैं।

ऊपर दिए हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जावेगा कि बाजार में चार बातें होनी चाहिएँ (१) वस्तु जिसकी खरीद बिक्री हो (२) खरीदार और बेचने वाले (३) कोई स्थान, प्रदेश, देश अथवा समस्त संसार (४) खरीदार और बेचने वालों का ऐसा घनिष्ठ सम्पर्क कि एक ही समय उस वस्तु का एक ही कीमत प्रचलित हो। बाजार जितना ही पूर्ण होगा, उतना ही बाजार के समस्त भागों में उस वस्तु की एक ही कीमत देने की प्रवृत्ति दृढ होगी। बाजार के भिन्न-भिन्न भागों में वस्तु का मूल्य एक ही होगा केवल एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल लाने और लेजाने के व्यय में अन्तर होगा।

वस्तु (Commodity) क्या है : साधारण बोलचाल की भाषा में जब हम वस्तु शब्द कहते हैं, तो उसका अर्थ अर्थशास्त्र में उपयोग किए जाने वाला शब्द 'वस्तु' से भिन्न होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में जब हम वस्तु शब्द का उपयोग करते हैं, तो वास्तव में हमारा तात्पर्य बहुत-सी वस्तुओं से होता है। उदाहरण के लिए कपास, गेहूँ, चावल, चाय, रेशम इत्यादि को हम एक वस्तु समझते हैं परन्तु अर्थशास्त्र की दृष्टि से वे एक वस्तु नहीं हैं। कपास, गेहूँ, चावल, रेशम बहुत प्रकार के और बहुत सी जातियों के होते हैं। अस्तु, जितनी भी कपास की जातियाँ हैं, उतनी ही वस्तुएँ हुईं और जितनी चावल की जातियाँ हैं, उतनी ही वस्तुएँ हुईं इत्यादि। बाजार की दृष्टि से प्रत्येक चीज की किस्म एक पृथक वस्तु है क्योंकि प्रत्येक की कीमत भिन्न होगी। किसी भी चीज की कई इकाइयाँ तब तक एक वस्तु (commodity) नहीं मानी जा सकतीं, जब तक कि वे बिलकुल एक जैसी ही न हों जिससे कि खरीदार उनमें कोई भेद न करें।

एक ही चीज यदि दो व्यापार-चिह्न (ट्रेड मार्क) के नाम से बाजार में बिकती हो, तो उन्हें एक वस्तु न मान कर दो वस्तुएँ मानेंगे। उदाहरण के लिए, बहुत से उद्योगपति एक ही माल पर दो तरह के ट्रेड मार्क लगाकर उन्हें बाजार में बेचते हैं, ऐसी दशा में बाजार की दृष्टि से वे दो वस्तुएँ मानी जावेंगी। उनमें से प्रत्येक वस्तु का अलग बाजार होगा और उनकी अलग कीमत होगी। मोटर-कार निर्माता और साइकिल-निर्माता लगभग एक ही चीज तैयार करके उनके अलग-अलग नाम रख देते हैं परन्तु उनके बाजार और दाम भिन्न होते हैं।

इसी प्रकार ठीक एक ही चीज भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न वस्तु होगी दि उसका मूल्य या कीमत शीघ्रता और सरलता पूर्वक बराबर नहीं हो जाती। सी प्रकार एक ही चीज भिन्न समय पर भिन्न वस्तुएँ हो जाती हैं। यद्यपि टोरियों (speculators) के प्रयत्नों से भिन्न समय में कीमतों की भिन्नता म हो जाती है।

बाजार का वर्गीकरण

बाजार का हम दो आधारों पर वर्गीकरण कर सकते हैं। एक तो हम त्रफल के आधार पर बाजार का वर्गीकरण कर सकते हैं, दूसरे समय के नुसार बाजार का वर्गीकरण कर सकते हैं।

क्षेत्रफल के अनुसार बाजार का नीचे लिखा वर्गीकरण किया जा कता है :—

(क) स्थानीय : स्थानीय बाजार में उसी स्थान के खरीदार और चने वाले विनिमय करते हैं। इसका क्षेत्रफल बहुत छोटा और सीमित होता है। छ वस्तुएँ, जैसे सब्जी, दूध, इत्यादि का बाजार अधिकतर स्थानीय होता है।

(ख) राष्ट्रीय : कोई-कोई वस्तु ऐसी होती है जिसका बाजार म्पूर्ण देश होता है। उस वस्तु के खरीदार और बेचने वाले सम्पूर्ण देश में ले होते हैं। उनका एक-दूसरे से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए स्त्रियों की साड़ियों का भारतवर्ष भर का बाजार है।

(ग) संसार का बाजार : कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनका बाजार संसार भर में होता है। उदाहरण के लिए सोना, चाँदी, गेहूँ, कपास, चावल इत्यादि का बाजार संसार भर है। संसार के प्रत्येक देश में फैले हुए इनके ग्राहक न वस्तुओं को खरीद, बिक्री करते हैं और आपस में व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

समय के अनुसार बाजार के वर्गीकरण का आधार मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि प्रत्येक परिवर्तन के साथ माँग (demand) और पूर्ति (supply) की शक्तियों को बदलने का समय मिलता है अथवा नहीं। समय के अनुसार बाजार का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार होगा :—

(क) किसी दिन अथवा किसी क्षण का बाजार : इस प्रकार दैनिक या क्षणिक बाजार में पूर्ति (supply) को घटाने या बढ़ाने का समय नहीं होता। परन्तु कीमत माँग (demand) की तीव्रता पर निर्भर करती है।

(ख) अल्पकालीन बाजार (Short Period Market) : अल्पकालीन

बाजार मे पूर्ति को माँग में परिवर्तन होने पर उसके अनुरूप बदलने के लिए थोड़ा समय मिल जाता है। परन्तु जो समय मिलता है वह यथेष्ट नहीं होता। अस्तु कीमत के निर्धारण मे माँग का प्रभाव पूर्ति (supply) अथवा लागत-व्यय के प्रभाव से अधिक होता है।

(ग) दीर्घकालीन बाजार (Long Term Market) : इस प्रकार के बाजार में माँग में परिवर्तन होने पर उसके अनुकूल बदलने के लिए पूर्ति को पूरा समय मिल जाता है। यदि माँग बढ़ती है, तो अधिक पूर्ति बाजार में आजाती है और यदि माँग स्थायी रूप से कम हो गई है, तो उत्पत्ति के साधनों (factors of production) को उस धंधे से हट जाने का समय मिल जाता है। इस लम्बे समय में उत्पादन व्यय (cost of production) अपना पूरा प्रभाव कीमत पर डालता है। अस्तु, इस दशा में पूर्ति का प्रभाव अधिक होता है। लम्बे समय में कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय (marginal cost of production) के बराबर होनी चाहिए।

(घ) अति दीर्घकालीन बाजार (Secular Market) : जबकि माँग और पूर्ति की शक्तियों को बहुत अधिक लम्बा समय (एक पीढ़ी) बदली हुई स्थिति के अनुरूप बदलने के लिए मिल जाता है, तो उसे अति दीर्घकालीन बाजार कहते हैं।

बाजारों का विकास (Evolution of Markets) : अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि बाजार का विकास किस क्रम से हुआ। बाजारों के विकास का अध्ययन भी हम दो दृष्टिकोण से कर सकते हैं। (१) भौगोलिक दृष्टिकोण से (२) तथा कार्य के दृष्टिकोण से (functional)।

भौगोलिक दृष्टि से बाजार का विकास : सबसे पहले हम भौगोलिक दृष्टि से बाजार के विकास का अध्ययन करेंगे। जबकि मनुष्य-समाज आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ी हुई दशा में था, और श्रम-विभाजन का आरम्भ ही हुआ था तथा गमनागमन के साधनों का नितान्त अभाव था, तो (१) कौटुम्बिक बाजार (family market) में विनिमय होता था। यदि एक परिवार के पास उसकी आवश्यकता से कपड़ा अधिक है और दूसरे परिवार के पास उसकी आवश्यकता से गेहूँ अधिक है, तो वे गेहूँ से कपड़ा बदल लेते थे। जब मानव-समाज आर्थिक दृष्टि से कुछ आगे बढ़ा और श्रम-विभाजन (division of labour) कुछ अधिक विकसित हुआ तो (२) गाँव या स्थानीय बाजार का विकास हुआ। उस समय भी यातायात और गमनागमन के साधनों का सर्वथा अभाव था। गाँव आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी थे। तभी आरम्भ

(२) विशेष बाजार (Specialised Market) : उद्योग-धन्धों तथा व्यापार का जैसे-जैसे विकास होता गया, तथा यातायात के साधनों का विकास होता गया, वैसे-वैसे विशेष बाजारों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। उदाहरण के लिए, आज हम वस्त्र-बाजार (cloth market), सूत-बाजार, सोने चॉदी का बाजार, कम्पनी के हिस्सों का बाजार (शेयर बाजार), कपास, तिलहन, जूट, गेहूँ इत्यादि के बाजार (पैदावारों के बाजार), मुद्रा-बाजार (money market), विनिमय-बाजार (foreign exchange market) इत्यादि को देखते हैं। यह सब विशेष बाजार हैं।

(३) नमूनों से खरीदना बेचना (Marketing By Samples): जैसे-जैसे वस्तुओं और उनकी किस्मों की सख्या बढती गई, और उनकी मात्रा में वृद्धि होती गई तथा मॉग (demand) का क्षेत्रफल समस्त देश या समस्त संसार होगया, तो यह सम्भव नहीं रहा कि सारे माल को दिखलाया जा सके। अस्तु; वस्तुओं का प्रमाणीकरण (standardisation) किया गया; अर्थात् सारा माल अथवा सभी वस्तुऍ ठीक एक समान होती हैं, और उनका नमूना दिखाकर सारे माल को बेचा या खरीदा जाता है। यह तरीका कच्चे माल (raw materials) के लिए विशेष उपयोगी होता है, जो कि भारी होते हैं किन्तु उनका प्रमाणीकरण हो जाने पर वे एक से होते हैं। इनके अतिरिक्त दवाइयों तथा वस्त्रों के भी नमूने दिखाकर ही उन्हें खरीदा-बेचा जाता है।

ग्रेड द्वारा खरीद-बिक्री (Marketing by Grades) : नमूने के द्वारा खरीद-बिक्री के बाद जब कार्य बाजार (function markets) का और अधिक विकास हुआ तो ग्रेड द्वारा खरीद-बिक्री होने लगी। इसमें नमूना दिखलाने की भी आवश्यकता नहीं रहती। केवल यह बतलाने की आवश्यकता रहती है कि माल किस श्रेणी या ग्रेड का है। ग्रेड या श्रेणी निर्धारित करने से यह लाभ रहता है, कि खरीदार को नमूना भी देखने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक श्रेणी या ग्रेड का माल कैसा होगा, यह मालूम रहता है और जब खरीदार किसी ग्रेड विशेष का माल मँगाता है, तो वह जानता है कि अमुक तरह का माल उसे मिलेगा। इससे खरीद-बिक्री में बड़ी सुविधा हो जाती है। केवल तार देकर या फोन और केबिल से खरीद-बिक्री की जा सकती है। इससे बाजार का विस्तार बहुत अधिक होता है। कच्चे माल और खेती की पैदावार ग्रेड के अनुसार ही बिकती है। रसायनिक पदार्थ तथा अन्य वस्तुएँ भी ग्रेड से बिकती हैं। उदाहरण के लिए किसी को कनाडा से गेहूँ, जावा से शक्कर, संयुक्तराज्य अमेरिका से कपास मगवानी हो, तो वह केबिल द्वारा ग्रेड

बाजार के तार द्वारा वहाँ के व्यापारी को किसी नम्बर या ग्रेड का माल भेजने को कहेगा, और जो माल वह चाहता है ठीक उसी किस्म का माल उसके पास आ जावेगा।

बाजार का विस्तार (Extent of the Market) : बाजार का विस्तार नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहता है :—

(१) वस्तु की माँग का रूप : सबसे पहली बात वस्तु की माँग से सम्बन्ध रखती है। जिन वस्तुओं की माँग जितनी अधिक नियमित और विस्तृत होगी, उनका बाजार भी उतना ही विस्तृत होगा। उदाहरण के लिए गेहूँ की माँग दुनिया भर में होती है और नियमित रूप से होती है। इसलिए गेहूँ का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है। इसी प्रकार हम कपास, चाय, सोना, चाँदी आदि के बारे में कह सकते हैं। इसके विपरीत स्त्रियों की साड़ियों का बाजार केवल हमारे देश तक सीमित है; क्योंकि अन्य देशों में साड़ियाँ पहिनने का चलन नहीं है। और पगड़ियों का बाजार तो केवल राजस्थान तक ही सीमित है।

(२) टिकाऊपन (Durability) : किसी वस्तु का बाजार विस्तृत होने के लिए यह भी आवश्यक है कि वह वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली न हो। यदि कोई वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली होगी, तो उसको दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। फल, सब्जी, माँस, मछली, दूध इत्यादि ऐसी ही वस्तुएँ हैं जो शीघ्र नष्ट होने वाली हैं। यह ठीक है, कि शीत भंडार-रीति का विकास होने के कारण इन वस्तुओं को भी दूर तक भेजा जा सकता है और इनके बाजार का भी पहले से विस्तार हुआ है, परन्तु फिर भी इनका बाजार अपेक्षाकृत संकुचित ही होता है।

(३) स्थान-परिवर्तन-साध्य (Portable) : तीसरा गुण जो कि विस्तृत बाजार होने के लिए आवश्यक है, वह उसकी कीमत को देखते हुए उसके एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में कम व्यय होने का है। दूसरे शब्दों में, वस्तु का स्थान-परिवर्तन-साध्य होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए सोने का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय है क्योंकि उसकी कीमत की तुलना में उसको एक देश से दूसरे देश को ले जाने का खर्च कम होता है। इसके विपरीत ईंट या साधारण पत्थर का बाजार संकुचित होता है। अतः हल्की और अधिक मूल्यवान वस्तुओं का बाजार भारी और फैली हुई कम मूल्यवान वस्तुओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत होगा।

(४) ग्रेडों में बाँटी जा सकने वाली अथवा नमूने से बेची जा सकने वाली : वस्तुएँ जो अलग-अलग ग्रेडों में बाँटी जा सकती हैं, अथवा जो नमूने

दिखाकर बेची जा सकती हैं, अथवा जिनका ठीक विवरण साहित्य के द्वारा दिया जा सकता है, उनका भी बाजार विस्तृत होगा। इसका कारण यह है कि उस दशा में माल को स्वयं देखने की आवश्यकता नहीं होती। दूर देश में बैठे हुए उन वस्तुओं को खरीदा व बेचा जा सकता है।

(५) **वस्तु ऐसी हो कि जिसकी पूर्ति (Supply) बढ़ाई जा सके** : वस्तुओं के बाजार के विस्तृत होने के लिए भी एक इस बात की भी आवश्यकता है कि वस्तुओं की पूर्ति यथेष्ट मात्रा में हो और माँग (demand) के बढ़ने पर वह बढ़ाई जा सके। यदि किसी वस्तु की पूर्ति कम है अथवा उसको बढ़ाया नहीं जा सकता, तो उसका बाजार अन्य बातों के होते हुए भी विस्तृत नहीं हो सकता।

(६) **यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों की उन्नति** : बाजार के विस्तृत होने के लिए यातायात अथवा सदेशवाहन के साधनों की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। रेल, जहाज, तार, वेतार का तार, रेडियो, टेलीफोन, केबिल तथा हवाई जहाज आदि की उन्नति होने के कारण एक देश के व्यापारी दूसरे देश के व्यापारियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। दूरी के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं और बहुत सी वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार स्थापित हो गए हैं।

(७) **मुद्रा तथा साख (Credit) की उचित व्यवस्था होना** : जिस देश का बैंकिंग, साख-व्यवस्था तथा मुद्रा-प्रबन्ध अच्छा है, जहाँ की मुद्रा में लोगों का विश्वास है, उस देश के साथ दूसरे देश वालों को व्यापार करने में अड़चन और हिचकिचाहट उत्पन्न नहीं होती। अस्तु; विस्तृत बाजार के लिए बैंकिंग तथा साख की अच्छी व्यवस्था का होना तथा स्थिर मुद्रा-नीति का होना आवश्यक है।

(८) **सुरक्षा और शान्ति** : विस्तृत बाजार के लिए सुरक्षा और शान्ति का होना भी आवश्यक है। युद्ध-काल मे व्यापार कम हो जाता है और बाजार सकुचित हो जाता है। युद्ध-रत देशों मे व्यापारी अपना माल नहीं भेजते।

(९) **सरकार की नीति** : सरकार की नीति के कारण भी बाजार सकुचित हो सकता है। यदि सरकार आयात (import) या निर्यात (export) पर चुंगी ऊँचा कर लगा दे, या इन पर प्रतिबन्ध लगा दे, तो व्यापार कम हो जावेगा, बाजार सङ्कुचित हो जावेगा। और यदि सरकार कोई प्रतिबंध या चुंगी न लगावे तो बाजार विस्तृत होगा।

श्रम-विभाजन का विकास : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि

त्ति (production of wealth) में श्रम विभाजन (division of labour) न हो, तो विनिमय की कोई आवश्यकता ही न पड़े और न बाजारों की आवश्यकता हो। श्रम-विभाजन जितना ही अधिक जटिल और उन्नत होगा, उतने ही विस्तृत क्षेत्रफल में विनिमय होगा और उतना ही विस्तृत बाजार होगा।

प्रतिस्पर्द्धा (Competition) और बाजार : आगे चलकर हम वस्तु के मूल्य निर्धारण की क्रिया का दो स्थितियों में अध्ययन करेंगे। पहली स्थिति है, प्रतिस्पर्द्धा की और दूसरी एकाधिपत्य (monopoly) की। वास्तव में न तो पूर्ण-प्रतिस्पर्द्धा ही होती है और न पूर्ण एकाधिपत्य ही होता है। सच तो यह है कि वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा ही होती है। इसके सम्बन्ध में हम आगे चल कर लिखेंगे। किन्तु उन शक्तियों का ठीक-ठीक अध्ययन करने के लिए, जो प्रतिस्पर्द्धापूर्ण बाजार को प्रभावित करती हैं, हम यह मान कर चलेंगे कि बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है। इन शक्तियों का अध्ययन करना कठिन है, अतः हम उनको सरलता पूर्वक समझाने के लिए यह मानकर चलेंगे कि बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा नीचे लिखी दशा में ही सम्भव है :—

(क) जब कि उत्पत्ति के साधन (factors of production) पूर्ण-रूप से गतिशील हों और अधिक पारिश्रमिक मिलने पर स्वतन्त्रतापूर्वक शीघ्र ही एक धन्धे को छोड़कर दूसरे धन्धे में चले जावें।

(ख) किसी एक विक्रेता के पास इतनी अधिक राशि में वस्तु न हो कि वह बाजार में उस वस्तु के मूल्य को प्रभावित कर सके; और न किसी एक खरीदार के पास इतनी अधिक क्रय-शक्ति हो कि वह उसके द्वारा वस्तु के मूल्य को बाजार में प्रभावित कर सके। यही दो पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की शर्तें हैं।

पहली शर्त का अर्थ यह है कि मजदूरों की गतिशीलता (mobility) पर कोई भी प्रतिबन्ध न होना चाहिए। जहाँ भी मजदूरी अधिक हो वहाँ उनको जाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पूँजी (capital) को जहाँ अधिक सूद मिले वहाँ जाने की छूट होनी चाहिए और कच्चा माल उत्पन्न करने वालों को जहाँ इसकी अधिक कीमत मिले उसको बेचने की आजादी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि मजदूर सभाएँ (ट्रेड यूनियन) संगठन करके नये मजदूरों को अपने धन्धे में न घुसने दें और इस प्रकार अपनी मजदूरी को ऊँचा रक्खें, तो इस दशा में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण मानी जायेगी।

दूसरी शर्त का अर्थ यह है कि एक ही वस्तु को बेचने वाले बाजार में विक्रेता बहुत से होने चाहिएँ और उनको खरीदने के लिए बहुत से खरीदार होने चाहिएँ।

साथ ही उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि दूसरे खरीदार और बेचने वाले किस कीमत पर उसको खरीद और बेच रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि एक वस्तु की एक ही बाजार में एक ही कीमत होगी और कोई भी अकेला खरीदार या बेचने वाला कीमत को प्रभावित नहीं कर सकेगा। इसका कारण यह है, कि जब बहुत बड़ी संख्या में किसी वस्तु के खरीदार या बेचने वाले होते हैं, तो एक खरीदार के उस वस्तु को न खरीदने या खरीदने से, और एक बेचने वाले के उस वस्तु को न बेचने या बेचने से उसकी कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में मूल्य-निर्धारण की क्रिया पर इस बात का बहुत प्रभाव पड़ता है।

जब हम प्रतिस्पर्द्धा की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि खरीदारों में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है और बेचने वालों में भी आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है। जब खरीदारों में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है, तो उस वस्तु की कीमत ऊँची हो जाती है, और बेचने वालों में प्रतिस्पर्द्धा होने पर उस वस्तु की कीमत नीचे गिरती है। उन दोनों समूहों की क्रिया और प्रतिक्रिया से बाजार में उस वस्तु की एक कीमत प्रचलित होती है।

थोक बाजार (wholesale market) में प्रतिस्पर्द्धा अधिक पूर्ण होती है, क्योंकि उसमें व्यापारी ही खरीद और बिक्री करते हैं। उन्हें उस वस्तु की माँग और पूर्ति की दशा का अच्छा ज्ञान होता है। वे लोग उस वस्तु को लाभ कमाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में खरीदते और बेचते हैं। किन्तु खेरीज बाजार (retail market) में, जहाँ वस्तुओं को उपभोक्ता (consumers) उपभोग के लिए खरीदते हैं वहाँ प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए, बहुत बड़े व्यापारिक केन्द्रों में बड़े-बड़े स्टोरों से खरीदने में प्रतिष्ठा समझने वाले भद्र लोग उसी वस्तु की कीमत अधिक दे देते हैं। कुछ विशेष फैशनेबिल बाजारों में उसी वस्तु की अन्य साधारण बाजारों की तुलना में कीमत अधिक होती है और ऊँचे दर्जे के लोग वहीं जाकर ऊँची कीमत पर उसे खरीदते हैं। बात यह है कि उपभोक्ता वस्तु को लाभ के लिए अधिक राशि में तो खरीदते नहीं, उपभोग के लिए थोड़ी थोड़ी मात्रा में खरीदते हैं। इस कारण दो कीमत में थोड़ा अन्तर हो, तो इसकी चिन्ता नहीं करते। वे थोक व्यापारियों की भाँति कीमत के बारे में उतनी जानकारी नहीं रखते। अस्तु: थोक बाजार में खेरीज बाजार की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा अधिक पूर्ण होती है।

पूर्ण और अपूर्ण बाजार (Perfect and Imperfect Market) — पूर्ण बाजार हम उसको कहते हैं जिसमें सभी सम्भावित खरीदारों और

[illegible] को जिस कीमत पर सौदे हों, वह तुरन्त मालूम हो जावे। ऐसी स्थिति में माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का भाड़ा और आयात कर (import duty) को छोड़ कर बाजार भर में उस वस्तु की एक ही कीमत होगी। हम उस बाजार को अपूर्ण कहेंगे जिसमें खरीदार या विक्रेताओं को यह पता न चले कि दूसरे लोग उस वस्तु की क्या कीमत देने को तैयार हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि बाजार में एक वस्तु की एक ही समय एक ही कीमत प्रचलित हो, तो हम उसे पूर्ण बाजार कहेंगे। और यदि बाजार में एक ही समय में एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें प्रचलित हों, तो उसे अपूर्ण बाजार कहेंगे।

बाजार का नियम (Law of the Market) : इसी आधार पर बाजार का नियम भी निर्भर है, जिसे जेवन्स ने 'उपेक्षा का नियम' (law of indifference) भी कहा है। इस नियम के अनुसार एक ही बाजार में किसी वस्तु की कीमत एक ही समय पर एक ही होगी, दो नहीं हो सकती। उस दशा में खरीदार के लिए यह नितान्त उपेक्षा का विषय होगा कि वह किससे खरीदे और विक्रेता के लिए यह उपेक्षा का विषय होगा कि वह किसे बेचे। क्योंकि प्रत्येक दशा में कीमत एक ही रहेगी।

यदि यह नियम पूरे बल से लागू हो जिससे कि कीमत तेजी और सस्ताई से बराबर हो जावे तब तो बाजार पूर्ण कहा जावेगा। परन्तु यदि रूढ़ियों के कारण अथवा अन्य कारणों से इस नियम के लागू होने में रुकावट होती है, तो बाजार में एक ही वस्तु की एक कीमत नहीं रहेगी। उस दशा में बाजार अपूर्ण होगा।

पूर्ण बाजार की शर्तें : बाजार का नियम जिसके कारण बाजार में एक ही समय एक वस्तु की एक ही कीमत होती है, तभी लागू हो सकता है कि जब [illegible] पूरी हों। यही पूर्ण बाजार की शर्तें हैं। हम उन शर्तों को नीचे लिखेंगे :—

(१) पूर्ण और अबाधित प्रतिस्पर्द्धा : जब तक माँग (demand) तथा पूर्ति (supply) दोनों ओर अबाधित प्रतिस्पर्द्धा नहीं हो, तो एक ही समय एक वस्तु की एक कीमत नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि माँग या पूर्ति किसी ओर एकाधिकार न स्थापित हो गया हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कोई भी विक्रेता अथवा विक्रेता-समूह ऐसी स्थिति में न होना चाहिए कि वह उस वस्तु की पूर्ति का नियंत्रण करके कीमत को प्रभावित कर सके। जब कोई विक्रेता किसी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार स्थापित कर देता है, तो वह

साथ ही उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि दूसरे खरीदार और बेचने वाले किस कीमत पर उसको खरीद और बेच रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि एक वस्तु की एक ही बाजार में एक ही कीमत होगी और कोई भी अकेला खरीदार या बेचने वाला कीमत को प्रभावित नहीं कर सकेगा। इसका कारण यह है, कि जब बहुत बड़ी संख्या में किसी वस्तु के खरीदार या बेचने वाले होते हैं, तो एक खरीदार के उस वस्तु को न खरीदने या खरीदने से, और एक बेचने वाले के उस वस्तु को न बेचने या बेचने से उसकी कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में मूल्य-निर्धारण की क्रिया पर इस बात का बहुत प्रभाव पड़ता है।

जब हम प्रतिस्पर्द्धा की बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि खरीदारों में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है और बेचने वालों में भी आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है। जब खरीदारों में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है, तो उस वस्तु की कीमत ऊँची हो जाती है, और बेचने वालों में प्रतिस्पर्द्धा होने पर उस वस्तु की कीमत नीचे गिरती है। उन दोनों समूहों की क्रिया और प्रतिक्रिया से बाजार में उस वस्तु की एक कीमत प्रचलित होती है।

थोक बाजार (wholesale market) में प्रतिस्पर्द्धा अधिक पूर्ण होती है, क्योंकि उसमे व्यापारी ही खरीद और बिक्री करते हैं। उन्हें उस वस्तु की माँग और पूर्ति की दशा का अच्छा ज्ञान होता है। वे लोग उस वस्तु को लाभ कमाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में खरीदते और बेचते हैं। किन्तु खेरीज बाजार (retail market) में, जहाँ वस्तुओं को उपभोक्ता (consumers) उपभोग के लिए खरीदते हैं वहाँ प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए, बहुत बड़े व्यापारिक केन्द्रों में बड़े-बड़े स्टोरों से खरीदने में प्रतिष्ठा समझने वाले भद्र लोग उसी वस्तु की कीमत अधिक दे देते हैं। कुछ विशेष फैशनेबिल बाजारों मे उसी वस्तु की अन्य साधारण बाजारों की तुलना में कीमत अधिक होती हैं और ऊँचे दर्जे के लोग वहीं जाकर ऊँची कीमत पर उसे खरीदते हैं। बात यह है कि उपभोक्ता वस्तु को लाभ के लिए अधिक राशि में तो खरीदते नहीं; उपभोग के लिए थोड़ी थोड़ी मात्रा में खरीदते हैं। इस कारण वे कीमत मे थोड़ा अन्तर हो, तो इसकी चिन्ता नहीं करते। वे थोक व्यापारियों की भाँति कीमत के बारे में उतनी जानकारी नहीं रखते। अस्तु; थोक बाजार में खेरीज बाजार की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा अधिक पूर्ण होती है।

पूर्ण और अपूर्ण बाजार (Perfect and Imperfect Market) पूर्ण बाजार हम उसको कहते हैं जिसमें सभी सम्भावित खरीदारों और बेच

वालों को जिस कीमत पर सौदे हों, वह तुरन्त मालूम हो जावें। ऐसी स्थिति में माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने का भाड़ा और आयात कर (import duty) को छोड़ कर बाजार भर में उस वस्तु की एक ही कीमत होगी। हम उस बाजार को अपूर्ण कहेंगे जिसमें खरीदार या विक्रेताओं को यह पता न चले कि दूसरे लोग उस वस्तु की क्या कीमत देने को तैयार हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि बाजार में एक वस्तु की एक ही समय एक ही कीमत प्रचलित हो, तो हम उसे पूर्ण बाजार कहेंगे। और यदि बाजार में एक ही समय में एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें प्रचलित हों, तो उसे अपूर्ण बाजार कहेंगे।

बाजार का नियम (Law of the Market) : इसी आधार पर बाजार का नियम भी निर्भर है, जिसे जेवन्स ने 'उपेक्षा का नियम' (law of indifference) भी कहा है। इस नियम के अनुसार एक ही बाजार में किसी वस्तु की कीमत एक ही समय पर एक ही होगी, दो नहीं हो सकती। उस दशा में खरीदार के लिए यह नितान्त उपेक्षा का विषय होगा कि वह किससे खरीदे और विक्रेता के लिए यह उपेक्षा का विषय होगा कि वह किसे वेचे। क्योंकि प्रत्येक दशा में कीमत एक ही रहेगी।

यदि यह नियम पूरे बल से लागू हो जिससे कि कीमत तेजी और सरलता से बराबर हो जावे तब तो बाजार पूर्ण कहा जावेगा। परन्तु यदि रूढ़ियों के कारण अथवा अन्य कारणों से इस नियम के लागू होने में रुकावट होती है, तो बाजार में एक ही वस्तु की एक कीमत नहीं रहेगी। उस दशा मे बाजार अपूर्ण होगा।

पूर्ण बाजार की शर्तें बाजार का नियम जिसके कारण बाजार में एक ही समय एक वस्तु की एक ही कीमत होती है, तभी लागू हो सकता है कि जब कुछ अनिवार्य शर्तें पूरी हों। वही पूर्ण बाजार की शर्तें हैं। हम उन शर्तों को नीचे लिखेंगे :—

(१) **पूर्ण और अबाधित प्रतिस्पर्द्धा** : जब तक माँग (demand) तथा पूर्ति (supply) दोनों ओर अबाधित प्रतिस्पर्द्धा नहीं हो, तो एक ही समय एक वस्तु की एक कीमत नहीं होगी। इसका अर्थ यह है कि माँग या पूर्ति किसी ओर एकाधिकार न स्थापित हो गया हो। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कोई भी विक्रेता अथवा विक्रेता-समूह ऐसी स्थिति में न होना चाहिए कि वह उस वस्तु की पूर्ति का नियन्त्रण करके कीमत को प्रभावित कर सके। जब कोई विक्रेता किसी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है, तो वह

उस वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें ले सकता है। एकाधिकार (monopoly) का अभाव और स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण बाजार की एक मुख्य शर्त है। इसके अन्तर्गत यह भी आ जाता है कि खरीदार और विक्रेताओं को बाजार की स्थिति के बारे में पूर्ण जानकारी है और प्रचलित कीमत, जो अन्य लोग उस वस्तु के लिए दे रहे हैं, उससे वे अवगत हैं।

(२) **यातायात के सस्ते और अच्छे साधन उपलब्ध हैं :** एक वस्तु की एक ही कीमत तभी प्रचलित होगी कि जब कीमत में परिवर्तन होने पर उसकी सूचना शीघ्रतापूर्वक बाजार के अन्य भागों में पहुँच जावे, और वह वस्तु बाजार के उस भाग में शीघ्रता से और कम व्यय में भेजी जा सके जहाँ उसकी कीमत ऊँची हो। जब की यातायात और सदेशवाहन के साधन सुलभ होते हैं, तभी यह सम्भव होता है कि कीमत में तनिक भी भेद होने पर वस्तु ऊँची कीमत वाले भाग की ओर बहने लगती है और कीमत का भेद दूर हो जाता है। बाजार के जिस भाग में वस्तु की कीमत नीची होती है, वहाँ से उसको व्यापारी उस भाग में भेज देते हैं, जहाँ कीमत ऊँची होती है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ कीमत ऊँची होती है वहाँ कुछ नीची हो जाती है और जहाँ कीमत नीची होती है वहाँ कुछ ऊँची हो जाती है। इस प्रकार उस वस्तु को लोग तब तक भेजते रहेंगे जब तक कि दोनों भागों में कीमत बराबर नहीं हो जाती। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण बाजार की दूसरी शर्त यातायात और सदेशवाहन के साधनों का सुलभ होना है।

(३) **विस्तृत क्षेत्र :** पूर्ण बाजार के लिए उसके क्षेत्र का विस्तृत होना भी आवश्यक है। बाजार का क्षेत्र विस्तृत होने के लिए यह आवश्यक है कि (१) वस्तु की माँग और पूर्ति अधिक मात्रा में हो, (२) वस्तु टिकाऊ हो, शीघ्र नष्ट न होने वाली हो (३) स्थान-परिवर्तन-साध्य हो और (४) उसको नमूने या ग्रेड के द्वारा बेचा जा सके।

पूर्ण बाजार के उदाहरण : यदि देखा जावे तो विनियोगित पूँजी (invested capital) पूर्ण बाजार के बहुत पास पहुँचती है। विनियोगित पूँजी हिस्सों (शेयर्स) या स्टाक का रूप धारण करती है। स्टाक ऐक्सचेंज बाजार एक बहुत ही सगठित बाजार है। उसमें कारबार करने वाले दक्ष होते हैं। कीमत में तनिक भी हेर-फेर होने पर उसकी सूचना शीघ्र ही फैल जाती है। शेयर्स एक समान होते हैं, अर्थात् वे एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न होते हैं। वे सरलतापूर्वक बिना अधिक व्यय के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जा सकते हैं। शेयरों के खरीदने और बेचने का तरीका एक समान होता है जो सर्व

...दित है। उनकी कीमतों की जानकारी सर्वसाधारण को भी रहती है। इसके ...तिरिक्त शेयर-बाजार मे जो कारबार की ऊँची नैतिकता विद्यमान रहती है ...ससे धोका या खतरे की कोई सम्भावना नही रहती। अस्तु, शेयर या स्टाक ...ाजार पूर्ण बाजार के बहुत पास होता है।

इसके अतिरिक्त सोने चाँदी का बाजार, प्रथम श्रेणी के बिलों और ...डियों का बाजार, विदेशी करेंसी या विदेशी विनिमय का बाजार, तथा महत्त्व-...र्ण औद्योगिक कच्चे पदार्थों के बाजार मान सकते हैं।

बाजार मे होने वाले सौदे : बाजार मे बहुत प्रकार के सौदे होते हैं। ...ाजार मे जो वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती है, उन्हे हम आठ श्रेणियों में ...ाँट सकते हैं :(१) उपभोक्ता पदार्थ (consumers goods) (२) उत्पादन ...दार्थ (producers goods) (३) मजदूरों की सेवायें (४) जायदाद मकान, भूमि आदि (५) मुद्रा या द्रव्य (६) कागजी अधिकार (papers titl-es) (७) स्वत्व (right) फर्म की प्रसिद्ध (goodwill) तथा पेटेंट आदि और (८) अन्य देशों की मुद्रा या करेंसी।

नीचे हम स्टाक का शेयर बाजार (stock exchange) और प्रोड्यूस एक्सचेंज (produce exchange) का विवरण देंगे। अन्य बाजारों का विवरण यथास्थान दिया जावेगा।

स्टाक एक्सचेंज

अधिकतर स्टाक एक्सचेंजों का सगठन लदन-स्टाक-एक्सचेंज के आधार पर हुआ है। अतः हम उसी का यहाँ वर्णन करेंगे। स्टाक एक्सचेंज में दो प्रकार के सदस्य होते हैं (१) ब्रोकर और (२) जाबर।

जाबर सीधे जनता से कारबार नहीं कर सकते। वे एक तरह से शेयरों के दुकानदार होते हैं और स्वय अपने लिये शेयरों को खरीदते और बेचते हैं। वे सारा कारबार ब्रोकरों के द्वारा करते है। इसके विपरीत ब्रोकर केवल दलाली का ही कारबार करते हैं, वे अपने लिए शेयर खरीद या बेच नहीं सकते। वे जनता के लिये ही शेयर खरीदते और बेचते हैं। वे जाबर और जनता के बीच में मध्यस्थ का काम करते हैं। इसका फल यह होता है कि जो भी व्यक्ति शेयरों में अपनी पूँजी लगाता है उसको धोखा नहीं हो सकता और उसे दक्ष सेवा मिलती है।

शेयर की खरीद-बिक्री के लिये ब्रोकरों के पास जाना पड़ता है। कल्पना कीजिए कि एक डाक्टर है जो कुछ पूँजी हिस्सों में लगाना चाहता है। वह किसी ब्रोकर को अमुक शेयर खरीदने के लिये आर्डर देगा। बहुधा यह भी

होता है कि ब्रोकर अपने ग्राहकों को सलाह देते रहते हैं कि अमुक शेयर के इस भाव पर खरीद लेना या बेच देना, लाभदायक होगा। जब ब्रोकर के पास किसी ग्राहक का या किसी शेयर विशेष का आर्डर आता है तो वह किसी जाबर के पास जाता है, तब ब्रोकर स्टाक-एक्सचेंज में जाता है तथा किसी जाबर से उस शेयर की कीमत बतलाने को कहता है। स्टाक-एक्सचेंज के नियमानुसार प्रत्येक जाबर को सदैव शेयर खरीदने और बेचने के लिये तैयार रहना चाहिए। उस को उन शेयरों को खरीदने के लिये तैयार रहना चाहिये जिनको कि वह नहीं खरीदना चाहता, और उन शेयरों को भी बेचने के लिये तैयार रहना चाहिये जो कि उसके पास नहीं हैं। जब ब्रोकर किसी जाबर के पास जाता है तो वह उसे यह नहीं बतलाता कि वह अमुक शेयर को खरीदेगा या बेचेगा। वह तो सिर्फ जाबर से उस शेयर की कीमत बतलाने को कहता है। जाबर उस शेयर की दो कीमतें बतलाता है। एक वह कीमत जिस पर जाबर उस शेयर को खरीदने के लिये तैयार है, दूसरी वह कीमत जिस पर जाबर उस शेयर को बेचने के लिये तैयार है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये, कि जावर एक शेयर की १०० रु० तथा १०२ रु० दो कीमतें बतलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह उस शेयर को १०० रु० प्रति शेयर खरीदने को तैयार है और १०२ रु० प्रति शेयर पर बेचने को तैयार है। अब ब्रोकर उससे भाव-ताव करके इस दो रुपये के मार्जिन को कम करेगा। मान लीजिए जावर १०० रु० प्रति शेयर और १०१ रु० प्रति शेयर पर आ जाता है और ब्रोकर समझता है कि यह ठीक है तब वह बतलावेगा कि वह इस कीमत पर हजार शेयर खरीदता है या बेचता है। दोनों कीमतों में जो अन्तर होता है वह जाबर का लाभ होता है।

जब सौदा हो जाता है, तो उसी समय कीमत नहीं चुकाई जाती है। जितने भी सौदे शेयरों के होते हैं उनका तसफिया (settlement) महीने के अन्तिम चार दिनों में जो कि इस काम के लिए निर्धारित हैं, होता है। इन्हें सेटिलमेंट के दिन कहते हैं। कल्पना कीजिए कि कोई शेयर का खरीदार पहले सेटिलमेंट के दिन उन शेयरों की कीमत चुकाना नहीं चाहता तो वह अपने ब्रोकर को सूचित कर देगा। ब्रोकर पहले दिन जावर को इसकी सूचना दे देगा और जाबर से कहेगा कि वह अप्रेल महीने के सेटिलमेंट तक रुके। जाबर इसके लिये तैयार हो जावेगा किन्तु खरीदार को उतने समय के लिये उस रकम पर सूद देना होगा, इसको अग्रेनयन प्रभार (contango) कहते हैं। परन्तु यदि खरीदार शेयरों की कीमत चुकाने के लिये तैयार है, किन्तु जावर उन शेयरों को उस समय तक प्राप्त नहीं कर सका है, तो जावर अगले सेटिलमेंट तक ब्रोकर से रुकने के लिए

ःगा और उसके लिये जाबर को कुछ हर्जाना देगा, क्योंकि खरीदार को
। देरी के कारण लाभ (dividend) की हानि हो सकती है। जाबर शेयरों
न दे सकने के कारण जो हर्जाना देता है उसे (black-wardation)
ःते हैं।

यह बातें पहले दिन ही तय हो जाती हैं। यदि जाबर शेयरों की सुपुर्दगी
े के लिये तैयार है, और खरीदार उसकी कीमत चुकाने के लिये तैयार है तो
अगले दो दिन में जिन्हें "टिकट दिवस" या बीच के दिन कहते हैं, ब्रोकर
यर के खरीदार का नाम, पता बतलाता है जिससे कि वे शेयर उसके नाम
स्ताक्षर किये जा सकें। चौथा दिन अन्तिम दिन होता है। उस दिन जाबर
यर देकर कीमत ले लेता है और सौदा समाप्त हो जाता है।

भारत में जो स्टाक एक्सचेंज हैं, उनमें जाबर नहीं हैं, ब्रोकर ही दोनों
ाम करते हैं। यह यहाँ की स्टाक एक्सचेंज का दोष है।

स्टाक एक्सचेंज से लाभ : स्टाक एक्सचेंज से बहुत से लाभ हैं। हम
ीचे उनके विषय में कुछ लिखेंगे :—

(१) स्टाक एक्सचेंज से पहला लाभ यह है कि विनियोजित पूँजी
invested capital) के लिए बाजार उपलब्ध होता है। कोई भी शेयर-
ोल्डर जब चाहे अपने शेयर बाजार में बेचकर उन्हें नकदी में बदल सकता है
ौर जब चाहे अपने रुपये को शेयरों को खरीद कर धन्धों में लगा सकता है।
स प्रकार धन्धों में लगी हुई पूँजी भी तरल (liquid) हो जाती है।

(२) स्टाक ऐक्सचेंज के सगठन में इतनी ऊँचे दर्जे की व्यापारिक
ैतिकता देखने को मिलती है इससे पूँजी लगाने वालों को उनका बहुत भरोसा
ोता है और उद्योग धर्धों में नई पूँजी आकर्षित होती है। यदि धर्धों में लगी
ुई पूँजी को शीघ्र ही नकदी में परिणत करने की व्यवस्था न हो, तो उद्योग-
धर्धों में नई पूँजी नहीं आवे। आधुनिक बड़ी मात्रा का उत्पादन तभी सम्भव
होता है, जबकि यथेष्ट मात्रा में पूँजी (capital) धर्धों की ओर आकर्षित
होती है। बिना स्टाक एक्सचेंज के धर्धों में पूँजी आकर्षित नहीं हो सकती।

(३) किसी कम्पनी के हिस्से अथवा सरकारी ऋण की वास्तविक कीमत
स्टाक एक्सचेंज में ही तय होती है। कारण यह है कि स्टाक एक्सचेंज में कारबार
करने वाले बड़े अनुभवी और दक्ष व्यापारी होते हैं। वे किसी भी शेयर का
वास्तविक मूल्य जान लेते हैं। यह ठीक है कि वे लोग कभी-कभी सट्टा
(speculation) के द्वारा शेयरों का मूल्य घटा-बढ़ा देते हैं; किन्तु वह
अस्थायी होता है और आगे-पीछे वास्तविक मूल्य निर्धारित हो जाता है।

प्रोड्यूस एक्सचेंज (Produce Exchange) : जिस प्रकार स्टाक एक्सचेंज में शेयरों की खरीद-बिक्री होती है, उसी प्रकार प्रोड्यूस एक्सचेंज में खेती की पैदावार जैसे कपास, जूट, गेहूं, चना, तिलहन इत्यादि का सौदा होता है। इन एक्सचेंजो को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। कहीं ये मर्चेण्ट एसोसियेशन कहलाते हैं, तो कहीं चैम्बर या कम्पनी कहलाती हैं। केवल सदस्य ही इनमें कारबार या सौदा कर सकते हैं। और उन्हीं व्यापारियों अथवा फर्मों को सदस्य बनाया जाता है जो कि धनी और पूँजीवाले होते हैं। कोई भी सदस्य एक कोठे (५०० मन) से कम का सौदा नहीं कर सकता, और प्रत्येक सदस्य को प्रति कोठा १०० रु० का मार्जिन रखना पड़ता है। मार्जिन १०० रु० से कम नहीं हो सकता है। यदि मार्जिन १०० रु० से नीचे गिरता है तो एसोशियेशन या तो सौदे को समाप्त कर देती है अथवा उससे पहले कि मार्जिन अपर्याप्त हो जावे उस सौदे को तय कर देता है।

बाजार में दो तरह के सौदे होते हैं। (१) हाजिर माल (spot) का सौदा जिसमें सौदे को तुरन्त उसी समय पूरा करना पड़ता है (२) अग्रिम सौदे (forward transaction) जब कि सौदा प्रचलित कीमत पर होता है किन्तु माल की सुपुर्दगी भविष्य मे निश्चित तारीख को होती है। सौदे भारतीय महीनो के अनुसार होते हैं। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति आज के प्रचलित मूल्य पर वैशाख, जेष्ठ, अषाढ, भाद्रपद, असोज, मगहर, तथा माघ इत्यादि के लिए सौदा कर सकता है। जिस मास का सोदा है, उसके पहले पक्ष में (१५ दिन मे) विक्रेता को यह अधिकार होता है कि वह खरीदार से माल की सुपुर्दगी (delivery) लेने को कहे और अन्तिम पन्द्रह दिन में खरीदार को यह अधिकार होता है कि वह विक्रेता से माल की सुपुर्दगी की माँग करे। मास के अन्तिम दिन या तो खरीदार माल की सुपुर्दगी माँग सकता अथवा विक्रेता खरीदार को माल लेने का नोटिस दे देता है। उदाहरण के लिए, यदि जेष्ठ का सौदा है तो पहले पन्द्रह दिन में विक्रेता खरीदार से माल की सुपुर्दगी लेने को कह सकता है, और पिछले १५ दिनों में खरीदार माल की सुपुर्दगी माँग सकता है। महीने के अन्तिम दिन खरीदार या विक्रेता को भी माल की सुपुर्दगी लेने या देने की माँग कर सकता है।

यदि खरीदार से माल की सुपुर्दगी लेने को कहा जावे, और वह माल की सुपुर्दगी नहीं लेता है, अथवा खरीदार को माँगने पर विक्रेता माल की सुपुर्दगी नहीं देता है, तो एसोशियेशन या चैम्बर सौदे को पूरा कर देता है और जो भी दोषी होता है उसको हानि भरनी पड़ती है। जबकि खरीदार मा

ी सुपुर्दगी माँगता है तो उसको माल की कीमत की २५ प्रतिशत रकम चैम्बर ा कम्पनी के पास जमा करनी पड़ती है। विक्रेता कम्पनी से उसकी जमा की हुई रकम को लेकर माल की सुपुर्दगी कम्पनी को दे देता है।

यदि कोई एक पक्ष सौदे को पूरा करने मे असफल रहता है, तो वह उस सौदे को नई कीमत पर बनाये रख सकता है, किन्तु वह कीमत दूसरे पक्ष के अनुकूल होगी। किन्तु पुराना हिसाब चुकता हो जाना चाहिए। दोनों कीमतों में जो अन्तर हो उसके हिसाब से सौदे पर जो भी रकम निकले वह उस पक्ष को दूसरे पक्ष को देनी होती है जो अपना सौदा पूरा नहीं कर सका। उदाहरण के लिए, यदि 'क' ने एक लाख मन गेहूँ १६ रु० के भाव पर जेष्ठ मे सुपुर्दगी के लिए 'ख' को बेचे। अब जेष्ठ में गेहूँ का भाव १७ रु० मन होगया और जेष्ठ के अन्तिम दिन भी 'क' 'ख' को माल की सुपुर्दगी नहीं दे सका, तो मान लीजिए कि 'क' सौदे को १७ रु० पर भादों के लिए बनाये रखना चाहता है। ऐसी दशा में 'क' का कर्तव्य होगा कि वह 'ख' को एक लाख रुपए देकर पहला सौदा तय कर दे। इसके विरुद्ध यदि कीमत गिर गई है, तो खरीदार को कीमत का अन्तर बेचने वाले के लिए चुका देना होगा।

सट्टा (Speculation) : बाजार में जो सौदे होते हैं वे सदैव वास्तविक या यथार्थ में खरीद-बिक्री के सौदे हों, ऐसा नहीं होता। बहुत से सौदे केवल सट्टे के लिए ही होते हैं। जो लोग सट्टे के सौदे के लिए सौदा करते हैं, वे सच्चे अर्थों मे खरीदार अथवा विक्रेता नहीं होते, क्योंकि न तो खरीदार उस वस्तु तो खरीदना ही चाहता है और न बेचने वाले के पास वह वस्तु होती है। सटोरिये (Speculators) केवल किसी वस्तु को इसलिए खरीदते और बेचते हैं, क्योंकि उनका अनुमान होता है कि उस वस्तु की कीमत भविष्य मे बढ या घट जावेगी। जो सटोरिये यह समझते हैं कि वस्तु की कीमत आगे चलकर बढ जावेगी, वे प्रचलित कीमत पर भविष्य (दो या तीन महीने) की सुपुर्दगी के लिए वस्तु को खरीद लेते हैं। और जो सटोरिये यह समझते हैं कि भविष्य मे उस वस्तु की कीमत घट जावेगी, वे प्रचलित या वर्तमान कीमत पर भविष्य में सुपुर्दगी (delivery) के लिए उस वस्तु को बेच देते हैं। जब सुपुर्दगी (delivery) का समय आता है और यदि खरीदार सटोरिये का अनुमान सही निकलता है, वस्तु की कीमत बढ जाती है, तो खरीदार वस्तु को न लेकर केवल कीमत के अन्तर को लेकर सौदा समाप्त कर देता है। और यदि बेचने वाले सटोरिये का अनुमान सही निकलता है और वस्तु की कीमत घट जाती है, तो वह वस्तु न देकर केवल कीमत के अन्तर को लेकर सौदा

समाप्त कर देना है। हम एक उदाहरण देकर इसको अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना कीजिए कि एक सटोरिया जो कपास का सट्टा करता है, संसार भर में कपास की पैदावार, उसकी सम्भावित माँग का तथा अन्य बातों का अध्ययन करके इस अनुमान पर पहुँचता है कि अगली फसल में कपास की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी और कपास की कीमत ऊँची चढ़ जावेगी। वह प्रचलित कीमत (४० रु० मन) पर एक लाख मन कपास ६ महीने के बाद सुपुर्दगी लेने के लिए खरीद लेता है। इसके विपरीत एक दूसरा सटोरिया यह समझता है कि भविष्य में कपास की कीमत गिर जावेगी। अतः वह प्रचलित कीमत (४० रु० मन) पर ३ महीने के बाद सुपुर्दगी देने के वायदे पर एक लाख मन कपास वेच देता है। ३ महीने के बाद कपास की कीमत ४५ रु० मन हो जाती है। खरीदार सटोरिये का अनुमान ठीक निकलता है। ऐसी दशा में न तो खरीदार सटोरिया कपास लेना चाहेगा और न वेचने वाले सटोरिये के पास कपास देने को है, केवल वेचने वाला सटोरिया खरीदने वाले सटोरिये को पाँच लाख रुपए देकर सौदा समाप्त कर देगा। और यदि कपास की कीमत गिर जाती है अर्थात् ३५ रु० प्रति मन हो जाती है, तो खरीदने वाला सटोरिया पाँच लाख रुपए वेचने वाले सटोरिये को देकर सौदा समाप्त कर देगा। कहने का तात्पर्य यह है, कि सट्टे का सौदा प्रचलित कीमत पर भविष्य में तय करने के लिए केवल लाभ प्राप्त करने की आशा से किया जाता है न कि वास्तव में उस वस्तु को खरीदने या वेचने के लिए किया जाता है।

यदि कोई व्यक्ति आज गेहूँ खरीदता है और आज ही उसको तय कर देता है, अर्थात् कीमत चुका कर माल ले लेता है, तो यह सट्टा नहीं हुआ, यह नकद खरीद हुई। यदि कोई व्यक्ति आज किसी वस्तु को खरीदता, किन्तु उसकी कीमत आज न चुकाकर कुछ समय बाद चुकाता है, तो यह भी सट्टा नहीं हुआ। यह साख (credit) पर खरीदना हुआ। नकद खरीद और साख का सौदा हाजिर माल (spot) के सौदे हैं।

यदि कोई व्यक्ति गेहूँ का सौदा इस शर्त पर करता है, कि वह एक लाख मन गेहूँ दो महीने के उपरान्त खरीदेगा, परन्तु कीमत वह होगी जो दो महीने के बाद प्रचलित हो, तो यह भी सट्टा नहीं हुआ। सट्टे के लिए यह आवश्यक है कि सौदा उसी दिन की कीमत पर किया जावे जिस दिन सौदा किया गया है, न कि भविष्य की कीमत पर।

यदि कोई व्यक्ति प्रचलित कीमत पर भविष्य में माल की सुपुर्दगी लेने का

र्न पर खरीदे, किन्तु वह उसके निजी उपभोग के लिए हो न कि फिर बेचकर ाभ प्राप्त करने के लिए, तो वह भी सट्टा नहीं हुआ। क्योंकि सट्टा लाभ के लिए ोता है न कि पारिवारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए।

अस्तु, सट्टे में नीचे लिखी बातें होना आवश्यक है :—

(क) सौदा प्रचलित कीमत पर किया जावे।

(ख) सौदा किसी अगली तारीख पर किया जावे।

(ग) और वह सौदा केवल लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया ावे। इसमें माल की न तो सुपुर्दगी दी जाती है और न ली जाती है, केवल ीमतों का अन्तर दिया और लिया जाता है।

इस प्रकार के सट्टे के सौदे शेयर बाजार में तथा कपास, गेहूँ, जूट, सोना, ाँदी के प्रोड्यूस एक्सचेंज में किये जाते हैं। जो लोग कि अपनी बचत को ोयर खरीद उससे डिवीडेंड (लाभ) कमाना चाहते हैं, वे सटोरिये नहीं कहे ा सकते, परन्तु जो लोग कि शेयर इस दृष्टि से खरीदते हैं कि उनकी कीमत बढ़ते ही उनको बेचकर लाभ उठावेंगे, वे अवश्य ही सटोरिया होते हैं। सट्टे के सौदे संगठित बाजारों अर्थात् प्रोड्यूस, शेयर, तथा बुलियन एक्सचेंज में ही सम्भव हो सकते हैं।

सट्टे को भविष्य के सौदे भी कहते हैं। जिस वस्तु में सट्टा किया जा सके उसमें नीचे लिखे गुण होना आवश्यक है।

(क) उसकी माँग परिवर्तनशील होनी चाहिए, किन्तु उसकी पूर्ति भी ही परिवर्तनशील न हो। नहीं तो लाभ की सम्भावना कम होगी।

(ख) वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि उसका [illegible] हो सके जिससे कि सौदे के समय कोई भ्रम न हो और [illegible] स्टाक को या उसके नमूने को देखने की ज़रूरत न रहे।

(ग) उसकी विस्तृत माँग होनी चाहिए।

(घ) उसको ठीक-ठीक नापा जा सके।

यों देखा जावे तो प्रत्येक धन्धे या व्यापार में [illegible], और प्रत्येक व्यापारी को वह जोखिम उठाना पड़ता है। [illegible] प्राप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए जब कोई [illegible] करता है, तो वह उस वस्तु के, जिसे वह [illegible] उसकी कीमत का हिसाब लगाता है। और [illegible] कारखाना स्थापित करता है। अब यदि [illegible]

भूल हो अथवा माँग का अनुमान करने में भूल हो जावे, तो उसको हानि हो सकती है। प्रत्येक धन्धे या व्यापार में जोखिम होता है। सटोरिया उस जोखिम को कम करने का प्रयत्न करता है। सट्टे का मूल भविष्य को देख सकने या जान सकने में छिपा होता है। सट्टा करने वाला अध्ययन करके अपनी व्यापारिक बुद्धि से भविष्य में किसी वस्तु की कीमत में होने-वाले हेर-फेर को जानकर उस जानकारी से लाभ कमाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति कपास का सट्टा करता है, तो उसे सयुक्तराज्य अमेरिका, मिस्र, सुडान, भारत, पाकिस्तान इत्यादि कपास उत्पन्न करने वाले देशों में कितने एकड़ों में कपास बोई गई है, इसकी जानकारी रखनी होगी। पिछले वर्ष से अधिक भूमि पर कपास बोई गई है अथवा कम पर इसका और प्रति सप्ताह फसल की कैसी दशा है इसका अध्ययन करता रहेगा। कहीं कोई कपास का कीडा तो पैदा नहीं होगया है इत्यादि का भी जानकारी रखेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि वह यह जानने का प्रयत्न करेगा कि अगले वर्ष कपास कितनी उत्पन्न होगी। साथ ही वह माँग का भी अध्ययन करेगा। जो भी बातें माँग पर प्रभाव डालती हैं, उनकी जानकारी प्राप्त करेगा। उदाहरण के लिए वह देखेगा, कि कहीं युद्ध इत्यादि की सम्भावना तो नहीं है। अब यदि उसका अनुमान है कि अगले वर्ष कपास की कीमत ऊँची हो जावेगी तो वह लाभ के लिए प्रचलित कीमत पर कपास खरीदने लगेगा। इसी प्रकार जो शेयरों का सट्टा करते हैं वे उस धन्धे तथा उस कारखाने की स्थिति का अध्ययन करते हैं। और यदि उनका अनुमान होता है कि भविष्य में लाभ अधिक होने की सम्भावना है, तो वे प्रचलित कीमत पर शेयर खरीद लेते हैं। और यदि उनका अनुमान यह है कि लाभ कम होगा या नहीं होगा, तो शेयरों को बेच देते हैं। सट्टे का कारबार तीन प्रकार का होता है। हम उनके सम्बन्ध में नीचे लिखेंगे —

(१) उचित व्यवसाय (Legitimate Enterprise) : इस प्रकार का कारबार वह व्यक्ति करता है, जो कि उस धन्धे या व्यवसाय का जानकार होता है। वह उस वस्तु की भावी ठीक-ठीक माँग का अन्दाज लगाकर उस अनुमानित माँग के लिए उत्पादन (production) करता है और माल कमाता है। इस प्रकार के व्यवसाय मे जोखिम का अ श कम होता है और कुशल व्यवसायी या साहसी उसको अपनी चतुराई से और भी कम कर सकता है।

(२) उचित सट्टा (Legitimate Speculation) : इस प्रकार का सट्टा वह लोग करते हैं जो कि अपने व्यापार मे अत्यन्त कुशल होते हैं। वे वैज्ञानिक ढग से कारबार करते हैं। उनका मुख्य कार्य यह होता है कि वे किसी वस्तु का

वी माँग (demand) और पूर्ति (supply) का ठीक-ठीक अनुमान गाले। इसके लिए जो भी उत्पादन-सम्बन्धी आँकड़े तथा अन्य जानकारी प्राप्त ती है, उसका अध्ययन करते हैं। सभी देशों में फसलों के भावी अनुमान काशित होते रहते हैं। वह उनका अध्ययन करके पूर्ति का अनुमान करता है। ांग का अनुमान करने के लिए वह राजनैतिक स्थिति, युद्ध आदि की सम्भावना यादि का अध्ययन करता है। इस अध्ययन के आधार पर वह भावी कीमतों ा अनुमान करता है, और इसके अनुसार वह सौदा करता है। इस प्रकार ज्ञानिक ढग से सारी स्थिति का अध्ययन करके ही वह सट्टे का सौदा करता है। से उचित सट्टा (proper speculation) कहते हैं। वैज्ञानिक ढग से सट्टा रने वाला एक अत्यन्त उपयोगी सेवा करता है, अर्थात् वह अध्ययन करके किसी वस्तु की भावी माँग और पूर्ति का ठीक अनुमान लगाने का प्रयत्न करता । परन्तु फिर भी उसके कारबार में जोखिम बहुत अधिक होती है। क्योंकि व कुछ ध्यान रखने हुए भी उसका अनुमान गलत निकल सकता है और उसको ारी हानि उठानी पड़ सकती है।

जुआ अथवा अनुचित सट्टा (Gambling or improper speclation) जब कोई सटोरिया आँख बन्द करके केवल भाग्य के भरोसे लाभ माने के लिए सौदा करता है, तो वह सट्टा नहीं करता, जुआ खेलता है। वह किसी बात का अध्ययन नहीं करता, वरन् केवल लाभ कमाने के लिए भाग्य के रोसे खरीदता या बेचता रहता है। वह अँधेरे में कूदता है। उसको भावी ाँग या पूर्ति की कोई जानकारी नहीं होती। यह सटोरिये बाजार को बिगाड़ ते हैं। कभी कभी तो यह सटोरिये अपनी आर्थिक-मृत्यु कर लेते हैं, क्योंकि न्हें अधिकतर हानि ही होती है। परन्तु एक बड़ी हानि यह होती है कि वे ाजार में गड़बड़ी फैलाते हैं। इसका फल यह होता है कि जो सट्टा नहीं करता रन् शेयर इत्यादि में पूँजी लगाना चाहता है, उसे धोका हो जाता है और ानि हो जाती है। उदाहरण के लिये अंधे सटोरिये किसी कम्पनी के ेयरों को अंधाधुंध खरीदकर उसकी कीमत को ऊँचा कर देते हैं, और साधारण खरीदार समझता है कि इसके हिस्सों को खरीदना लाभदायक होगा। अत वह उन हिस्सों को बेचकर लाभ कमा लेते हैं और बेचारे वास्तविक पूँजी लगाने वालों को हानि उठानी पड़ती है। इस प्रकार का सट्टा केवल जुआ मात्र होता है। उचित और अनुचित सट्टे में केवल यही भेद है कि पहले में विशेषज्ञ तथा कुशल व्यापारी माँग और पूर्ति का अध्ययन करके सौदा करते हैं, और दूसरे में सटोरिये केवल अंधे बनकर जुआ खेलते हैं।

सट्टे के बाजार में व्यवहार होने वाले कुछ शब्द

तेजड़िये (Bulls) : तेजड़िये या बुल्स वे व्यापारी होते हैं, जो शेयर बाजार में इस आशा से शेयर खरीदते हैं कि शीघ्र उन शेयरों की कीमत ऊँची हो जावेगी।

बियर (Bears) : बियर वे व्यापारी होते हैं, जिन्हें यह आशा होती है शेयर की कीमत गिरने वाली है, अतः वे शेयर बेचते हैं। एक ही व्यक्ति एक ही समय तेजड़िया या बुल हो सकता है जब कि वह कीमत ऊँचे जाने की आशा से शेयर खरीदता है, और दूसरे समय वह समझता है कि शेयर की कीमत नीचे जाने वाली है तो वह उसको बेचता है।

जब कि शेयरों की कीमत ऊँची चढ रही होती है, तो हम उसे "तेजी का बाजार" (bullish market) कहते हैं और जब शेयरों की कीमत नीचे गिर रही होती है तो हम उसे "मन्दी का बाजार" (bearish market) कहते हैं।

जोखिम रक्षण (Hedging) : यह एक तरीका है कि जिससे उत्पादन या निर्माणकर्त्ता (manufacturer) कीमतों के परिवर्तन से होने वाली जोखिम से अपनी रक्षा करता है। उसको अपने कारखाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा मे कच्चा माल (raw material) खरीद कर महीनों तक रखना पड़ता है। यदि उस बीच मे उस कच्चे माल की कीमत गिर जाती है, तो उसे हानि होगी और यदि कीमत ऊँची हो जाती है तो उसे लाभ होगा। वह कच्चे माल का व्यापारी नहीं है, अत. वह इस प्रकार की जोखिम नहीं ले सकता। उसके लिए तो उत्पादन की जोखिम ही बहुत है। अतएव वह कच्चे माल की कीमत में होने वाले परिवर्तन से उत्पन्न होने वाली जोखिम को जहाँ तक हो कम करना चाहता है, और वह ऐसा कर सकता है। उदाहरण के लिए हम एक गेहूँ का आटा तैयार करने वाले कारखाने को लेते हैं। मान लीजिए कि कारखाना ८ रुपये प्रति मन कीमत पर दो लाख मन गेहूँ बाजार से खरीद कर पीसने के लिए भरता है। आगे चलकर कीमत गिर कर ७ रुपये मन हो जाती है, अर्थात् प्रति मन उसे एक रुपया का घाटा होता है और उसे दो लाख रुपये की हानि हो जाती है। किन्तु यदि गेहूँ की कीमत बढ़कर १० रु० प्रतिमन हो जावे, तो उसे चार लाख रुपया का लाभ हो जावेगा। कारखाने का स्वामी इस हानि को बचाना चाहता है। उसे इसकी चिन्ता नहीं है कि उसे यह लाभ भी न मिले। वह गेहूँ का व्यापारी नहीं है, वह तो आटे का

लाभ प्राप्त करना चाहता है। वह इस हानि को 'जोखिम रक्षण'
ng) के द्वारा बचा सकता है। जब कि वह ८ रु० मन पर दो लाख
'हाजिर माल बाजार" (spot market) में खरीदता है, तभी
कीमत पर दो लाख मन गेहूँ "अग्रे बाजार" (forward market)
ता है। मान लीजिए कि आगे चलकर गेहूँ की कीमत गिर कर ६ रु०
हो, तो क्या परिणाम होगा। उसने जो दो लाख मन गेहूँ खरीदा है
उसे चार लाख रुपये की हानि होगी, और जो उसने दो लाख मन गेहूँ
उस पर उसे चार लाख रुपये का लाभ होगा। कहने का तात्पर्य यह है
पर उसे जितनी हानि होगी, दूसरे सौदे पर उतना ही लाभ होगा।
तो लाभ होगा और न हानि ही होगी। यही वह चाहता था। वह तो
आटा पीसने से होने वाला लाभ चाहता था। वह उसको मिल जावेगा।
क़ीमत में उलट फेर से होने वाली हानि या लाभ से वह बच जावेगा।

विकल्प (Options) : किसी घाटे के सौदे से निकल जाने के विकल्प
tion) को खरीदा जाता है। 'विकल्प' तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) क्रय विकल्प (Call Option) . कल्पना कीजिए कि किसी व्यापारी
रु० प्रति मन के हिसाब से गेहूँ खरीदा है, किन्तु जब सौदा
आता है तो गेहूँ की कीमत गिर कर ६ रु० प्रति मन रह जाती है। इसका
यह होता है कि प्रति मन पर व्यापारी को २ रु० की हानि होती है।
लीजिए कि उसने दस हजार मन गेहूँ खरीदने का सौदा किया था, तो
को बीस हजार रुपये की हानि होगी किन्तु यदि उसने एक आना प्रति मन
हिसाब से देकर 'क्रय विकल्प' खरीद लिया है, अर्थात् उसे यह अधिकार
कि चाहे वह खरीदे या न खरीदे तो वह अपने उस अधिकार को काम में
वेगा और गेहूँ नहीं खरीदेगा। उसे केवल एक मन पर एक आने की हानि
गी और वह दो रुपये प्रति मन की हानि से बच जावेगा।

विक्रय विकल्प (Put Option) : विक्रय विकल्प को खरीदने
वाले को अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह चाहे तो बेचे या न बेचे।
उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यापारी ने एक लाख मन गेहूँ ८ रु० प्रति मन
पर बेचने का सौदा किया है, और एक आना प्रति मन देकर 'विक्रय-विकल्प'
खरीद लिया है। जब कि सौदा तय करने का समय आता है, तो गेहूँ का भाव
१० रुपया मन हो जाता है। यदि बेचने वाला व्यापारी १ लाख मन गेहूँ बेचे
तो उसे दो लाख रुपये की हानि होगी। परन्तु उसने विक्रय-विकल्प खरीद लि

है, अत, वह गेहूँ बेचना अस्वीकार कर देगा। उसको केवल एक आना प्रति मन के हिसाब से हानि होगी।

उभय विकल्प (Double Option) अर्थात् क्रय और विक्रय विकल्प जो व्यापारी कि 'उभय विकल्प' खरीद लेता है, उसे यह अधिकार होता है कि चाहे तो खरीदे, चाहे बेचे। यदि उसको बेचना लाभदायक होता है, तो बेच देता है और यदि उसे खरीदना लाभदायक होता है तो वह खरीद लेता है। वह बेचेगा या खरीदेगा यह चुनने का अधिकार उसको होता है जिसने 'उभय विकल्प' खरीद लिया है। किन्तु 'उभय विकल्प' खरीद लेने से यह निश्चय नहीं हो जाता कि व्यापारी को लाभ अवश्य ही होगा। यह इस बात पर निर्भर रहता है कि 'उभय-विकल्प' खरीदने के लिए प्रति मन उसे क्या देना पड़ा और कीमत में कितना परिवर्तन हुआ। यदि व्यापारी ने 'उभय विकल्प' खरीदने के लिए चार आना प्रति मन दिया है और उस वस्तु की कीमत केवल चार आना प्रतिमन ही बढी या घटी है तो उसे न तो लाभ होगा और न हानि होगी। किन्तु यदि वस्तु की कीमत मे चार आना प्रति मन से अधिक घटा बढी हुई तो उस व्यापारी को लाभ होगा या हानि होगी। क्योंकि यदि कीमत बढी है तो वह बेच देगा और घटी है तो खरीद लेगा। किन्तु यदि कीमत उससे कम घटी या बढी है जितना कि उसने 'उभय विकल्प' को खरीदने में प्रति मन दिया है, तो उसे हानि होगी। फिर चाहे वह खरीदे या बेचे।

बाजार मुट्ठी मे करना (Cornering the Market): जब कोई व्यापारी अथवा व्यापारियों का गुट बाजार में किसी वस्तु की जितनी पूर्ति हो उसको अपने अधिकार में कर लेता है, अथवा उस वस्तु का अधिक भाग अपने अधिकार मे कर लेता है, तो उसे 'बाजार मुट्ठी में करना" कहते हैं। बाजार मुट्ठी में करने का मुख्य उद्देश्य पूर्ति (supply) पर नियंत्रण स्थापित करना और एकाधिकार कीमत (monpoly price) वसूल करना होता है। जब कि यातायात तथा संदेशवाहन के साधन इतने उन्नत नहीं थे, और अत्यधिक धनी व्यक्तियों की सख्या कम थी, तब बाजार को मुट्ठी मे कर लेना सरल था। किन्तु आजकल बाजार को मुट्ठी मे कर लेना उतना आसान नहीं है। कपास, जूट, सोना या चाँदी की समस्त पूर्ति को खरीदने के लिए बहुत धन-राशि चाहिये, जो कि हर एक के पास नहीं। यदि कोई इस प्रकार का प्रयत्न करे भी तो वह असफल होगा। क्योंकि लोग उस वस्तु को ससार के अन्य भागों से मँगा लेंगे और 'कारनर' टूट जावेगा।

सट्टे (Speculation) के लाभ : सट्टे से समाज को वहुत से आर्थिक लाभ होते हैं। किन्तु शर्त यही है कि सट्टा वही लोग करें जो कि वैज्ञानिक ढग से माँग (demand) और पूर्ति (supply) का अध्ययन करके सौदा करते हैं। सट्टे का एक वहुत वड़ा लाभ यह है कि उससे कीमतें अधिक स्थायी रहती हैं, उनमें एक साथ तेजी से वहुत अधिक घटा-बढ़ी नहीं होती। हम एक उदाहरण को लेकर इसे समझाने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना कीजिए कि अक्टूवर या नवम्बर के महीने में सट्टा करने वाले व्यापारी गेहूँ की माँग और पूर्ति का अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अगली फसल में अप्रैल, मई में गेहूँ की कीमत वढ जावेगी। अक्टूवर में गेहूँ की कीमत १० रु० मन है। वे गेहूँ खरीदने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गेहूं की माँग वढ जाती है और कीमत १० रुपये प्रति मन से बढकर क्रमशः १४ रु० प्रति मन हो जाती है। अब जब अप्रैल मई में नई गेहूँ की फसल आती है, तो उसकी कीमत १८ रु० प्रति मन हो जाती, यदि सट्टा न होता। किन्तु क्योंकि सट्टा करने वालों ने अक्टूवर, नवम्बर में वहुत अधिक राशि में गेहूँ खरीद रक्खा था, उसे वे मई से वेचेंगे। इसका फल यह होगा कि नई फसल तो आवेगी ही, पिछला स्टाक भी वाजार में आ जावेगा और पूर्ति बढ जावेगी। कल्पना कीजिए कि सट्टा करने वालों के इस प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि गेहूँ की कीमत १६ रु० प्रति मन होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सट्टा करने वालों के प्रयत्न के फलस्वरूप गेहूँ की कीमत में नवम्वर और मई में केवल २ रु० प्रति मन का अन्तर हुआ (१६ रु०—१४ रु०)। यदि सट्टा न किया जाता तो अक्टूवर, नवम्वर में गेहूँ की कीमत १० रु० मन ही वनी रहती और फसल पकने पर माँग की अधिकता तथा पूर्ति की कमी के कारण गेहूँ की कीमत १८ रु० प्रति मन हो जाती अर्थात् कीमत में एक साथ ८ रु० प्रति मन का अन्तर आ जाता।

जब कि जानकार और कुशल सटोरिये यह अनुमान करते हैं कि कीमतें ऊँची जावेंगी तो वे उसी समय खरीदारी करने लगते हैं, जिससे कि वे उस माल को भविष्य में ऊँची कीमत पर वेच कर लाभ उठा सकें। वर्तमान खरीदारी से उस वस्तु का मूल्य तुरन्त कुछ ऊँचा चढ जावेगा और भविष्य में वेचने के कारण उस समय उस वस्तु की कीमत एक साथ वहुत ऊँची नहीं चढेगी। इसका परिणाम यह होगा कि वर्तमान कीमत और भावी कीमत का अन्तर कम हो जावेगा।

इसी प्रकार यदि जानकार और कुशल सट्टा करने वाले व्यापारियों

यह अनुमान हो कि भविष्य मे कीमतें गिर जावेंगी तो वे उस समय अपनी खरीदारी बद कर देंगे और इस समय भविष्य में माल की सुपुर्दगी देने के वादे पर वेचने लगेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस वस्तु की माँग तुरन्त कम हो जावेगी और वेचने के कारण उसकी कीमत तुरन्त गिरने लग जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि जब नई फसल आवेगी और पूर्ति की अधिकता और माँग की कमी के कारण उस वस्तु की कीमत गिरेगी, तो कीमतों में उतना अधिक अन्तर नहीं होगा जितना कि सट्टा न होने की दशा में होता है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जानकार और कुशल सटोरियों के सट्टा करने का परिणाम यह होता है कि कीमतों मे बहुत अधिक और अकारण परिवर्तन नही होता। यदि कीमते अधिक वढने वाली होती हैं, तो कम वढती हैं और यदि अधिक गिरने वाली होती हैं तो कम गिरती हैं। इस प्रकार सट्टे से कीमतों में स्थिरता आती है। सट्टा करने वाले व्यापारी माँग और पूर्ति का अच्छा सनुलन बिठा लेते हैं।

तेजी से कीमतों मे परिवर्तन होना समाज के लिए हानिकारक होता है। इससे आर्थिक जीवन मे अस्थिरता और अनिश्चितता आती है और उसका उद्योग धन्धों और व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव सट्टे करने वाले व्यापारी कीमतों में स्थिरता लाकर समाज की बड़ी सेवा करते हैं।

स्थिर कीमतें उपभोक्ता, उत्पादन तथा समाज सभी के लिए उपयोगी और लाभदायक हैं।

(१) जब कीमते स्थिर होती हैं, तो उपभोक्ताओं को लाभ होता है। वह अपने व्यय का ठीक-ठीक अनुमान कर सकता है। कीमतो म बहुत अधिक परिवर्तन होने से उसका पारिवारिक बजट गड़बड़ हो जाता है और उसकी आर्थिक स्थिति अनिश्चित हो जाती है। यदि कीमतें अस्थिर होती हैं तो उपभोक्ता अपने उपभोग (consumption) की ठीक व्यवस्था नहीं कर पाता। अस्तु, सट्टे के द्वारा उपभोक्ता को सहायता मिलती है।

(२) उत्पादक (Producer) . सट्टे से उत्पादकों को भी लाभ होता है। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली में उत्पादन माँग से बहुत पहले किया जाता है, या यों कहना चाहिए कि माँग की प्रतीक्षा में किया जाता है। कच्चे माल की कीमतों म थोड़ा हेर-फेर होने से उत्पादन का सारा अनुमान और हिसाब गलत हो जाता है। उत्पादन मे प्रत्येक स्थान पर जोखिम होती है। सट्टा करने वाले प्रत्येक स्थान मे जोखिम को अपने ऊपर ले लेते हैं। और उत्पादक को उस जोखिम से बचा देते हैं। सट्टे से कच्चे माल की कीमत स्थिर हो जाती है और उत्पादक

क़ीमतों के परिवर्तन से होने वाली झंझट और हानि से बच जाता है। भावी क़ीमतों के परिवर्तनों को जान लेने का काम सट्टा करने वालों का होता है और वह उस जानकारी से लाभ उठाते हैं। सट्टा करने वाले अपनी कुशलता और व्यापारिक ज्ञान के द्वारा कीमतों के भावी परिवर्तन को समझ लेते हैं और उस जानकारी से लाभ कमाने के अतिरिक्त कीमतों को स्थिरता प्रदान करते हैं। इससे उत्पादकों तथा निर्माणकर्ताओं को बहुत लाभ होता है। जोखिम रक्षण (hedging) के द्वारा निर्माणकर्ता कच्चे माल की कीमतो के हेर-फेर से होने वाली हानि से बच जाता है।

समाज के लिए भी सट्टे से लाभ होता है। क्योंकि सट्टा करने वाले समाज का ध्यान किसी वस्तु की सम्भावित कमी या बहुलता की ओर खीचते हैं। यदि किसी वस्तु की आगे चलकर कमी पड़ने वाली है, तो उसकी उसी समय से किफायत होनी चाहिए, और यदि आगे चलकर उसकी बहुलता होने वाली है तो उसको अधिक राशि में रखना अनावश्यक और हानिकारक होगा। सट्टा करने वाले यह चेतावनी देकर समाज की बहुमूल्य सेवा करते हैं।

सट्टे से यह लाभ भी होता है कि वस्तु का ठीक-ठीक वितरण हो जाता है। ऐसा नहीं होता कि एक स्थान पर वस्तु अधिक हो और दूसरे स्थान पर कमी अनुभव होती रहे। सट्टा करने वाले केवल यही नहीं जानते हैं कि कीमतें ऊँची चढेंगी या गिरेंगी, वरन् यह भी जानते हैं कि किस स्थान पर कीमतें नीची हैं और किस स्थान पर कीमतें ऊँची हैं। सट्टा करने वाले तुरन्त ही वस्तु को उस स्थान को भेजने लगते हैं जहाँ कीमतें चढी होती हैं। इसका फल यह होता है कि जहाँ उस वस्तु की कीमत नीची होती है, वहाँ कीमत कुछ ऊँची हो जाती है और जहाँ कीमत ऊँची होती है वहाँ कुछ नीची हो जाती है। इस प्रकार उस वस्तु का भिन्न-भिन्न स्थानो पर वितरण समान हो जाता है। सट्टा करने वाले किसी वस्तु की पूर्ति (supply) को बढा नहीं सकते और न उसको घटा ही सकते हैं। वे अपने प्रयत्नों द्वारा वर्तमान और भविष्य के बीच मे तथा एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच मे उस वस्तु की माँग और पूर्ति का सतुलन या सामजस्य अधिक अच्छा बिठा देते हैं।

सट्टे के दोष · जहाँ सट्टे के ऊपर लिखे गुण हैं वहाँ उसके भयंकर दोष भी हैं। यदि अनाड़ी लोग सट्टा करते हैं, तो वह सट्टा न रहकर जुआ हो जाता है। वे अधे होकर भाग्य पर निर्भर रहकर जुआ खेलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब बेचना चाहिए तब वह खरीदते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कीमतों में स्थिरता लाने के स्थान पर वे कीमतों को बहुत अधिक

अस्थिर बना देते हैं। इस प्रकार के सट्टे की जितनी भी निन्दा की जावे उत्
ही कम है।

कभी-कभी इस प्रकार के सटोरिये और फाटके वाले बाजारों मे आर्थिक
सकट उपस्थित कर देते हैं। उदाहरण के लिए, यदि सटोरिये खरीदारी द्वा
कुछ हिस्सो की कीमत अनाप-सनाप बढा देते हैं, तो भोले खरीदार जो कि
वास्तव में अपनी पूँजी लगाना चाहते हैं, वे फँस जाते हैं और उनको बहु
हानि होती है। यही नहीं, सटोरियों का भी विनाश हो जाता है और उस
के कारण आर्थिक मदी की समस्या खड़ी हो जाती है क्योंकि जब अप्राकृति
रूप से किसी वस्तु की कीमत बहुत ऊँची कर देते हैं, जिसका कि कोई आधि
आधार नहीं होता, तो वह अधिक समय तक टिक नहीं सकती। कीम
आगे-पीछे आती है और अधिकाश व्यापारियों का दिवाला निकल जात
है। उदाहरण के लिए, यदि कुछ सटोरिये मिलकर किसी वस्तु के बाजा
को अपनी मुट्ठी मे करने का प्रयत्न करते हैं, और वे अपने प्रयत्न में असफ
हो जाते हैं, तो वे केवल अपना सत्यानाश ही नही करते, इसका समस्त बाज
पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है। कीमतें बहुत नीचे चली जाती हैं और बाज
मे उथल-पुथल हो जाती है। इस प्रकार का सट्टा समाज के लिए बहुत हानि
होता है। इसको रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

परिच्छेद २२

मूल्य (Value) निर्धारण

पिछले परिच्छेद में हमने बाजार के सम्बन्ध में अध्ययन किया। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि बाजार मे किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग (demand) और पूर्ति (supply) द्वारा निर्धारित होता है। माँग और पूर्ति का साम्य बाजार में होता है और उससे ही किसी वस्तु का मूल्य या कीमत निर्धारित होती है। उपभोग (consumption) के भाग में माँग के सम्बन्ध में अध्ययन कर चुके हैं। हमने माँग के सम्बन्ध में यह अध्ययन कर लिया है कि माँग का उदय किस प्रकार होता है और बाजार की माँग (market-demand) किस प्रकार माँग अनुसूची (demand schedule) और माँग की वक्र रेखा (demand curve) द्वारा प्रकट होती है। माँग-अनुसूची और माँग की वक्र रेखा के द्वारा ही माँग का नियम स्पष्ट हो जाता है

जिस प्रकार माँग का नियम है उसी प्रकार पूर्ति का भी नियम है। माँग और पूर्ति का साम्य किस प्रकार होता है, तथा उसके द्वारा उस वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, यह तभी समझ में आ सकता है कि हम पूर्ति तथा पूर्ति के नियम को भली-भाँति समझ लें।

विक्रेता का उद्देश्य : इससे पहले कि हम पूर्ति के सम्बन्ध में अधिक अध्ययन करें, यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि खरीदारों को किसी वस्तु का मूल्य क्यों देना पड़ता है? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देने के लिए विक्रेता का उद्देश्य जान लेना आवश्यक है। यदि ध्यान से देखा जावे तो जब कोई विक्रेता अपनी वस्तु बेचता है तो उसका उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। और यदि लाभ प्राप्त करना असम्भव दिखलाई दे, तो उसका उद्देश्य हानि को न्यूनतम करना होता है। अस्तुः विक्रेता अपनी वस्तु का वही मूल्य लेगा जिससे कि उसे अधिकतम लाभ हो अथवा न्यूनतम हानि हो।

पूर्ति (Supply) पूर्ति से हमारा अर्थ किसी वस्तु की उस राशि से है जो कि एक निश्चित कीमत पर बिक्री के लिए उपस्थित की जाती है। पूर्ति और स्टाक का भेद हमें समझ लेना चाहिए। स्टाक किसी वस्तु की उस राशि

को कहते हैं, जो कि अल्प सूचना पर बाजार में बिक्री के लिए उपस्थित किया जा सकता है। कुछ वस्तुओं के लिए पूर्ति और स्टाक लगभग समान ही होते हैं। यह वह वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें थोड़े समय के अन्दर बेच देना आवश्यक है फिर चाहे कीमत ऊँची हो या नीची। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ-जैसे सब्जी, फल, दूध इत्यादि इस प्रकार की वस्तुएँ हैं। परन्तु अधिकाश वस्तुएँ ऐसी हैं कि यदि विक्रेता समझता है कि प्रचलित कीमत उसके अनुकूल नहीं है, तो वह उनको रोक सकता है। उदाहरण के लिए कपड़ा, लोहा, कपास इत्यादि वस्तुओं की पूर्ति (supply) कुल उपलब्ध स्टाक का एक अंश मात्र हो सकती है। यदि इन वस्तुओं की कीमत ऊँची हो जाती है, तो उपलब्ध स्टाक में अधिक राशि (पूर्ति) बिक्री के लिए उपस्थित की जाती है, और यदि कीमत कम हो जाती है, तो कम पूर्ति बेचने के लिए बाजार में लाई जाती है।

पूर्ति का समय (Periods of Supply) · इससे पहले कि हम ... के नियम का अध्ययन करें, हमे यह जान लेना चाहिए कि पूर्ति के लिए ... बढ़ने में कितना समय लगता है। इस दृष्टि से यदि देखें तो पूर्ति के तीन स... या काल होते हैं। पहले काल को "बाजार की पूर्ति" (market suppl... कहते हैं। इसका सम्बन्ध वस्तु की उस राशि से है जो कि उत्पन्न हो चुकी है ... विद्यमान है। दूसरा काल उस उत्पत्ति (production) और बिक्री से सम... रखता है कि जो विद्यमान प्लान्ट तथा मशीनों से उत्पन्न किया जा सकता है ... उसे हम "थोड़ी देर का काल" (short run period) कहते हैं। इस ... काल की लम्बाई भिन्न-भिन्न धन्धों में भिन्न-भिन्न होती है। तीसरा काल "लम्बी ... का काल (long run period)" कहलाता है। इसके अन्तर्गत उस समय ... भी गिना जाता है कि जिसमें नये प्लाट या मशीनो का निर्माण हो जिससे ... धन्धे की उत्पादन-शक्ति बढ सके।

पूर्ति का नियम (Law of Supply) · पूर्ति का नियम नीचे ... अनुसार है:—

"यदि अन्य बातें पूर्ववत् ही रहें तो किसी वस्तु की कीमत ऊँची ... उसकी पूर्ति बढ़ती है और उसकी कीमत गिरने से उसकी पूर्ति कम होती है"। पूर्ति के इस नियम को ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह माँग के नियम के सर्वथा विपरीत है। जब कि कीमत ऊँची चढ़ती है तो पूर्ति बढ़ती है, किन्तु माँग कम हो जाती है। और जब कीमत नीचे गिरती ... कम हो जाती है और माँग मे वृद्धि होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि

ऊँची कीमतें विक्रेताओं के अनुकूल होती है और नीची कीमतें खरीदारों के अनुकूल होती हैं।

पूर्ति की अनुसूची (Supply Schedule) : जिस प्रकार हमने माँग के परिच्छेद में माँग-अनुसूची तैयार की थी, उसी प्रकार हम किसी विक्रेता की पूर्ति-अनुसूची भी तैयार कर सकते हैं। और बाज़ार में जितने भी विक्रेता हैं वे भिन्न-भिन्न कीमतों पर कितनी पूर्ति देगे उसको जोड़ दिया जावे तो बाजार की पूर्ति की अनुसूची तैयार हो जावेगी।

हम नीचे एक काल्पनिक सतरों की बाजार की पूर्ति-अनुसूची देते हैं :—

संतरों की काल्पनिक पूर्ति-अनुसूची

प्रति दर्जन कीमत		पूर्ति दर्जनों में
रु०	आने	
१०	०	६०
७	०	५०
५	०	४०
३	०	३०
२	८	२५
२	०	२०
१	०	१०

ऊपर की अनुसूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि १० रु० प्रति दर्जन की कीमत पर ६० दर्जन सतरे विकने के लिए उपस्थित थे। जैसे-जैसे सतरों की कीमत गिरती गई, सतरों की पूर्ति भी कम होती गई। यहाँ तक कि एक रुपए प्रति दर्जन पर केवल १० दर्जन की ही पूर्ति रह जाती है। इससे पूर्ति का नियम स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् जैसे जैसे कीमत ऊँची होती है पूर्ति बढती जाती है, और कीमत गिरने पर पूर्ति कम हो जाती है।

ऊपर जो हमने पूर्ति की अनुसूची दी है उसको हम एक वक्र रेखा द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं। इसको हम पूर्ति की वक्र रेखा (supply curve) कहते हैं।
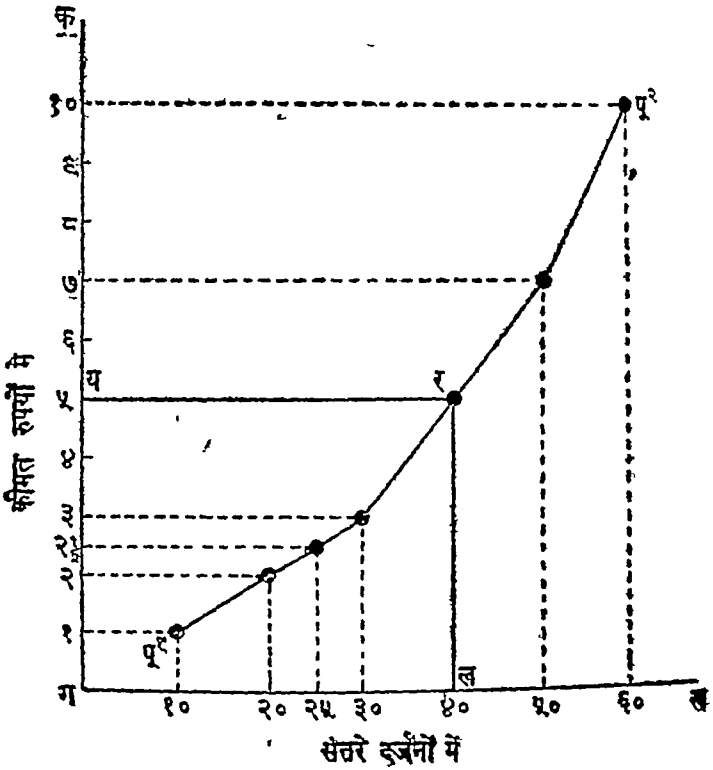
इस वक्र रेखा मे कीमतों को 'ग क' रेखा पर और सतरों की सख्या को 'ग ख' रेखा पर प्रकट किया गया है। पू¹ और पू² पूर्ति की वक्र रेखा है। वक्र रेखा पर किसी भी विन्दु 'र' से हम 'ग क' और 'ग ख' रेखा को सीधा रेखा से जोडे तो हमें ज्ञात हो जावेगा कि 'ग य' कीमत पर 'ग ल' पूर्ति (supply) उपलब्ध होगी।

इस सम्वध मे हमें यह ध्यान मे रखना चाहिए कि पूर्ति की वक्र रेखा दाहिनी ओर से वाईं ओर झुकती है और मॉग की वक्र रेखा वाईं से दाहिनी ओर झुकती है। उसका कारण यह है कि जब कीमत गिरती है तो मॉग वढती है और पूर्ति कम होती है। और जब कीमत ऊँची होती है तो मॉग कम होती है और पूर्ति वढती है।

पूर्ति की लचक (Elasticity of Supply) ·जिस प्रकार मॉग की लचक होती है, अर्थात् कुछ वस्तुओं की मॉग लचकदार होती है और कुछ वस्तुओं की मॉग लचकहीन होती है, उसी प्रकार पूर्ति की भी लचक होती है। कीमत में थोडी-सी भी गिरावट होने पर पूर्ति मे अपेक्षाकृत वहुत अधिक

कमी हो जावे, तो पूर्ति लचकदार कही जावेगी और जब क़ीमत में अधिक कमी होने से पूर्ति में बहुत कम कमी हो, तो पूर्ति लचकहीन कही जावेगी। इसी प्रकार यदि कीमत बहुत ऊँची हो जावे और पूर्ति अपेक्षाकृत थोड़ी ही बढे तो पूर्ति लचकहीन समझी जावेगी और यदि कीमत में थोड़ी सी वृद्धि होने पर पूर्ति में बहुत वृद्धि हो जावे, तो पूर्ति लचकदार कही जावेगी। नीचे दी हुई वक्र रेखाये (curves) पूर्ति की लचक को व्यक्त करती हैं।
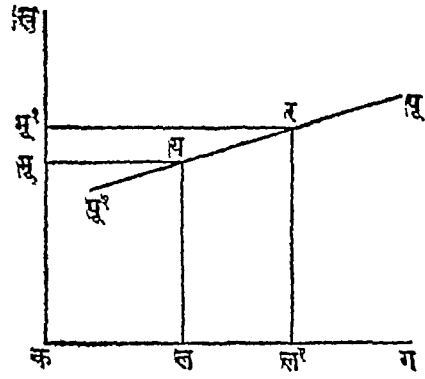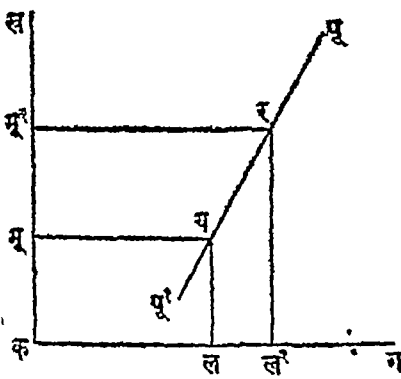
पहली वक्र रेखा के चित्र में कीमत मू¹ से मू तक गिरती है। उसके परिणाम स्वरूप पूर्ति 'क ल' से 'क ल¹' तक बढती है। मू¹ से मू-तक कीमत अधिक गिरने पर भी पूर्ति थोड़ी ही, अर्थात् 'ल ल¹' तक ही बढती है। यह लचकहीन पूर्ति का उदाहरण है। दूसरी वक्र रेखा में कीमत में थोड़ी-सी ही गिरावट (मू¹ से मू तक) होने से पूर्ति में बहुत अधिक वृद्धि (ल से ल¹) होती है। यह लचकदार पूर्ति का उदाहरण है।

पूर्ति का कम और अधिक होना · जिस प्रकार माँग कम हो सकती है और बढ सकती है उसी प्रकार पूर्ति भी कम हो सकती और बढ सकती है। यदि क़ीमत पूर्ववत् रहे और फिर भी पूर्ति बढ जावे तो उसे पूर्ति का बढना कहते हैं और जब उसी क़ीमत पर पूर्ति घट जाती है तो उसे पूर्ति का घटना कहते हैं। यह अगले पृष्ठ के चित्र से स्पष्ट हो जावेगा।

इस चित्र में कीमत में परिवर्तन होने के पूर्व 'पू पू' पूर्ति की वक्र रेखा 'पू¹ पू¹' वक्र रेखा बतलाती है कि उसी कीमत पर पूर्ति पहले से कम 'कय' से घट कर 'क य¹' रह गई। 'पू² पू²' वक्र रेखा बतलाती है। पर पूर्ति पहले से अधिक होगई, अर्थात् 'क य' से 'क य²' होगई।
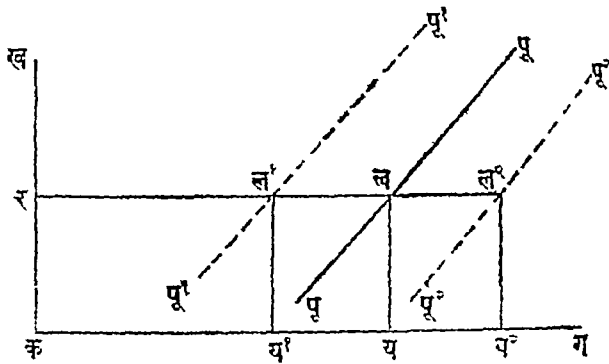
पूर्ति मे परिवर्तन के कारण : अब हम यहाँ उन कारणों का अध्ययन करेंगे जिनसे पूर्ति (supply) में परिवर्तन होते हैं।

(१) पहला कारण तो लागत-व्यय या उत्पादन-व्यय (cost of production) में परिवर्तन होने का है। यदि किसी वस्तु का उत्पादन व्यय बढ जावे तो उत्पत्ति के साधनो की कीमत बढ जाने से पूर्ति कम हो जावेगी। यदि कच्चे माल की कीमत बढ जावे या मजदूरी बढ जावे और वस्तु की बाजार मे कीमत पूर्ववत् ही रहे, तो उसकी पूर्ति कम हो जावेगी, क्योंकि उसका उत्पादन-व्यय बढ जावेगा। इसके विपरीत यदि इन उत्पत्ति के साधनों की कीमत कम हो जाने से उस वस्तु का उत्पादन-व्यय कम हो जावे और उस वस्तु की कीमत पूर्ववत् ही रहे, तो उसका उत्पादन बढ जावेगा और उसकी पूर्ति बढ जावेगी।

(२) जहाँ तक कि खेती की पैदावार का प्रश्न है, यदि वर्षा अच्छी हो, सिचाई के साधनों की उन्नति हो, अधिक खाद मिले, अच्छे बीज और हल इत्यादि उपलब्ध हों, तो पैदावार बढ जावेगी। और यदि सूखा पड़ जावे, फसल को कीड़ा लग जावे, टिड्डी आ जावे या ओला पड़ जावे तो पैदावार कम हो जायगी भारत में तो खेती की पैदावार बहुत कुछ इन प्राकृतिक बातों पर ही निर्भर रहती है। यदि खेती की भूमि मे वृद्धि हो, तो भी खेती की पैदावार की वृद्धि हो जावेगी।

(३) वस्तुओं का लागत-व्यय अथवा उत्पादन-व्यय भी सदैव एकसा नहीं रहता। यदि उत्पत्ति के तरीकों मे सुधार किया जावे, तो उत्पादन-व्यय कम किया जा सकता है। यदि उत्पादन का अच्छा संगठन हो सके, उनके तरीकों में [illegible] किया जा सके और बिक्री का प्रबन्ध अच्छा हो, तो उसका उत्पादन-व्यय

म किया जा सकता है और उससे पूर्ति बढ़ जावेगी। इसके विपरीत यदि स वस्तु के उत्पादन पर कर लगाया जावे तो उसका उत्पादन कम होगा।

(४) यातायात तथा सदेशवाहक साधनो की उन्नति से भी विशेष स्तुओं की पूर्ति में वृद्धि या कमी होती है। यदि यातायात के साधनों की उन्नति होने से किसी वस्तु विशेष का आयात (import) किसी देश मे बढ जाता है, तो पूर्ति की वृद्धि हो जावेगी, और यदि उसमे निर्यात (export) बढ जावेगा तो पूर्ति कम हो जावेगी।

(५) राजनैतिक गड़बड़ हो जाने से भी उत्पादन रुक जाता है और कुछ वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाती है उदाहरण के लिए, जब कि युद्ध होता है तो युद्ध-सामिग्री बनाने में सारे साधन जुटा दिए जाते हैं तथा उपभोक्ता पदार्थों (consumers' goods) की पूर्ति (supply) कम हो जाती हैं।

(६) कभी-कभी उत्पादनकर्त्ता आपस में समझौता करके पूर्ति को कम कर देते हैं। उदाहरण के लिए जब कि किसी वस्तु की कीमत बहुत घट जाती है, तो उत्पादक उसकी कीमत को ऊँचा करने के लिए उस वस्तु की पूर्ति के कुछ भाग को नष्ट कर देते हैं। पिछली आर्थिक मन्दी (economic depression) में रबर इत्यादि वस्तुओं की उत्पत्ति को अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा कम किया गया था। भारत में जूट के धन्धे में कई बार ऐसा हो चुका है कि जूट मिलों ने आपस में समझौता करके उत्पादन को कम किया है। ब्राजील में कहवे को समुद्र में इसलिए फेंक दिया गया क्योंकि कहवे की उत्पत्ति बहुत थी और कीमत गिर रही थी।

(७) उत्पादन, आयात तथा विक्री पर कर लगने से भी पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार किसी वस्तु पर आयात कर (import duty) लगादे तो उसकी पूर्ति कम हो जावेगी। कभी-कभी सरकार किसी वस्तु का उत्पादन रोक देती है अथवा कम कर देती है, क्योंकि वह हानिकारक होती है। उदाहरण के लिए भारत सरकार ने भारत मे अफीम की खेती बहुत कम करदी है।

पूर्ति (Supply) और माँग (Demand) दोनों को ही प्रभावित करने वाले कारण : हमने अब तक उन कारणों का अध्ययन कर लिया है, जो कि अकेले माँग या पूर्ति को प्रभावित करते हैं परन्तु कुछ कारण ऐसे भी होते हैं कि जो माँग और पूर्ति दोनों को साथ ही प्रभावित करते हैं।

(१) मुद्रा की राशि में परिवर्तन : जब मुद्रा स्फीति (inflation) होती है, तो मुद्रा की आय में वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप माँग म वृद्धि होती है किन्तु पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है, क्योंकि मूल्य की वृद्धि के कारण उत्पादन भी बढ़ जाता है। परन्तु मुद्रा स्फीति के कारण जो मुद्रा की आय बढ़ती है उससे उत्पादन व्यय भी बढ़ जाता है क्योंकि मज़दूरी इत्यादि बढती है। परन्तु मूल्य में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ता है, किन्तु उत्पादन-व्यय अधिक होने से उत्पादन कम होता है। यदि उत्पादन-व्यय की तुलना में वस्तु की कीमत अधिक बढ जावे, तो उत्पादन अधिक होगा और पूर्ति अधिक होगी। किन्तु यदि उत्पादन-व्यय कीमत की तुलना से अधिक बढ जावे तो उत्पादन कम होगा। यदि मुद्रा सकोचन (deflation) हो तो कीमते गिरती हैं, जिससे माँग बढ़ती है और पूर्ति कम होती है।

(२) उत्पादन के तरीके में सुधार : जव उत्पादन के तरीके म सुधार होता है, तो उत्पादन-व्यय कम होता है और पूर्ति मे वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुये सस्ती हो जाती हैं और वास्तविक आय वढ जाती है। जबकि वास्तविक आय बढ़ती है, तो माँग में परिवर्तन हो जाता है।

मज़दूरी का वढना या घटना : यदि मजदूरी वढ जाती है, तो मज़दूरों की क्रयशक्ति वढ जाती है जिससे कि माँग बढती है। परन्तु मज़दूरी बढ़ने से उत्पादन-व्यय वढ जाने के कारण पूर्ति कम हो जाती है।

धन के वितरण में परिवर्तन : जबकि धन का वितरण अधिक समान होता है, तो कुछ लोग कम धनी हो जाते हैं, और दूसरे लोग कम निर्धन हो जाते हैं। उनकी सापेक्षिक क्रय शक्ति में परिवर्तन हो जाता है जिससे माँग पर प्रभाव पड़ता है। विलासिता की वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। माँग में इस प्रकार का परिवर्तन होने पर पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है।

पूर्ति और माँग का नियम : माँग और पूर्ति के सम्बन्ध में अध्ययन कर लेने के उपरान्त अब हम इस स्थिति मे हैं कि माँग और पूर्ति के नियम को निर्धारित कर सकें। माँग और पूर्ति के नीचे लिखे नियम हैं।

(१) कीमत, वस्तु की पूर्ति (supply) का जो कि विक्रेता बेचने के लिए लाते हैं, और खरीदारों की माँग का, साम्य बिटाती है।

(२) कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा मे माँग होगी और अधिक कीमत पर माँग कम होगी। कम कीमत पर कम मात्रा मे वस्तु बिकने आवेगी और ऊँची कीमत पर वस्तु अधिक मात्रा मे बिकने आवेगी।

(३) माँग के बढने पर कीमत बढ़ती है, और पूर्ति बढती है। माँग के

होने पर कीमत घटती है और पूर्ति कम होती है।
होने पर कीमत कम होती है और मॉग में वृद्धि
(४) पूर्ति की वृद्धि होने पर कीमत कम होती है और मॉग कम होती है।
। है। पूर्ति में कमी होने पर कीमतें बढ़ती हैं और मॉग कम होती है।

विक्रेता का सुरक्षा मूल्य या कीमत (Sellers Reservation
ices) : प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तु का कुछ सुरक्षा मूल्य रखता है, जिससे
मूल्य वह स्वीकार नहीं करेगा। यदि उसकी वस्तु ऐसी है, कि यदि वह
न्त ही न बेच दी जावे तो फिर कभी भी नहीं बिक सकती, तो उसकी कीमत
कि विक्रेता स्वीकार करने के लिए तैयार होगा वह बहुत कम होगी। परन्तु
त्यन्त नाशवान् वस्तुओं को छोड़कर अधिकाश वस्तुओं को विक्रेता उचित
ल्य के लिए प्रतीक्षा करके बेच सकता है। अस्तु, प्रत्येक विक्रेता का एक सुरक्षा
ल्य या कीमत (reservation price) होती है। उससे कम पर बेचने के
जाय वह प्रतीक्षा करना पसद करेगा और भविष्य मे उस माल को बेचेगा।
म यहाँ इस बात का विचार करेंगे कि विक्रेता का सुरक्षा मूल्य या कीमत
क्रिन बातों पर निर्भर है।

वस्तु जितनी ही अधिक नाशवान् होगी उसका सुरक्षा या न्यूनतम मूल्य
उतना ही कम होगा। कल्पना कीजिए कि सायकाल होने में तीन घटे हैं,
क्योंकि स्ट्रावैरी और शहतूत का बाज़ार समाप्त हो जावेगा और कल तक वे
नष्ट हो जावेंगी। तो दूकानदार उनको बहुत सस्ते दामों पर बेच देगा, बजाय
इसके कि कल उसे उन फलों को कूड़े मे फेंकना पड़े। किन्तु अधिकतर लाभ और
न्यूनतम हानि का सिद्धान्त यहाँ भी लागू होता है। उदाहरण के लिए यदि
दूकानदार के पास मन भर स्ट्रावैरी है और मन भर शहतूत हैं और वह
जानता है कि तीन घटे में वह कुल एक मन स्ट्रावैरी तथा एक मन शहतूत आठ
आना सेर के भाव मे बेच सकता है और एक रुपया प्रति सेर से वह केवल
तीस सेर स्ट्रावैरी और ३० सेर शहतूत बेच सकेगा। ऐसी दशा में वह एक
रुपया प्रति सेर के भाव से ३० सेर स्ट्रावैरी और ३० सेर शहतूत बेच देगा और
१० सेर स्ट्रावैरी और शहतूत फेंक देगा। क्योंकि ऐसा करने से उसे अधिक
दाम मिलेंगे।

जो वस्तुएँ ऐसी नाशवान् नहीं हैं और देर तक टिकने वाली हैं, उनका
सुरक्षा या न्यूनतम मूल्य इस बात पर निर्भर रहेगा कि विक्रेता का उस वस्तु की
भविष्य मे क्या कीमत होगी, इस सम्बन्ध में क्या अनुमान है। जो वस्तुएँ अभी
न बेची जाकर भविष्य में बेचीं जावेंगी, उनको नई पूर्ति से स्पर्द्धा करनी होगी।
अतएव यदि विक्रेता जानता है कि उसकी वस्तु का उत्पादन-व्यय गिर रहा है

तो वह अपनी सुरक्षा क़ीमत कम रक्खेगा; क्योंकि उसको उन वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा करनी होगी जिनका कि उत्पादन-व्यय कम होगा। इसके विपरीत यदि उसकी वस्तु का उत्पादन-व्यय बढ़ रहा है, तो वह अपना न्यूनतम मूल्य ऊँचा रक्खेगा। इसी प्रकार यदि वह यह समझता है कि भविष्य में उस वस्तु की माँग कम हो जावेगी, तो वह अपना न्यूनतम मूल्य कम रक्खेगा, किन्तु यदि माँग की बढ़ने की सम्भावना है तो वह अपना न्यूनतम मूल्य अधिक रक्खेगा।

विक्रेता के न्यूनतम मूल्य को प्रभावित करने वाला दूसरा कारण उस समय का है कि जिसके लिए उसको रुकना होगा। और उस समय तक माल को रोके रखने में जो व्यय होगा, वह इस बात को निश्चित करेगा कि भविष्य में उसको अधिक मूल्य के लिए रुकना चाहिए अथवा कम मूल्य पर पहले ही उस वस्तु को बेच देना चाहिए।

तीसरा कारण जो कि विक्रेता के न्यूनतम मूल्य या कीमत को निर्धारित करेगा, वह उसकी नक़दी की आवश्यकता है। यदि बैंक, जिसने कि उसे ऋण दिया है, उसे ऋण चुकाने के लिये विवश कर रहा है, तो उसका न्यूनतम मूल्य या कीमत कम होगी।

नई पूर्ति को बाज़ार में पहुँचने में कितना समय लगेगा, इसका भी विक्रेता की न्यूनतम क़ीमत पर प्रभाव पड़ेगा। यदि किन्हीं खेती की पैदावारों की बहुत कमी है, तो अगली फसल तक तो नई पूर्ति आ नहीं सकती, अतः विक्रेता अधिक समय तक रुक कर अधिकतम कीमत ले सकते हैं। किन्तु यदि कारखानों द्वारा उत्पन्न किए हुए तैयार माल की अस्थायी रूप से कमी हो गई हो, तो विक्रेताओं को अपना स्टाक जो भी कुछ थोड़ी ऊँची क़ीमत मिले, उस पर बेच देना चाहिए। क्योंकि उस वस्तु की नई पूर्ति तो शीघ्र ही बाज़ार में आ जावेगी। अब हमने पूर्ति के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त करली, अतः हम अब इस बात का अध्ययन करेंगे कि बाज़ार में पूर्ति और माँग द्वारा कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है।

माँग (Demand) और पूर्ति (Supply) का साम्य (Equilibrium) : हमने ऊपर पूर्ति की अनुसूची (supply schedule) और माँग की अनुसूची का अध्ययन कर लिया है। हमने देखा कि माँग और पूर्ति दो विरोधी शक्तियाँ हैं, जो कि विरोधी दिशाओं में जाती हैं। अधिक पूर्ति होने पर कीमत कम होती है और अधिक माँग होने पर कीमत ऊँची होती है। जबकि इन दोनों विरोधी शक्तियों का प्रभाव बराबर होता है, तो उस

तु की एक कीमत निर्धारित होती है जिसे हम साम्य मूल्य या कीमत equilibrium price) कहते हैं।

हम नीचे एक सारिणी (table) देते हैं, जिसमें माँग-अनुसूची और र्ति-अनुसूची को सम्मिलित किया गया है। उससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि ांग और पूर्ति का साम्य किस प्रकार स्थापित होता है। हम नीचे सतरे की ांग और पूर्ति की अनुसूची देते हैं।

प्रति दर्जन कीमत	माँग दर्जनों में	पूर्ति दर्जनों मे
१० रु०	५	५०
८ ,,	८	४०
६ ,,	१०	३५
५ ,,	१५	३२
४ ,,	२०	३०
२½ ,,	२५	२५
२	४०	२०
१	६०	१०

ऊपर की सारिणी में हमने देखा कि जब कीमत २½ रु० दर्जन है तो २५ ... सतरों की माँग होगी, और केवल २५ दर्जन संतरों की पूर्ति होगी। पूर्ति माँग के बराबर है और २½ रु० साम्य मूल्य या कीमत (equilibrium price) है। यदि किसी अस्थायी कारण से इस साम्य मूल्य में कुछ कमी या वृद्धि हो जावे, तो फिर माँग और पूर्ति में अस्थायी कमी-बेशी हो जावेगी, परन्तु अन्त मे कीमत २½ रु० दर्जन हो जावेगी। कल्पना कीजिए कि सतरों की कीमत २½ रु० दर्जन से बढकर ४ रु० प्रति दर्जन हो जावे, तो माँग केवल २० दर्जन की होगी और पूर्ति ३० दर्जनों की होगी। इसका परिणाम यह होगा कि बेचने वाले आपस मे प्रतिस्पर्द्धा करेंगे और कीमत को नीचे ले आवेंगे। इसी प्रकार यदि कीमत गिरकर २ रु० दर्जन हो जाती है तो माँग बढकर ४० दर्जन की हो जावेगी और पूर्ति केवल २० दर्जन की होगी। खरीदने वाले उस सीमित पूर्ति को खरीदने के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करेंगे और इसके ... कीमत बढ़कर फिर २½ रु० दर्जन हो जावेगी। २½ रु० दर्जन साम्य मूल्य है ... २५ दर्जन साम्य राशि है जो कि साम्य मूल्य पर खरीदी और बेची जाती है।

नीचे दिए हुए रेखा-चित्र मे माँग और पूर्ति की अनुसूचियों को ...

दो वक्र रेखाओं से किस प्रकार साम्य मूल्य निर्धारित होता है स्पष्ट हो जाता है।

दोनों वक्र रेखायें एक दूसरी को 'म्' विन्दु पर काटती हैं। यदि विन्दु से एक सीधी रेखा 'क ग' तक खींची जावे और दूसरी सीधी रेखा 'क ख' तक खींची जावे, तो हमको ज्ञात हो जावेगा कि २५ दर्जन सतरे २½ रु० दर्जन पर बिकेंगे।
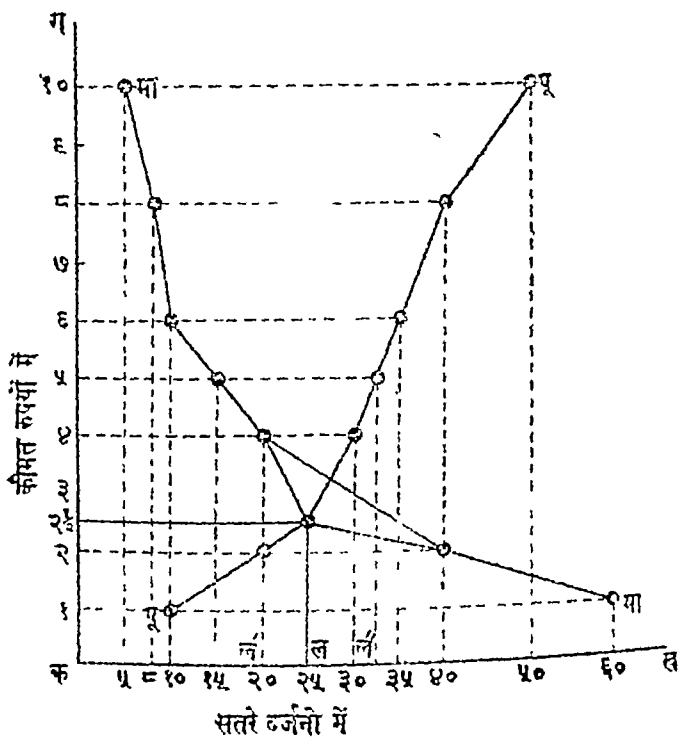
यदि सतरों की कीमत थोड़ी भी बढ़कर ३ रु० प्रति दर्जन हो जाती, तो माँग कल' (= १० दर्जन), पूर्ति कल" (= ३० दर्जन) से कम रहेगी, अतएव कीमत फिर नीचे ढकेल दी जावेगी और २½ रु० दर्जन रह जावेगी। यदि कीमत थोड़ी कम २ रु० रह जावे तो इसके विपरीत स्थिति होगी। माँग ४० दर्जन की हो जावेगी और पूर्ति २० दर्जन की होगी, अतएव खरीदने वालों में प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण कीमत फिर २½ रु० प्रति दर्जन हो जावेगी।

ऊपर के उदाहरण में एक बात समझ लेने की है कि साम्य मूल्य से कीमत तनिक भी इधर-उधर विचलित हुई कि वे शक्तियाँ काम करने लगतीं हैं, जो फिर साम्य मूल्य (equilibrium price) को स्थापित कर देना चाहती

है। उदाहरण के लिए यदि किसी भी कारणवश मूल्य बढ़कर ४ रु० दर्जन हो जाता है, तो माँग तो कम हो जावेगी क्योंकि कुछ खरीदारों के लिए संतरों की उपयोगिता (utility) ४ रु० से कम है, परन्तु पूर्ति बढ़कर ३० दर्जन हो जावेगी। बेचने वाले आपस में अपने संतरों को बेचने के लिए होड़ करेंगे और वे अपने संतरों को बेचने के लिए कीमत को घटा कर २½ रु० पर ला देंगे। ऊपर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बाजार-मूल्य (market price) को निर्धारित करने में दो शक्तियाँ काम करती हैं—खरीदने वालों में प्रतिस्पर्द्धा कीमत को ऊँचा उठा देती है, तथा बेचने वालों में प्रतिस्पर्द्धा कीमतों को नीचे गिरा देती है। ठीक बाजार मूल्य को निर्धारित करने वाले मुख्य व्यक्ति सीमान्त खरीदार (marginal buyer) और सीमान्त विक्रेता (marginal seller) होते हैं। किसी कीमत पर सीमान्त खरीदार वे लोग होते हैं जो ठीक उसी कीमत पर उस वस्तु को खरीदने के लिए उद्यत होते हैं। कीमत में तनिक भी वृद्धि होने पर वे बाजार के बाहर चले जाते हैं और उस वस्तु को नहीं खरीदते। सीमान्त विक्रेता वह होते हैं, कि जो उस कीमत पर ही अपनी पूर्ति को बेचने के लिए बाजार में आते हैं, कीमत के तनिक भी कम होने पर वे अपनी पूर्ति को बाजार से वापिस ले आते हैं। अस्तु, यदि विक्रेता यह चाहते हैं कि सीमान्त खरीदार वस्तु को खरीदे तो उन्हें आपस में प्रतिस्पर्द्धा करके उसकी कीमत को कुछ नीचा करना होगा। और यदि खरीदार यह चाहते हैं कि सीमान्त विक्रेता अपनी पूर्ति को बेचे तो उन्हें प्रतिस्पर्द्धा करके वस्तु की कीमत को कुछ ऊँचा करना होगा। इसी प्रकार बाजार मूल्य निर्धारित होता है।

बाजार कीमत (Market Price) : बाजार-मूल्य या कीमत वह कीमत होती है जो कि किसी दिन बाजार में प्रचलित होती है। वह माँग और पूर्ति का उस दिन के लिए अस्थायी साम्य होता है। यदि किसी दिन माँग या पूर्ति में परिवर्तन हो जाता है, तो उस दिन का बाजार-मूल्य भी बदल जाता है। किन्तु यह प्रभाव अस्थायी और थोड़े समय तक ठहरने वाले होते हैं। दूसरे ही दिन, यहाँ तक कि दूसरे ही घंटे, माँग और पूर्ति भिन्न हो सकती हैं। अस्तु; बाजार मूल्य या कीमत उन घटनाओं और शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है जो कि अस्थायी और शीघ्र बदलने वाली होती हैं। यह शक्तियाँ एक दिन से दूसरे दिन और एक घंटे से दूसरे घंटे बदलती रहती हैं। यही कारण है कि किसी वस्तु का बाजार-मूल्य भी एक दिन से दूसरे दिन और एक घंटे से दूसरे घंटे बदलता रहता है। बाजार-मूल्य वास्तव में उस क्षण पर माँग और पूर्ति के

अत्यन्त अस्थायी साम्य द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कि एक छोटा स्टेशन है, उसके समीपवर्ती गाँवों में आम पैदा होता है और दूर-दूर जाता है। यदि बाढ़ के कारण रेलवे बह जाती है, और कुछ समय तक रेल बंद रहती है, तो अधिक मात्रा में होने के कारण आम बहुत सस्ते हो जावेंगे। किन्तु रेल के फिर चलने पर पूर्ववत् (माँग और पूर्ति के साम्य से) कीमत ऊँची हो जावेगी। इसी प्रकार रक्षाबंधन और कृष्णाष्टमी के दिन दूध की प्रत्येक हिन्दू को आवश्यकता होती है। फलतः दूध की माँग एक साथ बढ जाने से उसकी कीमत ऊँची चढ जाती है। किन्तु दूसरे ही दिन उसकी कीमत कम हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि बाजार-मूल्य बदलने हुए माँग और पूर्ति के साम्य को व्यक्त करता है।

बाजार-मूल्य के सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है कि उसमें हम बहुत थोड़े समय की कल्पना करते हैं। समय इतना कम होता है कि पूर्ति केवल उस स्टाक में से ही आ सकती है, जो कि बाजार में उपलब्ध है अथवा जो थोड़े समय की सूचना पर लाया जा सकता है। जबकि समय बहुत ही कम होता है (एक दिन) तो स्टाक भी निश्चित होता है, बढाया नहीं जा सकता। स्टाक तो तभी बढाया जा सकता है कि जब उस वस्तु का अधिक उत्पादन किया जावे। किन्तु उत्पादन के लिए अधिक समय चाहिए। ऐसी दशा में उत्पादन-व्यय (cost of production) केवल परोक्ष रूप से कीमत को प्रभावित करता है, उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यदि वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है, तब तो उत्पादन-व्यय का कीमत पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। उस वस्तु का समस्त स्टाक बेचना पड़ता है और उसकी कीमत खरीदारों की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) द्वारा निर्धारित होती है।

जबकि वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली हो. इसको हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी दिन एक कस्बे के बाजार में १०० सेर दूध आता है। यह दूध उसी दिन बिक जाना चाहिए, नहीं तो नष्ट हो जावेगा। कस्बे में कुछ ऐसे व्यक्ति होंगे कि जिन्हें दूध की बहुत आवश्यकता है और वे प्रति सेर ५ रु० भी देने को तैयार हैं क्योंकि उनके लिए एक सेर दूध की सीमान्त उपयोगिता बहुत ऊँची है अर्थात् वह ५ रु० से नहीं जाती है। इस कीमत पर केवल ५ सेर दूध बिक सकेगा। कस्बे में दूध के और भी उपभोक्ता हैं, जो कि दूध को इससे कम कीमत देने को तैयार हैं; क्योंकि उनको दूध की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) पाँच रुपया प्रति सेर से कम है। हम उस कस्बे के बाजार की दूध का माँग की एक काल्पनिक

नुसूची (demand schedule) बनाते हैं जो नीचे लिखे अनुसार होगी।

प्रति सेर कीमत रुपये			माँग सेरों में सेर
५	०	०	५
४	०	०	१०
३	०	०	१५
२	०	०	२०
१	०	०	४०
०	८	०	६०
०	४	०	१००
०	२	०	२००
०	१	०	५००

ऊपर दी हुई माँग अनुसूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाजार में दूध ४ आने प्रति सेर बिकेगा, क्योंकि ४ आने प्रति सेर पर १०० सेर दूध कुल बिक जाता है। जो उपभोक्ता (जो ४० सेर दूध खरीदते हैं) केवल ४ आने प्रति सेर दूध खरीदने के लिए उद्यत होते हैं, अधिक पर नहीं, वे सीमान्त उपभोक्ता हैं। यदि समस्त स्टाक (१०० सेर) को बेचना है तो उन्हें दूध खरीदने के लिए आकर्षित करना ही होगा। वे केवल ४ आना प्रति सेर पर ही दूध खरीदेंगे। क्योंकि पूर्ण बाजार में एक वस्तु की एक ही कीमत हो सकती है। अस्तु प्रत्येक खरीदार ४ आना प्रति सेर पर दूध खरीदेगा। वह धनी उपभोक्ता जो ५ रु० प्रति सेर पर दूध खरीदने के लिए तैयार था उसे भी दूध ४ आने प्रति सेर पर मिलेगा। उसको ४ रु० १२ आने की उपभोक्ता की बचत (consumers' surplus) होगी। अगले पृष्ठ पर हम एक चित्र देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि दूध की कीमत किस प्रकार निर्धारित होगी।

आगे दिए हुए चित्र में हम दूध की मात्रा सेरों मे 'क ग' लाइन पर नापते हैं और 'क ख' रेखा पर मूल्य नापते हैं। क्योंकि पूर्ति निश्चित है (१०० सेर) अस्तु पूर्ति की रेखा समानान्तर (parallel) रेखा होगी। चित्र में हम देखते हैं माँग की वक्र रेखा (म म) पूर्ति की सीधी रेखा (प प) को 'ल' विन्दु पर काटती है। अस्तु 'ल र' (४ आने) बाजार मूल्य होगा, जिस पर सारा का सारा दूध (१०० सेर) बिक जावेगा।
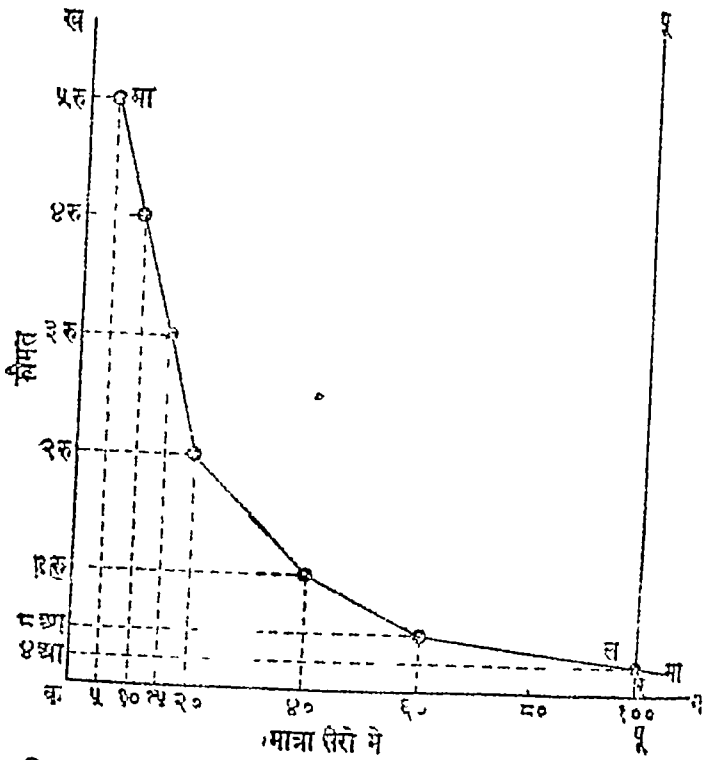
जबकि वस्तु शीघ्र नष्ट न होने वाली हो : यदि वस्तु ऐसी है कि वह शीघ्र नष्ट होने वाली नहीं है तो विक्रेता उसको इस आशा से कि भविष्य में उसकी कीमत बढ़ जावेगी, भर कर रख लेता है। उस दशा में कितनी मात्रा बेचने के लिए उपस्थित की जावेगी, निश्चित नहीं रहेगा, वह कीमत के साथ बदलती रहेगी। उदाहरण के लिए हम कुर्सियों को लेते हैं। कल्पना कीजिए कि कुर्सियाँ बनाने वालों के पास ५०० कुर्सियाँ मौजूद हैं। यदि कुर्सियों की कीमत बहुत ऊँची अर्थात् ४० रु० प्रति कुर्सी हो, तो सारी कुर्सियाँ बिकने के लिए आ जावेंगी, परन्तु यदि कुर्सियों की कीमत गिरने लगे तो कुछ बेचने वाले अगले दिन की प्रतीक्षा करेंगे और उस दिन सब कुर्सियाँ बिकने के लिए नहीं आवेंगी। हम यहाँ कुर्सियों की माँग और पूर्ति की काल्पनिक अनुसूची देते हैं :—

माँग (Demand)	कीमत (Price)	पूर्ति (Supply)
५०	४० रु०	५००
१५०	३० ,,	४००
२५०	२५ ,,	२५०
४००	२० ,,	१५०
५००	१०	५०

ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस दिन बाजार में २५ रुपये प्रति कुर्सी कीमत होगी क्योंकि २५ रु० पर २५० कुर्सियों की माँग होगी और २५० की ही पूर्ति होगी। कुर्सियों की कीमत दूध की कीमत से ऊँची रहेगी (क्योंकि ५०० कुर्सियाँ (कुल स्टाक) तो १० रु० प्रति कुर्सी पर ही बिक सकती हैं) क्योंकि विक्रेताओं को कुर्सियाँ उसी दिन बेच देने की जल्दी नहीं है, वे कुछ दिन रुक सकते हैं।

६-न उत्पन्न की जा सकने वाली वस्तु की कीमत : अभी तक हमने केवल उन वस्तुओं के मूल्य के विषय में अध्ययन किया जो या तो शीघ्र नष्ट होने वाली हैं अथवा टिकाऊ हैं। उन वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है जो फिर उत्पन्न ही नहीं की जा सकतीं। स्वर्गीय कलाकारों के चित्र, अथवा प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें, प्राचीन मूर्तियाँ या सिक्के इत्यादि इस प्रकार की वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओं का मूल्य भी ऊपर वर्णित आधार पर ही निश्चित होगा। इन वस्तुओं का स्टाक निश्चित है। बेचने वाला अच्छे मूल्य की प्राप्ति के लिए प्रतीक्षा कर सकता है। अस्तु; इन वस्तुओं की कीमत खरीदारों की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) से निर्धारित होगी। इन वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण में उत्पादन-व्यय का कोई भी प्रभाव नहीं होगा, क्योंकि उनको पुन. उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता। इन वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण मे फिर चाहे हम थोड़े समय को लें या लम्बे समय को लें, सीमान्त उपयोगिता ही मूल्य-निर्धारण की प्रमुख शक्ति है।

परिच्छेद २३

उत्पादन-व्यय तथा सामान्य मूल्य (Normal Price)

सामान्य मूल्य : पिछले परिच्छेद में हमने बाज़ार-मूल्य (market price) का अध्ययन किया। हमने उन शक्तियों का अध्ययन किया जो कि किसी दिन विशेष बाज़ार में मूल्य या कीमत को निश्चित करती हैं। हमने यह भी देखा कि माँग या पूर्ति में कोई अकस्मात् परिवर्तन हो जाने पर उस वस्तु की कीमत मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए, रक्षाबंधन या कृष्ण जन्म पर दूध की यकायक अधिक माँग हो जाने से दूध की कीमत बढ जाती है। इसी प्रकार यदि कहीं गाय और भैंसो का मेला होता हो, तो वहाँ जब तक मेला रहेगा, दूध सस्ता हो जावेगा, क्योंकि दूध की पूर्ति (supply) बहुत होगी। किन्तु यह कारण अस्थायी हैं और थोड़े समय के लिए ही मूल्य या कीमत में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। जबकि यह अस्थायी कारण दूर हो जाते हैं, तो कीमत फिर एक निश्चित स्तर पर वापिस लौट आती है। यह स्तर भी सदा के लिए निश्चित नहीं रहता। परन्तु यदि उत्पादन का तरीका और मात्रा पूर्ववत् ही रहे तो यह मूल्य-स्तर स्थिर रहता है और उसके आस पास दैनिक बाज़ार-मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। ऐडमस्मिथ ने उसे प्राकृतिक (natural) कीमत कहा है और मार्शल ने उसे सामान्य कीमत (normal price)। मार्शल के शब्दों मे किसी वस्तु की प्राकृतिक या सामान्य कीमत वह कीमत है जिसे आर्थिक शक्तियाँ लम्बे समय मे निर्धारित करती हैं। सामान्य कीमत वह औसद मूल्य है, जिसे आर्थिक शक्तियाँ यदि समाज के जीवन मे लम्बे समय तक कोई परिवर्तन न हो तो निर्धारित करती हैं। इस परिच्छेद में हम उन शक्तियों का अध्ययन करेंगे जो इस मूल्य-स्तर अर्थात सामान्य कीमत को निर्धारित करते हैं।

बाजार कीमत (Market Price) और सामान्य कीमत (Normal Price) मे भेद : बाजार-कीमत और सामान्य कीमत मे नीचे लिखे भेद हैं :—

(१) बाजार कीमत वह कीमत है जो कि वास्तव मे किसी क्षण बाजार में प्रचलित होती है, और वह उस क्षण माँग और पूर्ति के अस्थायी साम्य का [illegible] होती है।

इसके विपरीत सामान्य कीमत कभी भी वास्तव में प्रचलित कीमत नहीं होती। वह केवल लम्बे समय में प्रचलित हो सकने वाली सम्भावित कीमत होती है। जब वह समय आता है तब वास्तविक कीमत बाजार-कीमत कही जावेगी और एक दूसरी ही कीमत सामान्य कीमत हो जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य कीमत वह सम्भावित कीमत है जो कि लम्बे समय में आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है।

(२) बाजार-कीमत अस्थायी कारणों तथा शीघ्र बदलने वाली घटनाओं का परिणाम होती है। इसके विपरीत सामान्य कीमत पर स्थायी और अनवरत कारणों का प्रभाव पड़ता है; क्योंकि लम्बे समय में अस्थायी कारण लुप्त हो जाते हैं अथवा प्रभावहीन बन जाते हैं।

(३) बाजार-कीमत दिन प्रति दिन बदलती है, यहाँ तक कि वह घण्टा-प्रति-घण्टा भी बदलती है। परन्तु सामान्य कीमत एक स्थिर मानदण्ड के समान होती है। वह बाजार-कीमत की भाँति जल्दी-जल्दी नहीं बदलती। यह वह केन्द्र है, जिसके आस-पास बाजार कीमत घूमती है, अथवा वह स्तर है जहाँ बाजार-कीमत पहुँचने का प्रयत्न करती है।

(४) सभी वस्तुओं की बाजार-कीमत हो सकती है, अर्थात् वह कीमत जिस पर वह वास्तव में खरीदी और बेची जाती है। किन्तु सामान्य कीमत केवल उन्हीं वस्तुओं की होती है जो कि पुनः उत्पन्न की जा सकें। जो वस्तुएँ उत्पन्न नहीं की जा सकतीं, उनकी कोई सामान्य कीमत नहीं हो सकती। क्योंकि सामान्य कीमत उत्पादन-व्यय से प्रभावित होती है। जो वस्तुएँ उत्पन्न नहीं की जा सकतीं उनकी सामान्य कीमत नहीं हो सकती, क्योंकि उनका कोई उत्पादन-व्यय नहीं होता; और सामान्य कीमत उत्पादन-व्यय से निर्धारित होती है। क्योंकि सामान्य कीमत उत्पादन-व्यय पर निर्भर है, अतएव अब हम उसकी जानकारी करेंगे।

उत्पादन-व्यय (Cost of Production). उत्पादन-व्यय से हमारा तात्पर्य (१) या तो उस नाम मात्र व्यय (nominal cost) या मुद्रा व्यय (money cost) से होता है कि जो साहसी (entreprencur) किसी वस्तु को उत्पन्न करने में करता है (२) अथवा वास्तविक उत्पादन-व्यय (real cost of production) से होता है। वास्तविक उत्पादन-व्यय क्या है, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के विद्वानों में गहरा मत भेद है। ऐडमस्मिथ मजदूरों के कष्ट और त्याग को वास्तविक उत्पादन-व्यय कहता है। मार्शल उसके अन्तर्गत उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों के प्रयत्नों को वास्तविक व्यय में गिनता है, और प्रतीक्षा का वास्तविक व्यय सम्मिलित करता है। वह इसे सामाजिक व्यय (social cost of production) कहता है। आस्ट्रियन मत

अर्थशास्त्री और उनके अनुयाइयों का कहना है कि किसी वस्तु के उत्पादन का वास्तविक व्यय वह दूसरी सबसे अच्छी विकल्प (वस्तु) है जिसे कि त्याग कर वह वस्तु उत्पन्न की गई। हम इन भिन्न-भिन्न मतों के बारे में आगे चल कर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

इस समय हम उत्पादन व्यय (cost of production) शब्द का उपयोग मुद्रा-व्यय (money cost) या उत्पादन के खर्च (expenses of production) के अर्थों में करेंगे। साहसी या व्यवस्थापक वास्तविक उत्पादन व्यय को नहीं देखता, वरन् मुद्रा-व्यय को देखता है। जब तक कि उसको अपना खर्च और लाभ मिलता रहेगा तब तक वह उत्पादन करता रहेगा। अस्तु, हम पहले साहसी (entrepreneur) के खर्चों का विश्लेषण करके यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि उसके खर्चे किस प्रकार कीमत को प्रभावित करते हैं। इसके उपरान्त हम उन मौलिक शक्तियो या कारणों का अध्ययन करेंगे जो कि मूल्य (value) को निर्धारित करते हैं।

साहसी के खर्चे या व्यय मे नीचे लिखे खर्चे सम्मिलित होते हैं:—(१) मज़दूरों की मजदूरी (२) पूँजी पर सूद (३) लगान (४) मशीनों की घिसावट और मरम्मत का व्यय (५) साहसी का लाभ। (६) कच्चे माल की कीमत तथा (७) शक्ति उत्पन्न करने का व्यय।

प्रधान व्यय (Prime Cost) तथा अनुपूरक व्यय (Supplementary Cost) : साहसी के उत्पादन-व्यय का हम एक दूसरे ही दृष्टिकोण से अध्ययन कर सकते हैं। कुछ व्यय तो ऐसे हैं जो न्यूनाधिक उसी अनुपात में घटते बढ़ते हैं जिस अनुपात मे उत्पादन घटता-बढ़ता है। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी वस्तु को पहले की अपेक्षा दुगुना कर देना चाहते हैं, तो वे खर्चे भी दुगने हो जावेंगे। कुछ खर्चे ऐसे होते हैं जो कि स्थिर या स्थायी होते हैं जो कि उत्पादन के साथ बढते घटते नहीं हैं। उदाहरण के लिए हम किसी जूते बनाने के कारखाने को ले लें, तो कुछ खर्चे तो निश्चित हैं, चाहे हम वर्ष मे ५०,००० जोड़े जूते बनावे या एक लाख जोड़े जूते बनावें। जैसे इमारत का किराया, माल की बिक्री का व्यय, लगी हुई पूँजी का सूद, स्थायी रूप से नियुक्त किये मैनेजर, इंजिनियर, क्लर्क इत्यादि कर्मचारी (मजदूरों को छोड़कर) का वेतन तो देना ही होगा, चाहे फिर उत्पादन कम हो या अधिक हो या कारखाना कुछ समय के लिए बन्द ही क्यों न रहे। इस प्रकार के व्यय को हम अनुपूरक व्यय (supplementary cost) कहते हैं। कच्चा माल या मज़दूरो की मज़दूरी का व्यय हम जितना

उत्पादन करेंगे उसी अनुपात में होगा। अस्तु, इस प्रकार के व्यय को हम प्रधान व्यय (prime cost) कहते हैं।

साधारणतः प्रधान और अनुपूरक व्यय दोनों को मिलाकर जो कुल उत्पादन-व्यय होता है वह उस वस्तु की क़ीमत से निकलना चाहिए। अर्थात् उससे कम पर वह वस्तु नहीं बिकनी चाहिए। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि जो कीमत ली जाती है वह उस वस्तु के उत्पादन-व्यय से कम होती है। उसमें से केवल प्रधान व्यय तथा अनुपूरक व्यय का कुछ अंश ही निकलता है। ऐसी दशा में कीमत उत्पादन-व्यय से कम होती है। इस सम्बन्ध में हम नीचे विचार करेंगे।

(१) कीमतों का उत्पादन-व्यय से कम होना : व्यापार की मंदी (trade depression) के समय कीमत इतनी नीचे गिर सकती है कि उत्पादक को अपना उत्पादन-व्यय भी नहीं मिल सकता। ऐसी दशा में उसके लिए दो रास्ते होते हैं। वह उत्पादन करना बंद करदे और उस समय की प्रतीक्षा करे जबकि बाजार उसके अधिक अनुकूल हो। परन्तु ऐसी दशा में इस बात की बहुत अधिक सम्भावना रहती है कि उसका बाजार पर जो प्रभाव है वह समाप्त हो जावे। दूसरा रास्ता उसके लिए यह है कि वह तब तक उत्पादन किए जावे जब तक कि उसको प्रधान (prime cost) और अनुपूरक व्यय (supplementary cost) का कुछ भाग मिल रहा है। यदि वह उत्पादन रोक देता है, तो भी उसे अनुपूरक व्यय तो करना ही होगा। अतः यह उसके हित में होगा कि यदि वह धंधे को सदैव के लिए छोड़ नहीं देना चाहता, तो वह दूसरे मार्ग को स्वीकार करे। यह दूसरा मार्ग तभी स्वीकार किया जावेगा जब कि यह सम्भावना होगी कि व्यापार की मंदी बहुत अधिक लम्बे समय तक नहीं चलेगी।

(२) जब किसी व्यवस्थायी की पूँजी विशेषोपयुक्त (specialised capital) होने के कारण स्थायी रूप से किसी धंधे में फँस जाती है, निकाली नहीं जा सकती, तो उत्पादक उत्पादन-व्यय के न प्राप्त होने की दशा में भी अपनी पुरानी पूँजी से उत्पादन करता रहता है। क्योंकि यदि वह अपनी अचल पूँजी (fixed capital) को बेचता है और नई मशीनें लगाता है, तो सम्भव है कि पुरानी पूँजी पर जो हानि उसे होगी वह नई पूँजी से होने वाले अधिक लाभ से पूरी न हो।

(३) राशिपातन (Dumping) : बहुत बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वालों के लिए यह लाभदायक हो सकता है कि वे अपनी कुल उत्पत्ति

अंश तो अपने देश के बाजार में पूर्ववत् कीमत पर बेचें और शेष विदेशों के बाजारों में उत्पादन-व्यय से कम बेचें; जिससे कि उनके माल की बिक्री खूब अधिक हो और उतना अधिक उत्पादन करने पर उत्पादन व्यय कम हो जाते। इसको राशि-पातन कहते हैं। जहाँ वह विदेशों में थोड़ी हानि उठाता है, वहाँ वह अपने देश के बाजार मे लाभ कमाता है, क्योंकि वहाँ वह ऊँची कीमत लेता है। परन्तु अधिक मात्रा मे उत्पन्न करने के फलस्वरूप उसका उत्पादन-व्यय कम हो जाता है। अतः उसको कम कीमत लेने पर भी अन्ततः लाभ होता है।

विदेशी प्रतिस्पर्द्धा (Foreign competition): एक उत्पादक विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त कर देने के लिए भी उत्पादन-व्यय से कम पर बेचता है। जबकि विदेशी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जाती है, तो वह फिर कीमत ऊँची कर देता है और पिछली हानि को पूरा कर लेता है।

किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि यह सब अस्थायी बातें हैं। अत वस्तु की कीमत उसके उत्पादन-व्यय के बराबर होनी चाहिए। उसमें प्रधान और अनुपूरक व्यय दोनों सम्मिलित हैं नहीं तो अधिक लम्बे समय तक उस वस्तु का उत्पादन नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में हमें एक यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि बाजार में जो पूर्ति आती है, वह केवल एक व्यक्ति ही उत्पन्न नहीं करता है। अनेक उत्पादक उस वस्तु का उत्पादन करते हैं और उत्पादन-व्यय एक समान नहीं होता। यही नही कि भिन्न-भिन्न उत्पादकों का उत्पादन-व्यय भिन्न होता है; वरन् एक ही कारखाने में वस्तु की सभी इकाइयों का उत्पादन-व्यय एक समान नहीं होता। प्रश्न यह है कि किस उत्पादक और किस इकाई का उत्पादन-व्यय कीमत को निर्धारित करता है। क्योंकि लम्बे समय में कीमत सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) के बराबर होनी चाहिए। अब हम सीमान्त उत्पादन-व्यय के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost of Production): सीमान्त उत्पादन-व्यय का अर्थ या तो सीमान्त फर्म (marginal firm) के उत्पादन-व्यय से होता है, अथवा सीमान्त उत्पत्ति (marginal output) के उत्पादन-व्यय से होता है। अब हम इनके सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सीमान्त फर्म: सीमान्त फर्म जितनी भी विद्यमान फर्में हैं उनमें सबसे कम दक्ष (least efficient) होती है। वह बस किसी प्रकार चलती रहती है। यदि वस्तु की कीमत तनिक भी कम हो जावे, तो वह फर्म नहीं चल सकती। ... प्रचलित कीमत पर केवल उसको उत्पादन-व्यय ही मिलता है। उन

निक भी विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता, केवल सामान्य लाभ (normal profit) ही मिलता है। उदाहरण के लिए यदि तीन कारखाने एक ही प्रकार का जूता तैयार करते हैं। एक का उत्पादन-व्यय १५ रु० है, दूसरे का १६ रु० और तीसरे का १६½ रु० तो तीसरा कारखाना सीमान्त कारखाना या फर्म होगी।

एक अर्थ में सीमान्त उत्पादन-व्यय से हमारा तात्पर्य सीमान्त फर्म के प्रति इकाई उत्पादन-व्यय से है।

किन्तु सीमान्त फर्म अथवा सीमान्त उत्पादन-व्यय केवल तभी प्रकट नहीं होगा कि जब भिन्न-भिन्न दक्षता (efficiency) की फर्में हों। यदि सभी फर्में एक समान दक्षता की हों तो तभी सीमान्त उत्पादन-व्यय तो होगा ही। यदि किसी कारणवश कारखानों को अपनी उत्पत्ति को कम करना होगा, तो वे सीमान्त उत्पत्ति को ही कम करेंगे। सीमान्त उत्पत्ति किसी एक कारखाने की न होकर सभी कारखानों की हो सकती है।

सीमान्त उत्पत्ति : जैसे-जैसे किसी धंधे का विस्तार होता है और उत्पत्ति बढ़ती है, क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) लागू हो सकता है और उत्पादन-व्यय में लगातार वृद्धि हो सकती है। यहाँ तक कि अधिक उत्पादन से जो अधिक आय होगी, वह अधिक व्यय के बराबर हो जाती है। उत्पत्ति में जो अन्तिम वृद्धि होती है, उसी को सीमान्त उत्पत्ति कहते हैं।

दूसरे अर्थों में सीमान्त उत्पत्ति के प्रति इकाई उत्पादन-व्यय को भी हम सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) कहते हैं। यदि कोई किसान अपने खेत पर गहरी जुताई करता है, और प्रथम १०० मन गेहूँ वह ४ रु० प्रति मन के हिसाब से उत्पन्न करता है, दूसरा १०० मन ५ रु० प्रति मन के हिसाब से और तीसरा १०० मन ८ रु० प्रति मन के हिसाब से हिसाब से उत्पन्न करता है, तो ८ रु० सीमान्त उत्पत्ति (अन्तिम १०० मन) की इकाई का उत्पादन-व्यय हुआ और यही सीमान्त उत्पादन-व्यय हुआ।

सीमान्त का महत्त्व : अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में सीमान्त का विशेष महत्त्व है। इसका महत्त्व इस बात मे सन्निहित है कि सीमान्त पर ही वह उलट फेर हो सकनी है जिससे कि माँग और पूर्ति के आपसी सम्बन्धों मे परिवर्तन होता है। सीमान्त पर ही व्यावसायिक असफलतायें, दिवाले और आर्थिक सर्वनाश प्रगट होते हैं। सीमान्त पर ही नये कारबार पैदा होते हैं, सीमान्त पर ही प्रतिस्थापन (substitution) लागू होता है। उदाहरण के लिए सीमान्त पर ही हम यह तय करते हैं कि हम अपनी आय का बचा हुआ अंश किस आवश्यकता को पूरा करने में व्यय करें। सीमान्त पर ही हम यह भी

निश्चय करते हैं, कि अब शेष आय को अभी वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने में व्यय करें अथवा भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बचावें। कहने का तात्पर्य यह है कि सीमान्त का बहुत महत्त्व है।

उत्पत्ति की मात्रा को निश्चित करने के लिए सीमान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि सीमान्त ही उत्पत्ति की मात्रा को निर्धारित करता है। उत्पादक जब यह निश्चय करता है कि वह कितना उत्पन्न करे, तो यह नहीं देखता कि उसका औसत उत्पादन-व्यय क्या है। वरन् यह देखता है, कि उसका सीमान्त उत्पादन-व्यय क्या है। उसके लिए यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है, कि यदि वह अपनी उत्पत्ति को बढाता है तो उसको कितना और अधिक व्यय करना होगा। और वह उस सम्भावित अतिरिक्त उत्पादन से होने वाली आय की उसको उत्पन्न करने में होने वाले व्यय से तुलना करता है। उत्पादक तभी तक अपना उत्पादन बढावेगा, जब तक कि उसका सीमान्त उत्पादन-व्यय सीमान्त आय से अधिक नहीं हो जाता, अर्थात् बराबर रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक फर्म का सीमान्त उत्पादन-व्यय एक समान होता है, क्योंकि बाजार में वस्तु की कीमत एक समान रहती है। जो अकुशल या खराब फर्म हैं, उन्हें उत्पादन कुशल फर्मों की अपेक्षा पहले ही रोक देना पड़ता है, क्योंकि उनका सीमान्त उत्पादन-व्यय कीमत के बराबर बहुत पहले हो जाता है। जो दक्ष या कुशल फर्में हैं वे अपेक्षाकृत बहुत अधिक उत्पादन कर लेती हैं, तब जाकर कहीं उनका सीमान्त उत्पादन-व्यय कीमत के बराबर होता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि अस्थायी रूप से थोड़े समय के लिए कोई फर्म सीमान्त उत्पादन-व्यय के कीमत से अधिक होने पर भी उत्पादन कर सकती है। उत्पादक इस आशा से कि भविष्य में कीमत ऊँची हो जावेगी और वह अपनी हानि को पूरा कर लेगा, थोड़े समय तक हानि उठा सकता है।

अनुकूलतम फर्म (Optimum Firm) : अनुकूलतम फर्म वह फर्म होती है, जिसका उत्पत्ति के साधनों का संयोग सबसे कुशल या उत्तम हो। व्यवसायी या उत्पादक की दृष्टि से इस प्रकार की फर्म का प्रति इकाई सीमान्त उत्पादन-व्यय न्यूनतम होता है। उसकी साइज ऐसी होती है कि उसको तनिक भी बढाने या तनिक भी घटाने से उस फर्म की उत्पादन-कुशलता घट जाती है, अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ जाता है। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (Perfect competition) के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म इस अनुकूलतम साइज

को प्राप्त करना चाहती है, क्योंकि उससे साहसी (entrepreneur) को अधिकतम लाभ प्राप्त होना है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अनुकूलतम साइज कोई सदैव के लिए स्थिर या निश्चित नहीं है, साधनों की भिन्नता होने पर अनुकूलतम साइज भी भिन्न होगा। यदि उत्पत्ति के साधनों में कोई परिवर्तन हो, तो अनुकूलतम साइज में भी परिवर्तन होगा। यदि उत्पादन-कला में सुधार हो जावे, बिक्री-कला में उन्नति हो, पूँजी के मिलने में सुविधा हो, तो अनुकूलतम फर्म का साइज भी बड़ा हो जावेगा। यदि उत्पत्ति के किसी साधन को मिलने में कठिनाई उपस्थित हो जावे, तो उसकी साइज घट जावेगी।

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि प्रतिस्पर्द्धा में प्रत्येक उत्पादक अपनी उत्पत्ति को उस सीमा तक बढाना चाहता है, जब तक कि सीमान्त उत्पत्ति कीमत के बराबर न हो जावे। उत्पत्ति के इस परिमाण को अनुकूलतम उत्पत्ति (optimum output) कहते हैं, क्योंकि उससे उत्पादक को अधिकतम लाभ होता है। अस्तु, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) की स्थिति में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम उत्पत्ति करके अनुकूलतम साइज को प्राप्त करना चाहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उस स्थिति को प्राप्त कर लेती है। कोई उत्पादक किस प्रकार अनुकूलतम साइज को प्राप्त करेगा, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि उस धंधे की प्रकृति कैसी है। जो एक साधन की दृष्टि से अनुकूलतम साइज है, वही दूसरे साधन की दृष्टि से अनुकूलतम साइज नहीं भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, निरीक्षण और प्रबन्ध की दृष्टि से बड़ा कारखाना सबसे उत्तम हो सकता है, परन्तु उत्पादन की दृष्टि से छोटा कारखाना अधिक उत्तम हो सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कभी कभी कई कारखाने एक ही प्रबन्ध के अन्दर रख दिए जाते हैं। इसके विपरीत कई स्वतन्त्र रूप से सचालित कारखाने एक ही वस्तु का उत्पादन करते दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, इजिनियरिंग के धंधे में उत्पादन-कला की दृष्टि से बड़े साइज अनुकूलतम हैं, किन्तु प्रबन्ध और सचालन की दृष्टि से बड़ा साइज अनुकूलतम नहीं है। अतएव कुछ बीच की क्रियाओं को छोटे साइज की स्वतन्त्र फर्मों को दे दिया जाता है। यह भी हो सकता है कि एक ही धंधे को विभाजित करके उसकी भिन्न-भिन्न क्रियाओं को करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर कारखाने स्थापित कर दिया जावे जहाँ कि कच्चे माल और यातायात की विशेष सुविधा हो। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध मोटर व्यवसायी हेनरी फोर्ड ने अपने कारखाने को विभाजित करके छोटे-छोटे अनेक कारखानों में विभाजित कर दिया

जो कि मोटर के भिन्न-भिन्न हिस्सों को बनाते हैं, और उन्हें केन्द्रीय कारखाने में जोड़कर मोटर बना दी जाती है।

अनुकूलतम फर्म और मार्शल की प्रतिनिधि फर्म : कुछ विद्वानों का कहना है कि मूल्य (value) की व्याख्या करने के लिए अनुकूलतम फर्म का विचार प्रतिनिधि फर्म (representative firm) से श्रेष्ठ है। मार्शल के शब्दों में "प्रतिनिधि फर्म वह फर्म है, जिसकी आयु सामान्यतः लम्बी हो, अर्थात् वह सामान्यतया लम्वे समय तक चल चुकी हो, उसे सामान्य सफलता मिल चुकी हो, उसका संचालन और प्रबन्ध एक सामान्य योग्यता का व्यक्ति करता हो और जिसे आन्तरिक (internal) और वाह्य (external) बचतें (economies) प्राप्त हों।" कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिनिधि फर्म का न तो बहुत अधिक अच्छा प्रबन्ध होगा, और न बुरा प्रवन्ध होगा, न वह बहुत अधिक पुरानी होगी और न बहुत नई होगी और उसको बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale of production) की सामान्य बचतें (moderate economies) प्राप्त होगीं। मार्शल का मत है कि इस प्रकार की प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय के द्वारा ही लम्बे समय में कीमत निर्धारित होती है। जो फर्में उस कीमत पर वस्तु को नहीं वेच सकतीं, वे आगे-पीछे समाप्त हो जाती हैं और उन्हें उत्पादन बन्द करना पड़ता है। जो कि वस किसी प्रकार उस कीमत पर वेच सकती हैं, वे उस धंधे के लिए सीमान्त फर्म होती हैं। मार्शल के मत के अनुसार सामान्य कीमत (normal price) औसत फर्म या प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) के बराबर होती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल के प्रतिनिधि फर्म के विचार को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि प्रतिनिधि फर्म का विचार ठीक उसी तरह भ्रान्तिमूलक तथा स्थैनिक (static) है, जैसा कि रिकार्डो का "आर्थिक मनुष्य" का विचार है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता कुछ भी नहीं है।

आज के उद्योग-धंधे इतने अधिक परिवर्तनशील या प्रवैगिक (dynamic) हैं कि आज एक औसत या प्रतिनिधि फर्म को ढूँढ निकालना असम्भव है। लियोनल राबिन्स महोदय का कथन है, कि प्रतिनिधि फर्म का विचार व्यर्थ और अनावश्यक है। उसका कहना है कि प्रतिनिधि फर्म या प्रतिनिधि उत्पादक का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है।

इसके विपरीत अनुकूलतम फर्म एक निश्चित सम्भावना है। वह एक ऐसा अनुकूलतम साइज है जिसे प्रत्येक उत्पादक प्रतिस्पर्द्धा के कारण प्राप्त करने के लिए

सीमित है। अस्तु; ऐसी दशा में क्रमागत ह्रास नियम का लागू होना अवश्यम्भावी है।

क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) इस दशा में लागू होता है कि या तो फर्म का साइज बहुत छोटा है, अतएव जैसे-जैसे उसका विस्तार होता है अर्थात् आकार बढ़ता है, बड़ी मात्रा के उत्पादन की बचतें या लाभ उसको प्राप्त होते हैं। अथवा किसी अविभाज्य उत्पत्ति के साधन (indivisible factors of production) का उपयोग किया जा रहा है (उदाहरण के लिए, खर्चीला प्रबन्ध या अत्यन्त खर्चीली मशीनें) अतः अतिरिक्त उत्पत्ति का लागत-व्यय उस वृद्धि के अनुपात से कम होता है। यह उन धंधों में लागू होता है जिनमें अनुपूरक लागत (supplementary cost) कुल लागत या उत्पादन (total cost) का बहुत बड़ा भाग होता है।

हम इसको एक उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करेंगे। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, कि एक जूता बनाने का कारखाना खड़ा किया गया जिसमें बहुत बढिया और मूल्यवान् मशीनें लगाई गई। कल्पना कीजिए कि, यदि एक वर्ष में ढाई लाख जोड़े जूते तैयार किए जावें, तो उस मशीनरी का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है। किन्तु उस कारखाने से केवल डेढ लाख जोड़े जूते ही तैयार किए जाते हैं। अब यदि उत्पादन को बढाकर ढाई लाख जोड़े कर दिया जावें, तो सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) गिर जावेगा। क्योंकि उस मशीनरी का खर्चा अधिक जोड़े जूतों पर पड़ेगा। सीमान्त उत्पादन-व्यय तब तक गिरता जावेगा जब तक कि वह कारखाना अनुकुलतम उत्पत्ति अर्थात् ढाई लाख जोड़े जूते नहीं बनाता। उस सीमा तक क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होगा। प्रति जोड़ा जूता उत्पादन-व्यय कम होता जावेगा। क्योंकि एक तो अविभाज्य उत्पत्ति के साधन (मशीनरी) का पूरा-पूरा उपयोग होगा। दूसरे बड़ी मात्रा के उत्पादन की अन्य बचतें प्राप्त होंगी।

जबकि कारखाना अनुकूलतम आकार या साइज का हो जावेगा, तो सीमान्त उत्पादन-व्यय और औसत व्यय गिरता जावेगा और बराबर हो जावेगा। कुछ समय के लिए क्रमागत सम वृद्धि-नियम (law of constant returns) लागू होगा।

कल्पना कीजिए कि कारखाने के आकार को और अधिक बढ़ाया जाता है। उत्पत्ति के साधनों (factors of production) का आदर्श अनुपात बिगड़ जाता है। उदाहरण के लिए, वह इतना बड़ा कारखाना हो जाता है कि प्रबन्ध अच्छी तरह से नहीं हो सकता या कच्चा माल कम पड़ता है

त्यादि। तो ऐसी दशा में कुछ उत्पत्ति के साधन अन्य उत्पत्ति के साधनों की तुलना में कम हो जावेंगे। उत्पत्ति के साधनों का आदर्श सयोग बिगड़ जावेगा और क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) लागू हो जावेगा। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि या तो कारखाने का आकार अनुकूलतम आकार से बड़ा होगया है, अथवा कुछ उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि होना सम्भव नहीं है। अस्तु, उत्पत्ति के साधनों का अनुपात दोषपूर्ण हो गया। इसका उपाय यही हो सकता है, कि या तो उस कारखाने के आकार को घटाया जावे जिससे कि कारखाना फिर अनुकूलतम आकार का हो जावे, अथवा जो उत्पत्ति के साधन कम हैं उनको बढाया जावे, जिससे कि नया अनुकूलतम आकार प्राप्त हो सके। यदि दो मे से एक बात भी सम्भव नहीं है, तो क्रमागत ह्रास-नियम लागू होगा। वास्तविक जगत् मे न तो यह सम्भव होता है, कि जो उत्पत्ति का साधन कम होता है उसको बढ़ाया जा सके, और न यही सम्भव होता है कि जो उत्पत्ति का साधन कम नहीं है उसे फर्म या धंधे से हटा दिया जावे। यह या तो पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अभाव के कारण या उत्पत्ति के साधन की कमी (जैसे भूमि) के कारण होता है। यही कारण है कि हमें उत्पादन में क्रमागत ह्रास-नियम देखने को मिलता है।

सामान्य कीमत (Normal Value)

ऊपर हम सीमान्त उत्पादन व्यय (marginal cost of production) के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं। आगे हमें सीमान्त उत्पादन व्यय तथा वस्तु के मूल्य (value) के सम्बन्ध का अध्ययन करना है। दूसरे शब्दों में हमें इस बात की जानकारी करनी है कि सीमान्त उत्पादन-व्यय किन अर्थों में सामान्य मूल्य या कीमत (normal price) को निर्धारित करता है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं, कि जहाँ तक किसी एक कारखाने या फर्म का प्रश्न है, उसकी उत्पत्ति सम्पूर्ण उत्पत्ति का इतना नगण्य अंश है, कि यदि वह अपनी उत्पत्ति को बढाये तो उसका उस वस्तु की कीमत पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि अधिक सख्या में कारखाने उत्पादन बढ़ावें या घटावें, तो उसका कीमत पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। या फिर नये कारखाने स्थापित हों या पुराने कारखाने बंद हो जावें तो कीमत पर प्रभाव पड़ सकता है। जहाँ तक व्यक्तिगत कारखाने का प्रश्न है, वह अपनी उत्पत्ति को प्रचलित कीमत के अनुसार घटाता बढाता है। वह उस मात्रा में उत्पादन करता है कि जिसमें सीमान्त उत्पादन-व्यय कीमत के बराबर हो।

जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होती है तो प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार (optimum size) प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। अस्तु, लम्बे समय में जो कीमत प्रचलित होती है, वह अनुकूलतम फर्म के औसत उत्पादन-व्यय के बराबर होती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अनुकूलतम फर्म (optimum firm) का औसत उत्पादन-व्यय उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) के बराबर होता है। अस्तु, लम्बे समय में जो कीमत प्रचलित होती है, वह अनुकूलतम फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होती है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि प्रतिस्पर्द्धा के कारण किस प्रकार कीमत अनुकूलतम फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होती है। यदि बाजार कीमत (market price) सीमान्त उत्पादन-व्यय से ऊँची हो जाती है और अधिक समय ऊँची रहती है, तो अनुकूलतम फर्म 'अनुकूलतम उत्पत्ति' करके उसको ऊँची कीमत पर बेचकर अधिक लाभ प्राप्त करेगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस धंधे की ओर नई पूँजी आकर्षित होगी, नये कारखाने स्थापित होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पत्ति बढ जावेगी और कीमत अनुकूलतम फर्म के सीमान्त उत्पादन के बराबर स्तर पर आ जावेगी। इसके विपरीत यदि बाजार-कीमत अनुकूलतम फर्म के उत्पादन व्यय से भी नीचे गिर जावे और अधिक समय तक नीची रहे, तो कोई भी कारखाना लाभ नहीं पा सकेगा, सबको हानि होगी। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ कारखाने बन्द हो जावेंगे, कुल उत्पादन गिर जावेगा और कीमत अनुकूलतम फर्म के उत्पादन-व्यय के बराबर हो जावेगी। अस्तु, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत किसी वस्तु की जो कीमत निर्धारित होती है, वह अनुकूलतम फर्म के औसत या सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है। लम्बे समय के अन्दर प्रमुख लागत (prime cost) और अनुपूरक लागत (supplementary cost) दोनों ही कीमत के अन्तर्गत आ जानी चाहिएँ। किन्तु अल्पकाल में प्रमुख लागत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है और अनुपूरक लागत सीमान्त व्यय में सम्मिलित नहीं होती।

जब अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होती है, और एकाधिकार स्थापित हो जाता है तो कीमतें सीमान्त लागत-व्यय से अधिक हो जाती हैं। एकाधिकारी तब तक उत्पादन को नहीं बढ़ावेगा जब तक कि उसकी अतिरिक्त लागत (सीमान्त) कीमत से कम न हो।

क्या सीमान्त लागत कीमत को निर्धारित करती है? : हमने ऊपर कहा कि कीमत अनुकूलतम फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय या सीमान्त लागत

बराबर होती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) कीमत को निर्धारित करता है। जब हम कहते हैं कि उत्पादन-व्यय कीमत को निर्धारित करता है तो हम उत्पादन-व्यय में सामान्य-लाभ (normal profits) को सम्मिलित कर लेते हैं। किन्तु कीमत के बदलने पर लाभ भी घट या बढ जाता है। अस्तु; कीमत में परिवर्तन होने से उत्पादन-व्यय या लागत व्यय में परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि लागत-व्यय का एक अंश अर्थात् 'लाभ' बदल जाता है।

इसके अतिरिक्त पुन: उत्पन्न न किये जा सकने वाली वस्तुओं का तो कोई लागत-व्यय अथवा उत्पादन-व्यय होता नहीं। अस्तु, उनकी कीमत उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित नहीं हो सकती।

उत्पादन व्यय के एक और अंश मजदूरी (wages) को लीजिए। यदि मजदूरी बढती है, तो कीमत ऊँची हो जावेगी। किन्तु यदि कीमत बढती है, क्योंकि वस्तु की माँग बढ गई है, तो मजदूरी भी बढेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि कीमत उत्पादन-व्यय को और उत्पादन-व्यय कीमत को निर्धारित नहीं करते हैं।

आरम्भ मे अर्थशास्त्रियों में इस बात पर गहरा मतभेद था, कि उत्पादन-व्यय कीमत को निर्धारित करता है अथवा वस्तु की उपयोगिता (utility) उसके मूल्य को निर्धारित करती है। मार्शल ने इन दोनों विरोधी मतों का समन्वय किया और कहा कि उत्पादन-व्यय और उपयोगिता दोनों ही मूल्य निर्धारण के लिए एक समान महत्त्वपूर्ण हैं।

मार्शल का मत है कि सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) और सीमान्त उपयोगिता दोनों ही मूल्य निर्धारण के लिए आवश्यक हैं। उनका कैंची का उदाहरण प्रसिद्ध है। "उसने लिखा है कि हम इस बात पर भी विवाद कर सकते हैं, कि कैंची का ऊपर वाला फल कपड़े को काटता है अथवा नीचे वाला फल कपडे को काटता है। जबकि हम एक फल को स्थिर रखते हैं और दूसरे से कपड़ा काटते हैं तो यह कहा जा सकता है कि दूसरा फल कपड़ा काटता है। परन्तु यह सही नहीं है। बिना दूसरे फल के कपड़ा नहीं कट सकता। इसी प्रकार माँग (उपयोगिता) और पूर्ति (लागत-व्यय) के बिना मूल्य निर्धारित नहीं हो सकता।

मूल्य-सिद्धान्त (Theory of Value) में समय का महत्त्व : मार्शल ने माँग (demand) और पूर्ति (supply) के द्वारा मूल्य निर्धारण में समय के महत्त्व को स्वीकार किया। उसने समय को चार कालों मे बाँटा।

(१) अत्यन्त अल्पकाल अर्थात् एक दिन या एक सप्ताह, (२) अल्पकाल अर्थात् कुछ महीने या एक वर्ष। (३) कई वर्षों का लम्बा काल (४) सेकुलर काल जो कई दशाब्द का होता है। प्रत्येक काल में मूल्य माँग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु अति-अल्प काल में पूर्ति (supply) उस स्टाक से सीमित होती है जो कि उस समय उपलब्ध हो। कुछ महीनों के अल्पकाल में पूर्ति (supply) से हमारा मतलब उस वस्तु के उस उत्पादन से है, जो कि विद्यमान मशीनरी या प्लाट से उत्पन्न हो सकती हो। लम्बे काल में पूर्ति से हमारा अर्थ उस उत्पादन से है जो कि नई मशीनों को बनाकर और नये अनुभवी और कुशल मजदूरों को सिखाकर तैयार करने के बाद उत्पन्न किया जा सकता है। सेकुलर काल मे पूर्ति से हमारा अर्थ उस उत्पादन से है जो कि नये आविष्कारों, उत्पादन के तरीकों में सुधार होने, पूँजी की वृद्धि, और जनसंख्या की वृद्धि से सम्भव होगा।

जितना ही काल छोटा होगा उतना ही माँग का प्रभाव मूल्य पर अधिक होगा : काल जितना ही छोटा होगा, मूल्य (value) पर माँग (demand) का उतना ही अधिक प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए, दूध का किसी दिन जितना स्टाक होगा और उसकी जितनी माँग होगी उससे दूध का मूल्य निर्धारित होगा। यदि किसी दिन दूध की माँग अनायास बढ जावे (रक्षाबधन के दिन) तो दूध का मूल्य बढ जावेगा; क्योंकि उस दिन दूध की पूर्ति को बढाया नहीं जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि मूल्य पर माँग का प्रभाव बहुत अधिक रहता है। परन्तु यदि किसी प्रदेश में दूध का मूल्य लम्बे समय तक ऊँचा रहे तो घोशी अधिक जानवर रखकर अथवा दूर-दूर से दूध लाकर दूध की पूर्ति को बढा देंगे और उसके परिणामस्वरुप दूध की कीमत गिर जावेगी। यदि बहुत अधिक लम्बा समय होगा तो दूध का धंधा अधिक विकसित हो जावेगा, गाय की अच्छी नस्लें उत्पन्न की जावेंगी, दूध को लाने, ले जाने का अच्छा प्रबन्ध किया जावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि दूध का उत्पादन बढ जावेगा और दूध की कीमत गिरने लगेगी। अन्त में दूध की कीमत दूध के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होगी।

जितना समय लम्बा होगा उतना ही पूर्ति (Supply) का प्रभाव मूल्य पर अधिक होगा : ऊपर हमने जो दूध के उत्पादन का उदाहरण दिया उनसे यह स्पष्ट हो जावेगा, कि जितना ही लम्बा समय होगा मूल्य के निर्धारण में पूर्ति का उतना ही अधिक प्रभाव रहेगा।

मार्शल का मत : ऊपर हमने जो मूल्य-निर्धारण की विवेचना की,

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्शल का मत यह है कि सामान्य मूल्य (normal price) वस्तु के सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) से निर्धारित होता है। सीमान्त उत्पादन-व्यय को हम यहाँ दो दृष्टियों से देखते हैं (१) यह सीमान्त कारखाने (marginal firm) या सीमान्त खेत (marginal farm) का औसत उत्पादन-व्यय है (२) अथवा प्रतिनिधि फर्म (representative firm) का सीमान्त उत्पादन-व्यय होता है। खेती या धधों में जहाँ क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) लागू होता है, वहाँ सीमान्त कारखाना अथवा सीमान्त खेत के उत्पादन व्यय से मूल्य निर्धारित होता है। इस सीमान्त कारखाने या सीमान्त खेत की उत्पत्ति के बिना बाजार की माँग पूरी नहीं होती। उस सीमान्त कारखाने अथवा सीमान्त खेत का उत्पादन-व्यय उस वस्तु की कीमत से निकलना ही चाहिए। जो भी उस बाजार की माँग को पूरा करते हैं, उनमे यह फर्म या खेत का उत्पादन-व्यय सबसे अधिक है। यदि बाजार में वस्तु की कीमत तनिक भी गिर जाती है अथवा उत्पादन-व्यय तनिक भी बढ जाता है, तो इस प्रकार की फर्म या खेत उत्पादन नहीं कर सकता। किन्तु बाजार की माँग को पूरा करने के लिए उस सीमान्त फर्म या सीमान्त खेत की उत्पत्ति की आवश्यकता है। अतएव कीमत इतनी ऊँची होनी चाहिए कि वह सीमान्त खेत या सीमान्त कारखाने के उत्पादन-व्यय के बराबर हो।

जहाँ तक उन धधों का प्रश्न है, जिनमें कि क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होता है, मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के विचार का उपयोग किया है। उस दशा में कीमत प्रतिनिधि फर्म (representative firm) के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होगी। एक बार जबकि प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय से कीमत निर्धारित हो जाती है, तो अन्य फर्मे अपने उत्पादन को बढा लेती हैं, जिससे कि उनका सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) कीमत के बराबर हो जावे।

क्या वास्तव मे कीमत सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होती है. वास्तव में कीमत उत्पादन के बराबर नहीं होती। बहुत कम ऐसा होता है कि किसी वस्तु की कीमत सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर हो। यह अवश्य है कि कीमत लम्बे समय में उत्पादन-व्यय के बराबर होने का प्रयत्न करती है, परन्तु हो नहीं पाती। इसका कारण यह है कि सीमान्त उत्पादन-व्यय को कीमत के बराबर करने के लिए उत्पत्ति को बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे बढाना आवश्यक होगा, जो कि व्यवहार में सम्भव नहीं है। व्यवहार में उत्पादन यथेष्ट मात्रा

में बढ़ता है। साधारणतया व्यवहार में होता यह है, कि कीमत से १० या १
प्रतिशत उत्पादन अधिक लागत-व्यय पर उत्पन्न होता है। शेष कम उत्पादन-व्
पर उत्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त ससार स्थैतिक (static) नहीं है, प्रवैगिक (dynam
अर्थात् परिवर्तनशील है। अस्तु; किसी वस्तु की माँग (demand) औ
पूर्ति (supply) सदैव बदलती रहती है। ऐसी दशा में यह आशा करना
कीमत और सीमान्त उत्पादन-व्यय बराबर होगा, व्यर्थ है।

क्या सीमान्त इकाई (Marginal Unit) उत्पादन-व्यय क निर्धारित करती है? : वैज्ञानिक दृष्टि से कहना उचित नहीं है कि सीमा
इकाई की उपयोगिता (utility) कीमत को निश्चित करती है। सीमा
मूल्य का कारण नहीं है (अर्थात् वह मूल्य निर्धारित नहीं करता), वरन् मू
के साथ वह भी माँग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। मार्शल के शब्दों
सीमान्त उत्पादन-व्यय मूल्य को निर्धारित नहीं करता, वरन् वह मूल्य के सा
माँग और पूर्ति के द्वारा निर्धारित होता है। सीमान्त उत्पादन-व्यय मूल्य क
बतलाता अवश्य है, किन्तु वह उसको निर्धारित नहीं करता। यदि किसी व
की माँग बढ जावे, तो सीमान्त इकाई ही बदल जावेगी। इसी प्रकार यदि पू
मे परिवर्तन हो जावे, तो सीमान्त उत्पादन-व्यय में परिवर्तन हो जावेगा। कीम
वास्तव में माँग (demand) और पूर्ति (supply) से निर्धारित हो
है न कि सीमान्त इकाई (marginal unit) की उपयोगिता से अथव
सीमान्त इकाई के उत्पादन-व्यय से।

परन्तु क्योंकि सीमान्त इकाई कुल पूर्ति का एक भाग होती है, अतः व
भी मूल्य को प्रभावित करती है।

आधुनिक मत . मार्शल ने सीमान्त उत्पादन-व्यय के दो रूप हमा
सामने रक्खे हैं, एक तो सीमान्त फर्म या सीमान्त खेत का औसत उत्पादन-व्य
दूसरा प्रतिनिध फर्म का सीमान्त उत्पादन-व्यय। पहला सीमान्त उत्पादन-व्य
उन धन्धो में लागू होगा जो कि क्रमागत ह्रास-नियम के अनुसार उत्पादन क
रहे हैं। और दूसरा उन धन्धों में लागू होगा जो क्रमागत वृद्धि-नियम के अनु
सार उत्पादन कर रहे हैं। मार्शल का सीमान्त फर्म से अर्थ उस फर्म से है
जो कि अधिकतम औसत व्यय पर उत्पादन करती हो। मार्शल के प्रतिनिधि
फर्म का सीमान्त उत्पादन-व्यय भी उन इकाइयों का उत्पादन व्यय है, जो कि
कम से कम सुविधाओं की स्थिति में उत्पन्न की गई हों।

मार्शल के विपरीत आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत यह है कि अनुकूलत

फर्म (optimum firm) का सीमान्त उत्पादन-व्यय मूल्य को प्रभावित करता है। अनुकूलतम फर्म से अर्थशास्त्रियों का अर्थ उस फर्म से है, जो कि अधिकतम सुविधाजनक स्थित में उत्पादन करती हो।

सामान्य मूल्य (normal value) की दृष्टि से मार्शल धन्धों को उत्पत्ति के नियमों (law of production) के अनुसार दो श्रेणियों में बाँट देते हैं। एक वे धन्धों जिनमें क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) लागृ होता है, दूसरे वे धन्धे जिनमें क्रमागत-वृद्धि-नियम (law of increasing returns) लागू होता है। पहली अवस्था में सामान्य मूल्य सीमान्त फर्म या सीमान्त खेत के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है, और दूसरी अवस्था में प्रतिनिधि फर्म के सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री धन्धों का उत्पत्ति के नियमों के आधार पर श्रेणी-विभाजन नहीं करते। उनका कहना है कि उत्पत्ति के नियमों का सम्वन्ध तो उत्पत्ति के साधनों के संयोग तथा अनुपात से सम्बन्ध रखता है। एक ही फर्म में एक स्थिति मे क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) लागू हो सकता है, सम उत्पत्ति नियम (law of constant returns) लागू हो सकता है और क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns)लागू हो सकता है। आधुनिक मत यह है, कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) की स्थिति मे सब फर्में अनुकूलतम फर्म बनने का प्रयत्न करती हैं और सबका सीमान्त उत्पादन-व्यय तथा औसत उत्पादन-व्यय बराबर होता है। किन्तु अनुकूलतम (optimum) कोई निश्चित स्थिति नहीं है। अनुकूलतम स्थिति उत्पादन-प्रणाली और सगठन मे परिवर्तन होने पर बदल जाती है।

किन्तु मार्शल और उसके अनुयायियों तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मतभेद यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता। जब हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि मुद्रा उत्पादन-व्यय (money cost of production) के पीछे कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही हैं, तो यह मतभेद और भी स्पष्ट हो जाता है। मार्शल और उसके अनुयायी भी यह स्वीकार करते हैं, कि मुद्रा-उत्पादन-व्यय मूल्य (value) की पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं करता। मुद्रा-उत्पादन-व्यय के पीछे वास्तविक उत्पादन व्यय (real cost of production) काम करता है। वास्तविक उत्पादन-व्यय या वास्तविक लागत के सम्वन्ध में अनेक मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उत्पादन में मजदूरों को जो कष्ट कर परिश्रम करना पड़ता है, तथा त्याग करना पड़ता है, वह वास्तविक लागत है। इसे मूल्य

का श्रम सिद्धान्त कहते हैं। दूसरा मत यह है कि मजदूरों के कष्टकर पीड़
और त्याग के साथ ही प्रतीक्षा का त्याग भी जोड़ा जाना चाहिए। इसे उत्पा
व्यय-सिद्धान्त कहते हैं। किन्तु आधुनिक मत यह है कि वास्तविक उत्पा
व्यय (real cost of production) उत्पत्ति के साधनों का वह दूसरा अन्य
वैकल्पिक उपयोग है जिसे इस वस्तु को उत्पन्न करने के लिए छोड़ दिया
अर्थात् अवसर लागत-व्यय (opportunity cost) है। यह सिद्
उत्पादन-व्यय की व्याख्या उपयोगिता (utility) के शब्दों में करता है
आधुनिक अर्थशास्त्री अन्तिम सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अगले परिच्छे
में हम इन सिद्धान्तों का ऐतिहासिक क्रम के अनुसार अध्ययन करेंगे।

परिच्छेद २४

वेक लागत (Real Cost) और मूल्य (Value)

छले परिच्छेदों मे जहाँ-जहाँ हमने उत्पादन-व्यय शब्द का प्रयोग किया अर्थ उत्पादन के खर्च अर्थात् मुद्रा-व्यय से था। जहाँ तक मुद्रा उत्पादन-उत्पादन के खर्च का प्रश्न है, उत्पादक की दृष्टि से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय में कीमत इन खर्चों (सामान्य लाभ जिसमें सम्मिलित है) बर ही होनी चाहिए। नहीं तो व्यक्तिगत साहसी उत्पादन नहीं ता।

परन्तु जहाँ तक समस्त समाज या राष्ट्र का प्रश्न है, मुद्रालागत या -व्यय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि वास्तविक उत्पादन-क्योंकि मुद्रा (money) केवल मूल्य (value) का नाम मात्र है, अधिक कुछ नहीं।

समाज की दृष्टि से वास्तविक लागत बहुत महत्त्वपूर्ण है। वास्तविक से हमारा अर्थ समाज के सदस्यों द्वारा किये गए उस श्रम और त्याग से उस वस्तु को उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। मजदूरों को श्रम करना है, पूँजीपतियों को लाभ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है और पूँजी बचानी है भूस्वामियों को अपनी भूमि के उपयोग से वंचित रहना पड़ता है, तब र कहीं उत्पादन होता है। अस्तु, किसी वस्तु के उत्पादन के लिए बहुत र का श्रम, प्रयत्न और त्याग करना पड़ता है और वही वास्तविक उत्पादन-या लागत (real cost) होती है।

मुद्रा लागत (Money Cost) तथा वास्तविक लागत एक नहीं ती : व्यवहार मे मुद्रा लागत और वास्तविक लागत कभी समान नहीं होती। हरण के लिए, भूमि का मूल्य उसकी कमी पर निर्भर है। भूमि कि जितनी ी होगी वह उतनी ही अधिक मूल्यवान् होगी। अध्यापक, डाक्टर, सिनेमा र, मजदूर, भंगी, ग्रामीण किसान तथा व्यापारी की आय या वेतन कभी नके श्रम तथा त्याग के अनुरूप नहीं होती। साधारण तौर पर लागत-व्यय से मारा तात्पर्य मुद्रा लागत (money cost) से होता है। व्यवसायी अथवा

उत्पादक उत्पादन के साधनों को खरीदने में जो व्यय करता है वही वस्तु की लागत मुद्रा होती है। अस्तु; हम एक प्रकार के लागत-व्यय तथा दूसरे प्रकार के लागत-व्यय की तुलना नही कर सकते।

अर्थशास्त्रियों ने मूल्य (value) का आधार क्या है? इसकी व्याख्या करने का निरन्तर प्रयत्न किया, किन्तु इस सम्बन्ध में गहरा मतभेद रहा है। कुछ विद्वान् श्रम (labour) को मूल्य (value) का कारण और माप मानते हैं, कुछ विद्वान् श्रम और प्रतीक्षा (अर्थात् पूँजी) को मूल्य का कारण मानते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि अल्पकालीन और दीर्घकालीन मूल्य उपयोगिता (utility) द्वारा निर्धारित होता है। ऊपर लिखे विचारों के आधार पर मूल्य सम्बन्धी तीन सिद्धान्त हैं (१) मूल्य का श्रम सिद्धान्त (labour theory of value) (२) उत्पादन-लागत व्यय मूल्य सिद्धान्त (cost of production theory of value) (३) सीमान्त उपयोगिता मूल्य सिद्धान्त (marginal utility theory value)।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value): इस सिद्धान्त के मानने वालों में ऐडम स्मिथ, रिकार्डो और कार्ल मार्क्स मुख्य हैं।

ऐडम स्मिथ का कहना था कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य या कीमत उस परिश्रम और कष्ट द्वारा निर्धारित होती है जो कि उस वस्तु को उत्पन्न करने में होता है। किन्तु ऐडम स्मिथ की मान्यता यह थी कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में ही केवल श्रम विनिमय मूल्य (exchange value) को निर्धारित करता है। जैसे-जैसे भूमि की न्यूनता होती जाती है और पूँजी (capital) इकट्ठी होती जाती है, भूमि और पूँजी के स्वामियों को भी उनके साधनों का मूल्य देना पड़ता है और केवल श्रम ही उत्पादन का एक मात्र व्यय नहीं रहता। अस्तु, ऐडम स्मिथ क्रमशः उत्पादन-व्यय सिद्धान्त की ओर अधिक झुक गया।

इसके विपरीत रिकार्डो का मत था कि आधुनिक काल मे भी किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक श्रम (labour) द्वारा ही निर्धारित होता है। रिकार्डो का कहना था कि खेती की पैदावार का मूल्य सबसे कम उर्वरा भूमि (सीमान्त भूमि—marginal land) पर लागत व्यय से निर्धारित होता है, और वह भूमि कोई लगान (rent) नहीं देती। अतः भूमि के स्वामियों को जो लगान दिया जाता है, वह मूल्य पर प्रभाव नहीं डालता। रहा पूँजी का प्रश्न, वह पिछले श्रम (labour) का परिणाम मात्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि रिकार्डो ने भूमि तथा पूँजी के साधनों को भी अवहेलना

हीं की परन्तु उसका कहना यह था कि केवल श्रम के द्वारा ही किसी वस्तु का ल्य निर्धारित होता है।

श्रम-सिद्धान्त के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि वह ऐसी वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण की व्याख्या नहीं कर सकता कि जिसको पुनः उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध मे रिकार्डो ने लिखा है "कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं कि जिनका मूल्य केवल उनकी न्यूनता के कारण होता है। उनका मूल्य उस श्रम-राशि से जो कि उसको उत्पन्न करने में लगी थी, सर्वथा स्वतन्त्र होता है। उन वस्तुओं का मूल्य उन व्यक्तियों के पास धन (wealth) और उन वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा पर निर्भर रहता है।" दूसरे शब्दों में रिकार्डो का कहना था कि उन वस्तुओं का मूल्य सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) के द्वारा निर्धारित होता है।

रिकार्डो के श्रम-सिद्धान्त ने समाजवादियों को बहुत प्रभावित किया। कार्ल मार्क्स ने इस बात पर विशेष बल दिया कि श्रम ही मूल्य उत्पन्न करने का एक मात्र कारण है, किन्तु श्रमिक को जो मजदूरी मिलती है वह उत्पादन-व्यय का बहुत थोड़ा अंश होता है और पूँजीपति बहुत बड़ा भाग स्वयं लेकर मजदूर का शोषण करता है।

मार्क्स का कहना था कि मूल्य (value) श्रम का स्थूल रूप है। किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए जितने श्रम-समय (labour time) की आवश्यकता होती है, वही उसके मूल्य को निर्धारित करता है।

जहाँ तक पूँजी का प्रश्न है, मार्क्स ने रिकार्डो के अनुसार ही पूँजी को पिछले श्रम का परिणाम बतलाया है। जहाँ तक श्रम की कुशलता की भिन्नता का प्रश्न है, उसका कहना था कि कुशल श्रम साधारण श्रम से कई गुना अधिक होता है। अर्थात् अमुक मात्रा मे यदि कुशल श्रम किया गया है तो वह कई गुने अधिक साधारण श्रम के बराबर होगा। अस्तु, किसी वस्तु को उत्पन्न करने में चाहे कुशल श्रम ही लगा हो, किन्तु उसका मूल्य साधारण श्रम में ही निर्धारित होगा, क्योंकि कुशल श्रम और साधारण श्रम का क्या अनुपात होगा यह रिवाज से निश्चित होता है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धान्त

ऊपर दिए हुए मूल्य के श्रम-सिद्धान्त के आधार पर कार्लमार्क्स ने अपने अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि मजदूर तभी उत्पादन

कर सकता है जबकि उसके पास यन्त्र तथा औज़ार हों। परन्तु मजदूर के पास यह साधन नहीं होते, अतः उसे अपना श्रम पूँजीपति को बेचना पड़ता है। पूँजीपति मजदूर को, जो कुछ वह उत्पादन करता है उसका पूरा मूल्य नहीं देता है। यहाँ मार्क्स मजदूरी के जीवन-निर्वाह-सिद्धान्त (subsistence theory) की सहायता लेता है। उसका कहना है कि मजदूरी (wages) की प्रवृत्ति यह है कि मजदूरी केवल उतनी ही रहती है जितनी कि मजदूर को जीवित रखने के लिए यथेष्ट हो। जितनी मजदूरी उसको जीवित रखने के लिए आवश्यक है, उससे अधिक मजदूरी तो मिलेगी नहीं, परन्तु मजदूर के जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक उत्पादन में जितना समय लगता है, मजदूर उससे अधिक समय तक काम करता है। इस प्रकार वह जो अतिरिक्त उत्पादन करता है वह पूँजीपति की जेब में जाता है। इस प्रकार पूँजीपति मजदूरों का शोषण करता है। जब पूँजीपति इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य (surplus value) प्राप्त करता है जो उसके द्वारा और अधिक श्रम को खरीदता है और अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है, और उस अतिरिक्त मूल्य को फिर अधिक श्रम को खरीदने में लगाता है। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता है और पूँजीपति श्रमिक का शोषण करता है।

मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (Labour Theory of value) की आलोचना : मूल्य के श्रम-सिद्धान्त की अर्थशास्त्री नीचे लिखे अनुसार आलोचना करते हैं।

(१) इस सिद्धान्त के विरुद्ध पहली आपत्ति यह उठाई जाती है कि श्रम बहुत प्रकार का होता है। और सभी प्रकार के श्रम का एक मापदण्ड नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए एक कुली जो मिट्टी खोदता है उसका और एक इंजिनियर जो विशाल भवन का निर्माण करता है उसका श्रम एक मापदण्ड से नहीं नापा जा सकता। इसी प्रकार एक विद्वान् लेखक या आचार्य और उसके टाइपिस्ट के श्रम में भेद है। यह कहना कि रिवाज के द्वारा कुशल श्रम भी साधारण अकुशल-श्रम में बदल जाता है, गलत है।

(२) हम प्राय देखते हैं कि जब किसी वस्तु का उत्पादन हो चुकता है अर्थात् उसमें श्रम लग चुकता है, तब भी उसका मूल्य बदलता रहता है। अतः यदि श्रम मूल्य का कारण होता तो श्रम लग चुकने के उपरान्त उसका मूल्य नहीं बदलता। फलतः श्रम मूल्य का माप हो सकता है उसका कारण नहीं हो सकता।

(३) मूल्य के श्रम सिद्धान्त में उन वस्तुओं की उपेक्षा की गई है जिनके त्पन्न करने में श्रम की आवश्यकता ही नहीं होती, अथवा जिसका मूल्य उसमें गे हुए श्रम की तुलना मे बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए, यदि आज हात्मा बुद्ध का लिखा हुआ कोई पत्र मिल जावे, या ऐसा सोता निकल आवे के जिसके जल में ओषधि के गुण हों, तो ये वस्तुएँ मूल्यवान् होंगी, परन्तु नमें श्रम नहीं लगा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम मूल्य का कारण हीं है। इसके अतिरिक्त यदि श्रम ऊटपटॉग ढग से लगाया जावे तो वह व्यर्थ गा, उससे कोई मूल्य उत्पन्न नही होगा।

(४) आधुनिक अर्थशास्त्री मार्क्स के, "अतिरिक्त मूल्य-सिद्धान्त" की आलोचना इस आधार पर करते हैं, कि आज की प्रतिस्पर्द्धा में अतिरिक्त मूल्य हीं रह सकता। उनका कहना है कि यदि किसी फर्म को अतिरिक्त मूल्य surplus value) का लाभ होता है तो वह और अधिक उत्पादन करेगी। अन्य फर्में भी इसी स्थिति मे होंगी और वे भी अधिकाधिक उत्पादन करके अधिकाधिक अतिरिक्त मूल्य को प्राप्त करना चाहेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन अधिक होगा और उस वस्तु की बाजार-कीमत गिर जावेगी। स प्रकार अतिरिक्त मूल्य समाप्त हो जावेगा।

इस प्रकार श्रम सिद्धान्त यद्यपि ऊपर से अधिक न्यायपूर्ण और समता के आधार पर आश्रित दिखलाई पड़ता है, किन्तु मूल्य (value) के कारण ी समुचित व्याख्या नहीं करता।

मूल्य का लागत-व्यय-सिद्धान्त (Cost of Production Theory) : इस सिद्धान्त को मानने वालों में कैंटिलन प्रथम विद्वान् था जिसने इस मत का प्रतिपादन किया था। उसका कहना था कि किसी वस्तु का आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) उस भूमि और श्रम द्वारा निर्धारित होता है जो उस वस्तु को उत्पन्न करने में लगता है। उसका कहना था कि समय पाकर पूर्ति (supply) माँग के अनुसार बदलती रहती है और माँग से सामजस्य स्थापित कर लेती है। यदि वस्तु कम होती है, तो उसकी कीमत ऊँची चढ़ जाती है और उत्पादन बढ़ जाता है। यदि उस वस्तु की बहुलता होती है, तो उसकी कीमत गिर जाती है और उत्पादन कम हो जाता है।

कैंटिलन के इस सिद्धान्त के आधार पर ही ऐडम स्मिथ, मार्शल तथा मिल इत्यादि ने अपने मूल्य-सिद्धान्त को आधारित किया था।

कैंटिलन जिसे आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) कहता था, स्मिथ ने उसे प्राकृतिक मूल्य (natural value) कहा और मार्शल ने सामान्य मूल्य (normal value) नाम से सम्बोधित किया है। प्राकृतिक मूल्य अथवा सामान्य-मूल्य इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-व्यय पर निर्भर रहता है।

रिकार्डो ने पूँजी को पिछले श्रम का फल कहा है, किन्तु सीनियर ने इस मत का प्रतिपादन किया कि सूद (interest) प्रतीक्षा या परिवर्तन अथवा त्याग (obstinence) का प्रतिफल है। उसका कहना था कि उत्पादन के लिए केवल श्रम ही नहीं परिवर्जन अथवा त्याग की भी आवश्यकता होती है। अत: उसके अनुसार उत्पादन व्यय में केवल मजदूरी ही नहीं सूद भी सम्मिलित होना चाहिए। हाँ, उसने लगान को उत्पादन-व्यय में सम्मिलित नहीं किया। ऐडमस्मिथ ने सीनियर के उत्पादन-व्यय सिद्धान्त का ही अनुसरण किया परन्तु उसने इस सिद्धान्त में इस आशय का सशोधन किया कि क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा कभी पूर्ण नहीं होती, अतः मूल्य लम्बे काल में उत्पादन व्यय के बराबर होता है। मार्शल ने उत्पादन-व्यय-सिद्धान्त (cost of production theory) को अधिक सशोधित किया। उसके अनुसार उत्पादन-व्यय कैंची का एक फल मात्र था उसका दूसरा फल सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) थी।

उत्पादन-व्यय-सिद्धान्त की आलोचनाः अर्थशास्त्री नीचे लिखे अनुसार उत्पादन-व्यय-सिद्धान्त की आलोचना करते हैं।

(१) इस सिद्धान्त मे इस बात की उपेक्षा की गई है कि यदि श्रम और पूंजी को ठीक तरह से नहीं लगाया जावे, तो जो कुछ उत्पन्न किया जावेगा उसका मूल्य कुछ नहीं होगा। कल्पना कीजिए, कोई व्यक्ति रेगिस्तान या निर्जन वन में कई लाख रुपए लगाकर एक बड़ी इमारत खड़ी करता है, तो उसका मूल्य कुछ नहीं होगा। इसका कारण यह है कि उसकी मांग (demand) नहीं होगी।

(२) उत्पन्न हो जाने के उपरान्त वस्तु का मूल्य बदल सकता है। उदाहरण के लिए यदि ठंडी लहर आजावे तो उन दिनों बरफ की कीमत कम जावेगी, और यदि गरम हवा अधिक चलने लगे तो बरफ की कीमत ऊँची हो जावेगी फिर चाहे उसका उत्पादन-व्यय कितना ही रहा हो।

(३) इस सिद्धान्त से हम उन वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित नहीं कर सकते जो कि पुनः उत्पन्न नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, प्राचीन

पत्र, हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, मूर्तियाँ इत्यादि।

(४) कुछ वस्तुओं का उत्पादन-व्यय ही मालूम नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, गेहूँ और भूसा, ऊन और भेड़ का मास इत्यादि। अर्थात् वे वस्तुएँ जिनका उत्पादन सम्मिलित होता है।

(५) उत्पादन-व्यय-सिद्धान्त को स्वीकार करने से एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है, कि उत्पादन-व्यय भिन्न-भिन्न फर्मों का भिन्न-भिन्न होता है, अत यह निश्चय करना कठिन होगा कि किस फर्म का उत्पादन व्यय मूल्य (value) को निश्चित करेगा।

सच तो यह है कि किसी वस्तु की पूर्ति (supply) और माग (demand) के द्वारा ही उसका मूल्य निर्धारित होता है।

पुन' उत्पादन व्यय : ऐसा बहुत कम होता है कि किसी वस्तु का सामान्य मूल्य (normal value) उत्पादन व्यय के बराबर हो। आज के परिवर्तनशील युग में, जब कि उत्पादन के ढगों और क्रियाओं में निरतर परिवर्तन होता रहता है, उत्पादन-व्यय लगातार लम्बे समय तक एक समान नहीं रहता। अस्तु, किसी वस्तु की कीमत उसके उत्पन्न करने में जो उत्पादन-व्यय हुआ है, उसके बराबर न होकर उसको भविष्य में उत्पन्न करने मे जो व्यय होगा उसके बराबर होगी। इसी आधार पर कुछ अर्थशास्त्री, जिनमें 'कैरे' मुख्य हैं, यह मानते हैं कि किसी वस्तु का सामान्य मूल्य उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित नहीं होता वरन पुनः उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इसमें कोई भी सदेह नहीं कि उत्पादन-व्यय की अपेक्षा पुन' उत्पादन-व्यय का प्रभाव मूल्य-निर्धारण पर अधिक पड़ता है। किन्तु इस सिद्धान्त के भी वही दोष हैं जो उत्पादन-व्यय सिद्धान्त के हैं।

सीमान्त उपयोगिता मूल्य सिद्धान्त (Marginal Utility theory)

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य या कीमत उसकी माग और उपलब्धि के सम्बन्ध से निर्धारित होती है। उत्पादन-व्यय का एक मात्र कार्य उस वस्तु की उपलब्धि की मात्रा को निर्धारित करना है। चाहे वस्तु पुन. उत्पन्न होने वाली हो अथवा पुन' उत्पन्न होने वाली न हो, उसकी सीमान्त उपयोगिता अथवा माँग से ही उसका मूल्य निर्धारित होगा।

साधारण तौर से देखने से यह प्रतीत होता है कि सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त तथा उत्पादन-सिद्धान्त में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों सिद्धा

देखने में साम्य होते हुए भी मूलतः इनमें वहुत भेद है। सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन-व्यय मूल्य निर्धारित नहीं करता। उत्पादन-व्यय केवल उपलब्धि को परोक्ष रूप से प्रभावित भर करता है। मूल्य मांग द्वारा निर्धारित होता है।

आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त (marginal utility theory) को ही स्वीकार करते हैं।

परिच्छेद २५

परस्पर सम्बन्धित मूल्य (Inter Related Value)

अभी तक हमने यह मान कर मूल्य का अध्ययन किया है, कि वस्तु अकेली है। ऐसा हमने केवल सुविधा की दृष्टि से किया था। किन्तु वास्तविक जगत् में प्राय ऐसा नहीं होता है। वस्तुओं का मूल्य एक दूसरे पर निर्भर रहता है। यही नहीं, बहुत-सी वस्तुओं की पूर्ति का स्रोत भी एक ही होता है, और बहुत-सी वस्तुओं की माँग का भी स्रोत एक ही होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम अधिक गेहूँ उत्पन्न करना चाहें तो भूसा अनायास ही अधिक राशि में उत्पन्न होगा। चाय की माँग बढने पर शक्कर और दूध की माँग बढना भी अनिवार्य है। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि इस प्रकार की वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। इन वस्तुओं की कीमत या मूल्य का परस्पर क्या सम्बन्ध है।

सम्मिलित माँग (Joint Demand) · जब किसी आवश्यकता की तृप्ति करने के लिए कुछ वस्तुओं की सम्मिलित आवश्यकता होती है, तो उसे सम्मिलित माँग कहते हैं। यदि कोई चाय पीना चाहता है, तो चाय की पत्ती, शक्कर और दूध की सम्मिलित माँग होगी। इसी प्रकार पैन और स्याही या मोटरकार और पैट्रोल की सम्मिलित माँग है। मकान बनाने के लिए लोहा, चूना, सीमेंट, ईंट लकड़ी इत्यादि की सम्मिलित माँग होती है। इसी प्रकार मकान बनाने के लिए बहुत प्रकार के मजदूरों राज, बढई, मजदूर की भी सम्मिलित माँग होती है।

जिन वस्तुओं की सम्मिलित माँग होती है, उनकी माँग अनुसूची (demand schedule) पृथक् नहीं बनाई जा सकती। उदाहरण के लिए, कपास की उपयोगिता तथा यंत्र अथवा मशीन की उपयोगिता उस वस्त्र से निकलती है जो कि उनकी सहायता से बनता है। किन्तु यह मालूम करना कि उस वस्त्र की उपयोगिता का कौन-सा अंश कपास के कारण है और कितना अंश मशीन के कारण है असम्भव है। इनकी पृथक् उपयोगिता को जानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। ऐसी दशा में उन वस्तुओं का मूल्य (value) किस प्रकार निर्धारित किया जावे जिनकी माँग सम्मिलित है।

इस समस्या को हल करने के लिए हमें उनकी सीमान्त उपयो- (marginal utility) को जानना होगा। जिन वस्तुओं की माँग सम्मि- होती है उनकी सीमान्त उपयोगिता जानने का तरीका यह है कि उनमें से एक पूर्ति (supply) मे परिवर्तन किया जावे, शेष को ज्यों का त्यों रहने दिया ज। अन्य वस्तुओं को पूर्ववत रखकर किसी एक की पूर्ति को थोड़ा घटाकर वढा कर उसकी सीमान्त उपयोगिता को जाना जा सकता है। चाय का शक्कर, और दूध की सम्मिलित माँग होती है। यदि हम शक्कर तथा दू मात्रा पूर्ववत ही रक्खें और चाय की पत्तियों को बढाते जावें, तो चाय की को वढाने से उपभोक्ता (consumer) को कितनी अतिरिक्त उपय प्राप्त होगी यही उस उपभोक्ता के लिए चाय की सीमान्त उपयोगिता है। ह दूसरा उदाहरण लेकर इसको समझाने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना कीजि एक कपड़ा वनाने के कारखाने में दो तरीकों से कपड़ा तैयार किया जा एक तरीका तो यह है कि एक बुनकर को तीन कर्घों पर काम करना पड़े दूसरा तरीका यह कि एक बुनकर को चार कर्घों पर काम करना पड़े हम एक बुनकर को चार कर्घे देते हैं और उससे प्रति बुनकर जो अधिक वनता है वह चौथे कर्घे (अर्थात् पूँजी की इकाई) की देन समझा ज है। इस अतिरिक्त उत्पादन को हम एक कर्घे अर्थात् पूँजी की इकाई की उत्पत्ति अर्थात् सीमान्त उपयोगिता मान सकते हैं। इसी प्रकार उ उन सभी साधनों जिनकी कि सम्मिलित माँग (joint demand) उनकी मात्रा मे परिवर्तन करके हम प्रत्येक साधन की सीमान्त उपयो जान सकते हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट होगया कि हम उन वस्तुओं की, जिनकी सम्मिलित माँग है, सीमान्त उपयोगिता जान सकते हैं पहले ही जान चुके हैं कि इनमे से प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उत्पा (marginal cost of production) मालूम की जा सकती है सम्मिलित माँग वाली वस्तुओं का मूल्य उनकी सीमान्त उपयोगिता औ उत्पादन-व्यय के द्वारा निर्धारित होता है।

किस अवस्था मे उत्पत्ति का कोई साधन अधिक पारिश्र कर सकता है : अव हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि किस उत्पत्ति का कोई साधन (factor of production), जिसकी को उत्पन्न करने के लिए सम्मिलित माँग होती है, अपना प्रतिफल या बढ़ा सकता है। उदाहरण के लिए हम कल्पना करें; हमें मकान

और उसके लिए राज, मजदूर, वढई तथा प्लास्टर करने वालों की आवश्यकता है। अर्थात् इनकी सम्मिलित माँग है। हम कल्पना करें कि मकानों की माँग (demand) और पूर्ति (supply) बरावर है, और उनको तैयार करने के लिए आवश्यक उत्पादन के साधनों की माँग और पूर्ति भी बरावर है। ऐसी अवस्था में प्लास्टर करने वाले हड़ताल कर देते हैं, और वे अधिक मजदूरी की माँग करते हैं। हमें देखना है कि किस अवस्था मे प्लास्टर करने वाले अधिक मजदूरी प्राप्त करने में सफल होंगे?

पहली शर्त तो यह है कि प्लास्टर करने वालों के विना काम न चल सके, अर्थात् उनका श्रम प्राप्त करना अनिवार्य हो और उसमें कोई अच्छे स्थानापन्न (substitute) प्राप्त न हों। अर्थशास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि उसकी माँग लचकहीन (inelastic) होनी चाहिए। यदि प्लास्टर करने वालों की सेवा की अनिवार्य आवश्यकता न हो, तो वे अधिक मजदूरी प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते। दूसरी शर्त यह है कि जिस वस्तु को उत्पन्न करने के लिए उस साधन की आवश्यकता हो, उसकी भी माँग लचकहीन होनी चाहिए। कल्पना कीजिए कि मकानों की माँग लचकरहित (inelastic) है, उनकी पूर्ति (supply) कम होने से उनकी कीमत बहुत ऊँची हो जावेगी। प्लास्टर करने वालों की हड़ताल के फलस्वरूप मकानों का वनना बंद हो जावेगा, पूर्ति कम हो जावेगी और उनकी कीमत ऊँची हो जावेगी। मकानों की कीमतें ऊँची हो जाने के कारण अधिक लाभ के मकान वनाने वाले प्लास्टर करने वालों को अधिक मजदूरी देने पर राजी हो जावेंगे। तीसरी शर्त यह है कि उस उत्पत्ति के साधन (factor of production) की कीमत वस्तु के कुल उत्पादन-व्यय का एक बहुत थोड़ा अंश होना चाहिए। हमारे उदाहरण में प्लास्टर करने वालों की मजदूरी का बिल मकान के वनाने में होने वाले कुल व्यय का बहुत थोड़ा अंश होना चाहिए। क्योंकि उनकी मजदूरी कुल उत्पादन-व्यय का थोड़ा सा ही अंश होगा, अतः उनकी मजदूरी में थोड़ी वृद्धि होने से कुल उत्पादन-व्यय में अधिक अन्तर नहीं होगा।

चौथी शर्त यह है कि उत्पत्ति के अन्य साधन ऐसे हों, जिनका पारिश्रमिक या प्रतिफल कम किया जा सकता हो। अन्य साधनों की माँग में थोड़ी भी कमी होने से उनकी कीमत में बहुत अधिक गिरावट आती हो। इसका परिणाम यह होगा कि उनके पारिश्रमिक या कीमत में बहुत अधिक गिरावट आ जाने से उस साधन विशेष (प्लास्टर करने वालों) को अधिक कीमत मिल सकेगी। हमारे उदाहरण में प्लास्टर करने वालों की हड़ताल के कारण

चनना बद हो जावेगा और राज तथा बढई इत्यादि और काम न मिलने के कारण कम मजदूरी लेना स्वीकार कर लेंगे, ऐसी दशा में उस वक्त प्लास्टर करने वालों को अधिक मजदूरी दी जा सकेगी।

यदि ऊपर लिखी शर्तों में से कोई भी एक शर्त पूरी होती है, तो वह उत्पत्ति का साधन अधिक आय या प्रतिफल प्राप्त कर सकता है।

सम्मिलित पूर्ति (Joint Supply) : जबकि दो या अधिक वस्तुएं साथ-साथ इस प्रकार उत्पन्न की जाती हैं कि उनका उत्पादन भी सम्मिलित हो और एक को उत्पन्न करने से दूसरी स्वतः ही उत्पन्न हो जावे, तो उसे सम्मिलित पूर्ति (joint supply) कहते हैं। उन्हें सम्मिलित उत्पत्ति (joint product) भी कहते हैं। उदाहरण के लिए, गेहूँ और भूसा, भेड़ का मांस और ऊन, कपास और बिनौला, गैस और कोक सम्मिलित रूप से उत्पन्न होते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें से एक वस्तु को उत्पन्न करने से दूसरी अपने आप उत्पन्न हो जावेगी। सम्मिलित उत्पत्ति में जो कम मूल्यवान वस्तु होती है उसे गौण वस्तु (by product) भी कहते हैं।

सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का मूल्य (value) किस प्रकार निर्धारित होता है। हम गेहूँ और भूसे का कुल उत्पादन-व्यय जानते हैं, किन्तु हम गेहूँ का अथवा भूसे का पृथक् उत्पादन-व्यय नहीं जान सकते। जबकि हम प्रत्येक वस्तु का उत्पादन-व्यय नहीं जान सकते, तो उसका मूल्य किस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं।

अध्ययन की दृष्टि से हम सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जिनके सापेक्षिक अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है। इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनके सापेक्षिक अनुपात में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। यदि हम चाहें तो भेड़ की ऐसी नस्ल उत्पन्न कर सकते हैं जिसमें ऊन अधिक निकले और मांस कम निकले, और यदि हम चाहें तो ऐसी नस्ल भी उत्पन्न कर सकते हैं कि जिसमें मांस अधिक निकले और ऊन कम निकले। किन्तु कपास और बिनौले के सापेक्षिक अनुपात में मनुष्य परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी प्रकार गेहूँ और भूसे का सापेक्षिक अनुपात निश्चित है।

यदि सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ प्रथम श्रेणी की हैं अर्थात् उनका सापेक्षिक अनुपात बदला जा सकता है, तो उनका सीमान्त उत्पादन व्यय (marginal cost) जाना जा सकता है और उसी से उनका मूल्य निर्धारित होगा। हमें यह आवश्यक नहीं है कि हम भेड़ के मांस और ऊन

के उत्पादन-व्यय को अलग-अलग जानें। परन्तु यदि हम उनमें से किसी का सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost) मालूम कर सकें तो हम उनमें से प्रत्येक का मूल्य निर्धारित कर सकते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि लम्बे समय में मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय के द्वारा निर्धारित होता है। अब हम भेड़ का उदाहरण लेकर यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि हम किस प्रकार ऊन या मास का सीमान्त उत्पादन-व्यय जान सकते हैं। हम एक नस्ल की भेड़ को पालने का व्यय लें, जिसमें कि एक निश्चित मात्रा में ऊन और मांस निकलता है। साथ ही हम एक दूसरी नस्ल की भेड को पालने का व्यय लें, जिसमें कि ऊन तो उतनी ही मात्रा में निकलती हो किन्तु मांस भिन्न मात्रा मे निकलता हो। पहले प्रकार की नस्ल को पालने में जो व्यय होगा उससे दूसरी प्रकार की नस्ल को पालने में जो अधिक व्यय होगा वह अतिरिक्त मांस उत्पन्न करने का व्यय माना जावेगा। यह अनिरिक्त व्यय मास का सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost) है और मांस की कीमत दीर्घकाल मे इस सीमान्त उत्पादन-व्यय के बराबर होगी। हम एक उदाहरण देकर इसको अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

कल्पना कजिये कि एक नस्ल विशेष की एक भेड़ का मूल्य २४ रुपये प्रति भेड़ है, और वह ९ पौंड ऊन और ११ पौंड मास उत्पन्न करती है। एक दूसरी नस्ल की भेड़ है उसकी कीमत २० रु० है और वह ८ पौंड ऊन और ९ पौंड मास उत्पन्न करती है। ऐसी दशा में पहली नस्ल की ८ भेडे ७२ पौंड ऊन और ८८ पौंड मास उत्पन्न करेंगी और उनका उत्पादन-व्यय १९२ रु० होगा। दूसरी नस्ल की ९ भेड़े ७२ पौंड ऊन और ८१ पौंड मास उत्पन्न करेंगी और उनका उत्पादन-व्यय १८० रु० होगा। कहने का तात्पर्य यह होगा है कि हमे ७ पौंड अधिक मास १२ रु० में मिलता है। अत' एक पौंड का सीमान्त उत्पादन-व्यय १ रु० ११आना ५ पाई होगा। इसी प्रकार पहली नस्ल की ९ भेड़ों से हमे ८१ पौंड ऊन और ९९ पौंड मास मिलता है और उनका उत्पादन-व्यय २१६ रु० होगा। इसी प्रकार पहली नस्ल की ११ भेड़ों से हमें ८८ पौंड ऊन और ९९ पौंड मास मिलता है और उनका उत्पादन-व्यय २२० रु० है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें ४ रु० में ७ पौंड अधिक ऊन प्राप्त होती है। अतएव एक पौंड ऊन का सीमान्त उत्पादन-व्यय ९ आना २$\frac{2}{7}$ पाई प्रति पौंड हुआ। दीर्घकाल में यही ऊन की कीमत होगी।

इस सम्बध में यह कह देना आवश्यक है कि व्यवहार में इस प्रकार के परिवर्तन सम्भव हैं। जब आस्ट्रेलिया की मैरिनो जाति की भेड़ के ऊन की माँग बहुत अधिक होने लगी और उसकी कीमत बढ़ गई तो आस्ट्रेलिया के भेड

पालने वालो ने मैरिनो की ऐसी नस्ल उत्पन्न की जो कि ऊन अधिक उत्पन्न करती है। इसके उपरान्त जब शीत भडार रीति के अविष्कार से यह सम्भव हो गया कि भेड़ का मांस विदेशों को भेजा जा सके, तो आस्ट्रेलिया में ऐसी भेडों की नस्ल भी उत्पन्न की गई जो कि मांस अधिक उत्पन्न करती है और ऊन कम उत्पन्न करती है।

जिनका सापेक्षिक अनुपात नहीं बदला जा सकता: परन्तु यदि सम्मिलित रूप में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का सापेक्षिक अनुपात नहीं बदला जा सकता, अर्थात् वे दूसरी श्रेणी की वस्तुएँ हैं, तो उनका सीमान्त उत्पादन-व्यय जान सकना बहुत कठिन होता है। ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु का मूल्य दो सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित होगा। पहला सिद्धान्त तो यह है कि दोनो वस्तुएँ जो कि सयुक्त या सम्मिलित रूप से उत्पन्न की जाती हैं उनका कुल उत्पादन व्यय उन दोनों के विक्रय मूल्य (sale price) से निकलना चाहिए। उदाहरण के लिए कपास और विनौले का सयुक्त उत्पादन-व्यय उन दोनों के विक्रय मूल्य से निकलना चाहिए। कपास और विनौले की अलग अलग कीमत इतनी होनी चाहिए कि दोनों की बिक्री से प्राप्त हुई कीमत उन दोनों के कुल उत्पादन-व्यय के बराबर हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु की कीमत उपभोक्ताओं (consumers) के लिए उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होती है। कल्पना कीजिए कि कपास की बाजार में अधिक माँग है और उसकी उपभोक्ताओं के लिए सीमान्त उपयोगिता अधिक है, तो कपास की कीमत अधिक होगी। जो वस्तु बाजार में जितनी कीमत प्राप्त कर सकेगी उतने पर ही विकेगी; किन्तु सम्मिलित कीमत उनके कुल उत्पादन-व्यय (cost of production) के बराबर होनी चाहिए।

इसको हम नीचे दिए हुए चित्र से प्रकट कर सकते हैं। इस चित्र में पूर्ति की वक्र रेखा (supply curve) स स' कपास और विनौले के कुल उत्पादन व्यय को व्यक्त करती है। मा मा' रेखा विनौले की माँग (demand) को व्यक्त करती है। अस्तु ल न रेखा विनौले की कीमत बतावेगी जिस पर क न पूर्ति बेची जावेगी। ल मे ल' तक एक रेखा खींचिये यह रेखा उस कीमत को व्यक्त करती है जिस पर क न कपास की पूर्ति बेची जावेगी। ल' उस वक्र रेखा पर है जो कि पूर्ति की वक्र रेखा को ज' स्थान पर काटती है। अस्तु विनौले की कीमत अ ज होगी और कपास की कीमत अ ज' होगी।
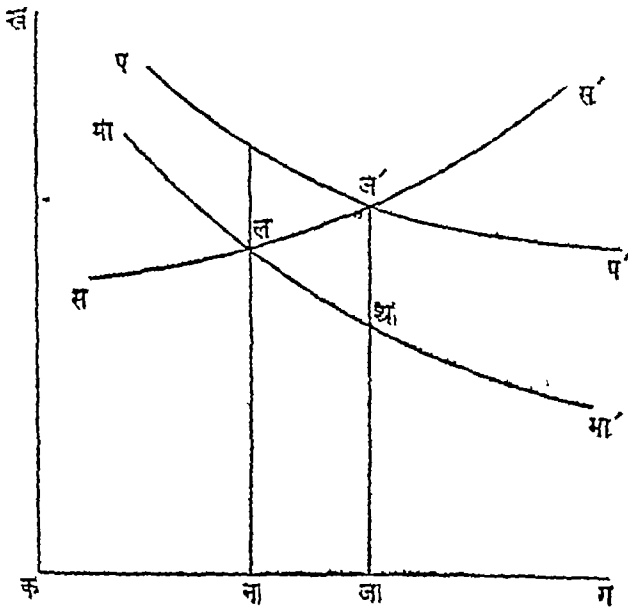
इस सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को बाज़ार के लिए तैयार करने के लिए पृथक रूप से कुछ व्यय करना पड़ता है। यह प्रधान उत्पादन व्यय (price cost) वह सीमा निर्धारित करती है जिसके नीचे उस वस्तु की कीमत नहीं गिर सकती। कपास की कीमत कम से कम इतनी तो अवश्य ही होनी चाहिए कि उसको बाजार में बेचने योग्य बनाने मे जो व्यय हो वह निकल आवे। सम्मिलित या सयुक्त उत्पादन-व्यय का कितना भार किस वस्तु पर पड़ेगा वह इस बात पर निर्भर होगा कि प्रत्येक वस्तु उत्पादन-व्यय का कितना भार सहन कर सकेगी। दूसरे शब्दो मे यह उस वस्तु की माँग की लचक (elasticity of demand) पर निर्भर रहेगा।

अब प्रश्न यह है कि सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुओ (joint products) मे से यदि एक की कीमत घटती या बढती है, तो उसका दूसरी वस्तु की कीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है? कल्पना कीजिए, कि कपास की माँग बढ जाती है इस कारण उसकी कीमत भी बढ जाती है, अत किसान अधिक कपास उत्पन्न करेंगे। परन्तु कपास अधिक उत्पन्न होने से बिनौला भी अधिक उत्पन्न होगा, किन्तु बिनौले की माग तो पूर्ववत है बढी नहीं है, अतः बिनौले की कीमत घट जावेगी।

सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का महत्त्व : आज के औद्योगिक युग में सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का विशेष महत्त्व है, क्योंकि अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन-व्यय (cost of production) का अर्थ सम्मिलित उत्पादन-व्यय है। उद्योग धधों की उन्नति तथा विज्ञान के विकास के कारण बहुत-सी वस्तुएँ अब उपयोगी हो उठी हैं जो कि पहले फेंक दी जाती थीं अथवा व्यर्थ समझी जाती थीं। उदाहरण के लिए, पहले शक्कर बनाने में जो शीरा निकलता था, वह बेकार जाता था, किन्तु अब उसका उपयोग ऐलकोहल बनाने में होता है। इसी प्रकार कोयले से कोक बनाने में कोलतार निकलता है। पहले इसको व्यर्थ समझ कर फेंक दिया जाता था, किन्तु आज तो उससे कई महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ निकाली जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आज अधिकाश कारखाने ऐसे हैं, जो कि मुख्य वस्तु को उत्पन्न करने के साथ ही गौण वस्तु (by product) भी तैयार करते हैं। अतः आज अधिकाश वस्तुओं की उत्पति सम्मिलित उत्पत्ति है और उनका उत्पादन-व्यय भी सम्मिलित है।

संग्रथित अथवा प्रतिद्वन्द्वी मॉग (Composite or Rival Demand) : जबकि किसी वस्तु की मॉग बहुत से उपयोगों के लिए हो तो उसे सग्रथित मॉग (composite demand) कहते हैं। उदाहरण के लिए इस्पात की मॉग, यह पुल बनाने, इमारत बनाने, अथवा भिन्न भिन्न प्रकार की मशीनें बनाने में काम आता है। यह सब उपयोग उसकी सग्रथित मॉग कहलाते हैं। प्रत्येक कच्चा माल तथा उत्पत्ति का प्रत्येक साधन जो इसी प्रकार का होता है, उसकी संग्रथित मॉग (composite demand) होती है। उदाहरण के लिए श्रम की मॉग उपभोक्ता पदार्थों (consumers goods) अथवा उत्पादनकी वस्तुओं (producer's goods) को उत्पन्न करने के लिए हो सकती है। भूमि की मॉग इमारत बनाने, खेती करने अथवा जगल लगाने के लिए हो सकती है। इनमे से प्रत्येक उपयोग उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए आपस मे प्रतिद्वन्द्विता करता है वे मिलकर बाजार में उस वस्तु की कुल पूर्ति (supply) को प्राप्त कर लेते हैं।

हम पहले पढ चुके हैं कि प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) के लागू होने से कोई भी वस्तु अपने भिन्न-भिन्न उपयोगों मे इस प्रकार बाँटी जावेगी कि उसकी प्रत्येक उपयोग में सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बराबर होगी। उसका मूल्य (value) भी उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर [illegible]। यदि उसकी कीमत की तुलना मे किसी उपयोग विशेष मे उसकी सीमान्त

पयोगिता अधिक है, तो अन्य उपयोगों से हट कर उसकी अधिक पूर्ति supply) उस उपयोग की ओर जिसमे उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक , जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि उसकी सीमान्त उपयोगिता अन्य पयोगों मे बढ जावेगी और पहले उपयोग मे घट जावेगी। यह क्रिया उस मय तक होती रहेगी जब तक कि उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता व उपयोगों मे बराबर न हो जावे। और वही उस वस्तु का मूल्य या कीमत गी। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं की सम्मिलित या सग्रथित ाँग (joint demand or composite demand) है उनका भिन्न-भिन्न उपयोगों मे इस प्रकार बँटवारा होगा कि प्रत्येक स्थान पर उसकी सीमान्त उपयोगिता बराबर होगी। ऐसी दशा मे उसकी वह कीमत होगी जिस पर उस वस्तु की प्रत्येक उपयोग मे सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बराबर हो।

सग्रथित (Composite) अथवा प्रतिद्वन्द्वी पूर्ति (Rival Supply) : यदि किसी वस्तु की माँग कई स्रोतों से पूरी की जासके, तो इन स्रोतों को हम सग्रथित पूर्ति का नाम देते हैं। उदाहरण के लिए माँस की माँग भेड, बकरी, तथा अन्य पशुओं के द्वारा पूरी की जा सकती है। पेय की माँग चाय, कहवा, तथा कोको इत्यादि से पूरी होती है। वे वस्तुएँ जो एक दूसरे की स्थानापन्न (substitute) हैं, सग्रथित पूर्ति का उदाहरण हैं। इसी प्रकार श्रम (labour) और पूँजी (capital) जहाँ तक एक दूसरे के स्थानापन्न हैं सग्रथित पूर्ति का उदाहरण हैं। यद्यपि पूर्ति के भिन्न-भिन्न स्रोत एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं; परन्तु उनकी कुल पूर्ति (total supply) कुल माँग (total demand) के बराबर होनी चाहिए। इन वस्तुओं को हम प्रतिद्वन्द्वी वस्तुएँ (competing good) भी कहते हैं, क्योंकि वे किसी आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करती हैं।

प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) के लागू होने के कारण प्रतिद्वन्द्वी पूर्तियों (competing supplies) का उपयोग उसी सीमा तक होगा जहाँ तक कि सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) या सीमान्त उत्पत्ति उनके मूल्य या कीमत के बराबर होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगा। अस्तु; उन वस्तुओं की कीमत जिनकी पूर्ति सग्रथित (composite supply) है उनके उत्पादन व्यय (cost of production) और उनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा सीमान्त उत्पत्ति से निर्धारित होती है।

मूल्य-सिद्धान्त में इन समस्याओ का महत्त्व : ऊपर हमने जि चार समस्याओं—सम्मिलित माँग और पूर्ति (joint demand and supply) और सग्रथित माँग और पूर्ति (composite demand and supply) र वर्णन किया, वे उत्पादन को प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलती हैं। अधिकां वस्तुओं की माँग और पूर्ति एक दूसरे से बहुत अधिक सम्बधित है। बहुधा दे मे आता है कि किसी वस्तु का मूल्य उन सुदूर प्रभावों पर निर्भर रहता है जो अन्य वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, ट्राम के भ पर पैट्रोल की कीमत निर्भर रहती है। यदि ट्राम या रेलें किराया कम कर तो लोग बसों पर कम चढ़ेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि बसों का उप और पैट्रोल की माँग कम हो जावेगी इसलिए पैट्रोल की कीमत भी कम जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अधिकाश वस्तुओं की कीमत एक दू से सम्बन्धित है।

परिच्छेद २६

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य (Value Under Monopoly)

अधिकतम एकाधिकार लाभ : एकाधिकार का अर्थ यह है कि किसी वस्तु की स्थानापन्न (substitutes) वस्तुएँ नहीं हैं और उसकी पूर्ति (supply) पर एक उत्पादक अथवा उत्पादक समूह का एकाधिकार स्थापित हो गया है। उसे हम एकाधिकारी (monopolist) कहते हैं। यह तो हम ऊपर बतला आये हैं कि एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार स्थापित होता है, किन्तु वह उस वस्तु की माँग (demand) पर कोई भी नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकता। अस्तु वह दो में से एक काम कर सकता है। या तो वह उत्पादन को निश्चित करके केवल उतनी ही पूर्ति बाजार में बेचने के लिए उपस्थित करे और उस वस्तु की उपभोक्ताओं के लिए सीमान्त उपयोगिता से उसकी कीमत निर्धारित होने दे, अथवा वह उस वस्तु की कीमत निश्चित करे और उस कीमत पर उस वस्तु की माँग के अनुसार उसकी पूर्ति अर्थात् उत्पत्ति को घटाता बढाता रहे। अधिकतर एकाधिकारी दूसरा तरीका काम में लाता है। परन्तु उसके नियन्त्रण का जो भी तरीका हो वह सदैव अधिकतम शुद्ध एकाधिकार लाभ (maximum net monopoly gain) प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि जब हम 'शुद्ध एकाधिकार लाभ' की बात करते हैं तो हमारा अर्थ उस लाभ से होता है जो व्यवस्था के लिए मिलने वाले सामान्य लाभ या आय (normal earnings) के अतिरिक्त मिलता है। प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय के अन्तर्गत व्यवस्था की सामान्य आय सम्मिलित रहती है। कुल-बिक्री-मूल्य (total sale proceeds) तथा कुल उत्पादन व्यय (सामान्य लाभ सहित) का जो अन्तर होता है वही एकाधिकार का लाभ (monopoly profit) कहलाता है। एकाधिकारी (monopolist) का हित इसमें है कि पूर्ति (supply) का माँग से इस प्रकार सामंजस्य स्थापित करे कि उसे अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त हो।

जब प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति होती है तो दीर्घकाल में मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। उस वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन-व्यय से अधिक नहीं हो सकता

क्योंकि यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक हो जावेगा, तो उत्पादक अधिक उत्पत्ति करके अधिक लाभ कमाना चाहेंगे, अतः उस वस्तु की पूर्ति बढ़ जावेगी और उसका मूल्य गिर जावेगा। अस्तु, प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में कीमत न सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) से ऊँची हो सकती है और न उससे कम ही हो सकती है। किन्तु एकाधिकार (monopoly) की स्थिति मे उत्पादन-व्यय (cost of production) केवल उस न्यूनतम सीमा को निर्धारित करता है जिसके नीचे कीमत नहीं जा सकती। किसी वस्तु की कीमत उसके लागत-व्यय अथवा उत्पादन-व्यय से अधिक हो सकती है। क्योंकि यह एकाधिकारी के हित में है कि वह उस वस्तु की कीमत को जितना ऊँचा उठा सके उतना उठावे, जिससे कि उसको अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त हो सके। कहने का तात्पर्य यह कि एकाधिकार की स्थिति म उत्पादन-व्यय केवल कीमत की न्यूनतम सीमा निर्धारित करना है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि एकाधिकारी अपनी वस्तु की वह कीमत निर्धारित करेगा जिससे कि उसको मॉग और पूर्ति की उस परिस्थिति में अधिकतम एकाधिकार लाभ हो। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि बहुत ऊँची कीमत रखने से अधिकतम लाभ होगा और न बहुत कम कीमत रखने से ही अधिकतम लाभ होने की सम्भावना है। यदि कीमत बहुत ऊँची रक्खी जावेगी तो उसका परिणाम यह हो सकता है कि उस वस्तु की मॉग कम हो जावे और वस्तु की बिक्री बहुत गिर जावे। बहुत कम कीमत रखने से उसको सम्भवत. अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त न हो। एकाधिकारी को मॉग (demand) और पूर्ति दोनों का ध्यान रखना होता है।

एकाधिकार और मॉग की लचक (Monopoly and elasticity of demand) : यदि वस्तु की मॉग अत्यन्त लचकदार है, तो वस्तु की कीमत कम रखने से मॉग बहुत अधिक होगी और बिक्री बहुत अधिक होगी। उस दशा मे प्रति इकाई (वस्तु) थोड़ा लाभ लेने मे कुल लाभ अधिकतम होगा। क्योंकि यदि उस वस्तु की कीमत अधिक रक्खी जावे तो उसकी बिक्री कम होगी और कुल लाभ उतना नही होगा। ऐसी दशा म एकाधिकारी उस वस्तु की कीमत कम रक्खेगा। इसके विपरीत यदि उस वस्तु की मॉग लचकरहित (inelastic) है तो कम कीमत रखने से उसकी बहुत अधिक बिक्री नहीं होगी। इसके विपरीत यदि उस वस्तु की पूर्ति (supply) को कम कर दिया जावे तो उसकी कीमत बहुत ऊँची हो जावेगी। ऐसी दशा मे प्रति इकाई (वस्तु) पर अधिक लाभ

से उसे अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त होगा। उस अवस्था में एकाधिकारी वस्तु की कीमत ऊँची निर्धारित करेगा।

एकाधिकार और उत्पत्ति के नियम (Monopoly and Laws of Return): एकाधिकारी को कीमत निर्धारित करते समय पूर्ति (supply) की स्थिति पर भी विचार करना पड़ता है। यदि वह वस्तु सम उत्पत्ति-नियम (law of constant return) के अनुसार उत्पन्न होती हो तो प्रति इकाई उत्पादन व्यय एक समान रहेगा फिर चाहे कितनी मात्रा मे वस्तु उत्पन्न की जावे। ऐसी दशा मे एकाधिकारी केवल माँग (demand) की स्थिति का अध्ययन करेगा, और उसी के अनुसार कीमत निश्चित कर देगा। जैसे जैसे माँग में परिवर्तन होगा उसी के अनुसार वह उत्पत्ति को घटायेगा और बढ़ावेगा यदि उसकी उत्पत्ति में क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) लागू होता है, तो जैसे जैसे उस वस्तु को अधिक मात्रा में उत्पन्न किया जावेगा वैसे ही वैसे प्रति इकाई उसका उत्पादन-व्यय कम होता जावेगा। ऐसी स्थिति में यह एकाधिकारी के हित मे होगा कि वह अधिक से अधिक उत्पादन करे और उसको बाजार मे बेचे। क्योंकि ऐसा करने से उसका उत्पादन-व्यय कम होगा। यदि उस वस्तु की माँग लचकदार (elastic) है, तो वह अधिक उत्पादन करने के लिए विशेष रूप से उत्साहित होगा। अधिक विक्रय राशि (turnover) पर कम लाभ लेने के सिद्धान्त के अनुसार वह उसकी कीमत कम रक्खेगा। यदि वह वस्तु क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) के अनुसार उत्पन्न होती है, तो यह उसके हित मे होगा कि वह उत्पत्ति कम करे और इस प्रकार प्रति इकाई उत्पादन-व्यय को कम करदे। ऐसी दशा मे वह कीमत ऊँची रक्खेगा परन्तु यदि उस वस्तु की माँग बहुत लचकदार है अर्थात् कीमत को थोड़ा भी बढ़ाने मे उसकी माँग बहुत अधिक घट जाती है और कीमत को थोड़ा सा कम करने मे उसकी माँग बहुत अधिक बढ़ जाती है, तो यह उसके लिए लाभदायक होगा कि वह कीमत कुछ कम निश्चित करे। यद्यपि जैसे-जैसे उत्पत्ति बढ़ती है प्रति इकाई उत्पादन-व्यय भी अधिक होता है परन्तु वह सम्भवतः इतना अधिक नहीं बढ़ेगा कि अधिक विक्रय राशि (turnover) पर मिलने वाले अतिरिक्त लाभ को ही समाप्त करदे।

ऐसी स्थिति में न तो ऊँची कीमत और न नीची कीमत ही उसका मतलब पूरा करेगी। एकाधिकारी को ध्यान-पूर्वक पूर्ति (supply) और माँग (demand) की स्थिति का अध्ययन करना होगा। और उसको इतनी मात्रा में उस वस्तु को उत्पन्न करना होगा कि जिससे उसको अधिकतम लाभ

प्राप्त हो सके। फिर चाहे कीमत कम हो या अधिक हो।

सीमान्त आय (Margnial Revenue) : एकाधिकारी अधिक लाभ उसी दशा में प्राप्त कर सकेगा जब कि उसका सीमान्त उत्पादन-व्यय (margnial cost) उसकी सीमान्त-आय के बराबर हो। सीमान्त उत्पादन व्यय से हमारा अर्थ उस व्यय से है जो कि एक अतिरिक्त इकाई को उत्पन्न करने में अतिरिक्त व्यय होता है। अब हम यहाँ 'सीमान्त लाभ' की परिभाषा करेंगे। सीमान्त-आय कुल आय के ऊपर उस अतिरिक्त आय को कहते हैं जो कि एक अतिरिक्त इकाई (वस्तु) को बेचने से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए हम कल्पना करें कि एक एकाधिकारी किसी वस्तु की १० इकाइयां ३ रु० प्रति इकाई के हिसाब से बेचता है, और वह ११ इकाइयां २ रु० १५ आने के हिसाब से बेच सकता है। पहली दशा में कुल बिक्री की क़ीमत ३० रु० है और दूसरी दशा में कुल बिक्री की कीमत ३२ रु० ५ आने होगी। यदि एकाधिकारी एक और बेचता है तो उसकी कुल प्राप्ति में केवल २ रु० ५ आने की वृद्धि होगी यह अतिरिक्त इकाई की सीमान्त-आय (margnial revenue) कहलावेगी। इस उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि उत्पादक अतिरिक्त इकाइयों को पुरानी कीमत पर नही बेच सकता। एकधिकारी की स्थिति ऐसी ही होती है वह बाजार में वस्तु की अधिकांश पूर्ति का स्वामी होता है। अतः यदि वह अधिक बेचना चाहता है तो उसको वस्तु की कीमत कम करनी होगी। यदि वह कीमत कम करता है तो उसको जो कुल विक्रय मूल्य मिलता है उसकी राशि में सापेक्षिक कमी होती है। उदाहरण के लिए यदि वह अतिरिक्त इकाई को बेचता है तो एकाधिकारी की कुल प्राप्ति मे अतिरिक्त इकाई का मूल्य तो जुड़ेगा और पिछली इकाइयों का जो मूल्य कम हुआ है वह घटेगा। यही कारण है कि उसकी सीमान्त-आय (margnial revenue) अतिरिक्त इकाई से कम होती है। अतिरिक्त इकाई को बेचने से एकाधिकारी की आय मे जो कुछ वृद्धि होती है, जब तक वह उस अतिरिक्त इकाई को उत्पन्न करने मे कुल उत्पादन-व्यय में होने वाली वृद्धि से अधिक है तब तक एकाधिकारी अतिरिक्त उत्पादन करके अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। अर्थात् जब तक कि सीमान्त आय (marginal revenue) सीमान्त उत्पादन व्यय (marginal cost) से अधिक है तब तक एकाधिकारी अधिकाधिक उत्पादन करता जावेगा। किन्तु जैसे-जैसे एकाधिकारी अधिक उत्पादन करेगा वैसे वैसे सीमान्त आय कम होती जावेगी और सीमान्त उत्पादन व्यय बढता जावेगा। जबकि सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होगी तो एकाधिकारी

अधिकतम लाभ होगा। उत्पादन को उससे अधिक बढाने का अर्थ होगा कि सीमान्त उत्पादन-व्यय अतिरिक्त आय से अधिक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में उसको अतिरिक्त इकाइयों को उत्पन्न करने और बेचने से हानि होगी। एकाधिकारी की आय उस स्थिति में अधिकतम होगी जबकि सीमान्त आय और सीमान्त उत्पादन व्यय बराबर हो।

एकाधिकारी की शक्ति की सीमायें ऊपर हम यह मान कर चले हैं कि एकाधिकारी (monopolist) का केवल बाज़ार पर ही पूरा नियन्त्रण स्थापित नहीं होता वरन् वह बिना किसी रुकावट के स्वच्छंदता-पूर्वक काम करता है, किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि एकाधिकारी (monopolist) इतना स्वतन्त्र नहीं होता, उसको भी बंधनों के अन्दर काम करना पड़ता है। पूर्ण एकाधिकार कहीं भी नहीं पाया जाता, एकाधिकारी पर कुछ प्रतिबंध सदैव लगे रहते हैं, जिनके कारण वास्तव में एकाधिकारी बहुत ऊँची कीमत नहीं ले सकता। एकाधिकारी के ऊपर पहला प्रतिबंध तो यह रहता है कि उसे सदैव प्रतिस्पर्द्धा की सम्भावना बनी रहती है। एकाधिकारी को सदैव नये प्रतिस्पर्द्धियों से सावधान रहना पड़ता है। एकाधिकारी के सामने दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि यदि वह अपनी वस्तु की बहुत ऊँची कीमत ले तो लोग नवीन आविष्कार करने के लिए उत्साहित होंगे और स्थानापन्न वस्तुओं (substitutes) की अधिक बिक्री होने लगेगी। उदाहरण के लिए नकली नील ने प्राकृतिक पौधे से उत्पन्न होने वाली नील को जड़ से समाप्त कर दिया। भिन्न-भिन्न देशों में जूट का काम देने के लिए कोई नकली रेशेदार पदार्थ खोज निकालने के प्रयत्न बराबर चल रहे हैं। तीसरा भय एकाधिकारी को यह रहता है कि कहीं विदेशी प्रतिस्पर्द्धी उसके लाभ को समाप्त न करदे। चौथा भय यह रहता है कि कहीं राज्य हस्तक्षेप न करे और धंधे पर अपना नियन्त्रण स्थापित न करले। यदि एकाधिकारी अपनी वस्तु की बहुत अधिक कीमत लेगा तो लोगों में बहुत अधिक असन्तोष और क्षोभ होगा और उस समय सरकार को विवश होकर या तो हस्तक्षेप करना होगा अथवा उस धंधे को अपने अधिकार में कर लेना होगा।

विवेचन एकाधिकार (Discriminating Monopoly) एकाधिकारी सदैव अपनी वस्तु की एक ही कीमत ले यह भी आवश्यक नहीं है, और न यही आवश्यक है कि वह अपने सब ग्राहकों से एक ही कीमत ले क्योंकि वस्तु की पूर्ति (supply) पर उसका नियन्त्रण होता है। अस्तु; वह भिन्न-भिन्न

ग्राहकों से या भिन्न भिन्न बाजारों में भिन्न कीमत ले सकता है। सच तो [illegible]
कि जब एकाधिकार स्थापित हो तो एकाधिकारी भिन्न-भिन्न ग्राहकों [illegible]
भिन्न भिन्न बाज़ारों में भिन्न कीमत लेता है। जब कि एकाधिकारी एक [illegible]
को अलग-अलग कीमतों पर बेचता है तो उसे विवेचन एकाधि[illegible]
(discriminating monopoly) कहेंगे।

विवेचन एकाधिकार के उदाहरण : कीमत में इस प्रकार भेद [illegible]
प्रत्येक दशा में सम्भव नहीं है। इसमें सदैव यह सम्भावना बनी रहती है [illegible]
जिस खरीदार को वह वस्तु कम कीमत पर मिलती है, वह उसको पुन: बेच [illegible]
है। अस्तु, एकाधिकारी भिन्न-भिन्न ग्राहकों से भिन्न कीमत तभी ले सकता है [illegible]
ऊपर लिखी सम्भावना न हो। कहने का तात्पर्य यह कि एकाधिकारी [illegible]
अपनी वस्तु की भिन्न कीमत ले सकता, जब कि कम कीमत पर पाने वाला [illegible]
उसे दूसरों को बेच सकने की स्थिति में न हो, अथवा उससे यह समझौता [illegible]
गया हो कि वह उसे पुनः बेचेगा नहीं। कीमत में भेद नीचे लिखी दो अवस्[illegible]
में सम्भव है। पहली अवस्था तो यह है कि जब उस वस्तु को कम कीम[illegible]
बाजार से ऊँची कीमत के बाजार को हस्तांतर कर सकने की सम्भावना न [illegible]
यह उन सेवाओं के सम्बन्ध में लागू होता है जो कि ग्राहकों को व्यक्तिग[illegible]
से दी जाती हैं। एक प्रसिद्ध डाक्टर गरीबों से कम फीस लेता है और ध[illegible]
से अधिक फीस लेता है। ऐसी दशा मे धनी बीमार किसी निर्धन व्य[illegible]
डाक्टर के पास भेजकर अपने रोग का निदान नहीं करवा सकता। इसी [illegible]
रेलवे भिन्न-भिन्न वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने [illegible]
भिन्न-भिन्न किराया लेती है। रेल भूसा, लकड़ी या कोयले को ले जाने [illegible]
भाड़ा लेती है किन्तु कपड़ा, चाँदी तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं को एक [illegible]
से दूसरे स्थान तक ले जाने का अधिक किराया लेती है। परन्तु कोई व्यक्ति [illegible]
किराये का लाभ लेने के लिए चाँदी को भूसे मे तो परिणत नहीं कर सक[illegible]
दूसरी अवस्था जिसमें एकाधिकारी कीमतों मे भेद कर सकता है तब होती है [illegible]
कि ऊँची कीमत के बाजार से नीची कीमत के बाजार में वस्तु को हस्तान्तर [illegible]
किया जा सकता। जबकि उन बाजारों में जिनमें कीमतों का भेद किया जाता [illegible]
कीमतें ग्राहकों के धनी या निर्धन होने पर आधारित होती हैं तो यह भेद [illegible]
और भी सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी स्कूल में निर्धनों [illegible]
फीस नहीं ली जाती या कम ली जाती है, तो कोई धनी व्यक्ति कम फीस की सु[illegible]
प्राप्त करने के लिए निर्धन नहीं हो जावेगा। जहाँ यह सम्भावना होती है [illegible]

कम कीमत पर प्राप्त करने वाला ग्राहक उस वस्तु को बेच सकता है, वहाँ एकाधिकारी उस खरीदार से एक शर्त कर लेता है कि वह ऐसा नहीं करेगा।

व्यक्तिगत भेद या विवेचन (Personal Discrimination) : भेद या विवेचन व्यक्तिगत, स्थानीय अथवा व्यवसाय का हो सकता है। व्यक्तिगत भेद या विवेचन उस दशा में होता है जबकि भिन्न-भिन्न ग्राहकों से उनकी इच्छा की तीव्रता अथवा धन (wealth) के आधार पर भेद किया जाता है। जो लोग उस वस्तु को खरीदने के बहुत इच्छुक या उत्सुक हैं उनसे अधिक कीमत ली जावे अथवा धनी व्यक्तियों से निर्धनों की तुलना में अधिक कीमत ली जावे। ऐसा बहुधा देखा जाता है कि जो लोग धनी मुहल्लों में रहते हैं वहाँ दूकानदार अधिक कीमत लेते हैं। इस प्रकार का भेद या विवेचन सदैव सम्भव नहीं है, क्योंकि उससे खरीदारों में भीषण असंतोष फैल सकता है।

स्थानीय विवेचन (Local Discrimination) : जबकि एकाधिकारी एक स्थान पर कम कीमत लेता है और दूसरे स्थान पर अधिक कीमत लेता है तो इसे स्थानीय विवेचन कहते हैं। राशिपातन (dumping) इसका एक अच्छा उदाहरण है। एकाधिकारी अपनी वस्तु की जो अपने देश में कीमत लेता है उससे विदेशों में कम कीमत लेता है।

व्यावसायिक विवेचन (Trade Discrimination) . जबकि एकाधिकारी भिन्न-भिन्न व्यवसायों से अपनी वस्तु की भिन्न कीमत लेता है, तो उसे व्यावसायिक विवेचन या भेद कहते हैं। उदाहरण के लिए बिजली उत्पन्न करने वाली कम्पनियाँ गृहस्थों को उनके काम के लिए जो बिजली देती हैं वह अधिक मूल्य पर दी जाती है और औद्योगिक कार्यों के लिए बिजली कम मूल्य पर दी जाती है।

जब कीमत का भेद किया जाता है तो प्रत्येक दशा में प्रत्येक बाजार में उस वस्तु का मूल्य उन्हीं सिद्धान्तों से निर्धारित होगा जिन सिद्धान्तों से एकाधिकार मूल्य निर्धारित होता है। यदि एकाधिकारी (monopolist) भिन्न-भिन्न बाजार में अपनी वस्तु को दो भिन्न कीमतों पर बेचता है तो वह प्रत्येक बाजार में वह कीमत लेगा कि जिससे उस बाजार में सीमान्त आय (marginal revenue) उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal cost) के बराबर हो। सम्भवतः में चाहे जितने भी बाजार हों सबों में सीमान्त उत्पादन-व्यय तो एक समान ही होगा। अतएव प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय भी एक समान ही होगी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सब बाजारों में उस वस्तु की कीमत

भी एक समान ही होगी। कीमत प्रत्येक बाजार मे उस वस्तु की मॉग की लच (elasticity of demand) पर निर्भर रहेगी। यदि किसी समूह की मॉग लचकदार (elastic) है तो एकाधिकारी उससे नीचा दाम लेगा। किन्तु यदि किसी बाजार मे उस वस्तु की मॉग लचकरहित (inelastic) है तो उस बाजार में कीमत ऊँची रक्खी जावेगी।

क्या कीमतों का विवेचन या भेद ग्राहकों के लिए लाभदायक है कभी-कभी विवेचन एकाधिकार (discriminating monopoly) से उपभोक्ताओं (consumers) और समाज को लाभ होता है। यह सम्भव है कि खरीदारों के दो समूह हों, एक समूह उस वस्तु को ऊँची कीमत पर खरीद सकता है, क्योंकि उसकी आमदनी अधिक है, किन्तु दूसरा समूह उस वस्तु को तब तक नहीं खरीद सकता जब तक कि उसकी कीमत कम न हो, क्योंकि उसकी आमदनी कम है। यदि उस वस्तु की एक ही कीमत ली जावे तो हो सकता है कि वह ऊँची कीमत हो। उस दशा मे केवल धनी व्यक्ति ही उस वस्तु को खरीद सकेंगे किन्तु कुल बिक्री कम होगी और बिक्री से होने वाली आय इतनी न होगी कि उससे उत्पादन का कुल व्यय निकल सके। यदि उस वस्तु का कीमत कम रक्खी जावे कि जिससे निर्धन भी उसको खरीद सकें तो बिक्री तो बहुत बढ़ जावेगी इसमे तनक भी सदेह नही, किन्तु इतने कम मूल्य पर बेचने से एकाधिकारी को लाभ न हो ऐसा हो सकता है। अस्तु ऐसी दशा में उस वस्तु को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि मूल्य भेद (price discrimination) किया जावे तो उत्पादक धनी उपभोक्ताओं से ऊँचा मूल्य ले सकता है। ऐसी दशा मे कुल बिक्री की आय इतनी हो सकती है कि उस वस्तु का उत्पादन-व्यय निकल सके और उसका उत्पादन किया जा सके। उस दशा मे यह और भी अधिक लागू होगा जब कि अधिक उत्पादन करने पर औसत उत्पादन-व्यय (average cost) तेजी से गिरता है। उस दशा में समाज और उपभोक्ता दोनों को ही लाभ होता है।

जबकि मूल्य भेद (price discrimination) किया जाता है तो एकाधिकारी एक उपभोक्ता समूह से अधिक कीमत लेता है, और दूसरे समूह से कम कीमत लेता है। पहले समूह को थोड़ी हानि होगी और दूसरे समूह को लाभ होगा। यदि वे खरीदार कि जिनसे अधिक कीमत ली जाती है वह धनी हैं और जिनसे कम कीमत ली जाती है वे निर्धन है, तो हम कह सकते हैं कि धनी

व्यक्तियों की हानि की तुलना में निर्धनों का लाभ अधिक है। अन्तु, इस मूल्य भेद से समाज को लाभ होता है।

राशिपातन (Dumping) : जब भिन्न-भिन्न बाजारों में अथवा स्थानों में एक ही वस्तु की कीमत में भेद किया जाता है तो उसका अर्थ राशिपातन होता है। जब कोई एकाधिकारी अपनी वस्तु की कुछ मात्रा किसी विदेशी बाजार में कम कीमत पर बेचता है और स्वदेश के बाजार में उसी वस्तु को ऊँचे मूल्य पर बेचता है, तो यह कहा जावेगा कि वह विदेशी बाजार में राशिपातन (dumping) कर रहा है। वह विदेश में अपने उत्पादन व्यय से कम पर बेच सकता है और अधिक पर भी बेच सकता है। एकाधिकार प्राप्त होने के कारण वह बहुधा स्वदेश के बाजार में अपनी वस्तु की कीमत उत्पादन-व्यय से अधिक लेता है। ऐसी दशा में वह विदेशों में अपनी वस्तु को स्वदेश में जो उसकी कीमत ली है उससे कम पर बेच सकता है, परन्तु वह कीमत उसके औसत उत्पादन-व्यय से अधिक हो सकती है।

८-राशिपातन का उद्देश्य : एकाधिकारी विदेशों के बाजारों में राशिपातन (dumping) कई उद्देश्यों से करता है। एक उद्देश्य तो यह हो सकता है कि उसने अपनी वस्तु की भावी माग का गलत अनुमान लगाया और आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर लिया, जो कि देश में उचित मूल्य पर बेचा नहीं जा सकता। उस स्टाक को निकालने के लिए वह विदेशों में कुछ कम मूल्य पर बेच सकता है। राशिपातन का दूसरा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि वह विदेशों में नये व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अथवा अछूते बाजारों को हथियाने के लिए वहाँ अपने माल का प्रचार करना चाहता है। तीसरा उद्देश्य यह हो सकता है कि वह विदेशी बाजार से अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को हटाकर अपना एकाधिकार (monopoly) स्थापित करना चाहता है, अथवा उसका उद्देश्य बड़ी मात्रा के उत्पादन (large scale production) की बचत का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए अधिकतम उत्पादन करना है। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन बढ़ जावेगा और हो सकता है कि स्वदेश के बाजार में उस वस्तु का मूल्य बहुत गिर जावे। यदि उस वस्तु की माग लचक रहित (inelastic demand) है तो विशेष रूप से यह स्थिति उपस्थित होगी। ऐसी दशा में यह एकाधिकारी के हित में होगा कि वह स्वदेश के बाजार में अपनी कुल उत्पत्ति का एक भाग ऊँची कीमत पर बेचे और शेष बचा हुआ स्टाक विदेशों में कम कीमत पर बेचे ऐसा करने से स्वदेश में उसकी कीमत ऊँची रहेगी।

विदेशों के निवासियों के लिए राशिपातन (dumping) अहित
है। अस्तु, बहुत से देशों ने राशिपातन को रोकने का यत्न किया है। राशि
विरोधी (anti dumping) कानून पास किए गए हैं। और यदि किसी
की सरकार यह समझती है कि उस देश के बाज़ार में राशिपातन कि
जा रहा है, तो उस माल पर बहुत ऊँचा आयात कर (import dut
लगा दिया जाता है।

————

परिच्छेद २७

मूल्य और अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा

(Value and Imperfect Competition)

हमने पहले परिच्छेदों में इस बात का अध्ययन किया कि किसी वस्तु का मूल्य—जबकि उसके बेचने वाले बहुत बड़ी संख्या में हों (अर्थात् पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो) अथवा उसका केवल एक बेचने वाला (एकाधिकारी) हो—कैसे निर्धारित होता है। किन्तु वास्तविक जीवन में न तो बहुत बड़ी संख्या में ही बेचने वाले होते हैं और न केवल एक ही बेचने वाला होता है। अर्थात वास्तविक जगत में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) होती है और न एकाधिकार ही होता है।

अधिकतर स्थिति यह होती है कि न तो अकेला एक बेचने वाला होता है कि जो उस वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति (supply) पर नियंत्रण रखता हो और न बेचने और खरीदने वाले इतनी बड़ी संख्या में होते हैं कि एक बेचने वाले का व्यक्तिगत हिस्सा कुल पूर्ति की तुलना में नगण्य हो और एक खरीदार का हिस्सा कुल माँग की तुलना में नगण्य हो। ऐसी स्थिति को जिसमें न तो पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) हो और न पूर्ण एकाधिकार (absolute monopoly) हो "अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा" की स्थिति कहते हैं।

नीचे लिखी परिस्थितियों में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होगी:—

एक स्थिति तो यह हो सकती है कि किसी वस्तु को बेचने वाले कम हों, और उनमें से प्रत्येक के पास पूर्ति का यथेष्ट भाग हो। दूसरी स्थिति यह है कि जिस बाज़ार में वह वस्तु बेची जाती है वह असंगठित हो, उस दशा में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होगी। यदि यातायात का व्यय अधिक हो अथवा खरीदारों को इस बात का ज्ञान न हो कि भिन्न-भिन्न बेचने वाले अपनी वस्तु को किस कीमत पर बेच रहे हैं। ऐसी दशा में उपभोक्ता सदैव उस बेचने वाले से ही वस्तु को नहीं खरीदते जो उस न्यूनतम कीमत पर बेचते हैं। उस अवस्था में भी प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होगी कि जब उपभोक्ताओं (consumers) के मस्तिष्क में एक ही वस्तु की भिन्न किस्मों में वास्तविक अथवा काल्पनिक अंतर

या सदेह उत्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक चौथी स्थिति यह भी हो सकती है कि किसी वस्तु विशेष के केवल थोडे से ही खरीदार हों और उनमें से प्रत्येक कुल पूर्ति (supply) का एक बड़ा हिस्सा खरीदता हो।

जबकि किसी वस्तु के केवल थोड़े से ही वेचने वाले होते हैं तो उनमें से प्रत्येक वस्तु की कीमत को प्रभावित कर सकता है। कल्पना कीजिए कि किसी वस्तु के केवल पांच बेचने वाले हैं और प्रत्येक उस वस्तु की दस हज़ार इकाइयाँ बेचता है। यदि उनमे से कोई एक अपने उत्पादन को केवल दस प्रतिशत ही बढाता है, तो उसकी पूर्ति (supply) ग्यारह हजार इकाई होगी। इससे उस वस्तु की कीमत पर अवश्य ही प्रभाव पडेगा क्योंकि कुल उत्पत्ति पहले पचास हजार इकाइयों की थी किन्तु अब एक हज़ार इकाई बढ जावेगी। विक्रेताओं की संख्या कम होने के बहुत से कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह हो सकता है कि राज्य ने उस वस्तु या सेवा को वेचने का अधिकार केवल कुछ लोगों को दिया हो, उदाहरण के लिए रेलवे या बिजली देने वाली कपनियां; या उस वस्तु के उत्पादन के स्रोत सख्या में बहुत कम हों, जैसे कि पैट्रोलियम में, अथवा उस धधे में जिस का प्लाट इत्यादि इतना अधिक मूल्यवान है कि बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, जिससे कि बहुत कम व्यवसायी उस धधे में घुसने का साहस करते हैं। उन धधो में जिनमें बड़ी मात्रा के उत्पादन की बचत बहुत अधिक उपलब्ध होती है उनमें कोई भी बड़ा उत्पादक अपने उत्पादन को अधिक वढा कर उत्पादन-व्यय या लागत घटा सकता है, और वह उस वस्तु को कम कीमत पर बेचकर अपने कुछ प्रतिस्पर्द्धियों को बाज़ार से निकाल देगा। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादकों में गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जावेगी और अन्त में बाज़ार मे केवल थोड़े से प्रतिस्पर्द्धी रह जावेंगे। उनमें से प्रत्येक उत्पादक कुल पूर्ति का एक अच्छा भाग उत्पन्न करेगा और उत्पादन व्यय से ऊँची कीमत पर अपनी वस्तु को वेचेगा। इसके अतिरिक्त कम उत्पादन व्यय पर उत्पन्न करने के लिए उन्हें अधिक मात्रा में उत्पादन करना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि कुल उत्पत्ति (*total production*) बहुत अधिक बढ़ जावेगा और उसका परिणाम यह भी हो सकता है कि वस्तु की कीमत इतनी गिर जावे कि उसका उत्पादन व्यय भी न निकले।

अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के कारण यदि एक वस्तु के बहुत अधिक विक्रेता भी हों, फिर भी प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण हो सकती है। उस दशा मे अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का कारण एक तो यह हो सकता है कि खरीदारों को प्रचलित कीमतों का पूरा ज्ञान नहीं है, अथवा यातायात का व्यय बहुत अधिक है, अथवा उपभो-

क्ताओं (consumers) को भिन्न-भिन्न विक्रेताओं द्वारा बेची जाने वाली वस्तु की किस्म या क्वालिटी में भिन्नता होने का सदेह है। बाजार की इस अपूर्णता का परिणाम यह होगा कि खरीदार प्रत्येक दशा में उस विक्रेता से वस्तु नहीं खरीदेंगे, जो कि न्यूनतम कीमत पर बेचता है। क्योंकि खरीदारों को यह ज्ञान नहीं होगा कि भिन्न-भिन्न खरीदार किस कीमत पर उस वस्तु को बेचते हैं। यदि कोई विक्रेता उस वस्तु की कुछ अधिक कीमत भी लेता है, तो भी खरीदार उसी से खरीदते रहते हैं। इसी प्रकार यदि माल लाने या ले जाने का व्यय कीमत को देखते बहुत अधिक है, तो प्रत्येक विक्रेता का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र बन जाता है और उसकी दूकान या कारखाने के समीपवर्ती क्षेत्र के लोग उसी से खरीदते हैं। फुटकर खुदरा व्यापारियों (retail dealers) के साथ यह नियम लागू होता है। बहुधा देखा जाता है कि मुख्य बाजार में उसी वस्तु का मूल्य कुछ कम होता है, परन्तु सुदूर मुहल्लों में दूकानदार उसी वस्तु का कुछ अधिक मूल्य ले लेते हैं। ग्राहक दूर तक चल कर वस्तु को खरीदने की झंझट नहीं लेना चाहता, या ट्राम और बस का खर्चा नहीं देना चाहता ऐसी दशा में वह कुछ अधिक कीमत दे देता है। इसके अतिरिक्त यदि एक उत्पादक या दूकानदार अपनी बिक्री को अधिक बढ़ाना चाहता है तो उसे अपनी वस्तु की कीमत को कम करना होगा जिससे कि वर्तमान ग्राहक अधिक मात्रा में उस वस्तु को खरीदें और नये ग्राहक आकर्षित हों।

अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा होने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण प्रत्येक उत्पादक द्वारा बेची जाने वाली वस्तु की क्वालिटी में वास्तविक या काल्पनिक भिन्नता होना है। लगातार विज्ञापन करके तथा अपना व्यापार चिन्ह प्रचारित करके प्रत्येक उत्पादक (producer) उपभोक्ताओं पर यह प्रभाव डालता है कि उसकी वस्तु ही सर्वश्रेष्ट है। यह श्रेष्ठता वास्तविक अथवा काल्पनिक हो सकती है। परन्तु उत्पादकों के विज्ञापन के कारण क्योंकि ग्राहकों को इस बात का विश्वास हो जाता है, कि अमुक वस्तु उत्तम है अथवा उसमें कुछ विशेष गुण है अतएव उस सीमा तक उत्पादक को अपनी वस्तु के लिए आंशिक रूप में स्वतन्त्र बाजार प्राप्त हो जाता है। वह अपनी वस्तु का कुछ अधिक मूल्य ले सकता है। यदि वह अपनी बिक्री बहुत अधिक बढ़ाना चाहता है तो उसको अपनी वस्तु की कीमत को कम करना होगा, जिससे कि उसके ग्राहक अधिक मात्रा में उस वस्तु को खरीदें और अपने प्रतिद्वन्द्वियों के ग्राहकों को भी वह अपनी वस्तु खरीदने के लिए आकर्षित कर सके।

पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे भेद : यह हम ऊपर लिख आये हैं कि जब प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है तो प्रत्येक उत्पादक को कुछ सीमा तक अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करने की स्वतन्त्रता रहती है। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में उसे उस कीमत को स्वीकार करना पड़ता है, जो कि बाजार मे प्रचलित होती है, और जो उसके सभी प्रतिद्वन्द्वियों की प्रतिस्पर्द्धा के फल-स्वरूप निर्धारित होती है। यदि वह उस कीमत से अपनी वस्तु की कुछ कम कीमत ले तो वह सब खरीदारों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। किन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों से कुछ अधिक कीमत ले सकता है। उसके द्वारा थोड़ी अधिक कीमत लिए जाने पर भी उसके ग्राहक उसको नही छोड़ेंगे क्योंकि या तो उन्हें अन्य उत्पादको द्वारा ली जाने वाली कीमतों की जानकारी नहीं है, अथवा माल ढोने का व्यय बहुत अधिक है, अथवा ग्राहक उस वस्तु को जिसे वे खरीदने के अभ्यस्त हैं श्रेष्ठ समझते हैं, अथवा वह वस्तु उनकी रुचि की है। उस उत्पादक के थोड़ी अधिक कीमत लेने का केवल यही परिणाम होगा कि उसके ग्राहक पहले से कुछ कम मात्रा में खरीदेंगे। इसी प्रकार यदि वह उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत किंचित मात्र कम करदे तो उसकी बिक्री बहुत अधिक नहीं बढ जावेगी उसका परिणाम केवल यही होगा कि उसके पुराने ग्राहक उसे थोड़ी अधिक मात्रा में खरीदेंगे। यदि वह बिक्री को अधिक बढाना चाहता है तो उसे कीमत में यथेष्ट कमी करनी होगी जिससे कि अन्य प्रतिद्वन्द्वियों के ग्राहक टूटें अथवा उसके माल को अन्य क्षेत्रों मे भेजने का व्यय निकल सके। इसी प्रकार प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत को वस्तु को अधिक मात्रा मे अथवा कम मात्रा मे बेचकर बहुत अधिक प्रभावित कर सकता है। अर्थशास्त्र की भाषा मे हम कह सकते हैं कि उस वस्तु की मॉग की लचक इकाई से कम है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे सीमान्त आय (Marginal Revenue) कीमत से कम है : अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे वह कीमत निश्चित होगी कि जिस पर सीमान्त आय और सीमान्त उत्पादन-व्यय बराबर होता है। अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए प्रत्येक उत्पादक उस सीमा तक उत्पादन और बिक्री करता रहेगा जब तक कि अतिरिक्त इकाई को उत्पन्न करने की अतिरिक्त लागत उसकी कुल आय की प्राप्ति में उस अतिरिक्त इकाई को बेचने से होने वाली वृद्धि से कम है। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे सीमान्त आय उस वस्तु की कीमत के बराबर होती है। किन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा मे सीमान्त आय उस वस्तु की कीमत से कम होती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अधिक बिक्री करने के लिए प्रत्येक

उत्पादक को अपनी वस्तु की कीमत कम करनी होगी। उस दशा मे उसे सभी इकाइयों को कम कीमत पर वेचना होगा न कि केवल अतिरिक्त इकाइयों को कम कीमत पर वेचना होगा। अस्तु, यह जानने के लिए कि अतिरिक्त इकाइयो के वेचने से उसे कितना लाभ होगा हमें अतिरिक्त इकाइयो की कीमत मे उन इकाइयों की कीमत मे होने वाली कमी को घटाना होगा, जिन्हे कि वह पहले ऊँचे मूल्य पर वेच रहा था। कल्पना करिये कि एक उत्पादक २० इकाई ३ रु० प्रति इकाई वेच सकता है। यदि वह अपने उत्पादन को ५ प्रतिशत बढाना है और २१ इकाई वेचना चाहता है तो उसे कीमत घटाकर २ रु० १५ आने करनी होगी। इसका हिसाब नीचे लिखे अनुसार होगा।

कुल इकाई	कीमत	कुल प्राप्ति
२१ इकाई	२ रु० १५ आने प्रति इकाई	६१ रु० ११ आने
२० इकाई	३ रु० प्रति इकाई	६० रु०

यदि वह एक इकाई अधिक वेचता है तो उसकी कुल प्राप्ति मे १ रु० ११ आने की वृद्धि होगी। अस्तु, प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय (marginal revenue) १ रु० ११ आने होगी। इस दशा में सीमान्त आय उस वस्तु की कीमत से कम है। जब तक कि सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost of production) सीमान्त आय से कम है तब तक उत्पादक अधिक उत्पादन करेगा और वेचेगा। क्योंकि ऐसा करने मे उसकी प्राप्ति (receipts) मे वृद्धि होगी। वह उस स्थान पर अधिक उत्पादन करना वद कर देगा जहाँ सीमान्त उत्पादन-व्यय सीमान्त आय के वरावर हो जावेगा। किन्तु सीमान्त आय उस वस्तु की कीमत से कम है। अस्तु, वह अधिक उत्पादन करना और वेचना उस विन्दु से पहले ही रोक देगा जहाँ कि उसकी वस्तु का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय के वरावर हो जावेगा। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में सीमान्त उत्पादन-व्यय कीमत तथा सीमान्त आय के वरावर होता है (क्योंकि सीमान्त आय कीमत के वरावर होती है)। किन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में उत्पादन व्यय सीमान्त आय के वरावर होता है, कीमत के वरावर नहीं होता। अस्तु जहाँ सीमान्त उत्पादन व्यय कीमत के वरावर हो जावे उत्पादन उससे पहले ही बंद हो जावेगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की तुलना में प्रत्येक उत्पादक का उत्पादन कम होगा, और उस वस्तु की कीमत उसके सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक होगी।

अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में फर्में अत्यन्त कुशल आकार की नहीं भी हो सकती हैं : हम पहले ही लिख चुके हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में फर्में अनुकूलतम (optimum) या अत्यन्त कुशल आकार की होंगी। किन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में यह आवश्यक नहीं है। पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में कोई फर्म जो कि अनुकूलतम आकार से कम है, उसकी प्रवृत्ति विस्तार की होगी। जैसे जैसे उस फर्म का विस्तार होगा उसका उत्पादन-व्यय गिरेगा, किन्तु अतिरिक्त इकाइयों को जो कीमत उसे मिलेगी वह पूर्ववत ही रहेगी किन्तु यदि अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा है तो उस फर्म का विस्तार नहीं भी हो सकता है। यह ठीक है कि यदि उसका विस्तार होता है तो उसकी उत्पत्ति का औसत उत्पादन-व्यय कम हो जायगा। परन्तु अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए उसे अपनी वस्तु की कीमत को कम करना होगा। यह बिलकुल सम्भव है कि कीमत को कम करने में जो हानि होगी वह औसत उत्पादन-व्यय (average cost of production) कम होने से जो लाभ हुआ है उससे अधिक हो या उसके बराबर हो। अतएव फर्म को विस्तार करने और उत्पादन को बढाने का न तो उत्साह ही होगा और न आकांक्षा ही होगी। ऐसी दशा में अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत अधिक कुशल (efficient) फर्म कम कुशल फर्म को बाज़ार से निकाल बाहर करने में सम्भव है कि सफल न हो। उसका कारण यह है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में कुशल फर्म को अकुशल फर्म के ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपनी वस्तु की कीमत में यथेष्ट कमी करनी पड़ेगी, जो सम्भवतः वह नहीं करेगी, चाहे और अकुशल फर्में भी जीवित रहें और उत्पादन करती रहें। किन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) में कुशल फर्म बिना कीमत में यथेष्ट कमी किए उत्पादन को बढा सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि जब कुशल फर्में अधिक उत्पादन करेंगी तो कुल उत्पत्ति बढ़ेगी और उस वस्तु की कीमत कुछ गिरेगी। इसका परिणाम यह होगा कि अकुशल फर्मों का उस कीमत में से उत्पादन-व्यय नहीं निकलेगा। अस्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (imperfect competition) में फर्मों की संख्या पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की दशा में फर्मों की संख्या से अधिक रहेगी। इनमें से प्रत्येक फर्म अनुकूलतम उत्पादन (optimum production) से कम उत्पादन करेगी। इन फर्मों के व्यवस्थापकों को जो पारिश्रमिक मिलेगा वह इसी प्रकार के अन्य पेशों में मिलने वाले पारिश्रमिक से भिन्न नहीं होगा। उदाहरण के लिए किसी शहर में बहुत से होटल या रेस्ट्राँ हो सकते हैं, और उनमें से प्रत्येक अनुकूलतम आकार (optimum size) से कम है और प्रत्येक की बिक्री भी कम है। ऐसी दशा में इनमें से कोई भी

सीमान्त लाभ (normal profit) से अधिक नहीं पा सकेगा। परन्तु फिर भी प्रत्येक रेस्ट्रा या होटल इस अर्थ में आंशिक रूप से एकाधिकार का उपभोग करेगा कि प्रत्येक का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र या बाज़ार है। चाहे फिर वह बाजार यातायात के व्यय, खरीदारों की अज्ञानता अथवा खरीदारों और ग्राहकों की उस रेस्ट्रा या होटल के प्रति रुचि से ही सुरक्षित क्यों न हो। इस संबंध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि समाज के हित में यह है, कि धंधे में थोड़ी संख्या में फर्में हों और वे ही सारी पूर्ति का उत्पादन करें। इसका एक उपाय यही है कि प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा कुछ फर्मों को बाजार से हटा दिया जावे। जब फर्मों की संख्या कम हो जावेगी, तब प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की होगी। प्रति फर्म उत्पादन अधिक होगा। औसत उत्पादन-व्यय और कीमत न्यूनतम होगी।

उस दशा में भी प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होगी जबकि किसी वस्तु के खरीदार संख्या में कम हों। ऐसी स्थिति में प्रत्येक खरीदार कुल पूर्ति (total supply) का यथेष्ट भाग खरीदेगा और वह अपनी खरीदारी को घटा-बढ़ा कर कीमत को प्रभावित कर सकेगा। तैयार पक्के उपभोक्ता माल (finished consumers goods) में तो ऐसा नहीं होता अथवा ऐसा बहुत कम होता है। क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं के खरीदार बहुत बड़ी संख्या में होते हैं। किन्तु उत्पादन के साधनों (factors of production) (अर्थात् श्रम और कच्चा माल) की खरीदारी का बाजार अपूर्ण होता है। उदाहरण के लिए, शक्कर के कारखाने या जूट और कपास के पेच के हाथों उस कारखाने के समीपवर्ती प्रदेश वालों को अपना गन्ना जूट या कपास बेचना ही होगा। क्योंकि अन्य कारखाने बहुत दूरी पर स्थित होंगे। यदि किसान अपनी पैदावार दूरी पर स्थित कारखाने को बेचना चाहे तो एक तो माल ढोने का व्यय बहुत अधिक होगा, दूसरे वहाँ तक ले जाने में अधिक समय लगने के कारण गन्ना खराब हो जावेगा। इसी प्रकार यदि कोई मक्खन बनाने का कारखाना स्थापित किया गया है, तो समीपवर्ती ग्वालों को अपना दूध उसी कारखाने को देना होगा, अन्यथा दूध दूर भेजने का व्यय तो लगेगा ही दूध खराब हो जाने का भी भय रहेगा। ऊपर दिये हुए उदाहरणों में उन कारखानों के समीपवर्ती क्षेत्र के किसानों को अपनी पैदावार को अपने पास के कारखाने को बेचने पर विवश होना पड़ता है, और कारखाने का मालिक अपने कच्चे माल को अपूर्ण बाजार (imperfect market) में खरीदता है। इसी प्रकार श्रम (labour) का बाजार भी अपूर्ण हो सकता है; क्योंकि किसी स्थान पर किसी विशेष दर्जे या कुशलता के

श्रम का खरीदार केवल एक या थोड़े कारखाने ही हो सकते हैं। यदि
मालिक मजदूरी की दर घटा दे, तो यह न जानने के कारण कि अन्य स्थानों
जाने से उन्हें अधिक मजदूरी मिल सकती है, मजदूर उस कारखाने को न छोड़ें।
अथवा वहाँ जाने का व्यय अधिक हो या मजदूरों को अपने गाँव से मोह है,
ऐसी दशा में कम मजदूरी पर ही वे काम करते रहेंगे। इसी प्रकार यदि
कारखाने का मालिक दूर स्थानों से मजदूरों को भर्ती करना चाहता तो
मजदूरी बहुत अधिक बढानी होगी। अस्तु, यदि मालिक मजदूर नौकर रखना
चाहता है तो उसे अधिक मजदूरी देनी होगी और यदि कम मजदूर रखने हैं
कम मजदूरी देनी होगी। क्योंकि मालिक को अधिक मजदूर भर्ती करने के लि
केवल अतिरिक्त नये मजदूरों को ही अधिक मजदूरी नहीं दे
होगी, वरन सभी मजदूरों को ऊँची मजदूरी देनी होगी। अ
जबकि मालिक एक अतिरिक्त मजदूर को रखता है तो वह केवल
मज़दूर की मजदूरी को ही अपने उत्पादन-व्यय में नहीं जोड़ता है, वरन
उत्पादन-व्यय में अन्य सभी मजदूरों की जितनी मजदूरी (wages) बढ़
पड़ती है वह भी जोड़ता है। अतएव एक मजदूर अधिक रखने की ला
(श्रम का सीमान्त मूल्य marginal value of labour) उस मजदूर
दी जाने वाली मजदूरी (सीमान्त लागत मजदूरी) से अधिक होगी। मालि
उस स्थिति में अधिक उत्पादन करना बद कर देगा जब कि यह अतिरि
लागत (Additional cost) अतिरिक्त उत्पत्ति की बिक्री से मिलने वा
कीमत के बराबर होगी। कहने का तात्पर्य यह कि मालिक उस समय अधि
मजदूर रखना बद कर देगा जब कि मजदूरी की दर श्रम की शुद्ध सीमान्त उत्
(marginal net product) से कम हो। दूसरे शब्दों में मजदूरी की दर
की शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति से उस दशा मे कम होगी जबकि श्रम बाजार में अ
प्रतिस्पर्द्धा होगी। और यदि उस उत्पत्ति (वस्तु) की बिक्री में भी अ
प्रतिस्पर्द्धा है तो सीमान्त आय (marginal revenue) उस वस्तु की की
से कम होगी, ऐसी दशा मे मजदूरी की दर और भी अधिक श्रम की शुद्ध सीमा
उत्पत्ति से कम होगी।

ऊपर हम यह मान कर चले थे कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में किसी वस्तु
विक्रेताओं की सख्या अधिक होनी चाहिए। किन्तु विक्रेता अधिक सख्या
तो भी अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो सकती है। मिठाई की दूकानें इसका एक
उदाहरण हैं। यद्यपि मिठाई की दूकानों की सख्या बहुत अधिक होती है,
में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है। कुछ तो खरीदारों की लापरवाही के का

कुछ अन्य दूकानें दूर होने के कारण और कुछ खरीदार की दूकान-विशेष के प्रति आस्था होने के कारण, अधिक संख्या में मिठाई की दूकानें होते हुए भी उनमें प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है।

व्यवहार में साधारण बाजारों में अधिकतर प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है। प्रत्येक विक्रेता को यह अनुभव होता है कि उसकी उत्पत्ति की माँग की वक्र रेखा (demand curve) लचकरहित (inelastic) है। यदि उसे अधिक मात्रा में वस्तु बेचनी है तो उसे अधिक खरीदारों को आकर्षित करना होगा, क्योंकि वर्तमान खरीदार प्रचलित कीमत पर जितनी मात्रा में वस्तु खरीद सकते थे उतनी उन्होंने खरीद ली। यदि वह वर्तमान ग्राहकों को अधिक मात्रा में खरीदने के लिए तैयार करना चाहता है, तो उसे अपनी वस्तु की कीमत कम करनी पड़ेगी। यदि वह नये ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है तो भी उसे अपनी वस्तु की कीमत कम करनी होगी। क्योंकि वे ग्राहक और किसी दूकान की मिठाई को पसन्द करते हैं, अतः उनको कम कीमत का लालच देकर ही अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है, अथवा दूर तक आने में जो व्यय या परेशानी होगी उसकी क्षतिपूर्ति के लिए कीमत को कम करना होगा। जो भी हो यह सत्य है कि वह अतिरिक्त मात्रा को पहली कीमत पर नहीं बेच सकता उसको कीमत कम करनी ही होगी। यदि वह अतिरिक्त उत्पत्ति को बेचने के लिए कीमत कम करता है, तो सीमान्त आय (marginal revenue) उस कीमत से कम होगी जिस पर कि वह अपनी वस्तु को बेचता है। वह उस कीमत पर अपनी वस्तु बेचेगा जिस पर सीमान्त आय और सीमान्त लागत (marginal cost) बराबर हो।

पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा में प्रत्येक विक्रेता की माँग की वक्र रेखा पूर्ण रूप से लचकदार होगी। क्योंकि वह कुल पूर्ति का बहुत थोड़ा अंश बेचता है, और वह कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता। यदि वह तनक अधिक उत्पादन करता है, तो वह अपनी अतिरिक्त उत्पत्ति को पूर्ववत कीमत पर बेच सकता है। उस दशा में सीमान्त आय कीमत के बराबर होगी, और वह उस समय तक उत्पादन बढ़ाता जावेगा जहाँ तक कि उसका सीमान्त उत्पादन-व्यय या लागत सीमान्त आय (marginal revenue) या कीमत के बराबर होती है। (क्योंकि सीमान्त आय और कीमत बराबर होती हैं)

अब पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (perfect competition) अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (imperfect competition) तथा एकाधिकार (monopoly) का भेद स्पष्ट होगा। इन सभी परिस्थितियों में प्रत्येक विक्रेता उस समय तक अपनी

वस्तु को बेचता रहेगा जब तक कि सीमान्त उत्पादन-व्यय या लागत सीमान्त आय के बराबर नहीं हो जाती है। प्रतिस्पर्द्धा जितनी ही पूर्ण होगी सीमान्त आय (marginal revenue) कीमत के उतनी ही समीप आ जावेगी। जब प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण होती है तो सीमान्त आय और कीमत बराबर हो जाते हैं। उस दशा में सीमान्त उत्पादन-व्यय या लागत (marginal cost) सीमान्त आय और कीमत दोनों के बराबर होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिस्पर्द्धा जितनी ही अधिक अपूर्ण होगी या विक्रेता का एकाधिकार जितना ही अधिक प्रभावशाली होगा उतना ही अधिक सीमान्त आय और कीमत में अन्तर होगा, या कीमत और सीमान्त उत्पादन-व्यय और लागत में अन्तर होगा।

पांचवां भाग

मुद्रा तथा विदेशी विनिमय
(Money and Foreign Exchange)

परिच्छेद २८

विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)

अदल बदल अथवा वस्तु विनिमय (Barter) : समाज की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और मनुष्य उन आवश्यकताओं को स्वयं परिश्रम करके तृप्त कर लेते थे। जिस वस्तु की मनुष्य को आवश्यकता होती थी, बहुत करके वह उस वस्तु को स्वय उत्पन्न करता था। [illegible] समाज उस समय आर्थिक स्वावलम्बन (economic self sufficiency) की स्थिति मे था। उस समय विनिमय की कोई समस्या ही न थी, परन्तु जैसे-जैसे श्रम-विभाग (division of labour) का विकास होता गया और मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न न करके एक धंधे अथवा पेशे को करने लगा, समाज में विनिमय की समस्या उठ खड़ी हुई। उदाहरण के लिए, किसान को जब वस्त्र की आवश्यकता होती थी तो उसे जुलाहे से गेहूँ के बदले में वस्त्र लेना पड़ता था।

आरम्भ में क्योंकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, अतएव मनुष्य आपस में अपने गाँव में ही वस्तुओं का अदल-बदल कर लेते थे। जुलाहा वस्त्र देकर, किसान से अनाज और बढ़ई से कर्घा प्राप्त करता था। किसान, बढ़ई, लुहार तथा जुलाहे को अनाज तथा खेती की अन्य पैदावार देकर क्रमशः हल तथा अन्य खेती के औज़ार तथा वस्त्र प्राप्त करता था। वस्तुओं की वस्तुओं से विनिमय करने की इस प्रणाली को अदल-बदल अथवा वस्तु विनिमय (barter) कहते हैं।

अदल बदल अथवा वस्तु विनिमय के दोष : जैसे-जैसे मनुष्यों की आवश्यकताओं में वृद्धि होती गई तथा श्रम विभाग (division of labour) का विकास होने से धनोत्पत्ति के नये नये तरीके प्रचलित होते गए, वस्तुओं के अदल बदल (barter) में बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं। समाज ने देखा कि वस्तुओं के अदल बदल का यह तरीका आर्थिक दृष्टि से उन्नत [illegible] सर्वथा अनुपयुक्त था। आर्थिक उन्नति के साथ साथ यह अनुभव होने लगा कि मनुष्यों के अदल बदल की प्रणाली से विनिमय का काम नहीं चल सकता। [illegible] श्रम-विभाग अधिक विभिन्न और जटिल हो जाता है, उत्पादन अधिक

मात्रा मे होने लगता है, थोड़ी वस्तुओं के स्थान पर नाना प्रकार की अन्य वस्तुओं का उत्पादन होने लगता है, तथा आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं, तब वस्तु-विनिमय तथा अदल बदल प्रथा (barter) अत्यन्त कष्टदायक और असम्भव सी प्रतीत होने लगती है। जब उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया है और विनिमय करने के लिए बहुत अधिक वस्तुएँ होती हैं, तब पहला कठिनाई तो यह उपस्थित होती है, कि ऐसे दो व्यक्तियों का मिलना कठिन हो जाता है कि जिन्हें एक दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो। उदाहरण के लिए, यदि मुझे गेंहूँ चाहिए और मेरे पास फाउन्टेनपेन हैं, तो मुझे ऐसे किसान को ढूंढना होगा जो फाऊटेनपेन के बदले गेंहू देने को तैयार हो। कल्पना करो कि मुझे ऐसा कोई किसान नहीं मिलता, तो मुझे गेंहूँ नहीं मिल सकते। इस प्रकार आवश्यकता के इस दुहरे संयोग को ढूंढ़ निकालने की कठिनाई समाज ने विनिमय की मात्रा तथा विभिन्नता के बढ़ने से अधिकाधिक अनुभव होने लगी।

दूसरी कठिनाई वस्तुओं के विनिमय मूल्य को तय करने में उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए, यदि मेरे पास एक बैल है और मै उसके बदले मे कपड़ा लेना चाहता हूँ, तो यह तय करना कि उस बैल के लिए कितने गज कपड़ा देना उचित होगा, कठिन होगा। आज तो हम जब बाजार किसी वस्तु को खरीदने जाते हैं तो उसकी एक कीमत होती है, परन्तु बैल और कपड़े, कपड़े और जूते और जूते और फाउटेनपेन का कोई प्रचलित मूल्य नहीं हो सकता। इस प्रकार के अदल-बदल में हर बार उन वस्तुओं के मूल्य को तय करना होगा, जिसमे काफी असुविधा और समय की बरबादी होगी। कहने का तात्पर्य यह कि विनिमय (exchange) का कोई सर्वमान्य माप न होने से वस्तुओं के पारस्परिक मूल्य निर्धारण में तथा सौदा तय करने में बहुत सा समय और शक्ति नष्ट हो जाते हैं।

तीसरी कठिनाई वस्तुओं के विनिमय के अनुपात को तय करने में अनुभव होती है। यदि मेरे पास एक बैल है और मैं उसके बदले में बकरियाँ लेना चाहता हूँ, तो यह तय करना बड़ा कठिन काम है कि बैल के बदले में कितनी बकरियाँ ली या दी जावें। उदाहरण के लिए मेरे सामने यह कठिनाई आ सकती है, कि यदि मै बैल के बदले मे आठ बकरियाँ लेता हू तो मुझे बैल के मुकाबिले संख्या कुछ कम मालूम पड़ती है, और यदि मै बैल के बदले में नौ बकरियाँ माँगता हू तो बकरियाँ देने वाले को कुछ ज्यादा मालूम पड़ती है। कल्पना करो कि मेरे बैल के बदले मे ८½ बकरियाँ देना ठीक होगा। किन्तु यह तो हो नहीं सकता। ऐसी दशा मे या तो मुझे बैल के बदले मे आठ बकरियाँ स्वीकार

नी होंगी या बकरी वाले को भी बकरियाँ देनी होंगी। ऐसी दशा में जब हमारे पास नाप का कोई ऐसा साधन नहीं है कि जिसके छोटे से छोटे भाग [illegible] जा सकें, तो हम दोनों में से किसी एक को हानि उठानी ही पड़ेगी। [illegible] यदि मेरी आवश्यकता केवल बकरियों की न होकर, कुछ बकरियों, कपड़े, [illegible]ाज और मसाले की है, तो यह कठिनाई और भी अधिक बढ़ जावेगी। ऐसी [illegible] में मेरी आवश्यकताएँ तब ही पूरी हो सकती हैं, जब कि मुझे [illegible] ऐसा व्यक्ति मिल जावे जो यह तमाम वस्तुएँ देना चाहता हो और उनके [illegible]ले में बैल लेने को तैयार हो। यह तो सम्भव नहीं हो सकता कि मैं अपने [illegible] के चार टुकड़े करके चार अलग अलग आदमियों से अपनी आवश्यकता [illegible] चीजें मोल लूँ। अतः अदला-बदली की यह कठिनाई भी स्पष्ट है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं, कि अदला-बदली की प्रथा में तीन मुख्य दोष [illegible]। (१) आवश्यकता के दुहरे संयोग को ढूँढ निकालने की कठिनाई। (२) [illegible]निमय का कोई सर्वमान्य नाप न होने के कारण बदली जाने वाली वस्तुओं [illegible] पारस्परिक मूल्य को निर्धारित करने में कठिनाई तथा (३) कुछ मूल्यवान [illegible]स्तुओं के विभाजित न हो सकने के कारण उनके विनिमय में होने वाली [illegible]ठिनाई।

सच तो यह है कि अदल-बदल अथवा वस्तु विनिमय (barter) तभी [illegible]म्भव हो सकता है जब कि आवश्यकताएँ बहुत सीमित हों, विनिमय का क्षेत्र [illegible] संकुचित हो, तथा साधारणतः समाज आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हो।

विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)

जब समाज का आर्थिक विकास होने लगा श्रमविभाग (division of [illegible]bour) जटिल होगया, उत्पादन के नये नये तरीके काम में आने लगे, [illegible]नागमन के साधनों की उन्नति होने से विनिमय का क्षेत्र अधिक विस्तृत [illegible] गया, तो अदल बदल की असुविधाएँ अधिक तीव्र रूप में प्रगट होने लगीं। [illegible] विनिमय की सुविधा के लिए किसी ऐसी सर्वमान्य वस्तु को ढूँढ निकालना [illegible] होगया जो विनिमय का माध्यम बन सके।

[illegible]-बदल अथवा वस्तु विनिमय (barter) के दोषों को दूर करने [illegible] एक ऐसी सर्वमान्य वस्तु की आवश्यकता थी, जिसे प्रत्येक व्यक्ति [illegible] [illegible] बिना [illegible] स्वीकार करने के लिए तैयार हो, और [illegible] [illegible] वस्तुओं के विनिमय मूल्य (value) को नापा जा सके, तथा [illegible] [illegible] की [illegible] जा सके। इसी को द्रव्य (money) कहते हैं।

द्रव्य (Money) की परिभाषा · भिन्न-भिन्न विद्वानों ने द्रव्य की परिभाषा भिन्न-भिन्न रूप से की है। श्री राबर्टसन के अनुसार "द्रव्य वह वस्तु या पदार्थ है जिसे वस्तुओं का मूल्य चुकाने तथा अन्य व्यापारिक कर्जा या ऋण [illegible] करने में सर्वसाधारण स्वीकार करता हो"। प्रसिद्ध आंग्ल अर्थशास्त्री मार्शल ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की है, "वे सब वस्तुएँ जो (किसी समय अथवा स्थान पर) बिना किसी संशय अथवा विशेष जाँच पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए माध्यम का कार्य करें वे द्रव्य हैं।" 'कोल' ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि क्रयशक्ति (purchasing power) को ही द्रव्य कहते हैं। कोई वस्तु जो अन्य वस्तुओं को खरीद सके वही द्रव्य (money) है। आधुनिक अंग्रेज तथा अमेरिकन अर्थशास्त्री 'कोल' की परिभाषा से सहमत हैं। वे धातु के सिक्कों, कागजी नोटों तथा बैंक में अमानत या जमा (deposit) जिसको चैक काट कर निकाला जा सकता है, को द्रव्य (money) कहते हैं। यह परिभाषायें बहुत ही विस्तृत हैं, क्योंकि इसके अन्तर्गत वह विनिमय के मध्यम (medium of exchange) भी आजाते हैं, जिनका चलन क्षेत्र बहुत सीमित होता है, और जिनको अस्वीकार किया जा सकता है, जैसे चैक या बिल इत्यादि। उसके अतिरिक्त यह पुर्जे (चैक या बिल इत्यादि) केवल कुछ आर्थिक वस्तुओं के स्वामित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं परन्तु वे स्वयं आर्थिक वस्तुएँ नहीं हैं। वे स्वयं मूल्यवान नहीं हैं उनका मूल्य उन आर्थिक वस्तुओं पर आधारित है जिनके स्वामित्व का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। अस्तु, कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस भेद को स्पष्ट करने के लिए द्रव्य (money) और स्थानापन्न द्रव्य (money substitute) में भेद किया है। स्थानापन्न द्रव्य वे उनको कहते हैं जो वाणिज्य में द्रव्य के समान ही काम में लाए जावें, परन्तु जो तुरन्त द्रव्य में बदले जा सकें। आधुनिक अर्थशास्त्री अब अधिकतर इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते जारहे हैं, कि जो भी वस्तु विनिमय के मध्यम के रूप में साधारणतया स्वीकार की जावे वही द्रव्य है (क्राऊथर)।

आधुनिक द्रव्य की विशेषतायें : आज के द्रव्य की मुख्य विशेषता यह है कि द्रव्य के निज के मूल्य तथा वह जितनी अन्य वस्तुओं को खरीदता है उसमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, एक रुपये के नोट का स्वयं कोई मूल्य नहीं है, परन्तु वह ढाई सेर गेहूँ अथवा आधा सेर सेव खरीदता है। स्वयं जिसका कुछ मूल्य न हो परन्तु वह अन्य वस्तुओं को खरीद सके यह सम्भव है कि जब वह कानूनन ग्राह्य (legal tender) हो। कानून में

रेचत कर दिया गया है कि कोई भी दूकानदार अपनी उस वस्तु को जिसका
य एक रुपया है देकर एक रुपए के नोट को लेने से इनकार नहीं कर सकता।
एव आज द्रव्य की यह मुख्य विशेषता है, कि वह कानूनन ग्राह्य (legal
nder) हो।

द्रव्य (Money) से लाभ . द्रव्य की परिभाषा जान लेने के उपरान्त
मारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि द्रव्य का उपयोग क्यों किया जाता
, उससे हमें क्या लाभ है। आज हम द्रव्य का उपयोग करते करते उनके
तने अधिक अभ्यस्त होगए हैं कि हमें यह अनायास ही ज्ञात नहीं होता कि हमें
व्य से क्या लाभ है, द्रव्य ने समाज का कितना अधिक उपकार किया है,
बिना द्रव्य के समाज की दशा क्या होती। आज भी जब द्रव्य (money)
की व्यवस्था खराब हो जाती है तो देश की आर्थिक स्थिति कितनी भयावह
हो उठती है, यह किसी से छिपा नहीं है। यदि आवश्यकता से अधिक मुद्रा
या चलतार्थ (currency) चलन में आ जाती है तो वस्तुओं के मूल्य आकाश
छूने लगते हैं।

द्रव्य या मुद्रा से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उपभोक्ता (consu-
mer) की क्रय शक्ति (purchasing power) एक ऐसे रूप में होजाती
है कि वह जिस चीज को चाहे सरलता से खरीद सकता है, उसे खरीदारी करने
में कोई कठिनाई नहीं होती। कल्पना कीजिए कि द्रव्य या मुद्रा न हो,
तो प्रत्येक खरीदार को वस्तुएँ देकर अन्य वस्तुओं को खरीदना पड़ेगा। इसका
परिणाम यह होगा कि हर एक व्यक्ति के पास कुछ वस्तुएँ ऐसी इकट्ठी हो
जायेंगी जिनकी उसको कोई आवश्यकता नहीं है। द्रव्य या मुद्रा से समाज को
एक बड़ा लाभ यह होता है, कि समाज को यह ठीक ठीक ज्ञात होजाता है, कि
जनता किन वस्तुओं को चाहती है और उनको किस मात्रा में चाहती है।
इसका फल यह होता है कि हमें यह ज्ञान हो जाता है कि किन वस्तुओं
का उत्पादन किया जावे और किस मात्रा में किया जाय। अर्थात्
समाज अपनी [illegible] उत्पादन शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग करता है।
[illegible] द्रव्य या मुद्रा के प्रयोग से प्रत्येक व्यक्ति का उपभोग
(consumption) इस प्रकार [illegible] हो जाता है कि व्यक्ति के पास अपनी
आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो भी साधन हैं उनसे अधिक से अधिक तृप्ति
प्राप्त कर सके।

आधुनिक [illegible] समाज की प्रधान [illegible] अर्थात् [illegible] पद्धति की
[illegible] का सामना नहीं करना पड़ता, [illegible]

उपस्थित होती हैं, उसका आज हम अनुमान भी नहीं कर सकते । आज की आर्थिक व्यवस्था मे उत्पादन (production) बाजार के लिए होता है। श्रम विभाजन (division of labour) के फल स्वरूप आज मनुष्य की आवश्यकताओं (wants) और जो कुछ वह उत्पन्न करता है उसके बीच बहुत बड़ा अन्तर पड गया है । उदाहरण के लिए एक बढई मेज बनाता है, किन्तु उसको मेज की आवश्यकता न होकर गेहूँ और कपड़े की आवश्यकता होती है। आज जो उत्पादन कार्य में श्रम विभाजन का इतना उपयोग हो रहा है और बड़ी मात्रा का उत्पादन होता है, वह इसी कारण सम्भव है कि द्रव्य या मुद्रा के द्वारा विनिमय (exchange) इतना सरल हो गया है । आज प्रत्येक व्यक्ति अपने काम को निश्चित होकर करता है । उदाहरण के लिए बढई केवल मेज़ कुर्सी ही बनाता रहता है, उसे अपने लिए गेहूँ पैदा करने अथवा कपड़ा तैयार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । आज जो श्रम विभाग (division of labour) के परिणाम स्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन (large scale production) हो रहा है, वह द्रव्य अथवा मुद्रा के उपयोग से ही सम्भव हो सका है । यदि समाज में द्रव्य का चलन न होता, तो फिर बड़ी मात्रा का उत्पादन सम्भव ही नहीं हो सकता था । कल्पना कीजिए कि द्रव्य का चलन न हो तो एक फैक्टरी कैसे चल सकती है ।

मिल मालिक से लेकर किसान तक अपनी उत्पत्ति को बाजार में द्रव्य के लिए बेच देता है । मजदूर अपने श्रम को द्रव्य के लिए बेच देता है । क्रय शक्ति और सम्पत्ति या धन (wealth) का हस्तांतरकरण द्रव्य से ही होता है। द्रव्य या मुद्रा उस यत्र का एक अत्यन्त आवश्यक अ ग है, जिमसे विनिमय होता है । द्रव्य या मुद्रा उत्पादन मे विनिमय की सहूलियत देकर उत्पादन (production) को बहुत बढा देता है ।

द्रव्य से तीसरा लाभ यह होता है कि पू जी (capital) के सचय करने मे सुविधा होती है। साथ ही पू जी को दूसरों को ऋण स्वरूप देने में बहुत सुविधा रहती है। कल्पना कीजिए कि समाज में द्रव्य का चलन नहीं है, और एक व्यक्ति के पास प्रति वर्ष एक हजार मन गेंहू उत्पन्न होता है जिसकी उसको आवश्यकता नहीं है । अब वह धन किस प्रकार बचाये । आज तो वह अपना गेहू बेचकर जो द्रव्य पाता है उसको बचाकर बैंक मे जमा करता है, अथवा दूसरे व्यवसायियों को उधार देता है । इस प्रकार द्रव्य (money) के चलन ने समाज म पूंजी का सचय होता है, और ऋण देने या लेने में सुविधा होती है । द्रव्य के चलन से केवल यही सुविधा नहीं होती कि पू जी का सचय हो और पू जी उधार देने में

सुविधा हो, वरन यह भी सुविधा होती है कि पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सके। यदि किसी व्यवसायी को यह ज्ञात हो कि चीन में पूंजी लगाने से अधिक लाभ होगा, तो वह अपनी पूंजी चीन में भेज सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि द्रव्य के द्वारा पूंजी गतिशील (mobile) बनती है।

द्रव्य से चौथा लाभ यह है कि समाज में सामाजिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता स्थापित होती है। समाज में जो परम्परा या रूढ़ि और पद तथा प्रतिष्ठा का बोलबाला था, उसके स्थान पर अब प्रतिस्पर्द्धा और कारबार की स्वतन्त्रता हो गई है। उदाहरण के लिए, पहले जब कोई सामन्त अपने खेतों पर काम करने के लिए मजदूर रखता था, तो उसको रहने का स्थान, कपड़ा, भोजन इत्यादि देता था। मजदूर उससे बँधा रहता था और दास की भाँति काम करता था। गाँवों में जमींदार अनाज के रूप में लगान लेने के अतिरिक्त नजर और बेगार भी लेते थे। द्रव्य के चलन से दास प्रथा कमजोर हो गई और मजदूर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में स्वतन्त्र हो गया। यदि हम भिन्न-भिन्न देशों का आर्थिक इतिहास पढ़ें, तो हमें ज्ञात होगा कि मध्य युग में किसान भूस्वामियों के क्रीत दास थे, उन्हें अपने भूस्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी और उनके बच्चे बच्चियाँ बिना भूस्वामी को कुछ कर दिए विवाह नहीं कर सकते थे। कहने का तात्पर्य यह कि जब समाज में द्रव्य का चलन नहीं था तब सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता का अभाव था। द्रव्य के चलन ने समाज में आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का आविर्भाव हुआ है।

द्रव्य के चलन से एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि उसने गाँव तथा शहरों की एकान्तता को नष्ट कर दिया। गाँव और शहरों का सम्बन्ध स्थापित करने में द्रव्य या मुद्रा के चलन से बहुत सहायता मिली है, और राष्ट्रीय तथा राजनैतिक स्थिरता को इससे बल मिलता है।

द्रव्य के उपयोग से एक बड़ा लाभ यह है कि उसके द्वारा ऋण देने या किसी का तगाज़ चुकारा करने में बड़ी सहायता मिलती है। जब एक फैक्टरी का मालिक मजदूर को मजदूरी चुकाता है, तो वास्तव में वह मजदूर को अगाऊ चुकारा करता है। फैक्टरी का मालिक तो कई महीने बाद जब वह वस्तु तैयार होकर बाजार में बिक जावेगी तब उसका मूल्य प्राप्त करेगा। किन्तु जो मजदूर उस वस्तु को बनाने में लगा है उसको तो खाने के लिए चाहिए। अस्तु, मालिक उसको अगाऊ चुकारा कर देता है। अगाऊ चुकारा करने में द्रव्य के अभाव में बहुत मुश्किल रहती है। एक व्यवसायी जब दूसरे व्यवसायी को

उधार देता है अथवा सर्वसाधारण जब किसी को ऋण देता है अथवा कि
कारबार में अपनी पूँजी लगाता है तो द्रव्य के चलन से बहुत सहायता मि
है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पूँजी (capital) का सचय या ऋ
देना विना द्रव्य के असम्भव हो जावेगा। सच तो यह है, कि सचय तो वास्त
में वास्तविक वस्तुओं का ही होता है, और उन्हीं को उधार दिया जाता है औ
यह बिना द्रव्य के भी हो सकता है, परन्तु जब तक व्यक्ति ही धन का सच
करते हैं और उसको उधार देते हैं, तब तक बिना द्रव्य की सहायता के ध
(wealth) का सचय और उसको उधार देने का कार्य बड़ी मात्रा में कर सक
बहुत कठिन होगा। इस कारण भी आधुनिक बड़ी मात्रा के उत्पादन के लि
द्रव्य का चलन बहुत आवश्यक है।

सक्षेप में हम कह सकते हैं, कि उत्पादन (production) तथा वितरण
(distribution) की सम्पूर्ण क्रिया में द्रव्य (money) ही भिन्न भि
व्यक्तियो के आपसी सबध को स्थापित करता है। सैकड़ों वर्षों से मानव समा
द्रव्य या मुद्रा के उपभोग का इतना अधिक अभ्यस्त हो गया है कि आज व
द्रव्य से होने वाले अगणित लाभों का सहज में हो अनुमान नहीं कर सकता।
यदि आज द्रव्य का चलन बद हो जावे तभी हम अनुभव कर सकते हैं कि द्रव्य
से हमें क्या लाभ है। जिस प्रकार से सड़क, रेल, तार, पोस्ट इत्यादि यातायात
और परिवाहन के साधन समाज के लिए आवश्यक हैं, उससे भी अधिक समाज
के लिए आवश्यक द्रव्य है। आज का आर्थिक ढाचा बहुत कुछ द्रव्य पर निर्भर
है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ ने द्रव्य (money) की तुलना करते हुए
लिखा था "किसी देश में सोना और चांदी जो चलन में है उसकी तुलना सड़क
से की जा सकती है। क्योंकि यह सोना और चांदी जो द्रव्य के रूप में चलन में
होता है, वह देश की पैदावार को बाजार में लाता है, परन्तु स्वय कुछ उत्पन्न
नहीं करता।"

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है, कि आज के युग में अदल बदल (barter)
बिलकुल समाप्त हो गया है। संसार के उन्नत देशों में भी किसी किसी दशा में
अदल बदल प्रचलित है। परन्तु अदल बदल उसी दशा में आज प्रचलित है
जिसमें उसकी कठिनाइया अधिक सामने नहीं आतीं। उदाहरण के लिए, घरे
नौकरों को लोग खाने, रहने के लिए मकान के रूप में भी वेतन देते हैं, खेतों
पर काम करने वाले मज़दूरों को अनाज अथवा थोड़ी सी भूमि के रूप में मज़दूरी
दी जाती है, इत्यादि। अदल बदल बिलकुल समाप्त नहीं हुआ है, फिर भी
काश कारबार द्रव्य की सहायता से होता है और यदि किसी सौदे में वस्

उसे मिलते हैं वे केवल वस्तुओं को प्राप्त कर सकने के अधिकार का प्रमाण मात्र हैं। यह हो सकता है कि वस्तुएँ न हों तो वह प्रमाण पत्र व्यर्थ हो सकता है।

द्रव्य या मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता : आधुनिक मुद्रा प्रणाली (monetary system) का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि द्रव्य या मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता, वह घटता बढता रहता है। द्रव्य के मूल्य की अस्थिरता से गहरे आर्थिक दुष्परिणाम होते हैं। द्रव्य या मुद्रा के मूल्य (value of money) से हमारा अर्थ उसकी क्रय-शक्ति (purchasing power) से है। द्रव्य की क्रय शक्ति स्थिर नहीं रहती, वह घटती बढती रहती है और कभी-कभी तो वह भयकर रूप से घटती बढती रहती है। यदि द्रव्य का मूल्य अर्थात् क्रय-शक्ति बढ जाती है तो उन लोगों को जिनका वेतन निश्चित है लाभ होता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति को सौ रुपए प्रति मास वेतन मिलता है और गेहू का भाव एक रुपए का दो सेर से घट कर एक रुपए का पॉच सेर होजाता है, तो सौ रुपए पाने वाला व्यक्ति पहले की अपेक्षा अधिक गेहू खरीद सकेगा। परन्तु व्यवसायी या व्यापारी को द्रव्य के मूल्य अर्थात् क्रय-शक्ति में वृद्धि होने से हानि होगी। कल्पना कीजिए कि एक व्यापारी ने एक रुपए के दो सेर के भाव पर गेहूँ भरे थे किन्तु गेहू का भाव अब प्रति रुपए पॉच सेर होजाता है, तो उसे अपना गेहूँ घाटे पर बेचना होगा। इसी प्रकार कारखाने वालों को अपने माल का मूल्य कम मिलेगा। यदि द्रव्य की क्रय शक्ति अर्थात् मूल्य गिर जाता है, तो निश्चित वेतन पाने वाले व्यक्तियों को हानि होती है, तथा व्यापारी और व्यवसायियों को लाभ होता है। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध में जब मुद्रा स्फोति (money inflation) के कारण वस्तुओं के मूल्य कई गुने बढ़ गए तो निश्चित वेतन पाने वाले मध्यवर्गीय लोगों की स्थिति भयावह हो उठी, और व्यापारियों तथा व्यवसायियों ने लाभ कमाया।

द्रव्य या मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता का यही दोष नहीं है कि भिन्न वर्गों के लोगों को आर्थिक हानि या लाभ पहुँचता है, इसका एक बड़ा दोष भी है कि धन के उत्पादन (production of wealth) पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। उद्योग धंधों में अस्थिरता आजाती है, और धन के उत्पादन को धक्का लगता है। द्रव्य के मूल्य की अस्थिरता के कारण धन के वितरण (distribution of wealth) में असमानता उत्पन्न होती है और धन का

पूँजीपतियों के पास इकट्ठा हो जाता है। द्रव्य ही आधुनिक मज़दूरी पद्धति का
धार है, जो मजदूर के लिए न्यायपूर्ण नहीं है।

इसमें तनक भी सदेह नहीं कि ऊपर लिखे हुए दोष द्रव्य (money)
मौजूद हैं, परन्तु उससे समाज को बहुत लाभ हैं, उनके लिए हमें द्रव्य के यह
ष स्वीकार करने होंगे। अदल बदल (barter) की पद्धति मे भी द्रव्य या
द्रा के कुछ दोष मिलते हैं. इनमें से कुछ दोषों को हम प्रयत्न करके समाज का
च्छी व्यवस्था करके दूर कर सकते हैं।

द्रव्य या मुद्रा के कार्य : (Functions of Money): अब हम
द्रव्य या मुद्रा के कार्यों पर विचार करेंगे। द्रव्य या मुद्रा के नीचे लिखे चार
र्य हैं :—

(१) ऊपर हम लिख चुके हैं कि द्रव्य एक प्रकार का विनिमय का
ाध्यम (medium of exchange) है। यही उसका पहला मुख्य कार्य है।
दि किसी के पास मेज़ है और उसे गेहूँ चाहिए तो वह मेज़ बेचकर जो रुपए
ेगा, उससे गेहूँ खरीद लेगा। इस प्रकार द्रव्य विनिमय के माध्यम का काम
रता है।

(२) द्रव्य का दूसरा मुख्य कार्य वस्तुओं की विनिमय शक्ति (value)
ो माप करने का है। इसका आधार इसी बात पर है कि वह विनिमय का आम
ाधन है. इसलिए तमाम चीज़ों का मूल्य इसी में प्रकट किया जाता है। जिस
्रकार कपड़े की लम्बाई गज के द्वारा नापी जाती है, इसी प्रकार वस्तुओं का
पयोगिता (utility) को नापने का हमारे पास द्रव्य ही एक मात्र साधन है।
िसी वस्तु की विनिमय शक्ति (value) की जब द्रव्य में नाप की जाती है, तो उसा
ो हम उस वस्तु का मूल्य या कीमत (price) कहते हैं। किसी भी वस्तु की
विनिमय शक्ति (value) को अन्य चीज़ों में प्रगट किया जा सकता है—जैसे,
ेज़ की अमुक मात्रा, शक्कर, घी, गुड़ आदि चीज़ों की अमुक मात्रा के बराबर है।
इस प्रकार चाहें तो इस प्रकार मेज़ की विनिमय शक्ति (value) को इन सब
चीज़ों में प्रकट कर सकते हैं। किन्तु द्रव्य (money) एक ऐसी वस्तु है जो कि
सब ... विनिमय शक्ति को नापने का आम साधन है। इसलिए हम
द्रव्य (money) के बारे में यह कहते हैं कि वह विनिमय शक्ति का एक आम
माप (common measurement of value) है। इस ...
... का विनिमय शक्ति को आपस में तुलना भी ... सकती है।
... एक रुपए के ... सेर गेहूँ ... हैं, और ... सेर ... हैं,

तो यह स्पष्ट हो गया, कि गेहूँ से शक्कर की विनिमय शक्ति (value) दुगनी है।

(३) द्रव्य का तीसरा कार्य यह है, कि उसके द्वारा विनिमय शक्ति का सचय किया जा सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि मेरे पास पचास रुपए के गेहूँ हैं। अब अगर में गेहू का सचय करता हू, तो जैसे जैसे समय व्यतीत होगा गेंहू खराव हो जावेगा। अतएव गेहू विनिमय शक्ति (value) को सचय करने का अच्छा साधन नहीं कहा जा सकता। यदि गेहूँ के स्थान पर पचास रुपए हम अपने पास रख लेते हैं, तो चाहे जितना समय व्यतीत हो जावे रुपए पचास रुपए ही वने रहेंगे। किन्तु उन रुपयों की क्रय शक्ति (purchasing power) अवश्य कम या अधिक हो सकती है। यदि आम तौर पर चीज़ों का मूल्य कम हो गया है तो उन रुपयों की विनिमय शक्ति वढ जावेगी, क्योंकि अव पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीद सकेंगे, और यदि वस्तुओं का मूल्य वढ गया है तो उन रुपयों की विनिमय शक्ति (value) घट जावेगी। अतएव द्रव्य या मुद्रा (money) विनिमय शक्ति को सचय करने का साधन उसी हद तक अच्छा होगा जिस हद तक उसकी विनिमय शक्ति स्थिर रहती है घटती वढती नहीं है। अस्तु, द्रव्य का यह कार्य उसकी विनिमय शक्ति या मूल्य पर निर्भर है।

(४) द्रव्य का चौथा कार्य भी है, जिससे लेन देन का कार्य सुगम हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति को एक हजार रुपए की आवश्यकता है, तो वह अपने मित्र से उधार ले सकता है और भविष्य मे उतना ही रुपया (अथवा निश्चित व्याज के साथ) लौटा कर वह अपने ऋण से मुक्त हो सकता है। अत. द्रव्य के कारण मनुष्य अपनी इस प्रकार की आवश्यकताओं को सरलता पूर्वक पूरी कर सकता है, जो कि उसके अभाव मे सम्भव नहीं हो सकती थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य भावी लेन देन का आधार है। इस कार्य को न्यायपूर्वक करने के लिए भी यह आवश्यक है कि द्रव्य या मुद्रा (money) की क्रय शक्ति में अधिक से अधिक स्थिरता हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो कर्जा लेने और देने वालो मे से किसी एक के साथ अन्याय और दूसरे को अनुचित लाभ होगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि मैं एक मित्र से पाच सौ रुपए कर्जा लेता हूँ जो दो वर्ष बाद वापस चुका देता हू। अव यदि इन दो वर्षों में चीज़ों के भाव मे कोई तेज़ी आजाने के कारण रुपए की क्रय शक्ति कम हो जाती है, तो मेरे मित्र को अनुचित हानि उठानी पड़ेगी और मुझे अनुचित लाभ होगा। इसका ... यह है कि उन पाचसौ रुपयों द्वारा अव दो साल बाद कम मात्रा में

वस्तुएँ मोल ली जा सकेंगी। इस कारण एक पक्ष को तो लाभ होगा, और दूसरे को हानि होगी। सारांश यह, कि इस दृष्टि से भी द्रव्य या मुद्रा (money) की क्रय शक्ति अधिक से अधिक स्थिर रहना अत्यन्त आवश्यक है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि द्रव्य के चार कार्य हैं। वह विनिमय का माध्यम है, वस्तुओं के मूल्य का मापक है, क्रय शक्ति सञ्चय करने का साधन है, तथा ऋणों को चुकाने का आधार है।

द्रव्य मुद्रा का आविष्कार . प्राचीन काल में मनुष्य अधिकतर खेती अथवा पशुपालन करता था। अतः पशु अथवा खेती की पैदावार ही द्रव्य के रूप में काम आती थी, और पशुओं के रूप में ही धन (wealth) का सञ्चय होता था। किन्तु पशुओं में द्रव्य के रूप में काम में आने के लिए आवश्यक गुणों का सर्वथा अभाव है। सब गाय या बैल या बकरी एक सी नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति अपने खेत को बीस गाय लेकर बेचता है और यदि गायें निकम्मी और बूढ़ी हुईं तो वह व्यक्ति घाटे में रह सकता है। इसके अतिरिक्त पशुओं में और भी दोष हैं। उनमें बीमारी फैल सकती है और बहुत से पशु मर सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य का सञ्चित किया हुआ धन नष्ट हो सकता है, और एक बहुत अधिक धनी व्यक्ति निर्धन बन सकता है। फिर पशुओं की रक्षा भी करना होगी। इसके अतिरिक्त जब पशुओं के बच्चा उत्पन्न करने का मौसम होगा तो पशु द्रव्य (money) की बहुतायत हो जावेगी और उनकी क्रय शक्ति कम हो जावेगी। जिस प्रकार से पशुओं के बहुत से दोष हैं, इसी प्रकार अनाज तथा अन्य वस्तुओं में भी दोष हैं। उदाहरण के लिए, गेहूँ भी बहुत प्रकार का हो सकता है, अधिक समय रखने से वह खराब हो जाता है, इसको रखने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होती है, इत्यादि। द्रव्य (money) के विकास के इतिहास में अत्यन्त प्राचीन काल में ही मनुष्य ने यह खोज निकाला था कि द्रव्य या मुद्रा पदार्थ (money material) के लिए बहुमूल्य धातुएँ ही द्रव्य या मुद्रा के लिए उपयुक्त पदार्थ हैं। वे बहुधा एक समान होती हैं, उनकी आसानी से जाँच की जा सकती है। वे शीघ्र नष्ट या खराब नहीं होतीं, वे बहुमूल्य होती हैं, अतः उनको रखने के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि प्रतिवर्ष जितनी धातु निकाली जाती है, वह उस धातु की तुलना में बहुत कम होती है जो कि पहले से ही मौजूद होती है, इस से सहसा वृद्धि नहीं होती। यही कारण है, कि मानव समाज ने शीघ्र ही धातुओं को ही द्रव्य या मुद्रा के रूप में व्यवहार करना प्रारम्भ किया।

धातुओं में भी सोना और चाँदी विशेष कर मुद्रा के रूप में काम में

आते हैं। यद्यपि तांबा, लोहा, और अन्य धातुओं का भी उपयोग द्रव्य के रूप में किया गया, किन्तु आगे चलकर सोना और चादी ही द्रव्य के रूप में अधिक प्रचलित हुए।

मुद्रा पदार्थ के आवश्यक गुण

विनिमय शक्ति (Value) : जिस पदार्थ का उपयोग मुद्रा (money) के लिए किया जावे उसमें एक पदार्थ की हैसियत से भी अगर विनिमय शक्ति है, और इस वास्ते आम लोगों में उसके लिए मॉग है, तो उसके लिए विनिमय के आम माध्यम का कार्य अपेक्षाकृत आसान होगा। क्योंकि कानून के अतिरिक्त जनता को उसमें उसकी स्वतन्त्र शक्ति के कारण भी विश्वास होगा। अतः विनिमय शक्ति का उस पदार्थ में पाया जाना एक आवश्यक गुण है। सोना और चॉदी में यह गुण मौजूद है। यह इसी से प्रकट है कि मुद्रा न होने पर भी धातु की दृष्टि से ही इनकी काफी मॉग है।

वहनीयता (Portability) : दूसरा गुण ऐसे पदार्थों का यह होना चाहिए कि वे एक जगह से दूसरी जगह आसानी से कम खर्च पर लाये-लेजाये जा सकें। इसके लिए आवश्यक है कि थोड़े में अधिक मूल्य रखने की शक्ति उसमें हो—जैसे सोने का एक छोटा सा टुकड़ा भी बहुत मूल्यवान होता है। इस वास्ते उसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में जो खर्च होगा वह उसके मूल्य के मुकाबिले में बहुत कम होगा।

अक्षयशीलता (Durability) : तीसरा गुण जो उस पदार्थ में होना आवश्यक है वह उसकी अक्षयशीलता है। क्योंकि अगर यह पदार्थ शीघ्र नष्ट होजाने वाले होंगे तो यह अधिक समय तक विनिमय के माध्यम का काम न कर सकेंगे। साथ ही यह पदार्थ ऐसे भी होने चाहिए जिनका सचय किया जा सके।

विभाजकता (Divisibility) : इन पदार्थों मे विभाजन का गुण भी होना चाहिए। विभाजन के गुण से हमारा यह अर्थ है, कि अगर उनको कई भागों में बॉटा जाय तो भी उनका मूल्य नष्ट नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए हीरा एक ऐसा पदार्थ है जिसके यदि टुकड़े हो जायँ तो उसका मूल्य नष्ट हो जायगा। सोना और चॉदी मे यह गुण मौजूद हैं।

उपर्युक्त गुण से ही सम्बन्ध रखने वाला दूसरा गुण यह है, कि यदि उन पदार्थों का विभाजन कर दिया जाय तो प्रत्येक भाग का उतना मूल्य बना रहेगा जितना भाग कि वह कुल का है। उदाहरण के लिए यदि एक तोले सोने के चार टुकड़े किए जावें, तो प्रत्येक टुकड़े का मूल्य एक तोला सोने के मूल्य

को जो काम में लाते हैं वे जानते हैं, कि उस कागज का जिस पर वह छापा जाता है कोई मूल्य नहीं है, परन्तु वह मुद्रा का कार्य भली प्रकार करता है।

युगों युगों से सर्वसाधारण की यह मान्यता रही है, कि द्रव्य या मुद्रा (money) समस्त धन (wealth) की कुंजी है। इस कारण वह बहुत मूल्यवान होनी चाहिए। यही कारण है कि आज भी सर्वसाधारण सोने को मुद्रा को अधिक मूल्यवान द्रव्य या मुद्रा समझते हैं। यदि लोगों से पूछा जाय कि कागजी मुद्रा (paper money) को वह क्यों स्वीकार कर लेता है, तो वह कहेगा कि रिजर्व बैंक मे जो सोना है वह कागजी मुद्रा का आधार है।

किन्तु वास्तव मे यह भ्रम है। सोने का उपयोग मुद्रा के रूप में इसलिए किया गया कि सोना अपेक्षाकृत बहुत कम है। अस्तु, मुद्रा या द्रव्य का मूल्यवान होना इस बात पर निर्भर नहीं है कि मुद्रा का पदार्थ मूल्यवान हो, परन्तु इस बात पर निर्भर है कि द्रव्य या मुद्रा उचित मात्रा मे हो, आवश्यकता से अधिक न हो। द्रव्य न तो बहुत कम हो, और न बहुत अधिक हो। यदि द्रव्य या मुद्रा (money) बहुत कम होगी तो कारबार में कठिनाई पड़ेगी, और यदि द्रव्य आवश्यकता से अधिक होगा तो भी कठिनाई होगी। उदाहरण के लिए लोहा द्रव्य के लिए इसी कारण उपयुक्त नहीं हो सका, क्योंकि वह बहुत साधारण धातु है और वह बहुत अधिक मिलती है, इस कारण उसका मूल्य कम है। अतएव द्रव्य पदार्थ बहुत राशि में न हो तभी वह मूल्यवान हो सकता है। साथ ही हीरा इत्यादि की भाँति वह बहुत कम भी न हो। जहाँ तक कागजी मुद्रा (paper money) का प्रश्न है उसकी राशि को सरकार सीमित कर सकती है और इस कारण वह मूल्यवान है।

आधुनिक विद्वान बैंक की जमा (deposit) को भी द्रव्य मानते हैं। क्योंकि चैकों (धनादेश) का व्यवहार आज बहुत बढ गया है। ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य अमेरिका जैसे औद्योगिक राष्ट्रों में तो चैकों का कागजी मुद्रा से पन्द्रह गुना अधिक व्यवहार होता है।

———

परिणाम यह होता था कि वे सिक्के गोल हो जाते थे। अत टकसालों ने
सिक्के बनाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे कि लोगों को धातु निकालने की
सुविधा न रहे। फिर भी चालाक लोग सिक्के के किनारे को घिसकर
निकालने का प्रयत्न करने लगे। अतएव टकसाल को किनारे पर कुछ
बनाने पड़े अथवा कटाव करना पड़ा जिससे कि किसी को सिक्के में से
निकालने की सुविधा न रहे। इस प्रकार क्रमशः पूर्ण विकसित सिक्का बन गया।
आज सिक्कों पर इतनी कारीगरी होती है कि उसकी नकल करना आसान
है। सिक्के बनाने का कार्य मशीनों द्वारा होता है और बहुत बढ़िया डिज़ाइन
सिक्के बनने लगे हैं।

आरम्भ से ही सिक्के ढालने का कार्य राज्य का रहा है। जो भी
सिहासन पर बैठता था वही अपने नाम के सिक्के ढलवाता था। अब हम
सिक्कों के बारे में अधिक विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

सिक्के दो प्रकार के होते हैं—प्रामाणिक सिक्का (standard co
और सांकेतिक सिक्का (token coin) पहले प्रामाणिक सिक्के के
विचार कर लेना उचित होगा।

प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) प्रमाणिक सिक्का उसे क
जिसका मुद्रा की हैसियत से और धातु की हैसियत से बराबर मूल्य हो
शब्दों में उसका नियत मूल्य (face value) और वास्तविक मूल्य (int
value) बराबर हों। इस सिक्के की दूसरी विशेषता यह है कि वह अ
कानूनन ग्राह्य सिक्का (unlimited legal tender) होता है, अर्थात
कोई सीमा नहीं होती जिसके बाद उसे स्वीकार करने से कोई व्यक्ति इनक
कर सके।

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि प्रामाणिक सिक्का ही एक
अपरिमित कानूनन ग्राह्य सिक्का (unlimited legal tender) नहीं हो
कानून के द्वारा अन्य सिक्कों तथा कागजी मुद्रा को भी यह अधिकार दिया
सकता है। अपरिमित कानूनन ग्राह्य मुद्रा से हमारा तात्पर्य उन सब प्रकार
मुद्राओं से होता है जिनको अपरिमित मात्रा में स्वीकार करना अनिवार्य
प्रामाणिक सिक्कों की तीसरी विशेषता यह होती है कि आम तौर से धातु
प्रामाणिक सिक्कों के रूप में ढलवाने का प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र अधिकार
है। जो भी व्यक्ति चाहे मिंट (टकसाल) में धातु लेजाकर उसको प्रामा
सिक्के के रूप में ढलवा सकता है। १६३६ के पूर्व जबकि ब्रिटेन में स्व
(gold standard) प्रचलित था, सोने का सौवरेन वहाँ का प्रामाणिक

सिक्का ढालना (Coinage) धातु के किसी टुकडे पर उसे सिक्के का रूप देने के लिए उसकी विनिमय शक्ति आदि बातों को अंकित करने के कार्य को ही सिक्का ढालना कहते हैं।

आज सिक्का ढालने का कार्य बहुत उन्नति कर गया है। जो सिक्के हम काम में लाते हैं, उनमें एक नाम के सब सिक्के एक ही तरह के और एक ही तोल के होते हैं उनमें कोई अन्तर नहीं होता। यही नहीं उन सब सिक्कों की धातु भी एक सी ही शुद्ध होती है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि तोल, धातु की शुद्धता, और शकल में सब रुपए एकसे होते हैं। इससे यह सुविधा होती है कि इन सिक्कों को गिनकर ही लिया और दिया जा सकता है। किन्तु आरम्भ में जब सिक्कों का उपयोग शुरू हुआ उस समय सिक्के बनाने का कार्य आज जितना उन्नत नहीं था। यह उन्नति धीरे-धीरे हुई। जैसे आरम्भ में सोने चाँदी के केवल टुकड़े या सलाखें ही काम मे लाई जाती थीं। इस हालत में हर समय उन्हे तोलना आवश्यक था, क्योंकि सबका वजन एक सा नहीं होता था। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि धातु में किसी प्रकार की अशुद्धता तो नहीं है। इन कठिनाइयों का अन्त करने की दृष्टि से ही टुकड़ों और सलाखों पर एक और ठप्पा लगाने की प्रथा शुरू की गई। इस प्रकार के ठप्पे को देखकर लेने वाले को धातु की अच्छाई के बारे में विश्वास हो सकता था। फिर भी तोलना तो पड़ता ही था। इस कठिनाई का अन्त करने के लिए धातु के एक निश्चित वजन के टुकड़े बनाये जाने लगे। इसके दोनों ओर ठप्पा लगाया जाने लगा। लेकिन अब भी सब सिक्के एक ही शकल के नहीं बन पाते थे। और लोग उनके किनारे भी काट लेते थे। इसलिए कभी-कभी तोलना इस हालत में भी आवश्यक होता था, जिससे कि यह पता चल जाय कि इन सिक्कों के किनारे तो नहीं काट लिए गए हैं। धीरे-धीरे सिक्के बनाने का कार्य आज की अवस्था को पहुँच सका है। जैसा कि हम देखते हैं अब एक नाम के समस्त सिक्के बिलकुल एक ही तोल और शकल के तैयार किए जाते हैं और उनके किनारे किटकिटीदार (milled edges) होते हैं। अत किनारे काट लेने का अब कोई भय नहीं रहता। फिर भी जाली सिक्के बनते हैं इसमें, सन्देह नहीं।

आजकल कागजी मुद्रा का चलन बहुत बढ गया है और प्रामाणिक सिक्कों का चलन समाप्त होगया है। सांकेतिक सिक्कों (token coins) का चलन ही आजकल अधिकतर पाया जाता है।

सिक्का ढालने का कार्य राज्य का है और इसलिए प्रत्येक देश की राजकीय टकसाल (mint) ही सिक्का ढालती है। भारतवर्ष में बम्बई और कलकत्ते में

जगह मिन्ट है, जिनमें भारत सरकार को ही सिक्का ढालने का अधिकार है। ा ढालने से जो लाभ होता है, वह राज्य को मिलता है।

मुद्रा ढलाई : प्रायः सभी सभ्य देशों में सिक्का ढालने का एकाधिकार कतर वहाँ की सरकार को होता है। सरकार यह अधिकार किसी बैंक को दे देती है। किन्तु सिक्कों की ढलाई का काम सब देशों में एक तरह से नहीं । है। भिन्न-भिन्न देशों में ढलाई सम्बन्धी नियम भिन्न होते हैं। अतएव उनका सक्षेप में उल्लेख कर देना उचित समझते हैं।

मुक्त मुद्रा ढलाई (Free Coinage) : जब टकसाल जनता के लिए । रहती है, तो उसे मुक्त मुद्रा ढलाई कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ता को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है, कि वह एक निश्चित दर पर सोना चाँदी ले जाकर टकसाल से उसके सिक्के ढलवा ले। भारत मे सन् १८९३ तक मी व्यक्ति अपनी चादी ले जाकर राजकीय टकसाल से सिक्के ढलवा सकता । इङ्गलैण्ड में प्रथम योरोपीय युद्ध तक जनता को यह अधिकार प्राप्त था, वह सोने को ले जाकर टकसाल से सोने के पौंड ढलवा ले। सयुक्त राज्य रिका में जनता को यह छूट है कि वह सोना लेजाकर या तो सोने के सिक्के वा ले अथवा कागजी मुद्रा (paper monev) ले ले।

सरकार जनता से सिक्का ढालने का खर्च लेती है या नहीं, यह एक क प्रश्न है। उसका मुक्त मुद्रा ढलाई (free coinage) से कोई भी सम्बन्ध । है।

मुफ्त सिक्का ढालना (Gratuitous Coinage) : जब सरकार का ढालने के लिए जनता से कोई फीस या व्यय न ले तो हम उसे मुफ्त सिक्का लना कहेंगे। १९३१ तक इङ्गलैण्ड मे पौंड ढालने के लिए ऐसी ही प्रथा थी।

टकन या ढलाई शुल्क (Brassage) : कभी कभी सरकार मुद्रा ाई या टकन शुल्क लेती है। यह शुल्क उतना ही होता है जितना कि ढालने सरकार को खर्च पड़ता है। यह शुल्क सिक्का ढालने में जितना व्यय होता उससे अधिक नहीं होता। इस शुल्क को मुद्रा ढलाई शुल्क या टकन शुल्क brassage) कहते हैं।

मुद्रा ढलाई लाभ (Seigniorage) यदि सरकार सिक्का ढालने लागत व्यय से अधिक वसूल करती है, तो यह अधिक रकम मुद्रा ढलाई लाभ seigniorage) कही जाती है। मुद्रा लाभ दो प्रकार से प्राप्त किया जाता । जितना शुल्क सरकार वसूल करना चाहती है उतनी कीमत की असली द्ध सिक्के में से निकाल कर उतनी कम कीमती धातु उसमें मिलादे। दूसरा

तरीका यह है कि सिक्का ढलवाने वाले से ही उतना शुल्क वसूल कर लिया जावे। इस प्रकार मुद्रा ढलाई लाभ (Seigniorage) सांकेतिक सिक्का (token coin) को ढालने में सबसे अधिक होता है। उदाहरण के लिए भारत सरकार को रुपया ढालने में यथेष्ट मुद्रा ढलाई लाभ प्राप्त होता है। १९४३ के पूर्व रुपए में १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु थी, उसमें चाँदी का मूल्य केवल ९ आने २½ पाई था किन्तु रुपये का वाह्य मूल्य १६ आने होने से उस पर सरकार को ६ आने ९½ पाई मुद्रा ढलाई लाभ प्राप्त होता था।

प्रतिबंधित सिक्का ढलाई (Restricted Coinage) : प्रतिबन्धित सिक्का ढलाई में सिक्का ढालने का एकाधिकार सरकार तक ही सीमित रहता है, और कोई दूसरा व्यक्ति टकसाल में धातु देकर उसको सिक्कों में परिवर्तित नहीं करा सकता। दूसरे शब्दों में टकसाल जनता के लिए खुली नहीं रहती।

कानूनन ग्राह्य (Legal Tender) : जिन सिक्कों को सरकार सर्वसाधारण को कानून के द्वारा स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है, उन्हें कानूनन ग्राह्य कहते हैं। यदि सरकार कानून द्वारा किसी सिक्के को अपरिमित कानूनन ग्राह्य सिक्का (unlimited legal tender) बना देती है तो उस सिक्के को अपरिमित मात्रा में स्वीकार करना होगा। साधारणतया प्रामाणिक सिक्कों (standard coins) को लोग स्वतः ही स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि उसका वाह्य मूल्य (face value) तथा आन्तरिक मूल्य अथवा धातु मूल्य (intrinsic value) बराबर होता है। किन्तु सांकेतिक सिक्कों (token coins) को उस समय तक जनता स्वीकार नहीं करती जब तक कि उनको कानूनन ग्राह्य न बना दिया जावे। अधिकतर सांकेतिक सिक्के परिमित कानूनन ग्राह्य (limited legal tender) होते हैं। उदाहरण के लिए इङ्गलैण्ड में शिलिंग दो पौंड तक कानूनन ग्राह्य सिक्का है। भारत में चवन्नी, दुअन्नी तथा इकन्नी दस रुपए तक कानूनन ग्राह्य सिक्का है। परन्तु रुपया तथा अठन्नी भारत में अपरिमित कानूनन ग्राह्य सिक्का (unlimited legal tender) है। इसी प्रकार, रिजर्व बैंक के कागजी नोट भी भारत में अपरिमित कानूनन ग्राह्य मुद्रा है।

मुक्त ढलाई का दोष : हम ऊपर लिख चुके हैं कि यदि सरकार चाहे तो सिक्का ढालने का कोई व्यय न ले। अर्थात् सिक्के का वाह्य मूल्य (face value) तथा आन्तरिक मूल्य या धातु मूल्य (intrinsic or bullion value) बराबर हो। इसका एक बड़ा दोष यह होता है, कि आवश्यकता पड़ने पर सिक्कों को जनता गलाकर धातु में परिवर्तित कर सकती है, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें तनिक भी हानि नहीं होती। यदि कभी सिक्के में लगी हुई

धातु का बाजार मूल्य सिक्के के बाह्य मूल्य से अधिक हो जावे तब तो सर्वसाधारण को सिक्का गलाने का और भी अधिक लालच होता है। उदाहरण के लिए प्रथम महायुद्ध के समय में भारत में रुपए बहुत अधिक सख्या में गलाये गए क्योंकि उनमें चॉदी का मूल्य बहुत अधिक बढ जाने से उनमें सोलह आने से अधिक की चॉदी थी। इसके विपरीत यदि प्रामाणिक सिक्के (standard coin) को ढालने में मुद्रा ढलाई लाभ (seigniorage) लिया जावे तो उस सिक्के पर सर्वसाधारण का भरोसा और श्रद्धा नहीं रहती क्योंकि उस सिक्के का वाह्यमूल्य उसके धातु मूल्य से अधिक होगा। हॉ, ऐसी दशा में कोई उसे गलावेगा नहीं।

प्राकृतिक और सांकेतिक सिक्के (Natural and Token Coins): कुछ सिक्के प्राकृतिक अर्थात् पूरे वजन के सिक्के होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उनका वाह्य मूल्य (face value) और उनमें लगी हुई धातु का मूल्य अर्थात् आन्तरिक मूल्य (intrinsic value) वरावर होता है। जिन सिक्कों का वाह्य मूल्य कानून द्वारा उनके आन्तरिक मूल्य से अधिक निर्धारित कर दिया गया है, उन्हें साकेतिक सिक्का कहते हैं। अधिकतर सांकेतिक सिक्के कम मूल्य के होते हैं, जिनका उपयोग छोटी छोटी रकम की अदायगी के लिए होता है। अधिकतर साकेतिक सिक्के, चॉदी, तॉवे निकल या अन्य कम कीमती धातुओं के वनाये जाते हैं। यह साकेतिक सिक्के उस देश में जिसने उन्हें निकाला है, अवाधित रूप से अपने बाह्य मूल्य पर चलते हैं। किन्तु विदेश में उनका चलन नहीं होता। अस्तु, वे देश के अन्दर ही भुगतान के लिए उपयोगी हो सकते हैं।

प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) : प्राकृतिक सिक्के ही प्रामाणिक सिक्के का काम करते हैं। जिस देश में भी प्रामाणिक सिक्के प्रचलित होते हैं (इस समय में किसी भी देश में प्रामाणिक सिक्के प्रचलित नहीं हैं) वे देश के अन्तर्गत तथा विदेशों में ऋण की अदायगी के अन्तिम और मुख्य साधन होते हैं। साकेतिक सिक्कों का मूल्य प्रामाणिक सिक्के से सम्वन्धित होता है। यों प्रामाणिक सिक्के में नीचे लिखी तीन विशेषतायें होनी चाहिए (१) उसका बाह्य मूल्य (face value) तथा आन्तरिक मूल्य या धातु मूल्य (intrinsic value) वरावर होना चाहिए (२) उसकी स्वतन्त्र ढलाई (free coinage) होनी चाहिए अर्थात् टकसाल जनता के लिए खुली होनी चाहिए (३) वह अपरिमित कानूनन ग्राह्य (unlimited legal tender) होना चाहिए।

परन्तु भारतीय रुपए में अपरिमित कानूनन ग्राह्य होने के अतिरिक्त पहली

और तीसरी विशेषता नहीं है फिर भी वह प्रामाणिक सिक्के का कार्य करता है। वास्तव में भारतीय रुपया सांकेतिक सिक्का है, जो कि प्रामाणिक सिक्के का काम करता है। रुपए से ही अन्य छोटे साकेतिक सिक्कों का मूल्य सबन्धित है। यही कारण है कि रुपए को **प्रामाणिक साकेतिक सिक्का** कहते हैं। यह केवल भारत में चलता है। विदेशों में इसका चलन नहीं हो सकता।

कानूनन ग्राह्य (Legal Tender)—परिमित (Limited) और अपरिमित (Unlimited) प्राकृतिक सिक्के सरलता से चलते रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति उनको स्वीकार कर लेता है, क्योंकि उनका धातु मूल्य तथा वाह्य मूल्य बराबर होता है। किन्तु साकेतिक सिक्कों को साधारणत. कोई भी स्वीकार न करेगा, यदि कानून द्वारा उस सिक्के को स्वीकार करना अनिवार्य न बना दिया जावे। अत' सरकार कानून बनाकर सिक्कों को कानूनन ग्राह्य (legal tender) घोषित कर देती है। उस दशा मे प्रत्येक व्यक्ति को उन सिक्कों को अपने ऋण के भुगतान में स्वीकार करने पर विवश होना पड़ता है। साकेतिक सिक्के (token coins) जो कि कम मूल्य के होते हैं वे कुछ सीमा तक ही कानूनन ग्राह्य बनाये जाते हैं। उन्हें हम परिमित कानूनन ग्राह्य सिक्का कहते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में शिलिंग ४० शिलिंग तक कानूनन ग्राह्य तथा भारत मे इकन्नी, दुअन्नी तथा चवन्नी केवल १० रुपए तक कानूनन ग्राह्य सिक्के हैं। इसके विपरीत प्रामाणिक सिक्का फिर चाहे भारतीय रुपए की तरह उसका धातु मूल्य तथा वाह्य मूल्य बराबर न भी हो—अपरिमित कानूनन ग्राह्य (unlimited legal tender) होता है। उसे किसी भी सख्या में दिया जा सकता है। लेनदार को उसे स्वीकार करना ही होगा। भारत मे रुपया तथा रिजर्व बैंक द्वारा निकाले कागजी नोट अपरिमित कानूनन ग्राह्य मुद्रा हैं।

———

परिच्छेद ३०

कागजी मुद्रा (Paper Money)

सिक्के के वाद कागजी मुद्रा का विकास ही मुद्रा के इतिहास मे सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। एक प्रकार से मुद्रा के आविष्कार के वाद कागजी मुद्रा का विकास ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि कागजी मुद्रा के ठीक चलन से जहाँ वहुत वड़ा लाभ है वहाँ उससे भयकर हानि भी हो सकती है। किन्तु यह समझ लेना भूल होगी कि कागजी मुद्रा का एक साथ एक वार में ही उदय हो गया। सिक्के की तरह ही इसका भी क्रमश. उदय हुआ है।

आरम्भ में व्यापारी रास्ते मे लूट लिए जाने के भय से धातु मुद्रा को साथ लेकर नहीं जाते थे, वरन् अपने नगर के किसी प्रसिद्ध वड़े व्यापारी(आधुनिक वैंक के पूर्वज) के पास धातु मुद्रा जमा करके उनसे जमा का प्रमाण-पत्र ले लेते थे। यही प्रमाण-पत्र आधुनिक चैक का पूर्वज है। जब वे अन्य किसी नगर में माल खरीदते थे तो जमा के प्रमाणपत्र दे देते थे।

धीरे धीरे यह पुर्जे (प्रमाणपत्र) ही द्रव्य या मुद्रा की भाँति काम में आने लगे। कारण यह था कि पहले जिस व्यापारी के यहाँ द्रव्य या मुद्रा को जमा किया जाता था वह इस आशय का प्रमाण-पत्र देता था कि अमुक रकम उसके पास जमा है और जमा करने वाले के ड्राफ्ट वह उस सीमा तक चुकाता रहेगा। अव जव यह प्रमाण-पत्र द्रव्य या मुद्रा के रूप में चलने लगे तो व्यापारी इस आशय का प्रमाण-पत्र देने लगा कि उसके पास अमुक रकम जमा है और जो भी उस प्रमाण-पत्र को व्यापारी के सामने उपस्थित करेगा उसी को वह रकम दे दी जावेगी। यह एक प्रकार से वैंक नोट था। किन्तु समाज में वह वैंक नोट के रूप में स्वीकार नहीं होता था।

क्रमशः यह वैंक नोट अधिक प्रचलित होते गए, आरम्भ में उनको मुद्रा (money) के स्थान पर उपयोग किया जाता था, किन्तु अव उन्हें लोग द्रव्य या मुद्रा के रूप में स्वीकार करने लगे। अव वैंक नोट केवल एक सौदे में ही काम नहीं आता था और तुरन्त भुलाया नहीं जाता था, वरन् वह असख्य सौदों को तय करने लगा। इसका उन वैंकरों पर वहुत प्रभाव पड़ा। तो यह बैंकनोट तुरन्त ही धातु मुद्रा में भुगतान के लिए उपस्थित कर दिए

थे किन्तु अब तो यह बैंकनोट एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के हाथ में जाने लगे और भुगतान के लिए बैंकर के पास नहीं आते थे। क्रमशः बैंकरों ने देखा कि जनता का उनकी साख (credit) में भरोसा जम गया है तब वे बिना किसी के धातु मुद्रा के जमा किए ही अपनी ओर से नये बैंक नोट निकाल देते थे। जनता उन लोगों के नोटों को ले लेती थी क्योंकि जनता का उन बैंकरों या बैंकों मे भरोसा था। आगे के अध्याय में हम बतलावेंगे कि आधुनिक बैंक जमा किए रुपए से दस गुने तक ऋण दे देते हैं और वह दिया हुआ ऋण ही उनकी डिपाजिट या जमा बन जाता है।

क्रमश जब बैंक नोटों का बहुत प्रचार होगया तो बैंकों और उनके स्वामियों ने इस सुविधा का मनमाने ढग से उपयोग करना आरम्भ कर दिया। कुछ बैंक अनाप शनाप नोट निकाल देते थे। इस कारण बहुत से बैंक दिवालिये होगए और लोगों को बहुत हानि हुई। अस्तु, सरकार को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि बैंक नोट पर कुछ नियन्त्रण या प्रतिबंध लगाना चाहिए जिससे कि यह सकट उपस्थित न हो। क्रमशः कागजी मुद्रा को निकालने का एकाधिकार प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक (central bank) को दे दिया गया और सरकार ने केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाली हुई कागजी मुद्रा (paper money) को कानूनन ग्राह्य (legal tender) बना दिया।

पिछले अनुभव के कारण सर्वसाधारण का यह विचार बन गया था कि बैंक नोट जब तक सोने के सिक्कों में मॉगने पर न बदले जावें तब तक उनको सुरक्षित मुद्रा नहीं समझा जा सकता। अतएव सभी देशों में यह कानून बना दिया गया कि कागजी मुद्रा को सोने के सिक्कों में जब चाहे बदला जा सकता है। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति बदलती गई—आज प्रायः सभी देशों में कागज़ी मुद्रा न बदली जा सकने वाली है, और उसका आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं है—और शुद्ध कागजी मुद्रा का आविर्भाव हो गया।

कागजी मुद्रा का उपयोग : आज प्रत्येक सभ्य देश में कागज़ी मुद्रा का चलन है। सच तो यह है कि कागजी मुद्रा ने प्रामाणिक सिक्कों का स्थान ले लिया है। भारत में भी कागजी मुद्रा का चलन बहुत बढ गया है। पहले कागजी मुद्रा स्वय सरकार निकालती थी, अब रिजर्व बैंक इस काम को करता है। सभी देशों में कागजी मुद्रा को निकालने का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को दे दिया गया है।

धातु मुद्रा की अपेक्षा कागजी मुद्रा मे अनेक लाभ है। कागजी मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में बहुत सुविधा है। हजारों रुपयों के नोटों को कोई भी व्यक्ति अपनी जेब या पर्स में रखकर सुरक्षित ढंग से कहीं भी

ले जा सकता है। उतने धातु के सिक्के कहीं ले जाना कठिन और जोखिम का काम होगा। कागजी मुद्रा बहुत कम व्यय मे डाक द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि अन्य स्थानों पर भेजने के लिए कागजी मुद्रा अधिक सुरक्षित, सुविधाजनक और कमखर्चीली है। इसके अतिरिक्त कागजी मुद्रा को निकालने मे कोई विशेष व्यय नहीं होता। इस कारण वह आवश्यकतानुसार बढाई जा सकती है। जब सरकार की साख गिरी हुई हो और उसको अधिक रुपए की आवश्यकता हो, तो कागजी मुद्रा निकाल कर आवश्यक कोष कम व्यय पर उपलब्ध किया जा सकता है, क्योंकि ऋण लेने में सरकार को सूद इत्यादि अधिक देना पड़ता है। कागजी मुद्रा का एक बड़ा लाभ यह है, कि जितना ही उसका चलन होगा उतनी ही सोना, चाँदी आदि कीमती धातुओं की बचत होगी और वह अन्य कार्यों (जेवर इत्यादि) में काम आ सकेंगी। धातु मुद्रा के चलन मे जो सिक्के ढालने और सिक्कों की घिसावट का खर्च होता है, वह कागजी मुद्रा के चलन से कम होजाता है।

कागजी मुद्रा के दोष . जहाँ कागजी मुद्रा के बहुत मे लाभ हैं वहाँ कागजी मुद्रा के भयकर दोप भी हैं। सबसे बड़ा खतरा यह है कि उसकी मात्रा में आवश्यकता से अधिक वृद्धि करने मे कोई अड़चन न होने के कारण (क्योंकि उसको जितना चाहे छाप दिया जा सकता है) उसकी वृद्धि आसानी से की जा सकती है। उस दशा मे उसका मूल्य अपने आप बहुत कम हो जावेगा। कागजी मुद्रा का मूल्य या तो सरकार की इच्छा पर अथवा केन्द्रीय बैंक की आर्थिक स्थिति पर निर्भर रहता है। यदि राज्य कागजी मुद्रा को समाप्त करदे या टकसाल बाहर (demonetize) करदे जैसा कि भारत सरकार ने एक हजार के नोटों के बारे मे किया था, अथवा केन्द्रीय बैंक दिवालिया हो जावे तो कागजी मुद्रा का कोई भी मूल्य नहीं रहेगा। क्योंकि कागजी मुद्रा का मूल्य तो केवल कानूनी स्वीकृति के कारण ही है। जब कागजी मुद्रा की कानूनी स्वीकृति समाप्त होगई तो वह केवल कागज का टुकड़ा मात्र रह जाता है। कागजी मुद्रा केवल चलाने वाले के विश्वास या साख पर चलती है। कागजी मुद्रा का दूसरा दोप यह है, कि उसका चलन अधिक सीमित होता है। कागजी मुद्रा किसी देश के कानून के प्रभाव मे ही प्रचलित होती है। इस कारण वह देश के बाहर नहीं चल सकती, वह देश के अन्दर ही चल सकती है। विदेशों मे इसका कोई मूल्य नहीं होता। धातु का प्रमाणिक सिक्का (standard coin) अपने आन्तरिक मूल्य के कारण अन्य देशों मे भी स्वीकार कर लिया जाता है (यद्यपि आजकल कहीं भी प्रामाणिक सिक्के प्रचलित नहीं हैं)। इसके चलन का

क्षेत्र अपेक्षाकृत कम होता है। कागजी मुद्रा का तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य धातु मुद्रा की तुलना में अधिक अस्थिर होता है, क्योंकि कितनी कागजी मुद्रा निकाली जावेगी यह सरकार की मर्जी पर निर्भर रहता है।

सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक (central bank) जितनी कागजी मुद्रा निकालती है और उसके लिए जितना धातु कोष (metallic reserve) रखती है, उसका जो अन्तर होता है वह सरकार या केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों (securities) मे लगा देती है जिससे कि सरकार को उस पर सूद मिलता रहे। किन्तु धातु कोष से जितनी अधिक कागजी मुद्रा चलन मे आती है अर्थात् उसका उपयोग होता है वह एक तरह से सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्मित ऐसी क्रयशक्ति (purchasing power) है जो विना किसी व्यय के उत्पन्न की जाती है। यदि "कुछ नहीं" से क्रय शक्ति निर्माण करने की यह क्रिया बिना किसी रुकावट के चलती रहती है, तो इसका परिणाम मुद्रा स्फीति (inflation) होता है और उसके दुष्परिणाम प्रगट होने लगते हैं। क्रमशः कीमतें ऊँची होने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप क्रयशक्ति गिरने लगती है। निर्धनों तथा अज्ञानियों पर इसका भयकर बोझ पड़ता है और उनको वहुत हानि होती है तथा करों का वोझ वढ जाता है। इसके कारण सट्टे की प्रवृत्ति वहुत अधिक वढ जाती है। व्यापारी समुदाय का इसके कारण नैतिक पतन होता है। सुरक्षा, स्थायित्व साहूकारी, तथा अच्छे व्यापार का स्थान जुए की प्रवृत्ति ले लेती है, और शीघ्र धनी होने का लालच वहुतों को डुवो देता है। कागजी मुद्रा के वहुत अधिक राशि में चलन में आने का परिणाम यह होता है, कि सोने पर प्रव्याज (premium) प्रकट होजाता है अर्थात् सोने के मूल्य में वृद्धि होजाती है। धातु मुद्रा लुप्त हो जाती है अर्थात् चलन के वाहर हो जाती है और विदेशी विनिमय दर (rate of foreign exchange) में भारी गिरावट आजाती है। ऐसी स्थिति में वहुधा वाजार में प्रत्येक वस्तु की दो कीमतें प्रचलित होजाती हैं, एक धातु मुद्रा में और दूसरी कागजी मुद्रा में। कागजी मुद्रा पर धातु मुद्रा की तुलना में वट्टा (discount) प्रकट होजाता है। धातु मुद्रा में तथा कागजी मुद्रा में जो कीमतों का अन्तर होता है वही कागजी मुद्रा का अवमूल्यन (depreciation) है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्री यहाँ तक कहते हैं, कि कागजी मुद्रा राष्ट्रों के लिए प्लेग से भी भयकर व्याधि है और समाज के लिए वह अत्यन्त खतरनाक है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की वात है कि यदि कागजी मुद्रा पर उचित

नियन्त्रण रक्खा जावे, व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही उसको निकाला जावे, आवश्यकता से अधिक न निकाली जावे, तो उसका मूल्य धातु मुद्रा से भी अधिक स्थिर रह सकता है, और वह विनिमय का अच्छा साधन बन सकती है। परन्तु यदि सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक अदूरदर्शितापूर्वक आवश्यकता से अधिक कागजी मुद्रा निकाल दें तो अवश्य उसके भयकर परिणाम हो सकते हैं, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि ऊपर लिखे दुष्परिणाम कागजी मुद्रा के चलन में अनिवार्य हैं।

कागजी मुद्रा के प्रकार · कागजी मुद्रा तीन प्रकार की होती है :—

(१) प्रतिनिधि कागजी मुद्रा (Representative Paper Money). प्रतिनिधि कागजी मुद्रा का मूल्य इस कारण होता है क्योंकि वह प्रामाणिक सिक्कों (standard coins) में परिणत की जा सकती है। यह कागजी मुद्रा उस धातु मुद्रा का प्रतिनिधित्व करती है जो राज्य के खजाने अथवा केन्द्रीय बैंकों के पास रक्खी रहती है। इस प्रकार की कागजी मुद्रा की विशेषता यह है कि सरकारी खजाने अथवा केन्द्रीय बैंक के पास जितने मूल्य की धातु मुद्रा होती है उतने मूल्य की ही कागजी मुद्रा निकाली जाती है। कागजी मुद्रा प्रत्येक समय धातु मुद्रा में परिणत की जा सकती है। सयुक्तराज्य अमेरिका के सोने और चाँदी के सार्टिफिकेट जिनकी गारन्टी सयुक्तराज्य अमेरिका के खजाने में रक्खी हुई सोने और चाँदी से होती थी और भारत में स्वर्णपाट सार्टिफिकेट (gold bullion certificates) जिनको चलाने की १६२७ में हिल्टन यग कमीशन ने सिफारिश की थी, इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

विश्वासाश्रित कागजी मुद्रा (Fiduciary Paper Money). यह उस प्रकार की कागजी मुद्रा होती है जिसके बदले माँगने पर धातु मिल सकती है। क्योंकि सारी की सारी कागजी मुद्रा तो एक साथ धातु में बदली जाने के लिए उपस्थित नहीं की जाती, अतएव कागजी मुद्रा जितने मूल्य की निकाली जाती है उससे बहुत कम मूल्य की धातु रक्षित कोष (reserve) में रक्खी जाती है। शेष कागजी मुद्रा के पीछे प्रतिभूतियाँ (सिक्यूरिटी) होती हैं। उस अश को विश्वासाश्रित (fiduciary) या विनियोजित (invested) भाग कहते हैं। जिस प्रकार प्रतिनिधि कागजी मुद्रा (representative paper money) प्रामाणिक सिक्के की स्थानापन्न होती है, उस प्रकार विश्वासाश्रित कागजी मुद्रा निकालने का मुख्य उद्देश्य प्रामाणिक सिक्के की स्थानापन्न मुद्रा देना नहीं है। उसको निकालने का उद्देश्य धातु मुद्रा की पूरक

मुद्रा देना तथा कुल करसी (चलार्थ) की मात्रा में वृद्धि करना होता है। जहाँ तक कि विश्वासाश्रित कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु रक्षित कोष (Metallic reserve) नही है, यह सरकार को बिना सूद के ऋण दिए जाने के बराबर है।

प्रादिष्ट कागजी मुद्रा (Fiat Paper Money) : प्रादिष्ट कागजी मुद्रा न तो किसी का प्रतिनिधित्व करती है और न उसको रखने वाला धातु मुद्रा को पाने का दावा ही कर सकता है। जब सरकार को आर्थिक कठिनाई प्रतीत होती है, तो यह कागजी मुद्रा निकाली जाती है। गृह-युद्ध के समय सयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार ने इस प्रकार की कागजी मुद्रा (ग्रीन बैंक) निकलवाई थी। इसी प्रकार की कागजी मुद्रा (एसिगनैट) १७८९ में फ्रान्स की क्रान्तिकारी सरकार ने और नैपोलियन युद्ध के समय बैंक आव इङ्गलैंड ने निकाली थी। प्रथम महायुद्ध के समय (१९१४ १९) सभी योरोपीय देशों की सरकारों ने अपनी कागजी मुद्रा को अपरिवर्त्य (Inconvertible) बना दिया था। प्रादिष्ट कागजी मुद्रा के मूल्य को ऊँचा रखने के लिए उसको कानूनन ग्राह्य (legal tender) बना दिया गया। एक प्रकार से इस प्रकार की कागजी मुद्रा को निकालने का अर्थ यह हुआ कि जनता से बिना पूछे ही उस पर कर लगा दिया जाता है, अस्तु यह कागजी मुद्रा सर्वसाधारण को रुचिकर नहीं होती, और बहुधा बट्टे (discount) पर चलती है।

इस सम्बन्ध मे यह न भूल जाना चाहिए कि आज अधिकतर देशों में अपरिवर्त्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper money) ही चलन में है। यदि इस प्रकार की मुद्रा को व्यापार तथा वाणिज्य की आवश्यकताओं से अधिक निकाला जावे, और सरकार अदूरदर्शिता के कारण उस पर कोई नियन्त्रण या प्रतिबन्ध न रक्खे तभी इस प्रकार की कागजी मुद्रा के भयकर परिणाम प्रकट होते हैं। परन्तु यदि सरकार दूरदर्शितापूर्वक इस कागजी मुद्रा के चलन पर नियन्त्रण और प्रतिबंध रक्खे, और केवल उतनी ही मुद्रा निकाली जावे जितनी वाणिज्य के लिए आवश्यक है, सरकार कागजी मुद्रा को अपनी आय का साधन न बनाले, तो प्रादिष्ट कागजी मुद्रा (fiat paper money) अथवा अपरिवर्त्य कागजी मुद्रा विनिमय का एक अच्छा माध्यम प्रमाणित हो सकती है।

कागजी मुद्रा की लचक (Elasticity of Paper Money) : आवश्यकता से अधिक कागजी मुद्रा से होने वाले दुष्परिणामों से बचने के लिए और कभी कभी आवश्यकता से कम कागजी मुद्रा के परिणामों से बचने के लिए

इस बात की आवश्यकता होती है कि कागज़ी मुद्रा उतनी ही निकाली जावे जितनी कि व्यापार अथवा वाणिज्य के लिए आवश्यक हो। जब व्यापार में तेजी हो, तो कागजी मुद्रा का चलन बढना चाहिए और व्यापार में मदी होने के समय कागजी मुद्रा का चलन कम हो जाना चाहिए। किन्तु यह सदैव सम्भव नहीं होता। कारण यह है कि प्रामाणिक सिक्कों (standard coins) की भाँति कागजी मुद्रा का निर्यात (export) और आयात (import) तो हो नहीं सकता। जब धातु के प्रामाणिक सिक्के चलन मे होते हैं तो आवश्यकता पड़ने पर व्यापारी उनका निर्यात या आयात करते रहते हैं, जिससे कि आवश्यकतानुसार मुद्रा की वृद्धि और कमी होती रहती है। कागजी मुद्रा का इस प्रकार निर्यात अथवा आयात तो हो नहीं सकता। कागजी मुद्रा तो केवल सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक ही निकाल सकता है अथवा उसको नष्ट कर सकता है। अस्तु, यदि व्यापार में तेजी आजावे तो केवल सरकार की आज्ञा से ही अधिक कागजी मुद्रा निकाली जा सकती है। यदि अधिक कागजी मुद्रा चलन में आजावे और फिर व्यापार में मदी प्रगट हो, तो कागजी मुद्रा का बाहुल्य हो जावेगा अर्थात वह आवश्यकता से अधिक हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि कागजी मुद्रा का मूल्य (value) गिरने लगेगा और वस्तुओं की कीमत ऊँची हो जावेगी। उस समय आवश्यकता इस बात की होती है कि अनावश्यक कागजी मुद्रा को चलन से खींच लिया जावे। कागज़ी मुद्रा की मात्रा में आवश्यकतानुसार घटने और बढने की इस राशि को ही कागज़ी मुद्रा की लचक कहते हैं। मुद्रा की माँग (demand) के अनुसार ही कागजी मुद्रा की वृद्धि और कमी की प्रतिचारी (responsive) प्रवृत्ति को ही कागज़ी मुद्रा की लचक कहते हैं। भारत में तो मौसम के अनुसार मुद्रा की माँग बदलती रहती है, और यहाँ चैक का उपयोग कम होता है अतएव करेंसी अथवा चलार्थ का लचकदार होना अत्यन्त आवश्यक है।

कागजी मुद्रा की गतिशीलता (Mobility of Paper Currency)

जिस प्रकार इस बात की आवश्यकता है कि व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार कागजी मुद्रा की मात्रा को घटाया या बढाया जावे, उसी प्रकार इस बात की भी जरूरत है कि जिन व्यापारिक केन्द्रों में कागजी मुद्रा की अधिक जरूरत नहीं है वहाँ से कागज़ी मुद्रा को उन केन्द्रों में भेजा जासके कि जहाँ मुद्रा की बहुत अधिक जरूरत है। कागजी मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवश्यकतानुसार भेजे जा सकने को ही कागजी मुद्रा की गतिशीलता कहेंगे।

सरकार अथवा बैंक द्वारा कागजी मुद्रा का निकाला जाना अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कागजी मुद्रा को निकालने का कार्य कौन करे। पहले अधिकाश देशों मे कागजी मुद्रा निकालने का कार्य सरकारें ही करती थी। किन्तु चाहे जितनी विज्ञ सरकार हो सरकारी विभाग से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दूरदर्शितापूर्वक तथा पक्षपात रहित होकर निर्णय कर सके कि कब और कहाँ अधिक द्रव्य या मुद्रा (money) की आवश्यकता है और कब और कहाँ से आवश्यक मुद्रा को कम कर देना चाहिए। सरकारी विभाग का व्यापार तथा उद्योग धधों से सीधा सम्बध नहीं होता, और न सरकारी विभाग व्यापारिक तथा आर्थिक जगत की स्थिति के प्रति इतना जागरूक रह सकता है जितना एक बैंक रहता है। जबकि व्यापारी वर्ग को नकदी की एक साथ अधिक आवश्यकता होती है तो सरकारी विभाग के लिए तुरन्त कागजी मुद्रा निकाल सकना बहुत कठिन होता है। क्योकि सरकारी यत्र बहुत सोच समझकर धीरे-धीरे काम करता है। वह आकस्मिक परिवर्तनों के प्रति प्रतिचारी (responsive) नहीं होता। सरकार का मुख्य कर्तव्य करसी प्रणाली की सुरक्षा की ओर ध्यान देना है। अस्तु, जब भी एक साथ अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी, तो सरकारी विभाग उसका धैर्यपूर्वक अध्ययन करेगा, तब जाकर कहीं वह निर्णय करेगा कि अधिक कागजी मुद्रा निकाली जावे अथवा नहीं। इसम स्वाभाविक रूप से अधिक समय लग जावेगा और बाजार की अत्यन्त आवश्यक मुद्रा की माग अतृप्त रह जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि किसी समय बाजार में आवश्यकता से कम मुद्रा उपलब्ध होगी और व्यापार के लिए नकदी की कमी प्रतीत होने लगेगी, तो किसी समय बाजार में आवश्यकता से अधिक मुद्रा का चलन होगा और नकदी का बाहुल्य होगा। इसके अतिरिक्त यदि कागजी मुद्रा को निकालने का अधिकार सरकार को दे दिया जावे तो एक बड़ा खतरा यह उपस्थित होता है कि सरकार राजनैतिक कारणों से अथवा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए देश के वास्तविक आर्थिक हितों की अवहेलना कर दे। कोई भी राजनैतिक दल सत्तावान होने पर बहुत बड़ी मात्रा में कागजी मुद्रा छाप कर अपने कार्यों के लिए रुपया प्राप्त कर सकता है। जब कोई राजनैतिक दल यह समझने लगता है, कि वह जिन कार्यों को करने जारहा है, उसके लिए अधिक कर लगाना जनता सहन नहीं करेगी। साथ ही यदि उस राजनैतिक दल को इस बात का भी भरोसा न हो, कि उसे जनता से उचित सूद पर ऋण मिल सकता है, तो वह छापेखाने का उपयोग करके अधिकाधिक कागज़ी मुद्रा निकाल कर अपना कार्य चला सकती है। यद्यपि इस प्रकार

अनावश्यक कागजी मुद्रा को चलन में लाने का भयंकर परिणाम हो सकता है। सरकार अपने ही धा० ते० (I. O. U.) की प्रतिभूति (security) पर कागजी मुद्रा को छाप दे सकती है, जैसा कि पहले भारत सरकार करती थी।

इसके विपरीत बैंक यदि कागजी मुद्रा निकालता है, तो यह ऊपर लिखे दोष प्रकट नहीं होते। बात यह है कि बैंक बराबर व्यापारियों तथा व्यवसायियों से निकट संबंध रखता है, उनकी आवश्यकताओं को जानता है, केन्द्रीय बैंक साख (credit) पर भी नियन्त्रण रखता है तथा साख (credit) का निर्माण करता है। साख का उपयोग केन्द्रीय बैंक धातु मुद्रा तथा कागजी मुद्रा के स्थान पर कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बैंक उद्योग-धंधों तथा व्यापार की मौसमी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए साख-द्रव्य या मुद्रा (credit money) को घटा बढ़ा सकता है। इस प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का अधिकार हो तो वह कागजी मुद्रा तथा साख (credit) का नियन्त्रण इस प्रकार कर सकता है कि उद्योग धंधों तथा व्यापार की आवश्यकतानुसार करेंसी (चलार्थ) की मात्रा को घटाया बढ़ाया जा सके। बैंक इस कार्य को सरकार की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। इसके अतिरिक्त बैंक पर दलगत राजनीति का प्रभाव नहीं पड़ता और न बजट में घाटा होने तथा सैनिक व्यय के कारण ही उसकी नीति पर कोई प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार दिया जाता है, तो कागजी मुद्रा का नियन्त्रण एक निश्चित कानून के अन्तर्गत होता है। कागजी मुद्रा ऐक्ट में निश्चित रूप से यह निर्धारित कर दिया जाता है, कि कागजी मुद्रा के रक्षित कोष (reserve) में अमुक प्रतिशत सोना होगा और अमुक प्रतिशत सिक्यूरिटी (प्रतिभूति) होगी। केन्द्रीय बैंक इस नियम को अवहेलना नहीं कर सकता।

ऊपर के विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि सरकार का केन्द्रीय बैंक पर कोई प्रभाव नहीं होता। सच तो यह है कि केन्द्रीय बैंक (central bank) सरकार की नीति से प्रभावित होता है। पिछले अनुभव ने यह बतलाया है कि केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता बहुत कुछ कल्पना ही रह जाती है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि केन्द्रीय बैंक सरकार की अपेक्षा कागजी मुद्रा निकालने के लिए अधिक योग्य और उत्तम संस्था है।

क्या एक ही बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का अधिकार होना चाहिए : ऊपर हम ने यह तो निश्चय कर लिया कि सरकार की अपेक्षा बैंक ही कागजी मुद्रा निकालने का कार्य अधिक सुचारू रूप से कर सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या एक ही बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार

दे दिया जावे अथवा सब बैंकों को यह अधिकार दिया जावे। करसी (चलार्थ) तथा साख (credit) को भली भाँति नियन्त्रित करने के लिए यह आवश्यक है कि कागजी मुद्रा को निकालने का अधिकार एक ही बैंक को दिया जावे। जब कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार एक केन्द्रीय बैंक के पास होता है, तो करेंसी और साख सम्बंधी एकसी नीति काम में आती है। यदि बहुत से बैंकों को यह अधिकार दे दिया जावे तो यह बहुत सभव है कि भिन्न-भिन्न बैंक परस्पर विरोधी नीतियों को अपनावें। इससे व्यापार तथा व्यवसाय को गहरा धक्का लग सकता है। केन्द्रीय बैंक को यदि कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार दिया जाता है तो इसका अर्थ यह होता है, कि एक केन्द्रीय रक्षित कोष (reserve) रहता है, जो कि आर्थिक सकट अथवा अन्य राष्ट्रीय सकट के समय आसानी से काम आ सकता है। साधारण व्यापारिक बैंकों का मुख्य उद्देश्य अपने हिस्सेदारों के लिए अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। अतः यदि उन्हें भी कागजी मुद्रा निकालने का अधिकार दे दिया जावे तो वे उससे अधिकाधिक लाभ कमाने के लिए अधिकाधिक कागजी मुद्रा निकालने का प्रयत्न करेंगे, इसके दो परिणाम होंगे, एक तो कागजी मुद्रा आवश्यकता से अधिक चलन में आ जावेगी और धातु रक्षित कोष न्यूनतम रहेगा। यदि कागजी मुद्रा को निकालने का एकाधिकार केवल एक बैंक को दे दिया जावे तो यह कठिनाइयाँ उपस्थित नहीं होंगी। जिस बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार दिया जाता है, वह केन्द्रीय बैंक (central bank) होता है। कानून द्वारा—यदि वह हिस्सेदारों का बैंक होता है—उसके लाभ का प्रतिशत निश्चय कर लिया जाता है। अतएव खतरा लेकर अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति नहीं रहती। यही नहीं अन्य प्रतिद्वन्द्वियों के न होने के कारण वह अधिक कागजी मुद्रा निकालने का लालच भी नहीं करता। केन्द्रीय बैंक देश की आर्थिक स्थिति, मुद्रा स्थिति तथा व्यापारिक बैंकों की कार्य शैली का अध्ययन करता है और देश के हित में अपनी मुद्रा तथा साख नीति निर्धारित करता है। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक को न तो अधिक लाभ कमाने का लालच होता है, और न उसको अन्य बैंकों की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता है। यदि अधिक बैंकों को कागजी मुद्रा निकालने का अधिकार दे दिया जावे, तो उनकी लापरवाही तथा अनुत्तरदायित्वपूर्ण खतरे के कार्यों से देश के सामने आर्थिक सकट खड़ा हो सकता है। केन्द्रीय बैंक के हाथ में जब मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण का एकाधिकार दे दिया जाता है, तो उसके ऊपर एक महान जिम्मेदारी आ जाती है और वह सतर्कता पूर्वक देश के आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर ही अपनी नीति

निर्धारित करता है। यदि कोई गड़बड़ हो तो केन्द्रीय बैंक उसके लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक का सरकार भी भली भाँति निरीक्षण कर सकती है, तथा उसकी नीति पर नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। फिर एक बड़ा लाभ यह होता है कि यदि एक केन्द्रीय बैंक सारी कागजी मुद्रा निकालता है, तो वह कागजी मुद्रा अधिक जनप्रिय होती है। क्योंकि लोगों को केन्द्रीय बैंक का अधिक भरोसा और विश्वास होता है। यदि बहुत से बैंक कागजी मुद्रा निकालें तो वे नोट अधिक प्रचलित नहीं हो सकते। केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाली कागजी मुद्रा की प्रतिष्ठा अधिक होती है और सकट काल में यह प्रतिष्ठा बहुत सहायक सिद्ध होती है। अस्तु, यह निर्विवाद है कि कागजी मुद्रा को निकालने का एकाधिकार केवल एक बैंक को होना चाहिए। और वह बैंक केन्द्रीय बैंक होना चाहिए। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों द्वारा दी जाने वाली साख (credit) पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेना है। जो आज की स्थिति में अत्यन्त आवश्यक है।

भारत मे कागजी मुद्रा : भारतीय कागजी मुद्रा के ऊपर लिखे तीनों रूप रहे हैं। आरम्भ में तीन प्रेसीडेंसी बैंक कागजी मुद्रा निकलाते थे, । किन्तु १८६१ में सरकार ने प्रेसीडेंसी बैंकों से यह अधिकार ले लिया, और स्वय कागजी मुद्रा निकलने लगी। सरकार द्वारा कागजी मुद्रा निकालने के दोष शीघ्र सामने आने लगे। सरकारी विभाग बाजार की आवश्यकताओं को भली-भाँति नहीं जान सकता था। अस्तु, बाजार की तेजी होती और अधिक नकदी की आवश्यकता होती तो बाजार में मुद्रा की कमी हो जाती थी। अत. इम्पीरियल बैंक को १९२४ मे व्यापार की तेजी होने पर व्यापारिक बिलों की सिक्यूरिटी पर केवल १२ करोड़ रुपये के नोट निकालने का अधिकार दिया गया। जब १९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना हुई तो कागजी मुद्रा को निकालने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को दे दिया गया। आज रिजर्व बैंक ही भारत में कागजी मुद्रा के नियन्त्रण तथा प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी है।

कागजी मुद्रा निकालने की प्रणालियाँ. यह तो हम ऊपर ही लिख चुके हैं कि अर्थशास्त्री कागजी मुद्रा में लचक (elasticity) होना आवश्यक समझते हैं। किन्तु इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है, कि किस सीमा तक कागजी मुद्रा लचकदार हो और किस सीमा तक सुरक्षा की सीमा का उल्लंघन किया जा सकता है। अस्तु, हम आगे भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित कागजी मुद्रा निकालने की प्रणालियों का साधारण परिचय देंगे। उससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि कागजी मुद्रा के निकालने के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में क्या अन्तर है।

कागजी मुद्रा निकालने की वर्तमान प्रणालियाँ

कागज़ी मुद्रा निकालने की निश्चित अधिकतम सीमा (Fixed Maximum of Note Issue) : यह प्रणाली १९२८ तक फ्रांस में प्रचलित थी (५६, ४३१, ०००, ००० फ्रैंक), इङ्गलैंड मे १९३९ और जापान में १९४१ से प्रचलित थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो कागजी मुद्रा चलन मे है उसमें तथा धातु रक्षित कोष (metallic reserve) में कोई सम्बन्ध नहीं होता। कानून द्वारा एक अधिकतम सीमा निर्धारित करदी जाती है, उससे अधिक कागजी मुद्रा नहीं निकाली जा सकती। फिर चाहे धातु रक्षित कोष कितना ही क्यों न हो। साधारण समय में जितनी कागजी मुद्रा का चलन होता है, कागजी मुद्रा के निकालने की अधिकतम सीमा उससे भी अधिक रक्खी जाती है, और समय-समय पर इस अधिकतम सीमा में हेर फेर भी किया जाता है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि कागजी मुद्रा निकालने की अधिकतम सीमा निर्धारित करते समय व्यापार की आवश्यकताओं को पहले से तो देखा नहीं जा सकता। अतएव व्यापार की आवश्यकताओं का तथा कागजी मुद्रा का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रणाली में कागजी मुद्रा लचक रहित (inelastic) हो जाती है। इस प्रणाली में यह सम्भव है कि पार्लियामेंट कागजी मुद्रा को निकालने की अधिकतम सीमा में बिना आवश्यकता के वृद्धि करदे और उससे मुद्रा स्फीति (inflation) हो जावे। इस प्रकार होने वाली मुद्रा स्फीति को रोकने की इस प्रणाली मे कोई सुविधा नहीं है। इस प्रणाली का गुण यह है कि केन्द्रीय बैंक (central bank) रक्षित कोष को आवश्यकता पड़ने पर जैसे चाहे उपयोग में ला सकता है, साथ ही मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति को रोक सकता है। कागजी मुद्रा कितनी निकाली जावे इसको कानून द्वारा निर्धारित करना हो तो यह सर्वोत्तम प्रणाली है।

निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम (Fixed Fiduciary Issue) इसको चलार्थ सिद्धान्त (currency principle) भी कहते हैं। यह प्रणाली इङ्गलैंड के १८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट के अनुसार प्रचलित हुई और आज भी ब्रिटेन, नार्वे, तथा जापान में प्रचलित है।

इङ्गलैंड में बैंक ऑव इङ्गलैंड को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने निर्गम विभाग (issue department) से कागजी मुद्रा निकाले। निर्गम विभाग बैंक विभाग से सर्वथा भिन्न है। १९२८ तक बैंक बिना सोना या चाँदी रक्षित कोष में रक्खे १९,७५०,००० पौंड कागजी मुद्रा निकाल सकता था। यह

बैंक की अधिकतम विश्वासाश्रित कागजी मुद्रा निकालने की सीमा थी। इससे अधिक जो भी कागजी मुद्रा निकाली जाती थी उसके पीछे उसके बराबर के मूल्य का सोना रक्षित कोष में रक्खा जाता था। १६२८ के ऐक्ट के अनुसार विश्वासाश्रित निर्गम (fiduciary issue) की अधिकतम सीमा बना कर २६०,०००,००० पौंड करदी गई। कानून के अनुसार विश्वासाश्रित(fiduciary) सीमा का उल्लघन विना सरकार के अर्थविभाग की स्वीकृति के नहीं किया जा सकता। सरकार की स्वीकृति से भी दो वर्ष से अधिक के लिए इस सीमा का उल्लघन नहीं किया जा सकता। उसके लिए पार्लियामेंट की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। ब्रिटेन में निश्चित विश्वासाश्रित (fixed fiduciary) सिद्धान्त आजतक प्रचलित है। केवल इतना अन्तर हुआ है कि १८४४ में जो विश्वासाश्रित सीमा १ करोड़ ४० लाख पौंड की थी। वह १६३१ में बढ़कर २६ करोड पौंड की होगई। यह प्रणाली १६२८ के उपरान्त अधिक लचकदार हो गई, क्योंकि समय समय पर सरकार ने इस सीमा में परिवर्तन कर दिया। आवश्यकतानुसार इस सीमा को घटाया और बढाया गया। १६३१ के उपरान्त जब योरोपीय देशों के सोना वापस ले लेने पर बैंक आव इङ्गलैंड का सोने का कोष लगभग समाप्त हो गया तो विश्वासाश्रित सीमा को बढा कर २७ करोड़ ५० लाख कर दिया गया। और १६३६ मे जब बैंक आव इङ्गलैंड को २० करोड़ पौंड का सोना विनिमय संतुलन खाते (exchange equalisation account) में देना पड़ा, तो विश्वासाश्रित निर्गम की सीमा बढा कर ४० करोड़ पौंड करदी गई। युद्ध काल में अधिक कागजी मुद्रा निकालने के लिए विश्वासाश्रित सीमा को बढा कर १ अरब ४० करोड़ पौंड तक कर दिया गया। कहने का तात्पर्य यह कि यह विश्वासाश्रित सीमा आवश्यकतानुसार घटाई और बढाई जाती है।

जापान में जापान बैंक को १२ करोड येन (जापानी मुद्रा) तक सरकारी ऋण, अन्य सिक्यूरिटियों तथा व्यापारिक बिलों की जमानत पर कागजी मुद्रा निकालने का अधिकार था। इससे अधिक जो भी कागजी मुद्रा निकाली जावे उसके पीछे शत प्रतिशत सोना, चाँदी रक्षित कोष में रखने का नियम था, जापान में भी विश्वासाश्रित सीमा (fiduciary limit) को बढाया जा सकता है, और समय समय पर इस सीमा को बढाया भी गया है। १६२६ के पूर्व नार्वे, फिनलैंड, तथा इटली ने भी इसी प्रणाली का प्रयोग किया था।

इस प्रणाली में विश्वासाश्रित रकम को छोड़ कर जितनी भी कागजी मुद्रा निकाली जाती है, वह सारी की सारी सोने के कोष से सुरक्षित रहती है।

इस प्रणाली मे विश्वासाश्रित भाग बहुत थोड़ा होता है, अधिकांश कागजी मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत सोना होता है। इसके अतिरिक्त यह नियम भी रहता है कि यदि सोने का विदेशों को निर्यात (export) होने से कोष में सोना कम हो जावे, तो कागजी मुद्रा के चलन को कम कर दिया जावेगा। पहले महायुद्ध के समय भारत सरकार को सिक्यूरिटियों से आधार पर केवल २० करोड़ कागजी मुद्रा निकालने का कानूनी अधिकार था और शेष कागजी मुद्राके लिए उसे शत प्रतिशत धातु या धातु के सिक्के रखने पड़ते थे। इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा लगभग उतनी ही सुरक्षित हो जाती है। जितने कि सोने के प्रमाण पत्र (gold bullion certificates)। इस प्रणाली का एक गुण यह है कि समृद्धि तथा व्यापार की तेजी के समय अनावश्यक रूप से कागजी मुद्रा तथा साख (credit) की वृद्धि पर अनायास ही प्रतिबन्ध लगा रहता है। यदि विश्वासाश्रित सीमा यथेष्ट ऊँची रक्खी जावें जिससे केन्द्रीय बैंक को अपने सोने के रक्षित कोष पर नियन्त्रण रखने का अबाधित अधिकार स्थापित हो सके, तो यह प्रणाली व्यवाहारिक है। परन्तु इस प्रणाली को अलाभकारी माना जाता है, क्योंकि इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा का विस्तार व्यापार की स्थिति पर निर्भर नहीं करता, वरन् सोने और चाँदी की पैदावार पर निर्भर रहता है। इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा अत्यन्त लचक रहित हो जाती है। यदि सोना कोष में कम हो जावे, तो करेंसी (चलार्थ) तथा साख (credit) को अनावश्यक रूप से कम करना आवश्यक हो जाता है। अतएव आर्थिक सकट तथा अन्य अवसरों पर करेंसी (चलार्थ) की अधिक मांग को इस प्रणाली में पूरा नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में बहुत अधिक सोना बेकार जमा करके रखना पड़ता है। उसका अन्य उत्पादक कार्य में उपयोग नहीं हो सकता। यह प्रणाली उन देशों के उपयुक्त नहीं है जहाँ सोने के सिक्कों का चलन नहीं होता।

प्रतिशत प्रणाली (percentage system): इस प्रणाली को बैंकिंग सिद्धान्त (banking principle) भी कहते हैं। आज कल यही सबसे अधिक प्रचलित प्रणाली है। संयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रांस, जरमनी, भारत तथा अन्य बहुत से देशों मे यही प्रणाली प्रचलित है। इसमें कागजी मुद्रा निकालने तथा बैंकिंग कार्य करने के लिए दो विभागों की आवश्यकता नहीं होती। केन्द्रीय बैंक का एक ही विभाग सारा कार्य करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत यह नियम बना दिया जाता है, कि सोने का रक्षित कोष कागजी मुद्रा की एक निश्चित प्रतिशत (३० या ४० प्रतिशत) से कम नहीं होगा। किन्तु जो न्यूनतम सोने के रक्षित कोष की

प्रतिशत निर्धारित करदी जाती है, उसमें सरकार की स्वीकृति से थोड़े समय के लिए कमी की जा सकती है। बैंक से सरकार निर्धारित प्रतिशत से जितना सोना कम होता है उस पर कर (tax) लेती है।

संयुक्तराज्य अमेरिका में ४० प्रतिशत सोना रक्षित कोष में होना चाहिए, शेष ६० प्रतिशत व्यापारिक बिल के रूप मे होना आवश्यक है। जरमनी में भी सोने का रक्षित कोष ४० प्रतिशत होना आवश्यक है। केन्द्रीय बैंक कर देकर इससे भी कम स्वर्ण रक्षित कोष रख सकता है। आस्ट्रेलिया, अरजेनटाइना, न्यूजीलैंड, कनाडा इत्यादि देशों में केवल २५ प्रतिशत स्वर्ण रक्षित कोष रखने का नियम है। भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व ५० प्रतिशत रक्षित कोष सोने और चाँदी में रखना आवश्यक था। किन्तु रिज़र्व बैंक की स्थापना के बाद ४० प्रतिशत रक्षित कोष सोना, सोने के सिक्के, तथा स्टर्लिंग सिक्यूरिटी के रूप में होना आवश्यक है (सोना रक्षित ४० करोड़ रुपए से कम का नहीं होना चाहिए)।

इस प्रणाली का एक लाभ यह है कि केन्द्रीय बैंक व्यापार की आवश्यकतानुसार जितनी भी चाहे कागजी मुद्रा निकाल सकता है। केवल शर्त यह है कि कागजी मुद्रा को धातु मुद्रा में परिवर्तित करने के लिए रक्षित कोष में यथेष्ट सोना होना चाहिए। इस प्रणाली में कागजी मुद्रा अधिक लचकदार होजाती है। किन्तु इस प्रणाली में यह भय बना रहता है कि जाने अथवा अनजाने में आवश्यकता से अधिक मुद्रा न निकाल दी जावे, और उसके परिणाम स्वरूप कीमतें ऊँची हो जावें। कहने का तात्पर्य यह कि कागजी मुद्रा को लचकदार (elastic) बनाने के लिए मुद्रा स्फीति (inflation) का खतरा उठाना पड़ता है। इस प्रणाली में भी बहुत-सा सोना व्यर्थ में पड़ा रहता है, उसका किसी अन्य उत्पादक कार्य में उपयोग नहीं हो सकता। इस प्रणाली का एक बड़ा दोष यह है कि यदि अधिक राशि में सोना देश के बाहर चला जावे तो बहुत सी कागजी मुद्रा को चलन से खींचना पड़ता है और बाजार में चलार्थ (करेंसी) की भयंकर कमी होजाती है।

(४) एक चौथी प्रणाली भी कुछ देशों में प्रचलित है। इस प्रणाली के अनुसार कागजी मुद्रा का जितना प्रतिशत सोने के रूप में रखना आवश्यक है, उसका सब का सब अथवा कुछ भाग सोने के रूप में न रखकर किसी विदेशी बैंक में नकदी अथवा बिलों के रूप में रख दिया जाता है। इसका लाभ यह है कि इसमें सोने की किफायत होजाती है। किन्तु इस प्रणाली के वही दोष हैं जो कि प्रतिशत प्रणाली के दोष हैं क्योंकि यह प्रतिशत प्रणाली का परिवर्तित रूप है। इस प्रणाली में सोने की बचत होगी, यह भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि

बहुधा बैंक विदेशी बैंकों में नकदी या बिलों के रूप में रक्षित कोष रखने के बजाय फैशन तथा प्रतिष्ठा के कारण सोना ही रखना पसन्द करते हैं। इस प्रणाली को १६२२ में जिनेवा सम्मेलन के सुझाव के अनुसार लीग आव नेशन्स की सहायता से स्वर्णमान (gold standard) स्थापित करने वाले कतिपय देशों ने अपनाया था।

५ कागजी मुद्रा निकालने का सर्वोत्तम सिद्धान्त : कोई देश कागजी मुद्रा निकालने की किस प्रणाली को स्वीकार करे यह उस देश में सोने की पूर्ति (supply) उस देश के निवासियों के स्वभाव तथा द्रव्य बाजार (money market) की स्थिति पर निर्भर रहेगा। परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से हम कह सकते हैं, कि प्रत्येक देश में केवल केन्द्रीय बैंक को ही कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार होना चाहिए। बैंक को अपने रक्षित कोष (reserve) तथा सदस्य बैंकों के रक्षित कोष के प्रबन्ध करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए किन्तु कानून से केन्द्रीय बैंक पर दो प्रतिबंध लगा देना चाहिए। (१) पहला प्रतिबंध तो यह होना चाहिए कि सोने का रक्षित कोष एक निश्चित न्यूनतम राशि से कम नहीं रहेगा। (२) दूसरा प्रतिबंध यह लगाना चाहिए कि एक निश्चित अधिकतम रकम से अधिक की कागजी मुद्रा नहीं निकाली जावेगी। इन प्रतिबंधो का लाभ यह होगा कि लोगों में एक मनोवैज्ञानिक विश्वास उत्पन्न हो जावेगा और करेंसी (चलार्थ) में सकट काल मे भी उनका विश्वास नहीं हिलेगा। इटली और स्पेन में यही प्रणाली प्रचलित है।

पिछले वर्षों मे परिस्थितिवश (विशेषकर महायुद्ध के प्रभाव के कारण) बहुत से देशो ने स्वर्ण रक्षित कोष नियमों को अनिश्चित काल के लिए त्याग दिया और उन्होंने अधिक से अधिक कितनी कागजी मुद्रा निकाली जा सकती है, इसको भी निर्धारित नहीं किया। दूसरे शब्दों में इन देशों में केन्द्रीय बैंकों को बिना प्रतिबंध के मनमानी कागजी मुद्रा निकालने की छूट मिल गई। इनमें जर्मनी, इटली, ग्रीस, फ्रान्स, कनाडा, डेनमार्क, बेलजियम तथा आस्ट्रेलिया मुख्य हैं।

आस्ट्रेलिया में १६४५ में एक नया बैंक कानून पास करके कागजी मुद्रा के निकालने पर सारे प्रतिबंध हटा लिए गए। सरकार ने उस बिल की व्याख्या करते हुए घोषित किया था कि आधुनिक बैंकिंग में केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा को नियन्त्रित करने पर इतना बल देने की आवश्यकता नहीं है, जितनी कि व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय बैंक में जमा (deposit) को नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। क्योंकि व्यापारिक बैंक जिस साख (credit) का

निर्माण करते हैं, वह द्रव्य का काम करती है और आज व्यापार का अधिकांश कारबार साख द्रव्य (credit money) के द्वारा होता है अतः केन्द्रीय बैंक को साख (credit) पर नियन्त्रण स्थापित करने की अधिक आवश्यकता है।

इसमें तनक भी सदेह नहीं कि आधुनिक व्यापारिक जगत मे जितने सौदे साख मुद्रा के द्वारा तय होते हैं उसका केवल एक अश मात्र ही कागजी मुद्रा की सहायता से होते हैं। इस दृष्टि से साख मुद्रा कागजी मुद्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यही कारण है कि आज केन्द्रीय बैंक साख को नियन्त्रित करने के लिए अधिक प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं। व्यापारिक जगत में एक समय था कि जब धातु मुद्रा का प्राधान्य था, शीघ्र ही कागजी मुद्रा ने धातु मुद्रा के स्थान को छीन लिया और आज साख मुद्रा कागजी मुद्रा से कई गुना अधिक चलन में है। अतएव केन्द्रीय बैंकों का ध्यान साख (credit) को नियन्त्रित करने की ओर अधिक रहता है। साख को नियन्त्रित करने के लिए यह आवश्यक है, कि केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की जो जमा (डिपाजिट) इसके पास रहती है, उस पर नियन्त्रण स्थापित करे। केन्द्रीय बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की अपने पास रक्खी हुई अमानत (deposit) को घटा बढाकर ही व्यापारिक बैंकों की साख देने की शक्ति को प्रभावित कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय बैंक (central bank) के पास रक्खी हुई अमानत में वृद्धि होती है, तो वे अधिक साख दे सकते हैं और यदि केन्द्रीय बैंक के पास रक्खी हुई उनकी डिपाजिट कम होजाती है, तो उन बैंकों को दी हुई साख को कम करना होगा। अतएव आज कागजी मुद्रा की अपेक्षा साख का नियन्त्रण अधिक आवश्यक समझा जाने लगा है। आगे के परिच्छेद में हम साख (credit) तथा साख मुद्रा (credit money) के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

परिच्छेद ३१

साख मुद्रा (Credit Money)

साख (Credit) . हमारे आज के आर्थिक जीवन मे साख का बहुत अधिक महत्त्व है, जैसा कि हम आगे अध्ययन करेंगे। परन्तु साख के सम्बन्ध म विचार करने से पूर्व यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है, कि साख शब्द क अर्थशास्त्र में क्या अर्थ है।

जब कोई व्यक्ति किसी दूकानदार या व्यापारी से, नक़द कीमत न देकर केवल इस आश्वासन पर, कोई वस्तु खरीदता है, कि वह उस वस्तु की कीमत कुछ समय बाद दे देगा, तो हम कहेंगे कि उस दूकानदार अथवा व्यापारी की दृष्टि मे उस व्यक्ति की साख है। यदि उस व्यक्ति की व्यापारी की दृष्टि में कोई साख न होती तो व्यापारी कभी भी उस व्यक्ति को वह वस्तु उधार नहीं बेचता। अत साख का मूल विश्वास मे है। पर इतने से ही साख की परिभाषा पूरी नहीं होजाती। इसी सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है, कि आखिर उस विश्वास की सीमा क्या है? इस प्रश्न के उठते ही दो बातें और भी सामने आती हैं, वह व्यापारी उस व्यक्ति को कितने समय के लिए और कितना उधार दे सकता है। अर्थात् विश्वास के साथ साथ समय और उधार की रकम (amount) का प्रश्न भी उपस्थित होता है। जब कोई किसी व्यक्ति को रुपया उधार देता है, अथवा कोई वस्तु या सेवा इस आश्वासन पर बेचता है कि उसकी कीमत उसे कुछ दिनों बाद दी जावेगी, तो वह उधार देने वाला उधार लेने वाले के बारे में नीचे लिखी जाँच करेगा।

बेचने वाला उधार खरीदने वाले को तभी अपनी वस्तु या सेवा बेचेगा जब कि उसे उधार लेने वाले की कीमत चुकाने की नीयत तथा योग्यता मे विश्वास हो। उधार देने वाला देखेगा कि खरीदार ईमानदार और चरित्रवान व्यक्ति है अथवा नहीं, और उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी है या नहीं कि वह आगे चलकर अपना ऋण चुका सके। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न भी उपस्थित होगा कि उस खरीदार को कितने समय के लिए कितनी रकम दी जावे। उदाहरण के लिए यह सम्भव है कि एक व्यापारी एक व्यक्ति को एक सप्ताह के लिए केवल १०० रुपए की वस्तु ही उधार देना उचित समझता है। वहीं व्यापारी दूसरे

व्यक्ति को दस हजार रुपए की वस्तु एक महीने के लिए तथा तीसरे व्यक्ति को पचास हजार रुपए का माल तीन महीने के लिए उधार बेचता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापारी की दृष्टि में पहले व्यक्ति की साख सौ रुपए से अधिक के लिए नहीं है और वह उसको एक सप्ताह से अधिक का समय भी देना नहीं चाहता। दूसरे व्यक्ति की साख व्यापारी की दृष्टि में दस हजार रुपए की एक महीने तक के लिए है और तीसरे की साख पचास हजार रूपए की तीन महीने के लिए है। इस से अधिक रकम इससे अधिक समय के लिए वह इन व्यक्तियों को नहीं देगा। अब हम साख क्या है यह समझ गए। साख की परिभाषा हम इस प्रकार करते हैं— "साख से हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति के किसी अन्य व्यक्ति की ईमानदारी में उस विश्वास से है, जिसके आधार पर वह व्यक्ति उस अन्य व्यक्ति को कोई भी मूल्यवान वस्तु, फिर वह चाहे रुपया हो अथवा अन्य कोई वस्तु हो, अमुक समय के लिए और अमुक मात्रा में इस वायदे पर देने को तैयार है, कि वह भविष्य में उतनी ही मात्रा में अथवा व्याज सहित वह वस्तु लौटा देगा।"

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो गया कि साख के तीन अंग हैं—सबसे मूल अंग 'विश्वास', दूसरा 'समय', और तीसरा 'रकम'। इन तीनों बातों को ध्यान में रखकर ही हम किसी व्यक्ति की साख का निर्णय कर सकते हैं।

ऊपर हमने व्यक्तियों की साख के सम्बन्ध में विचार किया। इसी प्रकार उद्योग धंधों की साख के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। किसी भी देश में यदि हम भिन्न-भिन्न धंधों को लें, तो हम देखेंगे कि जिन धंधों का संगठन दृढ है, प्रबंध अच्छा है और जिन्हें लगातार अच्छा लाभ हो रहा है, उन धंधों की साख ऊँची होती है, उन्हें सरलता से उचित व्याज पर ऋण मिल जाता है। परन्तु जिन धंधों का संगठन अच्छा नहीं है और जिनको लगातार हानि होती है उनकी साख बाजार में गिर जाती है और उन धंधों को ऋण प्राप्त करने में कठिनाई होती है, और यदि उन्हें ऋण मिलता भी है तो अधिक ऊँचे व्याज पर मिलता है।

इसी प्रकार दो राष्ट्रों में साख (credit) का आदान प्रदान उनकी राजनैतिक स्थित, उनके आर्थिक संगठन और आर्थिक स्थिति तथा लेन देन सम्बंधी कानूनों पर निर्भर होता है। यदि किसी राष्ट्र की आर्थिक स्थिति अच्छी है, उसकी सरकार प्रभावशाली है और वहाँ कानून की व्यवस्था ठीक है, तो उस राष्ट्र की साख ऊँची होगी और उसको सरलता से अन्य राष्ट्रों से ऋण प्राप्त हो जावेगा। यदि ऐसा नहीं है तो उसकी साख अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य बाजार में रहेगी और उसको ऋण मिलना कठिन होगा।

साख (Credit) की आवश्यकता : साख की आवश्यकता इस कारण पड़ती है, क्योंकि जो व्यापारी तथा व्यवसायी उत्पादन कार्य में लगे हैं उनके पास यथेष्ट पूँजी (capital) नहीं होती। प्रत्येक धंधे तथा व्यापार में जो भी व्यक्ति अपनी पूँजी लगाता है, उसको कुछ समय प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तब कहीं जाकर कुछ फल निकलता है। उदाहरण के लिए जब किसान खेत में पैदावार उत्पन्न करता है, तो उसे भूमि मे बीज, खाद डालना पड़ता है, सिंचाई करनी पड़ती है, तब कहीं ६ या ७ महीने के उपरान्त फसल तैयार होती है और उसको बेचकर जो कुछ पूँजी उसने खेती में लगाई है, उसे प्राप्त करता है और लाभ कमाता है। इस बीच में फसल को उत्पन्न करने के लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है वह तो किसान लगाता ही है, साथ ही अपने परिवार का पालन पोषण भी करता है। अतएव ८ या ६ महीने की प्रतीक्षा के उपरान्त किसान को फल मिलता है। इस प्रतीक्षा के समय को पार करने के लिये साख (credit) की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके पास अपनी निज की यथेष्ट पूँजी नहीं होती। इसी प्रकार एक कारखाने का मालिक अपनी पूँजी लगाकर मशीनें खरीदता है और कारखाने की इमारत बनवाता है, किन्तु फिर भी तैयार माल को बाज़ार मे बेचकर रुपया वसूल करने से पूर्व उसे लाखों रुपये का कच्चा माल (raw material) खरीदने तथा मज़दूरों की मज़दूरी देने में व्यय करना पड़ता है। यदि कारखाने को खोलने से पहले इतनी अधिक पूँजी इकट्ठी की जावे, कि कारखाने को किसी भी बात के लिये उधार लेने की आवश्यकता ही न पड़े, तब तो इतनी अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी कि कारखाना खोलना ही कठिन हो जावेगा। फिर वह सारी पूँजी बराबर उपयोग मे नहीं आवेगी, कभी-कभी वह बेकार रहेगी, उसका पूरा उपयोग न हो सकेगा। इसी प्रकार एक दूकानदार आढतियों से माल लेता है और दो या तीन महीने में बेचकर रुपया वसूल करता है। यदि वह दूकानदार केवल उतने ही मूल्य का माल ले जितनी पूँजी उसके पास है, तो उसके पास कम माल रहेगा और उसको वस्तुओं पर अधिक लाभ लेना होगा। उदाहरण के लिये यदि दूकानदार ने अपनी दूकान में दस हजार रुपये की पूँजी लगाई है, और उसे आढतियों से साख (credit) न मिले तो वह दूकान मे केवल दस हजार का माल ही रख सकता है। इसपर यदि वह बीस प्रतिशत लाभ ले तो उसको २ हजार रुपये लाभ मिलेंगे। परन्तु यदि उसे साख मिलती है और उसकी दूकान में २० हजार का माल है तो वह वस्तुओं पर १० प्रतिशत लाभ लेकर भी २ हजार रुपये कमा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक धंधे या व्यवसाय में फल प्राप्त करने के लिए कुछ समय

की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, और यदि व्यवसायी या व्यापारी केवल अपनी निजी
पूँजी से कारबार करे तो कारबार बहुत थोड़ी मात्रा में होगा और उपभोक्ताओं
(consumers) अर्थात् ग्राहकों को वस्तुओं का अधिक मूल्य देना होगा।
और सम्पत्ति का उत्पादन (wealth production) कम होगा। अतएव
साख (credit) के द्वारा इस कमी को पूरा किया जाता है।

साख का स्वरूप : आज के युग में धन (wealth) के उत्पादन के
लिए पूँजी (capital) की बहुत आवश्यकता है। बड़ी मात्रा में उत्पादन के
लिए बड़ी राशि में पूँजी की आवश्यकता होती है। किन्तु जो व्यवसायी धंधों
में पूँजी लगाते हैं और उस पूँजी का नियन्त्रण करते हैं वह अधिकतर पूँजी
को इकट्ठा नहीं करते। जो पूँजी हमें आज धंधों में लगी हुई दिखलाई पड़ती है,
उसका एक बहुत बड़ा भाग उन लोगों की बचत का परिणाम है जो अपनी बचत
को व्यापार इत्यादि में नहीं लगाते। अधिकतर पूँजी साधारण व्यक्तियों द्वारा
छोटी-छोटी राशि में बचत का परिणाम है। जो अपनी आमदनी से थोड़ी-थोड़ी
बचत—भविष्य में खर्चे के लिए—करते हैं, वे बहुधा उस बचत को पूँजी के [illegible]
उत्पादन (production) कार्य में लगाने की योग्यता नहीं रखते। [illegible]
विपरीत जो व्यापारी तथा व्यवसायी धंधों को चलाने की कुशलता और [illegible]
रखते हैं और पूँजी लगाकर लाभ कमा सकते हैं, उनके पास यथेष्ट [illegible]
होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवसायियों तथा व्यापारियों के [illegible]
नहीं होती। उनके पास अपनी पूँजी होती है, परन्तु उनके धंधे [illegible]
लिए जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है उतनी पूँजी नहीं [illegible]
कहना चाहिए कि वे जितनी पूँजी का अपने धंधे में उपयोग [illegible]
पूँजी उनके पास नहीं होती। अस्तु, आधुनिक आर्थिक संगठन [illegible]
चल सकता है जब हम इस बात का प्रबन्ध करें कि [illegible]
वे उसको इकट्ठा करते हैं, किन्तु उस पूँजी को [illegible] (produc-
tion) में लगाने की योग्यता नहीं रखते, उनसे लेकर [illegible]
पास पहुँचाई जावे जो पूँजी (capital) का उत्पादन [illegible]
कर सकते हैं, किन्तु उनके पास यथेष्ट पूँजी नहीं [illegible]
के द्वारा ही सम्भव है। साख (credit) का [illegible]
है, कि जिन लोगों के पास पूँजी एकत्रित [illegible]
(production) में उपयोग करने में [illegible]
लोगों को दे दी जाती है जिनके पास यथेष्ट [illegible]
वे उधार ली हुई पूँजी का उत्पादन कार्य [illegible]

यदि साख (credit) का निर्माण न किया जावे तो बहुत सी पूंजी बेकार रहे और देश में सम्पत्ति (wealth) का उत्पादन कम हो। संक्षेप में जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से उनकी एकत्रित की हुई पूँजी उधार प्राप्त करता है, तो वह साख (credit) का रूप धारण करती है।

साख (credit) के लिए आवश्यकता इस बात की है कि जो ऋण लेता है उसमें उधार देने वाले का विश्वास हो लेकिन, यह विश्वास ऋण लेने वाले की ईमानदारी, ऋण को चुकाने की योग्यता तथा जो जमानत (security) वह देता है उसके स्वरूप पर निर्भर होता है। यदि उधार लेने वाला ईमानदार है, वह ऋण चुकाने की योग्यता रखता है और वह जो जमानत (security) दे रहा है वह स्वीकार करने के योग्य है, तो वह उधार लेने वाले की साख को अच्छी मानता है और अपनी पूँजी उधार दे देता है। किसी व्यक्ति को साख मिलेगी अथवा नहीं और यदि साख मिलेगी तो कितने सूद पर मिलेगी, यह ऊपर लिखी बातों पर ही निर्भर है।

किन्तु यदि देश की पूँजी को इकट्ठा करने तथा उधार लेने वालों की साख (credit) की जाँच पड़ताल करने के लिए कोई उचित व्यवस्था नहीं की जाती, तो परिणाम यह होगा, कि देश की बहुत सी पूँजी बेकार रहेगी वह धनोत्पादन (wealth production) के काम न आवेगी। बैंक इस कार्य को करते हैं। एक ओर वे उन लोगों की बचत को डिपाजिट के रूप में आकर्षित करते हैं—जो अपनी आय का एक अंश बचाते हैं, और दूसरी ओर वे उन व्यवसायियों तथा व्यापारियों को साख (credit) देते हैं—जो उस पूँजी का उत्पादन कार्य के लिए उपयोग कर सकते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि जो व्यक्ति धन बचाते हैं वे ही सीधे व्यापारियों तथा व्यवसायियों को ऋण क्यों नहीं दे देते। ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिसको साख (credit) दी जाती है उसकी ईमानदारी, ऋण चुकाने की योग्यता अर्थात् उसके कारबार की दशा कैसी है तथा जो जमानत (security) वह देता है वह स्वीकार करने योग्य है अथवा नहीं, इसकी जाँच पड़ताल वह व्यक्ति नहीं कर सकता जो पूँजी बचाता है। इस कार्य को बैंक ही ठीक प्रकार से कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक डाक्टर कुछ रुपया बचाता है तो उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह किसी व्यवसायी या व्यापारी की साख (credit) की जाँच पड़ताल कर सके। न तो उस डाक्टर के पास इतना समय ही है और न उस व्यवसायी की आर्थिक स्थिति कैसी है इसकी जाँच करने की योग्यता ही है, और जो जमानत व्यवसायी

ना चाहता है उसको स्वीकार करना चाहिए अथवा नहीं, न ही वह इसका र्णय कर सकता है। इसके अतिरिक्त अपनी पूँजी को उधार देने में जो जोखिम है वह भी डाक्टर नहीं उठा सकता। फिर डाक्टर के पास इतनी कम पूँजी (capital) इकट्ठी होगी, कि वह एक बड़े व्यापारी या व्यवसायी के लिए नितान्त अपर्याप्त सिद्ध होगी। अतः बैंक ही यह कार्य सुगमता से कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी थोड़ी-थोड़ी बचत बैंक में जमा करके सारे झंझटों से मुक्त होजाता है। इस प्रकार बैंकों के पास यथेष्ट धनराशि जमा हो जाती है और वे व्यापारियों तथा व्यवसायियों की आर्थिक स्थिति तथा ऋण चुकाने की योग्यता की जाँच पड़ताल कर सकते हैं, तथा जोखिम उठा सकते हैं। यही नहीं कि बैंक जमा किया हुआ रुपया उधार देते हैं वरन् वे ऋण देकर साख का निर्माण भी करते हैं। जैसा कि हम आगे अध्ययन करेंगे।

साख पत्र (Credit Instruments) यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि विश्वास और भरोसा ही साख (credit) का मूल आधार है। परन्तु फिर भी यह आवश्यक है, कि साख देने मे जो ऋण का निर्माण होता है उसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण होना चाहिए। क्योंकि साख का अर्थ है कि देनदार (debtor) भविष्य में एक निश्चित समय के उपरान्त उस रकम को चुकाने का वायदा करना है। अतएव लेनदार अपने देनदार से इस आशय का एक लिखित प्रमाण ले लेता है। ऋण के यह प्रमाण ही साख पत्र कहलाते हैं। साख पत्र बहुत प्रकार के होते है। इनमें बिल (bill of exchange), बैंक ड्राफ्ट, प्रामिसरी नोट, चेक, पुस्त साख (book credit), हुँडी इत्यादि मुख्य हैं। इनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ तो केवल हमें यह जान लेना है कि साख का स्थूल रूप और प्रमाण यह साख पत्र हैं, जिनके द्वारा साख दी जाती है।

साख द्रव्य (Credit money) अन्य प्रकार की मुद्रा या द्रव्य के अनुसार ही साख द्रव्य या मुद्रा मे नीचे लिखे चार गुण होने चाहिए :— (१) यह साख पत्र ऐसे व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के द्वारा निकाले जाने चाहिए जिनमें सबको विश्वास हो (२ वे उतने मूल्य या रकम के होने चाहिए जससे उनके चलन में सहूलियत हो। (३) उनको सरलता से पहचाना जा सके। (४) उनको जाली बनाना कठिन हो।

इसमें कोई सदेह नहीं कि साख पत्र और द्रव्य या मुद्रा (money) में भेद है। साख पत्र का निजी मूल्य कुछ नहीं है, वह तो निकालने वाले व्यक्ति अथवा संस्था (बैंक) के आर्थिक स्थायित्व तथा प्रसिद्धि पर ही चलता है। द्रव्य

या मुद्रा की अपेक्षा साख पत्र का चलन कम तेजी से होता है, और कोई भी उन्हें जमा करके अधिक दिन अपने पास नहीं रखता। चैक, विल, हुंडी, अथवा प्रामिसरी नोट कोई व्यक्ति तभी स्वीकार करता है जब कि लेने वाले को देने वाले मे विश्वास और भरोसा है। व्यक्तियों द्वारा निकाले साख पत्रों की अपेक्षा वैंकों द्वारा निकाले हुए साख पत्रों का चलन अधिक सरलता से होता है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि धातु मुद्रा तथा कागज़ी मुद्रा से ही आधुनिक समाज की द्रव्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो जातीं। धातु मुद्रा तथा कागज़ी मुद्रा के अतिरिक्त साख पत्र (credit instruments) का बहुत अधिक उपयोग होता है। आर्थिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों में कागजी मुद्रा से पंद्रह बीस गुना तक चैकों का उपयोग होता है। अस्तु, साख पत्रों का महत्त्व स्पष्ट है।

क्या साख का निर्माण करने का अर्थ धन उत्पन्न करना है : आज के आर्थिक जीवन में और विशेषकर धन (wealth) के उत्पादन में साख का इतना अधिक महत्त्व है, कि कुछ लोग साख पत्रों को वास्तविक धन या पूँजी (capital) मानने लगे हैं। उनका ऐसा कहना है कि साख भी धनोत्पत्ति का एक साधन है, और वह उसी तरह से धनोत्पत्ति कर सकता है जिस तरह कि भूमि या श्रम धन के उत्पादन में सहायक होते हैं। किन्तु यह एक भ्रम है। साख धनोत्पत्ति का एक साधन नहीं है। वह केवल धनोत्पत्ति का एक तरीका है ठीक जिस प्रकार श्रम विभाजन (division of labour) और विनिमय (exchange) धन के उत्पादन का एक तरीका है। साख के द्वारा हम एक व्यक्ति से—जिसके पास पूँजी है परन्तु वह उसका उपयोग धनोत्पति में नहीं कर सकता—लेकर वह पूँजी ऐसे व्यक्ति को दे देते हैं जो कि उसका उपभोग धनोत्पति के लिए करने की योग्यता रखता है। परन्तु पूँजी (capital) का यह हस्तातरकरण धनोत्पत्ति नहीं कहला सकता। जिस प्रकार विनिमय (exchange) वस्तुओं को उत्पन्न नही करती, ठीक उसी तरह साख धन की उत्पत्ति नहीं कर सकती। साख वास्तव में दूसरे की पूँजी का उपयोग करने की आज्ञा मात्र है। इसमें भी सदेह नही कि साख के द्वारा पूँजी की गतिशीलता (mobility) और कार्यक्षमता (efficiency) बढती है। और इस दृष्टि से साख के द्वारा धनोत्पत्ति में सहायता मिलती है।

साख के लाभ : यद्यपि साख को हम धनोत्पत्ति का साधन नहीं मान सकते, परन्तु यह हम ऊपर बतला आये हैं कि पूँजी को गतिशील बनाकर तथा

उसकी कार्यक्षमता को बढाकर वह उत्पादन में सहायता अवश्य पहुँचाती है। उपभोग (consumption) में यद्यपि अन्ततः साख के परिणाम भयकर हो सकते हैं, यदि उपभोक्ता अधिकतर साख पर ही निर्भर रहे। परन्तु कभी कभी अस्थायी रूप से यदि उपभोक्ता को नकद दाम चुकाने में कठिनाई हो तो साख से वह कठिनाई दूर हो सकती है, तथा हिसाब में सरलता हो सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साख के नीचे लिखे लाभ हैं :—

(१) साख का सबसे पहला लाभ यह है, कि इसका जितना अधिक उपयोग देश के व्यवसाय या वाणिज्य में किया जावेगा, उतनी ही अधिक धातु मुद्रा के उपयोग मे किफायत होगी। धातु का मुद्रा के लिए उपयोग कम होने लगेगा तथा धातु का मूल्य गिरेगा। पश्चिमी देशों में यह देखने को मिलता है। आज के समय मे आर्थिक दृष्टि से किसी भी उन्नत राष्ट्र की मुद्रा सम्बन्धी माँग की पूर्ति धातु मुद्रा से नहीं की जा सकती।

(२) साख पत्रों के उपयोग से देश के आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार को बहुत अधिक सुविधा मिलती है। यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि बम्बई का एक व्यापारी अमृतसर से गेहूँ खरीदता है। गेहूँ की कीमत चुकाने के लिए उसे डाक से रुपया भेजना आवश्यक नहीं है। वह साख पत्र की सहायता से इस रकम को आसानी से चुका सकता है। लेकिन साख पत्र का उपयोग केवल इतना ही नहीं है, उसके अन्य लाभ भी हैं। यदि बम्बई का व्यापारी अमृतसर के व्यापारी को तुरन्त रुपया देने में असमर्थ है और अमृतसर के व्यापारी को रुपया चाहिए तो उस दशा में बिल आव एक्सचेंज या हुन्डी की सहायता से दोनों का काम चल जाता है। अमृतसर का व्यापारी बम्बई के व्यापारी पर तीन महीने का बिल काट देगा, जिसे बम्बई का व्यापारी स्वीकार कर लेगा। अमृतसर का व्यापारी इस बिल को किसी बैंक को बेचकर रुपया प्राप्त कर लेगा और बैंक तीन महीने बाद उस बिल का रुपया बम्बई के व्यापारी से प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार दो देशों के व्यापारी भी आपस में विदेशी बिलों की सहायता से कारबार करते हैं।

(३) साख पत्रों के उपयोग मे एक और तरह की भी सुविधा होती है। उन दो स्थानों अथवा देशों में जिनमें कि व्यापार होता है, हर समय लेना-देना चुकाने के लिए रुपया अथवा सोना चाँदी भेजने की और मँगवाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। दोनों स्थानों अथवा दोनों देशों के व्यापारियों का लेना-देना बिल द्वारा निपटाया जा सकता है।

(४) साख से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उसके द्वारा धन उन

लोगों से जिन्होंने उसे बचाया है, किन्तु उसका उत्पादन-कार्य में उपयोग नहीं कर सकते, हस्तांतर होकर उन लोगों के पास पहुँचता है जो उसका उत्पादन कार्य में उपयोग करने की योग्यता रखते हैं। इस प्रकार साख धनोत्पत्ति के कार्य में सहायक होती है।

(५) साख के द्वारा पूँजी एकत्रित होने में सहायता मिलती है। बैंक (साख सस्थाओं) के द्वारा साख की सुविधा होने से धन बचाने और उसको उद्योग-धधो तथा व्यापार में लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि साख के द्वारा किसी देश के प्राकृतिक तथा मानवीय साधनों का हम धनोत्पत्ति के लिए पूरा-पूरा उपयोग करने में सफल हो सकते हैं। वह बड़ी मात्रा के उत्पादन को प्रोत्साहन देती है और श्रम पूँजी (capital) की कार्यक्षमता को बढाती है। द्रव्य या मुद्रा विनिमय (exchange) की क्रिया को सरल बनाती है और समय की बचत करती है। साख विनिमय को अत्यधिक सरल कर देती है, तथा समय की कल्पनातीत बचत करती है। यही कारण है कि आधुनिक औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों मे विनिमय के साधारण माध्यम मुद्रा का महत्त्व कम होता जारहा है। वह केवल छोटे लेन-देन में काम आती है। क्रमशः विनिमय का माध्यम साख और साख पत्र बनते जारहे हैं।

साख के दोष : साख का सबसे बड़ा खतरा यह है कि व्यापार तथा उद्योग-धधों को उनकी सच्ची आवश्यकता से अधिक मात्रा मे साख की सुविधा मिलने की सम्भावना रहती है। विशेष रूप से जब व्यापार तेजी पर होता है, तो लोग अत्यधिक आशामय होजाते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि साख का प्रसार उचित सीमा के परे नहीं जाना चाहिए। फल यह होता है कि व्यवसायियों और व्यापारियों को जितनी साख मिलनी चाहिए उससे अधिक साख मिल जाती है, और वे उसका दुरुपयोग करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है, कि अत्युत्पादन (over production) होता है, आवश्यकता से अधिक पूँजी धधो और व्यापार मे लगाई जाती है तथा सट्टे (speculation) की प्रवृत्ति बढती है और अन्त मे यह व्यापारिक मदी और आर्थिक सकट मे परिणत हो जाता है। इससे उद्योग धधों तथा वाणिज्य को बहुत धक्का लगता है।

साख से दूसरी हानि यह होती है कि बहुत से व्यापारी और व्यवसायी साख के आधार पर अपनी वास्तविक आर्थिक निर्बलता को छिपाने मे सफल होजाते हैं। कारबार मे हानि होने पर भी कुछ समय तक साख के आधार पर काम चलता रहता है। अन्त में जब व्यापार या व्यवसाय में असफलता होती

है, तो उससे होने वाली हानि साख लेने वाले के अतिरिक्त साख देने वाले को भी होती है और उसका बुरा परिणाम समस्त व्यापारिक तथा व्यावसायिक जगत पर पड़ता है। बहुधा इससे भी आर्थिक सकट उत्पन्न होता है।

साख के कारण फिजूलखर्ची भी बढती है। जब साख (उधार रुपया या वस्तु) उपभोग के लिए ली जाती है तो यह फिजूलखर्ची का भय और भी बढ जाता है। भारतीय किसानों के कर्ज का एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि उनको महाजन से आसानी से ऋण मिल जाता है, जिसका कि वे दुरुपयोग करते हैं, उधार से मनुष्य में मितव्ययिता की आदत भी नष्ट होजाती है।

आधुनिक काल में साख की सुविधा होने से राष्ट्र की अधिकांश पूँजी थोड़े से पूँजीपतियों के पास इकट्ठी होजाती है। जिसका परोक्ष परिणाम यह होता है कि छोटी मात्रा का उत्पादन करने वाले कुटीर धधे मर जाते हैं और मजदूरों का शोषण होता है।

साख उद्योग-धंधों और व्यापार का जीवन स्रोत है। अतएव साख से होने वाली हानियों का ध्यान करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साख का आर्थिक व्यवस्था को ठीक ठीक लाभ उसी दशा में मिल सकता है, जब कि उस पर उचित नियत्रण रक्खा जावे और उसे दुरुपयोग से बचाया जाय। यह कार्य प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक (central bank) करता है।

साख पत्र (Credit Instruments) : यह तो हम ऊपर ही [illegible] चुके हैं, कि साख का कारबार साख-पत्रों के द्वारा होता है। साख-पत्र बहुत [illegible] के होते हैं। हम नीचे उनका सक्षिप्त विवरण देंगे।

चेक (Cheque) या धनादेश · यह शर्तरहित आज्ञा है [illegible] बैंक को दी जाती है जिसके द्वारा बैंक को एक निश्चित [illegible] विशेष अथवा उसकी आज्ञानुसार किसी व्यक्ति को अथवा [illegible] जाने वाले को माँगने पर देनी होती है।

ऊपर लिखी हुई चेक की परिभाषा का विश्लेषण [illegible] नीचे लिखे गुण मालूम पड़ते हैं — (१) यह शर्त [illegible] है। (२) वह एक लिखित पुर्जा होता है। (३) उस पर लिखने वाला [illegible] करता है। ( ) वह किसी बैंक विशेष पर ही काटा जाता है। (४) [illegible] होती है। (६) उसका भुगतान माँगने पर तुरन्त किया जाता है। [illegible] भुगतान उस व्यक्ति को जिसका उसमें नाम लिखा है अथवा [illegible] किसी अन्य व्यक्ति को अथवा उसे ले जाने वाले (bearer) को [illegible]

हुंडी पुर्जा जिसमें ऊपर लिखी हुई एक बात न हो [illegible]

चेक की किस्में : चेक विनिमयसाध्यता (negotiability) की दृष्टि से दो तरह के होते हैं। (१) धनी जोग या वाहक चेक (bearer cheque) और (२) शाह जोग चेक (order cheque)।

धनी जोग चेक (bearer cheque) : जो बिना बेचान (endorsement) किए ही विनिमय-साध्य (negotiable) बनाया जा सके। बेयरर चेक या धनी जोग चेक रखने वाला बैंक में जाकर उसका भुगतान माँग सकता है। इस चेक को चलाने के लिए उसे किसी आदमी को दे देना ही काफी है। जिसके पास बेयरर चेक होगा उसी को बैंक भुगतान दे देगा। यद्यपि कानून के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि जिसके पास चेक है उसका भुगतान लेते समय भुगतान लेने वाला हस्ताक्षर करे किन्तु व्यवहार में बैंक बिना हस्ताक्षर कराये रुपया नहीं देता।

आर्डर चेक या शाह जोग चेक (Order cheque) : वह है जिसे चलाने के लिए बेचान (endorsement) करना पड़ता है। जिसको यह चेक दिया जाता है वह उसका मालिक तब तक नहीं होता जब तक कि देने वाला हस्ताक्षर करके उसके पक्ष में बेचान (endorsement) नहीं कर देता। अतएव आर्डर चेक को चलाने के लिए केवल चेक को किसी को दे देना ही काफी नहीं है वरन् उसके पक्ष में बेचान करना भी आवश्यक है। यदि कोई चेक किसी व्यक्ति विशेष के पक्ष में काटा गया हो लेकिन उसके आगे (or bearer या or order) न लिखा हो—उदाहरण के लिए "Pay to Mr Rama Krishna" तो यह आर्डर या शाह जोग चेक माना जावेगा। आर्डर चेक को बेयरर चेक केवल चेक काटने वाला (drawer) ही बना सकता है। उसे इस परिवर्तन पर हस्ताक्षर करने होते हैं।

बेचान करना (Endorsement) : किसी विनिमय साध्य पुर्जे (negotiable instrument) अर्थात् चेक, हुन्डी, तथा प्रामिसरी नोट की पीठ पर हस्ताक्षर करने को बेचान करना (endorsement) कहते हैं। पुर्जे की पीठ पर हस्ताक्षर करने का उद्देश्य उसका स्वामित्व अन्य किसी को हस्तांतरित कर देना है। जो व्यक्ति पुर्जे की पीठ पर हस्ताक्षर करता है उसे बेचान करने वाला (endorser) और जिसके पक्ष में बेचान किया जाता है उसे (endorsee) कहते हैं पहला हस्ताक्षर रुपये पाने वाले (payee) का होता है।

बेचान का रूप : रकम पाने वाले (payee) को चेक पर उसी तरह अपने हस्ताक्षर करने चाहिये जिस तरह चेक काटने वाले ने उसका नाम

लिख हो। यदि लिखने वाले ने उसका नाम गलत लिखा हो तो भी उसे अपने हस्ताक्षर उसी तरह से करने चाहिए जैसा कि उसने लिखा हो। ऐसी दशा में यह अधिक अच्छा होगा कि हस्ताक्षर करने वाला पहले तो जैसा उसका नाम लिखा हो वैसे ही हस्ताक्षर करे और उसके नीचे जिस प्रकार वह हस्ताक्षर करता है वैसे हस्ताक्षर कर दे। यदि चेक पर वेचान (endorsement) ठीक नहीं होगा तो जिस बैंक पर वह काटा गया है उसका भुगतान करने से इनकार कर देगा।

वेचान की किस्में : चेकों पर साधारणत. चार तरह के वेचान होते हैं।

(१) कोरा या साधारण वेचान (blank or general endorsement)

(२) पूर्ण या विशेष वेचान (full or special endorsement)

(३) प्रतिवन्ध युक्त वेचान (restrictive endorsement)

(४) विना जिम्मेदारी के वेचान (sans recourse endorsement)

कोरा या साधारण वेचान · वह होता है जिसमें हस्ताक्षर करने वाला केवल अपने हस्ताक्षर कर देता है, और किसी व्यक्ति का नाम लिखकर उसको चेक हस्तान्तरित नहीं करता। इस प्रकार के वेचान का प्रभाव यह पड़ता है कि चेक वेयरर वन जाता है और उसको चलाने के लिए उस पर फिर हस्ताक्षर नहीं करने पड़ते। आर्डर चेक पर कोरा वेचान कर देने से वह वेयरर चेक वन जाता है।

पूरा या विशेष वेचान वह है जिसमें हस्ताक्षर करने वाला अपने हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त व्यक्ति का नाम भी लिख देता है जिसे वह चेक देना चाहता है।

उदाहरण के लिये .—Pay to Ram Lal or order
Shanker Sahai Saxena.

अब इस चेक पर फिर रामलाल के हस्ताक्षरों की आवश्यकता होगी, जब वह इसका भुगतान लेना चाहेंगे या और किसी को देना चाहेंगे।

प्रतिबंधयुक्त वेचान . यदि शकर सहाय सक्सेना इस चेक पर "केवल रामलाल को भुगतान कीजिए" (Pay to Ram Lal only) लिख दे तो

फिर रामलाल उसको आगे हस्ताक्षर करके नहीं चला सकते। इसे प्रतिबंधयुक्त बेचान कहते हैं।

बिना जिम्मेदारी के बेचान : जब बेचान करने वाला चेक के अस्वीकृत (dishonour) हो जाने पर उसकी जिम्मेदारी या दायित्व (liability) अपने ऊपर नहीं लेना चाहता, तो वह बिना जिम्मेदारी के बेचान करता है। उदाहरण के लिए :—

बिना जिम्मेदारी के	Sans Recourse
प्रेमनारायण	Prem Narain

या

Without Recourse to me
Prem Narain

रेखांकित चेक (Crossed cheques) —रेखांकित चेक वह होता है जिस पर दो समानांतर तिरछी रेखायें खिचीं हो। उसमे चाहे कुछ लिखा हो या कुछ भी न लिखा हो। इसका अर्थ यह होता है कि इस चेक का भुगतान केवल किसी बैंक को ही मिल सकता है। अर्थात् यदि किसी को रेखांकित चेक मिले तो उसे उस चेक का भुगतान प्राप्त करने के लिए उस चेक को किसी बैंक को देना होगा। अर्थात् रेखांकित चेक का भुगतान किसी बैंक के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। रेखांकन (crossing) दो प्रकार का होता है (१) साधारण (general) (२) विशेष (special)

साधारण रेखांकन (General Crossing) : वह होता है कि जिसमें चेक पर दो तिरछी समानांतर रेखाएँ खिचीं हों और उनके अन्दर या तो कुछ नहीं लिखा जाता या "& Co" इत्यादि शब्द लिखे जाते हैं। इस तरह के रेखांकन का अर्थ यह होता है कि उस चेक का भुगतान किसी बैंक को ही दिया जा सकता है, किसी व्यक्ति को उसका भुगतान नहीं किया जावेगा। पाने वाला (Payee) उस चेक का भुगतान बैंक में जाकर स्वयं नहीं पा सकता। उसे इस प्रकार का चेक किसी बैंक को देना होगा वही उसका भुगतान पा सकेगा। क्योंकि चेक कानूनन ग्राह्य (Legal Tender) नहीं है, इस कारण पाने वाला (Payee) रेखांकित चेक लेना अस्वीकार कर सकता है।

रेखांकन के उदाहरण

साधारण रेखांकन

& Co

Not Negotiable

A/C Payee only
Not Negotiable
& Co

विशेष रेखांकन

United Commercial Bank, Ltd

The Bharat Bank Ltd

Not Negotiable, Jaipur Bank L'd

A/C Payee only
The Imperial Bank of India

Bareilly Corporation Bank L'd A/C
New Standard Bank Ltd

विशेष रेखांकन (special crossing) : वह होता है जिसमें दो तिरछी रेखाओं के बीच में किसी बैंक विशेष का नाम दे दिया गया हो। इसका अर्थ यह है कि चेक का भुगतान नामांकित बैंक के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। जिस बैंक पर चेक काटा गया है, वह इस प्रकार के चेक का भुगतान केवल उसी बैंक को करेगा जिसका नाम रेखाओं के बीच में किया गया है। अधिकतर इस प्रकार का रेखांकन पाने वाले के अनुरोध पर किया जाता है, जिसमें चेक अधिक सुरक्षित हो जावे।

(& co).—रेखाओं के बीच में इन शब्दों के लिखने का कोई महत्त्व नहीं है। यह केवल एक पुरानी परिपाटी है जो आज भी प्रचलित है।

अविनिमय साध्य (Not Negotiable) :—"not negotiable" शब्द साधारण रेखांकन और विशेष रेखांकन दोनों में ही काम आता है। इनके लिख देने से चैक की विनिमय साध्यता की सीमा निर्धारित हो जाती है। जिस चेक पर अविनिमय साध्य रेखांकन (not negotiable crossing)

हो वह केवल उन्हीं के हस्तान्तरों से हस्तान्तर किया जा सकता है जो जाने बूझे हों। इस रेखांकन का अर्थ यह है कि जिसके नाम यह चैक हस्तान्तर किया जावेगा उसका अधिकार (title) हस्तान्तर करने वाले (transferer) से किसी भी प्रकार अच्छा नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यदि हस्तान्तर करने वाले का अधिकार दूषित है तो जिसे चैक हस्तान्तर किया जायेगा उसका भी अधिकार दूषित होगा। इसके विपरीत साधारणतः यदि कोई व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति से विनिमय साध्य पुर्जा (negotiable instrument) नेकनीयती से मूल्य देकर ले लेता है, तो उसका उस चैक पर दोष रहित अधिकार (good title) होगा फिर चाहे जिस व्यक्ति से उसने चैक लिया हो।

केवल पाने वाले के हिसाब में जमा करो (Account Payee Only): यह भुगतान वसूल करने वाले की बैंक को आज्ञा है कि वह इस चैक का रुपया वसूल करके पाने वाले के हिसाब में ही जमा करे, उसे नकद रुपया न दे।

खुला चैक (Open Cheque) : जो चैक रेखांकित नहीं होता उसे खुला चैक कहते हैं। चैक को रेखांकित करने का उद्देश्य यह होता है कि यथार्थ पाने वाले (payee) को ही रुपये का भुगतान हो। खुला चैक बैंक में ले जाने पर उसका भुगतान दिया जाता है। इसलिए यदि खुला चैक चोरी चला जावे तो उस पर कोई रोक-थाम नहीं होती। जब चैक डाक से भेजा जावे तो उसे अवश्य रेखांकित कर देना चाहिए।

रेखांकन कौन कर सकता है चैक काटने वाला (drawer) अथवा अन्य कोई व्यक्ति जिसे वह चैक मिले उसे साधारणतः अथवा विशेष रेखांकित कर सकता है। यदि कोई चैक साधारणतः रेखांकित (crossed generally) हो तो अगला व्यक्ति उस पर विशेष रेखांकन (special crossing) कर सकता है। यदि चैक पर विशेष रेखांकन हो तो अगला व्यक्ति उसमें "not negotiable" शब्द जोड़ सकता है। परन्तु यदि चैक पर विशेष रेखांकन किया गया हो तो वह बैंक जिसके पक्ष में रेखांकित किया है अपने एजेंट दूसरे बैंक के नाम उस चैक को विशेष रूप से रेखांकित कर सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि कानून के द्वारा विशेष रेखांकन (special crossing) दुबारा केवल उस दशा में हो सकता है जब कि एक बैंक अपने एजेंट दूसरे बैंक के पक्ष में उसे करता है।

यदि बैंक रेखांकन की परवाह न करे, रेखांकित चैक का रुपया गलती से किसी अन्य पुरुष को दे दे, तो वह चैक के असली स्वामी के प्रति उत्तरदायी होगा। यदि रेखांकित चैक पाने वाले का बैंक में कोई हिसाब नहीं है, तो चैक

ी रकम प्राप्त करने के लिए उसे चाहिए कि वह अपने हस्ताक्षर द्वारा उसके वामित्व को किसी ऐसे व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दे जिसका हिसाब किसी क में हो।

बैंक का चैक पर चिह्न (Bankers Mark on Cheques): जब कोई चैक जो भुगतान के लिए बैंक में लाया गया हो लेकिन बैंक उसका भुगतान करना अस्वीकार कर दे तो उस चैक पर अस्वीकार करने के कारणों का उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार के चिह्न वापस किये जाने वाले चैक के सिरे पर बाईं तरफ लिखे जाते हैं। भिन्न-भिन्न चिह्नों के विषय में यहाँ कुछ लिखना आवश्यक है।

(१) R/D चैक काटने वाले से पूछिये (Refer to Drawer) - यह चिह्न तब लिखा जाता है, जब कि चैक काटने वाले के हिसाब में यथेष्ट रुपया नहीं होता।

(२) भुगतान रोक दिया (Payment Stopped) :—यदि चैक काटने वाला चैक काटने के उपरान्त बैंक को यह सूचित कर दे कि उक्त चैक का भुगतान न किया जाय, तब बैंक उस चैक पर यह चिह्न लगा कर वापस कर देगा।

(३) Effects not cleared :—उस समय लिखा जाता है जब कि वापस किये जाने वाले चैक के काटने वाले ने जो चैक इत्यादि जमा किए हैं, उनका रुपया अभी तक बैंक ने वसूल नहीं कर पाया है और चैक काटने वाले के हिसाब में चैक का भुगतान करने के लिए यथेष्ट रुपया नहीं है।

(४) अगली तारीख वाले चैक (Post dated cheque) .—जिस चैक पर अगली तारीख पड़ी है उस पर post dated cheque लिख कर वापस कर दिया जाता है।

(५) पुराना चैक (Out of date) .—जो चैक ६ महीने से अधिक पुराना है, उस पर पुराना चैक (out of date) लिख कर वापस कर दिया जाता है।

(६) चैक लिखने वाले के हस्ताक्षर नहीं मिलते :—यदि चैक काटने वाले के हस्ताक्षर नहीं मिलते तो चैक "Drawer's Signatures differ" लिख कर वापस कर दिया जाता है।

(७) बेचान को प्रामाणिकता की आवश्यकता है (Endorsement requires confirmation) :—जबकि किसी चैक पर बेचान ठीक

न हो तो बैंक उस पर ऊपर लिखा चिह्न लगाकर वापस भेज देता है।

(८) परिवर्तन की प्रामाणिकता की आवश्यकता है (Alteration requires confirmation) :—यदि कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन चैक में किया जाय और उस पर हस्ताक्षर न हो, तो बैंक उस पर ऊपर लिखा चिह्न लगाकर वापस भेज देगा।

सुपुर्दगीदार के नाम अदालत का हुक्म (Garnishee order): यदि बैंक के ग्राहक पर डिगरी हो गई हो और डिगरी से देनदार (judgment debtor) हो तो अदालत उसके बैंक एकाउंट पर कानूनी रोक लगा सकती है और बैंक को आज्ञा दे सकती है कि वह उसके द्वारा कटे हुए चैकों का भुगतान रोक दे। इस प्रकार की आज्ञा को अदालत की आज्ञा (garnishee order) कहते हैं।

पुराना चैक (Stale Cheque) : जो चैक ६ महीने से अधिक पुराना हो उसे पुरना चैक (stale cheque)) कहते हैं। इस प्रकार के चैक का बैंक विना चैक काटने वाले (drawer) से पूछे भुगतान नहीं करेगा।

चिह्नित या प्रमाणित चेक (Marked cheque) वह होता है जिस पर बैंक हस्ताक्षर कर देता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि जिस दिन चैक बैंक के हस्ताक्षरों के लिए उपस्थित किया गया था, उस दिन चैक काटने वाले के हिसाब में यथेष्ट रुपया था। चैक काटने वाले (drawer), दूसरे बैंक या चैक जिसके पास है (holder) उसकी प्रार्थना पर चिह्नित (mark) किया जा सकता है। यह निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि यदि इस प्रकार का चिह्नित या प्रमाणित चैक उचित समय के अन्दर भुगतान के लिए उपस्थित नहीं किया जाता तो बैंक उस चैक के भुगतान के लिए रुपया अलग रख लेने के लिए विवश है।

फटा या विकृत चैक (Mutilated Cheque) · फटा या विकृत चैक वह होता है जो कि फट गया हो। इस प्रकार का चैक बैंक द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता, जब तक कि उसके सिरे पर "अकस्मात-फट गया" (accidently torn) न लिख लिया जावे और उस पर हस्ताक्षर न कर दिये जावें।

बैंक ड्राफ्ट (Bank-Draft) : बैंक ड्राफ्ट एक चैक है जो बैंक अपनी शाखाओं अथवा अन्य बैंकों पर काटता है। उस चैक में अर्थात् बैंक ड्राफ्ट में उल्लिखित व्यक्ति को एक निश्चित रकम देने की प्रार्थना करता है। बैंक ड्राफ्ट द्वारा रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से भेजा जा सकता है। उसका उपयोग वे लोग भी करते हैं जिनका बैंक में हिसाब नहीं होता। यदि किसी

यक्ति को पटना से कलकत्ता कुछ रुपया भेजना हो तो वह उतनी रकम तथा बैंक का कमीशन देकर कलकत्ते के किसी बैंक पर बैंक ड्राफ्ट ले सकता है। साथ ही बैंक ड्राफ्ट में जालसाज़ी की भी कोई सम्भावना नहीं होती, क्योंकि जिस बैंक पर ड्राफ्ट लिखा जाता है उसको रकम से पहले ही सूचित कर दिया जाता है।

यदि कोई व्यक्ति—जिसका बैंक एकाउण्ट हो—अपने किसी लेनदार (creditor) को रुपया अदा करना चाहे तो वह चैक काट कर उसके पास भेज सकता है। लेकिन जिसका बैंक एकाउण्ट नहीं है वह ऐसा नहीं कर सकता। लेकिन वह बैंक ड्राफ्ट खरीद कर अपने लेनदार के पास भेज सकता है। जब देश के अन्दर बैंक ड्राफ्ट खरीदा जाता है तो प्रति सैकड़ा थोड़ा सा कमीशन (२ आने) बैंक को देना पड़ता है। लेकिन विदेशों के लिए बैंक ड्राफ्ट खरीदते समय कमीशन विनिमय दर (exchange rate) में ही सम्मिलित कर लिया जाता है।

तार की हुँडी (Telegraphic Transfer) : बैंकों के द्वारा द्रव्य टैलीग्रैफिक ट्रांसफर अर्थात् तार की हुँडी के जरिये भी विदेशों को भेजा जाता है। द्रव्य भेजने वाला रकम, कमीशन, और भेजने का व्यय बैंक के पास जमा कर देता है, और बैंक अपनी शाखा अथवा दूसरे किसी बैंक को बिल द्वारा सूचित कर देता है कि उतनी रकम रुपया जमा करने वाले द्वारा बतलाये हुए व्यक्ति को दे दी जाय।

बैंक ऋण और ओवर ड्राफ्ट (Bank Loans and Over Draft) . व्यापार में व्यापारी को किसी विशेष सौदे के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ सकती है, या फिर अपने बढ़ते हुये व्यापार को सभालने के लिए उसे अधिक पूँजी की आवश्यकता हो सकती है। यदि उसके पास अधिक द्रव्य न हो तो उसे ऋण लेना पड़ सकता है। वह उस दशा में अपने बैंक से ऋण ले सकता है। यदि वह ऋण के लिये यथेष्ट जमानत दे सके तो उसे ऋण मिलने में तनक भी कठिनाई न होगी।

बैंक से ऋण लेने के दो तरीके हैं :—

(१) एक तरीका यह है कि बैंक व्यापारी के चालू खाते (current account) में उतनी रकम जमा करदे और उसके नाम से एक ऋण खाता (loan account) खोल कर उसमें उतनी रकम नामें (debit) मढ़ दे। ऐसी दशा में पूरे ऋण पर सूद लिया जाता है।

(२) दूसरा तरीका यह है कि व्यापारी बैंक से यह तय कर ले कि व्यापारी अपने चालू खाते पर उतनी रकम तक चैक काट सकेगा, जितनी तय

हो चुकी है (यह रकम उसके रुपये जो कि चालू खाते में जमा हो उसके ऊपर होगी); सूद प्रतिदिन के बैलेंस पर लगाया जाता है। यह बैंक ओवर ड्राफ्ट कहलाता है। ओवर ड्राफ्ट का अर्थ यह है कि व्यापारी ने जितनी रकम के चैक (अपनी जमा की हुई रकम के ऊपर) काटे हैं और बैंक ने उसका भुगतान किया है उतनी रकम के लिए व्यापारी बैंक का ऋणी है।

साख पत्र (Letter of Credit) : यह एक पत्र होता है जो एक बैंक दूसरे बैंक अथवा एक से अधिक बैंकों को लिखता है जिसमें बताये हुए व्यक्ति को एक निश्चित रकम देने की प्रार्थना होती है। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य स्थान को जाये और साथ मे रुपया न रखना चाहे तो वह किसी भी स्थानीय बैंक को उतनी रकम तथा कमीशन देकर उस स्थान के किसी बैंक के नाम एक साख पत्र ले सकता है जहाँ कि वह जा रहा है। जबकि साख पत्र कई बैंकों के नाम होता है, जो कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर हों तो जो भी बैंक जितना रुपया देना है उस साख पत्र पर लिख देता है, और जब वह व्यक्ति अन्य स्थान के बैंक के पास जाता है तो जितना रुपया वह बैंक देता है उस पर लिख देता है। इस प्रकार जब तक वह रकम जो कि साख पत्र में लिखी है पूरी नहीं हो जाती तब तक वे बैंक जिनके नाम साख पत्र लिखा गया है उस व्यक्ति को रुपया देते रहेंगे। साख पत्र का अधिकतर उपयोग तब होता है जब कोई व्यक्ति देश में अथवा विदेशों में भ्रमण करता है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है।

बिल (Bill) : बिल एक लिखित पुर्जा होता है। जिसमें किसी व्यक्ति विशेष को शर्त रहित आज्ञा होती है, कि वह एक निश्चित रकम उल्लिखित व्यक्ति या उसकी आज्ञानुसार किसी दूसरे व्यक्ति या उस पुर्जे के वाहक (bearer) को दे दे। उस पुर्जे पर लिखने वाले के हस्ताक्षर होते हैं।

बिल से सम्बन्धित चार पक्ष होते हैं :—(१) लिखने वाला (drawer) —जो व्यक्ति ड्राफ्ट लिखता है अर्थात् लेनदार (creditor) अथवा विक्रेता। (२) जिस पर बिल लिखा जाय (drawee)—जिस व्यक्ति को भुगतान करने की आज्ञा दी जावे अर्थात् देनदार (debtor) या खरीददार। (३) पाने वाला (payee)—जिस व्यक्ति के पक्ष में बिल लिखा जाय या जिसे भुगतान मिलने वाला हो (अर्थात् लिखने वाले का लेनदार), या स्वयं लिखने वाला जबकि वह बिल पर "बिल का भुगतान मुझे किया जाय" ऐसा लिख देता है। (४) रखने वाला (holder)—वह या तो पाने वाला (payee) हो सकता है अथवा जिसके नाम बेचान किया गया हो।

किस्में : बिल दो प्रकार के होते हैं, देशी (inland) और विदेशी (foreign)। देशी बिल वह है जो किसी एक देश में ही लिखा जाय और उसी देश के रहने वाले किसी व्यक्ति पर किया जाय। जो बिल किसी अन्य देश के रहने वाले पर किया जाता है, वह विदेशी बिल (foreign bill) कहलाता है।

देशी बिल का नमूना

Rs 275-0-0 Calcutta,

|6 annas| 1st January, 1948.

Three months after date, pay to our order a sum of rupees two hundred and seventy five only, value received

Mr. Bhola Dutta,
Harding Road,
Delhi,

Per Pro. Bengal Paper Mills Co. Ltd.
Edward Jaies,
Director.

विदेशी बिल का नमूना

(First of Exchange)

55-3-2 Parker Street, Kingsway,

|9 d| London, the 9th Jan , 1947.

Ninety days after sight of the First of Exchange (Second and third of the same tenure and date unpaid) pay to the National Bank of India Ltd , the sum of fifty five pounds, three shilling, and two pence, value received.

Per Pro Longmans & Co. Ltd.,
Henry Anderson,
Manger.

P. S

In case of need apply to Messrs Martin & Co London, for honour of Longmans & Co. Ltd

To

Messrs Ram Narain Lal,
2, Katra Road,
Allahabad

हुण्डी : बिल के समान ही होती है। उसका उपयोग बाजार के व्यापारी तथा सर्राफ बहुत करते हैं। इसका चलन व्यापारिक रीति-रिवाज के अनुसार होता है। हुण्डी दो प्रकार की होती है :—(१) दर्शनी हुण्डी जिसका भुगतान माँगने पर किया जाता है। (२) मिती हुण्डी जिसका भुगतान देखने के उपरान्त कुछ दिनों बाद या निश्चित तारीख के बाद होता है। मिती हुण्डी अधिकतर देखने के ६१ दिन के बाद भुगतान के लिए दी जाती है। मिती हुण्डी पर रियायती दिन (days of grace) उस स्थान के रिवाज के अनुसार दिए जाते हैं। हुण्डी अधिकतर मुड़िया में लिखी जाती है।

दर्शनी हुण्डी का नमूना

सिद्ध श्री कानपुर शुभस्थान श्री पत्री भाई हर प्रसाद बाल मुकुन्द जोग लिखी प्रयाग जी से वशीधर हरिश्चन्द्र की राम राम वचना। आगे हुण्डी कीनी आप ऊपर दिया रुपया ५०० आँकड़े पाँच सौ के निमा दो सौ पचास के दूने पुरे देना। यहाँ राखा भाई दी सैन्ट्रल बैंक आव इण्डिया लिमिटेड, इलाहाबाद वाले के मिती फागुन वदी २ से पहुँचे दाम धनी-जोग बिना जवता बाजार चलन हुण्डी की रीति ठिकाने लगाय दाम चौकस कर देना। फागुन वदी २, १९९८।

अर्थ यह हुण्डी इलाहाबाद (प्रयाग जी) के वशीधर हरिश्चन्द्र ने कानपुर के हरप्रसाद बालमुकुन्द पर ५०० रु० के लिए की है। सैन्ट्रल बैंक आव इन्डिया लि० के मांगने पर फागुन वदी २, सम्वत् १९९८ के बाद इसका भुगतान कर देना होगा।

मिती हुण्डी का नमूना

|४-४-०
|म्प

सिद्ध श्री वरेली शुभ स्थान रामचन्द्र शिवचरन लाल लिखी देहली से गजीवनराम की राम राम वचना। अपरञ्च हुण्डी एक रुपया ५, ५०० आकड़े वपन सौ जिसका निमा रुपया सत्ताइस सौ पचास का दूनो पुरा देना। अठे खा दि इलाहावाद वैंक लिमिटेड पास मिती सावन सुदी दसमी (१०) से दिन कसठ पीछे नामे साह जोग हुण्डी चलन कल्दार दीजौ। मिती सावन सुदी समी (१०) सम्वत् १९९८।

अर्थ: यह हुण्डी देहली के जगजीवन राम ने वरेली के रामचन्द्र शिव-रन लाल पर ५, ५०० रुपए के लिए की है। हुण्डी का भुगतान इलाहावाद क लिमिटेड को सावन सुदी १० सम्वत् १९९८ से ६१ दिन वाद करना होगा।

जाली चैक के सम्वन्ध में बैंक का उत्तरदायित्व: (१) जो बैंक किसी ऐसे चैक का भुगतान कर देता है जिसकी रकम वढा दी गई हो, या ऐसे कि का भुगतान कर देता है जिस पर हस्ताक्षर जाली हैं, तो बैंक अपने हिसावदार के हिसाव से वह रकम वसूल नहीं कर सकता, जव तक कि (अ) रिवर्तन पर उसके हस्ताक्षर न हों, (व) अथवा चैक काटने वाले ने ऐसी ापरवाही की हो जिसके कारण वह जालसाज़ी सम्भव हो सके।

(२) यदि वेचान (endorsement) जाली हो और वैंक उसका भुगतान कर दे तो वह उस हानि के लिए ज़िम्मेदार न होगा। वैंक को प्रत्येक व्यक्ति के हस्ताक्षर की जानकारी नहीं हो सकती। इसलिए यदि वेचान जाली हो और वैंक उसे विना जाने भुगतान कर दे तो वह उतना रुपया हिसावदार के हिसाव से ले सकता है।

चैक का अत्यन्त सुरक्षित रूप. यदि कोई व्यक्ति ऐसा चैक काटना चाहता है जिससे रकम पाने वाले को ही रुपया मिले तो उस पर विशेष रेखांकन कर देना चाहिए, और उस पर "Not Negotiable" और "Account Payee Only" शब्द लिख देने चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम रामसहाय अग्रवाल के नाम चैक काटना चाहते हैं जिसका कि हिसाव "इलाहावाद वैंक लिमिटेड" में है तो चैक का सवसे सुरक्षित रूप नीचे लिखा होगा —

Not Negotiable
Account Payee Only
The Allahabad Bank Ltd.

यह चैक रामसहाय अग्रवाल के अतिरिक्त और किसी के काम का नहीं है।

चैक द्वारा भुगतान करने से लाभ : चैक देश भर में एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने का सस्ता साधन है। जिस भुगतान के सम्बन्ध में कोई झगड़ा उठ खड़ा हो, तो यह एक गवाही का काम देता है। क्योंकि उसका भुगतान बैंक के द्वारा होता है। इसके द्वारा आपसी लेन-देन तय हो जाता है और नकद रुपया लेना-देना नहीं पड़ता।

परिच्छेद ३२

मुद्रा का मूल्य (Value of Money)

देशनांक (Index Number)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ : मूल्य के सम्बन्ध मे चर्चा करते समय हमने लिखा था कि यदि मुद्रा का मूल्य स्थिर न रहे तो आर्थिक जगत में बहुत गड़बड़ फैल सकती है, तथा व्यापार और उद्योग-धंधों को बहुत धक्का लग सकता है। अब हम यहाँ मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। 'मुद्रा का मूल्य' वाक्य का बहुत से अर्थों में व्यवहार किया जाता है। इसका एक अर्थ सूद की दर (interest rate) अथवा बट्टे की दर (discount rate) से होता है, जो कि वास्तव में द्रव्य को लम्बे या थोड़े समय के लिए उधार देने पर मिलने वाला पुरस्कार है। बहुधा इस वाक्य का प्रयोग एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में क्या मूल्य होगा इसको व्यक्त करने के लिए किया जाता है। इसको साधारणतया 'विनिमय की दर' (exchange rate) कहते हैं। जिसके सम्बन्ध में हम विदेशी विनिमय के अध्याय में लिखेंगे। किन्तु यहाँ हमारा अर्थ मुद्रा के मूल्य से यह है, कि मुद्रा के बदले हमे कितनी वस्तुएँ या सेवायें मिल सकती हैं। इस अर्थ में द्रव्य का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य (value) के समान ही है। जबकि वस्तुओं के लिए पहले से अधिक द्रव्य लिया जाता है तब हम कहते हैं कि वस्तुओं का मूल्य बढ गया। उदाहरण के लिए यदि गेंहू दस रुपए मन से १६ रुपए मन हो जावे अथवा कपड़ा आठ आने गज से एक रुपया गज हो जावे तो हम कहेंगे कि गेंहू और कपड़े का मूल्य बढ गया। ठीक उसी तरह जब कि द्रव्य या मुद्रा की अमुक इकाई के बदले पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ मिलने लगें तो हम कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य बढ गया है। उदाहरण के लिए यदि पहले एक रुपए का चार सेर गेहूँ अथवा दो गज कपड़ा मिलता था और अब एक रुपए का पाँच सेर गेहूँ अथवा चार गज कपड़ा मिलने लगे, तो हम कहेंगे कि मुद्रा (रुपए) का मूल्य बढ़ गया है। कहने का तात्पर्य यह कि वस्तुओं का मूल्य मुद्रा मे नापा जाता है, और मुद्रा के मूल्य मे होने वाला परिवर्तन साधारण कीमतो (prices in general) के उतार-

चढाव से नापा जाता है। यदि वस्तुओं की कीमतें ऊँची हो जाती हैं, तो हम कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य कम होगया, और यदि साधारणतया सभी वस्तुओं की कीमतें नीचे गिरती हैं, तो मुद्रा का मूल्य ऊँचा उठता है। वस्तुओं की कीमतों के उतार-चढाव को हम साधारण मूल्य स्तर में परिवर्तन कहते हैं, अथवा द्रव्य की क्रयशक्ति (purchasing power of money) में वृद्धि या कमी होना कहते हैं। कीमतें (prices) मुद्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों के अनुपात को कहते हैं, जो मुद्रा में अथवा वस्तुओं में परिवर्तन होने पर बदल जाती है।

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन का महत्त्व : मुद्रा के मूल्य में अर्थात क्रय शक्ति में परिवर्तन होने से आर्थिक जगत पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि आज के पेचीदा आर्थिक संगठन में कोई व्यापारिक सौदा तुरन्त ही तय अथवा समाप्त नहीं हो जाता है। आज का व्यापारिक सौदा भी एक पेचीदा और लम्बा क्रिया है जो कि लम्बे समय में जाकर तय होता है। अधिकाश सौदे एक प्रसविदा या इकरारनामा (contract) होते हैं जो कि मुद्रा में किए जाते हैं। उनका परिशोधन या तसफिया भिन्न भिन्न समय में होता है। यदि इस बीच मे ही मुद्रा के मूल्य में अथवा क्रयशक्ति में परिवर्तन हो जावे तो एक पक्ष को भारी हानि और दूसरे को लाभ हो जावेगा। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि मुद्रा की क्रयशक्ति (purchasing power) में होने वाले परिवर्तन को ठीक-ठीक जान लिया जावे, जिससे कि भविष्य में जिन रकमों का भुगतान करना है उनका उचित मूल्य निर्धारित किया जा सके, देनदारों (debtors) या लेनदारों (creditors) को जो इस परिवर्तन से हानि होगी उसका निवारण किया जासके। मजदूरों, तथा निश्चित लगान (rent) या सूद (interest) पाने वालों को मुद्रा की क्रयशक्ति के कम हो जाने से होने वाली आर्थिक हानि से मुक्ति दी जा सके। जब मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाती है तो निश्चित आय वालों को बहुत हानि होती है। उनकी वास्तविक मजदूरी या वेतन बहुत कम हो जाती है। जब हम भिन्न-भिन्न समय पर मुद्रा की क्रयशक्ति की तुलना करते हैं, तो उससे हमें भिन्न भिन्न वर्गों की आर्थिक दशा का ठीक ज्ञान हो सकता है और हमें यह भी ज्ञात होता है कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा उठ रहा है, अथवा नीचे गिर रहा है। कुछ उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति को ५० रुपए मासिक वेतन मिलता है। वह उन पचास रुपयों से अपने और अपने परिवार के लिए केवल अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओं को खरीद सकता है। यदि

वस्तुओं की कीमत ऊँची हो जावे अथवा यों कहें कि मुद्रा का मूल्य या क्रयशक्ति घट जावे, तो वह पहले की अपेक्षा कम वस्तुओं को खरीद सकेगा और उसके परिवार को जीवन के लिए कुछ आवश्यक वस्तुओं के बिना रहना होगा। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति किसी को पाँच सौ रुपए उधार देता है, जबकि वस्तुओं की कीमतें कम हैं और उस समय उसको वे पाँच सौ रुपए वापस मिलते हैं कि जब वस्तुओं की कीमतें बहुत ऊँची होगई हों तो वास्तव में उसको कम क्रयशक्ति मिलती है, अथवा कम वस्तुएँ वापस मिलती हैं। उसने जितनी क्रयशक्ति अथवा वस्तुएँ उधार दी थीं उससे बहुत कम क्रयशक्ति या वस्तुएँ वापस मिलती हैं। अर्थात् उसे घाटा रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब द्रव्य की क्रयशक्ति अथवा मूल्य में परिवर्तन होता है, तो भिन्न-भिन्न वर्गों पर उसका भिन्न प्रभाव होता है। कुछ को लाभ होता है तो कुछ को हानि होती है। उदाहरण के लिए मुद्रा का मूल्य या क्रयशक्ति कम हो जाने पर निश्चित आय वाले व्यक्तियों को हानि होती है। यदि मुद्रा का मूल्य अधिक होजावे अथवा उसकी क्रयशक्ति बढ जावे तो निश्चित आय वालों को लाभ होता है। मुद्रा का मूल्य कम होने पर लेनदारों (creditors) को हानि होती है तथा देनदारों (debtors) को लाभ होता है। इसी प्रकार यदि मुद्रा का मूल्य बढ जावे तो लेनदारों को लाभ होगा और देनदारों को हानि होगी।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होगया होगा कि मुद्रा के मूल्य या क्रयशक्ति मे होने वाले परिवर्तनों को जानना नितान्त आवश्यक है। तभी हम भिन्न-भिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और इस परिवर्तन से होने वाली हानि का निराकरण कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने की यह है कि जब हम कहते हैं कि द्रव्य का मूल्य या क्रयशक्ति घटी तो दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि साधारण कीमतें (वस्तुओं की) ऊँची होगई और जब हम कहते हैं कि मुद्रा का मूल्य या क्रयशक्ति बढ़ी तो इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं की कीमतें गिर गई।

कीमतों के परिवर्तन को नापने की रीति : कीमतों के परिवर्तन और द्रव्य की क्रयशक्ति को नापने की एकमात्र रीति देशनाकों (index numbers) के द्वारा इस परिवर्तन को मालूम करना है। देशनाक हमें देखते ही बतला देते हैं कि सब मिलाकर वस्तुओं की कीमत में कितना परिवर्तन हुआ है। दूसरे शब्दों में हम देशनाकों के द्वारा मूल्य-स्तर को जान सकते हैं। यही नहीं कि देशनाकों से हमें साधारण मूल्य-स्तर की जानकारी होती है वरन् हमें यह भी ज्ञात हो सकता है कि अमुक वस्तु की कीमत में कितना हेर-फेर हुआ है।

देशनांक हमें द्रव्य या मुद्रा (money) के मूल्य अथवा उसकी क्रयशक्ति में होने वाले परिवर्तन भी बतलाते हैं। देशनांक वह संख्या है जो किसी वस्तु विशेष अथवा वस्तुओं के समूह की कीमत को किसी चुनी हुई तारीख या समय (जो आधार कहलाती है) पर प्रकट करती है यह वह माप होता है, जिससे हम उसी वस्तु अथवा वस्तु-समूह की बाद की किसी तारीख पर प्रचलित कीमत से तुलना करके यह मालूम करते हैं, कि उन दो तारीखों में जहाँ तक उन वस्तुओं का प्रश्न है द्रव्य के मूल्य में क्या परिवर्तन होता है।

कल्पना कीजिए कि हम गेहूँ, कपड़ा, शक्कर, घी और लकड़ी को चुनते हैं, और हम यह जानना चाहते हैं कि जहाँ तक इन वस्तुओं का प्रश्न है द्रव्य या मुद्रा (money) का मूल्य अगस्त १९३९ से कितना बदल गया। हम यह मान लेते हैं कि गेहूँ की कीमत ४ रु० प्रति मन से बढ़ कर १६ रु० मन हो गई, कपड़ा आठ आना गज से बढ़कर डेढ़ रुपए गज हो गया, शक्कर १६ रु० मन से ४० रु० मन हो गई, घी ७० रु० मन से २१० रु० मन हो गया और लकड़ी एक रुपए मन से ढाई रुपए मन हो गई। हमने ऊपर जो उदाहरण लिया है उसमें प्रत्येक वस्तु की कीमत बढ़ी है। किन्तु ऐसे भी उदाहरण हो सकते हैं कि जिनमें कुछ वस्तुओं की कीमत बढ़ी हो और कुछ वस्तुओं की कीमत घटी हो। ऊपर के उदाहरण में क्योंकि सभी वस्तुओं की कीमत बढ़ी है, इसलिए मुद्रा का मूल्य—जहाँ तक इन वस्तुओं का प्रश्न है—घटा है। परन्तु ऊपर के उदाहरण में यह स्पष्ट है कि कीमतों की वृद्धि एक समान नहीं है किसी वस्तु की कीमत ज्यादा बढ़ी है तो किसी की कम बढ़ी है। फिर यह भी सम्भावना हो सकती है कि हम ऐसे उदाहरण लें जिनमें कुछ वस्तुओं की कीमत घटी भी हो। अस्तु, यदि हमें यह मालूम करना हो कि मुद्रा का मूल्य—जहाँ तक इन वस्तुओं का प्रश्न है—बढ़ा है या घटा है, और यदि बढ़ा है या घटा है तो कितना घटा या बढ़ा है, तो इसी को हम देशनांक (index number) कहेंगे। देशनांक जानने के लिए हम १९३९ में प्रत्येक वस्तु की कीमत को १०० का मूल्य देंगे और उसे पुराना देशनांक कहेंगे और उसी वस्तु की १९५१ की कीमत को प्रतिशत वृद्धि या कमी के साथ प्रकट करेंगे, और उसे नवीन देशनांक कहेंगे। नवीन देशनांकों के योग को यदि हम वस्तुओं की संख्या से भाग दें तो हमें १९५१ का औसत ज्ञात हो जावेगा। आधार वर्ष (१९३९) के देशनांक १०० और नवीन देशनांक में जितना भी अन्तर होगा वही मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को व्यक्त करेगा।

हम देशनांक निकालने की इस विधि को नीचे लिखी सारिणी table) से अच्छी तरह समझा सकते हैं। इसे हम देशनांक सारिणी कहेंगे।

नीचे दी हुई सारिणी (table) से यह स्पष्ट हो जाता है कि कीमतों ा स्तर (general price level) ऊँचा होगया है। जहाँ १९३९ में ाधारण कीमतों का स्तर १०० था, १९५१ में वह ३०० होगया। इसका अर्थ यह हुआ कि कीमतें २०० प्रतिशत बढ गई, दूसरे शब्दों में १९३९ में १०० रु० इन वस्तुओं की जितनी राशि खरीदते थे उतनी ही राशि १९५१ में खरीदने के लिए ३०० रु० चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा का मूल्य अथवा क्रयशक्ति पहले की अपेक्षा एक तिहाई रह गई।

वस्तुएँ	१९३९		१९५१	
	कीमतें	पुराना देशनाक	कीमतें	नया देशनाक
गेहूं	४ रु० मन	१००	१६ रु० मन	$\frac{१०० \times १६}{४} = ४००$
कपड़ा	८ आने ग.	१००	डेढ रु० गज	$\frac{१०० \times ६}{२} = ३००$
शक्कर	१६ रु मन	१००	४० रु० मन	$\frac{१०० \times ४०}{१६} = २५०$
घी	७० रु मन	१००	२१० रु० मन	$\frac{१०० \times २१०}{७०} = ३००$
लकड़ी	१ रु० मन	१००	२½ रु० मन	$\frac{१०० \times ५}{२} = २५०$
देशनाक Index Number–	५) $\frac{५००}{१००}$			५) $\frac{१५००}{३००}$

ठीक देशनाक निकालने में कठिनाइयाँ : हमने जो ऊपर एक काल्पनिक देशनाक सारिणी दे दी उससे यह न समझ लेना चाहिए कि देशनाक

निकालना बहुत सरल है। सच तो यह है कि ठीक-ठीक देशनांक निकालना कठिन है। आधार वर्ष(basic year)का चुनाव सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि कोई ऐसा वर्ष चुन लिया गया कि जो असाधारण वर्ष था, अर्थात् जिसमें या तो कीमतें बहुत ऊँची थीं या बहुत नीची थीं, तो उस आधार पर निकाला गया देशनांक हमें भ्रम में डाल देगा। बहुत से अर्थशास्त्री १९१३ को आधार वर्ष मानते हैं। सम्भवत: आगे चलकर १९३९ आधार वर्ष माना जाने लगे। भारत में आधार वर्ष १८७३ माना जाता था। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि आधार के लिए हमें कई वर्षों की औसत कीमतें लेनी चाहिए न कि किसी एक वर्ष की। किन्तु कई वर्षों की कीमतों के औसत लेने से भी सही देशनाक निकल सकेगा इसमें सदेह है। पिछले वर्षों में अल्पशो मूल्य (retail price) का ठीक-ठीक जान सकना कठिन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि थोक कीमतों (wholesale price) के परिवर्तनों के आधार पर देशनाक निकाला जाता है। किन्तु व्यवहार में हम जानते हैं कि थोक कीमतों के अनुसार ही रिटेल कीमतों में भी परिवर्तन हो यह आवश्यक नहीं है। साथ ही इस बात का कोई निश्चय नहीं हो सकता कि हम जिन वस्तुओं की तुलना कर रहे हैं उनकी क्वालिटी एक समान है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई और उपस्थित होती है, अर्थात् मानवीय आवश्यकताएँ बराबर बदलती रहती हैं। एक समय जिन वस्तुओं का बहुत महत्त्व था वे कुछ समय उपरान्त महत्त्वहीन हो जा सकते हैं, यही नहीं उनकी मांग बिलकुल भी न रहे यह भी सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी उपस्थित होती है, कि सभी वस्तुओं की प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता हो यह भी आवश्यक नही है। यदि देशनाक निकालते समय हमने कुछ ऐसी वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया है जो उस वर्ग के लोगों के लिए जिनके लिए देशनाक तैयार किया जा रहा है अनावश्यक हों अर्थात् उनके उपभोग (consumption) में न आती हों अथवा कुछ ऐसी वस्तुएँ सम्मिलित करने से रह गई हों जो उस वर्ग के लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण हों तो उस वर्ग के लिए द्रव्य या मुद्रा के मूल्य अथवा उसकी क्रय शक्ति में क्या परिवर्तन हुआ यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो सकेगा। कहने का तात्पर्य यह कि देशनाक (index number) किसी उद्देश्य से ही तैयार करना चाहिए। यदि देशनांक तैयार करने का उद्देश्य यह हो कि किसी देश विशेष में मुद्रा के मूल्य में साधारणतया कितना परिवर्तन हो गया, यह जाना जाय, तो हमें उन सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को जिनका उपभोग किया जाता है, सम्मिलित करने के अतिरिक्त भूमि, मकान, शिक्षा,

रेलवे यात्रा तथा घरेलू नौकरों का खर्च भी उसमें सम्मिलित कर लेना चाहिए। परन्तु यदि किसी वर्ग विशेष के जीवन निर्वाह के व्यय (cost of living) में कितना परिवर्तन होगया है—यदि यह जानना हो तो भिन्न भिन्न वर्गों के लिए भिन्न भिन्न वस्तुओं का चुनाव करना होगा, और केवल उन्हीं वस्तुओं को सम्मिलित किया जावेगा जो उस वर्ग विशेष के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि देशनाक केवल औसत हैं। किसी वस्तु की कीमत अधिक हो और दूसरी वस्तु की कीमत उतनी ही गिर जावे तो औसत में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। किन्तु यह बहुत सम्भव है कि पहली वस्तु की कीमत बढने से लोगों को जो आर्थिक हानि होगी वह दूसरी वस्तु के सस्ती हो जाने से दूर न हो, क्योंकि जिस वस्तु की कीमत ऊँची हो गई वह उपभोग की महत्त्वपूर्ण वस्तु है और जो वस्तु सस्ती होगई है उसका उपभोग में बहुत कम महत्त्व का स्थान है।

गुरुकृत देशनाक (Weighted Index Numbers): कुछ अर्थशास्त्री जब किसी वर्ष की औसत कीमत का हिसाब लगाते हैं तो वे सभी वस्तुओं को समान महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनका कहना यह है, कि यदि हम कल्पना करें कि गेंहू की कीमत आधार वर्ष की कीमत से ५० प्रतिशत बढती है और रेशम की कीमत ५० प्रतिशत कम होजाती है, तो यह गलत होगा कि हम दोनों का औसत निकाल कर यह कह दें कि कीमतें सब मिलाकर पूर्ववत हैं, चढ़ी नहीं हैं। रेशम का हमारे उपभोग या व्यापार में उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जितना कि गेहूँ का है। अस्तु, वह वस्तु जो किसी देश के उपभोग अथवा व्यापार में अधिक महत्त्वपूर्ण होती है उसको देशनाक तैयार करने में भी अधिक महत्त्व देना आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि जितना गेहूँ देश में व्यय होता है उसका मूल्य (value) शक्कर के मूल्य से चौगुना तथा चावल के मूल्य से दुगना है तो १०० की सख्या शक्कर के लिए निश्चित की जावेगी २०० चावल के लिए और ४०० गेहूँ के लिए। इस प्रकार के औसत को गुरुकृत औसत (weighted average) कहते हैं। यह उस गणितात्मक औसत से भिन्न होता है जिसका प्राय: उपयोग किया जाता है। ऊपर दिए हुए उदाहरण में यदि हम मानलें कि पाँचों वस्तुओं का मूल्य एक समान नहीं है और उनको ५:४:३ २.१ के अनुपात में उपभोग किया जाता है तो ऐसी दशा में देशनांक की सारिणी (table of index numbers) में नीचे लिखा परिवर्तन करना होगा।

वस्तुएँ	१९३९		१९५१	
	कीमतें	पुराने देशनाक	कीमतें	नवीन देशनाक
गेहूँ	४ रु० मन	५ × १०० = ५००	१६ रु० मन	$५ \times \frac{१०० \times १६}{४} = २०००$
कपड़ा	८ आने गज़	४ × १०० = ४००	डेढ रु० मन	$४ \times \frac{१०० \times ६}{२} = १२००$
शक्कर	१६ रु० मन	३ × १०० = ३००	४० रु० मन	$३ \times \frac{१०० \times ४०}{१६} = ७५०$
घी	७० रु० मन	२ × १०० = २००	२१० रु० मन	$२ \times \frac{१०० \times २१०}{७०} = ६००$
लकड़ी	१ रु० मन	१ × १०० = १००	२½ रु० मन	$१ \times \frac{१०० \times ५}{२} = २५०$
कुल इकाइयाँ		१५) १५००		१५) ४८००
५ + ४ + ३ + २ + १ = १५		देशनांक—१००		देशनांक—३२०

इस प्रकार हिसाब लगाने से कीमतें २२० प्रतिशत अधिक बढ गईं जब कि पहले हिसाब से कीमतें केवल २०० प्रतिशत ही बढी हुई दिखलाई पड़ती थीं। अस्तु, गुरुकृत देशनाक (weighted index number) कीमतों के उतार-चढाव (तथा मुद्रा की क्रयशक्ति का इसके विपरीत चढाव उतार) को प्रकट करने का अधिक सही तरीका है। परन्तु व्यवहार मे कुल व्यय के विश्वसनीय ऑकडे हमें उपलब्ध नहीं होते, और भिन्न-भिन्न समय में किसी वस्तु का कितना उपभोग होगा, इसमें भी बहुत परिवर्तन हो जाता है। अतएव बहुत से अर्थशास्त्री 'गुरुकृत देशनांक' निकालने के विरुद्ध हैं। ऐजवर्थ तथा गिफिन जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री इसको तनक भी महत्त्व नहीं देते, यही नहीं जो देशनाक प्रसिद्ध और सर्वप्रचलित हैं, उनमे से बहुत से देशनाक गुरुकृत नहीं है वे साधारण देशनाक हैं।

देशनांक (Index Numbers) तैयार करने की अन्य रीतियाँ : ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक हमने कीमत के

हेर-फेर को नापने के लिए समान्तर या गणितात्मक मध्यक (arithmetic mean) का उपयोग किया है किन्तु इसी कार्य के लिए हम ज्यामितिक अथवा गुणोत्तर मध्यक (geometric mean) का उपयोग भी कर सकते हैं। ज्यामितिक मध्यक लॉगेरिथम (logarithms) के द्वारा मालूम किये जाते हैं। इसमें किसी एक वस्तु की कीमत में असाधारण परिवर्तन होने से देशनांक पर जो भ्रामक पड़ता है, उसका निवारण होजाता है। अस्तु, इस रीति से अधिक विश्वसनीय और सही देशनांक तैयार किए जा सकते हैं।

कुछ अंकशास्त्री देशनांक निकालने की एक दूसरी ही रीति अर्थात् मीडियन (median) का उपयोग करते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की कीमतों को आधार वर्ष की कीमतों की तुलना में १०० के अनुपात में निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि १६३६ को हम आधार वर्ष मानें और १६५१ में देशनांक तैयार करना चाहें, तो यदि गेहूं का मूल्य १६३६ में चार रुपया मन था और १६५१ में १६ रुपए मन है तो हम उसके लिए ४०० का अंक (मूल्य) निश्चित करेंगे। इस प्रकार सभी वस्तुओं की कीमतों के अंक (१०० की तुलना में मूल्य) मालूम करके इस प्रकार लिख लिए जाते हैं कि सबसे पहले सब से छोटा अंक फिर उससे बड़ा और अन्त में सबसे बड़ा। जो अंक ठीक बीचों बीच में होता है अर्थात् उसके दोनों ओर बराबर संख्याएँ होती हैं वही देशनांक (index number) होता है।

उदाहरण के लिए कीमतों को १०० के अनुपात में परिणत करने पर हमें नीचे लिखी संख्याएँ प्राप्त होती हैं :—

७५ ६० १०५ १२० १३५ १५० १६५

तो मध्य का अंक १२० है यही मीडियन अथवा देशनांक है।

यदि संख्याएँ इतनी हों कि जो दो से बराबर बँट जावें तो मध्य (median) बीच की दो संख्याओं के बीच में होगा। उदाहरण के लिए यदि कीमतों की संख्या नीचे लिखी हो तो मध्य अनिश्चित होगा।

७५ ६० १०५ १२० १३५ १५० १६५ १८०

ऊपर लिखी संख्याओं में मध्य १२० और १३५ के बीच में होगा। जबकि देशनांक निकालने में कीमतों की बहुत अधिक संख्याएँ होती हैं जैसा कि वास्तव में होता है तो मध्य (median) लगभग काफी ठीक ही होता है।

भारत में देशनांक भारत सरकार का व्यापारिक तथा औद्योगिक विभाग भारत में कीमतों में परिवर्तन बतलाने के लिए देशनांक निकालता है। यह ३६ वस्तुओं का थोक कीमतों पर आधारित होता है और १८७३ इसका

आधार वर्ष है। यह गुरुकृत देशनांक (weighted index number) नहीं है। बहुत-से अर्थशास्त्री इस प्रकार देशनांक निकालने के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। अस्तु; देश खेती के द्वारा जितना धन उत्पन्न करता है, वह अन्य तरीकों से उत्पन्न होने वाले समस्त धन से कहीं अधिक है। केवल यही बात नहीं है, वरन् खेती की पैदावार में भी केवल थोड़ी-सी ऐसी फसलें हैं जो कि खेती से उत्पन्न होने वाले अधिकांश धन (wealth) को उत्पन्न करती हैं, अन्य फसलें अपेक्षाकृत महत्त्वहीन हैं। इन ३६ वस्तुओं को बराबर महत्त्व देने से देशनांक ठीक-ठीक स्थिति को नहीं बतलाता। उन ३६ वस्तुओं का देश के व्यापार में भी एक समान महत्त्व नहीं है। गेहूँ, चावल, गुड़, शक्कर, कपास, तिलहन तथा जूट का देश के व्यापार में अन्य फसलों की तुलना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार उद्योग धंधे द्वारा उत्पन्न माल में सूती वस्त्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन बातों के अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न होता है। अतएव अर्थशास्त्रियोंका मत है कि भारतीय कीमतों का देशनाक तभी विश्वसनीय हो सकता है जब भिन्न-भिन्न वस्तुओं के महत्त्व को उसके बनाने में ध्यान रक्खा जावे। भारतीय कीमतों के सम्बन्ध में देश में जो आँकड़े उपलब्ध हैं उनकी भिन्न-भिन्न कमेटियों ने भी कटु आलोचना की है। बोले रावर्टसन कमेटी ने तो यहाँ तक सिफारिश की थी कि प्रचलित प्रणाली को समाप्त करके देशनाक उस आधार पर बनाये जाने चाहियें, जो ब्रिटिश बोर्ड ऑफ ट्रेड अपनाता है।

आजकल भारत के आर्थिक सलाहकार जो आँकडे तैयार करते हैं वे साधारणतया ठीक होते हैं।

बहुधा देशनांक इसलिए तैयार किए जाते हैं कि भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों की जीवन निर्वाह की लागत (cost of living) भिन्न-भिन्न समय पर क्या थी—उनकी तुलना की जासके। इस प्रकार के देशनाकों को जीवन निर्वाह की लागत के देशनाक (cost of living index numbers) कहते हैं।

जबकि मँहगाई हो तो यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि मजदूर और मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन निर्वाह के देशनाक तैयार किए जायें उससे हम यह ज्ञात होता है कि जहाँ तक मिल मजदूर तथा अन्य मजदूरों का प्रश्न है उनके लिए मुद्रा की क्रयशक्ति पहले की अपेक्षा कितनी कम होगई और उनके वेतन में कितनी वृद्धि की जावे कि जिससे उनके रहन-सहन का

र्जा पूर्ववत् बना रहे, गिरे नहीं। आये दिन जो देश में मिल मालिकों तथा जदूरों मे मजदूरी के बढाने के प्रश्न पर सघर्ष होता है उसका ठीक ीक निर्णय तभी किया जा सकता है जब मजदूरों के जीवन निर्वाह के देशनांक यार किए जावें। आज यदि देखा जावे तो आकाश छूने वाली मॅहगाई के ारण जीवन निर्वाह का देशनाक १६३६ की तुलना में चार गुने से अधिक ै। अस्तु, मजदूरी और वेतन १६३६ की तुलना में साढे चार गुना हो तब मजदूर और मध्यम वर्ग के लोग १६३६ के रहन सहन के दर्जे को प्राप्त कर सकते हैं।

बम्बई के साप्ताहिक पत्र "कामर्स" का थोक कीमतों का देशनांक १५ सितम्बर १६५१ को ४३५.३ था। इस देशनाक को तैयार करने मे आधार वर्ष १६३६ लिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रिटेल कीमतों का देशनाक इससे भी अधिक होगा। कहने का तात्पर्य यह कि जब मजदूरों और मध्यमवर्ग की मजदूरी या वेतन १६३६ की तुलना में साढे चार गुना कर दिया जावे तभी वे पूर्ववत् रहन-सहन के दर्जे को रख सकते हैं। मजदूरों की मजदूरी तो बढी है, परन्तु उनके सम्बन्ध में भी यह कहना कठिन है कि वे १६३६ के दर्जे को बनाये रख सके हैं, परन्तु मध्यमवर्ग की तो कमर टूट गई है। उनका रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचे गिर गया है।

किन्हीं-किन्हीं औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के जीवन निर्वाह के देशनांक तैयार किए जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सभी प्रमुख केन्द्रों में जीवन निर्वाह की लागत के देशनांक तैयार किए जावें। उससे जनता यह जान सकेगी कि मजदूरों की मजदूरी बढाने की मॉग में कितना औचित्य है।

अध्याय ३३

मुद्रा का मूल्य तथा मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त

(Value of Money and Quantity Theory of Money)

पिछले अध्याय में हमने इस बात का अध्ययन किया कि मुद्रा के मूल्य अथवा उसकी क्रयशक्ति को किस प्रकार नापा जाता है। पिछले अध्याय में हमने इस बात की ओर भी संकेत किया था कि द्रव्य भी अन्य वस्तुओं के समान ही है और उसका मूल्य भी माँग (demand) और पूर्ति (supply) से निर्धारित होता है।

द्रव्य या मुद्रा की माँग (Demand For Money) : द्रव्य या मुद्रा की माँग मुख्यत किसी देशवासियों के स्वभाव तथा वहाँ की रीति रिवाज पर निर्भर रहती है। यों तो मुद्रा की माँग समस्त उन व्यापारिक सौदों या कारवार के द्वारा उत्पन्न होती है जो कि मुद्रा की सहायता से पूरे होते हैं। यदि अन्य बातें पूर्ववत् ही रहें तो ऐसे देश में जहाँ कि अधिक धन (wealth) का उत्पादन होता है और जिसका विनिमय (exchange) होता है वहाँ मुद्रा की उस देश की अपेक्षा अधिक माँग होगी जहाँ उत्पादन कम है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा की माँग बिकने वाली वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न होती है।

द्रव्य या मुद्रा की माँग पर वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन होने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता। चाहे वस्तु सस्ती बिके या मँहगी बिके वे सब बेची जावेंगी और मुद्रा के बदले में उन्हें दिया जावेगा। यदि पहले की अपेक्षा दुगनी मुद्रा हो और वस्तुओं की संख्या पूर्ववत् ही रहे तो वस्तुओं की कीमत पहले से दुगनी हो जावेगी।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) : द्रव्य या मुद्रा की पूर्ति से हमारा तात्पर्य मुद्रा की इकाइयों की राशि से है जो कि विनिमय (exchange) कार्य से उपलब्ध हों। मुद्रा की पूर्ति (supply) का हिसाब लगाते समय हम भुगतान करने के सभी साधनों—धातु मुद्रा, कागजी मुद्रा और बैंकों की डिपाज़िट—को सम्मिलित कर लेते हैं जो जनता को उपलब्ध होते हैं और जिनसे विनिमय में

सहायता मिलती है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा की पूर्ति किसी समय जितनी भी मुद्रा (money) चलन में हो उसे कहते हैं।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि मुद्रा की माँग वे वस्तुएँ हैं जो कि बिक्री के लिए उपस्थित की जाती हैं। जिस प्रकार बाजार में जो भी वस्तुएँ बिक्री के लिए आती हैं वे ही मुद्रा की माँग हैं, ठीक उसी प्रकार बाजार में जितनी भी मुद्रा चलन में है वही वस्तुओं की माँग है।

मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) : मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त यह है कि यदि अन्य बातें पूर्ववत् ही रहें तो मुद्रा का मूल्य (value of money) उसकी मात्रा (quantity) में परिवर्तन होने पर उसके विलोम (inverse) अनुपात में बदलेगा। यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होगी तो मुद्रा का मूल्य गिर जावेगा और यदि मुद्रा की मात्रा कम होगी तो उसका मूल्य उसी अनुपात में बढ जावेगा।

इसको समझना कठिन नहीं है। यह स्वयसिद्ध सिद्धान्त है। यदि हम एक ऐसे समाज की कल्पना करें, जिसमें कि साख (credit) प्रचलित न हो, केवल धातु मुद्रा ही प्रचलित हो और मुद्रा की एक इकाई केवल एक बार ही विनिमय (exchange) का काम करे तो धातु मुद्रा की मात्रा ही मुद्रा की क्रयशक्ति को निश्चित करेगी।

एक उदाहरण से हम इसको भली भाँति समझा सकते हैं। कल्पना करें कि किसी समाज में केवल १०० वस्तुएँ हैं और उनको खरीदने के लिए केवल १००) रुपए हैं। यदि हम मानलें कि (अ) १०० में से प्रत्येक वस्तु केवल एक बार बेची और खरीदी जाती है, (आ) १००) मे से प्रत्येक रुपया केवल एक बार खर्च किया जाता है और (इ) उस समाज में अदल-बदल (barter) या रुपए का सचय (hoarding) करके रखने का रिवाज नहीं है तो प्रत्येक वस्तु की कीमत एक रुपया होगी। अब यदि हम कल्पना करें की उस समाज में १००) रुपए के स्थान पर २००) रुपये हो जाते हैं किन्तु वे पूर्ववत् १०० वस्तुओं को ही खरीदते हैं (अन्य बाते पूर्ववत् ही रहती हैं) तो प्रत्येक वस्तु की औसत कीमत एक रुपए से बढकर दो रुपए हो जावेगी। पहले जितनी वस्तु एक रुपया खरीदता था अब उसे दो रुपए खरीदेंगे। दूसरे अर्थों में मुद्रा की प्रत्येक इकाई की क्रयशक्ति पहले से आधी हो जावेगी। परन्तु यदि १०० रुपए के स्थान पर केवल ५० रुपए ही चलन मे रह जावें और वस्तुएँ पूर्ववत् ही रहें अर्थात् उन ५० रुपयों से १०० वस्तुओ को खरीदा बेचा जावे और सब बातें पूर्ववत् ही रहें तो मुद्रा का मूल्य दुगना हो जावेगा अर्थात् वस्तुओं की कीमत आधी हो जावेगी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मुद्रा का मूल्य गिरता है और कीमतें ऊँची होती हैं। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा में कमी होने पर उसका मूल्य ऊँचा होता है और कीमतें गिरती हैं। प्रत्येक दशा में मुद्रा के मूल्य में उसी अनुपात में परिवर्तन होता है जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होता है।

विनिमय का समीकरण (Equation of Exchange): मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (quantity theory of money) को हम एक विनिमय के समीकरण से अच्छी तरह समझा सकते हैं। इरविंग फिशर, जो कि इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक है उसी के समीकरण (equation) का हम अनुसरण करेंगे। वस्तुओं पर होने वाले समस्त व्यय को हम 'व्य' से व्यक्त करेंगे और औसत मुद्रा की मात्रा जो चलन में है, 'मु' से व्यक्त करेंगे। यहाँ एक बात ध्यान देने की है, द्रव्य या मुद्रा की औसत मात्रा (मु) जो चलन में होगी वह कुल व्यय (व्य) के बराबर नहीं हो सकती क्योंकि मुद्रा की एक इकाई का कई बार उपयोग होता है। मुद्रा की एक इकाई कई सौदे पटाती है। मुद्रा की एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने की शक्ति को उसके चलन का प्रवेग (velocity of circulation) कहते हैं (अथवा मुद्रा की उलट-फेर की औसत दर कहते हैं)। मुद्रा के चलन के प्रवेग को हम कुल व्यय को कुल मुद्रा से भाग देकर जान सकते हैं।

$$\text{प्र} = \frac{\text{व्य}}{\text{मु}} \quad \text{या} \quad \text{व्य} = \text{मु प्र}$$

दूसरे शब्दों में कुल द्रव्य जो व्यय किया जाता है उसको मालूम करने के लिए हमें चलन में जितना भी द्रव्य है उसको उसके चलन के प्रवेग (velocity of circulation) से गुणा करना होगा।

ऊपर के समीकरण (equation) में दो पक्ष हैं—एक मुद्रा पक्ष है जो "मु प्र" से प्रगट होता है (जो कि चलन में जितनी मुद्रा है उसके चलन के प्रवेग से गुणा करके मालूम किया जाता है), दूसरा पक्ष वस्तु पर होने वाले कुल व्यय का है जो "व्य" से प्रगट होता है। यदि हम कल्पना करें कि किसी वस्तु विशेष, उदाहरण के लिए गेहूँ, की कीमत 'की' से प्रकट होती है और गेहूँ की मात्रा "मा" से प्रकट होती है तो उस वस्तु पर कुल व्यय इन दोनों के गुणा के बराबर होगा अर्थात् "की मा"। अब यदि हम यह कल्पना करें कि गेहूँ ही केवल एक वस्तु है जिस पर मुद्रा को व्यय किया जाता है तो समीकरण इस प्रकार होगा :—

की मा = मु प्र

व्यवहार में ऐसा नहीं होता। व्यवहार में एक से बहुत अधिक वस्तुओं विनिमय होता है और उनकी कीमतें भिन्न-भिन्न होती हैं तथा उनकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु इससे हमारे समीकरण में कोई अन्तर नहीं ता। हम सब वस्तुओं की कीमतों को 'की' से ही व्यक्त करेंगे, और सब तुओं की भिन्न-भिन्न मात्रा को भी 'मा' से ही व्यक्त करेंगे। अतएव हमारा मीकरण पूर्ववत् रहेगा अर्थात्

'की मा' = मु प्र

जो भी वस्तुएँ बेची और खरीदी जाती हैं उसी को हम वाणिज्य हते हैं, अस्तु, 'मा' को हम 'वा' से भी प्रगट कर सकते हैं। 'वा' का र्थ है उन सब वस्तुओं की मात्रा जो उत्पन्न की जाती है और जिनका िनिमय होता है। अस्तु, हमारा समीकरण (equation) का रूप इस कार होगा।

'की वा' = मु प्र

अथवा

$$की = \frac{मु\ प्र}{वा}$$

की = सभी वस्तुओं की कीमतों का औसत

मु = चलन में मुद्रा की मात्रा या राशि

प्र = मुद्रा के चलन का प्रवेग

वा = कुल वाणिज्य।

इस रूप में व्यक्त करने पर मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (quantity theory of money) से हम नीचे लिखे नतीजे निकाल सकते हैं :—

यदि 'वा' और 'प्र' पूर्ववत् रहें तो कीमतें उसी अनुपात से घटेंगी-बढ़ेंगी कि जिस अनुपात में 'मु' घटेगा-बढ़ेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कीमतों का स्तर (की) ठीक सीधा उसी तरह घटता बढ़ता है जिस प्रकार चलन में मुद्रा की मात्रा (मु) घटती बढ़ती है। यदि मुद्रा के चलन का प्रवेग (प्र) घटता बढ़ता है तो वस्तुओं की कीमतों का स्तर (की) भी मुद्रा के चलन के प्रवेग (प्र) के अनुसार ही सीधा घटता बढ़ता है। परन्तु वाणिज्य की मात्रा (वा) के घटने-बढ़ने पर कीमतों का स्तर (की) विलोम अनुपात में घटता बढ़ता है।

ऊपर हमने मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त का विवेचन किया परन्तु सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए हमने जो उदाहरण लिया उसमें यह मान लिया कि समाज मे विनिमय का कार्य केवल धातु मुद्रा तथा कागजी मुद्रा से होता है। परन्तु आज के जटिल आर्थिक जगत में स्थिति कुछ भिन्न है। धातु तथा कागजी मुद्रा के अतिरिक्त बैंक डिपॉजिट (जिसे हम बैंक मुद्रा के नाम से पुकारेंगे) का उपयोग भी विनिमय के लिए बहुत अधिक होता है। बैंक डिपॉजिट या बैंक मुद्रा प्रगट रूप मे चैक के द्वारा विनिमय कार्य में सहायक होती है। हम पहले बतला चुके हैं कि औद्योगिक राष्ट्रों मे चैकों का धातु मुद्रा अथवा कागजी मुद्रा की अपेक्षा कई गुना अधिक उपयोग होता है। बैंको की जैसे-जैसे सुविधा बढती गई तथा यातायात और सदेशवाहक साधनों का जैसे जैसे विस्तार होता गया चैक का चलन भी वैसे ही वैसे बढता गया। बैंक डिपॉज़िट अथवा बैंक मुद्रा (bank money) की प्रत्येक इकाई एक से अधिक बार हस्तान्तर होती है। यदि इस बैंक मुद्रा को हम 'मु[1]' से और उसके चलन के प्रवेग (velocity of circulation) को 'प्र[1]' से प्रगट करें तो हमारा समीकरण सशोधित अवस्था में इस प्रकार होगा।

$$\text{'की'} = \frac{\text{मु प्र} + \text{मु}^{1}\ \text{प्र}^{1}}{\text{वा}}$$

इस सम्बन्ध में हमें एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्रत्येक देश में धातु और कागजी मुद्रा (मु) तथा बैंक मुद्रा (मु[1]) का एक निश्चित सम्बन्ध होता है। अतएव यदि 'मु' में परिवर्तन हो तो मु[1] मे भी आनुपातिक परिवर्तन होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि धातु अथवा कागजी मुद्रा में वृद्धि होगी तो उसी अनुपात में बैंक मुद्रा भी बढेगी। इसका परिणाम यह होगा कि जिस अनुपात में धातु या कागजी मुद्रा मे परिवर्तन होगा उसी अनुपात में मुद्रा में परिवर्तन होगा। और ठीक उसी अनुपात मे कीमतों के स्तर में परिवर्तन होगा।

मुद्रा मात्रा सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हमने "यदि अन्य बातें पूर्ववत रहें" वाक्य का प्रयोग किया था। सिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिए इस पर विचार कर लेना चाहिए। "अन्य बातों" में हम चलन के वेग, अदल-बदल (barter) से तथा उधार देकर किए जाने वाले व्यापार का अनुपात, व्यापार या वाणिज्य की स्थिति और किए जाने वाले कारबार (वाणिज्य) की मात्रा अथवा राशि को गिनते हैं।

यदि यह "अन्य बातें" पूर्ववत् रहें तो मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (quantity theory of money) ठीक-ठीक लागू होगी। परन्तु यदि इनमे परिवर्तन हुआ तो 'की' (कीमतों का स्तर) केवल मु (मुद्रा) से ही प्रभावित नहीं होगी वरन् उन सभी बातों से प्रभावित होगी जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। अर्थात् 'मु१' (बैंक मुद्रा) 'प्र' (मुद्रा का प्रवेग) 'प्र१' (बैंक मुद्रा का प्रवेग) तथा 'वा' (वाणिज्य) से भी प्रभावित होगा। इसको हम अधिक स्पष्ट और सरल शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं।

(१) कीमतें सीधी उसी अनुपात में बदलती हैं। जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा (मु मु१) बदलती है। शर्त यह है कि वाणिज्य की परिमा (volume) या मात्रा तथा चलन के प्रवेग (प्र प्र१) में कोई परिवर्तन न हो अर्थात् वे पहले जैसे ही रहें।

(२) कीमतें सीधी उसी अनुपात में बदलती हैं जिस अनुपात में मुद्रा तथा बैंक मुद्रा के चलन के प्रवेगों में परिवर्तन होता है। शर्त यह है कि मुद्रा की मात्रा (मु मु१) में कोई भी परिवर्तन नहीं होता, वह पहले जैसी ही रहती है।

(३) कीमतें वाणिज्य की परिमा (volume of trade) के विलोम (inverse) अनुपात मे बदलती हैं यदि मुद्रा की मात्रा (मु) और बैंक डिपॉज़िट या बैंक मुद्रा (मु१) तथा उनके चलन के प्रवेग (velocity of circulation) (प्र प्र१) मे कोई परिवर्तन नहीं होता।

अस्तु, सब मिलाकर पाँच प्रभाव हैं (मु मु१ प्र प्र१ और वा) जिनका सीधा असर कीमतों के स्तर पर पड़ता है। जो भी अन्य प्रभाव कीमतों को प्रभावित करते हैं वे इन पाँच प्रभावों के द्वारा ही कीमतों को प्रभावित कर सकते हैं।

सिद्धान्त की आलोचना मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त (quantity theory of money) की कुछ अर्थशास्त्रियों ने बड़ी कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त मे कोई नवीन बात नहीं है। जो द्रव्य या मुद्रा वस्तुओं के विनिमय के लिए दी जाती है वही उन वस्तुओं की कीमत होती है। यह इतनी स्वयंसिद्ध बात है कि इसके लिए अधिक तर्क उपस्थित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ अर्थशास्त्री इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि जिन बातों या कारकों (factors) को मान लिया गया है कि वे पूर्ववत् रहते हैं अर्थात उनमें परिवर्तन नहीं होता, वे शायद ही जैसी थीं वैसी रहती हों। अल्प काल भी वे पूर्ववत् नहीं रहतीं, उनमे परिवर्तन हो जाता है। साथ ही वे सब बातें या कारक (factors) बदलने में स्वतंत्र नहीं हैं।

उदाहरण के लिए मुद्रा (मु) में परिवर्तन होने पर चलन के प्रवेग (प्र) तथा वाणिज्य की परिमा (volume of trade) (वा) में भी परिवर्तन होता है। उसी प्रकार वा, प्र और की में परिवर्तन होने पर अन्य बातों में भी परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक डिपॉज़िट अथवा बैंक मुद्रा और धातु और कागजी मुद्रा का आपसी सम्बन्ध स्थिर नहीं है। यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जब अमुक मात्रा में धातु मुद्रा होगी तो अमुक अनुपात में बैंक डिपॉजिट (बैंक मुद्रा) का निर्माण होगा।

बैंक डिपॉजिट एक निश्चित नक़द रक्षित कोष (cash reserve) से बंधी नही रहतीं। आज यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यदि अमुक राशि में नक़द रक्षित कोष है तो अमुक मात्रा में बैंक डिपॉजिट का निर्माण होगा। इसके अतिरिक्त फिशर के समीकरण (equation) में एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि उसने नक़द डिपॉजिट, सेविंग्स डिपॉजिट, तथा ओवर ड्राफ्ट की सुविधाओं में कोई भेद नही किया। साथ ही फिशर के समीकरण से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि द्रव्य या मुद्रा की मात्रा किस क्रिया से कीमतों के स्तर में परिवर्तन लाते हैं। और न इस बात का कोई सतोषजनक स्पष्टीकरण ही फिशर दे सका कि व्यापार चक्र (trade cycle) के समय कीमतें इस प्रकार क्यों बदलती हैं। हम देखते हैं कि जब व्यापार में अवपात (slump) होता है, या व्यापार में अवसाद (depression) होता है तो मुद्रा की मात्रा पूर्ववत् रहने पर भी, उसमें कोई भी परिवर्तन न होने पर भी, कीमतें गिर जाती हैं और व्यापार की तेज़ी के समय बिना मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हुए ऊँची हो जाती हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कीमतें एक मात्र मुद्रा-चलन से सम्बधित नहीं हैं।

अन्त में कीन्स ने जैसा बतलाया कि द्रव्य या मुद्रा से होने वाले अधिकाश सौदे औद्योगिक, व्यापारिक अथवा आर्थिक (financial) हैं उनमें से केवल थोड़े-से ही वस्तुओं के सौदे होते हैं जो कि फिशर के समीकरण में 'वा' द्वारा प्रगट होते हैं। अस्तु, यह समीकरण (equation) मुद्रा की क्रय-शक्ति को नहीं नापता वह केवल नकद सौदे के मान (cash transaction standard) को प्रकट करता है।

फिशर के प्रति न्याय करने के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि उसने मुद्रा की मात्रा का चलन के प्रवेग अथवा वाणिज्य की परिमा (volume of trade) पर होने वाले प्रभाव की बिलकुल उपेक्षा की हो ऐसी बात नहीं है। केवल उसने यही कहा है कि यह परिवर्तन केवल असाधारण समयों में अथवा अन्तर्वर्ती काल में होता है। साधारण स्थिति में और लम्बे समय में

मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर उसी अनुपात में कीमतों में परिवर्तन होता है।

अन्य सिद्धान्त : फिशर ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय यह मान लिया है कि मुद्रा (money) की माँग (demand) उन वस्तुओं के कारण उत्पन्न होती है कि जो मुद्रा की सहायता से बेची जाती हैं। परन्तु मार्शल, पीगू तथा कीन्स जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों ने बतलाया कि मुद्रा की माँग लोगों की तैयार क्रय शक्ति (ready purchasing power) की माँग द्वारा उत्पन्न होती है। वे मुद्रा को अपने व्यक्तिगत खर्चों, व्यापारिक खर्चों, तथा भावी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए चाहते हैं। इन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि द्रव्य या मुद्रा की माँग प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। द्रव्य या मुद्रा की माँग स्वयं उसके लिए नहीं होती वरन् इसलिए होती है कि वह विनिमय का माध्यम (medium of exchange) है। मुद्रा एक प्रमाण पत्र है जिसका स्वयं का कोई उपयोग नहीं है परन्तु जिसके बदले उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। द्रव्य या मुद्रा के रूप में आय को रखने के कुछ लाभ हैं जबकि अन्य रूप में आय को रखने की कुछ हानियाँ हैं। इस तुलना से यह निश्चय हो जाता है कि देश की वास्तविक आय (जो वस्तुओं में प्रगट की जा सकती है जैसे गेहूँ, कोयला, कपास लोहा इत्यादि) का कौनसा भाग मुद्रा के रूप में रक्खा जावेगा। मार्शल, पीगू और कीन्स का कहना है कि समाज की वास्तविक आय का कौनसा भाग मुद्रा के रूप में समाज अपने पास रखता है और कौनसा भाग वस्तुओं के रूप में ही रखता है इनका आपसी सम्बन्ध मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने में सहायक होता है।

कीन्स का सिद्धान्त : ऊपर लिखे विचारों के आधार पर कीन्स ने अपना एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया है और नीचे लिखा समीकरण (equation) उपस्थित किया है।

$$न = की\ (व + अ\ व^1)$$

इसमें न = नकदी की कुल राशि

की = उपभोग इकाई की कीमत

अ = बैंकों के नकद कोष(cash reserve) और बैंक डिपॉजिटों का अनुपात।

व और $व^1$ = उपभोग की इकाइयों की संख्या जो कि लोग नकद देकर अथवा बैंक डिपाज़िटों के द्वारा लेते हैं। मु नकदी और बैंक डिपाजिटों की मात्रा आंशिक रूप में इस बात पर

> निर्भर रहती है कि देश में कितना धन (wealth) है और आंशिक रूप से लोगों की इस आदत पर निर्भर रहती है कि वे धन का कितना भाग खर्च कर देने के लिए नकद रूप में रखना चाहते हैं और कितने भाग का विनियोग (invest) कर देते हैं।

इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि कीन्स का यह सिद्धान्त अधिक यथार्थ है क्योंकि इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि कीमतों का स्तर लोगों की इस आदत पर निर्भर रहता है कि वे अपनी आय (income) का कितना भाग तैयार क्रय-शक्ति (नकदी) के रूप मे रखते हैं। इस सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें यह स्वीकार किया गया है कि वैंक कितना नकद कोष रखता है और लोग अपनी आय का कितना भाग नकदी अथवा वैंक डिपॉजिट के रूप में रखते हैं, इसका कीमतों के निर्धारण पर असर पड़ता है।

परन्तु इस सिद्धान्त का एक दोष यह है कि इसमें यह मान लिया गया है कि नकदी या डिपॉजिट चालू उपभोग (current consumption) पर ही व्यय की जाती है, जब कि व्यवहार मे नकदी या डिपॉजिट केवल चालू उपभोग पर ही व्यय नहीं की जाती वरन् अनेक प्रकार के कारवार, लेन-देन तथा अन्य व्यक्तिगत बातो के लिए भी व्यय की जाती है।

इस सिद्धान्त का दूसरा दोप यह है कि इसके अनुसार वैंक डिपॉजिट में परिवर्तन केवल डिपॉजिट करने वालों के स्वभाव में परिवर्तन होने पर ही होता है जब कि वैंक डिपाजिट मे सूद की दर में परिवर्तन होने के कारण अथवा व्यापार की स्थिति में परिवर्तन होने पर भी परिवर्तन होता है।

कीन्स ने अपनी पुस्तक मे यह स्वीकार किया है कि हम तब तक कीमत मे परिवर्तन होने की क्रिया को ठीक-ठीक नहीं जान सकते जब तक कि हम सूद की दर तथा आय और लाभ तथा बचत और विनियोग (investment) मे भेद का विचार न रक्खे।

कैम्ब्रिज का समीकरण (Equation) कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियों ने, जिनमे मार्शल तथा पीगू प्रमुख हैं, एक नया समीकरण उपस्थित किया है।

इसमे 'य' से अर्थ है देश की यथार्थ आय (real income), 'अ' से अर्थ है यथार्थ आय (य) के उस अनुपात से जो मुद्रा में रक्खा जाता 'मु' से अर्थ है मुद्रा की इकाइयों की संख्या से।

ऐसी दशा में 'मु' बराबर होगी 'अ य' के अथवा प्रत्येक मुद्रा की इकाई का मूल्य $\frac{\text{अ य}}{\text{मु}}$ अब क्योंकि मुद्रा का मूल्य (value of money) कीमतों (prices) की विलोम (inverse) या उल्टी रीति से बदलता है। अस्तु; कीमतों का स्तर अर्थात् की = $\frac{\text{मु}}{\text{अय}}$

यदि हम कल्पना करें कि यथार्थ आय (real income) 'य' १० मन चावल है और 'अ' = $\frac{1}{2}$ और 'मु' = १०० रु० तो एक रुपए की क्रय शक्ति अथवा मूल्य = $\frac{10 \times \frac{1}{2}}{100} = \frac{1}{20}$ मन चावल अथवा कीमतों का स्तर 'की' = २० रुपए मन चावल।

ऊपर लिखे सुधारों के बाद भी मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त मे दो दोष रह जाते हैं। पहला दोष तो यह है कि मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि मुद्रा ही आर्थिक परिवर्तनों की एक मात्र कारण है, यह गलत है। मुद्रा ही आर्थिक परिवर्तनों का एकमात्र कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी सही नहीं है कि कीमतों में परिवर्तन ही आर्थिक प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न या घटना है। क्राऊथर ने ठीक ही कहा है कि व्यापार की हानि से ही कीमतें गिरती हैं न कि कीमतों के गिरने से व्यापार की हानि होती है। सच तो यह है कि गिरा हुआ व्यापार तथा गिरी हुई कीमतें किसी दूसरे कारण का ही परिणाम हैं।

मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त तथा व्यापार चक्र (Quantity Theory of Money and Trade Cycle) : कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों का मत फिशर के मत से जहाँ तक व्यापार चक्र का प्रश्न है, अधिक बुद्धिसगत है। कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि कीमतों के स्तर में केवल मुद्रा की पूर्ति (supply) में परिवर्तन मात्र से ही परिवर्तन नहीं होता वरन् हमारी इस आदत से कि हम अपनी यथार्थ आय का कितना भाग नकदी मे रखते हैं, कीमतों के स्तर में परिवर्तन होता है। कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने इस बात को भी स्वीकार किया है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन मुद्रा की माँग में परिवर्तन होने से होता है न कि मुद्रा के चलन के प्रवेग (velocity of circulation of money) से। अस्तु, कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त व्यापार चक्र के समय घटित घटनाओं का अधिक सतोषजनक उत्तर देता है। हम देखते हैं कि जब कीमतें गिरने लगती हैं तो लोग अपने पास रक्खी हुई मुद्रा अर्थात् नक़दी को

बढाते हैं अर्थात् अपनी आय का अधिक भाग नकदी के रूप में रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कीमतें और अधिक गिर जाती हैं और जब कीमतों का स्तर ऊँचा होने लगता है तो लोग अपने पास रखी हुई मुद्रा (नकदी) को कम करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कीमते और अधिक बढ जाती हैं। इसके शब्दों में जब व्यापार की धूम (boom) या तेजी होती है तो 'अ'—मुद्रा में रक्खा जाने वाला आय का भाग—कम हो जाता है और व्यापार की मंदी के समय 'अ' अधिक होजाता है।

बचत और विनियोग सिद्धान्त (Savings and Investment Theory) : यदि देखा जावे तो 'अ' (मुद्रा में रक्खा जानेवाला आय का भाग) बचत और विनियोग के आपसी सम्बन्ध पर निर्भर है। अस्तु, व्यापार चक्र का अध्ययन करने के लिए हमें कुल मुद्रा की मात्रा और सौदों की कुल सख्या का सम्बंध जानने की आवश्यकता नहीं है परन्तु हमें यह जानने की आवश्यकता है कि लोग अपनी आय का कितना भाग उपभोक्ता पदार्थों पर व्यय नहीं करते, अर्थात् वे आय का कितना भाग बचाते हैं, और किस प्रकार यह पूँजी (capital) में परिणत होती है। हमें यह भी जानने की आवश्यकता है कि किस प्रकार सूद की दर इस बचत को पूँजी मे परिणत होने मे सहायक होती है।

आय को या तो हम खर्च कर सकते हैं या बचा सकते हैं या कुछ आय को बचा सकते हैं और कुछ आय को खर्च कर सकते हैं। जो कुछ बचाया जाता है वह सब का सब किसी धंधे में लगा दिया जावे, उसका विनियोग हो जावे यह आवश्यक नहीं है क्योंकि लोग बचत को दबाकर भी रख सकते हैं। परन्तु इस प्रकार दबी हुई बचत का समाज के लिए कोई उपयोग नहीं हो सकता। जब बचत को हम विनियोग पदार्थों (investment goods) उदाहरण के लिए मशीन इत्यादि में परिणत करते हैं, तब उनसे उपभोक्ता पदार्थों (cosumption goods) की वृद्धि होती है। यदि बचाने की भावना समाज में अधिक बलवती हो जावे तो उसी अनुपात मे जिस अनुपात में अधिक बचत की जावेगी उपभोक्ता पदार्थों की माँग कम हो जावेगी। उसका परिणाम यह होगा कि मशीन इत्यादि विनियोग पदार्थों को उत्पन्न करने के धंधों पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। परिणामस्वरूप बेकारी बढेगी और लोगों की क्रयशक्ति घट जावेगी जिससे कि उपभोक्ता पदार्थों की माँग और अधिक घट जावेगी। फलस्वरूप कीमतें घटने लग जावेंगी और व्यापार चक्र का नीचे की ओर गति का आरम्भ हो जावेगा।

जब बचत की अपेक्षा विनियोग अधिक होता है तो उल्टी क्रिया आरम्भ होती है। पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) की अधिक माँग होने से धधों में तेजी आती है मजदूरों तथा उत्पादन के अन्य साधनों की माँग बढ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कीमतें बढ जाती हैं। परन्तु यह स्थिति भी अधिक लम्बे समय तक नहीं रह सकती। उत्पत्ति के साधनों (factors of production) की कीमत बढने से लागत व्यय बढ जाता है, लाभ कम हो जाता है तथा अधिक उत्पादन करने की भावना की भी कमी हो जाती है। साथ ही बैंक भी सूद की दर बढा देते हैं और धधों को ऋण कम देने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है व्यापार चक्र की गति ऊपर जाने से रुक जाती है और नीचे की ओर जाने लगती है। मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त हमें बतलाता है कि किस प्रकार व्यापार चक्र की गति ऊपर की ओर जाना आरम्भ करती है, किस प्रकार कुछ समय तक ऊपर की ओर रहती है और फिर किस प्रकार नीचे की ओर जाती है। जब मुद्रा की बहुलता होती है और सूद की दर कम होती है तो व्यापार पनपने लगता है और जब सूद की दर ऊँची होने लगती है और साख (credit) कम होने लगती है तो कारबार तथा व्यापार की वृद्धि रुक जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त व्यापार के अवपात (slump) का कारण हमें नही बतलाता। जब व्यापार मन्दा होता है तो चलन में मुद्रा कम होती है। किन्तु चलन में कम मुद्रा होना अवपात का कारण नहीं है वरन् अवपात का परिणाम है। अतएव व्यापार चक्र का प्रभाव कीमतों के स्तर पर लक्षित होता है। हम सक्षेप मे कह सकते हैं कि बचत और विनियोग का आपसी सम्बन्ध अल्पकाल में वृत्ति या नौकरी (employment) और कीमतों को निश्चित करता है। यदि विनियोग (investment) से बचत अधिक है तो कीमतें अपने साम्य (equilibrium)) से गिरने लगती हैं। यदि विनियोग से बचत कम हैं तो कीमतें अपने साम्य से ऊँची उठने लगती हैं। परन्तु कीमतों का साम्य स्तर आशिक रूप में मुद्रा की मात्रा जो चलन में हो उससे निर्धारित होता है। मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त मानो एक प्रकार से कीमतों के स्तर रूपी समुद्र के औसत स्तर की व्याख्या करता है और बचत और विनियोग सिद्धान्त व्यापार चक्र रूप ज्वार भाटे की चचलता की व्याख्या करता है।

सूद की दर और मुद्रा का मूल्य : हम ऊपर बतला चुके हैं कि मुद्रा का मूल्य बचत और विनियोग से निर्धारित होता है, किन्तु बचत और

विनियोग (investment) स्वयं सूद की दर पर निर्भर हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि मुद्रा के मूल्य पर सूद की दर का प्रभाव पड़े। इसके लिए कीन्स ने स्वाभाविक सूद तथा बाजारू सूद में भेद किया है। कीन्स के अनुसार स्वाभाविक सूद की दर वह है कि जिस पर बचत और विनियोग की दर बराबर हो। बचत का यहाँ अर्थ है उपभोक्ता पदार्थों पर मुद्रा आय को व्यय न करना अतएव बचत की परिमा का अर्थ हुआ समाज की मुद्रा आय का वह भाग जो कि उपभोक्ता पदार्थों पर व्यय न किया जावे। जबकि सूद की बाजार दर स्वाभाविक या प्राकृतिक (natural) सूद की दर से भिन्न होती है तो कुछ ऐसे कारण उत्पन्न हो जाते हैं कि जिसका मुद्रा के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है उदाहरण के लिए यदि बैंक प्राकृतिक या स्वाभाविक सूद की दर से कम सूद लें तो साख (credit) की माँग बढ़ जावेगी। जब कि साहसियों (entrepreneurs के पास व्यय करने के लिए अधिक मुद्रा होगी तो वे उत्पादन के साधनों को अधिक मात्रा में रक्खेंगे, साथ ही उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक पारिश्रमिक व पुरस्कार देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पत्ति साधनों (factors of production) की आय में वृद्धि हो जावेगी। वे अधिक व्यय करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि कीमतें ऊँची हो जावेंगी। इसके विपरीत यदि बाजार की सूद की दर प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक सूद की दर से भिन्न होगी तो साख की कम माँग हो जावेगी, उत्पत्ति के साधनों की आय कम हो जावेगी और कीमतें गिर जावेंगी।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि मुद्रा की माँग और पूर्ति के अतिरिक्त और भी अनेक कारक (factors) हैं जो कि कीमतों को प्रभावित करते हैं। उन अन्य कारणों को यदि छोड़ भी दें तो शक्ति उत्पन्न करने का व्यय अधिक होने, राज्य द्वारा संरक्षण (protection) प्रदान करने के कारण, धंधों में एकाधिपत्य स्थापित हो जाने अथवा विनिमय दर (exchange rate) गिर जाने के कारण भी कीमतें ऊँची हो सकती हैं। यदि मुद्रा पूर्ववत् ही रहे और ऊपर लिखे कारण उपस्थित हो जावें तो भी कीमतें ऊँची हो जावेंगी। फिशर ने मुद्रा मात्रा सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए इस बात को स्वीकार किया है कि अन्तर्वर्ती काल (transitional period) में मुद्रा की मात्रा कीमतों के स्तर को निर्धारित नहीं करती। अन्तर्वर्ती काल से यहाँ अर्थ उस समय से है कि जब कीमतें ऊँची उठ रही हों या गिर रही हों। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कीमतों में उथल-पुथल हो रही हो, तथा अन्तर्वर्तीकाल हो तो मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त लागू नहीं होता। परन्तु व्यापार और वाणिज्य

अन्तर्वर्ती काल (transitional period) एक साधारण वात है, वह स्वाभाविक-सा वन गया है। अस्तु, मुद्रा-मात्रा सिद्धान्त औपकाल्पनिक (hypothetical) तथा स्थैतिक (static) स्थिति में ही लागू होती है।

मुद्रा स्फीति (Inflation of Money) : जब द्रव्य या मुद्रा की पूर्ति (supply of money) जिसमें साख (credit) को भी सम्मिलित करते है, माँग (demand) की तुलना मे इतनी अधिक वढ जाती है कि कीमते ऊॅची हो जावें और मुद्रा की क्रयशक्ति गिर जावे तो हम कहते हैं कि मुद्रा स्फीति हुई है।

कभी-कभी मुद्रा स्फीति प्राकृतिक कारणों से भी होती है। उदाहरण के लिए अकस्मात् सोने चॉदी की खानों से अधिक धातु निकलने लगे जैसा कि १८९६ और १९११ के वीच में हुआ तो मुद्रा स्फीति (inflation) हो जाना स्वाभाविक ही है। १८९६–१९११ के वीच मे जव दक्षिण अफ्रीका की सोने की खानों का पता लगा तो कीमतें ऊॅची चढ गई। किन्तु स्वाभाविक रूप से मुद्रा स्फीति के वहुत कम उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। अधिकतर तो मुद्रा स्फीति राष्ट्रीय सकट काल में कृत्रिम रूप से उत्पन्न किया जाता है। अधिकतर युद्ध के समय युद्धरत राष्ट्र मुद्रा स्फीति का सहारा लेने पर वाध्य होते हैं। १९१४–१८ के महायुद्ध के समय तथा १९३९–४५ के द्वितीय महायुद्ध के समय वहुत से राष्ट्रों ने मुद्रा स्फीति को अपनाया। कारण यह है युद्ध मे इतना अधिक व्यय करना पड़ता है कि जो साधारणतया कर लगाकर इकट्ठा नहीं किया जासकता। कुछ हद तक सरकार ऋण लेकर काम चला सकती है परन्तु अधिक ऋण मिलने में भी कठिनाई होने लगती है विशेषकर जवकि सरकार की साख (credit) गिरी हुई होती है। अधिक कर लगाये जा सकते हैं परन्तु एक सीमा के उपरान्त जनता अधिक कर लगाना सहन नहीं करती। अस्तु; रुपया इकट्ठा करने का सबसे सरल और कम खर्चीला तरीका यही रह जाता है कि सरकार अपरिवर्त्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper currency) को छापे जिसको सरकार को धातु मुद्रा में वदलना नहीं पड़ता, और न जिस पर सरकार को कोई सूद ही देना पड़ता है। अनन्त राशि में यह कागजी मुद्रा छापी जाती है और उसके द्वारा युद्ध का खर्च चलाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा का परिमाण वहुत अधिक वढ जाता है। युद्ध में जो व्यय होता है वह अनुत्पादक व्यय होता है। अस्तु; युद्धकाल में केवल मुद्रा का परिमाण ही वढता हो, यही वात नहीं है वरन् उत्पादन घटता है और वस्तुओं का परिमाण भी घट जाता है। मुद्रा तथा साख का परिमाण वस्तुओं की तुलना में वहुत अधिक वढ जाता

है जिसका परिणाम मुद्रा स्फीति (inflation) होता है। पिछले महायुद्ध के समय यह अनुपात लगाया गया था कि योरोपीय राष्ट्रों में वस्तुओं का परिमाण दस प्रतिशत घट गया, किन्तु मुद्रा का चलन सैकड़ों प्रतिशत बढ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि खरीदी जा सकने वाली वस्तुएँ तो घट गई किन्तु लोगों की क्रयशक्ति बहुत बढ़ गई। फलस्वरूप कीमतें ऊपर चढने लगीं। युद्धरत प्रत्येक देश में कम या अधिक मुद्रा स्फीति अवश्य हुई है। युद्ध के लिए इस रीति से रुपया इकट्ठा करने से बहुत सी सुविधाएँ और लाभ दिखलाई पड़ते हैं। इसके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आर्थिक समृद्धि होगई हो और पूँजीपतियों को अंधाधुंध लाभ होने लगता है, वे युद्ध-कोष में सहायता खूब देते हैं। जनता व्यवसायियों, सटोरियों तथा अधिक लाभ कमाने वालों को ऊँची कीमतों का कारण समझती है। अतएव वे जनता के कोप भाजन हैं तथा सरकार जनता की कटु आलोचना से बच जाती है।

कभी-कभी साधारण शान्तिकाल में भी सरकार को मुद्रा स्फीति को अपनाना पड़ता है, यदि उसकी साख इतनी गिर जाती है कि मुद्रा बाजार में वह ऋण नहीं निकाल सकती हो, अथवा जनता का समर्थन समाप्त हो जाने के भय से नवीन कर लगाने का साहस नहीं करती। कभी-कभी मुद्रा स्फीति लेनदारों (creditors) के विरुद्ध कर्जदारों (देनदारों) को सहायता पहुँचाने के लिए अथवा निर्यात करने वालों को आयात करने वालों के विरुद्ध सहायता करने के लिए भी किया जाता है।

मुद्रा स्फीति से हानियाँ : मुद्रा स्फीति से बहुत हानियाँ होती हैं। जब मुद्रा का मूल्यह्रास (depreciation) होता है तो लेनदारों (creditors) को हानि होती है और कर्जदारों को लाभ होता है। क्योंकि जिस समय उन्होंने कर्ज लिया था मुद्रा का मूल्य अधिक था अर्थात् वह अधिक राशि में वस्तुएँ खरीद सकती थी। किन्तु जब वह कर्ज चुकाते हैं तब मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रयशक्ति कम हो जाती है अर्थात् कर्जदार वास्तव में कम वस्तुएँ लौटाकर कर्ज को चुका देता है। लेनदारों को जो सूद से आय होती है उसका भी मूल्य कम हो जाता है। कीमतों के ऊँचा उठने से किसानों, उद्योगपतियों, थोक तथा फुटकर व्यापारियों को खूब लाभ होता है क्योंकि उनके माल की कीमत प्रतिदिन बढती जाती है। वे यदि थोड़े समय रुक जाते हैं तो कीमतों के बढने के साथ-साथ उनकी कीमत भी बढती जाती है। कीमतों के ऊँची होने के कारण मजदूरों को बहुत हानि उठानी पड़ती है। उनके रहन-सहन का दर्जा गिर जाता है क्योंकि कीमतों के मा[illegible]

नहीं बढती और यदि बढती भी है तो उस अनुपात में नहीं बढती जिस अनुपात में कीमतें बढती हैं। व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों को अनाप-शनाप लाभ होता है तथा जीवन निर्वाह का लागत व्यय (cost of living) बहुत अधिक बढ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में अशान्ति उत्पन्न होती है और मजदूर क्षुब्ध हो कर हड़तालें करने लगता है और उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उत्पादन व्यय (cost of production) बढ जाने के कारण, व्यवसायी अपने माल को संसार के बाजार में बेच सकने में कठिनाई अनुभव करने लगते हैं। वे विदेशी माल की होड़ में नहीं टिक पाते। वेतन पाने वाले तथा उपभोक्ताओं (consumers) को भी हानि होती है क्योंकि उनका वेतन तो पूर्ववत् ही रहता है किन्तु उनको उपभोक्ता वस्तुओं की कीमत बहुत अधिक देनी पड़ती है। मुद्रा स्फीति के साथ साथ जो कृत्रिम समृद्धि की स्थिति का उदय होता है उससे देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। लोगों में अनाप शनाप फिजूल-खर्ची की आदत पड़ती हैं, विशेषकर व्यापारी, व्यवसायी वर्ग जो कि खूब लाभ कमाता है, खूब खर्च करने लगता है। किसानों में भी फिजूलखर्ची बढ़ जाती है। सच तो यह है कि मुद्रा स्फीति के कारण जो समृद्धि दिखलाई देती है वह वास्तविक नहीं होती, वह दिखावटी होती है। बात यह है कि साधारण मनुष्य अपनी आय को मुद्रा में नापने का इतना अधिक अभ्यस्त हो गया है कि जब उसकी मुद्रा आय (money income) बढ जाती है तो वह कल्पना करने लगता है कि वह पहले से अधिक समृद्धशाली हो गया है। वह थोड़ी देर के लिए यह भूल जाता है कि उसका व्यय भी पहले से बढ़ गया है।

इस प्रकार एक निकम्मी सरकार अपनी नीति से होने वाली भयंकर हानि को मुद्रा के मूल्य को कम करके छिपा सकती है। अस्तु, यह एक प्रकार से जनतन्त्र की विरोधी नीति है। साधारणतया यदि कोई सरकार इतना व्यय कर लगाकर करे तो वह अधिक दिनों न टिक सके। जनता ऐसी सरकार को पदच्युत करदे किन्तु सरकार मुद्रा स्फीति के द्वारा सर्व साधारण को धोखे में रखकर स्वयं सत्तारूढ रहने का षडयन्त्र करती है। मुद्रा स्फीति का दूसरा भयंकर दोष यह है कि यदि एक बार वह आरम्भ होजाता है तो उसको रोकना कठिन होता है। मुद्रा की क्रय शक्ति क्रमशः गिरती जाती है। सरकार को अपना काम चलाने के लिए और अधिक कागजी मुद्रा निकालनी पड़ती है क्योंकि वस्तुओं की कीमत बढ जाती हैं तथा वेतन इत्यादि भी बढ़ाने पड़ते हैं। अधिक

मुद्रा निकालने का परिणाम यह होता है कि मुद्रा की क्रयशक्ति और गिरती जाती है। अन्त में उसका परिणाम यह होता है कि मुद्रा का कोई मूल्य ही नहीं रहता। लोगों का मुद्रा पर से विश्वास हट जाता है, व्यापार ठप्प हो जाता है, आर्थिक स्थिति भयावह हो उठती है। लगातार मुद्रा स्फीत करने का परिणाम आर्थिक संकट हो जाता है। मुद्रा का मूल्य नहीं रहता। लोग देश की प्रचलित मुद्रा में कारबार करने से हिचकते हैं, लेनदेन बंद हो जाता है, कोई किसी को कर्ज नहीं देता, बैंक साख देना बंद कर देते हैं।

जो कार्य मुद्रा स्फीति से किए जा सकते हैं वे अन्य तरीकों से अधिक अच्छी तरह से किए जा सकते हैं और मुद्रा स्फीति के भयकर परिणामों से बचा जा सकता है। यदि कर्जदारों को सहायता पहुँचानी अभीष्ट हो तो या तो कर्ज की अदायगी रोक देनी चाहिए अथवा कानून बनाकर कर्जों को समाप्त या कम कर देना चाहिए। यदि निर्यात को बढाना अभीष्ट हो तो निर्यात करने वालों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। यदि आयात (import) को रोकना हो, तो या तो आयात पदार्थ पर ऊँचा कर लगाना चाहिए अथवा उसका आयात ही रोक देना चाहिए। किन्तु किसी भी दशा में मुद्रा स्फीति श्रेयस्कर नहीं है। मुद्रा स्फीति उस ढालू पृथ्वी की तरह है जिस पर चलने वाला व्यक्ति खड्डे में गिर जाता है। मुद्रा स्फीति को प्रत्येक दशा में बचाना चाहिए। परन्तु जब-जब युद्ध हुआ तब-तब युद्धरत देशों ने इसकी शरण ली।

मुद्रा का संकुचन (Deflation) · जब मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम करदी जाती है तब हम कहते हैं कि मुद्रा का सकुचन किया गया। मुद्रा सकुचन का परिणाम यह होता है कि कीमतें गिरने लगती हैं। मुद्रा-सकुचन मुद्रा स्फीति की विरोधी क्रिया है।

जब कि मुद्रा स्फीति के भयङ्कर परिणाम प्रगट होने लगते हैं, लोगों की वास्तविक आय का अधिकांश भाग सरकार उनसे छल करके छीन लेती है तो मुद्रा स्फीति को रोकने तथा उसके दुष्परिणामों को दूर करने के लिए मुद्रा संकुचन की नीति को अपनाया जाता है। मुद्रा स्फीति के दुष्प्रभाव को मुद्रा के सकुचन से दूर किया जाता है। अनावश्यक मुद्रा को कम करने के लिए या तो कागजी मुद्रा नष्ट करके कम करदी जाती है अथवा देश में उत्पादन को बहुत बढाया जाता है अथवा बहुत अधिक कर लगाया जाता है। केन्द्रीय बैंक (central bank) बट्टा-दर को बढा देता है, इससे मुद्रा का संकुचन होता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक बाज़ार में ऋण निकालता है अथवा सरकारी

प्रतिभूतियाँ (securities) बेच देता है जिससे कि वह चलन में से मुद्रा को खींच लेता है।

परन्तु एक बात हमें भूलनी नहीं चाहिए कि मुद्रा-सकुचन (deflation) का पिछला इतिहास हमें बतलाता है कि जिस अनुपात में कागजी मुद्रा को चलन से खींचा जाता है उस अनुपात में मुद्रा का मूल्य कभी भी नही बढता। इसका परिणाम यह होता है कि जितनी मुद्रा चलन में रह जाती है वह ऊँची कीमतों के स्तर को देखते अपर्याप्त रह जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि सरकार को या तो मुद्रा सकुचन की नीति को त्याग देना पड़ता है अथवा उस कागजी मुद्रा को, जिसको चलन से खींच लिया गया है, पुन: चलन में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि चलन से मुद्रा को खींच कर नष्ट करने में बहुत जल्दी की गई हो तो यह सम्भव नहीं है कि कीमतें यकायक गिर जावें। कीमतें न तो ऐसी स्थिर ही होती हैं कि उन पर किसी का प्रभाव ही न पडे और न ऐसी चचल ही होती हैं कि तुरन्त ही किसी बात के प्रभाव से उनमें परिवर्तन आजावे। जो भी प्रभाव कीमतों पर पड़ते हैं उनसे वे कठोर सघर्ष करती हैं। यदि कीमतों पर पड़ने वाला दबाव एक सीमा पार कर जाता है तो कीमतें कम नहीं होती वरन् चलन से खींची हुई मुद्रा का स्थान अन्य स्थानापन्न (substitut[illegible] ले लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चलार्थ का परिमाण (amount of currency) कीमतों की अपेक्षा अधिक लचीला होता है। एक परिवर्तित मूल्य स्तर के अनुसार मुद्रा और साख की राशि में परिवर्तन करना चलार्थ (currency) द्वारा कीमतों में परिवर्तन लाने से अधिक सरल है।

मुद्रा सकुचन के परिणाम · मुद्रा स्फीति के अनुसार ही मुद्रा सकुचन (defl[illegible]tion) से सबको लाभ पहुँचता हो, ऐसी बात नहीं है। जब कीमतें गिरती हैं तो उनका आर्थिक प्रभाव कीमतों के बढने के समय होने वाले आर्थिक प्रभाव से ठीक विपरीत होता है। कीमतों के गिरने का प्रभाव व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग पर बहुत खराब होता है क्योंकि उनकी आय तो कम हो जाती है किन्तु मज़दूरी, कर (taxes) तथा अन्य व्यय अधिकाश ज्यों के त्यों रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि धधो को हानि होने लगती है, धन्धे शिथिल हो जाते हैं, कुछ धन्धे समाप्त हो जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि सरकार बेकारी फैल जाती है।

किन्तु मजदूरों तथा निश्चित वेतन पाने वाले वर्ग को गिरती हुई कीमतों से लाभ होता है क्योंकि उनका वेतन पूर्ववत् रहता है और वे उनसे

परिच्छेद ३४

मुद्रा प्रमाण (Monetary Standard)

पिछले परिच्छेद में हमने मुद्रा स्फीति के भयकर दोषों का उल्लेख किया था। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक न्याय तथा व्यापार-धधों तथा वाणिज्य की उन्नति की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुद्रा का मूल्य (वस्तुओं में) स्थिर रहे। यदि हम मुद्रा का कोई उचित प्रमाण (suitable monetary standard) स्वीकार करलें तो कीमतों के स्तर (price level) को स्थिर रखने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि व्यवहार मे कोई भी मुद्रा प्रमाण ऐसा नहीं है जो कि आदर्श मुद्रा प्रमाण कहा जा सके तथा जिसके अन्तर्गत कीमतें बिलकुल स्थिर रहें।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि धातु मुद्रा अथवा कागजी मुद्रा का चलन समाज करता रहा है। अतएव या तो समाज धातु प्रमाण (metallic standard) स्वीकार कर सकता है अथवा कागजी प्रमाण (paper standard) स्वीकार कर सकता है। इसके अतिरिक्त हम अन्य प्रमाण भी स्वीकार कर सकते हैं। इनके सम्बन्ध मे हम आगे लिखेंगे।

एक धातुता (Mono Metallism) उस पद्धति में जिसमें प्रामाणिक सिक्का (standard coin) अथवा मुख्य सिक्का किसी एक धातु (सोने या चाँदी) का हो उसे एक धातु चलन कहेंगे। यदि प्रामाणिक सिक्का सोने का है तो उसे स्वर्ण प्रमाण (gold standard) कहेंगे और यदि प्रमाणिक सिक्का चाँदी का है तो उसे रौप्य चलन (silver standard) कहेंगे।

द्विधातु प्रमाण (Bimetallism) : जब सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक सिक्के हों तो उसे द्विधातु प्रमाण (bimetallism) अथवा द्विप्रमाण (double standard) कहेंगे।

द्विधातु प्रमाण (Bimetallism) · शुद्ध द्विधातु प्रमाण मे दोनों धातुओं के सिक्कों की स्वतन्त्र ढलाई (free minting) होती है, दोनों अपरिमित कानूनी ग्राह्य (unlimited legal tender) सिक्के होते हैं और उनकी विनिमय दर (exchange ratio) निश्चित करदी जाती है। उदाहरण के लिए कल्पना करें कि यदि किसी चाँदी के प्रामाणिक सिक्के में एक ग्रेन चाँदी

हो और सोने के सिक्के में एक ग्रेन सोना हो तो उनकी विनिमय दर २० चाँदी के सिक्के बराबर होंगे एक सोने के सिक्के के। जब दो प्रामाणिक सिक्के चलन में होते हैं तो प्रत्येक देनदार को यह अधिकार होता है कि वह अपना ऋण चाहे जिस सिक्के में चुकादे।

द्विधातु प्रमाण के गुण : द्विधातु चलन के समर्थकों का कहना है कि जब दो धातुओं के प्रामाणिक सिक्के चलन में होते हैं तो समपूरक क्रिया (compensatory action) के प्रभाव के कारण कीमतें अधिक स्थिर रहती हैं। उदाहरण के लिए यदि एक धातु की उत्पत्ति अधिक या कम हो जावे तो इस बात की सम्भावना है कि दूसरी धातु की उत्पत्ति उसके विपरीत दिशा में कम या अधिक हो। इसका परिणाम यह होगा कि यदि सोने की उत्पत्ति इस वर्ष कम हुई और चाँदी की अधिक उत्पत्ति होगई तो सोने की कम उत्पत्ति से जो प्रभाव कीमतों पर पड़ता वह चाँदी की उत्पत्ति अधिक होने के कारण दूर हो जावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विधातु प्रमाण मे एक धातु प्रमाण की अपेक्षा कीमतें अधिक स्थिर रहेंगी।

इसके अतिरिक्त जब कि दो धातुएँ प्रामाणिक मुद्रा का काम करती हैं तब यह तो स्वाभाविक ही है कि कोई एक धातु अधिक मूल्यवान् हो जावे और उसकी तुलना मे दूसरी धातु का मूल्य कम हो जावेगा। जो धातु कि कम मूल्यवान् होगी वह अधिक मूल्यवान धातु को चलन से बाहर कर देगी। वही धातु टकसाल मे ढलने के लिए आवेगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में वह धातु कम हो जावेगी और उसका मूल्य बढ जावेगा। इसके विरुद्ध अधिक मूल्यवान धातु टकसाल में ढलने के लिए नहीं लाई जावेगी। उसका परिणाम यह होगा कि बाज़ार में वह अधिक हो जावेगी और उसका मूल्य कम हो जावेगा। इस प्रकार जब भी दोनों धातुओं की कानूनी विनिमय दर (legal exchange rate) से बाज़ार मे दोनों धातुओं की विनिमय दर भिन्न होगी, यह प्रवृत्ति आरम्भ हो जावेगी और शीघ्र ही बाजार विनिमय दर भी क़ानूनी विनिमय दर के समान पहुँच जावेगी।

द्विधातु चलन के समर्थकों का यह भी कहना है कि दो धातुओं के प्रामाणिक सिक्के साथ-साथ चलन में होने के कारण अधिक मुद्रा राशि चलन में रहेगी और उसके परिणामस्वरूप कीमतें ऊँची होंगी। ऊँची कीमतें व्यापार तथा व्यवसाय के लिए अधिक अनुकूल होती हैं। ऊँची कीमतें निर्धन कर्जदारों के लिए भी लाभदायक होती हैं। अतएव द्विधातु चलन अधिक लाभदायक है।

द्विधातु प्रमाण या द्विधातु चलन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण गुण यह है कि उसके कारण उन सभी देशों से व्यापार में सुविधा होती है कि जो सोना और चाँदी का उपयोग करते हैं।

ग्रैशम नियम (Gresham's Law). सर टामस ग्रैशम ने मुद्रा सम्बधी अपने अध्ययन के बाद इस नियम का प्रतिपादन किया कि अगर किसी देश में एक समय अच्छी और बुरी मुद्रा का चलन है तो बुरी मुद्रा की प्रवृत्ति अच्छी मुद्रा को चलन के बाहर कर देने की रहेगी। सर टोमस ग्रैशम रानी एलीजबेथ (इङ्गलैंड) को मुद्रा सम्बधी प्रश्न पर सलाह देने का कार्य करते थे। अच्छी मुद्रा से उनका अर्थ उन सिक्कों से था जो वजन में पूरे होते थे और बुरी मुद्रा से उनका अर्थ उन सिक्कों से था जो घिस जाने के कारण अथवा अन्य किसी कारण वजन में पूरे नहीं होते थे बल्कि कम होते थे।

बुरी मुद्रा की अच्छी मुद्रा को चलन के बाहर कर देने की प्रवृत्ति को समझना कठिन नहीं है। मुद्रा की हैसियत से अच्छी और बुरी मुद्राएँ बराबर चलती हैं। ऐसी हालत में जो व्यक्ति उन मुद्राओं को मुद्रा की हैसियत से पृथक् अन्य कोई उपयोग करना चाहेंगे वे स्वभावत. अच्छी मुद्रा को (जिसमें पूरा वजन हो) ही चुनेंगे। मान लीजिए किसी व्यक्ति को सिक्के जमा करके रखना है तो वह ऐसे ही सिक्के चुनेगा जो नये व बिना घिसे हों, क्योंकि वे सचय करने की दृष्टि से अधिक उपयोगी होंगे। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी काम में चाहे विदेश में रहने वाले किसी ऋणदाता को ऋण चुकाने के लिए अथवा ज़ेवर बनवाने के लिए सिक्कों को गलाकर धातु निकाल लेना चाहता है, तो वह उस काम के लिए अधिक वजनी और अच्छे सिक्के चुनेगा।

किन्तु उपर्युक्त नियम लागू होने के लिए दो शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है। पहली बात तो यह है कि जो बुरी मुद्रा है वह इतनी बुरी नहीं होनी चाहिए कि जिसे विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार करने से ही जनता अस्वीकार करने लगे। ऐसी दशा में तो यह होगा कि जो अच्छी मुद्रा है वह बुरी मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी। दूसरी शर्त इस सम्बध में यह है कि मुद्राओं का कुल परिमाण इतना अधिक होना चाहिए कि अच्छी मुद्राओं के चलन के बाहर हो जाने पर भी मुद्रा सम्बधी आवश्यकता पूरी हो सके। यदि कुल मुद्रा की मात्रा पहले से ही ठीक उतनी ही है जितनी कि कम से कम आवश्यक है तो उस हालत में अच्छी मुद्रा का चलन से बाहर होना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि केवल बुरी मुद्रा जो शेष बच रहेगी, देश की आवश्यकताओं के लिए काफी नहीं रहेगी और इस प्रकार अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्रा साथ-साथ चलती

होंगी। तीसरी बात यह है कि यह नियम एक ही काम देने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं के बारे में लागू होता है। यदि भिन्न-भिन्न मुद्राएँ भिन्न-भिन्न काम देने वाली हों तो यह नियम लागू नहीं होगा। जैसे प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों में यह नियम लागू नहीं करेगा।

इस नियम का प्रतिपादन ग्रेशम ने एक ही धातु की मुद्रा के चलन को ध्यान में रख कर किया था किन्तु अन्य परिस्थितियों मे भी यह लागू हो सकता है। यदि एक ही साथ देश में दो धातुओं के सिक्कों का चलन हो और दोनों प्रकार के सिक्के प्रामाणिक सिक्के (standard coin) हों और उनकी आपसी विनिमय दर (exchange ratio) कानून द्वारा स्थापित हो तो धातुओं के बाजार मूल्य में परिवर्तन होने से ग्रेशम का नियम लागू हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी देश में सोने और चाँदी के प्रामाणिक सिक्कों का चलन है, अर्थात् दो धातुओं की स्वतन्त्र ढलाई के लिए टकसाल खुली हुई हैं और सोने और चाँदी के मूल्य में सरकार द्वारा २० : १ का अनुपात निर्धारित कर दिया गया है। अब यदि बाजार में चाँदी का मूल्य गिर जाता है अर्थात् बाजार मे हमें एक तोला सोने से २५ तोला चाँदी मिलती है तो ग्रेशम का नियम लागू हो जावेगा और देश मे केवल चाँदी का सिक्का चलन में रह जावेगा। प्रत्येक व्यक्ति सोने के सिक्के को गलाकर बाज़ार में बेचकर एक तोला सोने से २५ तोला चाँदी प्राप्त करेगा और २५ तोला चाँदी टकसाल में देकर चाँदी के २५ सिक्के प्राप्त कर लेगा। २० चाँदी के सिक्कों मे फिर एक सोने का सिक्का प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार प्रत्येक बार उसे पाँच तोले चाँदी का या पाँच चाँदी के सिक्कों का लाभ होगा। वह लगातार सोने के सिक्कों को गलाता रहेगा और चाँदी के सिक्के ढलवाता रहेगा। कुछ समय के उपरान्त देश में केवल चाँदी के सिक्के चलन में रह जावेंगे, सोने के सिक्के चलन से बाहर हो जावेंगे। इसके विपरीत यदि बाजार में चाँदी का मूल्य बढ जाता है तो लोग चाँदी का सिक्का गलाकर सोने को ढलवाने के लिए टकसाल में ले जावेंगे और क्रमशः सोने के सिक्के का देश में चलन हो जावेगा, चाँदी का सिक्का चलन से बाहर हो जावेगा।

इसी प्रकार यदि धातु की मुद्रा के साथ-साथ ऐसी कागज़ी मुद्रा का चलन है जिसके मूल्य में ह्रास हो चुका है अर्थात् उस पर बट्टा (discount) लगने लगा है तो वह कागज़ी मुद्रा धातु मुद्रा को चलन के बाहर कर देगी। प्रथम महायुद्ध के समय बहुत से देशों ने न बदली जाने वाली कागज़ी मुद्रा (inconvertible paper money) इतनी अधिक राशि में छापी कि कागज़ी

का धातु मुद्रा की तुलना मे मूल्य घट गया। नोटों पर वट्टा लगने लगा। ऐसी दशा मे लोगों ने धातु मुद्रा का संग्रह करना आरम्भ कर दिया अथवा उनका उपयोग विदेशों में भुगतान करने के लिए करने लगे और देश में केवल कागज़ी मुद्रा रह गई।

द्विधातु प्रमाण अथवा चलन का दोष : हम ऊपर द्विधातु प्रमाण (bimetallism) का उल्लेख कर आये हैं। द्विधातु प्रमाण का सबसे बड़ा दोष यह है कि जब दो धातुओं (सोने और चाँदी) के प्रामाणिक सिक्के चलाये जाते हैं तो कानून के द्वारा उनकी विनिमय दर निर्धारित कर दी जाती है। परन्तु बहुधा यह होता है कि बाजार में सोने और चाँदी का आपसी मूल्य कानून द्वारा निर्धारित मूल्य से भिन्न हो जाता है और ग्रेशम नियम लागू हो जाता है। सच तो यह है कि सोने और चाँदी का उत्पादन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होता है। अतएव उनके पारस्परिक मूल्य को कानून द्वारा निश्चित कर देना सम्भव नहीं है। जहाँ इन धातुओं के बाजार मूल्य मे कानून द्वारा निश्चित मूल्य से परिवर्तन हुआ, ग्रेशम नियम लागू हो जाता है। बाजार में जिस धातु का मूल्य गिर जाता है वही धातु दूसरी धातु को चलन के बाहर कर देती है। इसका परिणाम व्यवहार में यह होता है कि द्विधातु चलन स्वीकार करने वाले देश में भी वास्तव म एक धातु चलन ही रहता है और उस धातु का चलन रहता है जो कि कम मूल्यवान् है। अतएव द्विधातु चलन तभी सफल हो सकता है कि जब ससार के सभी देश द्विधातु चलन को स्वीकार करलें और प्रत्येक देश में सोने और चाँदी का आपसी मूल्य एक समान निर्धारित कर दिया जावे।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु चलन : ग्रेशम नियम को न लागू होने देने तथा सोने और चाँदी की विनिमय दर को स्थायी रखने की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रमाण का समर्थन किया जाता है। द्विधातु चलन के समर्थकों का कहना है कि यदि ससार का प्रत्येक देश द्विधातु चलन को स्वीकार कर ले तो फिर द्विधातु चलन का सबसे बड़ा दोष अर्थात् ग्रेशम नियम का लागू होना दूर हो सकता है। इस तर्क मे बल है। यदि ससार का प्रत्येक देश द्विधातु चलन को स्वीकार करले तो वह अधिक सफल होगा। परन्तु इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि कि इस सम्बन्ध मे कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो सके।

लंगड़ा द्विधातु चलन (Limping Bimetallism) : यह द्विधातु चलन का विकृत रूप होता है। इसमें दो धातुएँ कानून द्वारा अपरिमित ग्राह्य होती हैं किन्तु स्वतंत्र ढलाई (free coinage) केवल एक धातु की ही होती

है। इस प्रकार का चलन उस समय होता है कि जब कोई देश जो द्विधातु चलन को स्वीकार कर लेता है किन्तु ग्रेशम नियम के लागू होने पर देखता है कि एक धातु दूसरी धातु को चलन के बाहर कर रही है तो सस्ती धातु की स्वतन्त्र ढलाई रोक देता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व यह लँगड़ा द्विधातु चलन संयुक्त राज्य अमेरिका तथा फ्रान्स में प्रचलित था। वहाँ सोने और चाँदी दोनों के सिक्के अपरिमित ग्राह्य सिक्के थे किन्तु केवल सोने के सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई होनी थी चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई रोक दी गई थी।

सम प्रमाण (Parallel Standard) जब कि कोई देश सोने और चाँदी दोनों धातुओं के सिक्कों को स्थायी रूप से चलन में साथ-साथ रखना चाहता है तो उनका आपसी मूल्य कानून द्वारा निश्चित नहीं किया जाता वरन् खुले बाजार में उनका आपसी मूल्य निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। सरकारी खजाना अथवा बैंक बाज़ार मे प्रचलित विनिमय दर (exchange ratio) पर उनको स्वीकार करते हैं। यह पद्धति १६६३ में इङ्गलैंड में प्रचलित की गई थी। इसे "सम प्रमाण" कहते हैं। किन्तु व्यवहार में इस पद्धति से बहुत-सी कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुई। प्रतिदिन सोने और चाँदी की विनिमय दर में अन्तर हो जाता था तथा व्यापारियों को लगातार यह हिसाब लगाना पड़ता था कि अमुक वस्तु की सोने के सिक्के मे अमुक कीमत होगी और चाँदी के सिक्कों में अमुक कीमत होगी। अतएव व्यापार में इससे बहुत अड़चन आने लगी इस कारण इस पद्धति को छोड़ना पड़ा।

एक धातु चलन या प्रमाण (Mono-metallism): जब एक धातु का ही प्रामाणिक सिक्का किसी देश मे प्रचलित होता है तो उसे एक धातु चलन या प्रमाण कहते है। यह अधिकतर स्वर्ण प्रमाण (gold standard) या रौप्य प्रमाण (silver standard) होता है। चाँदी सस्ती धातु होती है और उसके मूल्य मे बहुधा परिवर्तन होता रहता है। अतएव रौप्य चलन अधिकतर आर्थिक दृष्टि से पिछड़े और निर्धन देशों में पाया जाता है जैसे चीन इत्यादि में। जो देश कि आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली और प्रगतिशील हैं, जहाँ उद्योग-धंधे तथा व्यापार उन्नत दशा में हैं और जहाँ औसत व्यक्ति की आय बहुत अधिक होती है वहाँ स्वर्ण प्रमाण प्रचलित होता है। सोने का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहता है और जो देश कि सोने का उपयोग करते हैं उनकी क्रय-शक्ति रौप्य चलन वाले देशों की अपेक्षा अधिक स्थायी रहती है।

स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard): आधुनिक समय मे अधिकांश देशों ने क्रमशः स्वर्ण प्रमाण को ही स्वीकार किया। सैकड़ों वर्षों तक स्वर्ण प्रमाण

हों, ऐसा नही है। अतएव कुछ लोग द्विधातु चलन का समर्थन करते हैं। किन्तु अनुभव ने बतलाया कि द्विधातु चलन से भी कीमतों की स्थिरता प्राप्त करना कठिन है। अतएव अब बहुत से विद्वान इन नतीजों पर पहुँचे हैं कि कागजी मुद्रा प्रमाण (paper money standard) से ही कीमतों की स्थिरता प्राप्त की जासकती है। उनका कहना है कि यदि कागजी मुद्रा को ठीक तरह से नियन्त्रित किया जावे अर्थात् जितनी मुद्रा की आवश्यकता हो उतनी ही चलन में रहने दी जावे तो कीमतों को अधिक स्थिर बनाया जासकता है।

जो लोग कि कागजी मुद्रा प्रमाण का विरोध करते हैं उनका कहना है कि वह प्रबन्धित चलार्थ (managed currency) जो कि अपरिवर्त्य (inconvertible) होगी, लोग उसे स्वीकार नहीं करेंगे। उनका कहना है कि लोग कागजी मुद्रा को केवल इसलिए स्वीकार करते हैं क्योंकि उसके पीछे धातु कोष होता है और उसको धातु मुद्रा में बदला जासकता है। लेखक इस मत को स्वीकार नहीं करता। आज अधिकांश देशों में कागजी मुद्रा का चलन है। वह धातु मुद्रा में नहीं बदली जासकती और वह भली भाँति चलती है। बात यह है कि कागजी मुद्रा तो निकालने वाले की साख और उसमें सर्व साधारण के विश्वास पर निर्भर है। यही कारण है कि आज अधिकतर अर्थशास्त्र के विद्वान इस मत के हैं कि प्रबधित चलार्थ (managed currency) अर्थात् कागजी मुद्रा प्रमाण के द्वारा कीमतों को अधिक स्थिर रखा जा सकता है।

स्वर्ण प्रमाण (Gold Standard) : हम ऊपर बतला आये हैं कि जब प्रामाणिक सिक्का स्वर्ण का हो तो हम उसे स्वर्ण प्रमाण कहेंगे। वस्तुतः यह परिभाषा बहुत सही नहीं है। स्वर्ण प्रमाण का यह अर्थ कदापि भी नहीं है कि यदि किसी देश में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है तो वहाँ चाँदी के सिक्के प्रचलित न हों अथवा कागजी मुद्रा प्रचलित न हो। स्वर्ण प्रमाण का केवल तात्पर्य यह है कि सोना ही मुद्रा पद्धति का आधार है, उसे हम प्रामाणिक धातु (standard metal) मानते हैं, उदाहरण के लिए यदि किसी देश में कागज़ी मुद्रा स्वर्ण में बदली जा सकती है अथवा चाँदी का सिक्का स्वर्ण में बदला जा सकता है तो हम उसे स्वर्ण प्रमाण कहेंगे। इसी प्रकार यदि चाँदी मुद्रा पद्धति का आधार हो तो उसे हम रौप्य चलन कहेंगे और यदि सोना और चाँदी दोनों ही मुद्रा पद्धति के आधार हों तो उसे द्विधातु चलन कहेंगे।

स्वर्ण प्रमाण के लाभ : यदि किसी देश में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित होता है तो आवश्यकतानुसार मुद्रा सकुचन अथवा मुद्रा विस्तार अनायास स्वतः ही हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि ससार के उन सभी देशों में

जहाँ स्वर्ण प्रमाण प्रचलित होता है कीमतें एक साथ गिरतीं या चढती हैं। स्वर्ण प्रमाण में आवश्यकता पड़ने पर अधिक सिक्के ढाले जा सकते हैं अथवा यदि आवश्यकता से अधिक सिक्के हो तो उनको गलाया जा सकता है। स्वर्ण प्रमाण में सरकार पर यह भी नियन्त्रण रहता है कि वह मन माने ढग से चलार्थ (currency) को न बढा सके। स्वर्ण प्रमाण मे सोने के निर्यात अथवा आयात पर कोई प्रतिबंध नहीं होता सोने का बाजार खुला रहता है। अतएव यह सम्भव नहीं होता कि बहुत लम्बे समय तक सोना किसी देश से बाहर जाता रहे अथवा लम्बे समय तक देश में आता रहे। फिर स्वर्ण प्रमाण से एक लाभ यह है कि जिन देशों में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है उन देशों की विनिमय दर (exchange ratio) स्वर्णांकों (specie points) के बीच में ही सीमित रहती है। अस्तु; विनिमय दर में अधिक हेर-फेर नहीं होता और इस कारण विदेशी व्यापार सुविधापूर्वक और सरलता से हो सकता है।

अब हम तनिक विस्तार पूर्वक स्वर्ण प्रमाण की क्रिया का अध्ययन करेंगे।

स्वर्ण प्रमाण के अन्तर्गत मुद्रा पद्धति में नीचे लिखी विशेषताएँ पाई जाती हैं। स्वर्ण प्रमाण में यह आवश्यक नहीं है कि देश मे स्वर्ण का सिक्का चलता ही हो। यदि देश मे आन्तरिक कारबार के लिए कागजी मुद्रा का अथवा चाँदी इत्यादि के सहायक सिक्कों का ही चलन हो किन्तु उस कागजी मुद्रा का मूल्य सोने में निश्चित कर दिया गया हो तो भी हम उसे स्वर्ण प्रमाण कहेंगे। उस दशा में कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि राष्ट्रीय चलार्थ (national currency) अर्थात कागजी मुद्रा की इकाई एक निश्चित सोने के वज़न के बराबर होगी। देश के केन्द्रीय बैंक (central bank) पर यह दायित्व रहता है कि वह सोने को उस निश्चित दर पर खरीदे और बेचे। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति चाहे तो कागजी मुद्रा देकर निश्चित दर पर सोना जब चाहे और जितना चाहे केन्द्रीय बैंक से खरीदता है और जब चाहे और जितना चाहे सोना निश्चित दर पर केन्द्रीय बैंक को बेचकर उसके बदले कागजी मुद्रा प्राप्त कर सकता है। यदि किसी देश मे स्वर्ण प्रमाण प्रचलित हो और सोने का प्रामाणिक सिक्का (standard coin) भी प्रचलित हो तब तो [illegible] मूल्य स्वयं ही सोने के सिक्के मे निर्धारित हो जाता है क्योंकि प्रमाणिक सिक्के का बाह्य मूल्य (face value) और आन्तरिक मूल्य अथवा धातु मूल्य ([illegible] value) बराबर होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि निश्चित मात्रा में धातु को लेजाकर टकसाल से सोने के प्रमाणिक सिक्के ढलवाले और सिक्के देकर उनका सोना प्राप्त करले। कहने का तात्पर्य यह कि

स्वर्ण प्रमाण में निश्चित मूल्य पर सोना चाहे जितनी मात्रा में खरीदा-बेचा जा सकता है। केन्द्रीय बैंक कानून द्वारा निर्धारित मूल्य पर सोने को खरीदने और बेचने के लिए बाध्य होता है। केन्द्रीय बैंक किसी खरीदार अथवा बेचने वाले को मना नहीं कर सकता, फिर चाहे सोना किसी भी उद्देश्य से खरीदा या बेचा जावे। स्वर्ण प्रमाण (gold standard) की एक विशेषता यह भी है कि स्वर्ण के निर्यात (export) अथवा आयात (import) पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जाता।

कल्पना कीजिए कि किसी देश मे स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है। उसका निर्यात कम है और आयात अधिक है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस देश के व्यापारियों को विदेशी व्यापारियों का भुगतान करने के लिए विदेशी बिल (Foreign Bills) यथेष्ट मात्रा मे नहीं मिलेंगे। अस्तु, उन्हें केन्द्रीय बैंक से सोना खरीद कर अपने विदेशी लेनदारों को भुगतान करना होगा। केन्द्रीय बैंक का स्वर्ण कोष (gold reserve) जब कम होने लगेगा तो केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा का चलन कम करना होगा। व्यवहार में व्यापारी कागजी मुद्रा (paper money) देकर ही केन्द्रीय वैक से स्वर्ण खरीदेगा। इस प्रकार जब मुद्रा की मात्रा कम हो जावेगी तो मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के अनुसार कीमतें गिरने लगेंगी। जब देश में कीमत गिर जावेंगी तो देश का निर्यात बढ जावेगा और आयात कम हो जावेगा। व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) उस देश के पक्ष में हो जावेगा। इसका फल यह होगा कि स्वर्ण देश में आवेगा। व्यापारी उस स्वर्ण को केन्द्रीय बैंक को बेचेंगे। केन्द्रीय बैंक सोने को खरीदेगा तो कागजी मुद्रा देगा। इसका फल यह होगा कि अधिक मुद्रा चलन में आवेगी और कीमतें ऊँची हो जायेंगी। जब कीमतें ऊँची हो जावेंगी तो निर्यात कम होने लगेगा और आयात बढने लगेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ण प्रमाण मे आयात और निर्यात में बहुत अधिक लम्बे समय तक अधिक अन्तर नहीं रह सकता और विनिमय दर (exchange ratio) बहुत कुछ स्थिर रहती है। उसमें अधिक हेर-फेर नहीं होता।

स्वर्ण प्रमाण के कार्य : आधुनिक स्वर्ण प्रमाण के दो मुख्य कार्य हैं। पहला कार्य तो उसका यह है कि वह चलार्थ (currency) पर नियंत्रण स्थापित करता है। स्वर्ण प्रमाण का दूसरा कार्य यह है कि वह विनिमय दर (exchange ratio) को स्थायित्व प्रदान करता है।

यह तो हम पिछले परिच्छेद मे ही कह आये हैं कि कागजी मुद्रा (paper money) का तथा स्वर्ण कोष (gold reserve) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि किसी देश में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है तो इसका अर्थ यह

था कि कागजी मुद्रा या तो स्वर्ण के सिक्के में अथवा धातु स्वर्ण में परिवर्तनशील होना चाहिए। ऐसी दशा में या तो कागजी मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत (४० या ५०) स्वर्ण कोष में रखना आवश्यक होगा अथवा एक निश्चित राशि कागजी मुद्रा निकालने के उपरान्त जितने मूल्य की कागजी मुद्रा निकाली जाती है उतने ही मूल्य का स्वर्ण रक्षित कोष रखना पड़ता है। अतएव यदि रक्षित कोष में सोना कम हो जावे तो केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा का सकोचन करना पड़ता है और यदि सोना अधिक हो, तो अधिक कागजी मुद्रा निकाली जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश में कितनी कागजी मुद्रा निकाली जा सकती है उसका स्वर्ण प्रमाण में नियन्त्रण रहता है। केन्द्रीय बैंक (central bank) अथवा सरकार मनमाने ढंग से कागजी मुद्रा नहीं निकाल सकती।

यह हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वर्ण प्रमाण का दूसरा कार्य विनिमय दर (exchange ratio) को स्थायित्व प्रदान करना है। स्वर्ण प्रमाण में केन्द्रीय बैंक का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह निर्धारित कीमत पर जितना भी सोना उसे बेचा जावे वह खरीद ले और जितना सोना माँगा जावे उतना बेचे। उदाहरण के लिए १९१४ के पूर्व तथा १९२५ से १९३१ तक बैंक आव इगलैंड का यह उत्तरदायित्व था कि वह ३ पौंड १७ शि० तथा १० पेंस पर एक औंस शुद्ध सोना खरीद ले और ३ पौंड १७ शि० तथा १०½ पेंस पर एक औंस शुद्ध सोना बेचे। इसका परिणाम यह होता था कि बाजार में सोने का यही मूल्य रहता था। संक्षेप में सोने का मूल्य निश्चित था। अन्य स्वर्ण प्रमाण वाले देशों में भी उनकी चलार्थ (currency) में एक औंस शुद्ध सोने का इसी प्रकार मूल्य निर्धारित कर दिया जाता था। कल्पना कीजिए कि एक 'अ' देश है जहाँ एक औंस शुद्ध सोने का मूल्य वहाँ के चलार्थ में ७ रु० १५ आने ८ पाई है तो यह जानना कठिन नहीं है कि एक पौंड बराबर है दो रुपए के। इस प्रकार स्वर्ण प्रमाण दो देशों के चलार्थों की विनिमय दर को स्थिरता प्रदान करता है।

स्वर्ण प्रमाण के प्रकार : स्वर्ण प्रमाण के तीन रूप हमें देखने को मिलते हैं। हम नीचे उनका विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे।

स्वर्ण चलार्थ प्रमाण (Gold Currency Standard) : स्वर्ण चलार्थ प्रमाण को पूर्ण स्वर्ण प्रमाण (Full Gold Standard) भी कहते हैं। स्वर्ण चलार्थ प्रमाण वह होता है जिसमें सोने का एक प्रमाणिक सिक्का (standard coin) भी चलन में हो। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि स्वर्ण चलार्थ प्रमाण में कागजी मुद्रा का चलन नहीं होगा। कागजी मुद्रा प

में होते हुए भी सोने का प्रमाणिक सिक्का चलन में होना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त कागजी मुद्रा का प्रमाणिक सिक्के में परिवर्तनशील होना भी आवश्यक है। १६१४ के पूर्व अर्थशास्त्री सोने के चलन पर विशेष बल देते क्योंकि उनका विचार था कि बिना सोने के सिक्के के चलन के चलार्थ की कीमतों को स्थिर नहीं रक्खा जा सकता। उनका विचार था कि यदि सोने का सिक्का चलन में नहीं रहेगा तो सर्व साधारण का चलार्थ (currency) से विश्वास उठ जावेगा। यही कारण था कि वे सोने के प्रमाणिक सिक्के के चलन पर विशेष बल देते थे। परन्तु प्रथम महायुद्ध के समय लोगों को सोने की किफायत करने की आवश्यकता अनुभव हुई। क्रमशः अर्थशास्त्री यह सोचने लगे कि सोने का चलन हमारा कोई ध्येय नहीं है वह ध्येय की प्रगति का साधन मात्र है। सोने के चलन की आवश्यकता केवल इसलिए समझी जाती थी क्योंकि उसके चलन से सर्व साधारण का सरकार की मुद्रा नीति में विश्वास कायम रहता था और विदेशी अपने भुगतान में उस देश की मुद्रा को स्वीकार करने में हिचकते नहीं थे। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अर्थशास्त्रियों के मत में परिवर्तन हो गया। उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि स्वर्ण प्रमाण के चलन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सोने का सिक्का चलन में हो। श्री केन्स तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि स्वर्ण प्रमाण के लिए यही यथेष्ट है कि कागजी मुद्रा को बिना किसी रुकावट के स्वतन्त्रतापूर्वक किसी भी रूप में सोने में बदला जा सके। फिर कागजी मुद्रा को सोने में बदलने वाला चाहे जितनी मात्रा में सोना ले और चाहे जिस उद्देश्य में सोना ले। उनका कहना था कि सोने के सिक्के के चलन में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। यही कारण था कि प्रथम महायुद्ध के उपरान्त स्वर्ण चलार्थ प्रमाण (gold currency standard) के स्थान पर स्वर्ण पाट प्रमाण (gold bullion standard) का सर्वत्र चलन हुआ।

स्वर्ण पाट प्रमाण (Gold Bullion Standard) महायुद्ध के उपरान्त बहुत-से देशों ने स्वर्ण पाट प्रमाण को अपनाया। १६२५ में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण प्रमाण को पुन. स्थापित किया तो कागजी मुद्रा सावरिन तथा अर्ध सावरिन में न बदली जाकर ४०० औंस के सोने के पाट में बदली जाती थी। सोने का मूल्य पूर्ववत ३ पौं० १७ शि० १० पें० रक्खा गया। इसी को स्वर्ण पाट प्रमाण कहते हैं। भारतवर्ष में हिल्टन यंग कमीशन ने भी ठीक इसी (स्वर्ण पाट प्रमाण) को भारत में प्रचलित करने की सिफारिश की थी।

स्वर्ण पाट प्रमाण में यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से मूल्य को नापने का

सोना ही है परन्तु सोना चलन मे प्राय: नहीं रहता। अधिकतर चलन में
गजी मुद्रा ही रहती है। कुछ सांकेतिक धातु मुद्रा भी चलन मे रहती है; किन्तु
गजी मुद्रा को धातु सोने में बदला जा सकता है फिर चाहे सोने की आवश्यकता
र्यात करने के लिए अथवा देश में ही उसका उपयोग करने के लिए हो।
इसमें सदेह नहीं कि इस पद्धति में सोने की किफायत हो जाती है और स्वर्ण
मान के लाभ भी प्राप्त हो जाते हैं।

स्वर्ण विनिमय प्रमाण (Gold Exchange Standard): जो देश
निर्धन हैं वे स्वर्ण विनिमय प्रमाण को अपनाते हैं। स्वर्ण विनिमय प्रमाण में
देश के अन्दर कागजी मुद्रा अथवा घटिया धातु के सिक्के चलन में रहते हैं
किन्तु सरकार अपनी मुद्रा अथवा चलार्थ (currency) का किसी अन्य देश के
चलार्थ से जो कि स्वर्ण प्रमाण पर आधारित हो विनिमय दर (exchange
rate) निश्चित कर देती है। केन्द्रीय बैंक का यह उत्तरदायित्व होता है कि
वह विदेशी भुगतान के लिए देश के चलार्थ अर्थात कागजी मुद्रा को निश्चित
दर पर स्वर्ण प्रमाण पर आधारित विदेशी चलार्थ में बदल दे और यदि कोई
उस विदेशी चलार्थ को देशी कागजी मुद्रा में बदलना चाहे तो बदल दे।
संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो देश स्वर्ण विनिमय प्रमाण (gold ex-
change standard) को स्वीकार करता है उसको नीचे लिखे कार्य करने
पड़ते हैं।

(१) वह अपनी कागजी मुद्रा (paper money) अथवा चाँदी
आदि के सिक्कों का किसी ऐसे देश की मुद्रा या चलार्थ (currency) से जो
स्वर्ण प्रमाण (gold standard) पर आधारित हो विनिमय दर (ex-
change rate) निर्धारित कर देता है।

(२) उस देश का केन्द्रीय बैंक (central bank) [illegible]
[illegible] अथवा विदेशी लेन-देन का भुगतान करने के लिए उस निश्चित दर
पर विदेशी चलार्थ को बेचना और खरीदता रहता है। [illegible] द्वारा केन्द्रीय
बैंक पर यह जिम्मेदारी डाली जाती है।

स्वर्ण विनिमय प्रमाण से एक लाभ यह भी है कि न [illegible] के सिक्के को
[illegible] रखने की आवश्यकता होती है और न स्वर्ण [illegible] प्रमाण की [illegible]
[illegible] कोष रखने की ही आवश्यकता होती है, परन्तु उस देश की मुद्रा
[illegible] प्रमाण पर आधारित विदेशी मुद्रा की विनिमय दर निर्धारित करती
है और विनिमय दर घटती बढ़ती नहीं है स्थिर रहती है।

भारतवर्ष में १९२७ तक स्वर्ण विनिमय प्रमाण ही प्रचलित [illegible]

उपरान्त भारत ने स्वर्ण विनिमय प्रमाण को तिलांजलि दे दी। उस समय भारत सरकार (उस समय रिजर्व बैंक स्थापित नहीं हुआ था) प्रत्येक व्यक्ति को १५ रु० लेकर एक पौंड बेच देती थी जिससे कि भारतीय व्यापारी जिन्होंने ब्रिटेन तथा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों से माल मँगाया हो अपने ऋण को पौंडों में चुका सकें। इसके विपरीत यदि ब्रिटिश व्यापारी, जिन्होंने भारत से माल मँगवाया हो अपना भुगतान करना चाहें तो भारत सरकार इङ्गलैंड में एक पौंड लेकर भारत में १५ रुपये बेचने का प्रबन्ध करती थी। जब भारत सरकार अपने ऊपर यह उत्तरदायित्व ले लेती थी कि वह एक पौंड के १५ रुपये के हिसाब से पौंड खरीदे और बेचेगी तो रुपये और पौंड की यही दर निश्चित हो जाती थी।

स्वर्ण विनिमय प्रमाण के नीचे लिखे लाभ हैं :—

(१) इससे सोने की बचत होती है। यदि सभी देश स्वर्ण चलार्थ (gold currency standard) तथा स्वर्ण पाट प्रमाण (gold bullion standard) को अपनावें तो ससार में सोने की कमी हो जावे। स्वर्ण विनिमय प्रमाण से स्वर्ण की बचत होती है और स्वर्ण प्रमाण का लाभ प्राप्त हो जाता है।

(२) इसके द्वारा चाँदी का उपयोग करने वाले देशों तथा स्वर्ण प्रमाण वाले देशों की विनिमय दर स्थिर रहती है।

(३) जो देश कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं उनके लिए यह पद्धति बहुत उपयोगी है।

(४) इसके कारण बहुत से निर्धन देश चाँदी का उपयोग सिक्कों के लिए करते हैं इससे चाँदी की माँग बनी रहती है और उसका मूल्य स्थिर रहता है।

इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि स्वर्ण विनिमय प्रमाण में विदेशी विनिमय (foreign exchange) में हेर-फेर होने का ठीक उसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि स्वर्ण प्रमाण में पड़ता है। स्वर्ण प्रमाण में जब सोना एक देश से बाहर जाने लगता है तो उस देश में कीमतें गिरने लगती हैं और जिस देश में सोना पहुँचता है वहाँ मुद्रा विस्तार के कारण कीमतें ऊँची होने लगती हैं। स्वर्ण विनिमय प्रमाण (gold exchange standard) में जब कि केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय (foreign exchange) खरीदता है तो वह अधिक कागजी मुद्रा निकालता है परन्तु जिस देश की विदेशी विनिमय खरीदी जाती है उस देश में साख (credit) का सकोच नहीं होता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वर्ण प्रमाण की भाँति इस पद्धति में कीमतों को पुनः पूर्ववत् रखने की प्रवृत्ति नहीं होती और विनिमय में हेर-फेर होना रहता है।

इसके अतिरिक्त स्वर्ण विनिमय प्रमाण को सफलता पूर्वक चलाने के लिए एक सबल संगठन की आवश्यकता होती है जो निर्धारित विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वर्ण विनिमय प्रमाण में इस बात का प्रबन्ध करना पड़ता है कि देश के अन्दर चलने वाले चलार्थ (currency) और सोने की जो विनिमय दर निर्धारित की गई है उसको बराबर बनाये रक्खा जावे। इस लिए यथेष्ट रक्षित कोष रखना पड़ता है।

स्वर्ण प्रमाण के नियम : हम अब स्वर्ण प्रमाण के नियमों की व्याख्या करेंगे। सच तो यह है कि स्वर्ण प्रमाण की हम एक खेल से तुलना कर सकते हैं। जब तक सभी देश स्वर्ण प्रमाण रूपी खेल के नियमों का पालन करते हैं स्वर्ण प्रमाण सफलता पूर्वक चलता है। जब उसके नियमों की अवहेलना की जाने लगती है तो स्वर्ण प्रमाण ठीक तरह से काम नहीं करता। स्वर्ण प्रमाण के नीचे लिखे नियम हैं।

(१) जब कि सोना देश मे आवे तो उस देश को अपनी मुद्रा का विस्तार करना चाहिए और जब सोना देश से बाहर जाने लगे तो मुद्रा सकोचन करना चाहिए। जब किसी देश के विदेशी व्यापार का अन्तर उसके विपक्ष में होता है तो सोने का निर्यात होने लगता है। जब सोने का निर्यात होता है तो मुद्रा सकोचन (Deflation) होता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में कीमतें गिरने लगती हैं तो निर्यात (export) बढ जाता है और आयात (import) कम हो जाता है। विदेशी व्यापार का अन्तर उस देश के पक्ष में हो जाता है। इस प्रकार स्वर्ण प्रमाण बिना राज्य या केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप के स्वयं काम करता रहता है।

(२) स्वर्ण प्रमाण का दूसरा नियम यह है कि किसी देश को स्वर्ण के आयात अथवा निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न लगाना चाहिए। स्वर्ण का प्रवाह एक देश से दूसरे देश को अबाध गति से होते रहना चाहिए।

(३) संसार में कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण बाजार ऐसा होना चाहिए जहाँ अन्य देश अपना कोष जमा रक्खें और जब उन्हें आवश्यकता हो वहाँ से सोना ले जावें। यह वही देश हो सकता है जो लेनदार राष्ट्र (creditor nation) हो और अन्य देश उसके ऋणी हों। उदाहरण के लिए १९१४ के पूर्व इंगलैंड यह कार्य करता था। जो भी देश चाहे अपने कोष को सोने के रूप में लन्दन से ले जा सकता था, इंगलैंड की सरकार उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती थी।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि स्वर्ण प्रमाण वहीं तक सफलता पूर्वक काम करता है कि जब तक स्थिति सामान्य हो। असाधारण कठिनाई के समय स्वर्ण प्रमाण भी ठीक काम नहीं देता। जब युद्धकाल होता है तो प्रत्येक देश अपने स्वर्ण कोष को सुरक्षित रखना चाहता है और प्रत्येक देश सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देता है। अस्तु, स्वर्ण प्रमाण को युद्ध काल में छोड़ना पड़ता है। वह चल नहीं पाता। इसी प्रकार यदि किसी देश का विदेशी व्यापार का अन्तर (balance of trade) लगातार उसके विपक्ष में रहता रहे तो उसका परिणाम यह होगा कि बहुत-सा स्वर्ण उस देश के बाहर चला जावेगा और उस देश को मुद्रा तथा साख का संकोचन करना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि देश में आय तथा कीमतें तेजी से गिरने लगेंगी, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि कीमतों के अनुपात में लागत व्यय (cost) भी गिर जावे। मजदूर मालिकों द्वारा मजदूरी कम करने के प्रयत्न को अपनी संगठित शक्ति से असफल कर सकते हैं। जब आय और कीमतें गिरती जावें किन्तु लागत व्यय कम न हो तो उत्पादन गिरने लगता है और बेकारी फैल जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश की आर्थिक स्थिति डॉवाडोल हो उठती है।

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त स्वर्ण प्रमाण को चलाने में कठिनाइयाँ : प्रथम महायुद्ध के समय (१९१४–१९२५) सभी देशों ने स्वर्ण प्रमाण को तिलांजली दे दी थी। १९२५ में इङ्गलैंड के साथ-साथ अन्य देशों ने भी स्वर्ण पाट प्रमाण (gold bullion standard) को अपनाया। स्वर्ण पाट प्रमाण को अपनाने का एक कारण यह था कि प्रत्येक देश सोने की बचत करना चाहता था। किन्तु उस समय मुद्रा कानूनों तथा केन्द्रीय बैंकों के कारबार में जो हेर-फेर हुए उससे सोने की किफायत न हो सकी जैसा कि अनुमान किया जाता था। केन्द्रीय बैंकों को केवल कागजी मुद्रा के विरुद्ध ही स्वर्ण कोष नहीं रखना पड़ता था किन्तु चालू जमा के विरुद्ध भी स्वर्ण कोष रखना पड़ता था। यही नहीं केन्द्रीय बैंको को कानून द्वारा निर्धारित रक्षित कोष से कहीं अधिक कोष रखना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनावश्यक रूप से बहुत सा सोना बैंकों के पास रक्खा जाने लगा। सोने की तो यों ही कमी थी फिर इस परिपाटी के कारण सोने की और भी कमी हो गई।

(२) प्रथम महायुद्ध के उपरान्त केन्द्रीय बैंक की कार्य प्रणाली बहुत विकसित और पूर्ण हो चुकी थी। इस कारण स्वर्ण प्रमाण का भली भाँति चलना कठिन हो गया। केन्द्रीय बैंकों ने "खुले बाजार की क्रिया" (Open

(Market Operations) को ऐसा पूर्ण कर लिया कि सोने के निर्यात और आयात से जो कीमतों पर प्रभाव पड़ता था वह प्रभाव पड़ना बंद हो गया। जब किसी देश में सोना बाहर से आता तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों (सिक्यूरिटियों) को बेचकर उसे प्रभावहीन कर देते थे। सोने के आयात का कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इसी प्रकार जब सोने का निर्यात होता तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियो (सिक्यूरिटियों) को खरीदकर स्वर्ण निर्यात को प्रभावहीन कर देते थे। इसको तनिक अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि जब सोना देश में आता है तो चलार्थ तथा साख का विस्तार होना चाहिए जिससे कीमतें ऊँची उठें किन्तु जब केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटियों को बेचता है तो अन्य सभी बैंकों का केन्द्रीय बैंक के पास जो जमा (deposit) है वह कम हो जावेगी और बैंकों को साख संकुचित करनी होगी। इसी प्रकार जब सोने का निर्यात होता है तो स्वाभावत मुद्रा तथा साख का संकुचन होना चाहिए किन्तु केन्द्रीय बैंक सिक्यूरिटियों को खरीद कर अपने पास अन्य बैंकों की जमा को बढ़ा देता है तथा कागजी मुद्रा अधिक निकाल देता है। इसका परिणाम यह होता है कि साख का विस्तार होता है और कीमतें नीचे नहीं गिरतीं। संक्षेप में केन्द्रीय बैंक "खुले बाजार की क्रिया" के द्वारा स्वर्ण के आयात और निर्यात को प्रभाव-हीन कर देते हैं।

(३) इसके अतिरिक्त प्रथम महायुद्ध के उपरान्त "अन्तर्राष्ट्रीय अल्पकालीन ऋण कोष (International Short-loan Fund) बहुत बड़ी राशि में इकट्ठा हो गया और यह लगातार एक देश से दूसरे देश को आता जाता रहता था। इसके कारण भी चलार्थ का प्रबंध करना कठिन हो गया।

(४) युद्ध की क्षति-पूर्ति की अदायगी के कारण भी ऋणी देशों पर बहुत अधिक आर्थिक भार पड़ने लगा। यह ऋणी देश अपने ऋण का भुगतान सोना देकर तो कर नहीं सकते थे अन्तु इन देशों ने संरक्षण कर (Protective Tariff) लगाकर आयात (imports) को बहुत कम करने का प्रयत्न किया जिससे कि उनका निर्यात आयात से अधिक हो और उस निर्यात के आधिक्य (Exports Surplus) के द्वारा वे अपना ऋण चुका सकें। इस प्रवृत्ति से भी स्वर्ण प्रमाण को चलाये रखने में कठिनाई उपस्थित हो गई।

(५) प्रथम युद्ध के उपरान्त देशों की आर्थिक प्रणाली बहुत जटिल और दृढ़ हो गई। स्वर्ण प्रमाण के ठीक प्रकार से काम करने के लिए यह आवश्यक है कि मजदूरी तथा अन्य लागत व्यय में आवश्यक तथा उचित [illegible] (([illegible])) हो। अर्थात यदि कीमतें गिरें तो मजदूरी तथा अन्य लागत

भी गिरनी चाहिये किन्तु प्रथम महायुद्ध के उपरान्त बहुत से कारणों से यह लचकपन जाता रहा।

यही कारण था कि प्रथम महायुद्ध के उपरान्त १९२५ में जब भिन्न भिन्न देशों ने स्वर्ण पाट प्रमाण अपनाया तो वे उसको अधिक दिनों तक निभा नहीं सके और १९३१ में इङ्गलैंड के स्वर्ण पाट प्रमाण को छोड़ते ही अन्य देशों ने भी उसे नमस्कार किया और सयुक्त राज्य अमेरिका को भी उसे छोड़ना पड़ा।

स्टर्लिंग अथवा डालर विनिमय प्रमाण (Sterling or Dollar Exchange Standard). यदि कोई देश अपने चलार्थ की विनिमय दर स्वर्ण अथवा स्वर्ण पर आधारित किसी अन्य देश की मुद्रा मे निश्चित न करके अन्य किसी देश की मुद्रा मे स्वतत्र रूप से निश्चित करता है तो उसे उस देश की मुद्रा के नाम से पुकारा जावेगा। उदाहरण के लिए यदि भारत ने रुपये का सम्बध स्टर्लिंग से स्थापित कर रक्खा है तो उसे हम स्टर्लिंग विनिमय प्रमाण कहेंगे। इसी प्रकार यदि रुपए का सम्बध डालर से स्थापित कर दिया जावे तो उसे डालर विनिमय प्रमाण कहेंगे। भारत ने रुपए का सम्बंध स्टर्लिंग से स्थापित कर रक्खा था इस कारण इसे स्टर्लिंग विनिमय प्रमाण पुकारा जाता था। इस प्रकार का मुद्रा प्रमाण (Money Standard) लोकप्रिय नही होता क्योंकि यह सिद्धान्ततः गलत है कि कोई देश अपने चलार्थ (currency) को दूसरे देश के चलार्थ से बॉध दे। इसका परिणाम यह होता है कि यदि उस देश के चलार्थ की विनिमय दर घटती-बढती है तो उससे बंधे हुए चलार्थ की विनिमय दर भी उसी अनुपात में घटती बढती है। उदाहरण के लिए भारत ने जबसे रुपए को स्टर्लिंग से बॉध दिया था तब से जब-जब स्टर्लिंग की डालर विनिमय दर घटती बढती थी तो रुपये की डालर दर भी उसी अनुपात में घटती बढती थी। अभी हाल मे जब ब्रिटेन ने स्टर्लिंग का डालर की तुलना में अवमूल्यन (Devaluation) कर दिया तो अनायास ही रुपए का भी अवमूल्यन करना पड़ा। अतएव सिद्धान्त रूप से यह उचित नहीं है कि कोई देश अपने चलार्थ को अन्य देश की मुद्रा से बॉध दे।

जिस तरह से स्वर्ण विनिमय प्रमाण (gold exchange standard) में स्वर्ण पर आधारित मुद्रा का कोष रखना पड़ता है जिससे कि अपने देश की मुद्रा को उस देश की मुद्रा में बदला जा सके उसी प्रकार यदि कोई देश स्टर्लिंग अथवा डालर विनिमय प्रमाण स्वीकार करता है तो उस देश के केन्द्रीय बैंक को निश्चित दर पर स्टर्लिंग अथवा डालर को खरीदने और बेचने का उत्तर-

दायित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए केन्द्रीय बैंक को स्टर्लिंग अथवा डालर का विनिमय कोष (Fund of Exchange) रखना पड़ता है।

कागजी मुद्रा प्रमाण (Paper Currency Standard) : जब देश में धातु का कोई प्रमाणिक सिक्का प्रचलित नहीं होता और न कागज़ी मुद्रा को एक निश्चित कीमत पर धातु में परिणत किया जा सकता है जैसा कि स्वर्ण पाट प्रमाण (gold bullion standard) में होता है अर्थात जबकि कागजी मुद्रा सोने या चाँदी में बदली नहीं जा सकती तब उसे कागजी मुद्रा प्रमाण कहते हैं।

धातु प्रमाण तभी सम्भव है कि जब मूल्यवान धातु—सोना या चाँदी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। किन्तु आज तो स्थिति यह है कि संसार में सोने का अकाल है। ऐसी दशा में कागजी मुद्रा अपरिवर्तनशील (inconvertible) हो जाती है और वही मुद्रा प्रमाण (monetary standard) बन जाती है। राज्य के कानूनी प्रभाव से अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा को ही प्रमाणिक मुद्रा के रूप में जनता पर आरोपित कर दिया जाता है। युद्धकाल में जब कि सोने का अकाल पड़ गया और अधिकांश सोना संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे लेनदार देशों के पास जमा होगया तो योरुप के सभी राष्ट्रों को स्वर्ण प्रमाण को छोड़कर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण को अपनाना पड़ा। वे छापेखाने से कागजी मुद्रा छाप-छाप कर युद्ध काल में अपना काम चलाते रहे। यह कागजी मुद्रा किसी धातु में बदली नहीं जा सकती थी। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त १६२५ में फिर इङ्गलैंड तथा अन्य योरोपीय राष्ट्रों ने स्वर्ण प्रमाण को अपनाया किन्तु सितम्बर १६३१ में ब्रिटेन को स्वर्ण प्रमाण छोड़ना पड़ा और उसको कागजी मुद्रा प्रमाण को स्वीकार करना पड़ा। क्रमशः सभी योरोपीय राष्ट्रों ने स्वर्ण प्रमाण को छोड़कर कागजी मुद्रा प्रमाण को अपना लिया। अन्त में संयुक्त राज्य अमेरिका को भी स्वर्ण प्रमाण छोड़ना पड़ा। बात यह हुई कि उस समय सभी देशों को भयंकर आर्थिक मंदी का सामना करना पड़ रहा था। जिन देशों ने स्वर्ण प्रमाण को छोड़कर कागजी मुद्रा प्रमाण को स्वीकार किया वे आर्थिक मंदी के प्रभाव को दूर कर सके और जो स्वर्ण मुद्रा प्रमाण से चिपटे रहे उन्हें आर्थिक मंदी में बहुत अधिक पिसना पड़ा। कागजी मुद्रा प्रमाण को स्वीकार करने वाले देशों की आर्थिक स्थिति अच्छी होगई। प्रत्येक दशा में स्वर्ण प्रमाण से चिपटे रहने वाले देशों को आर्थिक संकट से निकलने में देर लगी और कागजी मुद्रा प्रमाण स्वीकार करने वाले देश अपेक्षाकृत जल्दी आर्थिक मंदी से

निकल गए। यही कारण था कि क्रमशः सभी देशों ने स्वर्ण प्रमाण छोड़ दिया और कागजी मुद्रा प्रमाण के समर्थकों को अधिक बल मिला।

साधारणतय: कागज पर ही अवलम्बित चलार्थ प्रणाली (currency system) सर्व साधारण में अप्रिय होती है और सामान्य परिस्थिति में लोग उसको स्वीकार नहीं करते हैं। केवल असाधारण परिस्थिति में अथवा राष्ट्रीय सकट के समय ही उसको स्वीकार किया जाता है। अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा को सर्व साधारण सदेह तथा भय की दृष्टि से देखते हैं। लोगों को यह भय बराबर बना रहता है कि अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा अत्यधिक छाप दी जावेगी। यह भय अकारण नहीं होता। अनुभव यह बतलाता है कि अपरिवर्तनशील मुद्रा अत्यधिक छाप दी जाती है। सरकार अपने बढते हुए व्यय को पूरा करने के लिए अधिक कर (Tax) लगाने से हिचकती है क्योंकि उससे वह जनता में अप्रिय हो जाती है। अस्तु, वह छापेखाने से अधिकाधिक कागजी मुद्रा निकालकर अपना काम चलाती है। अधिक व्यय करने के लिए छापेखाने का उपयोग करके अधिकाधिक साधन उपलब्ध करना अत्यन्त सरल है। अस्तु, बहुधा सरकारें अत्यधिक अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा छापने के लालच को नहीं रोक पातीं। जब एक सीमा से अधिक अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा छाप दी जाती है तो उसका मूल्य ह्रास (depreciation) होने लगता है और सर्वसाधारण का उस पर से विश्वास डिगने लगता है और उसका अधिकाधिक मूल्य ह्रास होता जाता है। कीमते बहुत ऊँची चढ जाती हैं, कर्ज़दारों को लाभ होता है, लेनदार (creditor) को हानि होती है और उन लोगों को जिनकी आय निश्चित है उनको बहुत अधिक हानि होने लगती है। क्रमशः देश की आर्थिक स्थिति दयनीय हो जाती है।

कागजी मुद्रा प्रमाण के विरुद्ध दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि उसके कारण कीमते अनिश्चित हो जाती हैं जिससे आन्तरिक तथा वैदेशिक व्यापार मे रुकावट होती है। व्यापार गिरने लगता है। इसमें कोई भी सदेह नहीं कि कागजी मुद्रा प्रमाण अथवा प्रबंधित चलार्थ (managed currency) में यह सम्भव है कि कोई देश अपनी मुद्रा की विनिमय दर को कम रखकर उसका अवमूल्यन (devaluation) करदे और इस प्रकार थोड़े समय के लिए प्रोत्साहन तथा उत्तेजना प्रदान करदे, परन्तु यह लाभ अस्थायी होता है, आगे चलकर उस कृत्रिम उत्तेजना के दुष्परिणाम भयकर होते हैं। जब एक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके अपने निर्यात (export) को बढाता है और इस प्रकार अन्य देशों के बाजार को अपने माल से पाट देना चाहता है क्योंकि वह

अवमूल्यन के कारण दूसरे देशों में सस्ता पड़ता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि अन्य देश अपने व्यापार और धंधों की रक्षा करने तथा उनको प्रोत्साहन देने के लिए अपनी मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) करने पर विवश हों। ठीक यही दशा पिछले कुछ वर्षों में संसार के भिन्न-भिन्न देशों की हुई। प्रत्येक अपने निर्यात को बढाने के उद्देश्य से अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने पर विवश हो गया। मुद्रा के अवमूल्यन की इस होड़ के कारण विदेशी व्यापार चौपट होने लगा। तब अवमूल्यन के दुष्परिणामों को लोग समझने लगे और अन्त में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि यदि प्रत्येक देश अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय मुद्रा नीति को इसी प्रकार चलाता रहा तो बहुत हानि की सम्भावना है। तब इस बात का प्रयत्न किया गया कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता किया जावे। इसी के फल स्वरूप ब्रेटनवुड सम्मेलन हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की स्थापना हुई।

कागजी मुद्रा अथवा प्रबधित चलार्थ के द्वारा जो कीमतों की अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है उसके कारण सट्टे बाजी की प्रवृत्ति बढती है और व्यापार संकटग्रस्त हो जाता है।

कागजी मुद्रा की एक विशेषता यह है कि यह केवल देश के अन्दर ही प्रचलित हो सकती है। इस कारण इस पद्धति में ऐसा मौद्रिक आधार नहीं मिलता कि जिसका अन्य देशों की मुद्रा से कोई साम्य हो। कागजी मुद्रा प्रमाण अथवा कागजी चलन (paper standard) की इस विशेषता के कारण बहुत सी समस्याएँ उठती हैं जिनको हल करना पड़ता है और राष्ट्रीय मुद्रा नीति को निर्धारित करना पड़ता था।

संक्षेप में प्रबधित चलार्थ में नीचे लिखे दोष पाये जाते हैं :—

(१) इसके द्वारा अन्य देशों से व्यापारिक होड़ में लाभ प्राप्त करने के लिए मुद्रा अवमूल्यन की नीति राष्ट्रीय नीति की भाँति बरती जा सकती है। इसका परिणाम यह होता है कि देशों में मुद्रा अवमूल्यन की होड़ होने लगती है और इसका उन देशों के लिए भयंकर परिणाम होता है।

(२) इसके कारण देशों में पूँजी का आवागमन रुक जाता है, व्यापार गिर जाता है और उत्पादन कम हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन (International Division of Labour) में बाधा उपस्थित होती है।

(३) कागजी प्रमाण में यह सम्भावना बनी रहती है कि उसका संचालन राजनैतिक उद्देश्यों से प्रभावित हो। उसका संचालन देश की समृद्धि-

शाली बनाने के लिए न किया जाकर सत्तारूढ दल के लाभार्थ भी किया जा सकता है।

(४) आज आर्थिक दृष्टि से ससार का प्रत्येक देश एक दूसरे पर इतना अधिक निर्भर है कि कोई देश चाहे जितना प्रयत्न करे यह असम्भव है कि वह अपनी आन्तरिक अर्थ व्यवस्था को ससार में प्रचलित आर्थिक अर्थ-व्यवस्था और अस्त-व्यस्तता से सुरक्षित रख सके।

(५) प्रवंधित चलार्थ (managed currency) का एक सबसे बड़ा गुण यह माना जाता है कि उसके द्वारा आन्तरिक मूल्य स्तर (internal price level) को स्थिरता (stability) प्रदान की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार आन्तरिक मूल्य स्तर को स्थिर बनाये रखने से किसी देश को जो लाभ होने की बात कही जाती है उसमें बहुत से विद्वानों को सदेह है। अर्थशास्त्र के विद्वानों मे आन्तरिक मूल्य स्तर की स्थिरता की उपादेयता के सम्बध मे घोर मतभेद है। क्राऊथर ने लिखा है "१९३१ के उपरान्त जो क्रमशः सभी देशों ने कागजी मुद्रा प्रमाण अथवा प्रवधित चलार्थ को स्वीकार किया वह भी उतना ही असफल हुआ जितना कि स्वर्ण प्रमाण (gold standard) असफल हुआ था। यह ठीक है कि प्रबधित चलार्थ मे प्रत्येक देश को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह आन्तरिक मुद्रा नीति को जिस प्रकार चाहे निर्धारित करे परन्तु निर्यात करने वाले धधों के लाखों मजदूर जो बेकार रहते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि आन्तरिक मुद्रा नीति फिर वह चाहे जितनी बुद्धिमत्तापूर्ण और दूरदर्शिता पूर्ण क्यों न हो उसकी उपयोगिता सीमित है। विनिमय दर (exchange ratio) के लगातार बदलते रहने से भी देशों के विदेशी व्यापार का संतुलन नहीं होता है और विदेशी व्यापार और विशेषकर आयात पर प्रतिबध लगाना ही पड़ता है।

कागजी मुद्रा चलन के प्रशसकों की राय यह है कि लोग कागजी मुद्रा प्रमाण के दोषों को बहुत बढा-चढा कर कहते हैं। उनका कहना है कि कागजी मुद्रा प्रमाण (paper standard) वाले देशों में कीमतें स्वर्ण प्रमाण वाले देशों से कम स्थिर नहीं रहतीं। क्योंकि पिछले कुछ वर्षों में सोने का मूल्य ही २० प्रतिशत के लगभग घटा-बढा है। कागजी मुद्रा प्रमाण के समर्थकों का कहना है कि यह भय कि एक अपव्ययी और अनुत्तरदायी सरकार अत्यधिक अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा छाप कर आर्थिक ढाँचे को अस्त-व्यस्त कर देगी तो यह भी सम्भव है कि यदि ऐसी निकम्मी और अनुत्तरदायी सरकार सत्तारूढ़ हो जावे तो स्वर्ण प्रमाण को छोड़ कर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा को जारी कर दे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सोना भी इस प्रवृत्ति को रोकने

में अधिक प्रभावशाली प्रमाणित नहीं हुआ है। कागजी मुद्रा प्रमाण के समर्थकों का कहना है कि स्वर्ण प्रमाण की अपेक्षा कागजी मुद्रा प्रमाण में विनिमय दर का नियंत्रण अधिक प्रभावशाली ढग से किया जा सकता है। "कागजी मुद्रा प्रमाण की विशेषता और सुन्दरता यह है कि जैसे ही मॉग (demand) और पूर्ति (supply) असतुलित होती है उसी समय तेजी से विदेशी विनिमय (foreign exchange) परिवर्तन होता है और वह तुरन्त ही अपने प्रभाव से निर्यात और आयात को पुन संतुलित कर देता है"। कहने का तात्पर्य यह है कि कागजी मुद्रा प्रमाण में मॉग और पूर्ति को विदेशी विनिमय दर को निर्धारित करने की खुली छूट रहती है, यदि ससार का प्रत्येक देश एक व्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय कागजी मुद्रा प्रमाण स्वीकार करले। किन्तु यदि कुछ देश तो स्वर्ण प्रमाण पर हों और कुछ कागजी मुद्रा प्रमाण पर हों तो यह लागू नहीं होगा। स्वर्ण प्रमाण में विनिमय दर में इतना न्यून परिवर्तन होता है कि वह निर्यात और आयात को अधिक कम या ज्यादा नहीं कर सकता। कागजी मुद्रा प्रमाण के मुद्रा स्फीति (Inflation) और राजनैतिक उद्देश्य से मुद्रा समर्थक प्रवन्ध के खतरे का कम बताते हुए स्वर्ण प्रमाण की अपूर्णता और कुप्रवन्ध पर अधिक वल देते हैं। परन्तु यह तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना होगा कि साधारणतया स्वर्ण प्रमाण कागजी मुद्रा प्रमाण से श्रेष्ठ है। और यदि कागजी मुद्रा प्रमाण का कुप्रवन्ध हो तो उससे सर्वसाधारण को जो आर्थिक हानि होती है उतनी आर्थिक हानि किसी प्रकार के स्वर्ण प्रमाण (gold standard) मे नहीं हो सकती है।

सच तो यह है कि इन दोनों प्रकार के प्रमाणों के सम्मिश्रण से ही मुद्रा सम्बन्धी उत्तम व्यवस्था हो सकती है। स्वर्ण प्रमाण से विदेशी विनिमय दर स्थिर रहती है और कागजी मुद्रा प्रमाण में प्रत्येक देश के अन्दर कीमतों का स्तर स्थिर रहता है। प्रत्येक देश को देश की आन्तरिक कीमतों के साथ लम्बे समय में उसके अनुसार विदेशी विनिमय दर को भी वदलना पड़ सकता है। अस्तु, सम्भवत इन दोनों प्रकार के प्रमाणों के सम्मिश्रण से ही उत्तम प्रवन्ध हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इस आदर्श को पहुँचने का प्रयास मात्र है।

आदर्श मुद्रा पद्धति की आवश्यक शर्तें : ऊपर हमने मुद्रा पद्धति के सम्बन्ध में जो वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण का चुनाव करते समय भावना अथवा मनमानी से काम नहीं चलेगा। यों तो प्रत्येक देश में मुद्रा पद्धति उस देश की सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही निर्धारित की जानी चाहिए किन्तु आदर्श मुद्रा पद्धति में नीचे लिखे गुण अवश्य होना चाहिए :—

(१) मुद्रा पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि मुद्रा के मूल्य मे, कीमतों में और विनिमय दर (exchange ratio) में अधिक से अधिक देश के अन्दर तथा देश के बाहर स्थिरता रहे। कीमतों की अस्थिरता से तथा विनिमय दर की अस्थिरता से समाज के विभिन्न वर्गों तथा व्यापार और उद्योग धधों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) बहुमूल्य धातु (सोना और चाँदी) की किफायत हो। प्रत्येक मुद्रा पद्धति मे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि वह बहुत खर्चीली न हो। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि स्वर्ण मान पद्धित बहुत खर्चीली है और कागजी मुद्रा प्रमाण बहुत कम खर्चीली है।

(३) अच्छी मुद्रा पद्धति का तीसरा आवश्यक गुण उसमे आवश्यक लोच (elasticity) का होना है। लोच से हमारा अभिप्राय व्यापार धंधे की आवश्यकतानुसार मुद्रा के विस्तार और सकोचन से है। अर्थात जब व्यापार तेज हो तब मुद्रा आसानी से बढाई जा सके और जब व्यापार मन्दा हो तो उसको कम किया जा सके।

(४) मुद्रा पद्धति का चौथा गुण यह है कि उसमे सर्वसाधारण का अटूट विश्वास हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह इतनी सरल हो कि प्रत्येक व्यक्ति उसे भली प्रकार समझ सके। क्योंकि यदि प्रत्येक व्यक्ति उसको समझ सकता है तो उस पद्धति के प्रति उसका विश्वास आसानी से स्थापित हो जाता है। इस दृष्टि से स्वर्ण मुद्रा प्रमाण (gold currency standard) और स्वर्ण पाट प्रमाण (gold bullion standard) सबसे उत्तम हैं।

(५) अन्तिम बात ध्यान मे रखने की यह है कि मुद्रा पद्धति के बारे मे किसी प्रकार की अनिश्चितता नहीं होनी चाहिए। जनता के सामने प्रत्येक बात कानून द्वारा स्पष्ट होनी चाहिए। सरकार की इस सबध मे कितनी और क्या-क्या जिम्मेदारी है इस बात मे किसी को कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

परिच्छेद ३५

विदेशी विनिमय (Foreign Exchange)

जब एक देश के अन्दर कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का देनदार होता है तो वह अपने लेनदार को देश की मुद्रा देकर सरलता से अपना ऋण चुका सकता है। किन्तु जब एक देश का निवासी किसी दूसरे देश के निवासी से कारबार करता है तो ऋण चुकाने में कठिनाई उपस्थित होती है। बात यह है कि विदेशों में रहने वाला लेनदार अपने कर्जदार से यह आशा करता है कि या तो वह लेनदार के देश में प्रचलित चलार्थ (currency) में कर्ज चुकाये अथवा अन्तर्राष्ट्रीय करैंसी अर्थात सोने में अपना कर्ज चुकाये। हम एक उदाहरण देकर इसको कुछ स्पष्ट करेंगे। कल्पना कीजिए कि किसी भारतीय व्यापारी ने सयुक्त राज्य अमेरिका से कुछ मशीनें मँगवाई हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका की फर्म भारतीय व्यापारी से या तो डालर (सयुक्त राज्य अमेरिका का सिक्का) में मशीनों की कीमत स्वीकार करेगी अथवा सोना लेगी। रुपए वह किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करेगी।

यह तो हम सभी जानते हैं कि आज किसी भी देश में सोने के सिक्कों का चलन नहीं है और न स्वर्ण मुद्रा प्रमाण (gold bullion standard) ही प्रचलित है। ऐसी दशा में कोई भी देनदार अपने विदेशी लेनदार को सोने से अपने ऋण का चुकारा नहीं कर सकता। अधिकांश देशों में वहाँ की मुद्रा या द्रव्य (money) कागजी नोटों और बैंक की जमा (bank deposit) के रूप में होती है। यह कागजी मुद्रा अथवा साख मुद्रा (credit money) जो किसी एक देश के अन्तर्गत प्रचलित होती है वह अन्य देशों में नहीं चल सकती। जब तक संसार के सब देशों में समान रूप से स्वीकृत एक अन्तर्राष्ट्रीय कागजी मुद्रा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय साख मुद्रा न प्रचलित हो, तब तक एक देश की कागजी मुद्रा अथवा साख मुद्रा को दूसरे देश का निवासी कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। किन्तु यह तभी हो सकता है, जब संसार के सभी देशों में करेंसी [illegible] तथा साख (credit) का नियन्त्रण एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक करे। यह [illegible] बहुत दूर है। अस्तु, विदेशी लेनदेन, कारबार तथा व्यापार में यह

अड़चन उपस्थित होती है कि एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासी का किस प्रकार भुगतान करे। अतएव, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक गम्भीर समस्या उपस्थित हो जाती है और उसको हल किए बिना विदेशी व्यापार सम्भव नहीं है। वह समस्या यह है कि एक देश का व्यापारी अपने देश की मुद्रा (money) को दूसरे देश की मुद्रा मे किस प्रकार बदले। जब तक वह अपने देश की मुद्रा को अन्य देश की मुद्रा में नहीं बदलता तब तक वह विदेश से खरीदे हुए माल की कीमत नहीं चुका सकता। इसी को विदेशी विनिमय (foreign exchange) कहते हैं। आज विदेशी व्यापार, आवागमन तथा विदेशों से कारबार इतना अधिक बढ गया है कि बिना विदेशी विनिमय (foreign exchange) की सुविधा के विदेशी व्यापार हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए विदेशी विनिमय का अध्ययन करना आवश्यक है। जब हम विदेशी विनिमय की बात करते हैं तो हमारा अर्थ दो बातों से होता है। (१) एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में क्या मूल्य है? (२) एक देश की मुद्रा के बदले अभीष्ट देश की मुद्रा यथेष्ट मात्रा में सुविधा पूर्वक उपलब्ध है अथवा नहीं। यदि एक देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा में मूल्य अधिक बदल जावे अथवा अन्य देश की मुद्रा को प्राप्त करने में अधिक कठिनाई और विलम्ब हो तो विदेशी व्यापार में अनिश्चितता और भयङ्कर हानि की सम्भावना हो जाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। कल्पना कीजिए कि भारत का एक व्यापारी इङ्गलैंड से कुछ सामान मँगाता है और उस समय विनिमय दर १० रु० प्रति पौंड है और जिस समय माल आता है उस समय विनिमय दर (exchange ratio) बढ कर १५ रु० प्रति पौंड हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय व्यापारी को वस्तु की रुपयों में ड्यौढी कीमत चुकानी होगी।

विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) का अर्थ : विदेशी विनिमय को हम उस प्रणाली का नाम दे सकते हैं, जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न देशों के व्यापारी अपने ऋण का एक दूसरे को भुगतान करते हैं। यह अर्थ व्यवस्था का एक अंग है, जिसके द्वारा एक देश के नागरिक दूसरे देशों के निवासियों को भुगतान करने के साधन प्राप्त करते हैं। अधिकतर इस शब्द का प्रयोग उस भुगतान से होता है जो कि साख पत्रों (credit instruments) के द्वारा अथवा स्वर्ण के द्वारा होता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हार्टले विदर्स ने विदेशी विनिमय की परिभाषा इस प्रकार की है "यह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिवर्तन का विज्ञान और कला है"। जहाँ तक कला का प्रश्न है इसका सम्बन्ध विनिमय पत्रों (instru-

ments of exchange) से तथा उन संस्थाओं से है, जो इन विनिमय पत्रों का कारबार करती हैं, और जहाँ तक विनिमय का सम्बन्ध है इसका सम्बन्ध विनिमय दर (exchange rate) तथा उसके सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन से है। संक्षेप में यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि 'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग हम तीन बातों के लिए करते हैं।

(१) विदेशी बिल जिनके द्वारा एक देश का रहने वाला दूसरे देश के रहने वाले के कर्ज को चुकाता है।

(२) वह कीमत जिन पर इन पुर्जों का विनिमय होता है अर्थात विनिमय दर (exchange rate)

(३) बैंक स्टाक ऐक्सचेंज इत्यादि संस्थाएँ जिनके द्वारा यह कारबार होता है।

विदेशी बिल के सम्बंध में हम पिछले परिच्छेद में लिख चुके हैं। यहाँ हम केवल इस बात का अध्ययन करेंगे कि विदेशी बिलों के द्वारा भिन्न भिन्न देशों का लेनदेन और कारबार किस प्रकार होता है।

विदेशी बिलों के प्रकार : विदेशी बिल दो प्रकार के होते हैं; एक वह विदेशी बिल होते हैं जिनका भुगतान १० दिन के अन्दर करना पड़ता है। उन्हें "अल्पकालीन बिल' कहते हैं, और जो लम्बे समय तक चलते हैं उन्हें 'लम्बा बिल' कहा जाता है। यदि बिल लिखने वाला (drawer) इस बात का तार देता है कि बिल के उपस्थित किए जाने पर उसका तुरन्त भुगतान होना चाहिए तो उसे दर्शनीय बिल (sight bill) कहेंगे और जिस बिल का भुगतान उसके उपस्थित किए जाने के कुछ समय उपरान्त किया जा सकता है उसे मुद्दती बिल (usance bill) कहते हैं।

विदेशी बिलों के द्वारा विदेशी व्यापार किस प्रकार होता है : हम एक उदाहरण लेकर यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि विदेशी बिलों के द्वारा विदेशी व्यापार किस प्रकार होता है। कल्पना कीजिए कि कलकत्ते का एक व्यापारी 'क' लदन के 'ख' व्यापारी से कुछ दवाइयाँ मँगवाता है। लदन के एक व्यापारी 'ग' ने उतने ही मूल्य का जूट कलकत्ते के 'घ' व्यापारी से मंगवाया है। कहने का तात्पर्य यह, कलकत्ते के 'क' व्यापारी को जितनी रकम लंदन के 'ख' व्यापारी को देनी है, ठीक उतनी ही रकम लदन के 'ग' व्यापारी को कलकत्ते के 'घ' व्यापारी को देनी है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लदन का 'ख' व्यापारी जो लेनदार है रुपये स्वीकार नहीं करेगा, और कलकत्ते का 'घ' व्यापारी जो लेनदार है पौंड स्टर्लिंग स्वीकार नहीं करेगा। अतः 'क'

'ग' दोनों व्यापारियों को सोना खरीद कर भारत से इङ्गलैंड और इङ्गलैंड से भारत को भेजना होगा। इसका फल यह होगा कि दोनों ही व्यापारियों को बहुत व्यय करना पड़ेगा। सोने को भेजने उसका बीमा इत्यादि कराने का व्यय देना होगा। इस झंझट और अधिक व्यय को बचाने के लिए लदन का 'ख' व्यापारी कलकत्ते के 'क' व्यापारी पर अपनी रकम के लिए एक बिल काटेगा, जिसे कलकत्ते का 'क' व्यापारी स्वीकार कर लेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि लदन के 'ख' व्यापारी का द्रव्य या मुद्रा (money) भारत में है। अस्तु, लदन का 'ख' व्यापारी अपने इस अधिकार को लदन के 'ग' व्यापारी को बेच देगा जिसे भारत में 'घ' व्यापारी को उतनी ही रकम का भुगतान करना है। लदन का 'ग' व्यापारी उस बिल को खरीद कर कलकत्ते के 'घ' व्यापारी के पास भेज देगा। 'घ' अपने बैंक के द्वारा कलकत्ते के 'क' व्यापारी से उस बिल की रकम प्राप्त कर लेगा। एक सरल चित्र द्वारा यह स्पष्ट समझ में आ जावेगा।
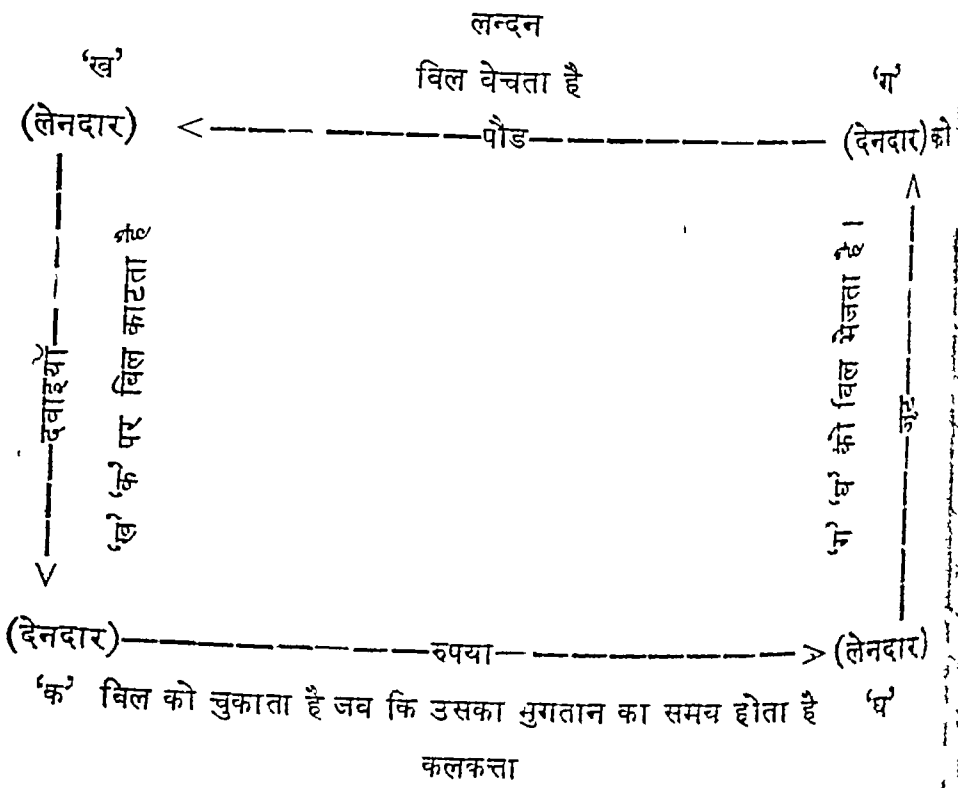
सक्षेप में हम कह सकते हैं, इस बिल के द्वारा यह सुविधा हो जाती है कि लदन का 'ग' व्यापारी लंदन के 'ख' व्यापारी को रकम चुका देता है, और

कलकत्ते का 'क' व्यापारी कलकत्ते के 'ख' व्यापारी को रकम चुका देता है। माने भी एक देश से दूसरे देश को भेजना आवश्यक नहीं होता।

बैंक ड्राफ्ट · ऊपर के उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि जो रकम लेनी देनी है वह बराबर है। परन्तु बहुधा व्यापार में ऐसा नहीं होता कि जितनी रकम का माल एक व्यापारी खरीदता है, ठीक उतनी ही रकम का माल दूसरा व्यापारी खरीदता है। अतएव जो देनदार (debtors) हैं वे बैंकों या बिल ब्रोकरों के पास जाते हैं और जितनी रकम उन्हें चुकानी है उतने का बिल खरीदते हैं। यह विनिमय बिल (bill of exchange) जो आवश्यकतानुसार बैंक बनाते हैं बैंक ड्राफ्ट कहे जाते हैं। बैंक ड्राफ्ट वास्तव में एक बैंक द्वारा किसी दूसरे बैंक को एक आज्ञा-पत्र होता है, कि वह बिल में लिखित व्यक्ति अथवा व्यापारिक संस्था को वह रकम दे दे। उदाहरण के लिए लंदन का 'ग' व्यापारी किसी बैंक के पास जावेगा और जितनी रकम उसको कलकत्ते के व्यापारी 'घ' को चुकानी है उतने का बैंक ड्राफ्ट खरीद लेगा। लंदन का बैंक कलकत्ते के किसी बैंक पर, जो उसका एजेंट होगा, बैंक ड्राफ्ट काट देगा। इस बैंक ड्राफ्ट को लंदन का 'ग' व्यापारी कलकत्ते के 'घ' व्यापारी को डाक द्वारा भेज देगा, और कलकत्ते का 'घ' उस बैंक पर जिस पर वह बैंक ड्राफ्ट है उसमें रकम वसूल कर लेगा। इसी प्रकार कलकत्ते का 'क' व्यापारी कलकत्ते के किसी बैंक से लंदन के किसी बैंक पर बैंक ड्राफ्ट खरीद कर अपने लेनदार 'ख' व्यापारी को लंदन भेज देगा। प्रत्येक बड़ा बैंक अन्य देशों के व्यापारिक केन्द्रों में स्थित बैंकों से इस प्रकार का सम्बन्ध रखता है अथवा उनके पास अपनी रकम जमा रखते हैं कि जिससे वे उन पर बैंक ड्राफ्ट काट सकें।

विदेशी बिलों से लाभ विदेशी बिलों से विदेशी व्यापार को बहुत लाभ होता है और विदेशी व्यापार में बहुत सुविधा हो जाती है। बिल के स्वामी को निश्चित समय और स्थान पर उल्लिखित रकम प्राप्त हो जाती है और यदि वह चाहे तो यह अधिकार किसी दूसरे को बेच सकता है। इन विदेशी बिलों के द्वारा सरलता से सुविधा पूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को चुकाया जा सकता है, और प्रत्येक व्यापारी को उसके माल का मूल्य अपने देश की मुद्रा में प्राप्त हो जाता है। विदेशी बिलों के उपयोग से सोने की बहुत किफायत होती है, क्योंकि यदि विदेशी बिलों की व्यापारियों को सुविधा प्राप्त न हो, तो उन्हें विदेशों में अपना ऋण चुकाने के लिए सोना भेजना अनिवार्य हो जावे। यह तो हम पहले [illegible] कि सोना भेजने में बहुत ज्यादा व्यय और असुविधा होती है। [illegible] बिलों के उपयोग से यह अनावश्यक व्यय और झंझट बच जाता है।

विनिमय बैंक (Exchange Banks) : विदेशी बिलों के क्रय विक्रय का कार्य विनिमय बैंक करते हैं। यह विनिमय बैंक संसार के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में अपनी शाखाएँ अथवा एजेंट रखते हैं। अतएव वे एक स्थान से दूसरे स्थान को द्रव्य या मुद्रा (money) भेजने का सरलता से प्रबन्ध कर सकते हैं। विनिमय बैंक वे सभी कार्य करते हैं, जो कि साधारण व्यापारिक बैंक करते हैं। उन कार्यों के अतिरिक्त वे उन विदेशी बिलों को खरीदने और भुनाने का काम भी करते हैं जो कि निर्यात व्यापार (export trade) के विरुद्ध काटे जाते हैं। यह बिल तीन प्रकार के होते हैं।

(१) स्वीकृति के लिए प्रलेख (documents for acceptance) D A

(२) भुगतान के लिए प्रलेख (documents for payment) D. P.

(३) डिलिवरी या अर्पण के लिए प्रलेख (documents for delivery) D D

इनके सम्बन्ध में हम तनिक विस्तार पूर्वक लिखेंगे ताकि यह स्पष्ट हो जावे कि विदेशी व्यापार किस प्रकार होता है।

कल्पना कीजिए कि लदन की एक फर्म कलकत्ते की एक फर्म से चाय मँगवाती है। यदि लदन की फर्म पूर्व परिचित है, उससे कलकत्ते की फर्म का पहले भी कारवार होता रहा है और साधारणतया कलकत्ते की फर्म उसे तीन महीने की साख (credit) देती रही है तो कलकत्ते की फर्म अपेक्षित चाय को पैक करवा कर किसी जहाज़ी कपनी के द्वारा लदन को भेजेगी। जहाज़ी कपनी उसको जहाज़ की रसीद—जिसे बिल आफ लेडिंग (bill of lading) कहते हैं देगी। कलकत्ते की निर्यात (export) करने वाली फर्म उस चाय का समुद्री खतरे से सामुद्रिक बीमा (marine insurance) भी करवावेगी। बीमा कंपनी बीमे की पालिसी देगी। अब कलकत्ते की फर्म चाय की कीमत और सारे व्यय को जोड़कर जो रकम होगी उतने का बिल लदन की फर्म पर काट देगी। इस बिल के साथ, बिल आफ लेंडिंग तथा समुद्री बीमे की पालिसी नत्थी करदी जावेगी। अब कलकत्ते की फर्म इस बिल को किसी विनिमय बैंक को देगी और उसे यह आज्ञा देगी कि लदन की फर्म यदि बिल को स्वीकार करले तो बिल आफ लेडिंग अर्थात जहाज की रसीद तथा समुद्री बीमे की पालिसी को वह लंदन की फर्म को दे दे। ऐसी दशा में या तो लदन की फर्म उस जहाज़ी रसीद को दिखा कर जहाजी कपनी से माल छुड़ा लेगी अथवा यदि माल बैंक की लंदन स्थित शाखा या एजेट ने छुड़ा लिया है तो बिल को स्वीकार करके बैंक के गोदाम से माल उठा ले जावेगी। इस प्रकार के बिल को स्वीकृति के लिए

(१) विदेश की currency की एक इकाई निज के देश की currency की अमुक इकाइयों के बराबर है, अथवा (२) विदेश की करेंसी की निश्चित इकाइया निज के देश की करेंसी की एक इकाई के बराबर हैं।

उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं १ पौंड = १५ रु० के अथवा १ रु० = $\frac{1}{15}$ पौंड के अर्थात एक १ रु० बराबर है १ शि० ४ पे० के।

विनिमय दर को निर्धारित करने के तरीके भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्रा प्रमाण (monetary standard) प्रचलित हो सकते हैं। अत यह स्वाभाविक ही है कि उनके बीच मे विनिमय दर भिन्न-भिन्न आधार पर निर्धारित होगी। हम अध्ययन की सरलता की दृष्टि से इसको चार श्रेणियों में विभाजित करेंगे।

पहली श्रेणी में वे देश आवेंगे जिनमें स्वर्ण प्रमाण (gold standard) प्रचलित है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि आज किसी भी देश में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित नहीं है। जिन देशों में शुद्ध अथवा पूर्ण स्वर्ण प्रमाण प्रचलित होता है उनमे सोने का एक प्रामाणिक सिक्का (standard coin) मुख्य करेंसी (चलार्थ) होता है। यह ठीक है कि प्रत्येक देश में एक वजन और बाह्य कीमत के सोने के सिक्के प्रचलित नहीं होंगे। वे सिक्के भिन्न आकार, वजन और अभिधान (denomination) के होंगे। इन देशों की विनिमय दर को जानने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि एक देश के सिक्के मे जितनी धातु है उसमें से दूसरे देश के कितने सिक्के बनाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम कल्पना करे कि भारत मे स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है (जैसा कि वास्तव मे नहीं है) और सोने का प्रामाणिक सिक्का रुपया जिसमे एक तोला सोना है प्रचलित है और यदि ब्रिटेन मे भी सोने की सावरेन प्रचलित है जिसमें $\frac{1}{4}$ तोला सोना है तो विनिमम दर एक रुपया = ४ सावरेन होगी।

एक देश के सिक्के और दूसरे देश के सिक्के मे जो धातु है उसकी तुलना करके जब विनिमय दर निर्धारित की जाती है तो उस रीति को हम टकसाल सम-विनिमय सिद्धात (mint par of exchange theory) कहते हैं। इसे हम एक दूसरा उदाहरण देकर और स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना कीजिए कि हमे इङ्गलैंड तथा अमेरिका के बीच मे विनिमय दर मालूम करना है और हम यह भी मान लेते हैं कि दोनों देशों मे स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है।

हम जानते हैं कि एक ब्रिटिश सावरेन (पौंड) का वजन = ११३·००१६ ग्रेन शुद्ध सोना है।

अमेरिकन स्वर्ण सिक्के का वजन (जो कि १० डालर के बराबर होता

है। ११३ ग्रेन शुद्ध सोना है। अब एक डालर का वजन = २३.२२ ग्रेन शुद्ध सोना होगा अत एक पौंड = $\frac{११३.००१६}{२३.२२}$ = ४.८६६५ डालर के। अतएव लन्दन-न्यूयार्क अथवा स्टर्लिंग-डालर टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) १ पौंड = ४.८६६५ डालर होगी।

इस सम्बन्ध मे हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि दो देशों मे रौप्य प्रमाण (silver standard) प्रचलित है तो उनमें विनिमय दर ऊपर लिखे अनुसार ही निर्धारित होगी। हाँ, टकसाल सम विनिमय सिद्धात (mint par of exchange theory) से उस दशा में विनिमय दर तभी निर्धारित होगी यदि चाँदी की कीमत सब जगह एक समान हो। इसी प्रकार यदि एक देश में रौप्य प्रमाण प्रचलित है और दूसरे में स्वर्ण प्रमाण प्रचलित है तो यदि चादी की कीमत सोने में निश्चित है तो इस आधार पर उनकी भी विनिमय दर निर्धारित की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दो सिक्कों की धातु की तुलना करके उनकी विनिमय निर्धारित की जा सकती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान मे रखने की बात है कि टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) एक प्रामाणिक सिक्के (standard coin) के मूल्य को दूसरे प्रामाणिक सिक्के मे निर्धारित करने का सैद्धातिक ढंग मात्र है। यदि व्यवहार मे उन वास्तविक सिक्कों के वजन और शुद्धता में घिसावट इत्यादि कोई अन्तर हो जाये तो इसका विनिमय दर पर कोई प्रभाव नहीं होगा। यह भी सम्भव है कि दो देशो में स्वर्ण के सिक्के प्रचलित न हों और सोने के निर्यात (export) अथवा आयात (import) पर प्रतिबन्ध लगा हो जिससे कि सोना एक देश से दूसरे देश को भेजना सम्भव न हो। परन्तु जब तक दो देशों के सिक्का ढालने सम्बन्धी कानूनों मे कोई परिवर्तन नहीं होता तब तक दोनो देशों की विनिमय दर मे भी कोई परिवर्तन नहीं होगा। क्योंकि यह सैद्धान्तिक विनिमय दर (theoretical rate of exchange) है, जो कि उन कानूनों पर ही आधारित होती है।

यदि सोना उपलब्ध होता है और एक देश से दूसरे देश को भेजा जा सकता है, तो भी व्यापारी सोना न भेजकर चैकों अथवा बिल ब्रोकरो से बिलो को खरीद कर अपने कर्ज का भुगतान करना पसन्द करते हैं। यदि एक देश पर [illegible] बिल लिखे या काटे गए हैं व और उन बिलो के बराबर हैं जो उस देश ने विदेशों पर लिखे या काटे हैं तो कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। एक देश को जितना अन्य देशो को देना होता है उतना ही अन्य देशो से लेना

होता है। अतः लेना देना बराबर हो जाता है। परन्तु यह बहुत कम होता है। व्यवहार मे होता यह है कि किसी देश का निर्यात किसी समय अधिक होता है और आयात (import) कम तो दूसरे समय उसका निर्यात (export) कम होता है और आयात बहुत अधिक हो जाता है। कोई देश जितने मूल्य का निर्यात करता है उतने ही मूल्य के बिल अन्य देशों पर लिखता या काटता है और जितने मूल्य का आयात करता है उतने ही मूल्य के बिलों की माँग होती है क्योंकि विदेशों में माल मँगवाने वाले व्यापारी विदेशी बिलों को खरीद कर अपने विदेशी कर्ज का भुगतान करना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है निर्यात (export) अथवा माल विदेशों को भेजने से विदेशी बिलों की पूर्ति (supply) होती है और आयात से विदेशी बिलों की माँग (demand) उपस्थित होती है। अब यदि निर्यात अधिक हुआ है और आयात उससे कम हुआ है तो विदेशी बिलों की पूर्ति (supply) अधिक होगी और माँग (demand) कम होगी और यदि निर्यात कम हुआ और आयात अधिक हुआ तो बिलों की पूर्ति कम होगी और माँग अधिक होगी। अतएव इन बिलों की कीमत उनकी माँग और पूर्ति के घटने बढने के अनुसार घटती-बढती रहती है।

हम यहाँ एक उदाहरण लेकर इसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना कीजिए कि पिट्स्बर्ग (सयुक्त राज्य अमेरिका) का व्यापारी 'क' कुछ स्पात शेफील्ड इङ्गलैंड, के 'ख' व्यापारी को बेचता है। जब पिट्स्बर्ग का व्यापारी स्टील को जहाजी कपनी के सुपुर्द करता है तो उसे बिल आफ लेडिंग (जहाजी रसीद) मिलती है। 'क' व्यापारी शैफील्ड के 'ख' व्यापारी पर उस स्टील की कीमत का बिल काटता है। यह इन दोनों व्यापारियों के आपसी सम्बध पर निर्भर होगा कि बिल दर्शनी हो या मुद्दती हो। 'क' व्यापारी इस बिल के साथ बिल आफ लेडिंग को नत्थी कर देता है और फिर उस बिल को अमेरिका के किसी बैंक के हाथ बेच देता है। अमेरिका का बैंक उस बिल को अपने इगलैंड स्थित एजेंट के पास भेज देता है। शैफील्ड का 'ख' व्यापारी उस बिल को स्वीकार करके अथवा उसका भुगतान करके बैंक से बिल आफ लेडिंग प्राप्त कर लेता है। उसकी सहायता से उसे स्टील प्राप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पिट्स्बर्ग के बैंक ने 'क' व्यापारी से बिल खरीदा और उसकी कीमत उसे चुकादी और उस बिल को अपने लदन स्थित एजेंट को भेजा। अस्तु, उसके लिए इङ्गलैंड में उतनी साख (credit) उपलब्ध हो गई।

अब कल्पना कीजिए कि एक दूसरा व्यापारी 'घ' जो सयुक्त राज्य अमेरिका

रहने वाला है इङ्गलैंड के 'ग' व्यापारी का कर्जदार है। वह पिट्स्बर्ग के उसी बैंक के पास जाता है जिसके पास इङ्गलैंड में साख है। वह पिट्स्बर्ग के बैंक से लंदन स्थित उनके एजेंट (बैंक) पर ड्राफ्ट लेना चाहता है। अमेरिकन बैंक यह भली भाँति जानता है कि यदि 'ख' इङ्गलैंड के लिए बिल या ड्राफ्ट न पा सका तो उसे अपना कर्ज चुकाने के लिए अपेक्षित मात्रा में सोना भेजना होगा और उसमें उसे भेजने का व्यय तथा बीमे का व्यय देना होगा। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पौंड के लिए ४.८६६ डालर देने के अतिरिक्त उसे ०२४ सेंट प्रति सावरेन [illegible] देना होगा। अस्तु, अमेरिकन बैंक अपने बिल या ड्राफ्ट के लिए ४.८६६ डालर और ४.८९ (४.८६६ + ०२४) डालर के बीच कीमत माँगेगा। [illegible] 'ग' अमेरिकन देनदार से एक पौंड के लिए ४.८९ डालर से किसी भी दशा में अधिक नहीं माँग सकता, क्योंकि इससे अधिक माँगने पर वह बिल न लेकर इङ्गलैंड को सोना भेज देगा। अस्तु, यह अधिकतम सीमा है जिससे ऊपर पौंड की डालर में कीमत नहीं उठ सकती। इसे हम "अपर स्वर्णांक (upper [illegible] point) कहते हैं। अपर स्वर्णांक जानने के लिए 'टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) में सोना भेजने का किराया और बीमा व्यय [illegible] होगा। इसे हम स्वर्ण निर्यात बिन्दु (gold export point) भी कहते हैं। [illegible] डालरों में पौंड की कीमत इस सीमा से ऊँची हो जावेगी तो अमेरिका [illegible] सोना निर्यात (export) होने लगेगा।

[illegible] यह न भूल जाना चाहिए कि बिल की कीमत कदाचित [illegible] ४.८९ डालर न हो। वह ४.८६६ डालर और ४.८९ डालर के बीच [illegible] पूर्ति (supply) और माँग (demand) के अनुसार बढ़ती घटती [illegible] है।

बड़ी धन राशि जमा हो जावेगी। अब अमेरिकन बैंक स्वभावत. अपनी उस जमा (deposit) को जो लदन में है अमेरिका लाना चाहेंगे किन्तु वे उसे अमेरिका किस प्रकार ला सकते हैं। लंदन मे जो जमा है उसको अमेरिका लाने का एक ही तरीका है कि उसको सोने मे बदला जावे अर्थात इङ्गलैंड में उस द्रव्य से सोना खरीदा जावे और उस सोने को अमेरिका भेजा जावे। इङ्गलैंड से अमेरिका सोना भेजने में ०२४ सेंट व्यय होगा। अतः अमेरिकन बैंक को एक पौंड के बदले अमेरिका में ४ ८६६ डालर न मिलकर ४'८४२ (४ ८६६६-'०२४) डालर ही मिलेगा। इङ्गलैंड मे जो उस बैंक के पौंड जमा हैं उनके बदले उसे अमेरिका मे ४ ८४२ डालर प्रति पौंड पड़ेगा। अस्तु; बैंक इस बात का प्रयत्न करेंगे कि यदि कोई अमेरिकन व्यापारी, जिसे अपना ऋण इङ्गलैंड में पौंडों में चुकाना हो उसे वे इङ्गलैंड पर अपना बिल या ड्राफ्ट बेच दें। उसके लिए अमेरिकन बैंक टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) से भी कम स्वीकार करलेंगे। अर्थात वे ४ ८६६ डालर से कम लेकर भी एक पौंड का बिल बेच देंगे। परन्तु वे एक पौंड के लिए ४ ८४२ डालर से कम किसी भी दशा मे नही लेगे। क्योंकि उस दशा में उनके लिए यही लाभदायक होगा कि वह इङ्गलैंड से सोना ही अमेरिका मँगावें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जब इङ्गलैंड पर लिखे गये बिलों की पूर्ति (supply) अधिक होगी और माँग कम होगी तो उनका मूल्य कम हो जावेगा। उन बिलो की कम से कम कीमत क्या हो सकती है यह जानने के लिए हमे टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) में से बैंक का कमीशन, सोना इङ्गलैंड से अमेरिका भेजने का भाड़ा, तथा बीमा कराने का व्यय घटाना होगा। इसे हम 'निचला स्वर्णांक' (lower specie point) कहते हैं। अमेरिका की दृष्टि से यह स्वर्ण आयात बिन्दु (gold import point) भी कहा जा सकता है। क्योंकि यदि कीमत इससे अधिक गिरती है तो इङ्गलैंड से सोना अमेरिका मे आने लगेगा।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं, कि दो देशों के बीच में विनिमय दर (rate of exchange) टकसाल सम विनिमय (mint par of exchange) मे निर्धारित होती है। इस प्रकार निश्चित हुई दर अपर स्वर्ण बिन्दु (upper gold point) तथा निचले स्वर्ण बिन्दु (lower gold point) के बीच बदलती रहती है। इन दो स्वर्ण बिन्दुओं के बीच विनिमय दर की घटा बढ़ी उन दोनों देशों के पारस्परिक व्यापार के अन्तर और तज्जन्य बिलों की पूर्ति और माँग पर निर्भर रहती है।

दूसरी श्रेणी मे हम ऐसे देशों को रखते हैं जिनमें एक तो स्वर्ण प्रमाण (gold standard) पर हो और दूसरा अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण (inconvertible paper currency standard) पर हो। इस मामले में कोई उलझन उपस्थित होती है, क्योंकि जो देश कागजी मुद्रा प्रमाण पर है वह अपने विदेशी ऋण को सोना भेज कर नहीं चुका सकता। उस देश के व्यापारियों को पूर्ण रूप से विदेशी बिलों पर ही निर्भर रहना होगा और बैंक या बिल ब्रोकर, जिनके पास वह बिल होंगे, वे उन व्यापारियों की विवशता का पूरा लाभ उठायेंगे। बैंक उस दशा में स्वर्ण बिन्दु से बधे नहीं रहेंगे। यदि उस देश के विदेशी ऋण को चुकाने के लिए उस देश पर लिखे हुए बिलों की माँग उनकी पूर्ति से अधिक होगी तो बैंक उनकी कीमत ऊपर स्वर्ण बिन्दु से भी अधिक माँगने लगेंगे। ऊपर के उदाहरण में यदि हम कल्पना करें कि संयुक्त राज्य अमेरिका स्वर्ण प्रमाण पर न होकर कागजी मुद्रा प्रमाण पर हो, और अमेरिका के व्यापारियों को इंगलैंड मे अपना ऋण चुकाने के लिए सोना भेजने की सुविधा न हो तो अमेरिका के बैंक उन व्यापारियों से एक पौंड के लिए ४.८६ डालर से भी अधिक डालर माँग सकते हैं। वे एक पौंड के लिए ५ या ६ डालर भी माँग सकते हैं। परन्तु यह तभी हो सकेगा जब कि अमेरिका में पौंडों की माँग बहुत तीव्र हो। दूसरे देश पर इस स्थिति का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि वहां के व्यापारी आवश्यकता पड़ने पर सोना बाहर भेज सकते हैं। अस्तु, विनिमय दर स्वर्ण बिन्दुओं (gold points) के बाहर नहीं जा सकती।

तीसरी श्रेणी में वह देश आते हैं जो कि सबके सब कागजी मुद्रा प्रमाण (paper standard) पर हैं। युद्ध काल में सभी देशों की स्थिति यही हो जाती है। इस दशा मे किसी भी देश को सोना बाहर भेजने या सोना मँगाने की सुविधा नहीं होती। ऐसी दशा मे जिनके पास विदेशी बिल हैं वे (बैंक या बिल ब्रोकर) उनकी मनमानी कीमत माँग सकते हैं। जब उन बिलों की माँग तेज होती है तो वे उनकी बहुत ऊँची कीमत ले लेते हैं और विनिमय दर बहुधा स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा का उल्लंघन कर जाती है।

व्यापार का अन्तर सिद्धान्त (Balance of Trade Theory)

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विनिमय बिलों की कीमत उनकी पूर्ति (supply) और माँग (demand) पर निर्भर रहती है और क्योंकि यह बिल विदेशी व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लिखे या उत्पन्न किए जाते हैं हम बड़ी सरलता से यह कह सकते हैं कि विनिमय दर (exchange rate) विदेशी व्यापार की परिस्थिति द्वारा निर्धारित होती है। यदि कोई देश

जितना निर्यात (export) करता है उससे कम आयात (import) करता है तो व्यापार का अन्तर (balance of trade) उसके पक्ष में होगा। दूसरे शब्दों में उस देश की मुद्रा या करैंसी की माँग अन्य देशों की मुद्रा या करैंसी की माँग से अधिक होगी। अस्तु, उस देश की मुद्रा या करैंसी का मूल्य अन्य देशों की मुद्रा या करैंसी की तुलना में ऊँचा हो जावेगा और विनिमय दर उस देश के पक्ष मे होगी। यदि वह देश निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है तो उस देश की मुद्रा या करैंसी की तुलना में अन्य देशों की मुद्रा या करैंसी की माँग बहुत अधिक होगी। अस्तु, उस देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में मूल्य कम हो जावेगा और विनिमय दर उस देश के विपक्ष में होगी। इसी को व्यापार का अन्तर सिद्धान्त (balance of trade theory) कहते हैं।

ऊपर के विवरण में एक बात ध्यान देने योग्य है कि हम बराबर यह मान कर चले हैं कि केवल उन वस्तुओं के लिए, जिनको कोई देश विदेशों से मँगवाता है भुगतान करना पड़ता है। किन्तु, आधुनिक समय में भिन्न-भिन्न देशों में परस्पर ऐसे बहुत से सौदे या व्यवहार होते हैं जिनका कोई लेखा नहीं रहता, परन्तु जिनके लिए भुगतान करना पड़ता है। अस्तु, यह जानने के लिए कि किसी देश का वास्तविक व्यापार का अन्तर क्या है हमे उन सभी सौदों तथा व्यवहारों का ध्यान रखना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी अन्य देशों से लेना देना है उसका हिसाब बनाया जावे।

प्रकट और अदृश्य आयात और निर्यात (Visible and Invisible Export and Import) प्रकट आयात और निर्यात से हमारा तात्पर्य उन वस्तुओं तथा धातु से होता है कि जिनके आँकड़े रक्खे जाते हैं। जब कोई वस्तु भारत से विदेशों को जाती है तो बंदरगाहों पर सरकारी विभाग उसका लेखा रखता है इसी प्रकार जब विदेशों से माल आता है, तो बंदरगाहों पर उसका लेख रहता है। अदृश्य आयात निर्यात से हमारा अर्थ उन बातों से है जिनका कोई लेखा नहीं रहता और जो यो साधारणतः प्रकट भी नहीं होती परन्तु जिनके लिए भुगतान करना पड़ता है और जिनके लिए एक देश को दूसरे देश से भुगतान मिलता है। अस्तु, वास्तव मे किसी देश के व्यापार का अन्तर (balance of trade) क्या है, इसको जानने के लिए हमे प्रकट आयात और निर्यात के साथ-साथ अदृश्य आयात और निर्यात को भी जानना आवश्यक है। किसी देश के व्यापार के अन्तर को जानने के लिए हमें नीचे लिखी बातें जानना आवश्यक है —

(१) देश ने कितना माल अथवा बहुमूल्य धातु विदेशों को भेजी और कितनी विदेशों से मँगवाई। अर्थात सबसे पहले हमें प्रकट आयात और निर्यात को जानना चाहिए।

(२) जो ऋण कि देश ने दूसरे देशों को दिया है अथवा लिया है। जब कि किसी देश को ऋण दिया जा रहा होता है उस समय ऋण लेने वाला देश लेनदार (creditor) होता है और ऋण देने वाला देश देनदार (debtor) होता है। अर्थात जितना ऋण लिया जा रहा है वह ऋण लेने-वाले देश का अदृश्य निर्यात है जिसका उसे भुगतान चाहिए।

(३) जबकि ऋण पर सूद दिया जाता है तब ऋण लेने वाला देश देनदार होता है और ऋण देने वाला देश लेनदार होता है। इसी प्रकार जब ऋण के मूलधन की अदायगी होती है तो ऋण देनेवाला देश लेनदार और ऋण लेनेवाला देश देनदार होता है। अर्थात उतनी रकम ऋण देने वाले देश का अदृश्य निर्यात है जिसका उसे भुगतान चाहिए।

(४) यदि किसी देश के निवासियों ने अपनी पूँजी विदेशों में लगा रक्खी है अथवा वे वहाँ कारबार या धंधा करते हैं और वे जो सूद या लाभ प्राप्त करते हैं और उसे अपने देश में लाना चाहते हैं तो यह एक प्रकार से उस देश का अदृश्य निर्यात हुआ जिसके लिए उसे भुगतान मिलना चाहिए। जिस देश में विदेशी पूँजी लगी अथवा विदेशी लोग कारबार करते हैं उसके लिए वह लाभ या सूद की रकम अदृश्य आयात है।

(५) इसी प्रकार यदि किसी देश के बैंक, बीमा कंपनियाँ अथवा जहाज़ और हवाई जहाज़ की कंपनियाँ अन्य देशों में कारबार अथवा सेवा करते हैं तो उसका जो प्रतिफल उनको मिलना चाहिए, वह उस देश का अदृश्य निर्यात हुआ और जो देश इस प्रकार की सेवा लेते हैं उनके लिए यह अदृश्य आयात हुआ।

(६) इसी प्रकार यदि किसी देश के वैज्ञानिक, इंजीनियर, अध्यापक, [illegible], चिकित्सक अथवा सैनिक विशेषज्ञ किसी दूसरे देश में जाकर सेवा करते हैं और अपनी बचत या वेतन अपनी मातृ भूमि को भेजते हैं। अस्तु, जिस देश [illegible] गए हैं उसके लिए इतना अदृश्य निर्यात हुआ और जिस देश में वे [illegible] सेवा करते हैं उनके लिए वह अदृश्य आयात हुआ

(७) जब किसी देश के युवक किसी दूसरे देश में शिक्षा लेने के लिए [illegible] अथवा यात्री भिन्न भिन्न देशों में घूमने के लिए जाते हैं तो जिस देश के [illegible] लोग जाते हैं उनके लिए यह अदृश्य आयात हुआ और जिस देश में

जाते हैं उसके लिए वह अदृश्य निर्यात हुआ। जिस देश के युवक और यात्री जाते हैं उसे उस देश को उनका व्यय देना होगा।

(८) जब एक देश की सरकार दूसरे देश में कुछ व्यय करती है, जैसे अपने दूतावास इत्यादि रखती है तो दूतावास अन्य देशो में जितना व्यय करते हैं उतना उस देश का अदृश्य आयात हुआ जिसका उस देश को भुगतान करना होगा और जिस देश में वह व्यय किया गया है उसका वह अदृश्य निर्यात होगा।

(९) जब किसी देश को युद्ध इत्यादि के कारण क्षति पूर्ति का हर्जाना देना होता है, अथवा कोई देश दूसरे देश को खिराज देता है, वह एक प्रकार से देने वाले देश का अदृश्य आयात होता है, जिसका उसे भुगतान करना पड़ता है।

(१०) जबकि लोग एक देश से अपने धन को विदेशों में इस लिए भेज देना चाहते हैं, क्योंकि उनका वहाँ की मुद्रा या करैंसी में विश्वास नहीं रहा है अथवा वे स्थायी रूप से उस देश से अन्य देश में बसने के लिए जाते हैं और अपना धन ले जाना चाहते हैं तो जिस देश से लोगों का प्रवास हो रहा है उसके लिए यह अदृश्य आयात के समान होगा जिसका उसको भुगतान करना होगा और जिस देश को वे लोग जावेंगे उसके लिए यह अदृश्य निर्यात होगा।

ऊपर लिखी हुई बातों का ध्यान रखकर ही हम यह मालूम कर सकते हैं कि वास्तव में किसी देश के व्यापार का अन्तर उस देश के पक्ष में है अथवा विपक्ष में है। युद्ध के पूर्व इङ्गलैंड के प्रकट आयात-निर्यात का अन्तर उसके विपक्ष में था। परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। इङ्गलैंड का अदृश्य निर्यात (invisible export) बहुत था क्योंकि उसकी पूँजी (capital) अन्य देशों में लगी थी, उसके बैंक, बीमा कंपनियाँ, जहाजी कंपनियाँ, अन्य देशों की सेवा करती थीं, उसके विशेषज्ञ, अन्य देशों में कार्य करते थे और अन्य देशों के छात्र ब्रिटेन के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते थे।

आयात (Import) का भुगतान निर्यात (Export) करके होता है यदि ध्यान पूर्वक किसी देश के विदेशी व्यापार का अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि लम्बे समय में कोई देश जो कुछ भी प्रकट अथवा अदृश्य आयात करता है उसका भुगतान केवल निर्यात के द्वारा ही होता है। यदि हम लम्बे समय को लें तो यह कहना ठीक होगा कि कोई भी देश जितना वह निर्यात करता है उससे अधिक आयात नहीं कर सकता अथवा जितना आयात करता है उससे अधिक निर्यात नहीं कर सकता। संक्षेप में हम

कारण प्रत्येक देश उस देश के बाजार में अधिकाधिक अपनी वस्तुएँ वेचने का प्रय करेगा। कहने का तात्पर्य यह कि सोने के आयात और निर्यात् से उन दे का कुल आयात और निर्यात् सतुलित हो जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने ठ ही कहा है कि विदेशी व्यापार अर्थात् आयात और निर्यात स्वय अपना सतु स्थापित कर सकते हैं। व्यापार का प्रवाह लगातार एक ओर नहीं रह सक जिस प्रकार समुद्र मे ज्वार-भाटा चढता-उतरता है उसी प्रकार विदेशी व्याप का प्रवाह होता है। जब किसी देश के व्यापार का अन्तर (balance trade) उसके विपक्ष में होता है और जब सोना बाहर चला जाता है तो उ देश के मूल्य-स्तर में ऐसा परिवर्तन होता है कि उसके विदेशी व्यापार अन्तर उसके पक्ष में हो जाता है और गया हुआ सोना वापस उसी देश आजाता है।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की बात है कि जब हम कहते हैं निर्यात (exports) आयात (imports) का भुगतान करते हैं तो हम प्रकट अदृश्य सभी प्रकार के आयात और निर्यात को उसमे सम्मिलित करते हैं। साथ हमे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जिस प्रकार हम अन्य बातों का हि वर्ष के अन्त में करने के अभ्यस्त हैं उसी तरह व्यापार का अन्तर बारह म मे तय नहीं होता है। परन्तु यदि हम लम्बे समय को लें तो ज्ञात होगा निर्यात और आयात का सतुलन स्थापित होगया है।

इतना अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट होजाता है कि उन देशों जिनमें अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण (inconvertible pa currency standard) प्रचलित है व्यापार का अन्तर सिद्धान्त (bala of trade theory) के अनुसार दो देशों में विनिमय दर (exchange ra व्यापार के अन्तर के अनुसार घटे-बढेगी। यदि ऐसे किसी देश के व्या का अन्तर उसके विपक्ष में है तो उसकी मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की मुद्रा तुलना में घट जावेगा और जिसके व्यापार का अन्तर उसके पक्ष में होगा उ मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा की तुलना मे मूल्य बढ जावेगा।

प्रथम विश्व-व्यापी युद्ध के उपरान्त विनिमय दर के घटने-बढने के स मे एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, जिसकी ओर अर्थशास्त्रियों ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस मत के अनुसार मुद्रा स्फीति (in tion) विनिमय दर मे परिवर्तन होने का मुख्य कारण है। यह सिद्ध भिन्न-भिन्न देशों मे उनकी मुद्रा (money) की क्रयशक्ति (purcha power) की भिन्नता पर आधारित है। मुद्रा स्फीति के कारण भिन्न-भिन्न

उनकी मुद्रा की क्रयशक्ति भिन्न हो जाती है अतएव उसी के अनुसार उन देशों की विनिमय दर में भी परिवर्तन होता है यही इस सिद्धान्त का मुख्य आधार है। अस्तु; इसको सम क्रयशक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity) कहते हैं —

सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory): मान लीजिए कि दो देश हैं जिनमें स्वर्णप्रमाण (gold standard) प्रचलित है। उन दोनों के प्रामाणिक सिक्कों (standard coins) में बराबर बराबर सोना है अर्थात् दोनों में एक-एक तोला सोना है। ऐसी दशा में एक देश के सिक्के और दूसरे देश के सिक्के का मूल्य बराबर होगा और उन दोनों देशों का विनिमय दर इकाई होगी। अब कल्पना कीजिए कि दोनों देश स्वर्ण-प्रमाण को छोड़कर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण (inconvertible paper standard) स्वीकार करते हैं और एक देश अपनी करेन्सी को दुगना कर देता है और दूसरा देश अपनी करेंसी को चौगुना बढा देता है तो पहले देश में दूसरे देश की तुलना में कीमतों का स्तर आधा होगा। पहले देश में कीमतें दुगनी के लगभग होंगी और दूसरे देश में कीमतें पहले की अपेक्षा चौगुनी होंगी। दोनों देश की कीमतों में १ : २ का अन्तर होगा। अतएव पहले देश की एक इकाई मुद्रा दूसरे देश की दो इकाई मुद्रा के बराबर होगी। दूसरे शब्दों में दोनों देशों में कीमतों के स्तर का जो अनुपात है वही उन दोनों देशों की विनिमय दर होगी। ऊपर दिए हुए कल्पित उदाहरण में विनिमय दर १ : २ होगी। दो देशों की कीमतों के स्तर की तुलना करने से जो विनिमय दर निर्धारित होती है उसी को सम क्रयशक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity) कहते हैं।

इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने देश की मुद्रा देकर अन्य देश की मुद्रा खरीदता है तो वह वास्तव में कुछ वस्तुओं का [illegible] मोल लेता है (क्योंकि वह उस मुद्रा से अपने देश में कुछ वस्तुएँ [illegible] करता है) और उसके बदले में स्वभावतः दूसरे देश में उतनी ही वस्तुओं को प्राप्त करने का अधिकार चाहता है। दूसरे शब्दों में हम विदेशी [illegible] इसी आधार पर नापते हैं कि उसे व्यय करने पर हमें उस देश [illegible] वस्तुएँ (goods) और सेवाएँ प्राप्त हो सकती हैं। मुद्रा की [illegible] [illegible] के स्तर से ज्ञात होती है। अतएव यदि विदेशों में हमारे [illegible] से कम [illegible] होती हैं तो उस देश की मुद्रा (money) कम वस्तुएँ [illegible] और हम अपनी मुद्रा के लिए उस देश की अधिक मुद्रा मांगेंगे।

कारण प्रत्येक देश उस देश के बाजार में अधिकाधिक अपनी वस्तुएँ बेचने का प्रय करेगा। कहने का तात्पर्य यह कि सोने के आयात और निर्यात् से उन दे का कुल आयात और निर्यात् सतुलित हो जाता है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने त ही कहा है कि विदेशी व्यापार अर्थात् आयात और निर्यात स्वय अपना सतु स्थापित कर सकते हैं। व्यापार का प्रवाह लगातार एक ओर नहीं रह सक जिस प्रकार समुद्र में ज्वार-भाटा चढता-उतरता है उसी प्रकार विदेशी व्या का प्रवाह होता है। जब किसी देश के व्यापार का अन्तर (balance trade) उसके विपक्ष में होता है और जब सोना बाहर चला जाता है तो देश के मूल्य-स्तर में ऐसा परिवर्तन होता है कि उसके विदेशी व्यापार अन्तर उसके पक्ष मे हो जाता है और गया हुआ सोना वापस उसी देश आजाता है।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान में रखने की बात है कि जब हम कहते हैं निर्यात (exports) आयात (imports) का भुगतान करते हैं तो हम प्रकट व अदृश्य सभी प्रकार के आयात और निर्यात को उसमे सम्मिलित करते हैं। साथ हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि जिस प्रकार हम अन्य बातों का हि वर्ष के अन्त में करने के अभ्यस्त हैं उसी तरह व्यापार का अन्तर बारह म मे तय नहीं होता है। परन्तु यदि हम लम्बे समय को लें तो ज्ञात होगा निर्यात और आयात का सतुलन स्थापित होगया है।

इतना अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट होजाता है कि उन देशो जिनमे अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण (inconvertible pa curreney standard) प्रचलित है व्यापार का अन्तर सिद्धान्त (bal of trade theory) के अनुसार दो देशों में विनिमय दर (exchange ra व्यापार के अन्तर के अनुसार घटे-बढेगी। यदि ऐसे किसी देश के व्या का अन्तर उसके विपक्ष में है तो उसकी मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की मुद्रा तुलना में घट जावेगा और जिसके व्यापार का अन्तर उसके पक्ष में होगा उ मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा की तुलना में मूल्य बढ जावेगा।

प्रथम विश्व-व्यापी युद्ध के उपरान्त विनिमय दर के घटने-बढने के स मे एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया, जिसकी ओर अर्थशास्त्रियों ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस मत के अनुसार मुद्रा स्फीति (in tion) विनिमय दर मे परिवर्तन होने का मुख्य कारण है। यह सि भिन्न-भिन्न देशों मे उनकी मुद्रा (money) की क्रयशक्ति (purchas power) की भिन्नता पर आधारित है। मुद्रा स्फीति के कारण भिन्न भिन्न

में उनकी मुद्रा की क्रयशक्ति भिन्न हो जाती है अतएव उसी के अनुसार उन देशों की विनिमय दर में भी परिवर्तन होता है यही इस सिद्धान्त का मुख्य आधार है। अस्तु; इसको सम क्रयशक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity) कहते हैं :—

सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) : कल्पना कीजिए कि दो देश हैं जिनमे स्वर्णप्रमाण (gold standard) प्रचलित है। उन दोनों के प्रामाणिक सिक्को (standard coins) मे बराबर बराबर सोना है अर्थात् दोनों में एक-एक तोला सोना है। ऐसी दशा में एक देश के सिक्के और दूसरे देश के सिक्के का मूल्य बराबर होगा और उन दोनों देशों की विनिमय दर इकाई होगी। अब कल्पना कीजिए कि दोनों देश स्वर्ण-प्रमाण को छोड़कर अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा प्रमाण (inconvertible paper standard) स्वीकार करते हैं और एक देश अपनी करैंसी को दुगना कर देता है और दूसरा देश अपनी करैंसी को चौगुना बढा देता है तो पहले देश में दूसरे देश की तुलना में कीमतों का स्तर आधा होगा। पहले देश मे कीमते दुगनी के लगभग होंगी और दूसरे देश मे कीमतें पहले की अपेक्षा चौगुनी होंगी। दोनों देश की कीमतों में १ २ का अन्तर होगा। अतएव पहले देश की एक इकाई मुद्रा दूसरे देश की दो इकाई मुद्रा के बराबर होगी। दूसरे शब्दों में दोनों देशों मे कीमतों के स्तर का जो अनुपात है वही उन दोनों देशों की विनिमय दर होगी। ऊपर दिए हुए कल्पित उदाहरण मे विनिमय दर १ : २ होगी। दो देशों की कीमतों के स्तर की तुलना करने से जो विनिमय दर निर्धारित होती है उसी को सम क्रयशक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity) कहते हैं।

इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि जब कोई व्यक्ति अपने देश की मुद्रा देकर अन्य देश की मुद्रा खरीदता है तो वह वास्तव मे कुछ वस्तुओं का अधिकार सौंप देता है (क्योंकि वह उस मुद्रा से अपने देश मे कुछ वस्तुएँ खरीद सकता है) और उसके बदले मे स्वभावत. दूसरे देश में उतनी ही वस्तुओं को प्राप्त करने का अधिकार चाहता है। दूसरे शब्दो मे हम विदेशी करैंसी का मूल्य इसी आधार पर नापते हैं कि उसे व्यय करने पर हमें उस देश मे कितनी वस्तुएँ (goods) और सेवाएँ प्राप्त हो सकती हैं। मुद्रा की क्रयशक्ति उस देश के कीमतों के स्तर से ज्ञात होती है। अतएव यदि विदेशों में हमारे देश की तुलना मे कीमतें ऊँची हैं तो उस देश की मुद्रा (money) कम वस्तुएँ खरीदेगी और हम अपनी मुद्रा के लिए उन देशों की अधिक मुद्रा माँगेगे।

में हम कह सकते हैं कि दो देशों की विनिमय दर (exchange rate) उन दोनों देशों की मुद्रा की पारस्परिक क्रयशक्ति के अनुपात में ही निश्चित होगी ।

अब हम एक उदाहरण से इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करेंगे। ह उदाहरण के लिए रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर को ही लेंगे। हम य मानकर चलते हैं कि भारत और ब्रिटेन में अवाध रूप से व्यापार होता है, मा के आने-जाने पर कोई रोक नहीं है और विनिमय दर का अप्राकृतिक रूप नियन्त्रण नहीं किया गया है। जब दोनों मे देशनांक (index number) १० है तो विनिमय दर है १ रु० = १८ पेंस के। अब हम कल्पना करें कि मुद्रा स्फीति (inflation) के फल स्वरूप इङ्गलैण्ड मे कीमतें १०० से बढ़क २०० हो जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि रुपए की तुलना मे पोंड व

क्रयशक्ति गिर गई जो अब $\frac{१८ \times २००}{१००}$ = ३६ पेंस की होगी। इसके विपरी

यदि भारत मे भी मुद्रा स्फीत हो और कीमते १०० से २५० हो जावें तो रु की क्रयशक्ति (purchasing power) स्टर्लिंग पौंड की तुलना में अधि

गिर जावेगी और नई विनिमय दर (exchange rate) $\frac{१८ \times २००}{२५०}$ = १४

पेंस होगी।

ऊपर के विवरण मे यह स्पष्ट होगया कि दो देशो के अन्तर्गत 'स क्रयशक्ति' (purchasing power parity) जानने के लिए उस देश प्रचलित देशनाक (जिसकी करेंसी मे विनिमय दर प्रकट करना हो) व आधारभूत वर्ष (basic year) की विनिमय दर (exchange rate) गुणा करें और दूसरे देश के प्रचलित देशनाक (current index number से भाग दे दें। यह एक फारमूला के रूप मे भी प्रकट किया जा सकता है

$$\frac{\text{ब्रिटिश देशनांक} \times \text{आधारभूत वर्ष की विनिमयदर}}{\text{भारतीय देशनाक}}$$

इस फारमूले का प्रयोग हम वास्तविक आँकडे लेकर कर सकते हैं प्रथम महायुद्ध के पूर्व रुपया स्टर्लिंग विनिमय दर १ रु० = १६ पेंस थी। युद्ध का में इङ्गलैंड मे मुद्रा स्फीति के कारण कीमतें १०० से २२६ हो गई तब भारत में कीमतें १०० से केवल १७८ तक ही बढीं। इसका परिणाम यह हुआ कि

रुपया-स्टर्लिंग दर बढ़ कर १ रु० = २ शिलिंग हो गई जो कि "सम क्रयशक्ति सिद्धान्त" के अनुसार भी लगभग वही था

$$\frac{२२६ \times १६}{१७८} = २०\ ३\ \text{पेंस}$$

वेबिंगटन स्मिथ कमेटी ने जो २ शिलिंग की विनिमय दर की सिफारिश की उसका एक मात्र कारण यह था कि भारत में कीमतें अन्य देशों की तुलना में नीची थीं। इसी कारण हिल्टन यंग कमीशन ने १८ पेंस विनिमय दर की सिफारिश की थी क्योंकि उस विनिमय दर पर भारत की कीमतें अन्य देशों की कीमतों के बराबर थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सम क्रयशक्ति सिद्धान्त' का उपयोग भारतीय करेंसी और विनिमय की समस्याओं को हल करने में नहीं किया गया।

सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) की सीमाएँ : सम-क्रयशक्ति सिद्धान्त में आधुनिक अर्थशास्त्री नीचे लिखे संशोधन उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि 'सम क्रयशक्ति सिद्धान्त' के द्वारा ही प्रत्येक दशा में विनिमय दर निर्धारित होती हो ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए यदि कोई देश ऐसी भाग्यवान परिस्थिति में है कि वह विदेशी माल के आयात (import) पर भारी आयात-कर (import duty) लगा कर आयात कम कर सकता है किन्तु उसका माल अन्य देशों के लिए इतना अधिक आवश्यक है कि वे भी कर लगा कर उस देश से आने वाले माल को कम नहीं कर सकते।' इसका परिणाम यह होगा कि उस भाग्यवान देश का निर्यात तो कम नहीं होगा किन्तु उसका आयात कम होगा। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश की मुद्रा की माँग बहुत हो जावेगी और पूर्ति बहुत कम हो जावेगी और उसके फल स्वरूप उस देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा में मूल्य बढ़ जावेगा अर्थात विनिमय दर उस देश के पक्ष में होगी, यद्यपि उस मुद्रा का उस देश के अन्दर मूल्य कम होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी देश की ऐसी अनुकूल परिस्थित है कि वह आयात-कर लगा कर विदेशों से आने वाले माल को कम कर सकता है किन्तु अन्य देश इस स्थिति में नहीं हैं कि वे भी उसके माल पर कर लगा कर उसके निर्यात (export) को कम कर सकें तो ऐसा देश अपनी मुद्रा की विनिमय दर अर्थात उसके वाह्य मूल्य को ऊँचा रख सकता है जबकि उस देश के अन्दर मुद्रा का मूल्य नहीं बढ़ा है अर्थात कीमतों का स्तर गिरा नहीं है। पिछले वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका इसी प्रकार डालर के बाहरी मूल्य को ऊँचा रखने में

सफल हुआ है जबकि अमेरिका के अन्दर डालर का मूल्य नहीं बढा अर्थात वहाँ कीमतों का स्तर पूर्ववत ही रहा। बात यह थी कि अमेरिका ने आयात कर लगा कर आयान को कम कर दिया किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका के निर्यात इस प्रकार के थे कि अन्य देश उनको लेने पर विवश थे। अस्तु, डालर का विदेशी मुद्राओं मे मूल्य बढ गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी परिस्थिति मे सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity) लागू नहीं होता। यह स्थिति एक दूसरी तरह से भी उत्पन्न हो सकती है। कल्पना कीजिए कि एक देश की विनिमय दर तो पूर्ववत ही रहती है किन्तु देश के अन्दर कीमतों का स्तर (price level) ऊँचा उठ जाता है। अर्थात उस देश की मुद्रा का वाह्य मूल्य (externel value) ऊँचा रहता है और आन्तरिक मूल्य (internel value) नीचा रहता है। यही अनुकूल परिस्थिति वाला देश विदेशी माल पर आयात-कर लगाकर कर सकता है। यही कारण था कि कई दशाब्दों तक डालरों को पौंडों में बदल कर इङ्गलैड में अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती थीं और अमेरिका में उतने ही डालरों से कम वस्तुएँ मिलती थीं।

इसके विपरीत यदि कोई स्वेच्छा से अथवा परिस्थिति वश आयात (imports) को कम नहीं कर सकता और उसके निर्यात (exports) को अन्य देश चुगी लगा कर कम कर देते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि उस देश की करैंसी की मॉग उसकी पूर्ति की तुलना में कम हो जावेगी और उस देश की करैंसी का मूल्य अन्य देशों की करैंसी में कम हो जावेगी।

समक्रयशक्ति सिद्धान्त (purchasing power parity theory) की दूसरी कमी यह है कि उसका हिसाव लगाने के लिए हमे देशनांकों (index numbers) का आधार लेना पड़ता है। देशनाक तो केवल कीमतों के औसत गिरावट और चढाव का सकेत मात्र करते है। अस्तु, सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर (exchange rate) का हिसाव लगाने से जो विनिमय दर आती है वह बहुधा वास्तविक प्रचलित विनिमय से भिन्न होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के आधार पर विनिमय दर का ठीक ठीक हिसाव लगाना कठिन है।

'सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त' की तीसरी कमी यह है कि 'कीमतों का स्तर' जहाँ तक विदेशी व्यापार का प्रश्न है उस देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति जानने का बिलकुल सही आधार नहीं है। क्योंकि देशनाक (index number) निकालने में जिन वस्तुओं की कीमतों को लिया जाता है उनमें से बहुत सी

तुएँ विदेशी व्यापार में कभी भी प्रकट नहीं होतीं। उदाहरण के लिए साधारण कड़ी, पत्थर, मकान अथवा ऐसी बहुतसी वस्तुएँ एक देश में सस्ते हो सकते हैं न्तु उनका निर्यात दूसरे देशों को नहीं हो सकता। जब हम यह कहते हैं कि दो देशों की विनिमय दर उन दोनों देशों के सापेक्षिक 'कीमतों के स्तर' पर निर्भर है तो हमारा तात्पर्य केवल उन वस्तुओं की कीमतों के स्तर से है जिनका विदेशी व्यापार मे निर्यात आयात होता है अथवा हो सकता है।

'सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त' का चौथा दोष यह है कि इस सिद्धान्त के प्रवर्तक प्रो० कैसल का कहना था कि 'कीमतों के स्तर' में परिवर्तन होने से विनिमय दर में अवश्य परिवर्तन होगा परन्तु विनिमय दर में परिवर्तन होने से कीमतों के स्तर पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। अनुभव ने हमें यह बतलाया है कि प्रो० कैसल का यह कहना कि विनिमय दर में परिवर्तन होने से कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा सही नहीं है।

हम एक उदाहरण लेकर इसे स्पष्ट करेंगे। कल्पना कीजिए कि किसी अन्य देश में सूद की दर अधिक होने से अथवा इस लोभ से कि पौंड का मूल्य उस देश की करैंसी की तुलना में भविष्य में कम होने की सम्भावना है ब्रिटेन से बहुत सी पूँजी (capital) विदेश को जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि पौंड का मूल्य अन्य देशों की करैंसी मे कम हो जावेगा। इसका फल यह होगा कि विदेशों से आने वाली वस्तुओं का मूल्य ब्रिटेन मे ऊँचा चढ जावेगा। आने वाली वस्तुओं का मूल्य बढ जाने से ब्रिटेन के उद्योग-धंधों को कच्चा माल मँहगा मिलने लगेगा और उसका लागत-व्यय अधिक होने के कारण उन्हें अपने तैयार माल की कीमत बढानी होगी। इसके विपरीत पौंड का अन्य देशों की करैंसी की तुलना में मूल्य कम होने से विदेशों में ब्रिटिश माल सस्ता हो जावेगा और विदेशी माल का निर्यात अधिक होने लगेगा। इसका फल यह होगा कि ब्रिटिश व्यापारी अपने माल की कीमत को बढाने के लिए लालायित होंगे क्योंकि यदि वे अपनी वस्तुओं की कीमत उससे कम बढ़ाते हैं जितनी कि पौंड की गिरी है तो उनको अधिक लाभ होगा फिर भी उनका माल विदेशों में पहले की अपेक्षा सस्ता रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि पौंड का मूल्य गिरने से ब्रिटेन में कीमतें ऊँची हो जावेंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि विनिमय दर मे परिवर्तन होने से कीमतों मे भी परिवर्तन होता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त'

दोष पूर्ण है परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह सर्वथा महत्त्वहीन है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं की 'कीमतों के स्तर' और विनिमय दर का घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त से किसी देश की करैंसी नीति के निर्धारित करने में व्यवहार मे बड़ी सहायता मिलती है। कोई भी देश अपनी विनिमय दर निर्धारित करने में कीमतों के स्तर की अवहेलना नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए १६२५ में जब ब्रिटेन ने पुन स्वर्ण प्रमाण स्थापित किया तो पौंड का मूल्य 'कीमतों के स्तर' को देखते हुए बहुत ऊँचा निर्धारित कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन पौंड की उस विनिमय दर को नही रख सका और शीघ्र स्वर्ण प्रमाण को छोड़ना पड़ा।

ऊपर लिखे दोषों के अतिरिक्त सम क्रय शक्ति सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह भी है कि व्यापार के अन्तर (balance of trade) का विनिमय दर पर जो प्रभाव पड़ता है उसका इस सिद्धान्त में कोई महत्त्व नहीं है। हम ऊपर यह देख चुके हैं कि व्यापार के अन्तर का विनिमय दर पर बहुत प्रभाव पड़ता है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि व्यापार के अन्तर का देश के अन्दर मुद्रा (money) की क्रय-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी विनिमय दर मे अन्य कारणों से भी परिवर्तन होता है जिसका आन्तरिक क्रय-शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कल्पना कीजिए कि लोग यह आशा करते हैं कि ब्रिटेन मे मुद्रा स्फीति (inflation) होने वाला है और इस कारण पौंड का मूल्य कम हो जावेगा। अस्तु, वे अपनी पूँजी को बाहर ले जाना चाहेंगे। इसका फल यह होगा कि लोग पौंडों को देकर फ्रैंक या डालर लेंगे। अत्यधिक पौंडों की पूर्ति (supply) विनिमय बाजार में आने के कारण पौंड का मूल्य डालर या फ्रैंक मे कुछ न कुछ अवश्य गिर जावेगा यद्यपि पौंड की ब्रिटेन मे क्रय-शक्ति पूर्ववत् ही है और उसमें कुछ अन्तर नहीं हुआ है।

सच तो यह है कि 'सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त' के द्वारा जो विनिमय दर (exchange rate) निर्धारित होती है वह सामान्य विनिमय दर (normal exchange rate) होती है अर्थात् वह एक काल्पनिक विनिमय दर है जो लम्बे समय में, यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें तो, निर्धारित होगी। किन्तु व्यवहार में अन्य बातें पूर्ववत् नहीं रहतीं। प्रतिदिन व्यापार के अन्तर में परिवर्तन होता है और उसके अनुसार ही विनिमय दर में परिवर्तन होता रहता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि सामान्य विनिमय दर सम क्रयशक्ति द्वारा निर्धारित होती है परन्तु व्यवहार में थोड़े समय के लिए अस्थायी अथवा सामयिक

विनिमय दर व्यापार के अन्तर के द्वारा निर्धारित होती हैं। स्थायी विनिमय र में भी परिवर्तन हो सकता है किन्तु यह तभी होता है कि जब कीमतों के स्तर परिवर्तन हो।

ऊपर हमने तीन प्रकार के देशों का वर्णन किया, किन्तु चौथे प्रकार के देश हो सकते हैं जिनमें प्राकृतिक शक्तियों (धातु का आयात-निर्यात) द्वारा विनिमय दर निर्धारित नहीं होने दी जाती किन्तु उसको सरकार अप्राकृतिक रूप नियन्त्रित करती है। इसमें आश्रित देश में एक सांकेतिक सिक्का (token coin) प्रामाणिक सिक्के (standard coin) के समान काम करता है और सका विनिमय मूल्य (exchange value) किसी अन्य प्रमुख देश की करैंसी निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध में सोना भेजने की तो विधा होती नहीं अत यह भय रहता है कि व्यापार के अन्तर के साथ-साथ विनिमय दर ऊपरी स्वर्ण विन्दु (upper gold point) के ऊपर अथवा निचले स्वर्ण विन्दु के नीचे न चली जावे। अतएव सरकार स्वय अपने विनिमय बिलों का निर्माण करती है और उनको जनता को निर्धारित विनिमय दर पर ती है। इस प्रकार सरकार विनिमय दर को घटने-बढने नहीं देती। इसे विनिमय का उद्बन्धन (exchange pegging) कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आश्रित देश की सरकार किसी प्रमुख देश की मुद्रा या करैंसी से अपने सांकेतिक सिक्के की विनिमय दर निर्धारित कर देती है और फिर स्वय उस निर्धारित दर उस करैंसी को खरीद या बेचकर उस विनिमय दर को बनाये रखती है। साधारणतया यह प्रणाली सफल हो जाती है परन्तु यदि इस प्रकार के बिल यथेष्ट मात्रा में नहीं उपलब्ध किए जा सकते अथवा सरकार इन बिलों के लिए निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य लेने लगती है तो यह प्रणाली असफल हो जाती है।

भारत इस प्रकार के देशों का सबसे उत्तम उदाहरण है। १६१४ के पूर्व भारत का सांकेतिक सिक्का रुपया ब्रिटिश स्टर्लिंग से १ रु० = १६ पें० दर पर बाँध दिया गया था और सरकार इस विनिमय दर को कौंसिल तथा रिवर्स कौंसिल बिलों को बेच कर बनाये रखती थी। व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में होने पर जब कभी रुपए का मूल्य ऊपरी स्वर्ण विन्दु से ऊपर उठने को होता तभी इंग्लैंड में भारत मन्त्री भारत सरकार पर बिल लिखकर ब्रिटिश व्यापारियों को १ शि० ४ पे० प्रति रुपए के हिसाब से बेच देता। इन्हे कौंसिल बिल कहते हैं। यदि रुपए का मूल्य निचले स्वर्ण विन्दु से नीचे गिरने को होता तभी इंग्लैंड में कौंसिल बिलों का बेचा जाना बन्द कर दिया जाता और भारत

सरकार भारत मन्त्री पर रिवर्स कौंसिल बिल काट कर भारत में व्यापारियों को एक रुपए के १ शि० ४ पे० के हिसाब से बेच देता। इस प्रकार विनिमय दर को स्थिर रक्खा जाता था। क्योंकि व्यापार का अन्तर लगातार भारत के पक्ष में रहता था अतः तब तक यह प्रणाली सफल होती रही जब तक कि भारत में रक्षित कोष (reserve fund) में यथेष्ट द्रव्य रहा जिससे कि कौंसिल बिलों का भुगतान किया जा सकता था किन्तु युद्धकाल में, जबकि रक्षित कोष समाप्त हो गया, तो यह प्रणाली असफल हो गई।

आज भी भारत ने रुपए को स्टर्लिंग से १ रु० = १८ पें० दर से बाँध रक्खा है। किन्तु इस विनिमय दर को बनाये रखने के लिए कौंसिल बिल तथा रिवर्स कौंसिल बिलों को बेचने की परिपाटी छोड़कर स्टर्लिंग खरीदने की पद्धति को अपनाया गया है। जब कभी व्यापार का अन्तर भारत के पक्ष में होता है और रुपए स्टर्लिंग की दर १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पें० से ऊपर जाने वाली होती है तभी भारत सरकार विनिमय बैंकों (exchange banks) को भारत में रुपए देकर उनके पास लंदन में जो भी स्टर्लिंग होते हैं खरीद लेती है। १९२७ के उपरान्त भारत में टेंडर के द्वारा स्टर्लिंग खरीदे जाने लगे हैं। सप्ताह के एक निश्चित दिन (बुद्धवार को) बम्बई, कलकत्ता तथा मदरास में बैंकों से स्टर्लिंग खरीदने के लिए टेंडर लिए जाते हैं और दूसरे दिन यह घोषित कर दिया जाता है प्रत्येक बैंक को कितनी रकम के स्टर्लिंग देने हैं। इस प्रणाली में एक लाभ यह भी है कि यदि भारत सरकार को स्टर्लिंग में कुछ ब्रिटेन में भुगतान करना हो तो वह कर सकती है और विनिमय बैंकों को भी लाभ है क्योंकि वे अपने स्टर्लिंग, जो कि ब्रिटेन में इकट्ठे हो गए हैं। भारत सरकार को बेच सकते हैं।

विनिमय दर पर प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ : अब हम इस स्थिति में हैं कि हम यह जानने का प्रयत्न करें कि विनिमय दर पर किन बातों का प्रभाव पड़ता है। हम उन शक्तियों का नीचे उल्लेख करेंगे कि जो विनिमय दर को प्रभावित करती हैं।

अल्पकालीन : (क) व्यापार सम्बंधी (commercial)
(ख) अर्थ सम्बन्धी (financial)
दीर्घकालीन : (क) करैन्सी (मुद्रा) तथा साख (credit) की स्थिति
(ख) राजनैतिक तथा औद्योगिक स्थिति।

अब हम इनका विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

अल्पकालीन (व्यापार सम्बन्धी) : हम ऊपर देख चुके हैं कि विनिमय दर विदेशी बिलों की माँग (demand) और पूर्ति (supply)

निर्भर रहती है। यह विदेशी बिल किसी देश के विदेशी व्यापार के कारण उत्पन्न होते हैं। अस्तु, जिस देश का निर्यात (export) आयात (imports) से अधिक होता है विनिमय दर (exchange rate) उसके पक्ष में होती है और जिस देश का निर्यात उसके आयात से कम होता है विनिमय दर उसके विपक्ष में रहती है। यहाँ हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि यहाँ निर्यात तथा आयात शब्दों का उपयोग विस्तृत अर्थों में किया गया है। अर्थात इनमें प्रकट और अदृश्य सभी आयात और निर्यात आ जाते हैं।

अर्थ सम्बंधी (Financial) : आज बैंकिंग का इतना अधिक विकास हो गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने धन कोष को आसानी से एक देश से दूसरे देश को भेज सकता है। आज बैंकिंग सुविधा के कारण पूँजी (capital) की गतिशीलता (mobility) बहुत अधिक बढ गई है। जहाँ एक देश में सूद की दर ऊँची हुई यदि अन्य राजनैतिक असुविधा न हुई तो अन्य देशों के व्यापारी, अन्य लोग तथा व्यापारिक संस्थाएँ जिनके पास पूँजी बेकार पड़ी है वे तुरन्त अपनी पूँजी को अधिक सूद के लालच से उस देश को भेज देते हैं। इस प्रकार बराबर एक देश से दूसरे देश को धन कोष आता जाता रहता है। यदि किसी देश में यह सम्भावना या भय होने लगता है कि वहाँ कीमतों का स्तर बहुत ऊँचा होने वाला है और मुद्रा स्फीति (inflation) के कारण वहाँ की करैंसी (मुद्रा) का मूल्य गिरने वाला है तो लोग अपनी पूँजी को अन्य देशों में भेज देते हैं। इसी प्रकार यदि किसी देश में सूद की दर अन्य देशों की तुलना में गिर जाती है तो पूँजी उस देश को छोड़कर बाहर जाने लगती है। यह सब बैंकिंग पद्धति के विकास के कारण ही सम्भव है। यही बैंकिंग और आर्थिक कार्य विनिमय दर को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं।

उदाहरण के लिए यदि 'क' देश 'ख' देश को पूँजी का निर्यात करता है अथवा पूँजी भेजता है तो 'क' की मुद्रा (money) देकर 'ख' की मुद्रा को लिया जावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि 'क' की मुद्रा की पूर्ति (supply) 'ख' की मुद्रा की पूर्ति से अधिक होगी और विनिमय दर 'ख' देश के पक्ष में होगी। इसी प्रकार जब यह भय होने लगता है कि किसी देश की करैंसी या मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की करैंसी या मुद्रा में गिर जावेगा अर्थात उस देश की करैंसी का बाह्य मूल्य (external value) कम हो जावेगी तो बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी उस देश से बाहर चली जाती है। पूँजी का यह प्रवाह इसलिए नहीं होता कि पूँजी बाहर भेजने वाले लोग लम्बे समय के लिए अपनी पूँजी को विदेशों में लगा देना चाहते हैं। परन्तु पूँजी का यह निष्कासन थोड़े समय

के लिए होता है। क्योंकि पूँजी बाहर भेजने वाले यह जानते हैं कि कुछ समय के उपरान्त उनके देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा में मूल्य बढ जावेगा, अर्थात उनके देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य, जो अभी गिर गया है वह अस्थायी है। कल्पना कीजिए कि ब्रिटेन और भारत की विनिमय दर १५ रु० = एक पौंड है है। ब्रिटेन के बैंको अथवा व्यापारियों को यह सम्भावना दिखलाई देती है कि पौंड का रुपयों में मूल्य निकट भविष्य में गिर कर १३ रु० हो जावेगा। ऐसी दशा में प्रत्येक चतुर व्यापारी अथवा बैंकर अपने पौंडों को (१५ रु० प्रति पौंड) रुपयों में बदलकर भारत भेज देगा। कल्पना कीजिए कि एक व्यापारी अपने एक लाख पौंडों को भारत भेजता है यहाँ उसको १५ लाख रुपए प्राप्त हो जावेंगे। कुछ समय के बाद, जैसी कि सम्भावना थी, पौंड का मूल्य रुपयों में गिरकर १३ रुपए हो जाता है। अब वही व्यापारी अपने १५ लाख रुपए जो कि भारत में हैं पौंडों मे (१३ रु० प्रति पौंड) बदलेगा और १३, रु० प्रति पौंड के हिसाब से उसे १,१५,४६१ पौंड १० शि० ६ पें० मिलेंगे। इस प्रकार उसे १५,४६१ पौंड १० शि० ६ पें० का लाभ हो जावेगा।

पूँजी का एक देश से दूसरे देश मे आना-जाना स्टाक एक्सचेंज के द्वारा भी होता है। आज किसी भी देश का निवासी विदेश में स्टाक एक्सचेंज के द्वारा अपनी पूँजी वहाँ के उद्योग-धधों मे लगा सकता है। जो भी हो जबकि एक देश अपनी पूँजी को विदेश में भेजता है तो उस देश की मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जावेगी और जिस देश को वह अपनी पूँजी भेज रहा है उसकी मुद्रा की मॉग अधिक हो जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'क' देश से 'ख' देश को पूँजी का निर्यात हो रहा है तो विनिमय दर 'ख' देश के पक्ष मे होगी। पूँजी का एक देश से दूसरे देश को आना-जाना सरकारों द्वारा ऋण लेने के कारण भी होता है। उदाहरण के लिए सरकारें तथा म्यूनिस्पैलटियाँ जब अपने देश में ऋण नहीं पासकतीं तो वे विदेशों में ऋण लेती हैं। इसी प्रकार बहुत बड़े उद्योग-धधे ससार के प्रत्येक देशमें अपने हिस्से बेचकर पूँजी इकट्ठी करते हैं। विदेशों में ऋण लेने तथा विदेशों से उद्योग-धधों के लिए पूँजी प्राप्त करने का परिणाम एक ही होता है अर्थात जो देश ऋण ले रहा है अथवा पूँजी प्राप्त कर रहा है विनिमय दर उसके पक्ष मे रहेगी क्योंकि विदेशी लोग अपनी मुद्रा देकर उस देश की मुद्रा खरीद कर ही अपनी पूँजी को उस देश में भेज सकेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि ऋण लेने वाले देश की मुद्रा की मॉग बढ जावेगी और विनिमय दर उसके पक्ष में हो जावेगी। ऊपर हमने देखा कि सरकारों के ऋण तथा बड़े धधों के हिस्से ससार के प्रत्येक देश में खरीदे जाते हैं अतः उनकी खरीद बिक्री अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार

होने लगती है। ससार के प्रत्येक स्टाक बाज़ारों में इन सिक्योरिटियों में कारबार होता है। जब इन पर सूद देना होता है अथवा उनकी पूँजी चुकानी होती है तो विनिमय दर ऋणी देश के प्रतिकूल चली जाती है। क्योंकि अब उस देश की मुद्रा को देकर विदेशों की मुद्रा को खरीदने का प्रश्न उपस्थित होता है।

उदाहरण के लिए जब तक एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को ऋण देता है तो वह ऋण कर्ज लेने वाले राष्ट्र की मुद्रा में देना होता है। अस्तु; ऋण लेने वाले देश की माँग बढ जाती है। अतः विनिमय दर ऋण देने वाले देश के विपक्ष मे और लेने वाले देश के पक्ष में हो जाती है। इसी प्रकार जब किसी देश के निवासी सिक्योरिटियों को खरीदते हैं अथवा उस देशकी सिक्योरिटियाँ जो विदेशियों के पास थीं बेची जाती हैं तो विनिमय दर उस देश के प्रतिकूल चली जाती है किन्तु जब ऋण का चुकारा किया जाता है अथवा विदेशी लोग उस देश की सिक्योरिटियों को खरीदते हैं तो उस देश की मुद्रा की माँग बढ जाने से उसकी विनिमय दर ऊँची हो जाती है।

एक दूसरा आर्थिक कारण भी है जिससे विनिमय दर में परिवर्तन होता है। वह विनिमय में अन्तर्पणन (arbitrage) का है। जब कोई व्यक्ति एक ही वस्तु को एक साथ दो या अधिक बाजारों मे खरीदता और बेचता है तो उसे आरबिट्रेज (अन्तर्पणन) कहते हैं। विनिमय मे अन्तर्पणन उस समय होता है जबकि सटोरिये (speculators) भिन्न-भिन्न केन्द्रों मे विनिमय दरों मे थोड़ा अन्तर होने पर उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। वे उस केन्द्र में मुद्रा को खरीदते हैं जहाँ वह सस्ती होती है और उसी समय उसको उस केन्द्र मे बेच देते हैं जहाँ वह महँगी होती है। जो दोनों दरों में अन्तर होता है वही उनका लाभ होता है। इस प्रकार के व्यापार का परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न केन्द्रों में किसी मुद्रा विशेष की विनिमय दरों मे अन्तर नहीं रह पाता। और उस मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य सब केन्द्रों में एक समान रहने की प्रकृति होती है। क्योकि जैसे ही किसी केन्द्र में किसी मुद्रा विशेष की माँग बढती है अन्य केन्द्रो से जब उस मुद्रा की माँग अधिक नहीं है वह मुद्रा भेजदी जाती है। इसी प्रकार यदि किसी केन्द्र में किसी मुद्रा की बहुतायत है तो वह उन केन्द्रों मे भेज दी जाती है कि जहाँ उनकी बहुतायत नहीं है। इसी प्रकार किसी भी मुद्रा की ससार व्यापी माँग और पूर्ति का सतुलन स्थापित होता है।

दीर्घ कालीन कारण

करैंसी और साख सम्बंधी स्थिति करैंसी और साख की स्थिति का विनिमय दर पर गहरा असर पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि किसी देश में

कागजी नोटों का प्रचलन व्यापार को देखते हुए सीमा से अधिक बढता है अर्थात् वहाँ मुद्रा स्फीति (inflation) हो रही है तो उस देश में मुद्रा की क्रय-शक्ति गिर जावेगी और कीमते ऊँची चढ जावेंगी। इसका परिणाम यह होगा कि निर्यात व्यापार कम हो जावेगा और उसके परिणाम स्वरूप उसकी विनिमय दर प्रतिकूल होगी। विनिमय दर में गिरावट आने पर कीमतें गिरने की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है। विनिमय दर के नीचे होने पर आयात बढता है और निर्यात कम होता है। इसका फल यह होता है कि उस देश से सोना बाहर जाने लगता है। जैसे-जैसे सोना बाहर जाता है वैसे-वैसे देश में मुद्रा का संकुचन होता जाता है और साख भी कम होती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के अन्दर कीमतें गिरने लगती हैं।

राजनैतिक और औद्योगिक परिस्थिति : किसी भी राष्ट्र का बजट उस देश की आर्थिक स्थिति को जानने का सही साधन है। ऐसे देश में जहाँ आमदनी के अन्दर ही खर्चे को सीमित किया जाता है और व्यय को कम किया जाता है उस देश की साख और आर्थिक स्थिति सुदृढ समझी जाती है और सभी का उस मे विश्वास रहता है। सटोरिये उस देश की मुद्रा को इस आशा से खरीदते हैं कि भविष्य में उसका विनिमय मूल्य बढ़ जावेगा क्योंकि देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहेगा। इसके विपरीत यदि यह प्रतीत होता है कि देश आमदनी से अधिक व्यय कर रहा है अथवा उसकी आर्थिक स्थिति को देखते उसका व्यय अधिक है तो नये कर लगाना आवश्यक होगा। सटोरिये उस देश की मुद्रा को इस आशा से बेचने लगेंगे कि उसका अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य गिर जावेगा और उस देश की स्थिति भी डाँवाडोल हो जावेगी।

किसी देश की राजनैतिक स्थिति क्या है उसका भी विनिमय की दर तथा पूँजी की गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में सरकार स्थायी और सबल है, आन्तरिक व्यवस्था अच्छी है, व्यक्तिगत सम्पत्ति सुरक्षित है पूँजीपतियों और मजदूरों के सम्बध मधुर हैं, तो उस देश मे पूँजी आवेगी और यदि किसी देश की राजनैतिक स्थिति डाँवाडोल है, वहाँ अस्त-व्यस्तता है, मजदूर पूँजीपतियों में निरतर सघर्ष रहता है तो उस देश से पूँजी बाहर चली जावेगी यदि पूँजी विदेशों को जाती है तो विनिमय दर उस देश के प्रतिकूल होगी और यदि पूँजी आती है तो विनिमय दर अनुकूल होगी।

परिच्छेद ३६

विनिमय का प्रबंध और नियंत्रण

(Exchange Management and Control)

आज की आर्थिक योजनाओं तथा व्यक्तिगत व्यवसाय में राज्य के हस्तक्षेप में यह एक आश्चर्य की बात होती यदि विनिमय बाजारों (exchange market) पर राज्य का नियंत्रण न होता। सच तो यह है कि आज एक भी देश ऐसा नहीं है जहाँ पर किसी न किसी प्रकार का विनिमय नियंत्रण (exchange control) न स्थापित हो, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, प्रभावकारी हो अथवा प्रभाव हीन। आज प्रत्येक देश अपने देश की मुद्रा की अन्य देशों की मुद्रा में विनिमय दर नियंत्रित करता है और विदेशी विनिमय बाजार में कारबार पर प्रतिबंध लगाता है। इस परिच्छेद में हम उन तरीकों का अध्ययन करेंगे जिनसे विनिमय दर पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है और उसका उन देशों की मुद्रा प्रणाली (monetary system) पर क्या प्रभाव पड़ता है। परन्तु इससे पहले कि हम उन तरीकों का अध्ययन करें यह जान लेना आवश्यक होगा कि सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को तथा अपनी मुद्रा के विनिमय मूल्य को क्यों नियंत्रित करना चाहती हैं।

विनिमय दर के नियंत्रण का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि [illegible] कि नियंत्रण स्थापित करते हैं वे अपनी मुद्रा की विनिमय दर को [illegible] रखना चाहते हैं जो कि बिना नियंत्रण के प्रचलित होती। यदि [illegible] विनिमय दर से संतुष्ट हो कि जो माँग (demand) और [illegible] के द्वारा स्वतंत्र रूप से निर्धारित हो, तो विनिमय प्रबंध अथवा [illegible] आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रबंधित या नियंत्रित [illegible] भिन्न रखना है तो उसके नीचे लिखे तीन उद्देश्य होते हैं [illegible] में जो विनिमय दर प्रचलित होती उससे ऊँची दर [illegible] स्वतंत्र बाज़ार में जो विनिमय दर प्रचलित होती [illegible] है। (३) विनिमय दर को लम्बे समय तक [illegible] द्वारा निर्धारित विनिमय दर के बराबर [illegible]

स्वतन्त्र बाज़ार मे जो थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहता है उसको बचाना अभीष्ट है। सुविधा के लिए हम इन्हें ऊर्द्ध मूल्यन (over-valuation), अवमूल्यन (under-valuation) तथा विनिमय दर में परिवर्तन न होने देना कह सकते हैं।

ऊर्द्ध मूल्यन विनिमय नियन्त्रण का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण है। दस वर्ष पहले तो वास्तव में विनिमय नियंत्रण का यही एकमात्र उद्देश्य था। अवमूल्यन (under-valuation) तथा विनिमय दर को लम्बे समय तक स्थिर रखना पिछले दस वर्षों से प्रचलित हुआ है। कोई देश अपनी मुद्रा का मूल्य वास्तविक मूल्य से ऊँचा रखना चाहता है। इसके मुख्य तीन कारण हैं। (१) पहला कारण तो यह है कि जब किसी देश को एक साथ बहुत-सा सामान विदेशों से खरीदना पड़ जावे तो यह उसके हित में होता है कि वह अपनी मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की मुद्रा से ऊँचा रक्खे। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन ने पौंड का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से ऊँचा रक्खा जिससे कि वह सस्ते में युद्ध सामग्री खरीद सकता था। कारण यह था कि ब्रिटेन को जो भी सैनिक सामग्री संयुक्त राज्य अमेरिका से खरीदनी पड़ती थी उसके लिए डालर देने पड़ते थे और पौंड का मूल्य ऊँचा रखने से डालर अधिक मिल जाते थे।

अपनी मुद्रा के मूल्य को ऊँचा रखने का दूसरा कारण यह है कि बहुत से देश अन्य देशों के ऋणी होते हैं और उनका ऋण विदेशी मुद्रा में होता है। जब उन्हे वह ऋण चुकाना पड़ता है तो यदि वे अपनी मुद्रा का मूल्य ऊँचा करदें तो उन्हे ऋण चुकाने में लाभ हो सकता है।

तीसरा कारण मनोवैज्ञानिक है। बात यह थी कि प्रथम महायुद्ध के उपरान्त मुद्रा स्फीति (inflation) के कारण योरोपीय देशों मे कीमतें इतनी अधिक ऊँची हो गई थी कि सर्वसाधारण उससे घबरा गए और वे किसी प्रकार भी विनिमय दर को स्थायी रखने के पक्ष मे हो गए। अस्तु, यदि मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा मे वास्तविक मूल्य गिरने भी लग जावे तो वे उसको न गिरने देने के पक्ष मे थे।

किन्तु ऊर्द्धमूल्यन (over-valuation) के भयंकर परिणाम भी होते हैं। जब किसी देश की मुद्रा का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से ऊँचा रख दिया जाता है तो उस देश में अन्य देशों की अपेक्षा कीमतें ऊँची हो जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसका निर्यात (export) गिरने लगता है और आयात में वृद्धि होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि व्याप-

र तथा उद्योग धधों पर बुरा प्रभाव पड़ता है और मजदूरी कम हो जाती है।
ारी बढने लगती है।

यही कारण है कि पिछले दिनों में बहुत से देशों ने अपनी मुद्रा का मूल्यन किया। अवमूल्यन का प्रभाव ऊर्द्धमूल्यन से ठीक उलटा होता है, र्यात बढता है, आयात गिरता है और कीमतों के स्तर को बल मिलता है। न्तु इसकी भी सीमाएँ हैं। यह ठीक है कि अवमूल्यन के फलस्वरूप उस देश अन्य देशों की अपेक्षा कीमते ऊँची हो जाती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उस देश मे कीमते ऊँची हो ही जावें। यह भी सम्भव है कि अन्य देशों कीमते गिर जावे। यदि देश बड़ा देश है और उसका निर्यात व्यापार ार में अधिक महत्वपूर्ण है तो अवमूल्यन के फलस्वरूप उस देश में कीमतें ँची नहीं होंगी वरन् अन्य देशों में कीमते गिर जावेंगी। परन्तु, यदि देश ोटा है और उसका निर्यात व्यापार अधिक है तो उस देश में कीमते ी हो जावेंगी।

ऊपर हमने यह अध्ययन कर लिया कि विनिमय दर के नियत्रण का उद्देश्य है। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि विनिमय नियत्रण (exchange trol) के तरीके क्या हैं।

(१) **विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करना :** यह तो हम पहले ही कह चुके कि विदेशी व्यापार का अन्तर (balance of trade) ही विनिमय दर पर व डालने वाला मुख्य कारण है। अस्तु, यदि निर्यात और आयात को यत्रित कर लिया जावे तो विनिमय दर अनायास ही नियन्त्रित हो जावेगी। के लिए आयात पर भारी चुँगी बिठाई जाती है और कभी-कभी किसी तु के आयात की मनाही करदी जाती है और निर्यात को प्रोत्साहन देने लिए उद्योग धधों को तथा निर्यात करने वाले व्यापारियों को आर्थिक सहायता ा जाती है। फिर भी यदि व्यापार का अन्तर विपक्ष में रहता है तो सरकार और उपाय काम मे लाती है अर्थात् वह वस्तुओं के आयात की राशि (कोटा) निर्धारित कर देती है। कोटा पद्धति में सरकार एक निश्चित समय में किसी तु का केवल एक निर्धारित राशि ही मँगवाने देती है। यदि कोटा समाप्त हो जावे तो अगले कोटे के समय तक और सामान नहीं मँगवाया जा सकता। इस प्रकार लाइसेंस प्रणाली में सरकार व्यापारियों को लाइसैंस देती है कि वे अमुक वस्तु को केवल निर्धारित मात्रा मे मॅगवा सकते हैं अथवा भेज सकते हैं अधिक नहीं। इसमें एक लाभ यह भी है कि सरकार यह भी निश्चित कर सकती है कि किस देश से कितना माल मॅगवाया जावे।

विनिमय की राशनिंग करना : राज्य जब चाहे तो केन्द्रीय बैंक द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय हो उसको खरीदने या बेचने का एक मात्र अधिकार स्वयं ले ले। और वह एक मूल्य निर्धारित करदे जिसपर वह उसे खरीदेगा और बेचेगा। ऐसी दशा में राज्य जो भी चाहे वह विनिमय दर निर्धारित कर सकता है। खुले बाजार मे विदेशी बिलों का कारबार बन्द हो जाता है। केन्द्रीय बैंक ही वह स्थान होता है कि जहाँ विदेशी विनिमय बेची और खरीदी जाती है और सरकार द्वारा निर्धारित कीमत पर उसकी खरीद बिक्री होती है।

विनिमय सन्तुलन कोष (Exchange Equalisation Fund) जब सरकार विनिमय का नियत्रण करने का निश्चय कर लेती है तो केन्द्रीय बैंक इस प्रकार के कोष को स्थापित करता है। ब्रिटेन ने सबसे पहले इस कोष को स्थापित किया था। यह १९३२ में स्थापित किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि वह शुद्ध सट्टे के कारबार को रोके और वास्तविक कारणों को विनिमय दर को लम्बे समय में निर्धारित करने दे। उदाहरण के लिये यदि किन्हीं अप्राकृतिक कारणों से पौंड का मूल्य डालर में गिर जाता है तो केन्द्रीय बैंक निश्चित दर पर डालर बेच कर पौंड का मूल्य डालरों में नहीं गिरने देगा। इसी प्रकार यदि पौंड का मूल्य डालर मे ऊँचा होने लगेगा तो वह पौंड निश्चित मूल्य पर बेच कर पौंड के मूल्य को बढने नहीं देगा। केन्द्रीय बैंक की पौंड के मूल्य को न बढने देने की ताकत उसके पास कितने पौंड हैं इस पर निर्भर रहेगी और पौंड की कीमत को न गिरने देने की शक्ति उसके पास अन्य मुद्राएँ कितनी हैं इस पर निर्भर रहेगी। ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य देशों ने भी इस कोष को स्थापित किया।

मुद्रा दर (Money Rate) अथवा बैंक दर (Bank Rate) : हम पहले ही कह चुके हैं कि विनिमय दर पर सूद की दर का प्रभाव पड़ता है। यदि किसी देश में सूद की दर ऊँची हो जाती है तो उसकी मुद्रा की विनिमय दर भी ऊँची हो जावेगी क्योंकि अन्य देशों की पूँजी अधिक सूद के लालच से उस देश में आने लगेगी। अतएव उस देश की मुद्रा की माँग अधिक बढ जावेगी और विनिमय दर ऊँची हो जावेगी। इसके विपरीत यदि सूद की दर नीचे गिरती है तो विनिमय दर भी नीचे गिर जावेगी क्योंकि जो विदेशी पूँजी ऊँचे सूद के लालच से उस देश में आई थी वह वापस जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस देश की मुद्रा का परि

supply) बढ जावेगी और अन्य देशों की मुद्रा की माँग बढ जावेगी। अस्तु,
स देश की मुद्रा की विनिमय दर गिर जावेगी।

कहने का तात्पर्य यह कि सूद की दर के द्वारा विनिमय दर को नियन्त्रित
िया जा सकता है। सूद की दर को केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक रेट के द्वारा नियत्रित
र सकता है। बैंक रेट का अर्थ उस दर से है जो कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों
ारा बिलों के पुनः भुनाये जाने पर लेता है। कोई भी बैंक उस दर से कम
पने ग्राहक से नहीं लेगा कि जो उसको केन्द्रीय बैंक को बिल पुनः भुनाने पर
नी पड़ती है। अस्तु, केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक रेट बढ़ाते ही द्रव्य बाजार
money market) मे सूद की दर बढ जावेगी।

खाते को रोक देना (Blocked Account) जब सरकार देखती
कि देश से बहुत-सा द्रव्य विदेशों को जा रहा है तो वह विदेशियों के खाते
ो रोक देती है। अर्थात् जिनका रुपया यहाँ बैंकों में जमा है अथवा उनकी
ूँजी इस देश में लगी है सरकार उनको अपना रुपया नहीं ले जाने देती।
ही नहीं कि वे उस द्रव्य को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित नहीं कर सकते
रन् उस देश के अन्तर्गत भी उसको व्यय नहीं कर सकते। जब कि विदेशी
पये को इस प्रकार रोक दिया जाता है तो देश की मुद्रा का मूल्य नीचे
हीं गिरता।

समाशोधन का प्रबन्ध (Clearing Arrangements) : जब कोई
देश विनिमय का नियत्रण करता है तो उस देश को निर्यात करने वाले देश
अपने देशवासियों को हानि से बचाने के लिए समाशोधन प्रबन्ध पर जोर
देते हैं।

वे देश तभी विनिमय नियत्रण करने वाले देश को निर्यात करने की
आज्ञा देते हैं जब कि नियत्रण करने वाला देश यह वचन दे देता है कि जो
माल आवेगा उसका तुरन्त भुगतान किया जावेगा।

दो महायुद्ध के बीच में विनिमय नियन्त्रण : दो महायुद्धों के समय
विनिमय नियत्रण के ऊपर लिखे तरीकों को काम में लाया गया। पहले
महायुद्ध के समाप्त होने पर जब बहुत से देशों ने स्वर्णमान- (gold
standard) को अपना लिया तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि विनिमय
नियत्रण की आवश्यकता नहीं रही। किन्तु थोडे दिनों के उपरान्त ही यह
अनुभव होने लगा कि स्वर्ण मान या प्रमाण स्वीकार कर लेने से ही समस्याओं
का अन्त नहीं होगा। स्वर्ण प्रमाण का एक भयकर परिणाम यह हुआ कि उन
देशों मे जिन्होंने स्वर्ण मान स्वीकार किया उनमे मुद्रा संकुचन (deflation)

तेजी से हुआ। स्वर्ण का उपयोग करने वाले देशों में सोने की क्रय शक्ति १९३०-३५ के बीच में दुगनी हो गई और सोने में कीमतों का स्तर आधा रह गया। यह स्थिति देशों के लिए असहनीय होगई और एक के बाद दूसरे देश ने स्वर्ण मान को तिलांजलि दे दी और अपने मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) कर दिया और विनिमय नियत्रण की आवश्यकता पड़ गई।

मुद्रा सकुचन (deflation) का मुख्य उद्देश्य यह था कि सोने या विदेशी विनिमय के रिजर्व की देश के विदेशी भुगतान को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करके रक्षा की जावे। जितना देश का प्रकट या अदृश्य निर्यात (visible or invisible export) हो और उसके द्वारा जितनी विदेशी विनिमय कोई देश प्राप्त करे यदि विदेशी भुगतान (external payments) उतने तक ही सीमित कर दिए जावें तो सोने या विदेशी विनिमय के रिजर्व की हानि नहीं होगी और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए मुद्रा सकुचन की भी आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु यदि विदेशी भुगतान को कम करना आवश्यक हो तो आयात पर भी प्रतिबंध लगाना होगा तभी विदेशी भुगतान को नियन्त्रित किया जा सकता है। आयात को लाइसैंस पद्धति से सीमित किया जा सकता है। अर्थात् कोई व्यापारी तभी किसी देश से कोई वस्तु मँगवा सकता है कि जब उसको सरकार से लाइसैंस मिल जावे। सरकार केवल उसी वस्तु के लिए और उतनी मात्रा के लिए लाइसैंस देगी जितनी अत्यन्त आवश्यकता होगी। विनिमय नियत्रण में केवल देश की सरकार ही विदेशी विनिमय या ऐसेट्स (assets) को खरीद सकती है और जिन व्यापारियों को वह विदेशों से माल मँगवाने की आज्ञा प्रदान करती है उनको भुगतान करने के लिए विदेशी विनिमय दे देती है। वस्तुओं के आयात पर तो नियत्रण किया ही जाता है परन्तु विनिमय नियत्रण के द्वारा विदेशियों द्वारा की हुई सेवाओं को खरीदने पर भी नियत्रण स्थापित कर दिया जाता है क्योंकि सरकार उनके भुगतान के लिए तब तक विदेशी विनिमय नहीं देती जब तक कि सरकार से उन सेवाओं को खरीदने की पूर्व आज्ञा नहीं ले ली जाती। परन्तु विनिमय नियत्रण का मुख्य उद्देश्य पूँजी (capital) के विदेशों को पलायन को रोकना है। जब किसी देश के सोने या विदेशी विनिमय का कोष समाप्त होने पर होता है तो यह भय उत्पन्न हो जाता है कि उस देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य गिर जावेगा तो उस देश के लोग या तो अपने द्रव्य को विदेशी मुद्राओं में बदल लेंगे अथवा वे अपनी पूँजी को विदेशों में लगा देंगे जिससे कि होने वाली हानि से बच सकें। इस

भययुक्त पूँजी पलायन का परिणाम यह होता है कि जो कुछ थोड़ा बहुत स्वर्ण कोष या विदेशी विनिमय का कोष होता है वह तुरन्त समाप्त हो जाता है और मुद्रा का विदेशी मूल्य अत्यधिक गिर जाता है। विनिमय नियन्त्रण से यह स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती और देश की मुद्रा का विदेशी मुद्राओं में मूल्य इच्छानुसार रक्खा जा सकता है।

१६३१ के उपरान्त जब बहुत देशों में मुद्रा और बैंकिंग संकट उत्पन्न हुआ तो संसार के देश दो श्रेणियों में विभक्त होगए। एक श्रेणी तो उन देशों की थी जिनकी मुद्रा निर्बल थी और दूसरी श्रेणी उन देशों की थी जिनकी मुद्रा सबल थी। निर्बल मुद्रा वाले देशों ने विनिमय-नियन्त्रण को अपनाया और इस प्रकार अपनी मुद्रा के मूल्य को उसके वास्तविक मूल्य से ऊँचा रक्खा।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि विनिमय नियत्रण स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय के कोष की रक्षा करने के लिए किया जाता है। परन्तु विदेशी विनिमय का उपयोग तभी हो सकता है कि जब कि वह विदेशों में ऋण को चुकाने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक उपलब्ध हो। यह सुविधा केवल वही देश दे सकते हैं कि जिनकी मुद्रा सबल है। यदि कोई निर्बल मुद्रा का ऊर्द्धमूल्यन (over-valuation) किया गया है अर्थात् उसके वास्तविक मूल्य से उसका प्रकट मूल्य अधिक निर्धारित किया गया है तो उसको उस निर्धारित मूल्य पर बेचना सरल नहीं होगा। इसका परिणाम यह होता है कि जो देश विनिमय नियन्त्रण करते हैं वे एक दूसरे की मुद्राओं को अपने कोष (रिज़र्व) में नहीं रखना चाहते। निर्बल मुद्रा वाले देशों के समूह के अन्तर्गत प्रत्येक देश इस बात का प्रयत्न करता है कि उसे जितनी दूसरे देश की मुद्रा मिले उसे वह खर्च कर डाले कि जिससे उसके पास वह निर्बल मुद्रा शेष न रह जावे। इस समूह के बाहर प्रत्येक देश का यह प्रयत्न होता है कि वह जितना अधिक सम्भव हो उतना बेचे और जितना सम्भव हो कम खरीदे जिससे कि उसके पास सबल मुद्रा का कोष जमा हो सके।

द्विदेशीय संविदा (Bilateral Agreement) · इसका परिणाम यह हुआ कि निर्बल मुद्रा वाले देशों मे परस्पर द्विदेशीय समाशोधन (bilateral clearing) अथवा अदल-बदल (barter) के समझौते के आधार पर व्यापार होने लगा। इस पद्धति में प्रत्येक देश दूसरे देश की जितनी मुद्रा पाता था उतनी ही आयात का भुगतान करने में खर्च कर देता था। यह केवल उनकी विनिमय समस्याओं का हल मात्र नहीं था वरन् उस कठिनाई से बचने का

भी एक उपाय था जो कि ऊर्द्ध मूल्यन (over-valued) मुद्रा वाले देशों को अपने निर्यात के सम्बन्ध में होती है।

निर्बल मुद्रा वाले देशों का समूह इन व्यापारिक सधियों के कारण एक ऐसा सुरक्षित व्यापारिक क्षेत्र बन गया जिसके अन्तर्गत एक देश दूसरे देश के माल को पहले देता था और सबल मुद्रा वाले देशों के व्यापार को कम करने का प्रयत्न करता था।

सबल मुद्रा वाले देशों के विरुद्ध इस प्रयत्न का फल यह हुआ कि उन देशों में आर्थिक मदी और भी अधिक गहन होगई और उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होगई, उनका व्यापार बहुत घट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि १६३१ में ब्रिटेन को और १६३३ में सयुक्त राज्य अमेरिका को स्वर्ण प्रमाण (gold standard) को छोड़ना पड़ा और उन्होंने अपनी मुद्रा का मूल्य गिर जाने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत द्विदेशीय व्यापारिक समझौतों (bilateral trade agreements) को बुरा समझा जाने लगा।

किन्तु द्वितीय महायुद्ध में इन समझौतों का एक दूसरा ही रूप सामने आया। स्टर्लिंग निर्बल मुद्रा केवल इसी अर्थ में थी कि ब्रिटेन युद्ध सामग्री खरीदने के लिए अनाप-शनाप विदेशी ऋण का निर्माण कर रहा था। किन्तु पौंड स्टर्लिंग की प्रतिष्ठा पूर्ववत ही थी। स्टर्लिंग क्षेत्र के देश अपने कोष को लंदन में स्टर्लिंग में ही रखते थे। अन्य देश भी लदन मे अपने पक्ष मे स्टर्लिंग इकट्ठा होने दे रहे थे। इस प्रकार जो अन्य देशों का स्टर्लिंग लदन में जमा होगया था वह ब्रिटिश विनिमय नियत्रण से बँधा हुआ था। उसका उपयोग केवल स्टर्लिंग क्षेत्र में ही हो सकता था। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर केवल आज्ञा लेकर ही उनका उपयोग किया जा सकता था।

ब्रिटेन द्वारा युद्ध मे कल्पनातीत-व्यय होने के कारण लदन मे विदेशों का स्टर्लिंग कोष बहुत बढ गया। यदि विदेशों के लदन में जमा हुए स्टर्लिंग का अर्थ यह होता कि उनका भुगतान केवल ब्रिटेन के माल को खरीदकर ही हो सकता तो वह भी बहुत बड़ी मात्रा में द्विदेशीय समझौते के समान ही होता।

इस सम्भावना से कि विनिमय नियत्रण के अन्तर्गत स्थायी रूप मे द्विदेशीय व्यापारिक समझौते हो जावेंगे सयुक्त राज्य अमेरिका सशक हो उठा। अन्य देशों के लदन मे स्टर्लिंग इतने अधिक जमा होगए थे कि यदि उनकी अदायगी केवल ब्रिटेन के माल को खरीद कर ही हो सकती तो इस बात का भय था कि ब्रिटेन फिर एक बार ससार के बाजार को अपने हाथ मे कर लेगा

र संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों के व्यापार को धक्का लगेगा। ग्यवश उसी समय ब्रिटेन को अमेरिका की सहायता की आवश्यकता हुई और मेरिका ने १९४१ के उधार पट्टा कानून (lease lend act) के अन्तर्गत हायता देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। पर्ल-हारबर के बाद २३ फरवरी ९४३ को दोनों देशों मे पारस्परिक सहायता संधि हुई। इस संधि के अनुसार ह तय हुआ कि दोनों देशों मे जो भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर रुकावटे हैं नको दूर करना, आयातकर को कम करना तथा अन्य व्यापारिक कठिनाइयां ो दूर करना ही दोनों प्रमुख देशों का ध्येय है।

लार्ड कीन की योजना (Keynes Plan) : कुछ समय के उपरान्त र्ड कीन ने एक योजना उपस्थित की जिसके द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय समाशोधन clearing) यूनियन की स्थापना करने का प्रस्ताव था। क्लियरिंग यूनियन पना कारबार एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा—बैंकोर (bancor) मे करती। इस ा (बेंकोर) का मूल्य सोने में निश्चित कर दिया जावेगा। आवश्यकता र उसको स्वर्ण मूल्य मे परिवर्तन भी किया जा सकता था। इस यूनियन के येक सदस्य राष्ट्र को इस मुद्रा को स्वर्ण के समान ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान लिए स्वीकार करना पड़ेगा। सब देशों के केन्द्रीय बैंक इस अन्तर्राष्ट्रीय लयरिंग यूनियन के पास अपना खाता रक्खेंगे। जिस देश का व्यापार का न्तर शेष संसार के विरुद्ध उसके पक्ष में होगा उसके क्लियरिंग यूनियन के ाते में उतना जमा हो जावेगा और जिनका व्यापार का अन्तर उनके विपक्ष होगा उनके खाते मे उतना नाम (debit) हो जावेगा अर्थात् वे उतने के ऋणी हो जावेंगे। प्रत्येक देश का एक कोटा निर्धारित कर दिया जावेगा और ससे अधिक उसको यूनियन से इस प्रकार साख (credit) नहीं मिल सकेगी। स प्रकार क्लियरिंग यूनियन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान आसानी से हो सकेंगे ौर इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण तथा द्विदेशीय व्यापारिक संधियों की ावश्यकता नहीं रहेगी जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत धक्का गता है।

अमेरिकन योजना : डाक्टर व्हाइट ने अमेरिकन योजना को तैयार िया। इसके अन्तर्गत क्लियरिंग योजना के स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ी कल्पना की गई थी जिसमें प्रत्येक देश अपनी अपनी करेंसी का निर्धारित ोटा देगा। इस प्रकार कोष में सभी देशों की मुद्रा का रक्षित कोष रहेगा। ो भी देश चाहेगा उस कोष से अपनी मुद्रा देकर अन्य देशो की मुद्रा को े लेगा।

इसी समय कनाडा ने भी एक योजना उपस्थित की गई। इन सब योजनाओं पर जुलाई १९४४ में ब्रैटनवुड्स सम्मेलन में विचार विनिमय हुआ और सर्वसम्मति से एक सम्मिलित योजना को स्वीकार किया गया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई।

विनिमय नियन्त्रण के गुण विनिमय नियत्रण के सम्बन्ध में हमें एक बात न भूल जानी चाहिए कि हस्तक्षेप के द्वारा सरकार अपनी मुद्रा को स्थायी रूप से उसके प्राकृतिक या वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्य नहीं दे सकती। हाँ विनिमय नियन्त्रण के द्वारा अस्थायी रूप से विदेशी विनिमय बाजार मे होने वा मूल्य के परिवर्तनों को रोका जा सकता है। यह वास्तव में आवश्यक भी है वास्तव में यह मुद्रा के मूल्य में स्थायी स्थिरता और अत्यन्त अस्थिरता सिद्धान्तों के बीच में समझौता है। विदेशी व्यापार को सरल बनाने के लि इस बीच के रास्ते का अनुसरण करना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

विनिमय नियंत्रण तीन उद्देश्यों से किया जाता है। पहला उद्दे तो यह है कि उसके द्वारा पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता को रोका जा यदि कोई देश अपने ऋण को इस प्रकार न चुका कर उसका उपयोग सामग्री को खरीदने मे करता है तो वह निंदनीय है। ससार के आर्थिक विव के लिए यह भी आवश्यक है कि पूँजी गतिशील हो। यदि विनिमय निय के द्वारा कोई देश अपने निवासियों को अन्य देशों में पूँजी लगाने से रो है तो यह भी उचित नहीं है। परन्तु किसी किसी दशा में यह आवश्यक जाता है कि पूँजी को बाहर जाने से रोका जावे। उदाहरण के लिए जब कि देश से पूँजी भागने लगती है तो उस देश की मुद्रा प्रणाली क्षत-विक्षत हो ज है, उसको रोकना आवश्यक होता है। १९३१ में मध्य योरोपीय की स्थिति इसी प्रकार की थी। पिछले वर्षों में फ्रान्स को पूँजी के इस पल से बहुत हानि उठानी पड़ी है। सरकार जब कोई ऐसा काम करती है पूँजीपतियों को स्वीकार नहीं होता तो वे अपनी पूँजी को विदेशों में भेज देते विनिमय नियन्त्रण से इस पूँजी पलायन को रोका जा सकता है। एक उदाहरण लीजिए। आज डालर बहुत मजबूत मुद्रा है। सयुक्तराज्य अमे विदेशों से अपेक्षाकृत कम सामान मँगाता है। अब यदि योरोपीय देशों से पूँजी भी जाने लगे (सुरक्षा के लिए या लाभ के लिए) तो योरोपीय को डालर कमाना असम्भव हो जावेगा। ऐसी दशा में पूँजी का अमेरिका रोकना आवश्यक हो जाता है।

विनिमय नियंत्रण का दूसरा उद्देश्य यह होता है कि अपनी मुद्रा का मूल्य वास्तविक मूल्य से ऊँचा रक्खा जावे। यह तभी हो सकता है कि जब विदेशी व्यापार पर बहुत से प्रतिबंध लगाये जावें जिससे विदेशी व्यापार कम होता है। अपनी मुद्रा के मूल्य को ऊँचा रखने का आग्रह इस कारण उत्पन्न होता है क्योंकि सर्वसाधारण मुद्रा स्फीति से भयभीत हो उठता है। अस्तु, सरकार अपनी जनता को विश्वास दिलाने के लिए अपनी मुद्रा का मूल्य सरकारी तौर पर ऊँचा रखती है। परन्तु इस दर पर कोई कारबार नहीं होता। अधिकांश व्यापार समाशोधन (clearings) तथा व्यापारिक समझौतों के अन्तर्गत नीची दरों पर होता है। जहाँ तक जनता को धीरे धीरे मुद्रा के अवमूल्यन को स्वीकार करवाने की बात है यह तरीका उचित हो सकता है परन्तु स्थायी रूप से इसका उपयोग करना अनुचित है।

विनिमय नियत्रण का एक उद्देश्य यह भी हो सकता है कि जैसा नाज़ी जर्मनी में किया गया। तानाशाही राष्ट्र विनिमय नियत्रण का हथियार अपने निवासियों को राज्य की अर्थनीति को स्वीकार कराने, विदेशियों को सौदे में हानि पहुँचाने और युद्ध के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाते हैं। यह विनिमय नियन्त्रण का दुरुपयोग है और उसको रोका जाना चाहिए।

परिच्छेद ३७

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund)

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संसार के देशों को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि भिन्न-भिन्न देशों की मुद्रा की विनिमय दर (exchange rate) स्थिर रहे। क्योंकि पिछले वर्षों में प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके (devaluation) करके अपना निर्यात बढाना चाहता था। मुद्रा के अवमूल्यन अ [illegible] व्यापार को बहुत धक्का लग चुका था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश विदेशों से आने वाले माल पर भारी कर बिठा कर आयात व्यापार को कम करने की चेष्टा करता था। उसका भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। यही कारण था कि सभी देशों में इस बात का अनुभव किया जाने लगा कि भिन्न-भिन्न देश की मुद्राओं की परस्पर विनिमय दरें स्थिर रहें, साथ ही उनमें आवश्यक लचीलापन भी रहे। इसी उद्देश्य से संयुक्त राज्य अमेरिका में 'ब्रैटनवुड्स मुद्रा सम्मेलन' हुआ और राष्ट्रों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इसी सम्मेलन मे "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष" की स्थापना के लिए एक समझौता हुआ। इस समझौते के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के उद्देश्य

(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नीति सहयोग स्थापित करना और एक ऐसी स्थायी संस्था को स्थापित करना जो सदस्य राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नीति सम्बन्धी आवश्यक परामर्श दे सके और भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में सहयोग स्थापित कर सके।

(२) संतुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देना जिससे सभी देशों में उत्पादन तथा वास्तविक आय (real income) की वृद्धि हो और बेकारी दूर हो।

(३) विनिमय दर स्थायी हो, सदस्य राष्ट्रों को विदेशी विनिमय सुविधापूर्वक प्राप्त हो सके और राष्ट्र अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन (devaluation of currencies) करने में होड़ न करें।

(४) सदस्य राष्ट्रों को उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अन्तर विपक्ष में
र उन्हें अपने भुगतान का अन्तर (balance of payment) चुकाने
ए अन्य देशों की मुद्रा या करैंसी उपलब्ध करना और इस प्रकार उनके
तुलित भुगतान के अन्तर को सुधारने में सहायक होना जिससे कि राष्ट्र
विनाशकारी नीति को न अपनावें जिससे उनकी या अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि
तरा उत्पन्न हो।

सदस्य राष्ट्रों का हिस्सा : प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के लिए कोष का एक
ा निर्धारित किया गया है। निर्धारित हिस्से की रकम में तब तक कोई
र्तन नहीं किया जा सकता जब तक कि ८० प्रतिशत मतदान परिवर्तन के
में न हों। बिना सम्बधित राष्ट्र की सहमति के कोई परिवर्तन नहीं किया
सकता।

नीचे हम भिन्न भिन्न देशों के हिस्से की रकम की तालिका देते हैं।

हिस्सों की रकम की तालिका

(दस लाख सयुक्तराज्य अमेरिका के डालरों में)

देश	रकम	देश	रकम
आस्ट्रेलिया	२००	ब्राजील	१५०
बैलजियम	२२५	कनाडा	३००
बोलीविया	१०	चिली	५०
लंका	१५	मिस्र	४५
चीन	५५०	यलसालवेडर	२½
कोलम्बिया	५०	इथोपिया	६
कास्टारिका	५	फ्रांस	४५०
क्यूबा	५०	ग्रीस	४०
जेकोस्लोवाकिया	१२५	ग्वाटामाला	५
डोमिनिकन जनतन्त्र	५	हैयाटी	५
यूक्वेडर	५	हाण्डूरास	२½
भारत	४००	आइसलैंड	१
ईरान	२५	निदरलैंड	२७५
ईराक	८	न्यूज़ीलैंड	५०
लाइबेरिया	½	निकैरेगुआ	२

लक्जमबर्ग	१०	पनामा	½
मैक्सिको	६०	पैरेग्वे	२
पीरू	२५	फिलीपाइन्स	१५
पोलैंड	१२५	*सोवियत रूस	१२००
दक्षिणी अफ्रिका	१००	ब्रिटेन	१३००
यूरेग्वे	१५	यूगोस्लाविया	६०
वैनिजुला	१५	पाकिस्तान	१००

*सोवियत रूस अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य नहीं बना।

ऊपर लिखे राष्ट्रों को ८८०० लाख डालर के हिस्से दिए गए कि
शत्रु राष्ट्र थे वे उस समय सदस्य नहीं बन सकते थे। अस्तु, उनके लिए
लाख डालर छोड़ दिए गए जो कि उन राष्ट्रों मे बाँटे जावेंगे। इस प्रकार
की कुल रकम १०,००० लाख डालर होगी।

प्रत्येक राष्ट्र अपने हिस्से की रकम को २५ प्रतिशत स्वर्ण में त
प्रतिशत अपनी मुद्रा मे देगा।

मुद्राओं के सम विनियम मूल्य (Par Values of Currenc
जब भी कोई देश कोष का सदस्य बनता है तो वह कोष की सम्मति से
मुद्रा की सम विनिमय दर घोषित कर देता है। प्रत्येक राष्ट्र सम
दर को स्वर्ण अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका के (एक जुलाई १९४४ को
डालर की शुद्धता तथा वजन का डालर) डालर में घोषित करता है।

कोष प्रत्येक सदस्य राष्ट्र की सम विनिमय दर (par value) से अ
और क्रय एक मार्जिन निर्धारित कर देता है। उस मार्जिन से ऊपर या
कोई राष्ट्र स्वर्ण की खरीद और बिक्री नहीं कर सकता।

किसी राष्ट्र की सम विनिमय दर मे तभी परिवर्तन हो सकता है कि
कोष उसको स्वीकार करे। कोष तभी उस विनिमय दर में परिवर्तन स्वीकार
कि वह परिवर्तन मूलभूत व्यापार असंतुलन (fundamental disequili
um) के कारण अनिवार्य हो गया हो। प्रत्येक राष्ट्र को यह सुविधा दी
कि आवश्यकता पड़ने पर वह कोष के परामर्श से समविनिमय दर मे दस प्र
परिवर्तन कर सकता है।

प्रत्येक राष्ट्र कोष से अपना कारबार अपने केन्द्रीय बैंक (central b
के द्वारा करेगा। कोष केन्द्रीय बैंक का केन्द्र होगा।

जब किसी सदस्य राष्ट्र को अन्य राष्ट्र की मुद्रा की आवश्यकता पड़ती

ल्य राष्ट्र की मुद्रा को कोष से खरीद लेता है और उसके मूल्य स्वरूप अपनी
देता है। कल्पना करिए कि ब्रिटेन को अमेरिकन डालरों की आवश्यकता
ब्रिटेन अपनी मुद्रा पौंड देकर कोष से उतने मूल्य के डालर ले लेगा।
एक प्रकार से देखा जावे तो यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि स्वर्ण
(gold standard) में थी। जबकि किसी देश का निर्यात (export)
त (import) से कम होता था तो स्वर्ण बाहर जाने लगता था और जब
आयात से अधिक होता था तो स्वर्ण देश में आने लगता था। अब यदि
व्यापार का अन्तर किसी देश के पक्ष में है तो कोष से उसकी मुद्रा की
बढ़ेगी अर्थात् उसकी मुद्रा अन्य देशों द्वारा खरीदी जाने लगेगी और अन्य
की मुद्रा-कोष में आने लगेगी। यदि व्यापार का अन्तर किसी देश के विपक्ष में
उसकी मुद्रा कोष में अधिकाधिक आवेगी और अन्य देशों की कोष से बाहर
। अर्थात् वह राष्ट्र अपनी मुद्रा देकर अन्य राष्ट्रों की मुद्रा खरीदेगा।

इस सम्बंध में एक बात ध्यान में रखने की है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक व्यापार के असतुलन को जो पूरा
है वह थोड़े समय के लिए अस्थायी रूप से ही करता है। साधारणतया
ाना जाता है कि थोड़े समय के अन्दर देशों के व्यापार का असंतुलन दूर
ावेगा और पुनः सतुलन स्थापित हो जावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का
य वह है कि सदस्य राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के अन्तर (balance
payment) के समय को कम किया जावे तथा उसके असतुलन को अधिक
ने दिया जावे।

यदि सदस्य राष्ट्र निरतर असतुलन को बचाये रक्खें तो कोष अस्थायी
लन को दूर करने का कार्य सरलतापूर्वक कर सकता है। यदि कुछ राष्ट्रों की
कोष में अधिकाधिक आवेगी तो अन्य राष्ट्रों की मुद्रा अधिकाधिक जावेगी।
थोड़े समय के उपरान्त दो श्रेणी के राष्ट्रों के व्यापार का अन्तर उलटा हो
अर्थात् पहली श्रेणी के व्यापार का अन्तर जो अभी तक उनके विपक्ष में
उनके पक्ष में हो जावे तथा दूसरी श्रेणी के देशों के व्यापार का अन्तर
में हो जावे जो अभी तक उनके पक्ष में था तो प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों
मुद्रा जो कोष के पास बड़ी राशि में इकट्ठी हो गई थी अब खरीदी जाने
ी और दूसरी श्रेणी के राष्ट्रों की मुद्रा जो पहले कम हो गई थी आने
गी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कोष में भिन्न-भिन्न मुद्राओं की तरलता बनी
ी और सब मुद्राएँ उपलब्ध हो सकेंगी।

किन्तु, यदि किसी देश अथवा कुछ देशों का व्यापार का अन्तर सदैव

उनके पक्ष में रहे और कुछ देशों के व्यापार का अन्तर निरंतर उनके वि
मे रहे तो अन्तर्राष्ट्रीय कोष के पास पहली श्रेणी के राष्ट्रों की मुद्रा कम
जावेगी और दूसरी श्रेणी के राष्ट्रों की मुद्रा का बाहुल्य हो जावेगा।

इस परिस्थिति को बचाने के लिए कोष के विधान में नीचे लिखी व्य
की गई है :—

सदस्य राष्ट्रों के अन्य देशों की मुद्रा को खरीदने के अधिकार सीमि
दिए गए हैं। कोई भी राष्ट्र नीचे लिखी शर्तों पर ही किसी अन्य राष्ट्र
खरीद सकता है।

(१) जिस भुगतान के लिए सदस्य राष्ट्र को अन्य देशों की मु
आवश्यकता हो वह कोष के विधान में स्वीकृत कार्य के लिए हो।

(२) जिस मुद्रा की आवश्यकता हो उसका कोष द्वारा राशनिंग
दिया गया हो। कोष में जिस मुद्रा की बहुत माँग रहती हो और उसक
कमी हो जाती हो उसके सम्बन्ध में घोषणा कर देती है कि अमुक मुद्रा क
गई है और उसकी राशनिंग कर दी जाती है।

(३) कोई भी सदस्य राष्ट्र उन मुद्राओं को उसी सीमा तक
सकेगा कि जिससे बारह महीने मे कोष के पास उसकी मुद्रा की रकम नि
हिस्से से २५ प्रतिशत से अधिक न इकट्ठी हो जावे। कुल मिलाकर सदस्य रा
अन्य राष्ट्रों की मुद्राओं को उसी सीमा तक खरीद सकेगा कि जिससे उसकी मु
कोष के पास उसके निर्धारित हिस्से से केवल दुगनी हो जावे, उससे अधिक नहीं।

(४) यदि कोप यह घोपित करदे कि अमुक सदस्य राष्ट्र कोप से अ
देशों की मुद्रा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है तो वह सद
राष्ट्र अन्य देशों की मुद्राओं को न खरीद सकेगा। कोष इस प्रकार की घोष
तभी करता है जबकि कोई सदस्य राष्ट्र विधान का उलघन करता है। जैसे को
राष्ट्र विना कोष की स्वीकृति के सम विनिमय दर (par of exchange)
परिवर्तन करदे या वह सदस्य कोप द्वारा प्राप्त मुद्रा को कोप के विधान
उल्लिखित कार्यों के उद्देश्य के विरुद्ध उपयोग करे।

वास्तव में इन तीनों मे तीसरी शर्त, अर्थात् सदस्य राष्ट्र अन्य राष्ट्रों
कितनी मुद्रा खरीद सकते हैं, अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कल्पना कीजिए कि किसी राष्ट्र का निर्धारित हिस्सा (कोटा) १००० ला
डालर है। उसने २५० लाख डालर का स्वर्ण दिया है और ७५० लाख डा
की अपनी मुद्रा दी है तो वह किसी एक वर्ष में २५० लाख डालर की मुद्रा स

खरीद सकता और कुल मिला कर २००० डालर से अधिक की मुद्रा नहीं खरीद सकता।

कोष का कमीशन और सूद . जो भी सदस्य राष्ट्र कोष से किसी अन्य देश की मुद्रा खरीदता है वह उस सदस्य से ¾ प्रतिशत स्वर्ण मे कमीशन लेता है। इसके अतिरिक्त जितनी ही उसकी मुद्रा उसके निर्धारित हिस्से (कोटा) से बढेगी उस पर सूद अथवा हर्जाने के रूप में कोष ½ प्रतिशत लेता है। यदि एक वर्ष से अधिक उस सदस्य की मुद्रा राशि कोष के पास उसके निर्धारित हिस्से से अधिक रही तो अनिवार्य सूद या हर्जाने का प्रतिशत ½ पहले से अधिक लिया जावगा। उदाहरण के लिए यदि पॉच वर्ष तक ऐसी स्थिति रहे तो २½ प्रतिशत सूद लिया जावेगा।

इसी प्रकार यदि कोई सदस्य राष्ट्र अपने निर्धारित हिस्से (कोटा) से २५ प्रतिशत अधिक अपनी मुद्रा कोष के पास इकट्ठी होने देता है तो प्रति २५ प्रतिशत अधिकता पर ½ प्रतिशत की दर से हर्जाना बढता जाता है।

जब कुल हर्जाना ४ प्रतिशत पहुँच जाता है तो कोष यह विचार करने लगता है कि उस देश की मुद्रा राशि को किस प्रकार कम किया जावे। और जब कुल हर्जाने या सूद की दर ५ प्रतिशत हो जाती है तो कोष जितना उचित समझे उतना सर चार्ज (अधिक सूद) लेता है।

यदि कोष को यह ज्ञात होता है कि सदस्य राष्ट्र उसके साधनों का दुरुपयोग कर रहा है तो वह उस देश को एक रिपोर्ट देता है और उससे निश्चित समय के अन्दर उत्तर मॉगता है। यदि उत्तर नहीं मिलता या असतोषजनक उत्तर मिलता है तो या तो उसके कोष के साधनों का उपयोग करने के अधिकार को सीमित कर दिया जाता है अथवा उचित सूचना देने के बाद उसको कोष के साधनों का उपयोग नहीं करने दिया जाता।

इसी प्रकार यदि किसी देश का व्यापार का अन्तर निरन्तर उसके विरुद्ध रहता है जिसके फलस्वरूप उसको अधिकाधिक अन्य राष्ट्रों की मुद्रा को अपनी मुद्रा देकर कोष से खरीदना पड़ता है। तो कोष उस देश की सरकार के सामने एक रिपोर्ट के रूप में अपना मत उपस्थित करेगा। कोष सरकार को मुद्रा नीति मजदूरी तथा सूद की दर में परिवर्तन करने के कुछ सुझाव देगा जिनसे यह स्थिति दूर हो जावे और सदस्य पर दबाव डालेगा कि उसके सुझावों को कार्यान्वित किया जावे। यदि इस पर भी स्थिति में सुधार न हो तो फिर इस विनिमय दर मे परिवर्तन करने की बात सोची जाती है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि अन्तर्राष्ट्रीय कोष जब देखता

है कि किसी सदस्य राष्ट्र की मुद्रा की बहुत मांग है और उसके पास उस मुद्रा का कोष समाप्त हो रहा है तो वह बहुत प्रकार के नियंत्रण लगाता है यहाँ तक कि उस मुद्रा का राशानिंग कर देता है। परन्तु इतने पर भी यदि उस मुद्रा की मांग कम न हो तो कोष अनिश्चित काल तक उस मुद्रा को बेच नहीं सकता। उस मुद्रा का कोष समाप्त हो जावेगा अतः विधान में इस बात की व्यवस्था करदी गई है कि (१) कोष जब चाहे तब उस सदस्य राष्ट्र की (जिसकी मुद्रा कम है और मांग अधिक है) मुद्रा स्वर्ण देकर खरीद सकता है। सदस्य को अपनी मुद्रा स्वर्ण देकर बेचनी होगी। (२) जिस सदस्य राष्ट्र की मुद्रा की मॉग बहुत अधिक है और कोष के पास उसकी कमी है उस राष्ट्र से कोष मुद्रा उधार ले सकता है। किन्तु यह उस राष्ट्र की इच्छा पर निर्भर है कि वह अपनी मुद्रा कोष को उधार दे या न दे। (३) कोष यह घोषणा करदे की उस राष्ट्र की मुद्रा की कमी है और उस मुद्रा का जो भी कोष है उसको भिन्न-भिन्न सदस्य राष्ट्रों में उनकी आवश्यकतानुसार वॉट कर उसकी राशनिंग करदे। (४) कोष किसी भी सदस्य को अस्थायी रूप से यह अधिकार दे दे कि वह 'कम मुद्रा' मे विनिमय करने की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगादे। (५) कोष कम मुद्रा के सम्बन्ध में अपनी कार्यवाही पर एक रिपोर्ट प्रकाशित करे जिसमें इस बात पर प्रकाश डाला जावे कि वह मुद्रा कम क्यों है और उसकी कमी को दूर करने का उपाय क्या है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विधान का एक बड़ा दोष यह है कि जिस प्रकार उन देशों पर वह रिपोर्ट उपस्थित करके दबाव डाल सकता है जिनका भुगतान का अन्तर (Balance of payment) स्थायी रूप से उनके विरुद्ध है। उसी प्रकार वह उन राष्ट्रों पर दबाव नहीं डाल सकता कि जिसका भुगतान का अन्तर स्थायी रूप से उसके पक्ष में है। पहले देशों को कोष यह कह सकता है कि अपनी सूद की मजदूरी तथा कीमतों में अमुक परिवर्तन करना चाहिए किन्तु कोष उन देशों से, कि जिनके भुगतान का अन्तर स्थायी रूप मे उनके पक्ष में है, यह नहीं कह सकता।

कोष उन देशों को, जिनकी मुद्रा की कमी प्रतीत होती है, यह सुझाव दे सकता था कि वह देश अन्य देशों मे अपनी पूँजी अधिक लगावें, देश के अन्दर साख (credit) का विस्तार करें, मजदूरी में वृद्धि करे, विदेशों से आने वाले माल पर कर कम करें जिससे कि उसके आयात बढे, और यदि इससे भी स्थिति मे सुधार न हो तो उसकी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि की जावे। खेद है कि कोष को विधान में इस प्रकार के सुझाव देने का अधिकार नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपनी स्वर्ण राशि को सुरक्षित रख सके इसकी भी विधान में व्यवस्था है। यदि कोष कम मुद्रा को सोने से खरीदेगा और यदि वह गति बहुत समय तक रही तो कोष का स्वर्ण भंडार समाप्त हो सकता है। अतः विधान में यह व्यवस्था की गई है कि (१) यदि कोई देश अन्य देश की मुद्रा को स्वर्ण देकर खरीदना चाहे तो कोष स्वर्ण लेकर उस मुद्रा को दे देगा। (२) यदि कोई सदस्य राष्ट्र अपने निश्चित हिस्से (कोटा) से अधिक मुद्रा कोष के पास बढ गई तो वह स्वर्ण देकर कोष से अपनी अतिरिक्त मुद्रा खरीद सकता हैं। (३) प्रत्येक वर्ष के अन्त में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र कोष से उस वर्ष में जितनी उसकी मुद्रा कोष के पास अधिक इकट्ठी हो गई है उसकी आधी स्वर्ण देकर अथवा उस देश की मुद्रा देकर, जिसे कोष स्वीकार करे, खरीद लेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्वर्ण कोष को समाप्त न होने देने की व्यवस्था कर दी गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबंध : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबंध नीचे लिखे अधिकारियों द्वारा किया जावेगा :—

(१) बोर्ड आव गवर्नर

(२) कार्यवाहक डायरैक्टर

(३) अध्यक्ष

बोर्ड आव गवर्नर . प्रत्येक सदस्य राष्ट्र एक गवर्नर तथा उसका विकल्प मनोनीत करेगा।

कार्यवाहक डायरैक्टर कार्यवाहक डायरैक्टर १२ होंगे। पॉच बड़े राष्ट्रों द्वारा, जिनका हिस्सा (कोटा) सबसे अधिक होगा; मनोनीत व्यक्ति पदेन कार्यवाहक डायरैक्टर होंगे। आरम्भ में यह पॉच राष्ट्र संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन और फ्रांस थे। किन्तु रूस के सदस्य बनने से इनकार कर देने पर भारत को बोर्ड आव डायरैक्टरों में एक स्थायी स्थान मिल गया है।

अन्य सात कार्यवाहक डायरैक्टरों को बोर्ड आव गवर्नर अपने में से चुनेगा किन्तु इनमें से दो डायरैक्टर दक्षिण अमेरिका के देशों के होंगे।

कार्यवाहक डायरैक्टर किसी ऐसे व्यक्ति को, जो गवर्नर या उसका विकल्प न हो, अध्यक्ष चुनेंगे।

बोर्ड आव डायरैक्टर नीचे लिखे कार्य करेगा :—

(१) नये सदस्यों को प्रवेश देना।

(२) पूँजी की राशि को बढाना या घटाना।

(३) कार्यवाहक डायरैक्टरों के निर्णय के विरुद्ध अपीलों पर निर्णय देना।

(४) किसी सदस्य को सदस्यता से हटाना।

(५) अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सम्बन्ध स्थापित करना।

(६) कोष को समाप्त करना और उसकी सम्पत्ति सदस्यों में बाँटना।

(७) कोष के लाभ को सदस्यों में बाँटना।

कोष के सचालन का भार कार्यवाहक डायरैक्टरों पर होगा।

मतदान : प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को २५० मत तथा उसका जितना कोटा है उतने मत देने का अधिकार होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता कोई भी देश जब चाहे छोड़ सकता है। और यदि कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियमों का पालन नहीं करता है तो उसे सदस्यता से वचित कर दिया जाता है।

परिच्छेद ३८

मुद्रा (Money) और बैंकिंग

मुद्रा और बैंकिंग हमारे आर्थिक जीवन के आधार हैं। यदि आज मुद्रा
और बैंकिंग की सुविधायें हटा ली जावें तो धन का उत्पादन, विनिमय
(exchange) अर्थात व्यापार, उद्योग धंधे सभी असम्भव हो जावें। संक्षेप में
हम कह सकते हैं कि किसी देश की आर्थिक उन्नति के लिए मुद्रा और बैंकिंग
का संतोषजनक प्रबंध आवश्यक है।

आधुनिक समय में जब कि धन या सम्पत्ति का उत्पादन बड़े-बड़े कार-
खानों द्वारा होता है, संसार के सब देश एक-दूसरे से व्यापार करते हैं। मनुष्य
की आवश्यकताएं इतनी बढ़ गई हैं जिनकी पहले कभी कल्पना भी नहीं की जा
सकती थी, तब बिना द्रव्य के यह धंधे और व्यापार सम्भव ही नहीं हो सकते।
यही कारण है कि आधुनिक जगत को द्रव्य की इतनी अधिक आवश्यकता
पड़ती है।

यही कारण है कि आज प्रत्येक सभ्य समाज में यथेष्ट द्रव्य की आवश्य-
कता होती है जिससे व्यापार और धंधे सुगमता से चल सकें। चलन में द्रव्य
के तीन रूप होते हैं। एक तो प्रामाणिक सिक्का (standard coin) दूसरे
सांकेतिक सिक्का (token coin) तीसरा कागजी मुद्रा (paper currency)
अथवा कागजी नोट। अधिकतर आजकल कागजी नोट और सांकेतिक सिक्कों
का ही चलन होता है। प्रामाणिक सिक्के नहीं निकाले जाते हैं। और कागजी
नोट राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय बैंक (central bank) द्वारा निकाले जाते हैं।
किन्तु प्रत्येक देश में एकसी परिपाटी नहीं है।

किन्तु केवल कागज़ी नोट और सांकेतिक सिक्कों से ही आधुनिक समाज
की अन्य सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो जातीं। कागज़ी नोट और सांके-
तिक सिक्कों के अतिरिक्त चेक, बिल तथा हुण्डी इत्यादि विनिमय साध्य पुर्जों
(negotiable instrument) का भी उपयोग होता है। जो देश आर्थिक
दृष्टि से उन्नत राष्ट्र हैं वहाँ कागजी मुद्रा से १० से १५ गुने तक चेकों का उपयोग
होता है। अर्थात लोग चेकों के द्वारा अपनी देनदारी को भुगतान करते हैं।
चेक बैंकों पर काटे जाते हैं और वही व्यक्ति चेक काट सकता है जिसका बैंक में

हिसाब है अर्थात जिसका रुपया चालू खाते (current account) में जमा होता है। इस प्रकार की जमा (deposit) दो प्रकार उत्पन्न होती है। किसी व्यक्ति के अपनी आमदनी से बचत करके रुपया बैंक में जमा करने अथवा बैंक से ऋण लेने से। बैंक ऋण देकर किस प्रकार जमा का निर्माण करता है इसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

बैंक का मुख्य कार्य जनता को अपनी बचत का रुपया जमा करने की सुविधा देना है। बैंक जनता के द्रव्य को जमा के रूप में सुरक्षित रखना है यह उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। जब मनुष्य की आय उसके व्यय से अधिक होती है तो उसके पास जो द्रव्य बचता है उसको सुरक्षित रखने की समस्या उठ खड़ी होती है। किसी व्यक्ति अथवा संस्था की बचत की रकम जितनी ही अधिक होती है उतनी ही उसको सुरक्षित रखने की समस्या अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। बैंक जनता को अपनी बचत को सुरक्षित रखने की चिन्ता से मुक्त कर देते हैं। बैंक जनता की बचत को केवल सुरक्षित रखने का ही जिम्मा नहीं लेते वरन् उसको जमा करने वाले के माँगने पर देने का वचन भी देते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में योरोप में स्वर्णकार लोग धनी व्यक्तियों का धन, जेवर, सोना, चाँदी इत्यादि बहुमूल्य वस्तुए अपने पास सुरक्षित रखते थे और उस सेवा के लिए वे कमीशन लेते थे। किन्तु कुछ समय के उपरान्त सुनारों ने देखा कि उनके धनी ग्राहक जो रुपया-पैसा और सोना-चाँदी जमा करते थे वह अधिकाश निकालते नहीं थे। सुनारों ने देखा कि जो रुपया जमा किया जाता है उसका बहुत थोड़ा अंश ग्राहक निकालते हैं। अतएव वे ग्राहकों के जमा किए हुए रुपये को ऋण के रूप में दूसरों को उठाने लगे और सूद प्राप्त करने लगे। अब तो सुनारों को दोहरा लाभ होने लगा। जमा करने वालों से वे उनके धन को सुरक्षित रखने के लिए कमीशन लेते और उसको व्यापारियों को कर्ज देकर सूद कमाते थे। अतएव सुनारों ने जमा को बढाने के उद्देश्य से रुपये को सुरक्षित रखने के लिये कमीशन लेना बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि डिपाजिट बहुत बढ गए और इन सुनारों को बहुत लाभ होने लगा। अपने व्यापार को बढाने के उद्देश्य से उन्होंने डिपाज़िट पर थोड़ा सूद देना भी आरम्भ कर दिया और वे सर्वसाधारण मे मितव्ययिता की भावना को जाग्रत करके अधिकाधिक डिपाज़िट आकर्षित करने लगे। वे लोग जितना सूद रुपया जमा करने वालों को देते थे उससे कहीं अधिक सूद ऋण पर वसूल करते थे। इसी सिद्धान्त पर आधुनिक बैंकिंग का निर्माण हुआ। अनुभव से ज्ञात हुआ कि यदि देश की मुद्रा नीति के प्रति जनता का किसी कारण विशेष वश अविश्वास न हो

ना हो और न बैंकों के प्रति अविश्वास हो तो साधारण समय में जो डिपाजिट कों में रक्खी जाती है उसका केवल बहुत थोड़ा भाग किसी समय निकाला जाता है। यही कारण है कि बैंक जमा किये हुए रुपये का बहुत बड़ा भाग (६० प्रतिशत) ऋण के रूप में लोगों को दे देता है और उस पर सूद लेता है।

बैंक डिपाजिट का निर्माण करते हैं : जमा किए हुए रुपये का अधिकांश भाग ऋण के रूप में उठाने का कार्य एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य है कि जिसके कारण बैंकिंग का आधुनिक जगत में इतना अधिक महत्त्व है। "बैंक केवल लोगों की बचत को जमा करने वाले ही नहीं हैं वरन् वे द्रव्य का निर्माण करने वाले भी हैं"। बैंक जो द्रव्य का निर्माण करते हैं वह केवल डिपाजिट किये हुये रुपये को ऋण स्वरूप अन्य व्यक्तियों को देने से ही सम्भव हो सकता है। जो रुपया कि बैंक के ग्राहक बैंक में जमा करते हैं उसको बैंक व्यापारियों तथा अन्य व्यक्तियों को कर्ज देकर नई डिपाजिट निर्माण करते हैं और वह डिपाजिट ही द्रव्य के सदृश्य बैंक मे ऋण लेने वालों के द्वारा काम में लाई जाती है। उदाहरण के लिए जब बैंक किसी व्यापारी को ऋण देता है तो वह रुपया उसको दे नहीं दिया जाता वरन् उसके नाम जमा कर दिया जाता है। कर्ज लेने वाला ग्राहक आवश्यकतानुसार उसको चेक द्वारा निकाल सकता है। चेक का उपयोग वह इसी प्रकार करता है जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति वस्तुओं के क्रय-विक्रय में द्रव्य का उपयोग करता है। जिस प्रकार द्रव्य विनिमय का माध्यम (medium of exchange) है ठीक वही कार्य डिपाजिट करती है। बैंक इन डिपाज़िटों का निर्माण करते हैं। अस्तु, बैंक एक प्रकार से विनिमय के माध्यम अर्थात द्रव्य का निर्माण करते हैं। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि आधुनिक काल में व्यापार में जितना उपयोग कागज़ी नोट अथवा सिक्कों का होता है उससे दस बारह गुना उपयोग चेकों का होता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि जितना द्रव्य सरकार अथवा राष्ट्रीय सैण्ट्रल बैंक (देश का केन्द्रीय बैंक) सिक्कों और कागजी नोट के रूप मे निकालती है उसका कई गुना द्रव्य डिपाज़िटों के रूप में बैंक उत्पन्न करते हैं। अतएव देश को जितने द्रव्य की आवश्यकता होती है उसका अधिकांश भाग बैंक उत्पन्न करते हैं।

द्रव्य के निर्माणकर्त्ता होने के कारण बैंक जनता की क्रय शक्ति (purchasing power) को निर्धारित करते हैं और द्रव्य परिमाण सिद्धान्त (quantity theory of money) के अनुसार मूल्य स्तर (price level) को भी निर्धारित करते हैं। बैंकों के हाथ मे जो इतनी शक्ति है वह केवल इसीलिए कि वे ग्राहकों के द्वारा जमा किए हुए रुपये को दूसरों को ऋण स्वरूप दे

सकते हैं। अब हम विस्तारपूर्वक इस बात का अध्ययन करेंगे कि बैंक किस प्रकार ऋण देकर नवीन डिपाजिटों का निर्माण करते हैं।

बैंकों द्वारा डिपाजिट या द्रव्य निर्माण करने की क्रिया ' यह है हम पहले ही कह चुके हैं कि बैंक के पास जो कुछ भी द्रव्य डिपाजिट के रूप में जमा किया जाता है वह सब का सब अपने पास नकद रूप में नहीं रखता वरन् उसका अधिकांश भाग वह कर्ज़ के रूप में दे देता है। जब कोई ऋण लेने वाला बैंक को अपनी साख के सम्बन्ध में भरोसा दिला देता है और बैंक उसको दस हजार रुपये ऋण देना स्वीकार कर लेता है तो दो बातें हो सकती हैं। या तो ऋण लेने वाला उन दस हजार रुपयों को निकाल ले अथवा उन दस हजार रुपयों को अपने हिसाब मे जमा कर दे। यदि ऋण लेने वाला दस हजार रुपये को निकाल लेता है तो जहा तक बैंक के हिसाब का प्रश्न है नीचे लिखा परिवर्तन होगा —

डिपाजिट तो ऋण लेने के पहले जितनी थी उतनी ही रहेगी उसमें कोई परिवर्तन न होगा। हाँ, बैंक के पास जितना नकद रुपया था उसमें दस हज़ार की कमी हो जावेगी और दूसरी देनी (asset) अर्थात् कर्ज़दारों (debtors) में दस हजार की वृद्धि हो जावेगी। इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ हुआ कि बैङ्क ने नक़द देनी (cash asset) को एक दूसरी देनी में बदल लिया। यदि ऋण लेने वाला दस हजार रुपया न निकाल कर उसे अपने हिसाब में बैंक के पास जमा कर देता है कि जिससे उसे जब आवश्यकता हो वह आगे निकाल सके तो बैंक के हिसाब मे नीचे लिखा परिवर्तन होगा '—

ऐसा करने से बैंक की डिपाजिट दस हजार रुपये से बढ जावेगी। रोकड़ या नकदी ज्यों की त्यों रहेगी, उसमें कोई परिवर्तन न होगा और दूसरी देनी अर्थात् कर्जदारों में दस हजार रुपये की वृद्धि हो जावेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक की लेनी (liability) अर्थात् डिपाजिट में दस हज़ार रुपये की वृद्धि हुई। और बैंक की देनी अर्थात् कर्ज़दारों में भी दस हजार रुपयों की वृद्धि हुई। यदि बैंक किसी व्यक्ति से कोई सिक्योरिटी (प्रतिभूति) खरीदे तो भी यही परिणाम होंगे। बैंक सिक्योरिटी के मूल्य स्वरूप बेचने वाले को चेक देगा। बेचने वाला या तो चेक को भुना कर रुपया निकाल लेगा अथवा चेक को अपने हिसाब में जमा कर देगा। यदि सिक्योरिटी बेचने वाला रुपया निकाल लेता है तब तो बैंक की रोकड़ या नकदी कम हो जावेगी और सिक्योरिटी उतने ही मूल्य की बढ जावेगी और यदि सिक्योरिटी बेचने वाला उस चेक को अपने हिसाब में जमा कर देता है तो डिपाज़िट में वृद्धि होती है और उधर सिक्योरिटी में वृद्धि होती है।

अनुभव और उस स्थान की व्यापारिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। जिस देश मे जनता में बैंकों द्वारा कारवार करने का चलन है, वे बैंकों पर भरोसा करते हैं, और जहा बैंकिग उन्नत अवस्था में है वहा कम नकद कोष रख कर भी काम चल जाता है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन मे बैंक अपनी कुल डिपाजिट का ६ या १० प्रतिशत नकद कोष में रखना यथेष्ट समझते हैं किन्तु भारत में बैंक १० से १५ प्रतिशत नकद कोष रखते हैं। नकद कोष के अतिरिक्त यदि किसी देश की जनता नकदी या रोकड़ को अधिकतर अपने हाथ मे रखती है, बैंक को नहीं दे देती अर्थात् बैंकों का कम उपयोग करती है तो बैंकों को कम नकदी या रोकड़ प्राप्त होगी और उनकी डिपाजिट अर्थात् द्रव्य निर्माण करने की शक्ति उतनी ही सीमित हो जावेगी। अतएव बैंक डिपाजिट नीचे लिखी तीन बातों पर निर्भर रहती है :— (१) देश में कुल रोकड़ या नकदी कितनी है। (२) रोकड़ की वह राशि जो कि जनता अपने हाथ में रखना चाहती है। (३) डिपाजिट की तुलना मे बैंक कम से कम कितना नकद कोष रखना आवश्यक समझते हैं।

बैंक की डिपाज़िट अर्थात् द्रव्य निर्माण शक्ति पर एक और भी बंधन है अर्थात् बैंक के लिए उपयुक्त 'लेनी' होना आवश्यक है जिनके आधार पर वह जनता को ऋण देकर डिपाजिट का निर्माण कर सके। बैंक वायु मे डिपाजिट का निर्माण तो करता नहीं, उसे अच्छी लेनी मिलनी चाहिए। बैंक जब किसी को ऋण देकर उसके नाम में डिपाजिट निर्माण करता है और उसको चैक द्वारा रुपया निकालने का अधिकार देता है तो उसे कोई उपयुक्त 'लेनी' जमानत के रूप में मिलनी चाहिये। उदाहरण के लिए जब ग्राहक बैंकों को सिक्योरिटी, इमारत, अथवा बिल की जमानत (security) देते हैं अर्थात् बधक रखते हैं तभी बैंक उन्हें ऋण देकर डिपाजिट का निर्माण करता है। जब कि बैंक बिना मूर्त जमानत (tangible security) के केवल व्यक्ति की साख (credit) पर ही ऋण देते हैं अर्थात् बिना किसी सम्पत्ति के बधक रूप में लिए हुए व्यक्तिगत साख (personal security) पर ऋण देते हैं तो ऋण लेने वाले के लाभ कमाने की शक्ति ही उसकी जमानत होती है। अर्थात् बैंक यह जांच-पड़ताल कर लेता है कि यह ऋण लेने वाला व्यक्ति ईमानदार है अथवा नहीं और जिस कारबार के लिए यह ऋण ले रहा है उसमें लाभ होने की आशा है अथवा नहीं। संक्षेप में बैंक यह जान कर लेता है कि उसे सूद सहित ऋण दिया हुआ रुपया मिलने की आशा है कि नहीं। अस्तु, बैंक ऋण लेने वाले से अच्छा सम्पत्ति जमानत में लेकर ऋण देने वाले को अपना I O U (मैं तुम्हारा

त्ती हूँ) दे देता है जो कि द्रव्य के समान है अर्थात् ऋण लेने वाला उस डिपाजिट पर चेक काट कर अपना कारवार कर सकता है। यही वैंक का मुख्य कार्य है।

पाठक यह पूछ सकते हैं कि वैंक किस प्रकार थोड़ा सा नक़द कोप रखकर कई गुनी डिपाजिट निर्माण करते हैं। इसका एक मात्र उत्तर यही है कि अनुभव से हमें यह ज्ञात है कि जो ऋण देकर डिपाजिट निर्माण की गई है उनका केवल थोड़ा भाग ही एक समय निकाला जाता है और उसके लिए नकद कोप यथेष्ट होता है। किन्तु व्यवहार में यह क्यों कर सम्भव होता है इसका अध्ययन करना उचित होगा। उदाहरण के लिए जब एक वैंक १०० रु० नकद कोष रखकर १००० रु० का ऋण देता है अर्थात् १००० रु० की डिपाजिट निर्माण करता है तो उस पर चेक काटे जावेंगे। यदि चेक काटने वाला किसी ऐसे व्यक्ति के नाम चेक काटता है जिसका हिसाब उसी वैंक में है तव तो वैंक को रुपया नहीं देना होगा। वैंक अपने खाते (ledger) में चेक काटने वाले के हिसाब में से चेक की रकम कम करके जिसके नाम चेक काटा गया है उसके हिसाब में जमा कर देगा। किन्तु सदैव तो ऐसा होगा नहीं। उदाहरण के लिए यदि भारत वैंक ने श्रीकृष्णलाल को १०'०० रुपये का नकद कोष रखकर दस हजार रुपये का ऋण दिया है अर्थात् दस हजार रुपये की डिपाजिट निर्माण की है तो श्रीकृष्णलाल दस हजार रुपये तक के चेक काटने के अधिकारी हैं। मान लो कि श्री श्रीकृष्णलाल ने ५०० रु० का चेक जीवनराम के नाम काटा, किन्तु जीवनराम का हिसाब भारत वैंक में न होकर इलाहावाद वैंक मे है। वह अपना चेक इलाहावाद वैंक को अपने हिसाब मे जमा करने के लिए देगा। इलाहावाद वैंक उस चेक का रुपया भारत वैंक स वसूल करके जीवनराम के हिसाब में जमा करेगा। ऐसी दशा में भारत वैंक को नकद रुपया देना पड़ना है किन्तु वास्तव मे ऐसा होता नहीं। क्योंकि यदि भारत वैंक ने दस हजार की डिपाजिट निर्माण की और उसके कारण भारत वैंक को अन्य वैंकों को नकदी देनी पड़ी तो अन्य वैंकों का नकदी या रोकड़ कोष वढ़ जावेगा और वे अधिकाधिक डिपाजिट का निर्माण करेंगे और जब वे अधिक डिपाजिट का निर्माण करेंगे तो उन पर जो चेक काटे जावेंगे वे भारत वैंक के पास आवेंगे और इस प्रकार भारत वैंक को जितनी नकदी दूसरे वैंकों को देनी पड़ी है उसका वहुत सा भाग वह फिर वापस ले लेगा। सच तो यह है कि व्यवहार में वैंक एक-दूसरे को नक़दी नहीं देते। वे एक-दूसरे का लेना-देना समाशोधन गृह (clearing house) मे चुकता कर लेते हैं। एक केन्द्र में पन्द्रह-वीस वैंकों

अनुभव और उस स्थान की व्यापारिक परिस्थितियों पर निर्भर होता है। जिस देश मे जनता मे बैंकों द्वारा कारबार करने का चलन है, वे बैंकों पर भरोसा करते हैं, और जहां बैंकिग उन्नत अवस्था में है वहा कम नकद कोप रख कर भी काम चल जाता है। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में बैक अपनी कुल डिपाजिट का ६ या १० प्रतिशत नकद कोष में रखना यथेष्ट समझते हैं किन्तु भारत में बैंक १० से १५ प्रतिशत नकद कोष रखते हैं। नकद कोष के अतिरिक्त यदि किसी देश की जनता नकदी या रोकड़ को अधिकतर अपने हाथ मे रखती है, वैक को नहीं दे देती अर्थात् बैंकों का कम उपयोग करती है तो बैंकों को कम नकदी या रोकड़ प्राप्त होगी और उनकी डिपाजिट अर्थात् द्रव्य निर्माण करने की शक्ति उतनी ही सीमित हो जावेगी। अतएव बैंक डिपाजिट नीचे लिखी तीन बातों पर निर्भर रहती है :— (१) देश में कुल रोकड़ या नकदी कितनी है। (२) रोकड़ की वह राशि जो कि जनता अपने हाथ में रखना चाहती है। (३) डिपाज़िट की तुलना मे वैक कम से कम कितना नकद कोष रखना आवश्यक समझते हैं।

वैंक की डिपाज़िट अर्थात् द्रव्य निर्माण शक्ति पर एक और भी बन्धन है अर्थात् वैंक के लिए उपयुक्त 'लेनी' होना आवश्यक है जिनके आधार पर वह जनता को ऋण देकर डिपाजिट का निर्माण कर सके। बैंक वायु में डिपाज़िट का निर्माण तो करता नही, उसे अच्छी लेनी मिलनी चाहिए। वेंक जब किसी को ऋण देकर उसके नाम में डिपाजिट निर्माण करता है और उनको चेक द्वारा रुपया निकालने का अधिकार देता है तो उसे कोई उपयुक्त 'लेनी' जमानत के रूप में मिलनी चाहिये। उदाहरण के लिए जब ग्राहक वैकों को सिक्योरिटी, इमारत, अथवा बिल की जमानत (security) देते हैं अर्थात् वधक रखते हैं तभी वैंक उन्हें ऋण देकर डिपाजिट का निर्माण करता है। जब कि वैंक बिना मूर्त जमानत (tangible security) के केवल व्यक्ति की साख (credit) पर ही ऋण देते हैं अर्थात् बिना किसी सम्पत्ति के वधक रूप में लिए हुए व्यक्तिगत साख (personal security) पर ऋण देते हैं तो ऋण लेने वाले के लाभ कमाने की शक्ति ही उसकी जमानत होती है। अर्थात् वैंक यह जाच-पड़ताल कर लेता है कि यह ऋण लेने वाला व्यक्ति ईमानदार है अथवा नहीं और जिस कारबार के लिए यह ऋण ले रहा है उसमें लाभ होने की आशा है अथवा नहीं। संक्षेप में वैंक यह जाच कर लेता है कि उसे सूद सहित ऋण दिया हुआ रुपया मिलने की आशा है कि नहीं। अस्तु, वेंक ऋण लेने वाले से अच्छी सम्पत्ति ज़मानत में लेकर ऋण देने वाले को अपना I O. U. (मैं तुम्हारा

परिच्छेद ३९

भिन्न प्रकार के बैंक

बैंक कितने प्रकार के होते हैं इसका ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है।
क्योंकि बैंकों का स्वरूप किसी देश की आर्थिक स्थिति तथा वहाँ की परम्पराओं
पर निर्भर होता है। फिर एक ही देश मे आर्थिक सगठन मे परिवर्तन होने के
साथ बैंकों के स्वरूप में परिवर्तन होना रहता है। उदाहरण के लिए जर्मनी में
व्यापारी बैंक (commercial banks) उद्योग-धधों को भी पूँजी देते हैं
किन्तु इगलैंड के व्यापारी बैंक ऐसा नहीं करते। अस्तु, बैंकों का ठीक-ठीक
वर्गीकरण करना कठिन है। परन्तु फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए उनका
वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि बैंक का मुख्य कार्य यह है कि वह
देशवासियों द्वारा बचाये हुए धन को आकर्षित करे और एकत्रित पूँजी को देश
के आर्थिक लाभ के लिए उत्पादन कार्य में लगावे। जब बैंक एक ओर देश की
बचत को एकत्रित करता है वहाँ दूसरी ओर वह उत्पादन कार्य के लिए पूँजी
देने की व्यवस्था करता है। किन्तु सम्पत्ति या धन (wealth) का उत्पादन
बहुत प्रकार से होता है। किसान भूमि पर खेती करके सम्पत्ति का उत्पादन
करता है। गृह उद्योग धधों में (cottage industries) मे लगा हुआ कारीगर
कपड़ा, जूता या पीतल के बर्तन बनाकर सम्पत्ति का उत्पादन करता है। बड़े
पूँजीपति पुतली घर या कारखाने स्थापित करके सम्पत्ति का निर्माण करते हैं
और सौदागर या व्यापारी माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर,
उसको कुछ समय अपने गोदाम में सुरक्षित रखकर और अनुकूल समय पर उसे
बेच कर सम्पत्ति का उत्पादन करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि खेती के
उद्योग, धधों के द्वारा और व्यापार के द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन होता है।
और इस उत्पादन कार्य को भली भाँति चलाने के लिये पूँजी की आवश्यकता
होती है, जिसे बैंक देते हैं। किन्तु प्रत्येक धधे की साख की आवश्यकताएँ भिन्न
होती हैं तथा जितने समय के लिये साख की आवश्यकता होती है उसकी
अवधि भी भिन्न होती है। किसी धधे मे लम्बे समय के लिए साख की आवश्यकता
होती है तो किसी मे कम समय के लिए। फिर प्रत्येक धधे के लिए साख का

की शाखाएँ हो सकती हैं। प्रत्येक बैंक के पास उसके ग्राहक चेक जमा करते हैं जो दूसरे बैंकों पर काटे गये होते हैं। उदाहरण के लिए बम्बई में भारत बैंक के पास उसके ग्राहक चेक जमा करेंगे जो सेन्ट्रल बैंक, इलाहाबाद बैंक, पंजाब नेशनल बैंक इत्यादि पर काटे गये होंगे। साथ ही सेन्ट्रल बैंक के पास इलाहाबाद बैंक, भारत बैंक तथा पंजाब नेशनल बैंक पर चेक जमा होने के लिए आवेंगे। इसी प्रकार इलाहाबाद बैंक तथा पंजाब नेशनल बैंक के पास दूसरे बैंकों पर काटे हुए चेक जमा होने के लिए आवेंगे। अस्तु, क्लियरिंग हाउस में उन सब का हिसाब लगा लिया जाता है कि अमुक बैंक को आज कुल मिलाकर कितना रुपया अन्य बैंकों से लेना है और कितना रुपया अन्य बैंकों को देना है। उदाहरण के लिए यदि किसी दिन भारत बैंक को दस लाख रुपये सब बैंकों से लेना है और ११ लाख रु० सब बैंकों को देना है तो रिजर्व बैंक में भारत बैंक के हिसाब में एक लाख रुपया घटा दिया जावेगा। अर्थात् नामे (debit) कर दिया जावेगा। इस प्रकार वास्तव में बैंक एक-दूसरे को नकदी न दे-ले कर क्लियरिंग हाउस के द्वारा अपना हिसाब पूरा कर लेते हैं। यही कारण है कि जब बैंक ऋण देकर डिपाजिट का निर्माण करते हैं तो वे बहुत थोड़ा नकदी कोष रखकर भी काम चला सकते हैं। आधुनिक बैंकों का यह कार्य अर्थात डिपाजिट या द्रव्य निर्माण करना अत्यन्त महत्त्व का है। बैंक जितना नकद कोष अपने पास रखते हैं उससे कई गुना अधिक डिपाजिट निर्माण करते हैं। ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट होगया कि बैंक डिपाजिट या द्रव्य निर्माण कर सकते हैं किन्तु उनके डिपाजिट निर्माण करने की एक सीमा है।

कार का है और व्यापारिक साख से सर्वथा भिन्न है जो सदैव केवल थोड़े समय के लिए दी जाती है। उद्योग-धन्धों की साख उनकी मशीनों, इमारतों तथा कच्चे माल और तैयार माल की जमानत पर दी जाती है और व्यापारिक साख माल की जमानत पर दी जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि खेती, धंधे और व्यापार के लिए जो साख आवश्यक है उसकी अवधि और रूप भिन्न है और एक ही बैंक सब प्रकार की साख का प्रबन्ध कर सके यह सम्भव नहीं है। इसलिए सभी प्रकार की साख का प्रबन्ध करने के लिए विशेष प्रकार के बैंकों की आवश्यकता होती है और एक प्रकार के बैंक केवल एक प्रकार की ही साख देते हैं। उदाहरण के लिए खेती के लिए थोड़े समय के लिए साख का प्रबंध सहकारी साख समितियाँ तथा सहकारी बैंक (co-operative credit societies and co-operative banks) करते हैं। लम्बे समय के लिए खेती को साख देने का प्रबंध भूमि बंधक बैंक (land mortgage banks) करते हैं। उद्योग-धंधों को औद्योगिक बैंक (industrial banks) पूँजी देते हैं तथा व्यापारियों को व्यापार के लिए थोड़े समय के लिए व्यापारिक बैंक (commercial banks) साख देते हैं। देश में प्रत्येक प्रकार की साख देने का कार्य एक विशेष प्रकार का बैंक करता है। अब हम यहाँ प्रत्येक प्रकार के बैंक के सम्बन्ध में कुछ लिखेंगे।

व्यापारिक बैंक · वस्तु के उत्पादन के उपरान्त और उसके उपभोक्ता (consumer) के हाथ में पहुँचने तक जो समय लगता है उस समय के लिये साख देने का कार्य व्यापारिक बैंक करते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि उत्पादन के उपरान्त उपभोक्ता के पास पहुँचने तक अधिक समय नहीं लगता। इस कारण व्यापारिक बैंकों को थोड़े समय के लिये अधिकतर कुछ महीने के लिए ही साख देनी पड़ती है। उत्पादन के उपरान्त माल थोक व्यापारियों (wholesale dealers) के हाथ में पहुँचता है फिर वह चाहे कारखानों में तैयार हुआ माल हो या खेतों की पैदावार हो या खानों से निकाला हुआ खनिज पदार्थ हो। थोक व्यापारी उस माल को लम्बे समय के लिये अपने पास रखने के लिये नहीं लेता, वह तो शीघ्र ही अनुकूल अवसर देखकर थोड़े लाभ से फुटकर विक्रेताओं (retailers) को बेच देता है। अस्तु, उसको कुछ महीनों (३ महीने) के लिए ही साख की आवश्यकता होती है जिसे वह हुंडी या बिल को स्वीकार करके प्राप्त करता है और उन बिलों या हुंडियों को भुना कर बैंक व्यापारियों को पूँजी देते हैं। विदेशों से माल मँगवाने वाले व्यापारियों को भी थोड़े दिनों के लिये ही साख की आवश्यकता होती है। अस्तु, व्यापारिक

स्वरूप क्या होगा इसमें भी भेद होता है। उदाहरण के लिए किसान को फसल उत्पन्न करने के लिये ६ महीने के लिए साख चाहिए, क्योंकि वह ६ महीनों में फसल उत्पन्न करके उसे बाजार में बेचकर दाम वसूल कर लेगा। किन्तु यदि वह बैलों की जोड़ी लेने के लिए, मूल्यवान खेती के यंत्र या औजार लेने के लिए या कुआँ बनवाने के लिए ऋण लेता है तो वह उसे एक फसल के बाद न चुका सकेगा; उसे तीन से पाँच वर्ष तक के लिए ऋण चाहिए कि जिससे वह धीरे-धीरे प्रत्येक फसल के उपरान्त थोड़ा-थोड़ा चुका सके। इसी प्रकार अपना पुराना ऋण चुकाने के लिए तथा भूमि इत्यादि मोल लेने के लिए उसे २० से ३० वर्षों के लिए ऋण चाहिए। यही नहीं कि किसान को भिन्न भिन्न समय के लिए ऋण चाहिए वरन् उसका धधा अनिश्चित होता है, कभी फसल अच्छी होती है तो कभी फसल नष्ट हो जाती है। अतएव जो भी बैंक किसानों को खेती के लिए पूँजी उधार देगा उसको इस बात के लिए तैयार रहना होगा कि फसल के नष्ट हो जाने पर ऋण की अदायगी के समय को वह बढ़ा दे। यही नहीं किसान छोटी मात्रा में ऋण लेता है और उसकी फसल को छोड़ कर अथवा कुछ दशाओं मे (जबकि किसान का भूमि पर स्वामित्व होता है) भूमि के अतिरिक्त उसके पास ऋण की जमानत के रूप में देने के लिए कुछ नहीं होता है। अधिकाश किसान इतने निर्धन होते हैं कि वे ऋण के लिए प्राय कोई जमानत नहीं दे सकते। फिर उनकी पूँजी की आवश्यकता इतना कम होती है कि कोई बड़ा बैंक उस कारबार को करना पसन्द नहीं करेगा। किसानों से सीधा सम्पर्क जिसका न हो उस सस्था को किसानों को साख देना कठिन हो जाता है।

इसी प्रकार उद्योग धधों में दो प्रकार की साख चाहिए एक लम्बे समय के लिए और एक थोडे समय के लिए। एक कारखाने को स्थापित करने के लिए यन्त्र, इमारत तथा अन्य आवश्यक साधनों की आवश्यकता पड़ती है। और इन साधनों को उपलब्ध करने में जो पूँजी आवश्यक होती है वह थोड़े समय में धधे से वसूल नहीं की जा सकती। कई वर्षों मे तो कारखाना बनकर खड़ा होता है। फिर यंत्रों और इमारत इत्यादि में जो पचासों लाख रुपये लगते हैं वह दो-चार वर्षों में तो वसूल नहीं हो सकते। अतएव इन सामग्रियों को उपलब्ध करने के लिए लम्बे समय के लिए पूँजी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही मजदूरों की मजदूरी देने और कच्चे माल को खरीदने के लिए थोड़े समय के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। धधों को केवल अधिक समय और थोड़े समय के लिए ही पूँजी नहीं चाहिए वरन् धधों को साख देने का कार्य एक विशेष

मोल लेने के लिए, भूमि का सुधार करने के लिये, मूल्यवान खेती के यन्त्र खरीदने के लिए या पुराना ऋण चुकाने के लिए।

सेविंग्स बैंक : व्यापारिक बैंकों से भिन्न होते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य साधारण आय वाले व्यक्तियों में मितव्ययिता का भाव जागृत करने और उनकी डिपाज़िट (जमा) को आकर्षित करना होता है। यही कारण है कि इनमें जमा किया हुआ रुपया जब चाहे तभी नहीं निकाला जा सकता है, वरन् सप्ताह में केवल एक या दो बार ही निकाला जा सकता है जबकि व्यापारिक बैंकों के चालू खाते (current account) में जमा करने वाला जब चाहे अपना रुपया निकाल सकता है। लगभग सभी देशों में पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक होते हैं। किन्हीं किन्हीं देशों में उदाहरण के लिये संयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा में स्वतन्त्र सेविंग्स बैंक भी हैं। परन्तु आजकल सेविंग्स बैंक तथा व्यापारिक बैंकों का यह भेद प्रायः लुप्त होता जा रहा है क्योंकि सभी देशों में व्यापारिक बैंक भी सेविंग्स बैंक का काम करने लगे हैं।

राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक (Central Bank) : आज लगभग सभी देशों में राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके हैं। इन राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंकों के रूप, संगठन तथा कार्य पद्धति में थोड़ा-थोड़ा भेद सभी देशों में पाया जाता है। किन्तु उनका उद्देश्य और मुख्य कार्य सब देशों में एक समान है। राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य होता है देश में सब प्रकार की साख (credit) और द्रव्य (money) का नियन्त्रण करना जिससे देश के आर्थिक हितों की रक्षा हो और देश की आर्थिक व्यवस्था ठीक रहे। यही कारण है कि सब बैंकों को राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक में अपना सुरक्षित-कोष (reserve) रखना पड़ता है और केन्द्रीय बैंक का संचालन अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करके लाभ कमाने के लिये नहीं होता वरन् अन्य बैंकों का बैंक बनकर उनका नेतृत्व करने के लिये किया जाता है। राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक राज्य की द्रव्य सम्बन्धी नीति (state monetary policy) को कार्य रूप में परिणत करता है। राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की तरह अपने हिस्सेदारों के लिये अधिकतम लाभ कमाने का प्रयत्न नहीं करता वरन उसका मुख्य लक्ष्य देश की आर्थिक व्यवस्था को ठीक बनाये रखना होता है। वह देश की अर्थ नीति को बहुत हद तक चलाता है और उसका निर्माण करता है।

भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंक भारत में ऊपर लिखे सभी प्रकार के बैंक पाये जाते हैं। सब से ऊपर, सर्वोपरि बैंक रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया है जो भारत का केन्द्रीय बैंक है। रिज़र्व बैंक की स्थापना १९३५ में हुई। उसमें

वैंक थोड़े समय के लिये ही साख देने का कार्य करते हैं। हाँ, कुछ वैंक विशेषतः विदेशी व्यापार (foreign trade) का ही कारबार करते हैं। इन्हें भारतवर्ष में (foreign exchange banks) कहते हैं और कुछ केवल देश के आन्तरिक व्यापार (internal trade) तक ही अपने कारबार को सीमित रखते है, वे व्यापारिक वैंक कहलाते हैं। किन्तु अब अधिकतर बड़े व्यापारिक वैंक विदेशी तथा देशी व्यापार के कारबार को करते हैं।

औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) : जहाँ तक उद्योग-धन्धों को थोड़े समय के लिए साख की आवश्यकता होती है (मजदूरी देने तथा कच्चा माल इत्यादि खरीदने के लिए) वह तो व्यापारिक वैंक आसानी से दे सकते हैं; और देते हैं उसके लिये विशेष प्रकार के बैंकों की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु धन्धों के लिये जो लम्बे समय के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है उसके लिये विशेष प्रकार के वैंकों अर्थात् औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता होती है। यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि जहाँ व्यापारिक वैंकों की सभी देशों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है वहाँ औद्योगिक वैंकों की सब जगह एक सी उन्नति नहीं हुई। उदाहरण के लिये ब्रिटेन में औद्योगिक वैंक प्रायः नहीं हैं वहाँ धन्धों को अधिक समय के लिए पूँजी, हिस्सों को बेच कर इश्यू हाउस तथा फाइनैन्स कपनियों के द्वारा इकट्ठी की जाती है। जापान में औद्योगिक वैंक यह कार्य करते थे। जर्मनी, आस्ट्रिया, स्वीट्जरलैंड तथा इटैली में एक प्रकार के मिले जुले बैंक (mixed banks) होते हैं जो व्यापारिक वैकों तथा औद्योगिक वैंकों का काम करते हैं। भारत में अभी तक औद्योगिक बैक नहीं थे किन्तु अब भारत सरकार ने एक इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन का स्थापना की है। जो लम्बे समय के लिये धन्धों को पूँजी देने का प्रबन्ध करेगी। ब्रिटेन में भी इस प्रकार की एक सस्था स्थापित की जा चुकी है।

सहकारी वैक तथा बन्धक वैंक (Co-operative and Land Mortgage banks) : जो कार्य धन्धों के लिए व्यापारिक वैक और औद्योगिक वैंक करते हैं वही कार्य खेती के लिए क्रमशः सहकारी वैंक और भूमि-बन्धक वैंक करते हैं। कुछ देशों में, जहाँ खेती बहुत बडे-बड़े फार्मों पर होती है, जैसे सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा इत्यादि, वहाँ खेती के लिये थोड़े समय के लिए पूँजी व्यापारिक वैंक ही देते हैं। किन्तु अधिकाश दूसरे देशों मे खेती के लिए थोडे समय के लिए साख देने का प्रबन्ध एक विशेष प्रकार की सस्था जिसे हम सहकारी वैंक (co-operative bank) कहते हैं करती है और लम्बे समय के लिए साख का प्रबन्ध भूमि वैंक करते हैं। उदारहरण के लिए,

परिच्छेद ४०

बैंक के कार्य (Functions of a Bank)

बैंक के कार्यों की व्याख्या करने का अर्थ यह है कि उसकी परिभाषा की जावे, किन्तु बैंक की परिभाषा करना सरल नहीं है; क्योंकि समय-समय पर तथा भिन्न भिन्न देशों में बैंक जो कार्य करते हैं उनमें बहुत भिन्नता रही है और आज भी वह भिन्नता विद्यमान है। अस्तु, हम बैंक की परिभाषा की विस्तृत आलोचना करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, हमारे लिए इतना जान लेना ही यथेष्ट है कि बैंक (व्यापारिक बैंक) वह संस्था है जो जनता से जमा (deposit) इस शर्त पर स्वीकार करती है कि जमा करने वाला जब चाहे चेक द्वारा रुपये को निकाल सके।

बैंकों के मुख्य कार्य · बैंकों का मुख्य कार्य जनता की जमा को स्वीकार करना है जो जमा करने वाले की इच्छा पर चेक द्वारा निकाली जा सके। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि बैंकों का मुख्य कार्य चालू खाता (current account) रखना है। किन्तु चालू खाते के अतिरिक्त बैंक मुद्दती जमा (fixed deposit) भी स्वीकार करते हैं। मुद्दती जमा करने वाले उस रुपये को तभी निकाल सकते हैं जब एक निश्चित समय के नोटिस (सूचना) की अवधि समाप्त हो जावे। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति ने एक वर्ष के लिए मुद्दती जमा की है तो एक वर्ष के नोटिस की अवधि समाप्त हो जाने पर ही वह उस रुपये को निकाल सकता है। किसी-किसी देश में एक महीने, दो महीने, तीन महीने तक के लिए मुद्दती जमा स्वीकार की जाती है, किन्तु भारतवर्ष में बैंक ६ महीने से कम मुद्दती जमा स्वीकार नहीं करते। इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में मुद्दती जमा की अवधि समाप्त होते ही जमा करने वाले को रुपया निकाल लेने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। भारतवर्ष में जब मुद्दती जमा की जाती है तभी जमा करने वाला निकालने का नोटिस दे देता है। अस्तु भारतवर्ष में जमा करने वाले को मुद्दती जमा की अवधि समाप्त होते ही रुपया निकालने का अधिकार मिल जाता है। मुद्दती जमा के अतिरिक्त बैंक सेविंग्स खाता (savings account) भी खोलते हैं और मध्यम श्रेणी के व्यक्ति अपनी बचत को जमा करते हैं। सेविंग्स खाते में अधिक से अधिक कितना जमा

पूर्व यहाँ कोई केन्द्रीय बैंक नहीं था। इम्पीरियल बैंक, जिसकी स्थापना १९२१ में एक विशेष एक्ट के अनुसार हुई, मूलतः एक व्यापारिक बैंक था किन्तु यह १९३५ तक केन्द्रीयबैंक, के कतिपय कार्य करता था। आज व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में इम्पीरियल बैंक के अतिरिक्त वहुसख्यक मिश्रित पूँजी वाले व्यापारिक बैंक (joint stock commercial banks) हैं। भारतवर्ष के द्रव्य बाजार (money market) मे एक विशेष प्रकार के व्यापारिक बैंक भी हैं जिन्हें हम एक्सचेंज बैंक (विनिमय बैंक) कहते हैं जो मूख्यत विदेशी व्यापार का कारवार करते हैं। वे सभी विदेशी बैंक हैं। पिछले दिनों में यह एक्सचेंज बैंक (विनिमय बैंक) देशीय व्यापार में भी हिस्सा लेने लगे हैं किन्तु उनका मुख्य कार्य विदेशी व्यापार ही है। इसके विपरीत भारतीय व्यापारिक बैंक जो पहले केवल देश के आन्तरिक व्यापार तक ही अपना कारवार सीमित रखते थे अब विदेशी व्यापार मे भी भाग लेने लगे हैं। अभी तक भारत में धन्धों को लम्बे समय के लिये पूँजी देने के लिए कोई औद्योगिक बैंक नहीं था किन्तु अब भारत सरकार एक इन्डस्ट्रियल फाइनैंस कारपोरेशन की स्थापना करने जा रही है। अभी तक यहाॅ धन्धों को लम्बे समय के लिए पूँजी मैनेजिंग एजेन्ट तथा पूँजीपति ही देते हैं। खेती के लिये साहूकार और महाजन तथा सहकारी साख समितियाॅ, सहकारी बैंक (co-operative banks) तथा भूमि बंधक बैक हैं जो क्रमश. थोड़े समय तथा लम्बे समय के लिये पूँजी का प्रबन्ध करते हैं।

इनके अतिरिक्त व्यापार के लिये थोड़े समय के लिये पूँजी का प्रबन्ध करने का कार्य सर्राफ, मुलतानी, चेटी, साहूकार तथा महाजन भी करते हैं। ये लोग भारतीय प्राचीन पद्धति के अनुसार थोड़े समय के लिये साख का प्रबन्ध करते हैं। भारतवर्ष की छोटी छोटी मडियों, व्यापारिक केन्द्रों में सब स्थानों पर इन देशी बैंकरों (indigenous bankers) का कारवार चलता है। यह आधुनिक बैंकों के समान सगठित मिश्रित पूँजी वाले बैंक नही होते वरन् वे व्यक्ति या फर्म होती हैं जो व्यापारिक बैंक का कार्य करते हैं। भारत के द्रव्य बाजार में इन देशी बैंकरों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

———

लाता है। परन्तु इस मुख्य कार्य के अतिरिक्त बैंक ऐसे बहुत से अन्य कार्य करता है जो बहुत महत्त्व के होते हैं और समाज तथा बैंक के ग्राहकों के ए विशेष लाभ के होते हैं। आरम्भ में बैंकों ने यह कार्य अपने ग्राहकों की विधा के लिए करना आरम्भ किया था; किन्तु बाद को बैंकों के लिए भी बहुत लाभदायक सिद्ध हुए और इस कारण वे बैंकों के लिए भी महत्त्वपूर्ण गए। यह पूरक कार्य दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—(१) एजेंसी वाएँ (२) साधारण उपयोगिता की सेवाएँ।

एजेंसी सेवाएँ (Agency Services) : (१) चेकों, बिलों, हुंडियों या प्रामिसरी नोटों का रुपया अपने ग्राहकों के लिए वसूल करना तथा नके ग्राहकों द्वारा लिखे या काटे गए चेकों, बिलों, हुंडियों या प्रामिसरी नोटों का भुगतान करना।

(२) ग्राहक की स्थायी आज्ञाओं का पालन करना। कोई भी ग्राहक पने बैंक को यह आज्ञा दे सकता है कि बैंक उसके हिसाब में से किसी संस्था अथवा व्यक्ति को नियमित रूप से एक निश्चित रकम का भुगतान करता रहे। बहुधा ऐसा होता है कि बहुत से व्यक्ति अपने बैंक को सूचित कर देते हैं कि र उसके हिसाब में से बीमा कम्पनी का प्रीमियम, क्लबों का चन्दा तथा अन्य से खर्चों को जो नियमित रूप से ग्राहक को चुकाने पड़ते हैं चुकाता रहे। बैंक स प्रकार की सेवाओं के लिए थोड़ा-सा कमीशन लेता है।

(३) बैंक अपने ग्राहकों के हिस्सों का लाभ (dividend) तथा सिक्यूरिटियों र सूद को वसूल करता है और ग्राहक के हिसाब में जमा कर देता है। ग्राहक र भी कह सकता है कि वह कम्पनियों तथा सिक्यूरिटी निकालने वाली स्था को सूचित कर दे कि वह उनके हिस्से का डिवीडेंड (लाभ) या सूद सके बैंक को दे दे। ऐसी दशा में ग्राहक को उन डिवीडेंड वारंट (dividend warrants) पर बेचान करने और बैंक को उन्हें देने की झंझट भी नहीं करनी पड़ेगी। बैंक ग्राहक का डिवीडेंड तथा सूद वसूल करने के लिए बहुत थोड़ा-सा कमीशन लेते हैं।

(४) कम्पनियों के शेयर (हिस्से) या स्टाक और सिक्यूरिटियाँ ग्राहकों के लिए खरीदना। अधिकांश बैंक ग्राहकों को यह राय नहीं देते कि उन्हें अपना रुपया कहाँ लगाना चाहिए, किन्तु वे भिन्न-भिन्न कम्पनियों के सम्बन्ध में सभी जानने योग्य बातें अपने ग्राहकों को बतलाते हैं और उनके सम्बन्ध में अपने ग्राहकों को पूरी जानकारी देते हैं। परन्तु प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों के लिए कम्पनियों के हिस्से तथा सिक्यूरिटी खरीदता है। इस कार्य के लिए बैंक अपने

किया जा सकता है यह निश्चित कर दिया जाता है और सप्ताह में एक
दो वार से अधिक नहीं निकाला जा सकता। कोई-कोई बैंक यह भी निश्चित
कर देते हैं कि एक वार में एक निश्चित रकम से अधिक नहीं निकाली जा
सकती। बैंक चेक द्वारा सेविंग्स खाते में से भी रुपया निकालने की सुविधा प्रदान
करने लगे हैं। इन खातों के अतिरिक्त बैंक कैश सर्टिफिकेट (cash certifi-
cate) भी वेचते हैं जो कि ३ या ५ वर्षों के लिए होते हैं।

जनता की जमा आकर्षित करने के अतिरिक्त बैंकों का दूसरा मुख्य कार्य
विश्वसनीय व्यक्तियों को उनके कारबार के लिए ऋण देना है। बैंक दो ढंग
से ऋण देता है। एक ढग तो यह है कि बैंक एक निश्चित रकम ऋण स्वरूप
दे दे अथवा चालू खाते पर एक निश्चित रकम तक अधिविकर्ष (overdraft)
देकर ऋण दे। दूसरा ढंग यह है कि बैंक अपने ग्राहकों को विल, हुंडी अथवा
प्रोनोट भुना कर ऋण दे। बिल, हुँडी या प्रामिसरी नोट को भुनाकर बैंक
अपने ग्राहक से उस बिल अथवा हुँडा की रकम को प्राप्त करने का अधिकार
खरीद लेना है और जब यह बिल या हुंडी पक जाती है तो बैंक उस बिल या
हुँडी की रकम उस व्यक्ति से वसूल कर लेता है जिस पर बिल या हुँडी
गई थी। बैंक बिल या हुँडी को भुनाते समय ग्राहक को उस समय
लिये सूद काट कर शेष रकम अर्थात् तत्कालीन मूल्य (present worth)
देता है।

पहले बैंकों का एक दूसरा भी मुख्य कार्य होता था अर्थात् कागज़ी नोट
निकालना। व्यापारिक बैंकों के लिए कागजी नोट निकालना बड़ा लाभदायक
कारवार था, किन्तु अब लगभग सभी देशों में कागज़ी नोट निकालने का
एकाधिकार राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंकों को दे दिया गया है और व्यापारिक बैंकों से
यह अधिकार छीन लिया गया है। भारतवर्ष में यह अधिकार रिज़र्व बैंक को है
और रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व सरकार स्वय कागजी नोट निकालती थी।

अस्तु, व्यापारिक बैंकों के तीन मुख्य कार्य थे, अर्थात् जमानत स्वीकार
करना, ऋण देना और हुडी और बिलों को भुनाना तथा कागज़ी नोट निकालना।
किन्तु अब वे कागजी नोट निकालने का कार्य नहीं करते। इस प्रकार अब उनके
केवल दो कार्य ही रह जाते हैं, अर्थात् डिपाजिट स्वीकार करना तथा ऋण
देना अथवा बिल और हुडियों को भुनाना (discounting)।

बैंकों के अन्य पूरक कार्य : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि
वह स्थान या संस्था है जो पूँजी बचाने वालों तथा पूँजी उधार लेने वालों

दारों (creditors) द्वारा लिखे गए बिलों को स्वीकार कर लेता है। प्रकार वह व्यक्ति अपने बैंक के साख पत्र की सहायता से अन्य स्थान पर साख (credit) पा सकता है।

(२) आधुनिक बैंक विदेशी विनिमय (foreign exchange) का कारबार भी करते हैं। जब एक देश का व्यापारी दूसरे देश के व्यापारी से माल खरीदता है तो उसको दूसरे देश के द्रव्य में मूल्य चुकाना पड़ता है। बैंक एक देश के द्रव्य को दूसरे देश के द्रव्य मे बदलने का काम करते हैं। यदि भारतवर्ष का व्यापारी लंकाशायर से सूती कपड़ा अथवा संयुक्तराज्य अमेरिका से मशीनें मँगाता है तो अपने बैंक को जो भी विनिमय दर (foreign exchange rate) हो उस हिसाब से रुपये दे देगा और बैंक उसको स्टर्लिंग और डालर दे देगा। बैंकों के विदेशी विनिमय के कारबार से ही यह सम्भव होता है कि एक देश के व्यापारी अन्य देशों से व्यापार कर सकते हैं अन्यथा विदेशी व्यापार असम्भव हो जावे। प्रश्न यह हो सकता है कि बैंक डालर या स्टर्लिंग कहाँ से लावेगा। वास्तव मे होता यह है कि प्रत्येक देश अन्य देशों को कुछ माल भेजता है अर्थात् निर्यात (export) करता है और कुछ माल उन देशों से मँगाता है। कल्पना कीजिए कि भारत के एक व्यापारी ने कुछ कपास लंकाशायर को भेजी है तो भारतीय व्यापारी अपनी कपास के मूल्य का विदेशी बिल (foreign bill) लंकाशायर के व्यापारी पर स्टर्लिंग मे काटेगा और उसे लेकर अपने बैंक के पास जावेगा। बैंक उस बिल को भुना देगा अर्थात् उसका तात्कालिक मूल्य (present worth) देकर उस बिल को (स्टर्लिंग) खरीद लेगा। अब यदि कोई व्यापारी इंगलैंड से माल मँगाता है और उसका मूल्य चुकाना चाहता है तो वह बैंक के पास जायगा और बैंक उसी बिल (स्टर्लिंग) को बेच देगा। इसी प्रकार विदेशी बिलों को भुनाकर यह बैंक विदेशी व्यापार के लिए सुविधा प्रदान करते हैं। विदेशी बिलों को भुना कर विदेशी व्यापार के लिए सुविधा प्रदान करने में बैंकों को बहुत माल का समुद्री बीमा कराना पड़ता है, उसको जहाज द्वारा भेजने का प्रबन्ध करना पड़ता है, और उसको कुछ समय तक अपने गोदामों में रखना पड़ता है। अतएव बैंक इस कार्य के लिये एक बीमा विभाग और एक भाड़ा विभाग (freight department) भी रखते हैं। अन्य देशों में विदेशी विनिमय (foreign exchange) कार्य व्यापारिक बैंक ही करते हैं किन्तु भारत में यह कार्य एक विशेष प्रकार के व्यापारिक बैंक करते हैं जिन्हें विदेशी विनिमय बैंक (foreign exchange banks) कहते हैं।

ग्राहक से कुछ भी नहीं लेता। वह शेयर ब्रोकर से उसके कमीशन में से भाग हिस्सा लेता है।

(५) बैंक रुपये को एक बैंक से दूसरे बैंक अथवा अपनी एक ब्रांच से दूसरी ब्रांच को भेजता है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति आगरे से कुछ रुपया कलकत्ता भेजना चाहता है तो वह आगरे के किसी बैंक में रुपया जमा करके उस बैंक से एक बैंक ड्राफ्ट कलकत्ता में उसकी ब्रांच पर अथवा अन्य किसी बैंक पर ले लेगा और उस बैंक ड्राफ्ट को वह कलकत्ते में उस व्यक्ति के पास भेज देगा जिसे वह रुपया भेजना चाहता है। कलकत्ते वाला व्यक्ति उस बैंक ड्राफ्ट को बैंक में देकर रुपया वसूल कर लेगा। ग्राहक अपने बैंक से विशेष प्रबन्ध करके यह सुविधा प्राप्त कर सकता है कि वह बैंक की एक ब्राच पर तो चेक काटे और दूसरी ब्राच उसका भुगतान कर दे।

(६) बैंक अपने ग्राहकों का ट्रस्टी या ऐग्जीक्यूटर (trustee or executor) भी बनता है। यदि कोई ग्राहक वसीयत करता है और चाहता है कि बैंक उस वसीयत की व्यवस्था करे या वह अन्य किसी आर्थिक समझौते का प्रबन्ध बैंक को सौंपता है तो बैंक अपनी फीस लेकर महत्त्वपूर्ण और झंझट के काम को अपने ऊपर लेते हैं।

(७) बैंक अपने ग्राहकों के एजेंट, प्रतिनिधि और सलाहकार का काम करते हैं। यही नहीं वे देशी अथवा विदेशी बैंकों और अन्य व्यापारी संस्थाओं के एजेंट, प्रतिनिधि और आर्थिक सलाहकार का भी काम करते हैं।

साधारण उपयोगिता की सेवाएँ (General Utility Services)

आधुनिक बैंक अन्य बहुत सी उपयोगी सेवाएँ करते हैं जो आज के व्यस्त कारबारियों और सर्वसाधारण के लिए बहुत सुविधाजनक और लाभदायक सिद्ध होती हैं। उनमें से नीचे लिखी सेवाएँ महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) बैंक व्यक्तिगत तथा व्यापारिक साख पत्र letters of credit देते हैं। बैंक के ग्राहकों को इन साख पत्रों से यह लाभ होता है कि वे बैंक की ऊँची साख से लाभ उठा सकते हैं। साख-पत्र एक प्रकार का पत्र होता है जो एक बैंक अपनी शाखा अथवा अन्य दूसरे बैंक को लिख देता है, जिसमें बताये हुए व्यक्ति को रुपया उधार देने या साख देने की प्रार्थना होती है। इस प्रकार यदि कोई ग्राहक अन्य स्थान पर जाकर कुछ कारबार करना चाहे तो वह अपने बैंक से उस स्थान पर स्थित उस बैंक की शाखा अथवा अन्य किसी दूसरे बैंक के नाम साख पत्र ले जा सकता है। वहाँ उस व्यक्ति को साख पत्र दिखाने पर तुरन्त रुपया मिल सकता है अथवा उस बैंक की शाखा या अन्य बैंक उस व्यक्ति पर उसके

और ईमानदारी तथा आर्थिक स्थिति के बारे मे अपनी सम्मति लिख देगा। वैंक यह सूचना गोपनीय रखते हैं और व्यापारियों के सम्बन्ध में सारी ठीक जानकारी रखते हैं।

(६) बड़े-बड़े वैंक व्यापार सम्बन्धी जानकारी तथा व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों को इकट्ठा करके व्यापारियों को देते हैं। व्यापारिक दृष्टि से उन्नतिशील राष्ट्रों में बड़े-बड़े वैंक एक पृथक् सूचना विभाग तथा व्यापारिक आँकड़ों का विभाग रखते हैं। यह वैंक अपनी शाखाओं की सहायता से देश-विदेश की व्यापार सम्बन्धी सूचनायें तथा आँकड़े इकट्ठा करते हैं और उसे अपने ग्राहकों को उनके काम के लिए देते हैं। कोई-कोई व्यापार सम्बन्धी वहुमूल्य सामग्री को अपने ग्राहकों के पास पहुँचाने के लिए मासिक पत्र निकालते हैं जो व्यापारियों के लिए बड़े काम की वस्तु होती है।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट होगया होगा कि आधुनिक वैंक व्यापारिक जनता तथा व्यापार और धधों की वहुमूल्य सेवा करते हैं। सच तो यह है कि विना अच्छे वैंकों के किसी देश का भी व्यापार तथा उद्योग-धधे उन्नति नहीं कर सकते। वैंकों की सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा तो यह है कि वह देश भर में बिखरी हुई व्यक्तियों की थोड़ी-थोड़ी वचत को इकट्ठा करके उत्पादन कार्य (productive work) के लिए दे देते हैं। इससे धंधे और व्यापार की उन्नति होती है। व्यापारी जिस सरलता से वैंकों से ऋण पा जाते हैं उससे उद्योग धंधों तथा व्यापार को वहुत प्रोत्साहन मिलता है। यही नहीं व्यापारियों को वैंक का मूल्यवान परामर्श और उनकी जानकारी का लाभ भी प्राप्त हो जाता है। वैंक इस बात का निर्णय करते हैं कि किन व्यक्तियों को पूँजी या साख दी जावे। इस प्रकार से परोक्ष रूप से वैंक राष्ट्र की पूँजी को उस दिशा में वहने देने में सहायक होते हैं जिस दिशा में राष्ट्र की पूँजी को जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सुदृढ़ वैंकों की स्थापना से जनता में वचत करने, अत्यधिक व्यय न करने और मितव्ययिता की भावना जाग्रत होती है; क्योंकि बचाने वालों को अपनी वचत को सुरक्षित तथा लाभदायक रूप से वैंकों में रखने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। इस सुरक्षा को पाकर वे वचत करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

गिलबर्ट महोदय के शब्दों में "वैंक व्यापारिक गुणों के सार्वजनिक रक्षक हैं, वे परिश्रमी, बुद्धिवान, नियत समय पर ऋण चुकाने वाले तथा ईमानदार व्यापारियों को प्रोत्साहन देते हैं, और ऐसे व्यक्तियों को, जो जुआरी, रुफ्फ़ड़ी, झूठे और बेईमान होते हैं कभी आर्थिक सहायता नहीं देते। ऐसे

(३) ये बैंक अपने ग्राहकों के बदले उन पर लिखे गए बिलों को स्वीकार करते हैं या कर सकते हैं। इस प्रकार बैंक अपने नाम और ऊँची साख को थोड़ा सा कमीशन लेकर अपने ग्राहकों के लाभ के लिए दे देते हैं। उदाहरण के लिए यदि बैंक का कोई ग्राहक किसी व्यापारी से साख पर माल खरीदना चाहता है, व्यापारी उसे साख देने को तैयार भी है किन्तु वह माल खरीदने वाले को और उसकी साख के सम्बन्ध में कुछ नहीं जनता। ऐसी दशा में माल खरीदने वाला अपने बैंक से उस पर लिखे गए बिल को स्वीकार कर लेने के लिए कहता है। बैंक अपने ग्राहक की साख के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखता है, अतः वह माल बेचने वाले व्यापारी के बिल या हुंडी को अपने ग्राहक के स्थान पर स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार माल खरीदने वाले बैंक के ग्राहक को साख मिल जाती है।

(४) बैंक बहुमूल्य वस्तुओं, सिक्यूरिटी और अन्य आवश्यक कागज पत्रों को थोड़ा सा कमीशन लेकर सुरक्षित रखने का भार ले लेते हैं। उदाहरण के लिए सर्वसाधारण सोना, चाँदी, बहुमूल्य आभूषण, महत्त्वपूर्ण कागज पत्र तथा सिक्यूरिटी बैंक के हवाले कर देते हैं और इस प्रकार उनके चोरी जाने और अग्नि से नष्ट हो जाने का भय जाता रहता है। इन वस्तुओं को सुरक्षित रूप से रखने के लिए बैंक विशेष प्रकार के कमरे और तिजोरियाँ बनवाते हैं, जिससे उनके चोरी जाने और अग्नि इत्यादि से नष्ट हो जाने का भय नहीं रहता। इस प्रकार थोड़ा सा कमीशन लेकर बैंक इन बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित अमानत के रूप में रखने का भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

(५) बैंक अपने ग्राहकों की ईमानदारी और उनकी साख और आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में दूसरों को ठीक ठीक जानकारी कराते हैं। वह कार्य व्यापारी समाज के लिए बहुत महत्त्व का और आवश्यक है। क्योंकि इस प्रकार बैंकों के द्वारा व्यापारियों को सहज में ही अन्य व्यापारियों की साख तथा आर्थिक स्थिति के बारे में ठीक-ठीक जानकारी हो जाती है और उनसे कारबार करने में तथा उन्हें साख देने से हानि की सम्भावना नहीं रहती। उदाहरण के लिए यदि किसी कपड़े के बड़े व्यापारी के पास अन्य स्थान का व्यापारी आर्डर देता है और तीन महीने की साख पर माल खरीदना चाहता है तो यदि बेचने वाला व्यापारी खरीदने वाले व्यापारी को नहीं जानता अथवा वह नहीं जानता कि उसको साख देना उचित होगा अथवा नहीं, तो वह अपने बैंक का नाम लिख भेजेगा और बेचने वाला व्यापारी गुप्त रूप से उसके बैंक से पूछेगा कि उस व्यापारी को साख पर माल देना उचित है अथवा नहीं। बैंक उस व्यापारी के

आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं, इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि बैंकों की विनियोग नीति (investment policy) का आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि बैंक कितना द्रव्य (money) व्यय किया जा सकता है उसका निश्चय करते हैं और उसका माँग करते हैं और जनता उसका वास्तव में उपयोग किस प्रकार होगा यह निश्चय करती है। ऊपर दिया हुआ मत बिलकुल सही नहीं है। यह ठीक है कि अन्तत: द्रव्य का किस प्रकार उपयोग होगा यह बैंक के अधिकार के बाहर की बात है। हो सकता है कि बैंक अपने रुपये को एक जगह लगावे और व्यापारी उसको वहाँ से हटाकर दूसरे स्थान पर लगा देवें। परन्तु यदि बैंक यह देखें कि उनके रुपये को अनुचित स्थान पर लगाया जा रहा है तो वे तुरन्त अपनी विनियोग नीति (रुपया लगाने की नीति) पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि बैंक अपनी विनियोग नीति के द्वारा आर्थिक कारबार पर गहरा प्रभाव डालते हैं। वे जिस प्रकार के कागज़ में अपना रुपया लगाते हैं वही कारबार अधिक चमकता है और उसकी उन्नति होती है। अब प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार इन कागज़ों को, जिनमें वे अपना रुपया लगाना चाहते हैं, चुनते हैं। कागज़ चुनने का उनका आधार क्या है। बैंक यह निर्धारित करने में कि उनको अपना रुपया कहाँ लगाना चाहिए दो बातों को ध्यान में रखते हैं (१) तरलता (liquidity) और लाभदायकता (profitability) बैंक के लिए तरलता को अपनाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि जमा करने वाले जब चाहें अपना रुपया माँग सकते हैं। अस्तु, उनको उनका जमा किया हुआ रुपया वापस दे सकने तथा जनता का अपने में विश्वास पैदा करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि वे तरलता को न छोड़ें। किन्तु, यदि वे जमा किए हुए सब रुपये को बिलकुल तरल (liquid) अवस्था अर्थात् नक़दी रोकड़ के रूप में अपने पास रक्खें तो फिर वे उससे लाभ बिलकुल नहीं कमा सकते। यदि बैंक ग्राहकों द्वारा जमा किये हुए सारे के सारे रुपए को तरल अर्थात् नकदी रोकड़ के रूप में अपने पास ही रक्खे तो फिर वह रुपया जमा करने वाले को सूद कहाँ से देगा। इसके विपरीत यदि बैंक अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहे तो उसे उस रुपये को बहुत लम्बे समय के लिए लगाना पड़ेगा जो बैंक के लिए खतरनाक हो सकता है। पहली बात तो यह है कि बैंक को कुछ नकदी तो इसलिए अपने पास रखना आवश्यक है क्योंकि जमा करने वाले समय-समय पर अपना रुपया वापस माँगेंगे और दूसरे थोड़े समय की जमा (डिपाजिट)

व्यापारियों को बैंक अपने से दूर ही रखते हैं। आज के व्यापारिक जगत् में बैंक की सहायता के बिना किसी भी व्यापारी का काम नहीं चल सकता। अतः कोई भी व्यापारी बैंक को असन्तुष्ट करने से डरता है। बैंकों के कारण व्यापारियों को ईमानदार होना पड़ता है। सच तो यह है कि आज किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि बहुत कुछ बैंक पर निर्भर है। यदि किसी देश में अच्छे और सुदृढ़ बैंकों की यथेष्ट सख्या में स्थापना नहीं हुई है तो उस देश की आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती।

व्यापारिक बैंकों के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त : आज इस बात पर बैंकिंग जगत् में एक वाद-विवाद चल रहा है कि व्यापारिक बैंकों का कारबार किस प्रकार का होना चाहिए। इस सम्बन्ध में आज दो मत प्रचलित हैं। एक मत पुरातनवादियों का है। उनका मत है कि व्यापारिक बैंकों को केवल थोड़े समय के लिए शुद्ध व्यापारिक कार्यों के लिए ही ऋण देना चाहिए। एक दूसरा मत यह है कि व्यापारिक बैंकों को मिश्रित कारबार करना चाहिए अर्थात् थोड़े समय के लिए तथा धन्धों के लिए लम्बे समय के लिए भी ऋण देना चाहिए। अब हम इन दोनों मतों के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचना करेंगे।

पुरातन मत : पुरातन मत वादियों का कहना है कि व्यापारिक बैंकों को केवल थोड़े समय के लिए ही ऋण देना चाहिए जो कि सरलता से स्वतः वसूल होते जावें। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि व्यापारिक बैंकों की जमा (डिपाज़िट) थोड़े समय के लिए होती है अस्तु व्यापारिक बैंक लम्बे समय के लिए ऋण नहीं दे सकते। ब्रिटिश बैंको का यही कहना है, "क्योंकि हमें जमा किए हुए रुपए को जमा करने वालों के माँगने पर देना पड़ता है अस्तु हम उस रुपये को लम्बे समय के लिए नहीं फँसा सकते"।

बैंक जिस प्रकार अपने रुपये को लगाते हैं उससे देश के आर्थिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बैंक अपने पास जमा किए हुए रुपये से लाभ कमाने के लिए उस रुपये को बिलों, सरकारी सिक्योरिटी (प्रतिभूति) तथा अन्य स्थानों में लगाते हैं। बैंक कभी व्यापारिक बिल मे अपना रुपया लगाते हैं तो कभी सरकारी सिक्योरिटियों में तो कभी कम्पनियों के हिस्सों में रुपया लगाते हैं। बैंक जिस काग़ज में अपना रुपया अधिक लगाते हैं उसी आर्थिक क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। यदि वे व्यापारिक बिलों में अधिक रुपया लगाते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि वे व्यापार को अधिक आर्थिक सुविधा देकर प्रोत्साहन देते हैं। यदि वे कम्पनियों के हिस्सों में रुपया लगाते हैं तो वे उद्योग धन्धे

इस प्रकार के नियम बना कर कि वह अमुक प्रकार के कागज़ों पर ही किसी बैंक को ऋण देना स्वीकार करेगा बैंकों को एक प्रकार से विवश कर देता है कि वह उसी प्रकार का ऋण दें जिसे केन्द्रीय बैंक पसंद करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की विनियोग नीति को निर्धारित करता है। इस प्रकार एक ओर व्यापारिक बैंकों की देनी तरल (liquid) हो जाती है और दूसरी ओर केन्द्रीय बैंक द्रव्य बाजार पर नियंत्रण स्थापित कर लेता है।

अस्तु, पुरातन मतवालों का बैंकिंग सिद्धान्त यही है कि व्यापारिक बैंकों को अपनी देनी को जहाँ तक हो सके तरल रखना चाहिए अर्थात् थोड़े समय के ही लिए ऋण देना चाहिये और उन्हीं कागज़ों को स्वीकार करना चाहिए जिन्हें केन्द्रीय बैंक ठीक समझता है। ब्रिटेन इस मत का प्रधान देश है। ब्रिटेन में व्यापारिक बैंक उद्योग-धन्धों को चालू व्यय की व्यवस्था के लिए थोड़े समय के लिए ऋण अवश्य दे देते हैं किन्तु धन्धों में लम्बे समय के लिए अपना रुपया कभी नहीं फँसाते। भारत के व्यापारिक बैंक भी इसी नीति के अनुयायी हैं।

जर्मनी और संयुक्तराज्य अमेरिका : जर्मनी और संयुक्तराज्य अमेरिका में व्यापारिक तथा औद्योगिक बैंकिंग का मिश्रण है। वे थोड़े समय के लिए भी ऋण देते हैं और उद्योग-धन्धों को लम्बे समय के लिए भी ऋण देते हैं।

जर्मनी में आरम्भ में जो बैंक थे वे वास्तव में औद्योगिक बैंक थे। वे अधिकतर अपनी पूँजी पर ही निर्भर रहते थे। डिपाज़िट बहुत कम होती थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी में डिपाज़िट बहुत अधिक बढ गई और जर्मन बैंक बहुत अधिक राशि में डिपाज़िट आकर्षित करने लगे। किन्तु वे अपने पुराने कारबार अर्थात् उद्योग-धन्धों को लम्बे समय के लिए ऋण देना नहीं बन्द कर सके, अस्तु वहाँ मिश्रित बैंकिंग पद्धति प्रचलित हुई। वहाँ के बैंक दोनों प्रकार के ऋण देते हैं, व्यापार के लिये थोड़े समय का ऋण तथा उद्योग-धन्धों के लिए लम्बे समय का ऋण।

मिश्रित बैंकिंग के गुण-दोष : मिश्रित बैंकिंग के कुछ गुण हैं। मिश्रित बैंकिंग का सब से बड़ा लाभ तो यह है कि उद्योग-धन्धों को उससे प्रोत्साहन मिलता है। जर्मनी इसका उदाहरण है। जर्मनी में जो तेजी से उद्योग-धन्धों की उन्नति हुई वह इसी बात का परिणाम था कि वहाँ उद्योग-धन्धों को व्यापारिक बैंक आर्थिक सहायता देते थे। जर्मनी का उदाहरण

में आये हुए रुपये को लम्बे समय के लिए फँसा देना बहुत खतरनाक है। अस्तु बैंक की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वह इन दोनों विरोधी बातों का समन्वय स्थापित करे। जितना ही वह यह समन्वय स्थापित कर सकेगा उतना ही वह बैंकिंग के कार्य में सफल होगा।

तरलता दो बातों पर निर्भर रहती है, एक तो इस बात पर कि लगा हुआ रुपया शीघ्रता से निकाला जा सके और दूसरे इस बात पर कि उसमें जोखिम तनिक भी न हो। यही कारण है कि यदि ये दोनों शर्तें पूरी हों तो लम्बे समय का कागज भी तरल लेनी (liquid asset) कही जावेगी। उदाहरण के लिए सरकारी सिक्यूरिटी (प्रतिभूति) को लीजिए। बैंक जब चाहे तब उसको बाजार में बेचकर रुपया प्राप्त कर सकता है और उसमें जोखिम भी बहुत कम होती है। इसी प्रकार कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध कम्पनियों के हिस्से भी तरल लेनी कही जा सकती है, परन्तु साधारण कम्पनियों के हिस्से न तो बहुत आसानी से बिक ही सकते हैं और उनमें जोखिम भी होती है कि कहीं उनके भाव बहुत अधिक गिर न जावें। इसी प्रकार जो ऋण बैंक ने व्यापारियों को उनकी व्यक्तिगत जमानत पर या किसी वस्तु को बंधक रखकर उसकी ज़मानत पर दिया वह तुरन्त नकदी रोकड़ में परिणत नहीं किया जा सकता और उसमें जोखिम भी होती है।

अतः यह हो सकता है कि बैंक ने किसी फर्म या व्यक्ति को ऋण दिया। उस फर्म अथवा व्यक्ति की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी है और उस फर्म की लेनी (assets) देनी (liabilities) को चुकाने के लिए पर्याप्त है। परन्तु हो सकता है कि बैंक पर यदि कोई संकट आवे तो वह ऋण तुरन्त चुकाया न जा सके। परन्तु, यदि किसी देश का केन्द्रीय बैंक ऐसे समय में उस बैंक को आर्थिक सहायता दे तो संकट टल सकता है। दूसरे अर्थों में हम कह सकते हैं कि संकट के समय किसी एक बैंक की आर्थिक स्थिति अच्छी है अथवा नहीं यह इतना महत्त्व नहीं रखती जितना कि केन्द्रीय बैंक की नीति। क्योंकि यदि किसी बैंक से लोग भयभीत हो कर अपना रुपया निकालने लगें तो अच्छे बैंक को भी कठिनाई उपस्थित हो सकती है। यही कारण है कि ऐसे अवसर पर केन्द्रीय बैंक बैंकों की सहायता कर सकता है क्योंकि वह अन्तिम ऋणदाता होता है। ऐसी दशा में जब केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता होता है और संकट के समय बैंकों को ऋण देकर सहायता देना उसका कर्तव्य है तब वह इस बात की भी देख-भाल करता है कि बैंक उस प्रकार के कागज़ में अपना रुपया न फँसावें जिनको केन्द्रीय बैंक ठीक नहीं समझता। अस्तु, केन्द्रीय

परिच्छेद ४१

बैंक की लेनी-देनी का लेखा (Balance Sheet of a Bank)

बैंक की लेनी-देनी का लेखा बैंक की तत्कालीन आर्थिक स्थिति को प्रकट करता है। बैंक के कारबार के सम्बन्ध में इस लेखे का अध्ययन करने से पूरी जानकारी प्राप्त हो सकती है। इस लेख को देखने से यह भी ज्ञात हो सकता है कि बैंक किस प्रकार अपने कोष (funds) को इकट्ठा करता है और किस प्रकार उस कोष का उपयोग करता है।

दुर्भाग्यवश बैंकों की लेनी-देनी के लेखे (balance sheet) का कोई ऐसा सर्वमान्य रूप प्रचलित नहीं हुआ है जिसको सब ने अपनाया हो। इंगलैंड में बड़े बड़े बैंकों ने आपसी समझौते से लेनी-देनी के लेखे के एक रूप को स्वीकार कर लिया है। संयुक्तराज्य अमेरिका में बैंकिंग सम्बन्धी कानून के अनुसार बैंकों को अपने लेखे में कुछ मदों के बारे में नियमित रूप से रिपोर्ट देनी पड़ती है, इस कारण विवश होकर एक-सा लेखा बनाना पड़ता है। परन्तु भारतवर्ष में बैंकों के लेनी-देनी के लेखों में विभिन्नता पाई जाती है। इस कारण बैंकों की तुलनात्मक आलोचना करना कठिन हो जाता है। फिर भी बैंकों का कारबार इस प्रकार का है कि मोटे रूप से ऐसा लेनी-देनी का लेखा तैयार किया जा सकता है जो कि सब बैंकों के लिए एक समान हो, यद्यपि उसमें जो भेद होंगे वे इस प्रकार के नहीं होंगे कि उनसे विस्तृत जानकारी हो सके।

साधारणतः बैंकों की लेनी-देनी का लेखा इस प्रकार होगा :—

देनी (Liabilities)	लेनी (Assets)
पूँजी (Capitals)	१ नकदी तथा अन्य बैंकों और रिजर्व बैंक में जमा किया हुआ रुपया।
१ अधिकृत पूँजी (Authorised Capital)	२ याचना-द्रव्य (Call money) तथा बहुत थोड़े समय के लिये दिया हुआ ऋण (money at short notice)
२ विक्रीत पूँजी (Subscribed Capital)	३. खरीदे तथा भुनाये हुए बिल (Bills discounted and purchased)
३ प्रदत्त पूँजी या चुकता पूँजी (Paid up Capital)	
४ सुरक्षित कोष (Reserve Fund)	

इस बात का प्रमाण है कि मिश्रित बैंकिंग को अपना कर भी बैंकों की आर्थिक स्थिति ठीक रह सकती है।

मिश्रित बैंकिंग में जो खतरा उपस्थित होता है वह साधारण समय में उपस्थित नहीं होता वरन् आर्थिक मदी के समय उपस्थित होता है। उस समय कम्पनियों के हिस्सों का भाव तेज़ी से गिरने लगता है और बैंकों को बहुत भारी हानि उठानी पड़ती है। जब आर्थिक धूम (boom) होता है तो धन्धे बहुत लाभदायक होते हैं और बैंक धन्धों मे उनकी शक्ति के बाहर रुपया फँसा देते हैं और जब सकट आता है और आर्थिक मदी होती है तो बैंकों का उनमें रुपया डूबने लगता है, उनके कागजों का मूल्य गिरने लगता है और बैंकों की स्थिति सकटमय हो जाती है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मिश्रित बैंकिंग आर्थिक मदी का सामना नही कर सकता। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि व्यापारिक बैंकिंग और औद्योगिक बैंकिंग को पृथक् रक्खा जावे। भारत के बैंकों ने इसी नीति को स्वीकार किया है।

बैंक के डायरेक्टर ४ लाख हिस्सों को न बेच कर केवल २ लाख हिस्से बेचने की घोषणा करते हैं। इसे हम प्रचारित पूँजी कहेंगे। मान लीजिए कि जनता इन्हीं हिस्सों को खरीद लेती है तो २ करोड़ रुपये की पूँजी विक्रित पूँजी कहलायेगी। इन २ लाख हिस्सों पर डायरेक्टर पूरा मूल्य अर्थात् १०० रु० न माँग कर केवल ५० रु० प्रति हिस्सा माँगते हैं और शेष ५० रु० आगे वसूल करने के लिए छोड़ देते हैं। तो जो २ लाख हिस्सों पर ५० रु० प्रति हिस्से के हिसाब से हिस्सेदार चुकायेंगे उस १ करोड़ रुपये को परिदत्त या चुकता पूँजी कहा जावेगा। बहुत से बैंक हिस्सों का पूरा मूल्य वसूल न करके उसका आधा या एक भाग ही वसूल करते हैं। प्रति हिस्से पीछे जो शेष रहता है उसे हिस्सेदार देने के लिए उत्तरदायी रहते हैं और वह बैंक में रुपया जमा करने वालों के लिए विशेष प्रकार की सुरक्षा का काम देता है।

किन्तु इस सम्बन्ध में सब बैंकों की एक सी नीति नहीं है। भारत में बहुत से बैंकों ने अपने हिस्सों के मूल्य का केवल पचास प्रतिशत ही वसूल किया है और ५० प्रतिशत हिस्सेदारों का सुरक्षित दायित्व (reserve liability) है जो उन्हें आवश्यकता पड़ने पर देना हो सकता है। परन्तु कोई भी बड़ा और पुराना बैंक उस शेष पूँजी को कभी व्यवहार में वसूल नहीं करता। यह शेष पूँजी केवल बैंक के दिवालिया होने पर ही वसूल की जाती है। अन्य देशों में भी बैंक अपने हिस्सों के पूरे मूल्य को वसूल नहीं करते और सुरक्षित पूँजी (reserve capital) छोड़ रखते हैं जो बैंक के दिवालिया होने की दशा में वसूल की जाती है।

सुरक्षित कोष (Reserve Fund). प्रति वर्ष बैंक अपने लाभ का एक भाग सुरक्षित कोष में जमा करते हैं। प्रत्येक अच्छा बैंक अपने लाभ का एक अंश सुरक्षित कोष में अवश्य ही जमा करता है क्योंकि उससे बैंक की आर्थिक स्थिति दृढ़ होती है, बैंक की प्रतिष्ठा बढ़ती है और बैंक की निजी पूँजी में वृद्धि होती है। यह ध्यान में रखने की बात है कि सुरक्षित कोष और न वसूल की हुई पूँजी या सुरक्षित दायित्व में बहुत अन्तर है। सुरक्षित कोष को हिस्सेदार नहीं देते हैं वरन् यह वार्षिक लाभ में से एक भाग अलग निकाल कर रखने से बनता है। सुरक्षित कोष प्रथम श्रेणी की सिक्योरिटी में लगाया जाता है। परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिलकर बैंक की कार्यशील पूँजी (working capital) होती है। यदि कभी बैंक को भारी हानि हो जावे तो वह अपने सुरक्षित कोष में से [illegible] पूरी कर सकते हैं। इस प्रकार सुरक्षित कोष ग्राहकों के लिए सुरक्षा का काम देता है। यद्यपि सुरक्षित कोष हिस्सेदारों की सम्पत्ति होता है और

५ चालू खाता, मुद्दती जमा तथा अन्य खाते (Current Deposits, Fixed Deposits and other accounts)
६ बिलों को स्वीकार करने तथा उन पर बेचान करने से उत्पन्न होने वाला दायित्व (Liabilities for Acceptance and Endorsements, etc.)

४ विनियोग (Investments)
५ ग्राहकों को दिया हुआ ऋण।
६ बिलों को स्वीकार करने तथा उन पर बेचान करने के सम्बन्ध में ग्राहकों का दायित्व (Liabilities of customers for acceptances, endorsements, etc)
७. बैंक की इमारतें तथा अन्य अचल सम्पत्ति ।

लेनी-देनी के लेखे का अध्ययन करते समय हम पहले देनी (liabilities) का अध्ययन करेंगे क्योंकि इसमें हमें यह ज्ञात होगा कि बैंक को कोष (fund) कहाँ से प्राप्त होता है जिसे वह ऋण स्वरूप अपने ग्राहकों को देकर अपना कारबार करता है।

पूँजी : अधिकृति या निर्धारित पूँजी (authorised capital) उस रकम को कहते हैं जिसे बैंक का स्मारक पत्र या अधिकार पत्र (memorandum of association) में निर्धारित कर दिया गया हो। जब कोई मिश्रित पूँजी वाली कंपनी (joint stock company) स्थापित की जाती है तो एक स्मारक पत्र तैयार किया जाता है। उसमें उस कम्पनी के उद्देश्य आदि के अतिरिक्त अधिकृत पूँजी की रकम भी दी रहती है। उससे अधिक के हिस्से नहीं बेचे जा सकते। प्रचारित पूँजी (issued capital) उस रकम को कहते हैं जितने मूल्य के हिस्से (shares) जनता को बेचने की बैंक ने घोषणा की हो। विक्रित पूँजी (subscribed capital) उसे कहते हैं जितने मूल्य के हिस्से जनता ने खरीद लिए हों। और परिदत्त या चुकता पूँजी (paid up capital) उस राशि को कहते हैं जितनी हिस्से खरीदने वालों अर्थात् हिस्सेदारों से प्राप्त हो चुकी हो। एक उदाहरण से यह भेद भली भांति समझा जा सकता है।

कल्पना कीजिए कि हम एक बैंक स्थापित करते हैं। जब हम बैंक की रजिस्ट्री करावेंगे तो एक स्मारक पत्र या अधिकार पत्र (memorandum of association) तैयार करना होगा। उसमें हम जितनी पूँजी निर्धारित कर देंगे उसमें अधिक के हिस्से नहीं बेचे जा सकते। इस पूँजी को अधिकृत पूँजी कहेंगे। हमारे कल्पित बैंक की अधिकृति पूँजी ४ करोड़ रुपया है जो ४ लाख साधारण हिस्सों में (प्रत्येक हिस्सा १०० रु० का है) बँटी हुई है। आरम्भ

चार में अधिक से अधिक कितना रुपया निकाला जा सकता है यह भी निर्धारित कर दिया जाता है। सेविंग्स खाते में कुल अधिक से अधिक कितना रुपया जमा किया जा सकता है यह भी निश्चित होता है। कैश सर्टिफिकेट वर्षों के लिए या ५ वर्षों के लिये होते हैं।

बिलों को स्वीकार करने तथा उन पर बेचान करने के सम्बन्ध में बैंक का दायित्व : बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देने तथा थोड़े समय के लिये साख देने के उद्देश्य से बिलों को स्वीकार करते हैं अथवा उन पर बेचान (endorsement) करते हैं। किन्तु बैंक के बिलों पर हस्ताक्षर होने के कारण यदि बैंक का ग्राहक उस बिल के पकने पर उसका भुगतान न करे तो बैंक को उस बिल का भुगतान करना पड़ सकता है। वास्तव में इन बिलों का भुगतान बैंक के ग्राहक ही करते हैं और वे ही उनके लिए उत्तरदायी होते हैं। परन्तु यदि वे समय पर बिलों का भुगतान न करें तो बैंक को उनका भुगतान करना पड़ता है और बाद को बैंक अपने ग्राहक से उतनी रकम वसूल करते हैं। किन्तु इस देनी के विपक्ष में लेनी की ओर भी इतनी रकम दिखलाई जाती है; क्योंकि इतनी रकम के लिए ग्राहक बैंक के लिये जिम्मेदार है।

बैंक की लेनी (Assets of a Bank) : लेनी-देनी के लेखे के दाहिनी ओर की मदों तथा उनके आँकड़ों से हमें यह ज्ञात होता है कि जो रुपया बैंक ने अपने ग्राहकों से डिपाजिट (जमा) के रूप में लिया है और हिस्सेदारों से पूँजी के रूप में प्राप्त किया है उसका किस प्रकार उपयोग किया गया है। बैंक की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि बैंक के सचालक अपने कोष (fund) को भिन्न प्रकार के विनियोग (investments) में इस प्रकार लगायें कि बैंक अपनी कार्यशील पूँजी (working capital) पर अधिक से अधिक सूद कमा सकें, साथ ही आवश्यकता पड़ने पर विनियोग को रोकड़ (cash) में परिणत किया जा सके। बैंक की लेनी को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है — (१) चल लेनी (liquid assets) और (२) ऐसी लेनी जो शीघ्र ही रोकड़ में परिवर्तित नहीं की जा सकती। पहली श्रेणी अर्थात् चल लेनी में हम रोकड़ तथा उस विनियोग को रखते हैं जो तुरन्त रोकड़ में परिवर्तित हो सके।

बैंक की लेनी-देनी के लेखे में लेनी को इस प्रकार लिखा जाता है कि जो सबसे अधिक चल लेनी होती है वह सबसे पहले रखी जाती है और सबसे कम चल लेनी सबसे अन्त में लिखी जाती है। उदाहरण के लिए रोकड़ सबसे पहले और इमारतें इत्यादि सबसे अन्त में लिखी जाती हैं।

उसका उपयोग हिस्सेदारों को बोनस हिस्से (bonus shares) देने तथा लाभ की दर को समान करने (equilization of dividend) में किया जा सकता है।

लेनी-देनी के लेखे में जो सुरक्षित कोष प्रकट रूप से दिखलाया जाता है उसके अतिरिक्त बहुत से बैंक गुप्त सुरक्षित कोष (secret reserves) का भी निर्माण करते हैं जिन्हें लेनी-देनी के लेखे में नहीं दिखलाया जाता। गुप्त सुरक्षित कोष से बैंक की आर्थिक स्थिति और भी दृढ होती है और उसकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा बढती है। गुप्त सुरक्षित कोष का निर्माण सम्पत्ति या लेनी का मूल्य कम निर्धारित करके किया जाता है। उदाहरण के लिए एक बैंक की इमारतों का ठीक मूल्य २५० लाख रुपए है और लेनी-देनी के लेखे में केवल ५० लाख रुपए ही दिखलाया जाता है तो २ करोड़ रुपये का गुप्त सुरक्षित कोष निर्माण हो जायगा

उदाहरण के लिए यदि बैंक की प्रतिभूति (security) का मूल्य ऊँचा हो गया है तो बैंक लेनी-देनी के लेखे में प्रतिभूति को ऊँचे मूल्य पर न दिखा कर पूर्व मूल्य पर दिखा कर गुप्त सुरक्षित कोष निर्माण कर सकता है। इस प्रकार गुप्त सुरक्षित कोष का उपयोग ऐसे समय पर किया जा सकता है जब कि बैंक को विशेष हानि उठानी पडे या आर्थिक मदी (economic depression का समय हो।

चालू खाते तथा अन्य खाते (Current Account and Othe Accounts) • जो रुपया बैंक में सर्व साधारण जमा करते हैं वह इस शीर्षक दिखलाया जाता है। यह बैंक की सबसे महत्त्वपूर्ण देनी होती है। बैंक जमा में पाई हुई इस धन राशि को अधिक सूद पर लगा देता है और इससे ला कमाता है। किन्तु इस जमा किये रुपये को लाभदायक ढग से लगाने में बैंक यह ध्यान रखना पड़ता है कि जमा करने वालों ने जो धन राशि बैंक के पा अमानत के रूप मे रक्खी है वह सुरक्षित रहे, उसकी सुरक्षा को खतरा न पहुँचे

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बैंक चालू खाते मे रुपया लेते हैं जमा करने वाला जब चाहे चेक काट कर इस खाते में से रुपया निकाल सक है। इसके अतिरिक्त मुद्दती जमा भी बैंक स्वीकार करते हैं। मुद्दती जमा ए निश्चित समय का नोटिस देने के उपरान्त ही निकाली जा सकती है। इस अतिरिक्त हमारे देश मे बैंक सेविंग्स डिपाज़िट लेते हैं और कैश सर्टिफि भी वेचते हैं। सेविंग्स डिपाज़िट में से रुपया भी सप्ताह में एक या दो बार निकाला जा सकता है। कुछ बैंक सेविंग्स खाते पर भी चेक काटने की सुवि देते हैं, परन्तु कुछ बैंक यह सुविधा नहीं देते। यही नहीं सेविंग्स खाते में

बार में अधिक से अधिक कितना रुपया निकाला जा सकता है यह भी निर्धारित कर दिया जाता है। सेविंग्स खाते में कुल अधिक से अधिक कितना रुपया जमा किया जा सकता है यह भी निश्चित होता है। कैश सर्टिफिकेट वर्षों के लिए या ५ वर्षों के लिये होते हैं।

बिलों को स्वीकार करने तथा उन पर बेचान करने के सम्बन्ध में बैंक का दायित्व : बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देने तथा थोड़े समय के लिए साख देने के उद्देश्य से बिलों को स्वीकार करते हैं अथवा उन पर बेचान (endorsement) करते हैं। किन्तु बैंक के बिलों पर हस्ताक्षर होने के कारण यदि बैंक का ग्राहक उस बिल के पकने पर उसका भुगतान न करे तो बैंक को उस बिल का भुगतान करना पड़ सकता है। वास्तव में इन बिलों का भुगतान बैंक के ग्राहक ही करते हैं और वे ही उनके लिए उत्तरदायी होते हैं। परन्तु यदि वे समय पर बिलों का भुगतान न करें तो बैंक को उनका भुगतान करना पड़ता है और बाद को बैंक अपने ग्राहक से उतनी रकम वसूल करते हैं। किन्तु देनी के विपक्ष में लेनी की ओर भी इतनी रकम दिखलाई जाती है; क्योंकि इतनी रकम के लिए ग्राहक बैंक के लिये जिम्मेदार है।

बैंक की लेनी (Assets of a Bank) : लेनी-देनी के लेखे के दाहिनी ओर की मदों तथा उनके आँकड़ों से हमें यह ज्ञात होता है कि जो रुपया बैंक ने अपने ग्राहकों से डिपाज़िट (जमा) के रूप में लिया है और हिस्सेदारों से पूँजी के रूप में प्राप्त किया है उसका किस प्रकार उपयोग किया गया है। बैंक की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि बैंक के संचालक अपने कोष (fund) को भिन्न प्रकार के विनियोग (investments) में इस प्रकार लगायें कि बैंक अपनी कार्यशील पूँजी (working capital) पर अधिक से अधिक सूद कमा सकें, साथ ही आवश्यकता पड़ने पर विनियोग को रोकड़ (cash) में परिणत किया जा सके। बैंक की लेनी को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :— (१) चल लेनी (liquid assets) और (२) ऐसी लेनी जो शीघ्र ही रोकड़ में परिवर्तित नहीं की जा सकती। पहली श्रेणी अर्थात् चल लेनी में हम रोकड़ तथा उस विनियोग को रखते हैं जो तुरन्त रोकड़ में परिवर्तित हो सके।

बैंक की लेनी-देनी के लेखे में लेनी को इस प्रकार लिखा जाता है कि जो सब से अधिक चल लेनी होती है वह सबसे पहले रक्खी जाती है, और सबसे कम चल लेनी सबसे अन्त में लिखी जाती है। उदाहरण के लिए रोकड़ सबसे पहले और इमारतें इत्यादि सबसे अन्त में लिखी जाती हैं।

बैंक के लेखे मे लेनी की ओर रोकड़, रिजर्व बैंक में शेष (balance with reserve bank), ग्राहकों को ऋण, विनियोग तथा भुनाये हुए बिलों के सम्बन्ध में हम विस्तार पूर्वक आगे लिखेंगे। बिलों को स्वीकर करने तथा उन पर बेचान (endorsement) करने के सम्बन्ध में ग्राहकों का जो दायित्व है उसके सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं। यह वह राशि (रकम) है जिसके मूल्य के बिल बैंक ने अपने ग्राहकों के बदले में स्वीकार किये हैं। अस्तु, देनी और लेनी दोनों ओर ही यह रकम दिखलाई जाती है। दोनों ओर यह रकम बराबर होती है।

बैंक की इमारतें तथा अन्य अचल सम्पत्ति एक प्रकार का अचल विनियोग (fixed investment) होता है जो शीघ्र ही रोकड़ में परिणत नहीं किया जा सकता। अधिकतर अच्छे बैंक प्रति वर्ष मूल्य-ह्रास (depreciation) के द्वारा इमारतों और अन्य सम्पत्ति के मूल्य को बहुत घटा देते हैं। इनका जो मूल्य लेनी की ओर लिखा जाता है वह इनके वास्तविक मूल्य से कहीं बहुत कम होता है और इस प्रकार यह बैंक गुप्त सुरक्षित कोष का निर्माण करते हैं।

अब हम यहाँ सक्षेप में उन बातों पर विचार करेंगे जिनका हमें किसी बैंक की लेनी-देनी के लेखे का अध्ययन करते समय ध्यान रखना चाहिए। बैंक के लेनी-देनी के लेखे मे हमें तीन बातों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए :— (१) बैंक के लाभ देने की शक्ति, (२) सुरक्षा, (३) बैंक के कारबार का स्वरूप। इन तीन बातों का अध्ययन करने के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा।

(१) बैंक के लाभ देने की शक्ति : बैंक के लाभ देने की शक्ति का अनुमान लगाने के लिए हमें पिछले कुछ वर्षों में बैंक ने कितना लाभ (dividend) बाँटा है इसको जानना होगा, तथा उसका सुरक्षित कोष (reserve fund), लाभ समकारी कोष (dividend equalisation fund) तथा अविभाजित लाभ (undivided profits) पहले से बढ रहा है अथवा घट रहा है। यदि पिछले वर्षों मे लाभ एक समान दिया गया है तथा सुरक्षित कोष, लाभ समकारी कोष तथा अविभाजित लाभ की रकम प्रतिवर्ष बढती जा रही है तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि बैंक की लाभ देने की शक्ति अच्छी है। इसके अतिरिक्त बैंक की हिस्सा पूँजी तथा डिपाज़िट का क्या अनुपात है इससे भी बैंक की लाभ देने की शक्ति का पता लगता है। यदि जमा (डिपाज़िट) हिस्सा-पूँजी को देखते बहुत अधिक है तो बैंक की लाभ देने की शक्ति अधिक होगी।

(२) सुरक्षा तथा तरलता (Safety and Liquidity) : बैंक की [illegible]ा (safety) तथा तरलता (liquidity) को जानने के लिए यह जानना [आ]वश्यक है कि डिपाजिट और विनियोग तथा दिए हुए ऋण का क्या [सम्ब]न्ध है। अर्थात् विनियोग इस प्रकार के हैं कि जो शीघ्रता पूर्वक रोकड़ में [परिव]र्तित किये जा सकते हैं अथवा नहीं, और ऋण डिपाजिटों की तुलना में बहुत [अध]िक तो नहीं हैं। बैंक का सुरक्षित कोष समुचित है अथवा नहीं। इसके [अ]तिरिक्त बैंक की सुरक्षा को जानने के लिए उसकी हिस्सा पूँजी और जमा [(डिप]ाज़िट) का क्या सम्बन्ध है। यदि पूँजी डिपाज़िट को देखते हुए यथेष्ट है तो [सुर]क्षा अच्छी है।

(३) बैंक के कारबार का रूप : यह जानने के लिए कि बैंक का [का]रबार ठीक ढग से चल रहा है अथवा नहीं, हमें देखना होगा कि डिपाजिट [औ]र दिए हुए ऋण का क्या सम्बन्ध है तथा विनियोग और डिपाजिट का क्या [सम्ब]न्ध है। यदि डिपाजिट पहले से बढ रहे हों और विनियोग तथा दिया हुआ [ऋ]ण भी पहले से बढ रहा हो तो यह समझना चाहिये कि बैंक का कारबार [बढ़] रहा है।

ऊपर की बातें तो केवल सकेत मात्र हैं जिनका हमें किसी बैंक का अध्ययन [कर]ते समय ध्यान रखना चाहिये, किन्तु उसके लिये कोई एक नियम नहीं बतलाया [जा] सकता। किसी एक बैंक की दृढता का अनुमान करने के लिये हमें ऊपर की [बा]तों का ध्यान रखते हुए उसकी तुलना उस देश के प्रथम श्रेणी के बैंकों से [क]रनी चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना चाहिए कि बैंक डिपाजिट [प]र कितना सूद देता है। यह जमा अर्थात् डिपोज़िटों की रकम तथा सूद के [रू]प में कितनी रकम दी गई है उसको मालूम करने से ज्ञात हो सकता है। जितनी [ही] डिपोजिटों पर कम सूद की दर दी गई हो उतना ही बैंक को अच्छा समझना [चा]हिए। इसके अतिरिक्त दिये हुए ऋण पर तथा विनियोग पर जितनी ही कम [आम]दनी सूद की दर होगी उतना ही बैंक को अच्छा समझना चाहिए। इसका [अ]र्थ यह है कि बैंक ने अपना रुपया सुरक्षित स्थान पर लगाया है और बैंक की [स्थि]ति अच्छी है।

परिच्छेद ४२

विनियोग नीति तथा लेनी

(Investment Policy and Assets)

इससे पहले कि हम बैंक की लेनी के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक लिखें यह आवश्यक है कि बैंक की विनियोग नीति का अध्ययन कर लें। क्योंकि बैंक जिस प्रकार अपने रुपये को लगावेगा उस पर ही यह निर्भर होगा कि बैंक की लेनी या सम्पत्ति किस प्रकार की होगी। बैंक के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह अपनी पूँजी तथा जमा (deposit) को इस प्रकार लगावे कि वह अधिक से अधिक आय प्राप्त कर सके, साथ ही उसके विनियोग ऐसे हों जो आवश्यकता पड़ने पर शीघ्र ही रोकड़ में परिणत किए जा सकें। दूसरे अर्थों में उसकी लेनी तरल हो।

विनियोग नीति के मुख्य आधार : सभी देशों में बैंक एक सी नीति नहीं वर्तते। जिस देश की जैसी आर्थिक दशा होती है उसी प्रकार की नीति बैंक अपनाते हैं। प्रत्येक देश में डिपाजिट तथा ऋण सम्बन्धी नीति एकसी नहीं हो सकती। यहाँ तक कि एक देश के भिन्न भागों में डिपाज़िट का रूप तथा ऋण का रूप भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए भारत और ब्रिटेन की स्थिति में बहुत अन्तर है। भारत में चेक (cheque) तथा बिल का व्यवहार ब्रिटेन की तुलना में बहुत कम है। इसके अतिरिक्त एक ही देश में, गाँवों तथा व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्रों में, बैंक को भिन्न-भिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है। गाँवों को ऋण अपेक्षाकृत अधिक समय के लिए और कुछ थोड़ी सी आवश्यकताओं के ही लिए दिए जाते हैं क्योंकि वहाँ सबों का एक ही धंधा (अर्थात् खेती) होता है। किन्तु औद्योगिक केन्द्रों तथा व्यापारिक केन्द्रों में ऋण बहुत से कार्यों के लिए दिए जाते हैं। इन सब बातों का प्रभाव बैंक की विनियोग नीति (investment policy) पर पड़ता है।

जब कोई बैंक अपने रुपये को कहीं लगाता है तो उसको तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है :— (१) सूद की आमदनी, (२) रुपया सुरक्षित रहे और (३) रुपया बहुत लम्बे समय के लिए अटक न जाय। संक्षेप में,

इन कह सकते हैं कि बैंक को अपना रुपया लगाते समय आय, सुरक्षा और तरलता (liquidity) का ध्यान रखना पड़ता है।

हम यह न भूल जाना चाहिए कि बैंक एक व्यापारिक संस्था है अतएव वह अपने हिस्सेदारों के लिए अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहता है। उनका मुख्य ध्येय अधिकतर लाभ कमाना है। किन्तु बैंक के पास जो कोष (fund) होता है उसका अधिकांश भाग उसका न होकर जमा करने वालों का होता है जिसे वे बैंक के पास धरोहर के रूप में रख देते हैं। अस्तु, बैंक उस कोष को ऐसी जगह नहीं लगा सकता जहाँ उसके मारे जाने का खतरा हो। बैंक को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है कि उसका लगाया हुआ रुपया सुरक्षित रहे। अतएव बैंक रुपया लगाने में अनावश्यक और अधिक खतरा नहीं उठा सकता। इसके अतिरिक्त क्योंकि बैंक की अधिकतर डिपाजिट इच्छानुसार जब चाहे निकाली जा सकती है, इस कारण बैंक को अपनी यथेष्ट लेनी तरल रखनी पड़ती है, जिससे जब आवश्यकता पड़े उन्हें रोकड़ में परिणत करके जमा करने वालों को उनका रुपया वापस किया जा सके।

बैंकिंग के कारबार में ये तीन आधारभूत सिद्धान्त हैं और इन तीनों का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक बैंक इन तीनों आधारभूत सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर कार्य नहीं करता तब तक कभी सफल नहीं हो सकता। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बैंक का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना है, और बैंक दूसरों के जमा किए हुये रुपये को व्यापारियों को ऋण स्वरूप देकर लाभ कमाता है। इस कारण यह नितान्त आवश्यक है कि बैंक में रुपया जमा करने वालों को बैंक का पूरा भरोसा तथा विश्वास हो। बैंक रुपया जमा करने वाले में अपने प्रति विश्वास तभी उत्पन्न कर सकता है जब रुपया जमा करने वाले के माँगने पर उनका रुपया तुरन्त देने में समर्थ हो। जमा करने वालों को माँगने पर नकद रुपया देने की क्षमता तभी हो सकती है जब बैंक की लेनी तरल हो। बैंक ने अपना रुपया इस प्रकार बहुत लम्बे समय के लिए न अटका दिया हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसके पास नकद रुपया देने को न रहे।

किन्तु तरलता का अर्थ केवल यह नहीं है कि लेनी को जब चाहे तब नकद रुपये में परिणत किया जा सके। इसके साथ ही तरलता का अर्थ यह भी है कि लेनी को बेच कर अथवा दूसरे बैंकों अथवा व्यक्तियों को देकर नकद रुपये परिणत करने में घाटा न उठाना पड़े। अस्तु, तरलता का अर्थ यह है कि लेनी सुगमता पूर्वक नकद रुपये में परिणत की जा सके, साथ ही उनको नकद

रुपये में बदलने में कोई घाटा भी न हो। इसको हम एक उदाहरण से प्रकार समझ सकते हैं। सरकार की लम्बे समय की प्रतिभूति (security) को जब चाहें हम बाजार में बेच सकते हैं, क्योंकि सरकारी सिक्यूरिटी के लिए बाजार में ग्राहक सदैव मिल सकते हैं, अतएव सरकारी सिक्यूरिटी को सरलता से रोकड़ में परिणत किया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जिस मूल्य पर सिक्यूरिटी खरीदी गई थी उसी मूल्य पर वह बेची जा सकेगी। हो सकता है कि वह अधिक मूल्य पर बिके अथवा कम मूल्य पर बिके। यदि वह कम मूल्य पर बिकती है तो बैंक को हानि होगी और यदि वह अधिक मूल्य पर बिकी तो बैंक को लाभ होगा। हाँ, यदि बैंक अन्त तक ठहरे जब सरकार उस ऋण को चुकावेगी तब अवश्य बैंक को हानि नहीं हो सकती। अस्तु, सरकारी सिक्यूरिटी यद्यपि रोकड़ में शीघ्र ही परिवर्त्तित की जा सकती है, किन्तु उसमें भी हानि की सम्भावना बनी रहती है। इस दृष्टि से तो सरकारी सिक्यूरिटी भी आदर्श लेनी नहीं है परन्तु फिर भी सरकारी सिक्यूरिटी एक उत्तम लेनी है। केवल रोकड़ ही आदर्श तरल लेनी है। जब बैंक किसी व्यक्ति की साख पर उसे ऋण देता है, यदि वह व्यक्ति अत्यन्त विश्वसनीय, भरोसे वाला और ईमानदार है और इस जोखिम को कि उसके मर जाने से बैंक को हानि होगी उसका जीवन बीमा कराकर दूर कर दिया गया है तो उसको ऋण देने से जो लेनी उत्पन्न हुई उसमें हानि की जोखिम तो नहीं रहती किन्तु उस लेनी को आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त रोकड़ में परिणत नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक लेनी को रोकड़ में परिणत करने का प्रश्न है हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि कुछ लेनी ऐसी होती हैं कि साधारण समय में तो वे सरलता पूर्वक रोकड़ मे परिणत की जा सकती हैं, वे बाजार में आसानी से बिक जाती हैं, किन्तु असाधारण समय में, उदाहरण के लिये जब घोर आर्थिक मंदी (economic depression) हो अथवा जब सर्व साधारण बैंकों से अपना रुपया निकालने के लिए दौड़ रहे हों, तब ये लेनी भी आसानी से नहीं बिकतीं। और यदि सभी बैंक अपनी लेनी बाजार में एक साथ बेचना चाहेंगे तो उनका मूल्य बहुत गिर जावेगा। जब बैंकों पर इस प्रकार का संकट आता है तो राष्ट्र का केन्द्रीय बैंक उनकी सहायता के लिए आगे आता है। केन्द्रीय बैंक इन बैंकों की लेनी की जमानत पर उन्हें रुपया देता है और इस प्रकार बैंकों में रुपया जमा करने वालों की घबराहट को दूर कर देता है और साधारण स्थिति को वापस लाने का प्रयत्न करता है। किन्तु केन्द्रीय बैंक केवल कुछ विशेष प्रकार की लेनी की जमानत पर ही बैंकों को ऋण देता है और कुछ विशेष प्रकार

में लेनी को ही भुनाता है। केन्द्रीय बैंक के इस सम्बन्ध में निश्चित नियम होते हैं कि वह किस प्रकार की लेनी को स्वीकार करेगा। अस्तु, बैंकों को अपना रुपया लगाते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि केन्द्रीय बैंक किस प्रकार की लेनी को स्वीकार करेगा। क्योंकि जब बैंक पर असाधारण संकट आएगा तो वही लेनी काम आवेगी जो केन्द्रीय बैंक को स्वीकार होगी; क्योंकि उस समय बैंक की अन्य लेनी बाजार में नहीं बिक सकेगी। अस्तु, बैंकों की विनियोग नीति अर्थात् रुपया लगाने की नीति पर केन्द्रीय बैंक का बहुत प्रभाव पड़ता है।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि बैंक अपना रुपया लगाते समय लाभ, सुरक्षा और तरलता का ध्यान रखता है, किन्तु लाभ की अपेक्षा सुरक्षा और तरलता अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी ने ठीक ही कहा है कि सुरक्षा के पीछे पड़ने में बैंक को कोई खतरा नहीं होता वरन् अधिक लाभ के पीछे पड़ने से खतरा उत्पन्न हो जाता है। जब सुरक्षा और तरलता का पूरी तरह प्रबन्ध हो ले तभी लाभ की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बैंक अपने कोष को इस प्रकार लगाता है कि कुछ कोष तो नक़दी में रहे जिससे ग्राहकों की दैनिक माँग पूरी हो सके। नक़दी या रोकड़ सबसे तरल लेनी होती है और क्रमशः बैंक कम तरल लेनी में अपना रुपया लगाता है। कुछ लेनी ऐसी होती है कि जो शीघ्र ही नक़दी में परिणत की जा सकती है और अन्त में कुछ लेनी अचल सम्पत्ति के रूप में होती है। बैंक को इस बात का पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि कितना कोष किस प्रकार की लेनी में लगाया जावे। इसको बैंक की "विभागीय नीति (portfolio policy)" भी कहते हैं। अब हम यहाँ बैंक की मुख्य लेनी के सम्बन्ध में लिखेंगे।

(१) मुख्य कोष (Primary Reserve): इसमें नक़दी जो बैंक में रहती है अन्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक के पास जो शेष (balance) है अर्थात् रक्खा गया है और जो चेक इत्यादि समाशोधन (clearing) या वसूली के लिए गए हैं सम्मिलित होते हैं।

(२) गौण कोष (Secondary): इसमें याचना द्रव्य (call-money) वह ऋण जो बहुत थोड़े दिनों (एक सप्ताह से कम) के लिए दिया गया हो अर्थात् अल्प सूचना-द्रव्य (money at short notice) तथा खरीदे हुए तथा भुनाये हुए बिल सम्मिलित होते हैं।

(३) विनियोग (investments)

(४) ऋण (loans) तथा अग्रिम-ऋण (advances) सुरक्षित (secured) भी होता है और अरक्षित (unsecured) भी होता है।

(५) स्थायी अचल सम्पत्ति (fixed assets) इमारत, फर्नीचर, सेफ तथा अन्य अचल सम्पत्ति।

(६) वे लेनी जिनके विरुद्ध बैंक का दायित्व है। उदाहरण के लिए ग्राहकों के बिलों पर वेचान करना अथवा उनको स्वीकार करना।

हम पहले चार के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। किन्तु इनके बारे मे विचार करने से पूर्व हमें बैंक के कारबार में किन बातों का मुख्य रूप से विचार करना पड़ता है उनका वर्णन करेंगे।

बैंक का मुख्य कार्य साख देना अर्थात् ऋण देना है, अस्तु बैंक का कारबार साख देने तथा साख सम्बन्धी अन्य बातों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। साख देने का कार्य ठीक ढग से करने के लिए बैंक के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सम्भावित ऋण लेनेवालों की ईमानदारी, विश्वसनीयता, व्यापारिक कुशलता तथा आर्थिक स्थिति का ठीक पता लगावे जिससे ऋण देने मे घाटा न हो। यदि बैंक ऊपर लिखी बातों की जॉच किए बिना ही ऋण दे-दे तो रुपये के मारे जाने का भय रहता है और बैंक को हानि उठानी पड़ती है। बैंक का ऋण देने के सम्बन्ध मे मुख्य कार्य यह है कि वह साख की जोखिम (credit risk) को कम से कम कर दे।

यह सभी जानते हैं कि बैंक को अपना रुपया लगाने मे उसकी सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना चाहिए। परन्तु सच तो यह है कि कोई भी ऐसा विनियोग नही होता जिसमें थोड़ी बहुत जोखिम न उठानी पड़े। यह ठीक है कि सुरक्षित विनियोग (secured investments) में अरक्षित विनियोग (unsecured investments) से कम जोखिम होती है; किन्तु कभी-कभी सुरक्षित ऋण की सुरक्षा भी कर्ज़दार की ईमामदारी पर निर्भर होती है। किन्तु बैंक के अरक्षित ऋण (unsecured loans) भी बहुत अधिक होते हैं, इस कारण बैंक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन कर्ज़दारों की साख की जॉच-पड़ताल करली जावे। किसी-किसी देश मे अरक्षित ऋण बहुत अधिक दिये जाते हैं क्योंकि वे व्यापारिक कार्यों के लिये होते हैं, अतएव वे शीघ्र ही चुका दिए जाते हैं इस कारण व्यापारिक बैंक उन्हें अच्छा समझते हैं। सयुक्तराज्य अमेरिका तथा अन्य उन्नत राष्ट्रों में आधे से अधिक ऋण अरक्षित होते हैं, इस कारण उन्हें एक ऐसा

...ना पड़ता है जो ऋण लेने वालों की साख की जांच-पड़ताल कर
...।

साख के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के साधन : बैंक किसी ...दार की साख को जानने के लिए दो साधनों पर निर्भर रहते हैं :— (१) ...न्तरिक और (२) बाहरी।

१ आभ्यन्तरिक साधन : (अ) ग्राहक के कारबार का लेखा अर्थात् ...का लाभ-हानि खाता (profit and loss account) और लेनी-देनी का ...ा (balance sheet) देखने से।

(क) यदि ग्राहक बैंक का पुराना ग्राहक है तो उसका पुराना इतिहास ...के अपने रेकार्ड से मालूम कर सकता है।

(ख) बैंक के कर्मचारी ग्राहक के कारबार के स्थान पर जाकर उसके ...बार की जाच करके तथा उसके कारबार को स्वय देख कर उसकी साख के ...न्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(ग) ग्राहक से बात करके अथवा उससे पत्र द्वारा पूछ-ताछ करके।

बाहरी साधन (अ) अन्य बैंक से उस ग्राहक के सम्बन्ध में पूछ-...छ करके उसकी साख के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

(क) उन फर्मों से पूछ-ताछ करके जिनसे ग्राहक ने कारबार किया हो।

(ख) उन व्यापारिक संस्थाओं से पूछ-ताछ करने से जो व्यापारियों ... साख के सम्बन्ध में मूल्यवान सामग्री जमा करती हैं ग्राहक की साख का ...ा लगाया जा सकता है।

(ग) साख विनिमय ब्यूरों से पूछने पर।

(घ) अदालती रेकार्ड, समाचार-पत्रों तथा प्रकाशित रिपोर्टों से भी ...पारियों की साख के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

इन सब में कर्जदार के कारबार का आर्थिक लेखा सबसे अधिक महत्त्व-...ूर्ण है। आर्थिक लेखे में लेनी-देनी का लेखा और लाभ-हानि खाता दोनों ही ...म्मिलित है। यदि यह लेखा किसी अधिकारी आय व्यय निरीक्षक (auditor) ...द्वारा प्रमाणित किया गया हो तो और भी अच्छा है। जहा तक हो बैंक को ...पिछले ...वर्षों का आर्थिक लेखा मांगना चाहिए, क्योंकि उनके देखने से यह पता ...चल सकता है कि यह व्यक्ति अपने व्यापार में उन्नति कर रहा है अथवा नहीं। ...यदि ऋण लेने वाला बैंक का पुराना ग्राहक हो तो पिछले रेकार्ड से उसकी ...आर्थिक स्थिति, ईमानदारी, उसकी साख और उसके कारबार के बारे में जान-...कारी प्राप्त करने में बहुत सहायता मिलती है।

भावी कर्जदार की साख की जानकारी प्राप्त करने के बाहरी साधनों में पहले दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बैंक एक-दूसरे को आपस में साख सम्बन्धी सूचनाएँ देते हैं। परन्तु प्रत्येक बैंक इस प्रकार की सूचनाओं को गुप्त रखता है। इस प्रकार बैंक कम व्यय में और सरलतापूर्वक साख की जानकारी प्राप्त कर लेता है। साथ ही वह यह भी जान जाता है कि उस ग्राहक (जो कर्ज लेना चाहता है) ने किसी अन्य बैंक से भी कर्ज ले रक्खा है या नहीं। बैंक किसी व्यापारी की साख के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए व्यापारिक संस्थाओं की भी सहायता ले सकते हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा अन्य योरोपीय देशों में कुछ ऐसी व्यापारिक ऐजेंसियाँ होती हैं जिनका एक-मात्र कार्य यह होता है कि वे प्रमुख व्यापारियों, कम्पनियों, इत्यादि की आर्थिक दशा, उनके कारबार और धंधे के सम्बन्ध में तथा उनकी साख के सम्बन्ध में पूरी जानकारी एकत्रित करती हैं और थोड़ी फीस लेकर बैंक इत्यादि को उस जानकारी को दे देती हैं।

बैंक की लेनी (Bank Assets) रोकड़ या नक़दी बैंक की सब से तरल लेनी होती है और बैंक उसको अपने ग्राहकों की माग को पूरा करने के लिए रखते हैं। रोकड़ के अंदर वह नकद रुपया जो बैंक अपने पास रखता है अथवा जो उसने अन्य बैंक तथा केन्द्रीय बैंकों में जमा कर रक्खा है सभी आ जाता है। उदाहरण के लिए भारतीय व्यापारिक बैंक जो रुपया या कागज़ी नोट अपने पास रखते हैं, और जो रुपया उन्होंने अन्य बैंकों तथा रिज़र्व बैंक में जमा कर रक्खा है सभी सम्मिलित होता है।

लेकिन नकदी वह लेनी है जिससे कुछ भी आय नहीं होती। एक व्यापारिक बैंक का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। इस कारण वह स्वभावतः यह चाहेगा कि उसकी अधिक से अधिक लेनी ऐसी हो जिनमें कुछ आमदनी हो। अतएव वह नकद रुपये की रकम को जितना भी कम कर सकता है उतना कम करेगा। कुछ नकद रुपया तो बैंक को रखना ही पड़ता है क्योंकि बिना नकद रुपया रक्खे बैंक का काम ही नहीं चल सकता। प्रतिदिन बैंक को जमा करने वालों के निकालने पर उन्हें नक़द रुपया देना पड़ता है, उसके लिए बैंक को थोड़ी नकदी रखनी पड़ती है। फिर यदि समाशोधन गृह (clearing house) में बैंक को किसी दिन अधिक देना हो जाता है तो उसे नकदी देकर चुकाना पड़ता है। होता यह है कि केन्द्रीय बैंक में जो उस बैंक का रुपया जमा है उसमें से जितना क्लियरिंग हाउस को देना होता है उतना कम कर दिया जाता है। इस प्रकार बैंक का केन्द्रीय बैंक मे जो शेष है उसमें कमी हो जाती

और हम यह पहले ही कह आये हैं कि जो रुपया केन्द्रीय बैंक में जमा होता
से भी रोकड़ माना जाता है। यह तो साधारण दैनिक नकदी की आवश्य-
है जो बैंक के रोजाना कारबार में काम आती है, किन्तु कुछ नकदी इस
में रखना आवश्यक होती है कि जिससे असाधारण नकदी की माँग को
किया जा सके। कुछ असाधारण नकदी की माँग को तो पहले से ही
ज्ञात किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जब बैंक की छुट्टियाँ होने को
हैं उससे पूर्व नकद रुपये की असाधारण माँग होती है। परन्तु जब ऐसे
णों से नकदी की असाधारण माँग होती है जिनके बारे मे पहले से कुछ
अनुमान नहीं किया जा सकता तब बैंक अपनी रक्षा की दूसरी पंक्ति अर्थात्
ला-द्रव्य (call money), बहुत थोड़े समय के लिए दिए हुए ऋण और
ों पर निर्भर होना है। जैसे ही नकदी की असाधारण माँग हुई कि बैंक
ला द्रव्य तथा अल्पकालीन ऋण को वसूल कर लेता है, नये बिलों को
ना या खरीदना बन्द कर देता है, पुराने बिल पकते जाते हैं और प्रतिदिन
को बहुत अधिक नकद रुपया प्राप्त होता जाता है।

बैंक कितनी रोकड़ रक्खेगा यह बहुत सी बातों पर निर्भर है। उनका
ेख यहा कर देना आवश्यक है। बैंक जिस स्थान में काम कर रहा है वहाँ
स्थानीय स्थिति तथा उसके ग्राहकों के स्वभाव का इस बात पर बहुत बड़ा
व पड़ता है कि बैंक को कितनी रोकड़ या नक़दी रखनी चाहिए।

(१) जिस देश में विनिमय (exchange) बहुत अधिक होता हो और
के द्वारा होता हो वहाँ बैंकों को उन स्थानों की अपेक्षा अधिक नकदी या
ड़ रखनी होगी जहाँ द्रव्य का चलन कम है अथवा द्रव्य की सहायता से
विनिमय होता है। (२) जिस समाज मे चेक का चलन बहुत अधिक होता
र्थात् जहाँ के व्यक्ति अपना लेन-देन सिक्कों या कागजी नोटों द्वारा नहीं
न किन्तु चेक के द्वारा करते हैं वहाँ बैंको को कम नकदी रखनी पड़ती है।
जहाँ चेक का चलन कम होता है और लेना-देना सिक्कों या कागज़ी
नो द्वारा अधिकतर चुकाया जाता है वहाँ बैंकों को अपेक्षाकृत अधिक नकदी
नी पड़ती है। (३) जहाँ समाशोधन गृह अर्थात् क्लियरिंग हाउस मौजूद
है वहाँ बैंकों का काम कम नकदी से चल जाता है। क्योंकि क्लियरिंग हाउस
प्रत्येक बैंक पर काटे गये चेक अन्य दूसरे बैंकों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं।
बैंक सारे चेकों को जो उस पर काटे गए हैं मूल्य न चुका कर केवल अन्तर
का देना पड़ता है जो उस दिन उसके पक्ष या विपक्ष में हो। उदाहरण
लिए एक बैंक को किसी दिन अन्य बैंकों से १२ लाख रुपया लेना है और

होने लगती है, नवम्बर और दिसम्बर से सूद की दर ऊँची उठने लगती है। साधारण तौर पर सूद की दर ½ प्रतिशत से १ प्रतिशत तक बढती है।

भुनाये हुए तथा खरीदे हुए बिल (Bills Discounted and purchased) · इनमें प्रामिसरी नोट, बिल (व्यापारिक) तथा सरकारी हुँडी (treasury bill) सभी सम्मिलित होते हैं। प्रमिसरी नोट तो बैंक ही भुनाते या खरीदते हैं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बिल (international bills) देशीय बिल (inland bill) तथा सरकारी हुण्डी (treasury bills) ही अधिकतर भुनाते या खरीदते हैं। ब्रिटेन मे इनका और जमा (deposit) का अनुपात १२ प्रतिशत से २० प्रतिशत तक होता है। नकद कोष (cash reserve), याचना-द्रव्य, तथा अल्पकालीन ऋण (call-money and short notice) तथा बिल, बैंक की तरल लेनी (liquid assets) होती हैं। ब्रिटेन में इनका अनुपात जमा की तुलना में ३० से ३३⅓ प्रतिशत होता है। भारतवर्ष में बैंक बिलों में अधिक रुपया नहीं लगाते। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में अभी तक बिल बाजार (bill market) का निर्माण नहीं हुआ। हाँ, यहाँ एक्सचेंज बैंक विदेशी बिल अवश्य बहुत अधिक रखते हैं। भारतीय बैंक व्यापारिक बिलों में बहुत कम रुपया लगाते हैं। भारतीय बैंकों द्वारा भुनाये अथवा खरीदे हुए बिलों का डिपाजिट की तुलना मे अनुपात ५ या ६ प्रतिशत के लगभग ही होता है।

विनियोग (Investments) विनियोग बैंकों की चौथी सम्पत्ति होती है। विनियोग से याचना-द्रव्य तथा बिलों की अपेक्षा अधिक सूद की आय होती है। यद्यपि ऋण पर जितना सूद मिलता है उससे तो इस पर कम ही सूद मिलता है। किन्तु साधारणत. उचित सूद पड़ जाता है। जब ऋण की माँग कम हो जाती है तो बैंक अपने कोष को परम प्रतिभूति (gild edged securities) या सरकारी सिक्यूरिटी में लगाता है, और जब ऋण की माँग अधिक होती है तो इन सिक्यूरिटियों को बेचकर रुपया ऋण के रूप में दे दिया जाता है। संयुक्तराज्य और ब्रिटेन में अधिकतर बैंक सरकारी प्रतिभूति सिक्यूरिटी मे ही अपना रुपया लगाते है यद्यपि थोड़ा रुपया अन्य परम प्रतिभूतियों मे भी लगाते हैं। ब्रिटेन मे इनका जमा की तुलना में अनुपात २७ प्रतिशत तथा सयुक्तराज्य अमेरिका में ६० प्रतिशत से भी अधिक है। भारतवर्ष मे भी बैंक इसमें अपने कोष का बहुत बड़ा भाग लगाते हैं। भारतवर्ष मे बैंक अपनी जमा का ४० प्रतिशत इसमे लगाते हैं। इसका कारण यह है कि भारत में बिल बाजार तथा याचना-द्रव्य का अभाव है। इस कारण परम प्रतिभूति ही अधिक उ

[illegible] तरल लेनी मानी जाती है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जहाँ [illegible] इनको नक़दी में परिणत करने का प्रश्न है इनको सरलतापूर्वक नक़दी में [illegible] जा सकता है किन्तु इन पर हानि होने की जोखिम रहती है। क्योंकि [illegible] समय बैंक इनको बेचना चाहता है हो सकता है कि बाज़ार में इनका [illegible] गिर गया हो। अधिकतर भारतीय बैंक सरकारी सिक्यूरिटी, इम्प्रूवमेंट [illegible] पोर्टट्रस्ट तथा म्यूनिस्पैलटियों के बौंड में रुपया लगाते हैं। किन्तु [illegible] दिनों में बैंकों ने मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Com[pa]nies) के हिस्सों और डिबेंचरों (ऋण-पत्र) में भी रुपया लगाना आरम्भ [illegible] दिया है।

ऋण (Loans) : यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि ऋण देना [illegible] का मुख्य कार्य है और इस कार्य के द्वारा ही बैंक का सीधा सम्बन्ध जनता [illegible] स्थापित होता है। जनता तथा व्यापार के लिए बैंक की उपयोगिता उसके [illegible] कार्य से ही नापी जाती है। यदि बैंक धरोहर के रूप में उसके पास जमा [illegible] हुआ रुपया बुद्धिमानी से ऋण के रूप में देता है तो वह समाज की बहु[मूल्य] सेवा करता है। ऋण बैंक की सबसे लाभदायक लेनी है क्योंकि ऋण पर [illegible] को सबसे अधिक सूद मिलता है। यही कारण है कि बैंक जितना अधिक हो [illegible] उतना कोष ऋण के रूप में लगा देना चाहता है। साथ ही उसको इन [illegible] की सुरक्षा के लिए सावधानी करनी पड़ती है। वह ऐसे व्यक्तियों को और [illegible] प्रतिभूति के आधार पर ऋण देता है जिससे रुपये के मारे जाने का तनिक [illegible] भी न रहे। यदि बैंक ऋण देने में बहुत उदारता से काम लेता है तो बट्टे [illegible] (Bad debts) के कारण उसको बहुत हानि उठानी पड़ सकती है और [illegible] ऋण देने में अत्यधिक भयभीत रहता है तो उसका कोष बेकार पड़ा [illegible] और आय प्राप्त नहीं कर सकेगा। अपने कोष को सावधानी से ऋण [illegible] में अच्छे कर्जदारों को उठाने की योग्यता ही बैंक के सञ्चालकों की सफ[लता] का कारण बनती है। यदि किसी बैंक की ऋण देने की नीति ठीक है तो [illegible] सफलता में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता।

[illegible] ग्राहकों को दिये हुए ऋण से बैंक को सबसे अधिक लाभ होता है [illegible] लेनी सबसे कम तरल है अर्थात् आवश्यकतानुसार नक़दी में परिणत [illegible] सकता। यद्यपि नाम के लिए बैंक ऋण देते समय यह शर्त [illegible] [illegible] माँगने पर कर्ज लेने वाले को रुपया देना होगा परन्तु व्यवहार में [illegible] होता है कि बैंक की सूचना मिलते ही कर्जदार रुपया देने का प्रबन्ध [illegible] उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि किसी व्यापारी ने कपास

खरीदने के लिये ऋण लिया है तो वह बैंक के माँगने पर उस ऋण को न चुका सकता, क्योंकि जब तक वह कपास को बेचकर रुपया वसूल न कर ले तब तक वह बैंक का कर्ज चुकाने में असमर्थ होगा। अस्तु, कोई भी बैंक आवश्यकता पड़ने पर अपने कर्जदारों से रुपया नहीं पा सकता और न वह कर्जदारों पर निर्भर ही रह सकता है। यदि सभी बैंक अपने-अपने कर्जदारों से ऋण को चुकाने के लिये दबाव डालने लगे तो और भी अधिक आर्थिक संकट (economic crisis) उत्पन्न हो जावे और जनता का बैंकों पर से विश्वास उठ जावे। प्रत्येक व्यक्ति ऐसी दशा में अपना जमा किया हुआ रुपया निकालने के लिये और भी उत्सुक और आतुर हो उठे और बैंकों से अपना रुपया निकालने के लिये दौड़ पड़े। उस दशा में बैंकों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

ऋण बहुत से रूपों में दिये जाते हैं। किन्तु बिना प्रतिभूति या ज़मानत के कोई ऋण नहीं दिया जाता। जमानत या प्रतिभूति भी कई प्रकार की होती है। ऋण के स्वरूप और ज़मानत में चाहे कितनी भिन्नता हो किन्तु व्यापारिक बैंक थोड़े ही समय के लिए ऋण देते हैं। कोई भी ऋण अधिक लम्बे समय के लिये नहीं दिया जा सकता। ब्रिटेन और संयुक्तराज्य में बैंक थोड़े ही समय के लिये ऋण देते हैं और भारतीय बैंक भी उसी नीति को अपनाये हुए हैं। भारतवर्ष, ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य में इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है कि व्यापारिक बैंकों का यह कार्य नहीं है कि वे अपने ग्राहकों को अधिक लम्बे समय के लिये ऋण दें या अचल पूँजी की व्यवस्था करें। उनका काम तो केवल इतना है कि वे जनता को थोड़े समय के लिये पूँजी दें अथवा कार्यशील पूँजी की व्यवस्था करें। जब कोई व्यक्ति बैंक से ऋण लेने का प्रस्ताव करता है तो बैंक पहले तो यह देखता है कि ऋण कितने समय के लिये चाहिये, और दूसरी बात यह देखता है कि उस समय के व्यतीत हो जाने पर उसकी अदायगी की क्या सम्भावना है। बैंक को इस बात का अधिक महत्त्व होना चाहिये कि समय व्यतीत होने पर ऋण के चुकाये जाने की कितनी सम्भावना है। बैंक के लिये ऋण की तरलता अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसे अच्छी जमानत और अच्छे सूद के लालच में न पड़ना चाहिये और लम्बे समय के लिये रुपया न फसाना चाहिये। इसके अतिरिक्त बैंक इस बात की भी जाँच करता है कि ऋण किस लिए लिया जा रहा है। बैंक जोखिम के व्यापारों तथा सट्टे के लिए रुपया देने से हिचकता है। वह इस प्रकार के ऋण लेने वालों को उत्साहित नहीं करता। संसार के सभी मुख्य देशों में व्यापारिक बैंक जमा किये हुए कोष का ५० प्रतिशत ऋण के रूप

देते हैं। भारत में ५० प्रतिशत से भी अधिक ऋणों के रूप में दे दिया जाता है।

ऋण का स्वरूप : बैंक अपने ग्राहकों को तीन प्रकार से ऋण देते हैं। पहला साधारण कर्ज के रूप में, दूसरा नकद साख (cash credit) के रूप में और तीसरा अधिविकर्ष (over draft) के रूप मे। पिछले दो प्रकार के ऋण चालू खाते (current account) के द्वारा दिये जाते हैं और साधारण ऋण का हिसाब बिलकुल अलहदा रहता है। यदि किसी व्यक्ति का बैंक में खाता नहीं है वह भी बैंक से साधारण ऋण ले सकता है। यद्यपि व्यवहार में बैंक साधारणतः उन लोगों को ऋण नहीं देते जो उसके ग्राहक नहीं होते अर्थात् जिनका बैंक में खाता नहीं होता। नकद साख अथवा अधिविकर्ष लेने के लिए बैंक के साथ चालू खाता होना आवश्यक है। यदि देखा जावे तो व्यवहार में नकद साख और ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) एक से होते हैं। दोनों में ही ग्राहक को यह सुविधा दी जाती है कि वह जितना रुपया उसके हिसाब में है उससे अधिक निकाल सके। वह कितना रुपया अधिक निकाल सकेगा यह पहले निश्चित हो जाता है। जब किसी को बैंक साधारण ऋण देता है तो ऋण का हिसाब अलग खोला जाता है और जितना रुपया कर्ज देना तय हुआ है उतना बैंक कर्ज लेने वाले के ऋण खाते में उसके नामे कर देगा। और या तो कर्ज लेने वाला उतना रुपया नकद बैंक मे ले लेगा अथवा उतना रुपया उसके चालू खाते में उसके नाम जमा कर दिया जावेगा। कर्ज लेने वाला जब चाहे तब उसमें से निकाल सकेगा। ऋण के पहले दो स्वरूप अर्थात् नकद साख और ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) अधिक सुविधा जनक और प्रचलित हैं, क्योंकि इनमें ग्राहक को उतनी ही रकम पर सूद देना पड़ता है जितनी कि वह निकालता है। पूरी रकम पर (जितने तक वह निकाल सकता है) सूद नहीं देना पड़ता। साधारण ऋण में कर्ज लेने वाले को पूरी रकम पर सूद देना पड़ता है। उदाहरण के लिये मान लें कि एक व्यापारी को कुछ खरीद करनी है और उसके चालू खाते में केवल दस हजार रुपया है। वह बैंक के पास जाता है और पुराना ग्राहक होने के कारण बैंक उसको दस हज़ार रुपये की नकद साख अथवा ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) दे देता है, अर्थात् वह अब अपने चालू खाते से २० हजार रुपये तक निकाल सकता है। किन्तु आगे चलकर ग्राहक ने दस हजार में से केवल पाँच हजार रुपये ही अधिक निकाले तो उसको केवल पाँच हजार रुपये ही पर सूद देना होगा। परन्तु यह भी हो सकता है कि ग्राहक दस हजार रुपये (जो उसके चालू खाते में जमा था) से अधिक निकाले ही

नहीं और बैंक ने जो उसको नकद साख या ओवर ड्राफ्ट (अधिविकर्ष) दिया है उसके लिये नकद कोष रखना पड़े और उस प्रकार बैंक की उस रकम पर सूद की हानि हो। इस हानि से बचने के लिए बैंक नकद साख या ओवर ड्राफ्ट देते समय एक न्यूनतम रकम रख देते हैं जिस पर ग्राहक को सूद हर हालत में देना होगा चाहे वह उसको निकाले या न निकाले। यह कुल रकम (जिसके लिये नकद साख या ओवर ड्राफ्ट दिया गया है) की एक तिहाई या एक-चौथाई होती है।

साधारण ऋण तथा नकद साख औरओवर ड्राफ्ट में एक भेद यह कि साधारण ऋण अधिकतर लम्बे समय के लिए (अधिक लम्बे समय के लिए नहीं) लिए जाते हैं और नकद साख तथा ओवर ड्राफ्ट अपेक्षाकृत कम समय के लिए। साधारण ऋण अपने निज व्यय के लिए अथवा धधों के लिए उत्पन्न मशीन इत्यादि की ज़मानत पर लिए जाते हैं। ओवर ड्राफ्ट कम्पनियों के हिस्सों, सोना, कपास इत्यादि की ज़मानत पर अथवा कर्जदार के प्रोनोट पर बिना किसी गारंटी करने वाले के हस्ताक्षर के ही दे दिया जाता है। परन्तु बिना आनुसगिक जमानत (Collateral Security) के प्रोनोट पर ओवर ड्राफ्ट नहीं दिया जाता। नकद साख, खेती की पैदावार, अन्य वस्तुओं तथा तैयार माल की जमानत पर दी जाती है। नकद साख लेने वाले को अपना माल बैंक के गोदामों में रख देना पड़ता है।

जमानत या प्रतिभूति (Security)का स्वरूप : ग्राहक की व्यक्तिगत जमानत पर भी उसे ओवर ड्राफ्ट या नकद साख दे दी जाती है और उससे प्रोनोट लिखा लिया जाता है। यह अरक्षित कर्ज (Unsecured) कहलाता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बैंक अपने रुपये की सुरक्षा का ध्यान किये बिना ही ऋण दे देता है। इस प्रकार ऋण की जमानत क़र्जदार की तत्कालीन आर्थिक स्थिति तथा भविष्य में कर्जदार के व्यापार या कारबार की क्या सम्भावना है इस पर निर्भर होती है। इस प्रकार का ऋण देने से पूर्व बैंक कर्ज़दार से पिछले कुछ वर्षों का उसका लाभ-हानि खाता (profit and loss account) तथा लेनी-देनी का लेखा (balance sheet) मांगता है इनका एक विश्वसनीय आय-व्यय निरीक्षक द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है। बैंक इनका अध्ययन करता है और कर्ज लेने वाले की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाता है। इसके अतिरिक्त उस कर्जदार की बाज़ार में कैसी साख तथा उसका चरित्र कैसा है इसकी जानकारी प्राप्त करता है। यदि कर्ज लेने वाला बैंक का ग्राहक रहा है तो उसकी ईमानदारी, उसके कारबार की स्थि

[illegible] आर्थिक अवस्था का बैंक को ज्ञान होता ही है। इन पर अवलम्बित होकर [illegible] व्यक्तिगत जमानत पर ऋण देना स्वीकार करता है। संक्षेप में, हम कह सकते [illegible] कि ऋण देते समय बैंक कर्ज लेने वाले के चरित्र, योग्यता तथा पूँजी इन [illegible] बातों की जानकारी प्राप्त करता है।

यदि बैंक कर्ज़ लेने वाले की व्यक्तिगत जमानत को यथेष्ट नहीं समझता [illegible] और कर्ज माँगने वाला कोई अन्य आनुसंगिक जमानत भी नहीं दे सकता तो [illegible] गारन्टी माँगता है। ऐसा कोई व्यक्ति जिसकी साख में बैंक का विश्वास हो [illegible] माँगने वाले की गारंटी दे अर्थात् यदि कर्ज़ मांगने वाला रुपया न चुकावे तो [illegible] देने वाला व्यक्ति बैंक के लिए उत्तरदायी होगा अर्थात् उस रुपये को [illegible] चुकावेगा। गारंटी कर्ज़ माँगने वाले के लिए भी सुविधा जनक है और [illegible] के लिए भी एक अच्छी ज़मानत होती है। इसका एक दुर्गुण भी है। यदि [illegible] का लेख अच्छे प्रकार से ठीक-ठीक नहीं तैयार किया गया है तो आगे [illegible] बहुत झंझट खड़ी हो सकती है और इस जमानत की उपयोगिता [illegible] ज़मानत करने वाले की आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर होती है। यदि गारंटी [illegible] वाला दिवालिया हो जावे तो वह बेकार हो जाती है। बैंक को गारंटी [illegible] वाले के चरित्र, उसकी योग्यता तथा साख का पता भी लगाना पड़ता है। [illegible] जब गारंटी पत्र पर गारंटी करने वाले से हस्ताक्षर कराने हों तब उसे [illegible] शर्तों को बता देना चाहिये जिससे वह आगे चलकर यह न कह [illegible] कि उसे शर्तों का पता न था अथवा गारंटी-पत्र में क्या लिखा है यह [illegible] मालूम था। साथ ही गारंटी-पत्र में इस बात का भी उल्लेख कर दिया जाता [illegible] कि कर्ज़ की राशि चाहे घटती-बढ़ती रहे किन्तु गारंटी पूरे ऋण के [illegible] बराबर रहेगी।

व्यक्तिगत ज़मानत तथा गारंटी के अतिरिक्त अन्य आनुसंगिक ज़मानत [illegible] जाती है। कर्ज़ लेने वाला कंपनियों के हिस्से, डिबेंचर तथा बांड, इत्यादि [illegible] तथा तैयार माल अथवा उस माल सम्बन्धी कागज-पत्र (जिनसे माल [illegible] हस्तांतरित होता है) तथा अचल सम्पत्ति, इमारत इत्यादि ज़मानत [illegible] बैंक के पास रखता है। हम आगे चल कर ज़मानत के सम्बन्ध में [illegible] विचार करेंगे।

बैंकों का संगठन : संगठन की दृष्टि से बैंक दो प्रकार के होते हैं —(१) [illegible] बैंकिंग और (२) ब्रांच बैंकिंग। संयुक्तराज्य अमेरिका में यूनिट बैंकिंग [illegible] है। वहाँ प्रत्येक बैंक का एक ही आफिस होता है। बैंक जहाँ स्थापित

होता है केवल वहीं कारबार करता है, ब्रॉच स्थापित नहीं करता। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ बैंकों को बहुत सकुचित क्षेत्र में कतिपय ब्रॉचें खोलने की आज्ञा दे दी गई है किन्तु अधिकॉश बैंकों की वहाँ कोई भी ब्रॉच नहीं है। इसके विपरीत अन्य उन्नत राष्ट्रों में बहुत बड़े बैंक होते हैं और उनकी हजारों शाखायें देश भर में फैली हुई होती हैं। इ गलैण्ड के बड़े पाँच बैंकों को ६,५०० से अधिक ब्रॉचे हैं और देश की तीन-चौथाई डिपाजिट उनके पास रहती है। कनाडा में चार बड़े बैंकों में देश की ८० प्रतिशत डिपाजिट है। यही दशा जर्मनी में है।

बहुत से लेखक भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए कहते हैं कि भारत भी यूनिट बैंक हैं। पहले इस कथन में कुछ सत्यता रही हो, किन्तु अब य सत्य नहीं है। पिछले युद्ध में भारत में ब्रॉच बैंकिंग का अभूतपूर्व विस्ता हुआ है। पुराने बैंकों ने शीघ्रतापूर्वक अपनी ब्रांचों को देशभर में फैला दि है और अनेक नये बैंक स्थापित हो गए हैं जिन्होंने अपनी ब्रांचों को फैला आरम्भ कर दिया है। अतएव अब यह कहना कि भारत में यूनिट बैंकिंग ठीक नहीं है।

यूनिट और ब्रांच बैंकिंग की तुलना : यूनिट बैंक और ब्रॉच बैंकि की तुलना ठीक वैसी ही है जैसी बड़ी मात्रा में उत्पत्ति (large scale produ tion) और छोटी मात्रा में उत्पति। ब्रॉच बैंकों को बड़ी मात्रा में काम क के लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रॉच बैंक श्रम विभाजन (division of labour) का पूरा उपयोग किया जा सकता जो यूनिट बैंक में सम्भव नहीं है। ब्रॉच बैंक में योग्य कर्मचारी बैंक के महत्त्व कार्यों को करते हैं और उसकी नीति को निर्धारित करते हैं। जैसे एक यो कर्मचारी केवल इस बात पर अपना सारा समय लगावेगा कि बैंक का कोष ठ जगह लगाया जा रहा है। रुपया ऐसी जगह तो नहीं लगाया जा रहा है जहाँ जोखिम हो। एक दूसरा योग्य कर्मचारी उन नियमों को निर्धा करने और लागू करने के लिए नियुक्त किया जा सकता है जो किसी कर्ज को ऋण देने पर ज़मानत स्वीकार करने के लिए आवश्यक है। एक तीस कर्मचारियों को भरती करने के लिए रक्खा जा सकता है। किन्तु एक यू बैंक में यह सम्भव नहीं होता, उसका कारबार सीमित होता है, इस कारण ही व्यक्ति को सारा काम करना पड़ता है। ब्रॉच बैंक कम नकद कोष रख भी काम चला सकता है क्योंकि एक ब्रॉच दूसरी ब्रांच से आवश्यकता

[illegible] रुपया ले सकती है किन्तु यूनिट बैंक को अपेक्षाकृत अधिक नकद [illegible] रखना पड़ता है। ब्राँच बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान को कोष (fund) [illegible] का काम कम व्यय में और सरलता पूर्वक कर सकता है। यद्यपि यूनिट [illegible] यह कार्य अन्य बैंकों के द्वारा करते हैं परन्तु उसमें ब्राच बैंक के समान सरलता [illegible] कम व्यय नहीं होता। यही नहीं ब्रांच बैंक को एक बड़ा लाभ यह भी है [illegible] इसकी जोखिम एक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में फैली होती है जहाँ उद्योग-[illegible] और व्यापार भिन्न-भिन्न होते हैं। अतएव यदि एक व्यापार या धधा [illegible] है अर्थात् उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तो उस क्षेत्र की ब्राञ्च का [illegible] डूबने या अटकने की सम्भावना हो सकती है। किन्तु अन्य ब्राँचों पर [illegible] कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वरन् सम्भव है कि उनकी दशा अच्छी रहे [illegible] बहुत सम्भव है कि उनके क्षेत्र के धधे या व्यापार खूब सफल हो रहे हों। [illegible] यूनिट बैंक का कारबार तो एक ही केन्द्र में सीमित होने से यदि वहाँ [illegible] की आर्थिक स्थिति खराब हो जावे तो यूनिट बैंक को बहुत हानि उठानी [illegible]। हा, यदि सभी धधों और व्यापार में आर्थिक मदी एक समान हो तो [illegible] प्रकार के बैंकों की स्थिति एक सी ही होगी। उदाहरण के लिए, १६२६ [illegible] आर्थिक मदी के कारण सयुक्तराज्य अमेरिका में खेती की पैदावार का [illegible] बहुत घट गया इस कारण बहुत से (सैकड़ों) छोटे यूनिट बैंक दिवालिया [illegible]। किन्तु उस समय लकाशायर के सूती कपड़े के धधे की दशा अत्यन्त ही [illegible] थी। इगलैण्ड के बड़े बैंकों का बहुत रुपया उस धधे में डूब चुका था, [illegible] बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी थी, किन्तु उनका कारबार अन्य स्थानों में [illegible] हुआ था और वहाँ के धधे पनप रहे थे इस कारण वे इस हानि को [illegible]। अब तक हमने ब्राच बैंकों के लाभों का वर्णन किया। किन्तु [illegible] ध्यान रखने की है कि श्रम विभाजन की भी एक सीमा होती है और [illegible] सीमा को पार करने पर लाभ नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार ब्राच बैंकिंग [illegible] तो बहुत अधिक होते हैं जब तक ब्राचें एक ही देश के अन्दर [illegible] है। किन्तु जब ब्राचें विदेशों मे खोली जाने लगती हैं तो कठिनाई [illegible] है और लाभ नष्ट हो जाते हैं। कारण यह है कि व्यापार सम्बन्धी [illegible] रीति-रिवाज तथा आर्थिक स्थिति प्रत्येक देश की भिन्न होती [illegible] प्रत्येक देश का सिक्का भिन्न होता है और भाषा भी भिन्न होती है [illegible] बैंक विदेशों में ब्राचें नहीं खोलते। यदि वे विदेशों में [illegible] हैं तो एक पृथक सहायक बैंक (subsidiary bank) उस देश [illegible] करते हैं। यह सहायक बैंक [illegible]

अब हम तनिक यूनिट बैंकों के लाभों पर भी दृष्टि डाल लें। भिन्न भिन्न व्यापारिक केन्द्रों में स्थानीय भिन्नता इतनी अधिक होती है कि यूनिट बैंक उसके लिए अधिक उपयुक्त है। उदाहरण के लिए मान लें कि एक यूनिट बैंक, एक बड़ी कपास की मण्डी में स्थापित है तो उसको कपास के व्यापारियों से ही कारबार करना होगा। अस्तु, यूनिट बैंक कपास के सम्बन्ध में बैंकिंग सम्बन्धी जितनी भी समस्याएं उठेंगी उनको ब्रांच बैंक की अपेक्षा सुगमता से हल कर सकेगा और कपास के व्यापारियों से बराबर कारबार करने के कारण, वह ब्रांच बैंक से इस कार्य में अधिक कुशल हो जावेगा। यूनिट बैंक के संचालक स्थानीय व्यापारियों की साख, उनकी ईमानदारी तथा उनके धन्धे की आर्थिक स्थिति को बहुत नज़दीक से देखते हैं और वे उनको व्यक्तिगत रूप से भली भांति जानते हैं। अतएव ऋण देने में उन्हें जोखिम कम रहती है और उन्हें यह जानकारी प्राप्त करने में ब्रांच बैंक की तरह व्यय नहीं करना पड़ता। किन्तु उसके साथ ही एक भय भी रहता है। पीढी दर पीढी एक व्यापारी बैंक से कारबार करता चला आता है। यह स्वाभाविक ही है कि उस व्यापारिक परिवार और बैंक के सचालकों का घनिष्ठ सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित हो जावे और उस दशा में बैंकर यह समझते हुए भी कि व्यापारी के कारबार की स्थिति अच्छी नहीं है, शिष्टाचार तथा सम्बन्ध के नाते कभी-कभी ऋण देना अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु ब्रांच मैनेजर अपने ग्राहकों से क्लबों तथा अन्य स्थानों में खूब मिलजुल कर तथा उस स्थान के सामाजिक जीवन में खूब घुलमिल कर एक ओर तो बैंक के कारबार को बढ़ाता है और अपने ग्राहकों की साख, उनके कारबार तथा आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरी ओर, यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिससे ब्रांच मैनेजर की घनिष्ठता है और उसको ऋण देना उचित नहीं है, यदि बैंक से ऋण चाहता है तो ब्रांच मैनेजर हेड आफिस की आड़ लेकर ऋण अस्वीकार कर सकता है और उसके सामाजिक सम्बन्ध पर भी आघात नहीं पहुँचता।

ऊपर लिखी सारी बातों को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रांच बैंकिंग के गुण अधिक हैं और दोष कम हैं तथा यूनिट बैंक की अपेक्षा ब्रांच बैंकिंग के गुण कहीं अधिक हैं। यही कारण है कि आधुनिक समय में सर्वत्र ब्रांच बैंकिंग का प्रचार है।

———

परिच्छेद ४३

केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

यह तो हम पहले परिच्छेद में पढ चुके हैं कि द्रव्य (money) और [illegible] (credit) का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार की द्रव्य सम्बन्धी नीति [illegible] में अपनाई जायेगी उसका साख पर प्रभाव पडेगा और इस प्रकार धन के [illegible]त्पादन अर्थात् उद्योग-धधों तथा व्यापार सभी को वह प्रभावित करेगी। साथ [illegible] हम यह भी कह आये हैं कि बैंक साख का निर्माण करते हैं और द्रव्य का [illegible] सा कार्य साख-पत्र (credit instruments) ही करते हैं। आज [illegible]गतिशील देशों में चेक और बिल इत्यादि का जितना उपयोग होता है मुद्रा [illegible] कागज़ी मुद्रा का दसवाँ हिस्सा भी नहीं होता। अतएव यह बात स्पष्ट [illegible] कि द्रव्य और साख का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन दोनों का देश [illegible] आर्थिक सगठन को बनाने या बिगाड़ने में बहुत हाथ रहता है। अस्तु, द्रव्य [illegible]म्बन्धी नीति और साख सम्बन्धी नीति का देश के आर्थिक हितों को ध्यान में [illegible] हुए सचालन और नियन्त्रण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्पादन कार्य होते हैं और [illegible] प्रकार के उत्पादन कार्य अर्थात् खेती, उद्योग-धधे, व्यापार इत्यादि [illegible] और साख सम्बन्धी विशेष आवश्यकताएँ होती हैं इस कारण बहुत [illegible] के बैंक स्थापित होगए हैं। कृषि बैंक, सहकारी (co-operative banks), [illegible] बैंक (land mortgage banks), खेती के लिए औद्योगिक बैंक, [illegible]ustrial banks) अधिक लम्बे समय के लिए उद्योग-धधों को तथा [illegible] बैंक (commercial banks) थोड़े समय के लिए व्यापारियों [illegible] व्यवसायियों को पूँजी देने का प्रबन्ध करते हैं। राष्ट्र की बचत [illegible]) यह बैंक अपने पास इकट्ठा कर लेते हैं और उस पूँजी को साख [illegible] करने की पद्धति के अनुसार कई गुना करके उत्पादन कार्य को सहायता [illegible] है। परन्तु, यदि इन बैंकों का आपस में कोई सम्बन्ध न हो तो यह [illegible] (national capital) छोटे-छोटे भागों में बँटी रहे और देश [illegible] उपयोग न मिल सके। उदाहरण के लिये हम सहकारी बैंकों को [illegible] बोने का समय होता है तब खेती के धधे को पूँजी की बहुत

आवश्यकता रहती है और यह बैंक पूँजी किसानों को उधार देते हैं। किन्तु ज
फसल तैयार हो जाती है और किसान उसको मंडी में बेच कर ऋण चुका दे
है तो इन बैंकों के पास बहुत कोष जमा हो जाता है और वे उसको खेती
धन्धे में नहीं लगा सकते क्योंकि खेती को उस समय पूँजी की आवश्यकता न
होती। किन्तु सहकारी बैंक उस कोष को व्यापार तथा उद्योग-धन्धों में लगाने
योग्यता नहीं रखते क्योंकि वे उस कार्य को करते ही नहीं हैं। इसका परिण
यह होगा कि वह कोष राष्ट्र के उत्पादन-कार्य (production of wealth
में सहायक न होगा और बेकार रहेगा। इसी प्रकार व्यापारिक बैंकों के
वर्ष में कुछ दिनों कोष बेकार रहता है, उसकी अधिक माँग नहीं होती,
कुछ महीने ऐसे भी होते हैं जिनमें व्यापार को बहुत अधिक पूँजी की आवश्य
होती है। यदि इन सभी प्रकार के बैंकों का आपसी सम्बन्ध स्थापित किय
सके तो राष्ट्र की पूँजी को सरलता से एक धन्धे से दूसरे धन्धे में भेज
सकता है। इस प्रकार जिस धन्धे में पूँजी की अधिक आवश्यकता होगी
पूँजी प्रवाहित करदी जा सकेगी और उत्पादन कार्य के लिये उसका पूरा
उपयोग हो सकेगा।

अतएव द्रव्य और साख का देश के हित में ठीक-ठीक नियन्त्रण
तथा द्रव्य बाजार (money market) अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के बैं
आपसी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता
है। केन्द्रीय बैंक की विशेषता यह है कि वह अन्य बैंकों का इस प्रकार नि
करता है जिससे राज्य की द्रव्य नीति (monetary policy) देश में
हो सके और द्रव्य का मूल्य जल्दी-जल्दी न बदले। अन्य बैंकों की भाँति
कमाना केन्द्रीय बैंक का लक्ष्य नहीं होता वरन् देश के द्रव्य पर
(monetary standard) को स्थायित्व प्रदान करना और साख क
प्रकार नियन्त्रण करना उसका लक्ष्य होता है जिससे देश के आर्थिक हि
रक्षा और उन्नति हो। भारत के रिजर्व बैंक ऐक्ट में रिजर्व बैंक का लक्ष
प्रकार बताया गया है, "रिजर्व बैंक आव इण्डिया को स्थापित करना इ
आवश्यक है कि जिससे कागजी नोटों को निकालने का कार्य भली भाँ
सके और वह देश के सुरक्षित कोष (reserve) को भारत में द्र
स्थायित्व (monetary stability) उत्पन्न करने की दृष्टि से रक्खे
भारत के हित के लिये साख तथा करसी का नियन्त्रण करे।"

इस कार्य को करने के लिये बैंक को कुछ विशेष अधिकार दिए जा
उदाहरण के लिए, केन्द्रीय बैंक को कागज़ी नोट (paper curre

निकालने का एकाधिकार प्राप्त होता है। देश में अन्य कोई बैंक नोट नहीं निकाल सकता। केन्द्रीय बैंक देश की सरकार का सारा कारबार करता है, वह सरकार का बैंकर होता है, वह राष्ट्र के कोष (reserves) को रखता है और अन्तिम स्थिति में ऋण देने वाला होता है (lender of the last resort)। जब अन्य व्यापारिक बैंक भी साख देने में अपने को असमर्थ पाते हैं तो वे केन्द्रीय बैंक (central bank) से अन्त में ऋण लेते हैं।

किन्तु जहाँ केन्द्रीय बैंक को अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कुछ अधिकारों की आवश्यकता होती है वहाँ कुछ बंधन भी उस समय पर लगाना आवश्यक हो जाता है। केन्द्रीय बैंक को अन्य व्यापारिक बैंकों की भाँति लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से कारबार नहीं करने दिया जा सकता क्योंकि उसको तो देश के आर्थिक स्वार्थों की रक्षा करनी होती है। केन्द्रीय बैंक अन्तिम स्थिति में ऋण देने वाला होता है इस कारण उसे अपनी लेनी (assets) को बहुत तरल रूप (liquid form) में रखना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक को अन्य व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा (competition) करना न तो उचित है और न न्याय-पूर्ण। अन्य बैंकों से केन्द्रीय बैंक प्रतिस्पर्द्धा करे तो वह न्यायपूर्ण न होगा क्योंकि उसके पास सरकारी कोष (government balances) रहते हैं। वह उन पर सूद नहीं देता और यदि वह अन्य बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करे तो वे उसके सामने नहीं टिक सकते। यह अनुचित भी है; क्योंकि यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगेंगे तो वे केन्द्रीय बैंक के प्रति द्वेषभाव रखने लगेंगे और केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व को वे स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक साख का ठीक प्रकार से नियन्त्रण नहीं कर सकेगा। साख का नियन्त्रण बिना व्यापारिक बैंकों के सहयोग के सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के पास कुछ ऐसे साधन भी होने चाहिये कि वह व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण कर सके। इसका दूसरे शब्दों में यह अर्थ होना कि केन्द्रीय बैंक जिस प्रकार की नीति निर्धारित करे उसे व्यापारिक बैंकों को स्वीकार करना पड़े तभी वह साख का भली प्रकार नियन्त्रण कर सकता है और [illegible] परिमाण को स्थायित्व प्रदान कर सकता है। केन्द्रीय बैंक [illegible] साख का तथा व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण करता है इस पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हम केन्द्रीय बैंक तथा उस देश की सरकार का [illegible] है इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

केन्द्रीय बैंक (Central Bank) और सरकार : [illegible] हम पहले [illegible] कि केन्द्रीय बैंक सरकार की मुद्रा नीति को [illegible]

सहायक होता है । इस कारण केन्द्रीय बैंक फिर चाहे वह हिस्सेदारों का बैंक ही क्यों न हो राज्य के आदेशानुसार और उसकी अधीनता में कार्य करता है और सरकार द्वारा निर्धारित नीति को चलाता है । १९२० के उपरान्त बहुत से लेखकों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि केन्द्रीय बैंक सरकार के प्रभाव से मुक्त होना चाहिये और इसी कारण केन्द्रीय बैंक को हिस्सेदारों का बैंक बनाया गया । किन्तु फिर भी हमे यह न भूल जाना चाहिये कि कोई भी केन्द्रीय बैंक राज्य के आदेशों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता । राज्य की नीति को उसे स्वीकार करना ही पड़ता है । वास्तव में मुद्रा का नियन्त्रण करने का काम सरकार का है । हाँ, यह आवश्यक है कि राज्य की अर्थनीति (financial policy) के संवन्ध में केन्द्रीय वैंक की सलाह अवश्य ली जाती है और यदि केन्द्रीय बैंक को देश में अधिक प्रतिष्ठा है तो राज्य उसकी सलाह पर गम्भीरता पूर्वक ध्यान भी देता है । इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के अधिकारी यदि योग्य व्यक्ति हैं तो वह परोक्ष रूप से सरकार की अर्थ नीति को प्रभावित करते हैं । परन्तु, यदि सरकार और केन्द्रीय बैंक में किसी प्रश्न पर मतभेद हो तो केन्द्रीय बैंक को सरकार द्वारा निर्धारित नीति को स्वीकार करना ही होगा ।

आधुनिक काल में सरकार का द्रव्य बाज़ार पर बहुत अधिक प्रभाव होता है । क्योंकि सरकार लम्बे समय के लिये ऋण निकालती है और इस प्रकार लम्बे समय के लिये सूद की दर को प्रभावित करती है और सरकारी हुण्डियाँ (treasury bills) वेच कर थोड़े समय के लिये सूद की दर को प्रभावित करती है । जहाँ विनिमय समकारी कोष (exchange equalisation fund होता है, जिसका प्रबन्ध विशेष कर सरकारी विभाग ही करता है, वहाँ सरकार बहुत तरह से द्रव्य बाजार को प्रभावित करती है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश में राज्य के आर्थिक कार्य राष्ट्र के एक-चौथाई आर्थिक कार्यों के लगभग होते हैं । इनका देश की करन्सी और साख पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि करन्सी और साख का नियन्त्रण ही केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य है । अतएव सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी आर्थिक नीति को निर्धारित करने से पूर्व वह केन्द्रीय बैंक से सदैव परामर्श कर ले । कुछ देशों में तो राज्य का केन्द्रीय बैंक से करन्सी और साख सम्बन्धी विषयों पर परामर्श करना कानून द्वारा अनिवार्य कर दिया गया है । और जहाँ कानून द्वारा सरकार को केन्द्रीय बैंक से परामर्श करने पर विवश नहीं किया गया है वहाँ परामर्श लेने की एक परिपाटी या परम्परा स्थापित हो गई है । केन्द्रीय बैंक सरकार की नीति पर कितना प्रभाव डा

होगा यह उसकी प्रतिष्ठा तथा उसके अधिकारियों की योग्यता पर निर्भर रहता है। परन्तु यह समझना भूल होगी कि यदि सरकार शून्य और गलत प्रकार नीति स्वीकार करे, जिससे उसकी साख गिर जावे, तो केन्द्रीय बैंक स्वय अपने द्वारा स्वतन्त्र रूप से द्रव्य तथा साख को ठीक प्रकार से नियन्त्रित कर सकेगा।

सरकार तथा केन्द्रीय बैंक में नीति के सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकता है। सरकार के अर्थविभाग के स्वार्थों तथा केन्द्रीय बैंक के विचारों में अन्तर हो सकता है। उदाहरण के लिये, सरकार यदि एक बड़ा ऋण निकालना चाहती है तो स्वभावत अर्थविभाग सूद की दर को नीचा रखना चाहेगी। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक का यह मत हो सकता है कि देश के आर्थिक हित को देखते हुए यह आवश्यक है कि सूद की दर को बढाया जावे या कम से कम उतना ही रक्खा जावे जितना कि उस समय है। या फिर सरकार केन्द्रीय बैंक से उतना अधिक ऋण लेना चाहती है जितना कि केन्द्रीय बैंक उचित नहीं समझता। इसी प्रकार अर्थनीति के सम्बन्ध मे सरकार तथा केन्द्रीय बैंक में मतभेद हो सकता है। ऐसी दशा मे केन्द्रीय बैंक के अधिकारी सरकार के अर्थविभाग (finance department) को अपने विचारों से सहमत कराने के लिए प्रयत्न करेंगे, किन्तु, यदि सरकार ने उनकी बात को स्वीकार न किया तो केन्द्रीय बैंक को सरकारी नीति के सामने झुकना होगा।

संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जब सरकार और केन्द्रीय बैंक मे इस बात पर मतभेद हो कि देश के हित में कौन सी नीति अच्छी है तो पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि दोनों के बीच में उस प्रश्न को लेकर सौहार्द्रपूर्ण विस्तृत विचार और वादविवाद हो और सरकार केन्द्रीय बैंक की बात ध्यान पूर्वक सुने। परन्तु, यदि दोनो एक मत न हो सकें तो केन्द्रीय बैंक को सरकारी नीति को स्वीकार करना होगा। अवश्य ही केन्द्रीय बैंक की उस नीति के लिए जिम्मेदारी न होगा।

केन्द्रीय बैंक के कार्य · पिछले ७५ वर्षों में केन्द्रीय बैंक का संसार के प्रत्येक देश मे विकास हुआ है और केन्द्रीय बैंक के नीचे लिखे मुख्य कार्य हो गये हैं :—

(१) देश के व्यापार तथा साधारण जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए करन्सी का नियन्त्रण करना। बैंक इस कार्य को भली भांति कर सके इसके लिए उसे कागजी नोट निकालने का एकाधिकार दे दिया जाता है।

(२) देश की सरकार को बैंकिंग तथा एजेन्सी की सुविधाएँ प्रदान करना अर्थात् सरकार के बैंकर का कार्य करना।

(३) देश के व्यापारिक बैंकों के नकद कोष को रखना।

(४) राष्ट्र के पास जितनी अन्तर्राष्ट्रीय करन्सी (international currency) का कोष है उसको रखना और उसका प्रबन्ध करना।

(५) बैंकों का बैंकर बनना, उन्हें स्वीकृत प्रतिभूति (approved securities) के आधार पर ऋण देना, उनके भुनाये हुए बिलों, प्रामिसरी नोटों तथा दूसरे व्यापारिक कागज़-पत्रों (Commercial Papers) को पुनः भुनाकर (re-discount) व्यापारिक बैंकों को आर्थिक सहायता देना, बैंकों के अतिरिक्त बिल ब्रोकर तथा आर्थिक संस्थाओं को भी ऊपर बताये गए तरीकों से आर्थिक सहायता देना और अन्तिम ऋण दाता (lender of the last resort) होने का साधारण उत्तरदायित्व स्वीकार करना।

(६) क्लियरिंग हाऊस अर्थात् समाशोधन - गृह (clearing house) का काम करना।

(७) व्यापार की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए तथा सरकार द्वारा निर्धारित द्रव्य-नीति को चलाने के उद्देश्य से साख का नियन्त्रण करना।

अब हम इन कार्यों के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

केन्द्रीय बैंक और कागजी नोट निकालने का कार्य : लगभग प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को अपने देश में कागज़ी नोट निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। यों तो करन्सी निकालने का कार्य राज्य का रहा है। परन्तु अब लगभग सभी देशों में धातु के सिक्के (metallic coins) राज्य निकालता है किन्तु कागज़ी नोट (paper currency) निकालने का एक मात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया है। यह आवश्यक भी है। क्योंकि द्रव्य और साख का घनिष्ठ सम्बन्ध है, और क्योंकि केन्द्रीय बैंक को साख का नियन्त्रण करना पड़ता है। अस्तु, यदि केन्द्रीय बैंकों को नोट निकालने का एकाधिकार न दिया जावे तो वे साख का ठीक प्रकार से नियन्त्रण नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये यदि केन्द्रीय बैंक देश में वस्तुओं के मूल्य को बढने नहीं देना चाहता अथवा मूल्य-स्तर (price level) को गिराना चाहता है तो आवश्यकता इस बात की है कि साख को कम किया जावे और द्रव्य को भी कम किया जावे। अब यदि कागज़ी नोट निकालने का काम केन्द्रीय बैंक नहीं करता तो हो सकता है कि कागजी नोट निकालने वाले अधिकारी बैंक की नीति के साथ सहयोग न करें और इस प्रकार नोट अधिक प्रचलित कर दिये जावें। उस दशा में न तो साख ही कम की जा सकती है और न वस्तुओं का मूल्य ही गिर सकता है। क्योंकि लोग चेक इत्यादि का उपयोग न करके नोटों से

जाते हैं। किसी भी देश में कागजी नोट तथा चेक इत्यादि ही विनिमय साधन (medium of exchange) होते हैं। अतएव केन्द्रीय बैंक को इनके नियन्त्रण का अधिकार होना चाहिये। पिछड़े देशों में तो बिल इत्यादि का चलन कम होता है इस कारण कागज़ी नोट ही अधिकतर चलन में रहते हैं अस्तु, उनको निकालने का एकाधिकार (monopoly) मिलने से बैंक को द्रव्य की पूर्ति (supply of money) पर नियन्त्रण करने की बहुत सुविधा रहती है। और जो देश व्यापारिक दृष्टि से उन्नत हैं और जहाँ चेक इत्यादि का बहुत अधिक चलन है वहाँ केन्द्रीय बैंक साख पर नियन्त्रण करके द्रव्य पूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित कर ही लेता है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि बैंक को विदेशी व्यापार (foreign trade) की सुविधा के लिए कुछ नोट तो स्वत निकालने या चलन में से खींचने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये, यदि देश में स्वर्णमान (gold standard) प्रचलित है और कोई व्यापारी जिसने विदेश से माल मँगाया है उसे विदेशी व्यापारी को मूल्य चुकाने के लिये विदेशी बिल (foreign bill) नहीं मिलता या अत्यधिक मूल्य पर मिलता है तो वह नोट देकर केन्द्रीय बैंक से सुवर्ण ले लेगा और सुवर्ण को भेज कर मूल्य चुका देगा। यदि देश में सुवर्ण विनिमय मान (gold exchange standard) प्रचलित है तो वह व्यापारी केन्द्रीय बैंक को नोट देकर सुवर्ण ले सकता है। भारतवर्ष में कोई व्यापारी रिजर्व बैंक को नोट देकर स्टर्लिंग (sterling) खरीद सकता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यापारी को जिसने अपना माल बाहर भेजा है सोना या उस देश की करन्सी मूल्य रूप में मिलती है तो वह केन्द्रीय बैंक को देकर उसके मूल्य के नोट ले लेता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक को विदेशी व्यापार के कारण कुछ हद तक नोट निकालने पड़ते हैं और कभी-कभी नोटों को बदले में भुनाना पड़ता है। किन्तु केन्द्रीय बैंक के पास नोट निकालने के और चलन में से नोट खींच लेने के लिए और भी साधन और उपाय हैं। उदाहरण के लिए, यदि केन्द्रीय बैंक अधिक नोट चलाना चाहता है तो वह व्यापारिक बैंकों द्वारा भुनाये हुये बिलों को पुन. भुनाकर, उन्हें ऋण देकर या सरकारी सिक्यूरिटी या सिक्यूरिटीज (securities) को खरीद कर और मूल्य में नोट देकर अधिक नोटों को चलन में ला सकता है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक नोटों को चलन में कम करना चाहता है तो अपने ऋण को कम करके या ऋण निकाल कर, अर्थात् लेकर या सरकारी सिक्यूरिटी को बेचकर मूल्य रूप में नोट पाता है और उन्हें अपने पास रोक लेता है। इस प्रकार वह नोटों को चलन में से खींच लेता है।

नोटों के निकालने मे तीन मुख्य बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं :—(१) नोट एक प्रकार के हों, बहुत प्रकार के न हों, अर्थात् नोटों के निकालने वाली एक ही संस्था हो। नहीं तो कल्पना कीजिए कि दस रुपये का नोट कई बैंकों द्वारा निकाला जावे और उसका आकार, रंग, इत्यादि भिन्न हो तो सर्व साधारण को बड़ी कठिनाई होगी। केन्द्रीय बैंक को नोट निकालने का एकाधिकार दे देने से यह बात पूरी हो जाती है। (२) दूसरा गुण जो नोटों के चलन में होना चाहिए वह है लोचपन (elasticity)। अधिकांश देशों में यह कानून है कि केन्द्रीय बैंक जो नोट निकाले उसका ४० प्रतिशत सुवर्ण कागजी मुद्रा कोष (paper currency reserve) में रक्खे, और शेष व्यापारिक बिल, (trade bills) सरकारी सिक्योरिटी या अन्य व्यापारिक कागज-पत्र (commercial paper) में हो। इस प्रकार यदि अधिक नोटों की आवश्यकता हो तो केन्द्रीय बैंक उन नोटों के मूल्य का ४० प्रतिशत स्वर्ण कागज़ी मुद्रा कोष में रखकर नोट छाप सकता है। इस प्रकार नोटों के निकालने में लोचपन उत्पन्न की जा सकती है। (३) तीसरा गुण जो कि नोट के चलन में होना चाहिए वह है सुरक्षा। इसके लिए ४० प्रतिशत सुवर्ण कागजी मुद्रा कोष मे रक्खा जाता है। (कभी कभी इस ४० प्रतिशत में सुवर्ण के अतिरिक्त विदेशी करसी भी सम्मिलित होती है) शेष कोष व्यापारिक बिल या सरकारी सिक्योरिटियों के रूप में रक्खा जाता है।

सरकार के बैंकर तथा आर्थिक एजेंट का काम करना : सरकार के पास जो भी कोष (fund) होता है वह केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहता है। सरकार जो खर्च करती है उसको केन्द्रीय बैंक ही चुकाता है। जब सरकार कोई ऋण लेती है तो केन्द्रीय बैंक ही उसको निकालता और बेचता है, उस पर नियमित रूप से सरकार की ओर से सूद देता है। संक्षेप मे वह सरकारी कर्ज का सारा प्रबन्ध करता है। कभी-कभी जब सरकार को थोड़े समय के लिए रुपये की आवश्यकता होती है तो केन्द्रीय बैंक सरकार को थोड़े समय के लिये ऋण देता है। उदाहरण के लिए कभी-कभी सरकार को कुछ रुपये की आवश्यकता हो सकती है क्योंकि व्यय अधिक हो गया हो और करों से उस समय तक अधिक रुपया वसूल न हो पाया हो। ऐसी दशा में सरकार केन्द्रीय बैंक से थोड़े समय के लिए ऋण ले लेती है और जब करों से रुपया वसूल हो जाता है तो वापस कर देती है। इसके लिए केन्द्रीय बैंक सरकार को सीधे ऋण दे देता है अथवा सरकारी हुंडियों (treasury bills) को भुना देता है। किन्तु यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि केन्द्रीय बैंक को

ार को अधिक लम्बे समय के लिए ऋण कदापि न देना चाहिए, केवल
समय के लिए देना चाहिए और ऋण की रकम भी बहुत अधिक न
ी चाहिए, सरकार की वार्षिक आय का एक निश्चित अंश ही होना चाहिए।

देश के व्यापारिक बैंकों के नकद कोष (Cash Reserve) को
ना . प्रत्येक देश मे व्यापारिक बैंक अपने नक़द कोष का एक भाग केन्द्रीय
के पास जमा कर देते हैं। कुछ देशों म तो वे कानून द्वारा ऐसा करने
को विवश हैं और कहीं-कहीं इस प्रकार की परिपाटी बन गई है कि
क व्यापारिक बैंक अपने नक़द कोष का एक भाग केन्द्रीय बैंक मे जमा करता
इंगलैंड तथा योरोप के अन्य देशों मे इस प्रकार का कोई कानून नहीं है कि
ारिक बैंक निश्चित न्यूनतम नकद कोष केन्द्रीय बैंक मे जमा करें।
ु वहा ऐसी सुदृढ परम्परा है कि प्रत्येक बैंक नकद कोष का एक भाग
ीय बैंक के पास अवश्य रखता है। १६२० के उपरान्त जो भिन्न-भिन्न देशों
न्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई वहा यह नियम बना दिया गया कि प्रत्येक बैंक
एक निश्चित न्यूनतम नकद कोष (minimum cash reserve) केन्द्रीय
के पास रखना ही होगा। केन्द्रीय बैंक के पास नकद कोष रखने से नीचे
े लाभ हैं।

(क) व्यापारिक बैंकों के द्वारा अपने नकद कोष को केन्द्रीय बैंक मे जमा
े का परिणाम यह होता है कि बैंकों की तरलता (liquidity) में वृद्धि
ी है और बैंकों पर माग होने के समय वे इस कोष पर निर्भर हो सकते
ंकि सभी बैंकों का नकद कोष जब एक स्थान पर इकट्ठा होता है तो
ि बैंक कम नकद कोष रख कर भी जमा करने वालों की माग को पूरा कर
े हैं और उनकी सुरक्षा का उचित प्रबन्ध हो जाता है।

(ख) केन्द्रीय बैंक के पास सभी बैंकों का नकद कोष होने से वह उन
ैंकों की साख निर्माण (creation of credit) शक्ति को प्रभावित कर
ता है। जब बैंक का नकद कोष बढ़ जाता है तो उनमें साख के विस्तार की
ामर्थ्य रहता है और जब नकद कोष घट जाता है तो साख को संकुचित
रने की आवश्यकता होती है। यही नहीं साख के निर्माण को प्रभावित करने
के व्यापारिक बैंकों को जितने प्रतिशत नकद कोष रखने की आवश्यकता
ै उसमें भी केन्द्रीय बैंक हेर-फेर कर देता है और इस प्रकार साख के
ार पर नियन्त्रण स्थापित कर लेता है।

(ग) इन लाभों के अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों के नकद कोष को केन्द्रीय

बैंक में रखने का एक यह लाभ भी है कि उसके पास अपेक्षाकृत तरल हे
(liquid assets) बहुत अधिक राशि में इकट्ठी हो जाती है।

राष्ट्र के पास जितना अन्तर्राष्ट्रीय करेंसी (Internation
Currency) का कोष है उसको सुरक्षित रखना और उसका प्रब
करना यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि केन्द्रीय बैंक नोट निकालता
और उसकी सुरक्षा के लिए सुवर्ण कोष रखता है। यदि देश में सुवर्णम
(gold standard) प्रचलित होता है तब तो प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिक
होता है कि वह केन्द्रीय बैंक को नोट देकर निश्चित दर पर सुवर्ण ले ले। इ
प्रकार चाहे व्यवहार में या व्यापार में कागजी नोटों से ही लेन-देन होता
किन्तु वास्तव में सुवर्ण ही प्रामाणिक द्रव्य (standard money) होता
क्योंकि देश में जो भी कागजी मुद्रा तथा अन्य धातु के सिक्के होते हैं उन
सम्बन्ध सुवर्ण से होता है और कोई भी व्यक्ति नोटों के बदले केन्द्रीय बैं
सुवर्ण पा सकता है। अतएव जब देश में सुवर्ण मान होता है तब तो विशेष
से केन्द्रीय बैंक को यथेष्ट सुवर्ण कोष रखना पड़ता है क्योंकि आवश्यकता प
पर जनता नोट के बदले सुवर्ण माग सकती है। साधारण स्थिति में जनता नं
को सुवर्ण में नहीं बदलती। किन्तु, यदि देशों में विदेश से आयात अर्थात् म
अधिक आया है और निर्यात कम हुआ है तो व्यापारी अपनी विदेशी देनद
(foreign debt) को चुकाने के लिये केन्द्रीय बैंक से सुवर्ण लेकर विदेशों
भेज देते हैं। अस्तु, सुवर्ण मान के होते तो केन्द्रीय बैंक को अपने नोटों को सु
में बदलने का उत्तरदायित्व पूरा करने के लिये यथेष्ट सुवर्ण कोष रखना
पड़ता है। किन्तु जब देश में सुवर्ण मान प्रचलित नहीं होता तब भी के
बैंक को नोटों की सुरक्षा के लिये कुछ (४० प्रतिशत) सुवर्ण तो र
ही पड़ता है।

१९३१ के उपरान्त ससार के किसी देश में भी सुवर्ण मान प्रचलित
है और लगभग सभी देशों में कागज़ी मुद्रा प्रमाण (paper curre
standard) प्रचलित है अर्थात् नोटों को सुवर्ण में नहीं बदला जा सक
कागजी मुद्रा ही प्रामाणिक द्रव्य होता है। किन्तु विदेशी व्यापार की सुविध
लिए प्रत्येक देश अपनी करसी और अन्य देशों की करसी के पारस्परिक
को निर्धारित कर देता है। इसे विदेशी विनिमय दर (foreign excha
rates) कहते हैं। केन्द्रीय बैंक इस विनिमय दर को स्थायी बनाये रखने
प्रबन्ध करता है, और इस उद्देश्य से अन्य देशों की करसी का कोष अपने
रखता है। जब देश के व्यापार का सतुलन (balance of trade) देश

होता है अर्थात् विदेशों से माल अधिक मँगाया गया और कम माल भेजा गया तो केन्द्रीय बैंक निश्चित दर पर उन देशों की करसी व्यापारियों को देगा। व्यापारी नोट देकर विदेशी की करसी केन्द्रीय बैंक से निर्धारित दर पर ले लेंगे। जब देश से निर्यात अधिक होता है अर्थात अधिक माल बाहर जाता है और कम मँगाया जाता है तो देश के व्यापारियों के पास विदेशी करसी अधिक आ जाती है, किन्तु विदेशी करसी तो साधारण कारबार में देश में नहीं चलती। अस्तु, वे विदेशी करसी को निर्धारित दर पर केन्द्रीय बैंक को दे देते हैं और नोट ले लेते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक अपने देश की करसी का विनिमय दर का नियन्त्रण करता है और उसको स्थायित्व प्रदान करता है। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे अन्तर्राष्ट्रीय करसी (international currency) का कोष रखना पड़ता है।

बैंकों का बैंकर बनना (To act as Banker's Bank) – केन्द्रीय बैंक बैंकों द्वारा भुनाये हुए या खरीदे हुए बिलों, हुंडियों, प्रामिसरी नोटों या व्यापारिक कागज-पत्र को पुनः भुनाता है और इस प्रकार व्यापारिक बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर रुपया देता है या फिर स्वीकृत प्रतिभूति पर उन्हें ऋण देता है। केन्द्रीय बैंक का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बैंकों को साख देता है और अन्तिम ऋणदाता बनने का कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य से देश की साख पद्धति (credit system) ठीक प्रकार से चलती है और उसमें कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। यदि बैंकों को साख की आवश्यकता हो और उन्हें साख न मिले तो उन्होंने अपने ग्राहकों को जो साख दे रक्खी है उसे संकुचित करना पड़े और व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़े बिना न रहे। यही नहीं केन्द्रीय बैंक की मिती काटे की दर (discount rate) जिस पर वह बैंकों के बिल भुनाता है, साख पर अधिक प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, यदि केन्द्रीय बैंक मिती काटे की दर को ऊँचा कर देता है तो इसका अर्थ यह होगा कि बैंकों को केन्द्रीय बैंक से अधिक सूद पर साख मिलेगी। अस्तु, उन्हें भी ग्राहकों से अधिक सूद लेना होगा। दूसरे शब्दों में द्रव्य बाजार में सूद की दर बढ़ जायेगी और साख संकुचित होगी अर्थात कम साख दी जायेगी। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक मितीकाटे की दर घटा देता है तो साख का विस्तार होगा अर्थात् साख का बहुत अधिक निर्माण होगा। इस प्रकार मिती काटे की दर को घटा बढ़ा कर केन्द्रीय बैंक साख के निर्माण पर

गहरा प्रभाव डालता है।

अधिकतर केन्द्रीय बैंक केवल बैंकों से ही कारबार करते हैं, व्यक्तियों से नहीं करते। केवल बैंक आव इंगलैण्ड बैंकों से कारबार न करके बट्टाघरों (discount houses) से कारबार करता है। अधिकतर केन्द्रीय बैंक प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिल को जिनकी अवधि तीन महीने से अधिक नहीं होती स्वीकार करते हैं। किन्तु कृषि बिल (agricultural bills) के सम्बन्ध में तनिक छूट दी जाती है। कृषि बिल ६ से ६ महीने तक के लिए स्वीकार कर लिए जाते हैं। भारत का रिज़र्व बैंक ६ महीने की अवधि के कृषि बिलों को स्वीकार कर सकता है। यह बात ध्यान रखने की है कि केन्द्रीय बैंक उसी व्यापारिक कागज (commercial paper) को स्वीकार करता है जो कि तरल (liquid) हो और जो स्वतः अवधि के समाप्त होने पर रोकड़ में परिणत हो जावे। क्योंकि, यदि ऐसा नहीं होगा तो केन्द्रीय बैंक का कोष अटक जावेगा और वह देश में साख का नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जावेगा। इसी कारण केन्द्रीय बैंक जिस प्रकार की देनी के आधार पर बैंकों को ऋण देता है वह देनी ऐसी होनी चाहिये कि शीघ्र ही नकदी में परिणत की जा सके। केन्द्रीय बैंक ऐसी देनी के विरुद्ध ऋण नहीं देता है जो शीघ्र ही नकदी में परिणत न की जा सके। केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य व्यापारियों को ऋण देना नहीं है किन्तु साख का नियन्त्रण करना है।

क्लियरिंग हाउस अर्थात् समाशोधन गृह (clearing house) का काम करना : केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिये क्लियरिंग हाउस का काम करता है। प्रत्येक बैंक केन्द्रीय बैंक पर चेक काट कर अपनी देनदारी को चुकाता है। यदि किसी दिन किसी बैंक को क्लियरिंग हाउस से रुपया लेना होता है तो क्लियरिंग हाउस केन्द्रीय बैंक पर उसके पक्ष में चेक काट देता है।

व्यापार की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर साख का नियन्त्रण करना और सरकार द्वारा निर्धारित द्रव्य को चलाना : व्यापार की आवश्यकता को पूरा करने के लिये केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण करता है। यदि व्यापार के लिये अधिक साख की आवश्यकता होती है तो वह साख का विस्तार करता है और यदि व्यापार को कम साख की आवश्यकता होती है तो साख को सकुचित कर देता है। केन्द्रीय बैंक यह कार्य राष्ट्र के आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर करता है। इसी उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक देश में द्रव्य की पूर्ति का भी नियन्त्रण करता है। वह जितने द्रव्य की व्यापार के लिये आवश्यकता समझता है उतना निकालता है। यदि किसी समय अधिक द्रव्य

आवश्यकता होती है तो अधिक द्रव्य जनता को देता है नहीं तो द्रव्य को ... में से खींच लेता है। केन्द्रीय बैंक राष्ट्र के आर्थिक हितों की रक्षा करने ... बनाने के उद्देश्य से करन्सी तथा साख दोनों का नियन्त्रण करता है। ... क्योंकि बैंकों द्वारा निर्माण की हुई साख ही विनिमय अर्थात् व्यापार का ... माध्यम है और द्रव्य का उसकी अपेक्षा बहुत कम उपयोग होता है इस ... साख का नियन्त्रण ही केन्द्रीय बैंक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। ... बैंक किस प्रकार साख तथा द्रव्य का नियन्त्रण करता है यह आगे के ... में हम विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

परिच्छेद ४४

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख तथा द्रव्य का नियन्त्रण

सच तो यह है कि केन्द्रीय बैंक का यह कार्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और उसके अन्य सब कार्य इससे सम्बन्धित हैं। पिछले वर्षों में क्रमश. व्यापार की उन्नति के साथ-साथ सभी देशों में द्रव्य (money) की अपेक्षा साख (credit) व्यापार का मुख्य माध्यम बन गया। आज व्यापारी तथा सर्वसाधारण जितने चेक इत्यादि का उपयोग अपने लेन-देन में करते हैं उतना सिक्कों या कागजी नोटों का नहीं करते। यदि पिछड़े देशो को छोड़ दें तो चेक इत्यादि का उपयोग नोटों तथा सिक्कों से दस गुने से भी अधिक होता है। अब क्रमश भारत में भी चेक का उपयोग बढ रहा है। और, क्योंकि साख का वस्तुओं के मूल्य पर तथा व्यापार पर प्रभाव पड़ता है इस कारण उसका नियन्त्रण करना आवश्यक हो जाता है।

साख तथा द्रव्य नियन्त्रण के दो मुख्य उद्देश्य होते हैं। देश की करसी की विनिमय दर (exchange rate) को स्थायित्व प्रदान करना और देश के अन्दर मूल्य स्तर (price level) को स्थायित्व प्रदान करना अर्थात् जल्दी जल्दी मूल्य-स्तर को न बदलने देना। १८१७ से १९१४ तक तथा एक सीमा तक १९२५ से १९३१ तक केन्द्रीय बैंक देश की करसी की विनिमय दर को स्थायित्व प्रदान करना अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझते थे, इस कारण साख का नियन्त्रण इसी उद्देश्य से किया जाता था। उस समय सभी देशों में यह धारणा प्रचलित थी कि विनिमय दर का स्थायित्व अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास को बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढाने के लिये आवश्यक है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि तथा उन्नति मे ही सबों की आर्थिक उन्नति और हित छिपा हुआ है। आज भी बहुत से अर्थशास्त्री तथा बैंकर इसी मत के हैं कि विनिमय दर के स्थायी रहने से प्रत्येक देश को लाभ है और उनकी आर्थिक उन्नति होती है।

१९३१ के उपरान्त ससार के सब देशों ने सुवर्ण मान (gold-standard) को छोड़ दिया और तब से एक बहुत बड़ी सख्या मे अर्थशास्त्री तथा बैंकर इस मत को स्वीकार करने लगे हैं कि केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण का उद्देश्

की है कि देश में आर्थिक स्थायित्व (economic stabilisation) स्थापि हो और देश के उद्योग-धंधे तथा व्यापार मे शिथिलता न आवे। जब आर्थिक मदी (economic depression) आती है जिससे उत्पाद (production) को धक्का लगता है, उद्योग-धधे और व्यापार ठप्प सा जाता है, बेकारी फैल जाती है, अत्यन्त कष्टसाध्य होती है और देश की आर्थि गति को रोक देती है। इस कारण देश की साख तथा द्रव्य का नियत्रण इ उद्देश्य को रख कर किया जावे कि आर्थिक मदी को बचाया जा सके।

दूसरे महायुद्ध (१६४५) के उपरान्त विद्वानों का एक चौथा मत इस सम्बन्ध में हमारे सामने आया है। वह मत यह है कि द्रव्य तथा सा सबधी नीति के नियत्रण का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर (internation exchange rates) को जहाँ तक हो सके स्थायित्व प्रदान करना, देश बेकारी को दूर करना तथा देश की वास्तविक आय को बढाना है। एक प्रक से इस मत के लोग पहले तथा तीसरे उद्देश्यों को एक में मिलाने के पक्ष में है अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष (international monetary fund) जो दूसरे मह युद्ध के उपरान्त बना उसका उद्देश्य यही है। अभी हाल मे सयुक्तराज्य अमेरि इत्यादि देशों ने इस बात की घोषणा की है कि उनकी द्रव्य नीति तथा सा नीत (montary and credit policy) का उद्देश्य देश की बेकारी क दूर करना तथा देश की आय को बढाना है।

केन्द्रीय बैंक द्रव्य और साख पर किस प्रकार नियंत्रण स्थापि करता है : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि किसी देश में द्रव्य और बैं की डिपाजिट ही विनिमय का माध्यम होती है। अर्थात् दूसरे शब्दों में हम क सकते हैं कि व्यापार तथा लेन-देन के लिये जो भी विनिमय का साधन या द्र हमें मिलता है वह करसी और डिपाजिट के द्वारा ही मिलता है और बैंक सा देकर डिपाजिट निर्माण करते हैं। केन्द्रीय बैंक को कागजी नोट निकलने क एकाधिकार प्राप्त होता है, इस कारण भुगतान के इस माध्यम का जहाँ त प्रश्न है केन्द्रीय बैंक इसका सरलता से नियत्रण कर सकता है। जहाँ सुव मान (gold standard) होता है वहाँ लोगो को यह छूट रहती है कि सोना देकर कागजी नोट ले लें। उस दशा में केन्द्रीय बैंक का कागज़ी नोट निकालने पर सीधा नियत्रण तो नही रहता किन्तु बैंक अन्य उपायों से उस प नियत्रण स्थापित करता है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय बैंक यदि चाहता कि अधिक नोट निकाले तो वह बाजार में सिक्यूरिटियों को खरीदने लगेगा उसका परिणाम यह होगा कि सर्व साधारण को सिक्यूरिटियो के मूल्य-स्वरू

कागजी नोट दिए जावेंगे और नोट चलन में आ जावेंगे। यदि केन्द्रीय बैंक नोटों को चलन में से कम करना चाहेगा तो वह सिक्यूरिटियों को बेचने लगेगा और इस प्रकार उसके पास मूल्य-रूप में नोट आ जावेंगे जिनको वह चलन से निकाल कर रख लेगा। इसी प्रकार अन्य तरीकों से भी केन्द्रीय बैंक कागजी द्रव्य का नियंत्रण करता है।

किन्तु आज के समाज में अपनी देनदारी का भुगतान करने का मुख्य साधन व्यापारिक बैंकों की डिपाज़िट है। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यापारिक बैंक ऋण देकर डिपाज़िट निर्माण करते हैं, अस्तु, केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य व्यापारिक बैंकों द्वारा निर्मित हुई साख पर नियंत्रण स्थापित करना है।

यह तो हम ऊपर कह चुके हैं कि व्यापारिक बैंक ही साख का निर्माण करते हैं, अतएव, यदि केन्द्रीय बैंक देश में साख का नियंत्रण करना चाहता है तो उसे व्यापारिक बैंकों के कार्यों का नियंत्रण करना होगा। बैंकों के कार्यों पर नियंत्रण स्थापित करने में केन्द्रीय बैंक को दो बातों से बड़ी सहायता मिलती है। एक तो यह कि बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति उनके नक़द कोष (cash reserves) पर निर्भर होती है और दूसरी यह कि केन्द्रीय बैंक उनको आसानी से घटा-बढ़ा सकता है। इस प्रकार वह बैंकों के साख निर्माण की शक्ति को नियंत्रित कर देता है।

बैंकों का नक़द कोष: उस नकदी को कहते हैं जो व्यापारिक बैंकों के पास रहती है तथा उस रुपये को कहते हैं जो केन्द्रीय बैंक में उनके हिसाब में जमा रहता है। अस्तु, व्यापारिक बैंकों के नक़द कोष में सिक्के तथा कागजी नोट और केन्द्रीय बैंक के पास जमा किये हुए होते हैं। इसमें सिक्के महत्त्वहीन हैं और कागजी नोट भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होते। कागजी नोट तथा सिक्के व्यापारिक बैंकों के लिए इसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार एक बड़े दुकानदार के लिए छोटे सिक्के एक आना, दो आना इत्यादि जिससे माल बेचने में झंझट न हो। अस्तु, बैंकों का नक़द कोष मुख्यतः केन्द्रीय बैंक के पास जमा किया हुआ होता है। ब्रिटेन इत्यादि उन्नतिशील देशों में तो व्यापारिक बैंक मुख्यतः केन्द्रीय बैंक के पास अपने जमा किए हुए रुपये पर ही निर्भर रहते हैं। अपने पास नोट या सिक्के तो केवल काम चलाने के विचार से बहुत थोड़ी मात्रा में रखते हैं। हाँ, भारत तथा अन्य देशों में अवश्य व्यापारिक बैंक अपने पास अधिक नकदी रखते हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यापारिक बैंक नक़द कोष जितना भी कम हो सकता है उतना कम रखते हैं क्योंकि उस पर उन्हें कोई लाभ नहीं होता। परन्तु कानून के अनुसार अथवा परिपाटी

के अनुसार उन्हें अपनी डिपाजिट का एक निश्चित प्रतिशत नकद कोष
रूप में अर्थात् केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। हम यह भी कह चुके
कि व्यापारिक बैंक साख देकर डिपाजिटों का निर्माण करते हैं। किन्तु उन
डिपाजिट निर्माण करने की शक्ति उनके नकद कोष पर निर्भर होती है। दू
अर्थों में यदि बैंक अपनी डिपाजिटों को बढाना चाहता है तो अधिक नकद
होना चाहिए। जितना ही अधिक नकद कोष अर्थात् केन्द्रीय बैंक के
व्यापारिक बैंकों का रुपया जमा होगा उतनी ही अधिक डिपाज़िट बैंक नि
कर सकेंगे। अस्तु, यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को विवश कर सके
वह कितना रुपया उसके पास जमा रक्खें तो वह उनके द्वारा निर्माण की
वाली डिपाज़िटों पर भी नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। दूसरे शब्द
केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद कोष का नियन्त्रण करके उनकी डिपा
पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है।

केन्द्रीय बैंक किस प्रकार नकदी पर नियंत्रण स्थापित करता

केन्द्रीय बैंक तीन प्रकार से व्यापारिक बैंक के उसके पास जमा किए हुए
पर नियन्त्रण स्थापित करता है—(१) बाजार में सरकारी सिक्यूरिटियों (प्रति
तथा सरकारी हुंडियों (treasury bills) को खरीदकर, (२) बाजा
सोना खरीद कर, और (३) सरकारी खर्च को इस प्रकार नियन्त्रित करे
सरकार को जो कर रूप में आमदनी हो वह उसके खर्च से कम रहे।

बाज़ार में सरकारी हुण्डियों और सरकारी सिक्यूरिटियों को ख
का परिणाम यह होगा कि केन्द्रीय बैंक को इनके मूल्य को जनता, बैंकों
अन्य संस्थाओं को चुकाना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय बैं
चेक उन व्यक्तियों, बैंकों तथा संस्थाओं को मूल्य रूप में देगा वे चेक अ
व्यापारिक बैंकों के पास आ जावेंगे और वह उतना रुपया केन्द्रीय बैंक से
करेंगे। केन्द्रीय बैंक उतना रुपया उन बैंकों के हिसाब में जमा कर देगा।
अर्थ यह हुआ कि व्यापारिक बैंकों की जो केन्द्रीय बैंक के पास जमा (depos
उसमें वृद्धि होगी अर्थात् उनके नकद कोष मे वृद्धि हो जावेगी और व्याप
बैंक अधिक साख देकर अधिक डिपाजिटों का निर्माण करेंगे। यह तो हम
ही कह चुके हैं कि डिपाजिटों का उपयोग किसी देनदारी का भुगतान क
द्रव्य के समान होता है और जहाँ तक विनिमय के माध्यम (mediu
exchange) का प्रश्न है वे कागज़ी नोटों या सिक्कों का वैसा ही कार्य
हैं। अतएव दूसरे शब्दों में डिपाजिटों की वृद्धि होने से द्रव्य में वृ
जावेगी।

के अनुसार उन्हें अपनी डिपाजिट का एक निश्चित प्रतिशत नक़द कोष रूप में अर्थात् केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। हम यह भी कह चुके कि व्यापारिक बैंक साख देकर डिपाजिटों का निर्माण करते हैं। किन्तु उ डिपाज़िट निर्माण करने की शक्ति उनके नक़द कोष पर निर्भर होती है। दू अर्थों में यदि बैंक अपनी डिपाज़िटों को बढाना चाहता है तो अधिक नक़द होना चाहिए। जितना ही अधिक नक़द कोष अर्थात् केन्द्रीय बैंक के व्यापारिक बैंकों का रुपया जमा होगा उतनी ही अधिक डिपाज़िट बैंक नि कर सकेंगे। अस्तु, यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को विवश कर सके वह कितना रुपया उसके पास जमा रक्खें तो वह उनके द्वारा निर्माण की वाली डिपाज़िटों पर भी नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। दूसरे शब्द केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद कोष का नियन्त्रण करके उनकी डिपा पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है।

केन्द्रीय बैंक किस प्रकार नकदी पर नियंत्रण स्थापित करता

केन्द्रीय बैंक तीन प्रकार से व्यापारिक बैंक के उसके पास जमा किए हुए पर नियंत्रण स्थापित करता है—(१) बाजार में सरकरी सिक्यूरिटियों (प्रति तथा सरकारी हुंडियों (treasury bills) को खरीदकर, (२) बाजा सोना खरीद कर, और (३) सरकरी खर्च को इस प्रकार नियन्त्रित करे सरकार को जो कर रूप में आमदनी हो वह उसके खर्च से कम रहे।

बाज़ार में सरकारी हुण्डियों और सरकारी सिक्यूरिटियों को ख का परिणाम यह होगा कि केन्द्रीय बैंक को इनके मूल्य को जनता, बैंकों अन्य सस्थाओं को चुकाना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय बै चेक उन व्यक्तियों, बैंकों तथा सस्थाओं को मूल्य रूप में देगा वे चेक अ व्यापारिक बैंकों के पास आ जावेंगे और वह उतना रुपया केन्द्रीय बैंक से करेंगे। केन्द्रीय बैंक उतना रुपया उन बैंकों के हिसाब में जमा कर देगा। इ अर्थ यह हुआ कि व्यापारिक बैंकों की जो केन्द्रीय बैंक के पास जमा (deposi उसमें वृद्धि होगी अर्थात् उनके नकद कोष मे वृद्धि हो जावेगी और व्याप बैंक अधिक साख देकर अधिक डिपाजिटों का निर्माण करेंगे। यह तो हम ही कह चुके हैं कि डिपाजिटों का उपयोग किसी देनदारी का भुगतान कर द्रव्य के समान होता है और जहाँ तक विनिमय के माध्यम (medium exchange) का प्रश्न है वे कागजी नोटों या सिक्कों का वैसा ही कार्य हैं। अतएव दूसरे शब्दों में डिपाजिटों की वृद्धि होने से द्रव्य में वृद्धि जावेगी।

[illegible] बैंक बाजार मे सोना खरीदेगा तो भी वही परिणाम होगा जो [illegible] के खरीदने या सरकारी सिक्यूरिटियों के खरीदने से हुआ। [illegible] पर उसके मूल्य-स्वरूप केन्द्रीय बैंक उन व्यापारियों को चेक देगा [illegible] बैंकों को केन्द्रीय बैंक मे वसूल करने के लिये दे देंगे। व्यापारिक [illegible] चेकों को केन्द्रीय बैंकों के पास भेजेंगे और केन्द्रीय बैंक उतना रुपया [illegible] बैंकों के हिसाब में जमा कर देगा। इसका अर्थ यह हुआ कि [illegible] बैंकों का नक़द कोष बढ जावेगा और वे साख देकर अधिक डिपा- [illegible] निर्माण करेंगे, दूसरे शब्दों में द्रव्य की वृद्धि हो जावेगी।

[illegible] केन्द्रीय बैंक सरकार के खर्च की इस प्रकार व्यवस्था करता है [illegible] सरकारी कर से उन दिनों आमदनी होती है उससे कहीं अधिक [illegible] खर्च होता है तो इसका परिणाम पहले दोनों तरीकों से बिलकुल [illegible] होता है। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापारिक बैंकों के (जनता) को करों के रूप में जितना रुपया सरकार को देना पड़ता है [illegible] कहीं कम होता है जो उन्हें सरकार से वेतन तथा सरकार को बेचे [illegible] में मिलता है। इसका फल यह होगा कि व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय [illegible] पास जो डिपाज़िट है वह बढ जावेगी। क्यों जनता अपने करों को [illegible] देगी और वे चेक व्यापारिक बैंकों के ऊपर काटे गये होंगे। इन [illegible] व्यापारिक बैंकों की केन्द्रीय बैंकों के पास रक्खी हुई डिपाज़िट [illegible] कम हो जावेगी। किन्तु साथ ही सरकार के अत्यधिक व्यय के फल [illegible] को केन्द्रीय बैंक पर जो चेक मिलेंगे उनको वसूल करने के लिये [illegible] बैंकों को दे देंगे। व्यापारिक बैंक उन चेकों को केन्द्रीय बैंक में [illegible] और केन्द्रीय बैंक उतना रुपया व्यापारिक बैंकों के हिसाब में जमा [illegible] करों की आमदनी से खर्च अधिक किया गया है इसलिये [illegible] बैंकों की केन्द्रीय बैंक के पास जमा (deposit) में वृद्धि हो [illegible] उनके नक़द कोष में वृद्धि होगी और वे अधिक डिपाज़िटों का [illegible]। दूसरे शब्दों में द्रव्य की वृद्धि हो जावेगी।

[illegible] यदि केन्द्रीय बैंक सरकारी सिक्यूरिटियों और सरकारी ([illegible] bills) को बेचे, सोने को बेचे अथवा सरकारी [illegible] का इन [illegible] इत्यादि से होने वाली आय सरकारी व्यय से [illegible] ऊपर बतलाये हुए परिणाम के सर्वथा विरुद्ध परिणाम होगा। [illegible] का फल यह होगा कि जनता को केन्द्रीय बैंक को सरकारी [illegible], सोने अथवा सरकारी [illegible] का मूल्य चुकाने के लिये उनको

बैंकों पर चेक (cheque) देने होंगे। यदि सरकारी व्यय की अपेक्षा करों से होने वाली आमदनी अधिक है तो भी जनता करों को अपने बैंकों पर चेक काट कर और केन्द्रीय बैंक को देकर चुकावेगी। फल यह होगा कि व्यापारिक बैंकों को यह सारा रुपया केन्द्रीय बैंक को चुकाना होगा। किन्तु व्यवहार में इसका परिणाम केवल यही होगा कि व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंक में जो रुपया जमा है उसमें कमी हो जावेगी। इस प्रकार जब व्यापारिक बैंकों के नक़द कोष में कमी हो जावेगी तो वे अपने नक़द कोष को बढ़ाने के लिये दिए हुये ऋण को वापस माँगेंगे तथा साख देकर नई डिपाजिटों का निर्माण करना रोक देंगे या बहुत कम कर देंगे। दूसरे शब्दों में द्रव्य की कमी हो जावेगी।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नक़द कोष को जिस प्रकार चाहे घटा-बढ़ा कर द्रव्य राशि (quantity of money) को नियन्त्रित कर सकता है। किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता भी है। व्यापारिक बैंक बट्टा बाजार (discount market) के द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास ऋण लेने के लिए पहुँच सकते हैं और इस प्रकार केन्द्रीय बैंक से अपने भुनाये हुए बिलों को पुनः भुना कर (re-discount) अपने नक़द कोष को पूरा कर सकते हैं। व्यापारिक बैंक दो में से एक काम कर सकते हैं। उन देशों में जैसे इङ्गलैण्ड जहाँ बट्टा बाजार उन्नत अवस्था में है और जहाँ व्यापारिक बैंक व्यापारिक बिलों को स्वयं न भुनाकर बट्टा बाजार (brokers) दलालों को ऋण दे देते हैं और वे व्यापारिक बिलों को भुनाते हैं, वहाँ व्यापारिक बैंक बट्टा बाजार को दिए हुए ऋण को वापस माँग सकते हैं। इसका फल यह होगा कि बट्टा बाजार बिलों को बैंक ऑव इङ्गलैण्ड से भुनाकर ऋण प्राप्त करेगा और व्यापारिक बैंकों को उनका ऋण वापस कर देगा। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापारिक बैंकों की बैंक ऑव इङ्गलैण्ड (इंगलैण्ड का केन्द्रीय बैंक) में डिपाज़िट बढ़ जावेगी अर्थात् व्यापारिक बैंकों के नक़द कोष में वृद्धि होगी। जहाँ बट्टा बाजार उन्नत अवस्था में नहीं होता है वहाँ व्यापारिक बैंक स्वयं सीधे व्यापारिक बिलों को भुनाते हैं। अस्तु, यदि केन्द्रीय बैंक उनके नक़द कोष को घटाने की चेष्टा करे तो वे अपने भुनाये हुए बिलों को लेकर केन्द्रीय बैंक के पास पहुँच सकते हैं और उन बिलों को केन्द्रीय बैंक से पुनः भुनाकर उससे ऋण प्राप्त कर सकते हैं और अपने नक़द कोष को घटने से बचा सकते हैं। यदि ऐसा हो तब तो केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नक़द कोष का नियन्त्रण करने में असमर्थ सिद्ध होगा और द्रव्य को घटा-बढ़ा न सके। परन्तु जब व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक

[illegible] या बट्टा बाजार के द्वारा ऋण लेने पहुचते हैं तो केन्द्रीय बैंक की बट्टा (discount rate) प्रभावशाली हो जाती है। बट्टा दर वह दर है [illegible] बैंक बिलों को पुन. भुनाकर बैंकों को ऋण देता है। यदि बैंक चाहता [illegible] व्यापारिक बैंक कम साख का निर्माण करें तो वह बट्टा-दर को ऊँचा कर [illegible]। [illegible] अर्थ यह हुआ कि जब व्यापारिक बैंकों को ऋण ऊँची दर पर [illegible] वे अपनी सूद की दर को और ऊँचा उठावेंगे इसका फल यह [illegible] कि [illegible] कम लिया जावेगा और साख का कम निर्माण होगा। यदि बैंक [illegible] कि साख का निर्माण अधिक हो तो वह अपनी दर को कम कर [illegible]। [illegible], केन्द्रीय बैंक उस दशा में जब व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास [illegible] लिये पहुँचते हैं तो वह अपनी दर को ऊँचा उठा कर या नीचा गिरा [illegible] में साख के निर्माण का नियन्त्रण करता है।

साख नियन्त्रण के तरीके : जिन तरीकों से केन्द्रीय बैंक साख का [illegible] करता है वे नीचे लिखे हैं :—

(१) अपनी बट्टा-दर और सूद की दर को घटाना या बढ़ाना जिससे [illegible] में साधारणतः सूद की दर घटे या बढ़े और साख का विस्तार या [illegible] हो।

(२) सिक्यूरिटियों (प्रतिभूति) को तथा बिलों को खुले बाजार में [illegible] से खरीदना या बेचना जिससे बाजार में अधिक द्रव्य दिया जावे [illegible] बाजार में से द्रव्य खींचा जा सके और इस प्रकार साख (credit) को [illegible] या कम किया जाता है।

(३) साख का राशनिंग (rationing of credit) करके भी साख [illegible] किया जाता है। कभी कभी केन्द्रीय बैंक बट्टा दर या सूद की दर [illegible] के साथ ही साख का राशनिंग कर देते हैं और कभी स्वतन्त्र रूप [illegible] राशनिंग के द्वारा ही उसका नियन्त्रण करते हैं।

(४) उन बैंकों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करके जो केन्द्रीय बैंक से [illegible] के लिए तथा अत्यधिक मात्रा में ऋण लेते हैं, या जिनके बारे [illegible] को यह शिकायत हो कि वे उनसे रुपया लेकर सट्टा या फाटका [illegible]) के लिए पूँजी देते हैं अथवा उन धन्धों को साख देते हैं जो [illegible] महत्वपूर्ण नहीं हैं अथवा उपभोग के लिए साख (consumer [illegible]) देते हैं।

(५) केन्द्रीय बैंक अपना नैतिक प्रभाव डाल कर तथा [illegible] [illegible] करने का प्रयत्न करता है।

(६) केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के द्वारा उसके पास रक्खे गये न्यू-तम नक़द कोष (minimum reserve) को अधिक करके अथवा घटा कर व्यापारिक बैंकों को इस बात के लिए विवश करता है कि वे साख का निर्माण कम करें या अधिक करें।

ऊपर लिखे तरीकों में साख का नियन्त्रण करने के सबसे अधिक महत्वपूर्ण पहले दो तरीके हैं। अर्थात् केन्द्रीय बैंक सूद की दर को घटा-बढा कर और खुले बाजार मे बिलों और सिक्यूरिटियों को खरीद-बेचकर अधिकतर साख का नियन्त्रण करता है। किन्तु यहाँ एक बात समझ लेने की है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा 'बट्टा दर' को ऊँचा कर देने से स्वतः ही साख का निर्माण कम नहीं हो जावेगा। हाँ, यदि केन्द्रीय बैंक की सूद की दर ऊँची होने से द्रव्य बाजार (money market) में सूद की दर ऊँची हो जावे तब अवश्य साख का निर्माण कम होगा। और इसी प्रकार बैंक की दर गिरने से यदि द्रव्य बाजार मे सूद की दर गिर जावे तो साख का अधिक विस्तार होगा। अस्तु, साख का बढना या घटना इस बात पर निर्भर होता है कि द्रव्य बाजार में सूद की दर केन्द्रीय बैंक की दर के साथ-साथ घटती-बढती है। यदि केन्द्रीय बैंक की दर (bank rate) में परिवर्त्तन होने से द्रव्य बाजार की सूद की दर में परिवर्त्तन न हो तो साख के निर्माण पर केन्द्रीय बैंक की दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अस्तु, केन्द्रीय बैंक की दर केवल इसीलिए साख के नियन्त्रण में सफल हो पाती है क्योंकि यह एक परिपाटी स्थापित हो गई है कि द्रव्य बाजार के व्यापारिक बैंक अपनी सूद की दर को केन्द्रीय बैंक की दर के आधार पर निर्धारित करते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक की दर ऊँची चढती है तो व्यापारिक बैंक भी अपनी सूद की दर चढा देते हैं और यदि केन्द्रीय बैंक की दर नीचे गिरती है तो वे भी अपनी सूद की दर नीचे गिरा देते हैं। व्यापारिक बैंक यह जानते हैं कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो केन्द्रीय बैंक के पास और भी अस्त्र हैं जिनसे वह अपनी सूद की दर को प्रभावशाली बना सकता है। अस्तु, वे केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व को स्वीकार कर लेते हैं और अपनी सूद की दर को केन्द्रीय बैंक की दर के अनुसार निश्चित करते हैं, फिर चाहे द्रव्य बाजार की स्थिति को देखते हुए सूद की दर में परिवर्त्तन की आवश्यकता हो या न हो।

(७) केन्द्रीय बैंक अपनी सूद की दर को प्रभावशाली बनाने के लिये अथवा स्वतन्त्र रूप से साख का नियन्त्रण करने के लिये खुले बाजार में बिलों तथा सिक्यूरिटियों का विक्रय करता है। इसको 'खुले बाजार की क्रिया' (open market operations) कहते हैं। 'खुले बाजार की क्रिया' नीचे लिखी

[illegible] है, यदि केन्द्रीय बैंक चाहता है कि साख का निर्माण कम हो तो वह [illegible] की सिक्यूरिटियों को बाजार में बेच देगा। सिक्यूरिटी खरीदने वाले [illegible] बैंक होंगे या उनके ग्राहक होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि [illegible] बैंकों का केन्द्रीय बैंक के पास डिपाजिट कम हो जावेगा और उनके [illegible] कोष के कम होने से उन्हें साख को कम करना होगा। यदि केन्द्रीय बैंक [illegible] सिक्यूरिटियों को खरीदने लगेगा तो इसका उलटा परिणाम होगा [illegible] व्यापारिक बैंक अधिक साख का निर्माण करने लगेंगे। 'खुले बाजार की [illegible] केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिये करता है :—

(क) केन्द्रीय बैंक की सूद की दर को प्रभावशाली बनाने के लिये 'खुले [illegible] की क्रिया' से व्यापारिक बैंकों का नकद कोष घट या बढ़ जाता है। [illegible] केन्द्रीय बैंक की दर के अनुसार अपनी दर को निश्चित करना [illegible] है।

(ख) [illegible] बाजार में द्रव्य के मौसमी हेर-फेर से तथा सरकारी कोषों ([illegible]) के हेर-फेर से होने वाली गड़बड़ को कम करने के लिए भी 'खुले [illegible] की क्रिया' की जाती है। उदाहरण के लिये वर्ष के कुछ महीनों में व्यापार [illegible] होता है और व्यापार को अधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है। उस [illegible] केन्द्रीय बैंक बिल तथा सिक्यूरिटियों को खुले बाजार में खरीद कर बाजार [illegible] द्रव्य दे देता है, क्योंकि व्यापारिक बैंक भी केन्द्रीय बैंक के [illegible] अधिक साख का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार यदि सरकार 'कर' [illegible] द्रव्य बाजार में से खींच ले तो भी बाजार में द्रव्य की कमी [illegible] भी केन्द्रीय बैंक बिल तथा सिक्यूरिटी खरीद कर द्रव्य [illegible] करता है।

(ग) [illegible] आयात तथा निर्यात का जो देश की करन्सी पर प्रभाव [illegible] रोकने के लिए भी 'खुले बाजार की क्रिया' की जाती है। [illegible] यदि किसी देश में सुवर्ण-मान (gold standard) हो और [illegible] (balance of trade) देश के विरुद्ध हो और [illegible] तो सोना जाने लगेगा और केन्द्रीय बैंक को [illegible] इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में [illegible] उस समय केन्द्रीय बैंक 'खुले बाजार की क्रिया' [illegible] बिल और सिक्यूरिटी खरीद कर बाजार में [illegible] परिणाम यह होगा [illegible]

अर्थात् करसी आवश्यकता से अधिक हो जावेगी। उस समय केन्द्रीय बैं विल तथा सिक्यूरिटी को वेचकर अनावश्यक द्रव्य या करसी को चलन में से खींच लेता है।

(घ) 'खुले बाजार की क्रिया' इसलिए भी की जाती है कि जिससे सूद की दर गिर जावे और सरकार अपने ऋण को कम सूद पर वेच सके अथवा पुराने ऋण को जो ऊँची दर पर लिया गया था कम सूद के ऋण में बदल सके।

(ङ) 'खुले बाजार की क्रिया' का एक उद्देश्य यह भी होता है कि सूद की दर नीची रहे जिससे व्यापार पनपे और उन्नत हो।

(३) साख का राशनिंग करना : कभी-कभी केन्द्रीय बैंक साख क राशनिंग करके साख का नियन्त्रण करता है। जव व्यापारिक बैंक अथवा वट्टा गृह (discount houses) अपने विलों को भुनाने के लिए केन्द्रीय बैंक प्रार्थना करते हैं और उन सब विलो का कुल मूल्य उस रकम से अधिक होता जितने मूल्य के विल किसी-एक दिन में केन्द्रीय बैंक भुनाना तय करता है त प्रत्येक बैंक या बट्टा-गृह के प्रार्थना-पत्र में से केन्द्रीय बैंक कुछ कमी कर देत है और भुनाता है, और इस प्रकार साख का नियन्त्रण किया जाता है।

(४) सीधी कार्यवाही करके (Direct Action) कभी-कभ बट्टा-दर या खुले बाजार की क्रिया के स्थान पर केन्द्रीय बैंक सीधी कार्यवा करता है, कभी ऊपर लिखे दोनों उपायों के साथ-साथ भी सीधी कार्यवाही जाती है। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि कोई बैंक अपनी पूँजी तथा सुरक्षि कोष (reserve fund) को देखते हुए केन्द्रीय बैंक से अधिक ऋण लेता अथवा वह बैंक सट्टा या फटका (speculation) के लिए ऋण देता है अथव अनावश्यक धंधों को ऋण देता है अथवा उपभोग के लिए साख देता है, केन्द्रीय बैंक उस बैंक या ऐसे बैंकों के विलों को भुनाना अस्वीकार कर देता और यदि उनके विल भुनाता भी है तो उनसे ऊँची दर लेकर उन्हें दण्डि करता है।

(५) नैतिक दबाव (Moral Suasion) : जब केन्द्रीय बैंक देखत है कि साख का अधिक विस्तार न होने देना देश के आर्थिक हित में है औ व्यापारिक बैंक अधिक साख निर्माण कर रहे हैं तो वह उन्हें अपनी बताई नीति को वरतने के लिए कहता है। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक समझता कि साख का विस्तार होना चाहिए तो वह व्यापारिक बैंकों को वैसा ही कर के लिए कहता है। केन्द्रीय बैंक का द्रव्य-बाजार में इतना अधिक नैतिक प्रभा होता है कि प्रत्येक व्यापारिक बैंक उसकी बात को मानता है। इस प्रकार अप

देश में सोना आने लगता है अथवा जाने वाला सोना रुक जाता है। जब कोई देश सुवर्ण मान पद्धति पर होता है और उस देश का आयात निर्यात से अधिक होता है तो स्वभावतः उस देश की करसी का अन्य देशों की करसी की तुलना में मूल्य गिरने लगता है और सुवर्ण बाहर जाने लगता है। उस समय केन्द्रीय वैंक सूद की दर को ऊँचा कर देता है। केन्द्रीय वैंक की सूद की दर ऊँची चढने से देश में सूद की दर ऊँची उठ जाती है और विदेशी व्यापारी अपने रुपये को सुवर्ण के रूप में न मँगवाकर उसी देश मे अधिक सूद का लाभ उठाने के लिए अपना रुपया वैंकों इत्यादि में जमा कर देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सुवर्ण बाहर जाने से रुक जाता है और विनिमय दर नहीं गिरता।

यही नहीं जब देश में सूद की दर ऊँची उठ जाती है तो क्रयशक्ति (purchasing power) कम होती है और देश में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की देश में खपत न होने के कारण उनका निर्यात् होने लगेगा। इससे देश का निर्यात व्यापार (export trade) बढेगा और विदेशी व्यापार का अन्तर (balance of trade) देश के पक्ष में होगा और सुवर्ण का बाहर जाना रुक जावेगा।

इसके अतिरिक्त ऊँचे सूद की दर के कारण वस्तुओं का मूल्य गिरता है (क्योंकि साख का निर्माण कम होता है) तो व्यवसायियों को स्वभावत. अपने उत्पादन-व्यय (cost of production) को कम करना पड़ता है। उससे देश का भी निर्यात व्यापार बढता है और विदेशी व्यापार का अन्तर देश के पक्ष में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय वैंक की सूद की दर का देश के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

असगठित द्रव्य-बाजार पर केन्द्रीय वैंक का नियन्त्रण : ऊपर हमने केन्द्रीय वैंक के साख नियन्त्रण (credit control) का विवरण दिया, वह सगठित द्रव्य-बाजार (organised money market) का है। किन्तु सभी द्रव्य-बाजार सगठित नहीं होते। ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी इत्यादि देशों मे द्रव्य-बाजार सगठित है। वहाँ केन्द्रीय वैंक ऊपर लिखे अनुसार ही साख का नियन्त्रण करते हैं। किन्तु भारत तथा अन्य देशों में जहाँ द्रव्य-बाजार असगठित हैं वहाँ केन्द्रीय वैंक इस प्रकार साख का नियन्त्रण नहीं कर सकता।

इस प्रकार के असगठित द्रव्य-बाजार की [illegible] ह होती है कि वह वेकिग व्यवसाय उन्नत न होता, जनता मे [illegible] दन नहीं होती अल्पकालीन द्रव्य [illegible] ort term mo[illegible] या तो है [illegible]

देश में सोना आने लगता है अथवा जाने वाला सोना रुक जाता है। जब कोई देश सुवर्ण मान पद्धति पर होता है और उस देश का आयात निर्यात से अधिक होता है तो स्वभावतः उस देश की करसी का अन्य देशों की करसी की तुलना मूल्य गिरने लगता है और सुवर्ण बाहर जाने लगता है। उस समय केन्द्रीय बैंक की दर को ऊँचा कर देता है। केन्द्रीय बैंक की सूद की दर ऊँची चढने से देश में सूद की दर ऊँची उठ जाती है और विदेशी व्यापारी अपने रुपये को सुवर्ण के रूप में न मँगवाकर उसी देश मे अधिक सूद का लाभ उठाने के लिए अपना रुपया बैंकों इत्यादि में जमा कर देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सुवर्ण बाहर जाने से रुक जाता है और विनिमय दर नहीं गिरता।

यही नहीं जब देश में सूद की दर ऊँची उठ जाती है तो क्रयशक्ति (purchasing power) कम होती है और देश में उत्पन्न होने वाली वस्तु की देश में खपत न होने के कारण उनका निर्यात् होने लगेगा। इससे देश का निर्यात व्यापार (export trade) बढेगा और विदेशी व्यापार का अन्तर (balance of trade) देश के पक्ष में होगा और सुवर्ण का बाहर जाना रुक जावेगा।

इसके अतिरिक्त ऊँचे सूद की दर के कारण वस्तुओं का मूल्य गिरता है (क्योंकि साख का निर्माण कम होता है) तो व्यवसायियों को स्वभावत. अपना उत्पादन-व्यय (cost of production) को कम करना पड़ता है। उससे देश का भी निर्यात व्यापार बढता है और विदेशी व्यापार का अन्तर देश के पक्ष में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय बैंक की सूद की दर का देश के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

असगठित द्रव्य-बाजार पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण : ऊपर हमने केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण (credit control) का विवरण दिया, वह सगठित द्रव्य-बाजार (organised money market) का है। किन्तु सब द्रव्य बाजार सगठित नहीं होते। ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी इत्यादि देशों मे द्रव्य-बाजार सगठित है। वहाँ केन्द्रीय बैंक ऊपर लिखे अनुसार ही साख का नियन्त्रण करते हैं। किन्तु भारत तथा अन्य देशों में जहाँ द्रव्य बाजार असगठित हैं वहाँ केन्द्रीय बैंक इस प्रकार साख का नियन्त्रण नहीं कर सकता।

इस प्रकार के असगठित द्रव्य-बाजार की विशेषता यह होती है कि वहाँ बैंकिंग व्यवसाय उन्नत नहीं होता, जनता में बैंकिंग की आदत नहीं होती, अल्पकालीन द्रव्य-बाजार (short term money market) या तो है

चाहता है तो व्यापारिक बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक मे जमा किये जाने वाले नक कोष के अनुपात को बढा देगा और यदि साख को बढाना चाहता है तो नक कोष के अनुपात को घटा देगा।

साथ ही हमें यह न भूल जाना चाहिये कि यद्यपि केन्द्रीय बैंक की बट्टा दर अर्थात् सूद की दर असगठित द्रव्य बाजार में बहुत कारगर नहीं होती कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि केन्द्रीय बैंक की सूद की दर का उस पर कु प्रभाव नहीं पड़ता। असगठित द्रव्य बाजार में भी केन्द्रीय बैंक की सू की दर का उपयोग होता है और उसका प्रभाव पड़ता है। व्यापारिक परोक्ष रूप से केन्द्रीय बैंक की सूद की दर से प्रभावित होते हैं। फिर यह तो जानते ही हैं कि यदि उन्हें केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना होगा तो उ उस दर पर मिलेगा। अतएव वे भी केन्द्रीय बैंक के सूद की दर के अनुस ही अपनी सूद की दर को घटाते-बढाते है। सच तो यह है कि केन्द्रीय बैंक सूद की दर प्रभावशाली होगी या नहीं यह इस बात पर निर्भर रहता है केन्द्रीय बैंक की द्रव्य-बाजार मे कितनी प्रतिष्ठा है और उसे अन्य व्यापारि बैंकों का कितना सहयोग प्राप्त है।

और अधिकाश लोग अपना कारबार बैंकों की सहायता से करने लगे तो इस बात की आवश्यकता हुई कि एक-दूसरे पर काटे हुए चेकों की वसूली का अधिक सुविधाजनक और सरल तरीका निकाला जावे अतएव क्लियरिंग हाउस अथवा समाशोधन गृह को व्यवस्था की गई। चेकों के निष्कासन में एक बैंक की दूसरे बैंक पर जितनी माँग होती है उसको काट कर शेष (balance) को चुका दिया जाता है। निष्कासन एक क्लियरिंग हाउस (समाशोधन गृह) के द्वारा होता है। इस ढग से बहुत से लाभ होते हैं। क्लियरिंग हाउस की व्यवस्था होने से बैंक के कर्मचारियों को चेक इत्यादि की वसूली के लिए बार-बार अन्य बैंकों के चक्कर नहीं लगाने पड़ते और न चेकों तथा ड्राफ्टों को नकदी मे वसूल करने की आवश्यकता पड़ती है। इससे लाभ यह होता है कि मार्ग में रुपये के लुटे या मारे जाने की जोखिम नहीं रहती। यही नहीं बैंक को अपने पास अधिक नक़दी रखने की आवश्यकता नही पड़ती। यह पद्धति बहुत ही सुविधाजनक, सरल, जोखिम रहित और लाभदायक है।

अब हम यहाँ क्लियरिंग हाउस का एक उदाहरण देकर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि क्लियरिंग हाउस किस प्रकार काम करता है। प्रत्येक बैंक जो क्लियरिंग हाउस का सदस्य होता है अपने प्रतिनिधि को क्लियरिंग हाउस मे नियुक्त कर देता है। उसके पास एक रजिस्टर होता है जिसमे वह उन सब चेकों, बिलों, ड्राफ्टों, डिवीडेंड वारट तथा तार की हुन्डी (telegraphic transfer) को चढा देता है जिन्हें उसे क्लियरिंग हाउस के अन्य सदस्यों से वसूल करना है। प्रत्येक बैंक का प्रतिनिधि इनको एक प्रथम सूची भी बनाता है वस्तुतः यह सूची रजिस्टर के भिन्न-भिन्न कालमों की नकल होती है। प्रत्येक कालम में उन चेकों, बिलों, और ड्राफ्टों को चढ़ाया जाता है जो एक बैंक के ऊपर काटे गये हैं। इन सूचियों को जोड़ लिया जाता है और उतनी रकम को रजिस्टर में उक्त बैंक के नाम चढा दिया जाता है। प्रत्येक बैंक का प्रतिनिधि इस प्रकार अपने रजिस्टर में उन चेकों और बिलों इत्यादि को चढा लेता है और अन्य दूसरे बैंकों के नाम चढा देता है। जोड़ने का काम मशीनों द्वारा होता है क्लियरिंग हाउस मे यह मशीनें बराबर यह काम करती हैं, क्योंकि करोड़ अरबों का जोड़ और घटाना होता है और दिन मे चार बार निष्कासन होता है। प्रत्येक बैंक का प्रतिनिधि इन सूचियों को क्लियरिंग हाउस के अधिकारी को देता है और साथ ही उन चेकों, बिलों और ड्राफ्टों के बडल भी उसके सुपुर्द कर देता है। प्रत्येक बैंक का प्रतिनिधि को भी चेक और बिल दूसरे बैंकों पर उसे अपने बैंक से वसूल करने के लिए मिलते हैं उनको एक बडल

[illegible] कर देता है और उसके साथ उन चेकों की सूची भी क्लियरिंग हाउस के अधिकारी को दे देता है। क्लियरिंग हाउस का अधिकारी प्रत्येक बैंक के प्रतिनिधि को उसके नाम के चेकों, बिलों और ड्राफ्टों के बण्डल तथा उनकी सूचियाँ उन्हें सुपुर्द कर देता है। प्रत्येक प्रतिनिधि उन सूचियों तथा [illegible] को मिलाकर उन्हें अपने रजिस्टर में चढ़ा लेता है। अब प्रत्येक बैंक [illegible] उनको जोड़कर और जितने के चेक इत्यादि उसने दूसरों पर दिये [illegible] से घटा कर यह मालूम कर लेता है कि उसके बैंक को अन्य बैंकों से [illegible] कितना लेना है अथवा देना है। अपने रजिस्टर में यह सारा [illegible] लगाकर वह अपने रजिस्टर को क्लियरिंग हाउस के अधिकारियों को [illegible] है। क्लियरिंग हाउस के अधिकारी उनको मशीनों से फिर जाँच लेते [illegible] फिर वे यह हिसाब लगाते हैं कि प्रत्येक बैंक को आज सब मिलाकर [illegible] लेना अथवा देना है।

प्रत्येक बैंक का हिसाब केन्द्रीय बैंक में होता है और क्लियरिंग हाउस का हिसाब भी केन्द्रीय बैंक में होता है। जिस बैंक को किसी दिन क्लियरिंग हाउस के हिसाब में देना निकलता है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक के हिसाब में से उतना रुपया कम करके क्लियरिंग हाउस के हिसाब में जमा कर देता है। और जिस बैंक को क्लियरिंग हाउस के हिसाब में लेना होता है उसे क्लियरिंग हाउस उतने का केन्द्रीय बैंक पर चेक काट देता है। केन्द्रीय बैंक उतना रुपया क्लियरिंग हाउस के हिसाब में लिखकर उस बैंक के हिसाब में जमा कर देता है। इस प्रकार क्लियरिंग हाउस का हिसाब प्रति-दिन पूरा सन्तुलित हो जाता है [illegible] बैंक की जमा केन्द्रीय बैंक में घटती-बढ़ती रहती है।

परिच्छेद ४६
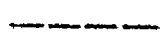
द्रव्य-बाज़ार (Money Market)

द्रव्य-बाजार में थोड़े समय के लिये रुपये का लेन-देन होता है। बाजार के द्वारा ही किसी देश के आर्थिक व्यवहार (financial tr tions) का निष्कासन होता है। द्रव्य-बाजार शब्द का उपयोग दो अर्थ सकता है। विस्तृत अर्थों मे इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के आर्थिक व्यवह जाते हैं किन्तु सकुचित अर्थों में उसके अन्तर्गत केवल अल्पकालीन व्यवहार (short term financial transactions) ही आते हैं। द्रव्य-बाजार के सम्बन्ध में साधारणतः कहते या लिखते हैं तो हमारा इस सकुचित अर्थ से होता है। दूसरे अर्थों में द्रव्य-बाजार अल्पकालीन भण्डार है जहाँ से व्यापार इत्यादि को अल्पकालीन समय के लिये कोष है। द्रव्य-बाजार में थोड़े समय के लिये कोष की खरीद-बिक्री होती है।

हमें यह न भूलना चाहिये कि द्रव्य-बाजार पूँजी के बाजार (c market) से भिन्न है। यों इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि व्यवहारों (transactions) का आरम्भ एक बाजार में होता है किन्तु बाजार में पूरे होते हैं। उदाहरण के लिये, सूद या कम्पनियों के लाभ (divi की अदायगी का प्रादुर्भाव तो पूँजी के बाजार में होता है और समाप्ति बाजार में होती है। सूद या डिवीडेण्ड की अदायगी का द्रव्य-बाजार प प्रभाव पड़ता है जो हुण्डी या बिल इत्यादि का पड़ता है। द्रव्य-बाजा पूँजी के बाजार में घनिष्ठ सम्बन्ध तो होता है किन्तु वे दो पृथक् कार्य भ हैं। द्रव्य-बाजार का सम्बन्ध अल्पकालीन कोष से होता है जिसका व्यापारिक कारबार में होता है अथवा सरकार को यदि अल्पकाल के लि की आवश्यकता होती है तो उसको पूरा करने में होता है। इसके विपरीत के बाजार (capital market) का सम्बन्ध दीर्घ कालीन (long te कोष (funds) से होता है जिसकी उद्योग-धन्धों (industries) या स को आवश्यकता होती है।

कार्यों की भिन्नता के अतिरिक्त इन बाजारों में काम करने वाली स भी भिन्न होती हैं। प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न सस्थाएँ दोनों बाजारों में

है। अन्य दूसरे बाजार खास द्रव्य-बाजर के सहायक होते हैं। इन बाजारों के कारबार तथा व्यवहारों (transactions) के लिए जो अर्थ की आवश्यकता होनी है उसका प्रबन्ध द्रव्य-बाजार ही करता है। यदि अन्य बाजार न हों तो सम्भवतः द्रव्य-बाजार की आवश्यकता ही न पड़े।

खास द्रव्य बाजार (money market proper) भी जिसका स अल्पकालीन कोष (short term funds) से होता है और जिसका अ करना हमारा विशेष उद्देश्य है भिन्न-भिन्न विभागों में बाँटा जा सकता है विभाग भिन्न-भिन्न देशों में परिस्थितिवश भिन्न-भिन्न महत्त्व के होते हैं, मोटे रूप मे हम उन्हें नीचे लिखे अनुसार बाँटसकते हैं —(१) बट्टा बा स्वीकृत बिल-बाजार (acceptance market), सरकारी प्रतिभूति (gov ment security) या सिक्यूरिटी-बाजार, अत्यन्त अल्पकाल के लिए बाजार के लिये ऋण देने का प्रबन्ध करने वाला बाजार, इत्यादि।

द्रव्य-बाजार की आवश्यकताएँ . द्रव्य-बाजार की पहली आवश यह है कि बाजार में अतिरिक्त कोष (surplus funds) अधिक मा होना चाहिये। इसकी आवश्यकता इसलिए और भी है क्योंकि 'कोष' माँगा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि व्यापारिक बैंकों ने अल्पक ऋण दिया है तो बैंकों में जमा करने वालों के द्वारा अपनी जमा को नि पर उन व्यापारिक बैंकों को अपना रुपया वापस माँगना पड़ सकता है। अ द्रव्य-बाजार को उधार देने वाले अपने रुपये को अधिक समय के लिए नहीं सकते। चाहे बैंकों को उस रुपये की बहुत अधिक समय तक आवश न पड़े पर, फिर भी, बैंक को कभी एकाएक उस रुपये को वापस माँग सकता है। बैंकों को यह तो मालूम नहीं होता कि जमा करने वाले अपना कब निकालेंगे। अस्तु, द्रव्य बाजार को उधार दिया हुआ रुपया तभी श पूर्वक और आसानी से वापस मिल सकता है जब अल्पकाल के लिए दिये जाने वाले कोष की मात्रा बहुत अधिक हो। उदाहरण के लिए, यदि लिया हुआ रुपया प्रथम श्रेणी के बिलों या सरकारी सिक्यूरिटी की ज पर दिया गया है, और, यदि वह ऋण वापस माँगा जाता है तो उधार वाला ब्रोकर अन्य किसी से उधार लेकर अपने पहले ऋण को चुका देता है तभी सम्भव है जबकि द्रव्य-बाजार में यथेष्ट अतिरिक्त कोष (surplus fu हो। यदि किसी समय द्रव्य-बाजार से जो कोष (funds) वापस लिया है यदि उसकी मात्रा अधिक नहीं होती तो उसकी कमी उस द्रव्य-कोष हो जाती है जो द्रव्य-बाजार में बेकार पड़ा होता है, अथवा उस कोष से

(२) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks). द्रव्य बा
को ऋण देने वाली संस्थाओं में व्यापारिक बैंक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण
हैं। वे कभी-कभी केन्द्रीय बैंक से उधार भी लेते हैं। जो द्रव्य-कोष यह
द्रव्य-बाजार को उधार देते हैं वह डिपाजिटों (जमा) द्वारा प्राप्त करते हैं
यह डिपाजिट जब चाहें तो जमा करने वाले निकाल सकते हैं। यह हम
ही कह चुके हैं कि बैंक इस जमा किये हुए धन को द्रव्य-बाजार को देते
कहीं-कहीं बैंक बिल-ब्रोकरों को तथा बट्टा-गृहों (discount houses
ऋण देते हैं और सरकारी हुण्डियों (treasury bills) तथा स्वीकृत
मे रुपया लगाते हैं तो कहीं स्टाक बाजार इत्यादि को ऋण देते हैं।

(३) विनियोग (Investment) करने वाले: इस श्रेणी
सेविंग्स बैंक, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट तथा ट्रस्ट कम्पनियों की ग
होती है। इन सस्थाओं का कोष जब चाहे निकाला नहीं जा सकता परन्तु
भी वे अपने कोष का कुछ अंश तरल लेनों (liquid assets) में लगा
यह कोष द्रव्य-बाजार में आता है।

(४) व्यक्ति, कम्पनियाँ या फर्म : अधिकतर ये सस्थाएँ द्रव्य ब
में अपना रुपया नहीं लगातीं क्योंकि द्रव्य-बाजार मे सूद की दर बहुत कम
है। परन्तु, यदि कभी द्रव्य बाजार में सूद की दर ऊँची उठ जाती है
सस्थाएँ अपना रुपया द्रव्य-बाजार में भेजती हैं।

द्रव्य-बाजार में उधार लेने वाले स्वभावतः थोड़े ही होते हैं क्योंकि
बहुत कठोर शर्तों को पूरा करना पड़ता है। उनका पत्र तरल और थोड़े
मे ही पकने वाला होना चाहिए। ये शर्तें बिल-ब्रोकर, बट्टा-गृह तथा स
हुण्डियों तथा स्वीकृत बिलों का कारबार करने वाले पूरी करते हैं। अत
लोग मुख्यतः द्रव्य-बाजार मे ऋण लेते हैं।

प्रत्येक द्रव्य-बाजार वस्तुत. केन्द्रीय बैंक की अधीनता और निय
काम करता है। जैसा हम केन्द्रीय बैंक के परिच्छेद में कह चुके हैं कि
बैंक बहुत तरह से द्रव्य-बाजार का नियन्त्रण करता है।

द्रव्य-बाजार के कार्य : द्रव्य-बाजार का किसी देश की अ
व्यवस्था मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और वह राष्ट्रीय आर्थिक व
के लिये एक अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक सस्था है। द्रव्य-बाजार के द्व
देश का अतिरिक्त कोष एक स्थान पर एकत्रित होता है। द्रव्य-बाजा
तथा अन्य आर्थिक सस्थाओं को अपने अतिरिक्त कोष को लगाने की
प्रदान करता है तथा साथ ही एक ऐसा द्रव्य-भण्डार उपस्थित कर देता

आवश्यकता पड़ने पर द्रव्य-कोष लिया जा सके। द्रव्य-बाजार की एक देश के लिए उपयोगिता है जो एक स्थान के लिए बैंक की होती है। यही नहीं, सरकार के लिए भी द्रव्य-बाजार का बहुत बड़ा उपयोग होता है। जब सरकार को अल्पकाल के लिए द्रव्य-कोष की आवश्यकता होती है तो वह द्रव्य-बाजार से ले लेती है। यदि द्रव्य-बाजार न हो तो सरकार को या तो केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना पड़े अथवा कागजी मुद्रा (paper currency) निकाल कर काम चलाना पड़े। इन दोनों तरीकों से मुद्रा-प्रसार (inflation) होता है जो देश की आर्थिक व्यवस्था के लिये हानिकर सिद्ध हो सकता है। एक अच्छे द्रव्य-बाजार में बहुधा विदेशी सरकारें भी अल्पकाल के लिये आवश्यकता पड़ने पर ऋण लेती हैं। इसके अतिरिक्त, यदि द्रव्य-बाजार का संगठन अच्छा है तो विदेशी विनिमय के बाजार पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। द्रव्य-बाजार पूँजी के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। द्रव्य-बाजार की स्थिति और सूद की दर का प्रभाव पूँजी के बाजार पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अतएव देश की आर्थिक उन्नति के लिये एक सुसंगठित द्रव्य-बाजार की नितान्त आवश्यकता रहती है।

परिच्छेद ४७

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstru and Development)

द्वितीय महायुद्ध के समय सयुक्तराज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के अर्थश ने यह अनुभव किया कि संसार के प्रत्येक अविकसित देश का आर्थिक करने के लिए और युद्धकाल में जिन योरोपीय देशों के उद्योग औद्योगिक नगर नष्ट-भ्रष्ट होगए हैं उनको पूँजी (capital) की सुविधा लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की आवश्यकता है। अतएव जुलाई १९४४ मे राज्य अमेरिका में ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य हुआ जिसमे एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के अतिरिक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थापना का निश्चय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की उन्नति तथा उनके पुनर्निर्माण मे सहायता पहुँचाना है। इस उद्देश्य करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक विकास के लि देगा और अन्य देशों द्वारा दिए गए ऋण की गारन्टी देगा। इस प्र सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए पूँजी की व्यवस्था करेगा। यह मुख्य कार्य होगा।

परिच्छेद ४७

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank of Reconstructi and Development)

द्वितीय महायुद्ध के समय सयुक्तराज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के अर्थशा ने यह अनुभव किया कि संसार के प्रत्येक अविकसित देश का आर्थिक वि करने के लिए और युद्धकाल में जिन योरोपीय देशों के उद्योग धंधे औद्योगिक नगर नष्ट-भ्रष्ट होगए हैं उनको पूँजी (capital) की सुविधा दे लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की आवश्यकता है। अतएव जुलाई १९४४ में स राज्य अमेरिका में ब्रेटनवुड्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य स हुआ जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के अतिरिक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय बै स्थापना का निश्चय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की आ उन्नति तथा उनके पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाना है। इस उद्देश्य को करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक विकास के लिए देगा और अन्य देशों द्वारा दिए गए ऋण की गारन्टी देगा। इस प्रका सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए पूँजी की व्यवस्था करेगा। यही उ मुख्य कार्य होगा।

साधारणत जब कोई सदस्य राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों का औद्यो उन्नति के लिए उपयोग करना चाहेगा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए चाहेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपनी योजनाएँ बतलावेगा। अन्तर्राष्ट्रीय अपने विशेषज्ञों द्वारा उस योजना की जाँच करवा लेगा, और, यदि अन्तर बैंक को सतोष होगया तो वह उस राष्ट्र को स्वय ऋण दे देगा या उस ऋ गारन्टी कर देगा। सदस्य राष्ट्र की योजना को जब बैंक स्वीकार कर लेग वह सदस्य राष्ट्र ससार के प्रमुख द्रव्य या मुद्रा-बाजारों (money market ऋण लेने की व्यवस्था करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उस ऋण की गारन्टी देगा। जब किसी सदस्य राष्ट्र को व्यक्तिगत रूप से द्रव्य-बाजारों में ऋण मिल सकेगा तो बैंक उस राष्ट्र को सीधा ऋण देगा। जब तक किसी देश को देशों से साधारणतया ऋण मिल सकेगा तब तक बैंक उसे स्वय ऋण नहीं दे

बैंक के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह प्रत्येक देश से उसके हिस्से की पूं
रकम वसूल कर लेता।

प्रत्येक सदस्य राष्ट्र ने अपने हिस्से की २० प्रतिशत रकम को इस प्रक
चुकाया है :—

दो प्रतिशत सुवर्ण या अमेरिकन डालर के रूप में और शेष उस दे
की मुद्रा में। यदि बैंक को कभी शेष ८० प्रतिशत पूँजी को माँगना पड़ा
सदस्य राष्ट्र की सुविधानुसार, सुवर्ण में अथवा अमेरिकन डालर में अथवा
मुद्रा (currency) में जिसकी बैंक को भुगतान करने के लिए उस स
आवश्यकता हो चुकाना होगा।

यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने प्रत्येक देश
उसके भाग की केवल २० प्रतिशत रकम ही वसूल की है। यही अन्तर्रा
बैंक की कार्यशील पूँजी है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इससे
बैंक की सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने की शक्ति सीमित हो जाती है। अन्तर्रा
बैंक ऋण की गारन्टी देने अथवा सीधा ऋण देने के अतिरिक्त आवश्य
पड़ने पर किसी सदस्य देश के बाजार में अपनी सिक्यूरिटी (ऋण-पत्र)
कर धन प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, मान लें कि पाकिस्तान
अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये ऋण चाहिए, और उसे अधिकतर अमे
से मशीनें मँगवाना हैं तो स्वभावत. पाकिस्तान अमेरिका से ऋण लेना चाहे
यदि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक पाकिस्तान की योजनाओं को ठीक समझता है तो प
स्तान को सीधे अपने पास से ऋण दे सकता है अथवा पाकिस्तान
अमेरिका मे लिये जाने वाले ऋण की अदायगी की गारन्टी दे सकता है।
इस प्रकार ऋण न मिल सके तो अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अमेरिका की सहमति से
ऋण-पत्र अथवा सिक्यूरिटी अमेरिका के बाज़ार में बेचेगा और इस प्र
उसे जो धन प्राप्त होगा वह उसे पाकिस्तान को ऋण के रूप में दे देगा। अ
अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की ऋण देने की शक्ति केवल उसकी कार्यशील पूँ
सीमित नहीं है। किसी भी दशा में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक गारन्टी रूप में, ऋ
रूप में, बैंक की विक्रित-पूँजी (subscribed capital) सुरक्षित-कोष (res
fund) तथा अन्य बचत से अधिक ऋण नहीं देगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों से उस देश के केन्द्रीय बैंक, य
सरकारी अर्थ विभाग के द्वारा ही कारबार करेगा, और प्रत्येक सदस्य
भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अपने केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कारबार करेगा।

अपने ऋण-पत्र (बाड्स) सयुक्तराज्य अमेरिका के बाजार मे बेचेगा औ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक उनकी अदायगी की गारटो दे देगा। विद्वानों का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की गारटी अमेरिक पूजीपतियों को उन देशों के बाडो अपनी पूजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करेगी। परन्तु बैंक ने द्रव्य बाजार अव्यवस्थित दशा के कारण अन्य देशों के बाडों की गारटी न देकर स अपने बाड सयुक्तराज्य अमेरिका के द्रव्य-बाजार मे बेच कर धन प्राप्त कर आरम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने जून १९५१ तक कुल ऋण १ ११३,५२५,००० डा का दिया। बैंक द्वारा दिए गए ऋण का अध्ययन करने मे एक बात स्प जाती है कि ९० प्रतिशत से अधिक ऋण योरोपीय तथा दक्षिण अमेरिक राष्ट्रो को दिया गया। एशिया मे तो भारत, ईराक तथा इथोपिया को ही ऋ दिया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एशियाई राष्ट्रों को बैंक से ब अधिक आशा नहीं करनी चाहिए।

भारतवर्ष को पहला ऋण १८ अगस्त १९४९ को ४ प्रतिशत ३४,०००,००० डालर का रेलवे ऐजिनों, को खरीदने के लिए दिया गया। सम्बन्ध मे यह बात ध्यान में रखने की है कि भारत सरकार ने रेलों का सु करने के लिए जितना व्यय किया उसका यह ऋण एक अश मात्र था। भ सरकार ने रेलों के सुधार मे होने वाले भारी व्यय का अधिकाश भाग अपने साधनो से प्राप्त किया। सितम्बर १९४९ मे भारत सरकार को ब ३॥ प्रतिशत सूद पर एक दूसरा ऋण १०,०००,००० डालर का कृषि के ट्रैक्टर तथा अन्य यंत्र खरीदने के लिए दिया। बात यह है कि भारत सर खाद्यान्नों को अधिक उत्पन्न करने के लिए उस भूमि पर जहा आज ज वनस्पति, घासे, इत्यादि उत्पन्न हो रही है साफ करके खेती के योग्य ब का प्रयत्न कर रही है। बजर भूमि को खेती के योग्य बनाने के ट्रैक्टरों इत्यादि की आवश्यकता थी। १८ अप्रैल १९५० को बैंक ने भ को ४ प्रतिशत सूद पर १८,५००,००० डालर का एक तीसरा ऋण दाम घाटी योजना को कार्यान्वित करने के लिए दिया है। बहु-उद्देशीय जल योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए भारत सरकार और बैंक में, और अ ऋण लेने की बात चल रही है। बैंक के विशेषज्ञ भारत सरकार की योजन का यहा आकर अध्ययन कर गए हैं।

कारण यह है कि यदि व्यापार का रुख तेजी की तरफ बहुत अधिक हो जा
है तो केवल उसका सुधार ही नहीं होता वरन् मदी की ओर बहुत अधिक
हो जाता है। जिस प्रकार घड़ी का पैंडुलम जब एक ओर जाता है तो
उतना ही अधिक वह दूसरी ओर भी जाता है। ठीक उसी प्रकार व्यापार
स्थिति है। व्यापार के समृद्धिकाल में हीं मदी के बीज छिपे रहते हैं जो
आने पर प्रकट हो जाते हैं। व्यापार-चक्र के सम्बन्ध में एक बात और भी है
यह कि व्यापार-चक्र के दोनों रूप एक निश्चित अवधि के बाद प्रकट होते
पहले अर्थशास्त्रियों का कहना था कि व्यापार-चक्र १० या ११ वर्ष लेता
परन्तु अनुभव से अवधि की यह निश्चितता सिद्ध नहीं होती।

व्यापारचक्र (Trade Cycle) की विशेषताएँ :—नीचे हम व्या
चक्र की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे:—

(१) पहली विशेषता तो यह है कि आर्थिक समृद्धि या आर्थिक
एक साथ सभी धधों में फैलती है। केवल एक धधे या कुछ धधों तक ही सी
नहीं रहता। जब एक धधे में कारबार अच्छा होता है और समृद्धि होती
वह धधा अधिक कच्चे माल और मशीनों का आर्डर देता है, पहले की अ
अधिक मजदूर रखता है और उन मजदूरों की मजदूरी मे वृद्धि हो जाती
जब अन्य धधों के माल की अधिक माग होती है और मजदूरों को अधिक
होती है तो अन्य धधों का कारबार भी बढने लगता है। इसी प्रकार जब
धधे में मदी आती है तो वह सभी धधों में फैल जाती है, केवल एक ध
सीमित नहीं रहती।

(२) व्यापार-चक्र की दूसरी विशेषता यह है कि इसका स्वरूप अ
ष्ट्रीय होता है, वह किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रहता। अन्तर
व्यापार (international trade) तथा विदेशी विनिमय (for
exchange) के द्वारा एक देश का व्यापार दूसरे देशों से इतना
सम्बन्धित होता है कि एक देश की मदी या तेजी सभी देशों मे फैल जाती

(३) व्यापार-चक्र की तीसरी विशेषता यह है कि यद्यपि सभी ध
समृद्धि या धूम और आर्थिक मंदी एक साथ आती है किन्तु सभी धधों
या समृद्धि की मात्रा एक सी नहीं होती। किसी धधे में समृद्धि या मदी
मात्रा मे होती है तो किसी मे कम मात्रा मे होती है। अनुभव से यह प्र
होता है कि यह उलट-फेर निर्माणकारी धधों—जैसे, जहाज बनाने का
इ जिनियरिंग तथा मशीन इत्यादि बनाने के धधे—मे बहुत अधिक मा
होते हैं। जब व्यापार-चक्र तेज़ी या समृद्धि की ओर होता है तो

और अत्युत्पादन की स्थिति समाप्त हो जावेगी। अस्तु, अत्युत्पादन सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अत्युत्पादन व्यापारिक मदी (trade depression) का एक लक्षण है और उसका कारण नहीं हो सकता। यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि माल का स्टाक बहुत अधिक इकट्ठा हो जाने के कारण मन्दी उत्पन्न हुई है।

जलवायु सिद्धान्त : कुछ विद्वानों का, जिनमें जेवन्स मुख्य है, कथन है कि व्यापार-चक्र सूर्य पर धब्बों के कारण उत्पन्न होता है। इसे सूर्य पर धब्बों (sun spot theory) का सिद्धान्त भी कहते हैं। जेवन्स का कहना था कि सूर्य के धब्बे १० ४५ वर्षों के अन्तर से पुनः प्रकट होते हैं और व्यापार-चक्र का अन्तर भी १० ४६ वर्ष होता है। जब यह धब्बे प्रकट हो जाते हैं तो सूर्य कम गरमी देता है और फसलें खराब होती हैं। फसलें खराब होने से किसानों की क्रय-शक्ति (purchasing power) कम हो जाती है और वे कम वस्तुएँ खरीदते हैं। इसके फलस्वरूप आर्थिक मदी प्रकट होती है। कुछ सशोधन के साथ श्री यच० यल० पूर तथा श्री विलियम वेवरिज इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि खेती की स्थिति यदि खराब होती है तो उसका प्रभाव उद्योग-धधों पर भी पड़ता है। परन्तु यह कहना कि व्यापार-चक्र (trade cycle) का कारण जलवायु में परिवर्त्तन होना है भ्रमपूर्ण है। जलवायु का प्रभाव व्यापार पर पड़ता है परन्तु जलवायु व्यापार-चक्र का एक मात्र कारण नहीं है। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि जब व्यापारिक धूम (boom) होता है तो पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) का उत्पादन बढता है किन्तु आर्थिक मदी के समय कम हो जाता है, इसका जलवायु से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अत्यधिक सचय (Over Saving) तथा न्यून उपभोग (Under Consumption) सिद्धान्त : हाबसन का मत है कि व्यापारिक मदी का मुख्य कारण 'अत्यधिक सचय या बचत' है। आधुनिक समाज में आर्थिक असमानता बहुत अधिक देखने को मिलती है और कुल धन (total wealth) का एक बहुत बड़ा भाग केवल थोड़े से आदमियों के पास जमा हो जाता है। जब व्यापार में तेजी होती है तो इसी धनी वर्ग की आय बहुत बढ जाती है और उसका एक बहुत बड़ा अंश बचा लिया जाता है, व्यय नहीं किया जाता। धनी व्यापारी इस बचत को बराबर नये नये धधो में लगाते रहते हैं और यन्त्र तथा औजार इत्यादि द्वारा पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) का उत्पादन बढ़ जाता है।

[illegible] परिणाम यह होता है कि उपभोक्ता पदार्थों (consumers goods) [illegible] के लिए क्रयशक्ति (purchasing power) कम हो जाती है। दूसरा प्रमाण यह है कि जब व्यापार की तेजी होती है और कीमतें ऊंची चढ़ रही होती हैं तो मजदूरों की मजदूरी कीमतों से पीछे रह जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ एक ओर क्रय-शक्ति गिरती है वहाँ उत्पादन बढ़ता है क्योंकि नई मशीनें इत्यादि काम में लाई जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में माल पट जाता है, जो कि लाभ पर नहीं बेचा जा सकता, और इसलिए समाज को आर्थिक मंदी (depression) का सामना करना पड़ता है। आर्थिक मंदी का तत्कालीन कारण वस्तुओं को खरीदने के लिए पर्याप्त मांग या क्रय-शक्ति का न होना है, और मुद्रा (money) की कमी अत्यधिक बचत या संचय (over saving) के कारण होती है। जबकि आय का बहुत बड़ा भाग व्यय न करके बचा लिया जाता है तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। व्यय करने में कमी और अत्यधिक बचत ही आर्थिक मंदी के मुख्य कारण हैं। थोड़े बदले हुए रूप में श्री फोस्टर, कैचिंग तथा श्री हॉबसन भी इसी मत को स्वीकार करते हैं।

इस सिद्धान्त से हमें व्यापार-चक्र के कारण का तो पता नहीं चलता किन्तु यह केवल आर्थिक मंदी का कारण बतलाता है। आर्थिक मंदी का कारण इस सिद्धान्त में बतलाया गया है वह भी दोषपूर्ण है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता है कि व्यापारी-वर्ग की आय अधिक होने से वे बढ़ी हुई आय को व्यय न करके उसे बचावेंगे। किन्तु इस बात को मानने का कोई भी कारण नहीं है कि व्यापारी-वर्ग बराबर संचय ही करता रहेगा, व्यय नहीं करेगा। वे विलासिता (luxuries) की वस्तुओं पर अधिक व्यय कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में यह भी मान लिया गया है कि बचत को तुरन्त ही अन्य नवीन धंधों में लगा दिया जावेगा। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि उपभोक्ता पदार्थों (consumers goods) का उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि वे बेचे नहीं जा सकते। यदि यह बात ठीक हो तो होना यह चाहिए कि आर्थिक मंदी के प्रारम्भ होते ही पहले उपभोक्ता पदार्थों की कीमत गिरे, परन्तु होता यह है कि पहले उत्पादक पदार्थों (producers goods) की कीमत गिरती है और उपभोक्ता पदार्थों की कीमत सब से अन्त में [illegible]। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्थिक मंदी का यही कारण नहीं है।

और अत्युत्पादन की स्थिति समाप्त हो जावेगी। अस्तु, अत्युत्पादन सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अत्युत्पादन व्यापारिक मदी (trade depression) का एक लक्षण है और उसका कारण नहीं हो सकता। यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि माल का स्टाक बहुत अधिक इकट्ठा हो जाने के कारण मन्दी उत्पन्न हुई है।

जलवायु सिद्धान्त : कुछ विद्वानों का, जिनमें जेवन्स मुख्य है, कथन है कि व्यापार-चक्र सूर्य पर धब्बों के कारण उत्पन्न होता है। इसे सूर्य पर धब्बों (sun spot theory) का सिद्धान्त भी कहते हैं। जेवन्स का कहना था कि सूर्य के धब्बे १०.४५ वर्षों के अन्तर से पुनः प्रकट होते हैं और व्यापार-चक्र का अन्तर भी १०.४६ वर्ष होता है। जब यह धब्बे प्रकट हो जाते हैं तो सूर्य कम गरमी देता है और फसलें खराब होती हैं। फसलें खराब होने से किसानों की क्रय-शक्ति (purchasing power) कम हो जाती है और वे कम वस्तु खरीदते हैं। इसके फलस्वरूप आर्थिक मदी प्रकट होती है। कुछ सशोधन के साथ श्री यच० यल० मूर तथा श्री विलियम बेवरिज इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।

इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि खेती की स्थिति यदि खराब होती है तो उसका प्रभाव उद्योग-धधों पर भी पड़ता है। परन्तु यह कहना कि व्यापार-चक्र (trade cycle) का कारण जलवायु में परिवर्तन होना है भ्रमपूर्ण है। जलवायु का प्रभाव व्यापार पर पड़ता है परन्तु जलवायु व्यापार-चक्र का एक मात्र कारण नहीं है। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि जब व्यापारिक धूम (boom) होता है तो पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) का उत्पादन बढ़ता है किन्तु आर्थिक मदी के समय कम हो जाता है, इसका जलवायु से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अत्यधिक संचय (Over Saving) तथा न्यून उपभोग (Under Consumption) सिद्धान्त : हावसन का मत है कि व्यापारिक मदी का मुख्य कारण 'अत्यधिक सचय या बचत' है। आधुनिक समाज में आर्थिक असमानता बहुत अधिक देखने को मिलती है और कुल धन (total wealth) का बहुत बड़ा भाग केवल थोड़े से आदमियों के पास जमा हो जाता है। जब व्यापार में तेजी होती है तो इसी धनी वर्ग की आय बहुत बढ जाती है और उसका एक बहुत बड़ा अंश बचा लिया जाता है, व्यय नहीं किया जाता। धनी व्यक्ति इस बचत को बराबर नये नये धधों में लगाते रहते हैं और यन्त्र तथा औजार इत्यादि द्वारा पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) का उत्पादन बढ़ जाता

इसका परिणाम यह होता है कि उपभोक्ता पदार्थों (consumers goods) को खरीदने के लिए क्रयशक्ति (purchasing power) कम हो जाती है। इसका प्रमाण यह है कि जब व्यापार की तेजी होती है और कीमतें ऊँची चढ़ी होती हैं तो मजदूरों की मजदूरी कीमतों से पीछे रह जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जहाँ एक ओर क्रय-शक्ति गिरती है वहाँ उत्पादन बढ़ता है क्योंकि नई मशीनें इत्यादि काम में लाई जाती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में माल पट जाता है, जो कि लाभ पर नहीं बेचा जा सकता और इसलिए समाज को आर्थिक मदी (depression) का सामना करना पड़ता है। आर्थिक मदी का तत्कालीन कारण वस्तुओं को खरीदने के लिए यथेष्ट मुद्रा या क्रय-शक्ति का न होना है, और मुद्रा (money) की कमी अत्यधिक बचत या सचय (over saving) के कारण होती है। जबकि आय का बहुत बड़ा भाग व्यय न करके बचा लिया जाता है तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। व्यय करने में कमी और अत्यधिक बचत ही आर्थिक मदी के मुख्य कारण हैं। थोड़े बदले हुए रूप में श्री फोस्टर, कैचिंग तथा श्री डोगलास भी इसी मत को स्वीकार करते हैं।

इस सिद्धान्त से हमें व्यापार-चक्र के कारण का तो पता नहीं चलता किन्तु यह केवल आर्थिक मदी का कारण बतलाता है। आर्थिक मदी का जो कारण इस सिद्धान्त में बतलाया गया है वह भी दोषपूर्ण है। इस सिद्धान्त के समर्थकों की मान्यता है कि व्यापारी-वर्ग की आय अधिक होने पर वह बढी हुई आय को व्यय न करके उसे बचावेंगे। किन्तु इस बात को मानने का कोई भी कारण नहीं है कि व्यापारी-वर्ग बराबर संचय ही करता रहेगा, व्यय नहीं करेगा। वे विलासता (luxuries) की वस्तुओं पर अपना व्यय बढा सकते हैं। उसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त मे यह ही मान लिया गया है कि बचत को तुरन्त ही अन्य नवीन धंधों में लगा दिया जावेगा। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि उपभोक्ता पदार्थों (consumers goods) का उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि वे बेचे नहीं जा सकते। यदि यह बात ठीक हो तो होना यह चाहिए कि आर्थिक मदी के प्रारभ होते ही पहले उपभोक्ता पदार्थों की कीमत गिरनी चाहिए, परन्तु होता यह है कि पहले उत्पादक पदार्थों (producers goods) की कीमत गिरती है और उपभोक्ता पदार्थों की कीमत सब से अन्त में गिरती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्थिक मदी का यही एकमात्र मूल कारण नहीं है।

व्यापार-चक्र का मुद्रा सिद्धान्त : इस सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक हाटरे है। उसके मतानुसार व्यापार-चक्र केवल मुद्रा (money) में परिवर्त्तन होने के कारण उत्पन्न होता है। आधुनिक मुद्रा-प्रणाली में बैंकों द्वारा उत्पन्न की हुई साख (credit) ही विनिमय का मुख्य साधन है, उसी के द्वारा सारा लेन-देन होता है। परन्तु साख बहुत अस्थिर होती है। बैंक चाहें तो साख को बढा सकते हैं अथवा घटा सकते हैं। वे बट्टा-दर (discount rate) को घटाकर तथा प्रतिभूतियों (सिक्यूरिटीज) को खरीद कर साख का विस्तार कर सकते हैं। हाटरे का कहना है कि व्यापार में तेज़ी इस कारण उत्पन्न होती है क्योंकि बैंक साख का विस्तार कर देते हैं। जब व्यापारियों को पहले की अपेक्षा अधिक साख प्राप्त हो जाती है तो वे उसको मज़दूरी, सूद तथा लगान इत्यादि पर व्यय करते हैं। हाटरे की मान्यता है कि सूद की दर का प्रभाव व्यापारी-वर्ग पर तत्कालीन और अधिक गहरा होता है। यदि सूद की दर गिर जावेगी तो व्यापारी बैंकों से बहुत अधिक ऋण लेकर माल खरीद कर भर लेते हैं और यदि सूद की दर बढ जाती है तो वे खरीदारी कम कर देते हैं और माल कम रखते हैं। यदि सूद की दर कम हो जाती है तो व्यापारी बैंकों से अधिक ऋण लेकर उत्पादकों को बहुत लम्बे आर्डर देते हैं और माल खरीद कर भरते हैं। व्यवसायी जब देखता है कि उसके माल की माँग अधिक हो रही है तो वह उत्पादन बढाने के लिए अधिक मजदूर रखता है और अधिक कच्चा माल खरीदता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वसाधारण की आय बढ जाती है और वे अपनी आवश्यकता की वस्तुओं पर अधिक व्यय करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की माँग (demand) बढ जाती है। व्यापारियों के माल की खूब खरीद होने लगती है। वे उत्पादक को और अधिक आर्डर देते हैं, उत्पादक अपने उत्पादन को बढाने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में मजदूरी अधिक बढती है, काम-धन्धा बहुत मिलने लगता है, बेकारी नहीं रहती और कच्चा माल उत्पन्न करने वाले धन्धों मे भी तेज़ी आती है। इस सबका परिणाम यह होता है कि सर्वसाधारण की आय बढ जाती है, वे उसको उपभोग्य पदार्थों पर व्यय करते हैं, कीमतें ऊँची उठने लगती हैं, व्यापारी कीमतों के अधिक बढने की आशा में और अधिक माल खरीदने लगते हैं और अपना स्टाक बढाने लगते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उत्पादक और अधिक उत्पादन बढाते हैं और व्यापार में तेजी आती चली जाती है।

जब व्यापार में तेज़ी होती है तो व्यापारी अधिकाधिक ऋण लेते हैं कि बैंकों का नकद कोष कम होता जाता है। इस दशा में बैंकों को विवश होना

सूद की दर को बढाना पड़ता है और साख (credit) को कम करना पड़ता है। इसका बाज़ार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यापारी अपने स्टाक को कम करते हैं और माल का आर्डर कम देते हैं। व्यवसायियों को उत्पादन कम करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाजार में बेकारी फैल जाती है, वस्तुओं का मूल्य कम होने लगता है और आर्थिक मदी आ जाती है। आर्थिक मदी के काल में व्यापारियों को साख की बहुत कम आवश्यकता होती है। बैंकों के पास डिपाजिट (अमानत) और कोष इकट्ठा होता जाता है। अस्तु, उन्हें सूद की दर फिर कम करनी पड़ती है, व्यापार-चक्र फिर ऊपर की ओर चलने लगता है और फिर तेज़ी आ जाती है। अस्तु, व्यापार-चक्र को समाप्त करने का एक-मात्र उपाय यह है कि बैंक साख (credit) का ऐसा नियन्त्रण करें कि कीमतें स्थिर रहें तभी व्यापार-चक्र से छुटकारा मिल सकता है।

इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि साख के विस्तार से व्यापार का विस्तार होता है। आर्थिक धूम (Boom) के लिए साख का विस्तार होना आवश्यक है। परन्तु साख व्यापार-चक्र का कारण नहीं है। व्यापार-चक्र मुख्यतः अन्य कारणों से उत्पन्न होता है, मुद्रा या साख के कारण नहीं होता। मुद्रा का प्रभाव आर्थिक धूम को उत्पन्न करता है तथा व्यापार-चक्र को प्रभावित भी करता है। इस सिद्धान्त को मानने वालों के अनुसार यदि कीमतें स्थिर रहें तो व्यापार-चक्र (trade cycle) समाप्त हो जावेंगे। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यदि बैंक साख का नियन्त्रण करदें अर्थात् जब व्यापार तेजी पर हो तो साख कम करदें और यदि व्यापार में मदी हो तो साख का विस्तार करदें तो व्यापार मे उथल-पुथल अवश्य बहुत कम हो जावेगी। यद्यपि देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापार-चक्र केवल साख में परिवर्त्तन का परिणाम है परन्तु ऐसा है नहीं। व्यापार-चक्र पर साख (credit) का प्रभाव तो अवश्य पड़ता है परन्तु वह उसका एकमात्र कारण नहीं है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory) : इस सिद्धान्त का प्रमुख समर्थक पीगू है। उसका मत है कि व्यापार-चक्र का मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक है। जब व्यापारिक विश्वास में परिवर्त्तन होता है तभी व्यापार-चक्र उत्पन्न होता है। जब व्यापार चलता होता है और व्यापार में तेज़ी होती है तो लोग अधिक लाभ की आशा करते हैं और भविष्य के लिए बहुत अधिक आशान्वित हो उठते हैं, अतएव वे अपने उत्पादन कार्य को बहुत बढाते हैं। जब एक धंधे या कारबार में लोगों का विश्वास बढ जाता है तो अन्य धंधों पर

भी इसका प्रभाव पड़ता है और उसमें भी भविष्य के लिए आशा और विश्वास उत्पन्न होता है। बात यह है कि उत्साह और निराशा सकामक होते हैं, वे छूत के रोग की भांति फैलते हैं। अस्तु, आशा और निराशा की भावनाएँ दूसरों को भी प्रभावित करती हैं। जब आशा की प्रधानता होती है तो लोग अत्यधिक उत्साह में भूल करने लगते हैं और उत्पादन को इतना अधिक बढा देते हैं कि माल को लाभ पर बेचना सम्भव नहीं रहता। उस दशा में व्यापारियों को हानि होने लगती है। वे निरुत्साहित हो जाते हैं, उनमें निराशा छा जाती है, उत्पादन कार्य में शिथिलता आ जाती है, आवश्यकता से अधिक व्यावसायिक शिथिलता उत्पन्न हो जाती है और आर्थिक मदी छा जाती है। इस प्रकार व्यापारी और व्यवसायी आशा और निराशा के वश भूलें करते हैं और समुद्र की लहर की भांति व्यापार और व्यवसाय कभी तेज़ होता है तो कभी मन्द होता है। इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि अन्य कारण, फसलों की स्थिति इत्यादि भी कार्य करते हैं। परन्तु वे प्रधानता व्यापारिक विश्वास में परिवर्त्तन होने को ही देते हैं।

इस सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई है। व्यापारिक विश्वास का व्यापार और व्यवसाय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि आर्थिक धूम (boom) क्यों आरम्भ होता है और विश्वास क्यों लौट आता है, और इससे यह भी स्पष्ट नहीं होता कि आशा के बाद निराशा क्यों उत्पन्न होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए इसे अन्य सिद्धान्तों की सहायता लेनी पड़ती है। इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात में है कि इसमें इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि बिना विश्वास के पुनः लौटे आर्थिक मदी से छुटकारा होना असम्भव है।

आधुनिक सिद्धान्त : पिछले दिनों में बहुत से अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें लार्ड कीन्स प्रमुख थे, इस बात पर विशेष बल दिया कि व्यापार-चक्र का मूल कारण व्यवसाय में लगने वाली पूंजीगत वस्तुओं (investment goods) की मात्रा में परिवर्त्तन होना है। व्यवसाय में लगने वाली पूंजीगत वस्तुओं में परिवर्त्तन पूंजी (capital) की सीमान्त कुशलता (marginal efficiency) में परिवर्त्तन होने से होता है। कीन्स ने पूंजी की सीमान्त कुशलता की परिभाषा इस प्रकार की है। पूंजी की सीमान्त कुशलता नई मशीन अथवा पूंजीगत वस्तु पर भविष्य में जितने सूद के मिलने की आशा होती है उससे निर्धारित होती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित सूद की दर में भी परिवर्त्तन होने से व्यवसाय में लगने वाली पूंजीगत वस्तुओं की मात्रा में परिवर्त्तन होता है। यह हम पहले ही बता

चुके हैं कि सचय (saving) और विनियोग (investment) का मुद्रा (money) आय, और रोजगार (employment) पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आर्थिक मदी के मूल में जब किसी कारण से पूजी की सीमान्त कुशलता मे वृद्धि हो जाती है अथवा सूद की दर में गिरावट आ जाती है तो अधिकाधिक विनियोग (investment) होने लगता है। पूजी की सीमान्त कुशलता (marginal efficiency of the capital) में वृद्धि होने के कई कारण होते हैं। एक कारण तो यह हो सकता है कि पहले का एकत्रित माल का स्टाक बहुत कम हो जावे, अथवा घिसी हुई मशीनों और यत्रों को हटा कर उनके स्थान पर नई मशीनें रखने की आवश्यकता हो, अथवा नये प्राकृतिक साधनों की खोज हुई हो, अथवा नये आविष्कार हुए हों। इन सभी स्थितियों में अधिक उत्पादन की आवश्यकता होगी और अधिक पूजी की आवश्यकता होगी। अस्तु, पूजी की सीमान्त कुशलता बढ जावेगी। सूद की दर में गिरावट इस कारण हो सकती है कि बैंकों के पास डिपाजिट अधिक जमा हो जावे अथवा तरलता अधिमान (liquidity preference) के कम हो जाने से लोग अपनी नकदी को अपने पास न रखकर बैंकों में जमा करने लगें। इन दोनों कारणों से हा पूजी का विनियोग (investment) बढ जावेगा। जब उत्पादन में पहले की अपेक्षा अधिक पूजी तथा अन्य साधन लगने लगते हैं तो रोजगार या वृत्ति (employment) बढ जाता है। जब रोजगार या काम धधा बढ जाता है तो मुद्रा-आय (money income) भी बढ़ जाती है। इस प्रकार जब विनियोग अधिक बढ जाना है तो उसका परिणाम आर्थिक धूम (boom) होता है। यह आर्थिक धूम तब तक रहता है जब तक कि विनियोग वस्तुओं (investment goods) का निर्माण होता रहता है। किन्तु आगे-पीछे पूजीगत वस्तुओं (capital goods) का उपयोग कम हो जाता है क्योंकि अधिक लाभदायक विनियोग के क्षेत्र समाप्त हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि भविष्य में लगने वाली पूजी पर लाभ की दर गिरने लगती है। इसके अतिरिक्त मज़दूरी या कच्चे माल की कीमतें ऊची चढ जाने के कारण पूजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने का लागत-व्यय बढ जाता है। इन दोनों कारणों से पूजी की सीमान्त कुशलता (marginal efficiency of capital) बहुत नीचे गिर जाती है। उस स्थिति में यदि सूद की दर उसी अनुपात में नहीं गिरती अथवा कम गिरती है तो विनियोग (investment) कम होने लगता है। सच तो यह है कि सूद की दर में आनुपातिक गिरावट नहीं आती, इसके अतिरिक्त व्यापार तथा आय की वृद्धि के कारण सर्वसाधारण को मुद्रा (money)

की आवश्यकता बढ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बैंकों को जनत की मुद्रा की इस बढती हुई मांग (demand) को पूरा करना कठिन हो जात है। इसका परिणाम यह होता है कि सूद की दर ऊँची उठने लगती और पूँजी (capital) का विनियोग (investment) कम होने लगता है पूँजी के विनियोग के कम होने से रोजगार या काम-धधा कम होने लगता और सर्वसाधारण की मुद्रा-आय गिरने लगती है और आर्थिक मदी (depre sion) फैल जाती है।

लार्ड कीन्स का मत है कि आर्थिक दृष्टि से उन्नतिशील समाज में माँ की कमी या मदी की प्रवृत्ति बनी रहती है। जैसे-जैसे कोई समाज धनी हो जाता है उसकी उपभोग की शक्ति कम होती जाती है। इसके विपरीत पूँजी बहुलता होने के कारण नई पूँजी को लगाने के लिए आकर्षक क्षेत्र कम रह ज हैं। जबकि पूँजी की सीमान्त कुशलता दोनों ओर से गिर जाती है तो नई पूँ का विनियोग भी कम हो जाता है और आर्थिक मदी आजाती है।

सारांश · व्यापार-चक्र किन कारणों से होता है, आर्थिक मदी या के कारण क्या हैं, इसके सम्बन्ध मे निश्चय पूर्वक कुछ कह सकना कठिन इसके सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में अत्यधिक मतभेद है और इस समस्या बराबर लिखा जा रहा है। परन्तु भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों में जो मतभेद उ से दिखलाई पड़ता है वह इतना गहरा नहीं है। सच तो यह है कि व्याप चक्र किसी एक कारण से नहीं होता वरन् उसके बहुत से कारण हैं। उनमें कोई कारण कभी प्रबल हो जाता है और दूसरे समय दूसरा कारण प्रबल जाता है।

उपाय . व्यापार-चक्र के परिणाम इतने भयंकर होते हैं, विशेष आर्थिक मदी के समय बेकारी इतनी फैलती है कि आज के समय मनुष्य सा के सामने यह सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या बन गई है कि किसी प्रकार इस परिव या हेर-फेर को रोका जावे। परन्तु दुर्भाग्यवश अर्थशास्त्री अभी तक इस वि पर एकमत नहीं हैं कि इसको रोकने का कौनसा सबसे अधिक प्रभाव उपाय है। जिस प्रकार से व्यापार-चक्र के कारणों पर मतभेद है उसी प्र उसको रोकने के उपायों पर भी मतभेद है। जो लोग यह मानते हैं कि व्या चक्र (trade cycle) मुद्रा (money) सम्बन्धी कारणों से उत्पन्न होत उनका मत है कि मुद्रा का नियन्त्रण करने से यह दूर किया जा सकता है। उ मान्यता है कि केन्द्रीय बैंक (central bank) बैंक रेट को घटा-बढ़ा और खुले बाजार की क्रिया (open market operations) के द्वारा व्या

चक्र को बहुत कुछ रोक सकते हैं। जबकि व्यापार और धधों में अनुचित तेजी आजावे तो केन्द्रीय बैंक को सूद की दर बढा देनी चाहिए और सिक्योरिटियों को बाजार में वेच देना चाहिए। जब आर्थिक मदी आती दिखलाई दे तो केन्द्रीय बैंक को सूद की दर घटा देनी चाहिए और बाजार में सिक्योरिटियों को खरीदना चाहिए। उन अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यदि केन्द्रीय बैंक इस प्रकार दूरदर्शिता और दृढता से काम ले तो यह व्यापार-चक्र की लहरों को समान गति को रोक सकता है।

जो लोग न्यून उपभोग (under consumption) के सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि सूद की दर को घटाने-बढाने अथवा खुले बाजार की क्रिया से ही व्यापार-चक्र को नहीं रोका जा सकता। उनका कहना है कि उपभोग की इच्छा या प्रवृत्ति के गिरने से ही आर्थिक मदी उत्पन्न होती है। अस्तु, उपभोग (consumption) की इच्छा या प्रवृत्ति को जागृत करने से ही मदी को रोका जा सकता है। अस्तु, उन अर्थशास्त्रियों का मत है कि कर-प्रणाली (tax system) को इस प्रकार बदलना चाहिऐ कि धन-वितरण अधिक समान हो जिससे अत्यधिक बचाने (over saving) की प्रवृत्ति को रोका जा सके। श्री हावसन का कहना है कि जब व्यापार और उद्योग-धधों में तेजी की प्रवृत्ति हो तो मजदूरी को बढा देना चाहिए। मजदूरी बढने से और लाभ कम होने से उपभोग बढेगा और सचय या बचत कम होगी। लाभ कम होने से व्यापारी कम ऋण लेंगे और बैंक कम ऋण देंगे। इसका फल यह होगा कि साख (credit) कम उत्पन्न की जावेगी और कीमतें अधिक नहीं बढेंगी, कीमतों में थोड़ी ही वृद्धि आवेगी।

जो अर्थशास्त्री यह समझते हैं कि व्यापार-चक्र विनियोग वस्तुओं (investment goods) में वृद्धि और कमी के कारण उत्पन्न होता है उनका कहना है कि आर्थिक धूम (boom) के समय पूँजी के विनियोग को रोका जावे और आर्थिक मदी के समय पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन दिया जावे। उनके विचार से मुद्रा का नियन्त्रण करने से वह अनुकूल वातावरण बन जाता है जिसमें यह मूलभूत उपाय (पूँजी के विनियोग को घटाने-बढाने) सफलता पूर्वक काम में लाया जा सकता है। उनके मतानुसार केवल मुद्रा-नियन्त्रण से व्यापार-चक्र को रोका नहीं जा सकता।

सरकार की अर्थ-नीति : व्यापार-चक्र को रोकने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि सरकार अपनी अर्थनीति को समयानुसार बदलती रहे। जब आर्थिक मदी हो तो सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक धन व्यय

चाहिए और जब आर्थिक धूम हो तो इस प्रकार का व्यय कम कर देना चाहिए उदाहरण के लिए, आर्थिक मंदी के समय सड़कें, पुल, नहरें, तालाब, रेलें, इत्या खूब बनाना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि बेकारी कम होगी, स साधारण की आय में वृद्धि होगी तथा उपभोग (consumption) में होगी। आर्थिक मदी के समय कर (tax) कम कर देने चाहिए। विशेष व्यापारिक लाभ पर तो कर और भी कम कर देना चाहिए। इससे लोग व्याप धंधों में अधिक पूँजी लगाने के लिए उद्यत होंगे। बजट को घाटे का बन चाहिए और घाटे को ऋण लेकर पूरा करना चाहिए। आर्थिक धूम (boo के समय सार्वजनिक निर्माण कार्य को कम कर देना चाहिए अथवा रोक चाहिए, व्यापारिक लाभ पर भारी कर बिठाना चाहिए, जिससे कि लोग व्या और धंधों में कम पूँजी लगावें। बजट को बचत का बजट बनाना चाहि इस बचत को पुराने घाटे को पूरा करने में व्यय करना चाहिए। कहने तात्पर्य यह है कि आर्थिक मदी के समय उपभोग (consumption) पूँजी के विनियोग (investment) को बढाने का और तेजी के समय उप तथा विनियोग को घटाने का प्रयत्न करना चाहिए, तभी व्यापार-च रोका जा सकता है।

परिच्छेद ४९

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade)

पिछले परिच्छेदों में हमने उन समस्याओं का अध्ययन किया था कि
[दे]श के अन्दर वस्तु-विनिमय करने पर उत्पन्न होती हैं। अब हम उन
[समस्]याओं का अध्ययन करेंगे जो कि भिन्न-भिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों
[क]ा वस्तुओं या सेवाओं से विनिमय (exchange) करने पर उत्पन्न
[हो]ती हैं।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आन्तरिक
[व्य]ापार (internal trade) तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल मात्रा का
[अ]न्तर है, कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। दोनों प्रकार के व्यापार के मूलभूत
[सि]द्धान्त एक ही हैं। देशीय अथवा आन्तरिक व्यापार के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय
[व्य]ापार भी श्रम-विभाजन (division of labour) का ही परिणाम होता
है। दोनों प्रकार के व्यापार में वस्तुओं का विनिमय व्यक्तियों के बीच होता है।
हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यक्ति भिन्न-भिन्न देशों में रहते हैं। इसके अतिरिक्त
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण भी ठीक उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होता
है जिन सिद्धान्तों के आधार पर देशी व्यापार होता है। जिस प्रकार देशी
व्यापार अथवा आन्तरिक व्यापार में लोग उन वस्तुओं या सेवाओं को उत्पन्न
करते हैं जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) होता
है, ठीक वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होता है। ठीक जिस प्रकार से आन्तरिक
व्यापार में उपभोक्ता (consumers) सब से सस्ते बाजार में अपनी आव-
श्यकता की वस्तु खरीदते हैं ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लोग
सब से सस्ते बाज़ार में अपनी आवश्यकता की वस्तु खरीदते हैं। इसका यह
अर्थ कदापि भी नहीं है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में
कोई भेद होता ही नहीं। दोनों में भेद है परन्तु वह भेद मात्रा का होता है प्रकार
का नहीं होता। इन्हीं भेदों के कारण हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पृथक रूप से
अध्ययन करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता : आन्त-
रिक (घरेलू) व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मात्रा का ही

सही, बहुत अन्तर है ; इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा घरेलू व्यापार म नीचे अन्तर हैं :—

एक ही देश के अन्तर्गत श्रम (labour) और पूंजी (capit अधिक गतिशील होते हैं। एक देश से पूंजी और श्रम दूसरे देश म सरलता से नहीं जा पाते। एक दृष्टि से यह अन्तर अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत से कारण हैं। जहाँ तक श्रम का प्रश्न है मनुष्य कठिनाई से अपने को छोड़कर अन्य अपरिचित स्थान को जाता है। साधारणतया यह देखा है कि यदि अन्य किसी देश मे मज़दूरी अधिक हो और किसी देश में बहुत कम हो तो भी वहा का निवासी अपनी मातृभूमि को छोड़ना पसद करता। मनुष्य की मनोवृत्ति बहुत से कारणों से ऐसी बन जाती है। जलवायु अन्तर, भाषा का अन्तर, रहन-सहन, परम्परा, रीति-रिवाज, धर्म, खान राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में अन्तर होने के कारण बहुधा मनुष्य देश छोड़कर अन्य देश मे नहीं जाना चाहता। यह भी होता है कि आलस्य और महत्त्वाकाक्षा के अभाव के कारण भी व्यक्ति अपना देश छोड़ना चाहता। फिर उसको अपने देश के प्रति भावना और प्रेम भी होते इस कारण भी वह उसे नहीं छोड़ना चाहता। पूंजी (capital) (labour) की अपेक्षा अधिक गतिशील (mobile) होती है फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूंजी को अपने देश में ही लगाना पसद करता है उसको देश में लगी हुई पूंजी अधिक सुरक्षित अनुभव होती है। वह विदेश तभी अपनी पूंजी लगाता है जब उसे वहा अधिक सूद मिलता है।

भिन्न-भिन्न देशों के बीच पूंजी और श्रम के अपेक्षाकृत गतिशील न का परिणाम यह होता है कि एक ही वस्तु का उत्पादन-व्यय प्रति (competition) के फलस्वरूप एक समान नहीं हो जाता जैसा कि एक के अन्दर होता है। इसका परिणाम यह होता है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं उत्पन्न करने में प्रत्येक देश को एक समान सुविधा या लाभ प्राप्त नहीं हो किसी देश में किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए विशेष सुविधा रहती है किसी में नहीं रहती। कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न देश पर प्रतिस्पर्धा न करने वाले समूह बन जाते हैं।

इससे हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक देश ही में प्रतिस्पर्धा करने वाले समूह नहीं होते। एक ही देश मे भी प्रतिस्पर्धा न करने वाले स होते हैं, परन्तु वे अपवाद होते हैं। देश के अन्दर श्रम और पूंजी सरलता

तशील होते हैं, अस्तु, वे समाप्त हो जाते हैं। यह भिन्न-भिन्न देशों में नहीं ता। उनमें जो अन्तर होता है वह अधिक स्थायी होता है।

एक देश और दूसरे देश के अन्दर पूजी और श्रम की तुलनात्मक तिहीनता का एक दूसरा परिणाम भी होता है। एक देश के अन्दर लम्बे समय में कथित उत्पादन-व्यय के बराबर होनी है क्योंकि यदि किसी धंधे में ामत उत्पादन-व्यय से अधिक है तो उसमें बहुत अधिक पूजी और श्रम आ जावेंगे और यदि कीमत उत्पादन-व्यय से कम है तो श्रम और पूजी उस धंधे से बाहर चले जावेंगे क्योंकि देश के अन्दर श्रम और पूजी अधिक गतिशील होते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में यह सम्भव नहीं है क्योंकि यहां किसी वस्तु को प्राप्त करने की लागत उत्पादन-व्यय (cost of produ-ction) का स्थान ले लेती है। श्रम और पूजी के गतिहीन (immobile) होने से वस्तु की कीमत तथा उसका उत्पादन-व्यय कभी बराबर नहीं हो सकते।

दूसरा अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक व्यापार में यह है कि देशों में किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए उपलब्ध सुविधाओं में अन्तर । यह अन्तर भौगोलिक तथा जलवायु सम्बन्धी हो सकता है। इस भौगोलिक विधा का परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक श्रम-विभाजन (territorial division of labour) होता है तथा धंधों का केन्द्रीयकरण या स्थानीयकरण localisation) हो जाता है। उदाहरण के लिए, किसी देश में कोयला, हा, तावा, सोना, इत्यादि खनिज पदार्थ पृथ्वी में बहुतायत से भरे हैं, अन्य शों की जलवायु तथा भूमि जूट, कपास, चाय अथवा रबर उत्पन्न करने के लिए विशेष उपयुक्त है। इन दोनों की यह प्राकृतिक सुविधा अन्य देशों को निर्यात (export) नहीं की जा सकती।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक तीसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक देश स्वतन्त्र होता है और उसकी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी स्वतन्त्र नीति अपना सकती है। उदाहरण के लिए, किसी भी देश की सरकार आयात import) या निर्यात (export) पर प्रतिबन्ध लगा सकती है अथवा उस पर रोक-थाम लगा सकती है। देश के अन्दर व्यापार पर इस प्रकार का कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता।

इन्हीं कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में पृथक सिद्धात का औचित्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदय क्यों होता है ?: हम विदेशों से वस्तुओं को क्यों खरीदते हैं अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों करते हैं ? यह एक प्रश्न

है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एकमात्र कारण यह है कि इससे दोनों देशों को लाभ होता है। जिस प्रकार दो व्यक्ति अपनी वस्तुओं का विनिमय करके लाभ प्राप्त करते हैं ठीक उसी प्रकार दो देशों के रहने वाले अपनी-अपनी वस्तुओं का विनिमय करके लाभ प्राप्त करते हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि व्यापार तभी सम्भव होता है कि जब एक वस्तु का लागत-व्यय (cost) दो स्थानों पर भिन्न हो। अर्थात् वही वस्तु एक स्थान पर कम लागत पर उत्पन्न होती हो और दूसरे स्थान पर उसकी लागत अधिक हो तो वह वस्तु पहले वाले स्थान से दूसरे स्थान पर भेजी जावेगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी इस नियम का अपवाद नहीं है। हम एक उदाहरण देकर इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सरलता के लिए हम केवल दो देशों को लेंगे और केवल दो वस्तुओं को लेंगे.—

कल्पना कीजिए कि 'क' देश में दस दिन का श्रम ३० इकाई गेहूँ उत्पन्न करता है तथा दस दिन का श्रम ४० इकाई कपास उत्पन्न करता है।

'ख' देश में दस दिन का श्रम १५ इकाई गेहूँ उत्पन्न करता है और दस दिन का श्रम केवल २० इकाई कपास उत्पन्न करता है।

ऊपर दिए हुए उदाहरण मे 'क' देश इन दोनों वस्तुओं के उत्पन्न करने में 'ख' देश से निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ है। यदि हम उत्पादन का लागत-व्यय श्रम दिवसों में नापें तो दोनों वस्तुओं को उत्पन्न करने मे 'क' देश 'ख' देश से एक समान श्रेष्ठ है। क्या इन दोनों देशों में व्यापार सम्भव है। 'क' देश म ३० इकाई गेहूँ उत्पन्न करने की लागत ४० इकाई कपास उत्पन्न करने के बराबर है। अतएव उस देश में ३ इकाई गेहूँ और ४ इकाई कपास की कीमत बराबर होगी क्योंकि ३ इकाई गेहूँ और ४ इकाई कपास का उत्पादन-व्यय बराबर है। 'ख' देश में १५ इकाई गेहू और २० इकाई कपास का उत्पादन-व्यय बराबर होने के कारण उनकी कीमत बराबर होगी। अतएव दोनों देशों मे गेहू और कपास के उत्पादन-व्यय का अनुपात (३ इकाई गेहू बराबर है ४ इकाई कपास के) बराबर है। ऐसी दशा में यदि 'क' देश ३ इकाई गेहू 'ख' देश को व्यापार की दृष्टि से भेजता है तो उसे कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि दोनों देशों में ३ इकाई गेहूँ की कीमत ४ इकाई कपास के बराबर होगी। ऐसी दशा मे 'क' देश को 'ख' देश से व्यापार करने से कोई भी लाभ नहीं होगा और उन दोनों देशों मे व्यापार नहीं होगा।

अब हम ऊपर दिए हुए उदाहरण में थोड़ा परिवर्तन करते हैं। कल्पना कीजिए कि 'क' देश में दस दिन का श्रम ३० इकाई गेहूँ उत्पन्न करता है और

दिन का श्रम ४० इकाई कपास उत्पन्न करता है। और 'ख' देश में दस
का श्रम १० इकाई गेहूँ और १० ही इकाई कपास उत्पन्न करता है।
इस दशा में पहले देश में ३ इकाई गेहूँ और ४ इकाई कपास का मूल्य
बर होगा। परन्तु 'ख' देश में ३ इकाई गेहूँ का मूल्य ३ इकाई कपास के
बर होगा। ऐसी दशा में 'क' देश के व्यापारियों के लिए यह लाभदायक होगा
वे 'कपास' को 'ख' देश को भेजें और जूट को 'ख' देश से मगावें। क्योंकि
देश का व्यापारी यदि ४ इकाई कपास 'ख' देश को भेजेगा तो वहा उसको
इकाई गेहू उसके बदले प्राप्त हो जावेगा और इस प्रकार उसको लाभ होगा।
कि 'क' देश में चार इकाई कपास के वदले केवल ३ इकाई गेहूँ प्राप्त होगा।
कार 'ख' देश के व्यापारी को यह लाभ दायक होगा कि वह गेहूँ 'क'
े भेजे क्योंकि उसको ३ इकाई गेहू 'क' देश को भेजकर वहा ४ इकाई
प्राप्त हो सकती है। किन्तु अपने देश के अन्दर ३ इकाई गेहूँ देकर उसको
३ इकाई कपास ही प्राप्त होगी। इससे यह सिद्ध हो गया कि स्थायी
ाष्ट्रीय व्यापार तभी सम्भव होता है कि जब दोनों देशों मे दो वस्तुओं का
ात्मक (comparative) उत्पादन-व्यय का अनुपात भिन्न हो। पहले
हरण में गेहू और कपास के उत्पादन-व्यय (cost of production) का
पात (३ इकाई गेहूँ वरावर है ४ इकाई कपास के) दोनों देशों में वरावर था।
तु, दोनों देशों मे व्यापार सम्भव नहीं था। दूसरे उदाहरण में पहले देश में
और कपास का उत्पादन-व्यय का अनुपात ३ इकाई गेहू बराबर है ४ इकाई
ास के, और दूसरे देश में एक इकाई गेहूँ वराबर है एक इकाई
ास के। क्योंकि दोनों देशों में दोनों वस्तुओं के उत्पादन का अनुपात
है अतएव उनमें परस्पर व्यापार हो सकता है।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय का नियम (law of comparative
st): ऊपर हमने देखा कि जब उत्पादन-व्यय का अनुपात भिन्न होता है तो
ापार होता है। प्रश्न यह है कि उत्पादन-व्यय का अनुपात दो देशों में भिन्न
होता है। इस भिन्नता या अन्तर का मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक देश
उत्पत्ति के साधनों (factors of production) की उपलब्धि भिन्न होती है।
देशों म खनिज पदार्थ पृथ्वी के गर्भ में बहुत अधिक राशि में पाये जाते
दूसरा देश खनिज पदार्थों की दृष्टि से निर्धन होता है। कुछ देशों का
वायु विशेष पैदावारों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। उदाहरण के लिए,
साम का जलवायु चाय की खेती के लिए बहुत उपयुक्त है। बगाल की भूमि
र जलवायु जूट की खेती के लिए वहुत अनुकूल है। इसी प्रकार संयुक्तराज्य

अमेरिका का जलवायु तथा मिट्टी कपास की पैदावार के लिए बहुत उपयुक्त है, इत्यादि। संयुक्तराज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन इत्यादि देशों में पूँजी (capital) की बहुतायत है, किन्तु भारत जैसे निर्धन राष्ट्र में पूँजी की कमी है। कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न देशों मे उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति (supply) भिन्न-भिन्न होती है अतएव उनका प्रतिफल (remuneration) भी प्रत्येक देश में भिन्न होगा। जिस देश में उर्वरा भूमि की बहुतायत है वहाँ खेती की फसलों का उत्पादन-व्यय कम होगा। इसके विपरीत जिस देश मे पूँजी की अधिकता है और कुशल श्रमजीवी बहुतायत से मिलते हैं, वहाँ कारखानों में बने पक्के माल का उत्पादन-व्यय कम होगा। अतएव भिन्न-भिन्न देशों में वस्तुओं का उत्पादन व्यय तथा कीमत भिन्न-भिन्न होगी। तुलनात्मक उत्पादन-व्यय में भिन्नता के आधार पर इन देशों के बीच में व्यापार सम्भव होगा। प्रत्येक देश केवल उन वस्तुओं को उत्पन्न करेगा जिनके उत्पादन की सबसे अधिक क्षमता या कुशलता उसको प्राप्त होगी। दूसरे अर्थों मे प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं को उत्पन्न करेगा जिनका उत्पादन-व्यय उस देश में सबसे कम होगा और वह उन वस्तुओं का निर्यात (export) करेगा। उन वस्तुओं का आयात (import) करेगा कि जिनको उत्पन्न करने की क्षमता या कुशलता कम है अर्थात् जिनका उत्पादन-व्यय अधिक है।

निर्यात और आयात किस प्रकार होता है हम नीचे उसका अध्ययन करेंगे। कल्पना कीजिए कि दो देश हैं 'क' और 'ख' जो कि आपस मे दो वस्तुओं अर्थात् गेहूँ और कपड़े में व्यापार करते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि दोनों देशों मे दोनों वस्तुओं के उत्पादन में सम-उत्पादन-नियम (law of constant returns) लागू होता है। अर्थात् वस्तुओं को चाहे कितनी मात्रा में उत्पन्न किया जाय किन्तु उनके उत्पादन-व्यय मे कोई अन्तर नहीं आवेगा। साथ ही हम यह भी मानकर चलते हैं कि दोनों देशों के बीच में व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए एक और मान्यता को स्वीकार किया है। उन्होंने सारे उत्पादन-व्यय (cost) को श्रम दिवस (days of labour) में नापा है। उन्होंने इस सिद्धान्त को नीचे लिखे अनुसार व्यक्त किया है।

'क' देश में—

१० दिन का श्रम २० मन गेहूँ उत्पन्न करता है।

१० दिन का श्रम २० थान कपड़ा उत्पन्न करता है।

'ख' देश में—

१० दिन का श्रम १० मन गेहूँ उत्पन्न करता है।
१० ” ” ” १५ थान कपड़ा उत्पन्न करता है।

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि 'क' देश में एक मन गेहूँ का विनिमय थान कपड़े से होगा। 'ख' देश में १ मन गेहूँ का विनिमय १½ थान से होगा। कि 'ख' देश में उत्पादन व्यय का अनुपात १½ है। कहने का तात्पर्य यह है दोनों देशों के उत्पादन-व्यय का अनुपात भिन्न है। 'क' देश को उस समय लाभ है कि जब तक वह एक मन गेहूं भेजकर एक थान कपड़े से अधिक प्राप्त करता है। इसी प्रकार 'ख' देश को उस समय तक लाभ होता है जब तक उसे डेढ थान कपडे से कम भेजकर एक मन गेहू प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'क' देश केवल गेहू उत्पन्न करता रहे और गेहू 'ख' देश को भेजकर कपड़ा मगाता रहे तथा 'ख' देश केवल कपड़ा तैयार करता रहे और कपड़ा भेजकर गेहू मगाता रहे तो दोनों को लाभ होगा। ऊपर के उदाहरण में एक बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि 'क' देश में गेहू और कपड़ा दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करने में श्रम की कुशलता 'ख' से अधिक है परन्तु 'क' में श्रम की कुशलता कपड़े की अपेक्षा गेहू उत्पन्न करने में अधिक है।

सिद्धान्त की आलोचना : आधुनिक अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि यह सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त (labour theory of value) पर आधारित है। क्योंकि इसमें उत्पादन-व्यय (cost) को श्रम-दिवसों (labour days) में नापा जाता है। परन्तु उत्पादन के लिए केवल श्रम ही आवश्यक हो ऐसी बात नहीं है, उत्पत्ति के अन्य साधन (factors) भी हैं जो आवश्यक हैं। अस्तु, केवल श्रम-दिवसों से उत्पादन-व्यय नापना भूल है। जब हम मूल्य (value) को निर्धारित करने में मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को निर्धारित करने में उसको स्वीकार करना व्यर्थ है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि तुलनात्मक उत्पादन-व्यय नियम (law of comparative cost) को आधुनिक मूल्य सिद्धान्त (modern theory of value) में परिवर्तित किया जावे।

कल्पना कीजिए कि 'क' देश में उपजाऊ भूमि बहुतायत से है, किन्तु पूंजी की कमी है। इसके विपरीत 'ख' देश में पूँजी की बहुतायत है किन्तु भूमि की कमी है। अस्तु 'क' देश में गेहूँ उत्पन्न करने का सीमान्त व्यय (marginal cost) ५ रु० प्रति मन है और एक थान कपड़ा बनाने का सीमान्त व्यय ८ रु०

प्रति थान है। 'ख' देश में गेहूँ और कपड़े का सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमशः ८ रु० प्रति मन और ५ रु० प्रति थान है। इन आँकड़ों का यदि हम ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो नीचे लिखी स्थिति स्पष्ट हो जावेगी —

'क' देश में—

गेहू को उत्पन्न करने का सीमान्त उत्पन्न व्यय (marginal cost) प्रति मन—५ रु० है।

और कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त उत्पादन-व्यय—८ रु० प्रति थान है

'ख' देश में—

गेहूँ को उत्पन्न करने का सीमान्त उत्पादन-व्यय—८ रु० प्रति मन है।

और कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त उत्पादन-व्यय—५ रु० प्रति मन है।

'क' देश में एक मन गेहूँ की कीमत ५ रु० होगी तथा एक थान कपड़े की कीमत ८ रु० होगी। दूसरे शब्दों में जितने उत्पत्ति के साधनों का सयोग एक मन गेहूँ उत्पन्न करता है उतने ही उत्पत्ति के साधनों का सयोग ⅝ थान कपड़ा उत्पन्न करेगा। अतएव एक मन गेहू विनिमय (exchange) मे ⅝ थान कपड़े के बराबर होगा। इसी प्रकार 'ख' देश में एक मन गेहूँ १⅗ थान कपड़े के बराबर होगा। ऐसी दशा मे 'क' देश के हित में यह होगा कि वह कपड़े का उत्पादन बंद करदे और गेहूँ उत्पन्न करने में ही अपने उत्पादन के साधनों को लगाये। ऐसा करने से उसको यह लाभ होगा कि वह अपना अतिरिक्त गेहूँ 'ख' देश मे बेच सकेगा और एक मन गेहूँ के बदले ⅝ थान से अधिक कपड़ा प्राप्त कर सकेगा। इसी प्रकार 'ख' देश के हित में यह होगा कि वह अपने उत्पत्ति के साधनो को कपड़ा उत्पन्न करने में लगाये और अतिरिक्त कपड़े को 'क' देश में बेचे। 'ख' देश को 'क' देश म कपड़ा बेचने में तब तक लाभ होगा जब तक कि १⅗ थान कपड़े से कुछ कम कपड़ा देकर एक मन गेहूँ प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक देश को उन वस्तुओं के निर्यात (export) करने से लाभ होता है कि जो उन उत्पत्ति के साधनों द्वारा उत्पन्न होती हैं जो कि उस देश में बहुतायत से मिलते हैं, और उन वस्तुओं के आयात (import) करने से लाभ होता है कि जो उन साधनों (factors) से उत्पन्न होते हैं कि जो उस देश मे न्यून हैं।

विनिमय दर (Exchange Rate) परस्पर मांग (Reciprocal Demand) द्वारा निर्धारित होती है इस सिद्धान्त में माग (demand) के प्रभाव को भी स्वीकार किया जाता है। ऊपर उदाहरण मे हमने देखा कि 'क' देश को तब तक लाभ होगा कि जब तक उसे एक मन गेहूँ के बदले ⅝ थान

मिलता रहता है। 'ख' देश को तब तक लाभ होता रहेगा कि जब उसे १½ थान से कम कपड़ा देकर एक मन गेहूँ मिलता रहता है। वास्तव हूँ और कपड़े की विनिमय दर क्या होगी यह दोनों देशों की एक-दूसरे की के लिए सापेक्षिक माग की लचक (relative elasticity of demand) निर्भर रहेगी। दोनों वस्तुओं की वह दर निश्चित होगी जिस पर एक देश निर्यात का मूल्य आयात के बराबर हो। कल्पना कीजिए कि माग की स्थिति है कि दोनों देश एक मन गेहूँ को एक थान कपड़े मे विनिमय करते हैं। कपड़े की मांग बढ जावे और 'क' इस दर पर अधिक कपड़ा खरीदना और यदि 'ख' की गेहूँ की माग पूर्ववत् रहे तो स्थिति यह होगी कि 'ख' अधिक गेहूँ खरीदने या अधिक कपड़ा भेजने के लिए तैयार करना होगा। तभी होगा कि जब 'क' पहले की अपेक्षा 'ख' को अधिक आकर्षक शर्तें देगा। दशा में या तो 'क' को गेहू की कीमत कम करनी होगी अथवा 'ख' कपड़े की कीमत अधिक देनी होगी। दूसरे शब्दों में 'क' को प्रति थान पहले अपेक्षा अधिक गेहूँ भेजना होगा जिससे कि 'ख' पहले की अपेक्षा अधिक खरीदे और पहले की अपेक्षा अधिक कपड़ा भेजे। ऐसी दशा में अनुपात के विरुद्ध चला जावेगा अर्थात् उसको प्रति थान अधिक गेहूँ देना होगा। पार वास्तव में किन शर्तों या आधार पर होगा यह उन दोनों देशों को दूसरे की वस्तुओं के लिए सापेक्षिक मांग की लचक (relative elasticity demand) पर निर्भर रहेगा।

हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस सिद्धांत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम 'क' और 'ख' देशों के गेहूँ के उत्पादन-व्यय की तुलना करें। वैसा नहीं कर सकते। हम केवल 'क' और 'ख' में गेहूँ और कपड़े के पादन-व्यय के अनुपात की तुलना करते हैं। यदि यह अनुपात भिन्न है तो उन नों देशों में व्यापार हो सकता है।

अभी तक हमने इस सिद्धान्त का अध्ययन यह मान कर किया है कि ल दो वस्तुएँ हैं। परन्तु इसी सिद्धान्त के अनुसार चाहे कितनी वस्तुए हों न-भिन्न देशों में व्यापार होता है। प्रत्येक देश की अनेक वस्तुओं को दन करने की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। हम गिरते हुए क्रम के अनुसार इस लनात्मक लाभ (comparative advantage) की तालिका नीचे लिखे नुसार बना सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक देश १० दिन के श्रम से ३० काई कपास, २५ इकाई गेहूं, २० इकाई तिलहन, १५ इकाई गन्ना, १२ काई चाय, १० इकाई फल तथा ८ इकाई जूट, इत्यादि पैदा कर सकता है।

इनमें से कौनसी वस्तु का निर्यात होगा और कौनसी वस्तु का आयात होगा यह व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहेगा, अर्थात् यह उस दर पर निर्भर रहेगा कि जिस पर वह अपनी वस्तुओं को भेजकर आयात वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है। व्यापार की शर्तें जितनी ही अधिक अनुकूल होंगी उतनी ही कम वस्तुएँ निश्चित आयात वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए भेजनी होंगी। अस्तु, यह निश्चित नहीं रहता कि कौनसी वस्तुओं का निर्यात होगा। निर्यात (exports) वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से पृथक करने वाली रेखा एक स्थान पर नहीं रहती है वरन् व्यापार की शर्तों के बदलने के अनुसार अदलती-बदलती रहती है। दो के स्थान पर कई देश हों, तो कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। भारत से व्यापार करने वाले सभी देशों को हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक मान सकते हैं।

संक्षेप में यही तुलनात्मक उत्पादन-व्यय का नियम (law of comparative cost) है। वास्तविक जगत में यह नियम ठीक उतरता है। इसमें शंका करने की गुंजाइश नहीं है। प्रत्येक देश के आयात-निर्यात कर सम्बंधी कानूनों के इतिहास का अध्ययन करने से इसकी यथार्थता स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए, 'टाजिग' ने संयुक्तराज्य अमेरिका का उदाहरण देते हुए लिखा है कि यद्यपि संयुक्तराज्य अमेरिका में लोहे और स्टील की सभी वस्तुओं को संरक्षण (protection) मिला हुआ है परन्तु फिर भी संयुक्तराज्य अमेरिका कुछ विशेष प्रकार के औजारों और मशीनों को विदेशों से मंगवाता है। इसी प्रकार सूती वस्त्र को संरक्षण प्राप्त होते हुए भी संयुक्तराज्य अमेरिका कुछ विशेष प्रकार के सूती वस्त्र विदेशों से मंगवाता है। इसका कारण स्पष्ट है। संयुक्तराज्य अमेरिका को इन वस्तुओं के उत्पन्न करने से सर्वाधिक तुलनात्मक लाभ (greatest comparative advantage) प्राप्त नहीं है।

उत्पत्ति के नियम (Laws of Returns) तथा तुलनात्मक उत्पादन-व्यय ऊपर के उदाहरण में हम यह मान कर चले थे कि दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में सम-उत्पत्ति नियम (law of constant returns) लागू है। हम चाहे जितनी मात्रा में वस्तु का उत्पादन करें परन्तु उत्पादन व्यय समान रहेगा। यह हमने सिद्धान्त की व्याख्या को सरल बनाने की दृष्टि से मान लिया था। परन्तु व्यवहार में केवल सम-उत्पत्ति नियम ही लागू होता है ऐसा नहीं है। अस्तु, इस मान्यता को हटा देना आवश्यक है। कल्पना कीजिए कि वस्तुएं क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns) के अनुसार उत्पन्न की जा रही हैं।

ऊपर के उदाहरण मे हम यह मान कर चले थे कि 'क' देश गेहू करने में ही अपनी सारी शक्ति और साधन लगावेगा और कुछ गेहू को उत्पन्न किए हुए कपड़े से वदल लेगा। परन्तु जब कि 'क' 'ख' को भेजने अधिक गेहू उत्पन्न करेगा तो गेहू का सीमान्त उत्पादन व्यय (marginal बढ जावेगा क्योंकि उत्पादन में क्रमागत ह्रास नियम लागू हो रहा है। एक स्थिति के बाद 'क' देश को अनुभव होने लगेगा कि गेहू के दन में ही शक्ति और साधनों को लगाना लाभदायक सिद्ध नहीं होगा। 'ख' देश में गेहू का उत्पादन कम करने से अर्थात् उत्पत्ति के साधनों ctors of production) को गेहू की खेती से निकाल लेने का परिणाम होगा कि गेहू का सीमान्त उत्पादन-व्यय गिर जावेगा। उस दशा में 'ख' ज्ञान होगा कि गेहूं की खेती से उत्पत्ति के साधनों को निकालकर कपडे के पादन में लगाना और कपड़े को 'क' के ऊँचे लागत-व्यय के गेहू से बदलना भदायक सिद्ध नहीं होगा। अस्तु, 'ख' देश अपने कुछ उत्पत्ति के साधनों को हू की खेती में ही लगे रखेगा, विशेषकर वह उन श्रेष्ठ उपजाऊ भूमि के टुकड़ों पर गेहू उत्पन्न करता रहेगा कि जिनपर सीमान्त उत्पादन-व्यय (marginal cost) कम हो। अस्तु, क्रमागत ह्रास नियम के लागू होने का परिणाम यह होगा कि वस्तु दोनों देशों में उत्पन्न होगी और लगान (rent) का स्तर तथा सीमान्त भूमि व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहेगा।

जब धन्धों मे क्रमागत वृद्धि नियम (law of increasing returns) लागू होता है तो लाभदायक व्यापार का क्षेत्र माग की वृद्धि के साथ विस्तृत होगा। जैसे-जैसे अधिक मात्रा में वस्तु का उत्पादन होगा वैसे वैसे उत्पादन अधिक कुशलता पूर्वक होगा, सीमान्त उत्पादन व्यय गिरता जावेगा और लाभदायक व्यापार की सीमाओं का विस्तार होगा। इसमें किसी नवीन सिद्धान्त का समावेश नहीं होता केवल तुलनात्मक उत्पादन-व्यय (comparative costs) की सीमाएँ पहले की अपेक्षा अधिक चौड़ी हो जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि दोनों देशों के उत्पादन-व्यय के अनुपात म कितना अन्तर है। तुलनात्मक उत्पादन-व्यय में दोनों देशों में जितना ही अधिक अन्तर होगा उतना ही अधिक लाभदायक व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होगा। जब कि किसी देश के व्यापारी यह पाते हैं कि कीमतों का अनुपात विदेशों में उनके देश से बहुत भिन्न है तो वह देश विदेशी व्यापार से लाभ कमाता है। उस दशा

में व्यापारी उन वस्तुओं को खरीदते हैं जो उन्हें सस्ती मालूम पड़ती हैं और उ[न] वस्तुओं को वेचते हैं जो उन्हें मँहगी मालूम पड़ती हैं। उनके लिए जो नीची क़ीम[त] है और ऊँची कीमत है उसके बीच जितना ही अधिक अन्तर होगा और जित[नी] महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ होंगी उतना ही विदेशी व्यापार से लाभ होगा। यदि 'क' दे[श] में श्रम (labour) गेहूँ उत्पन्न करने में वहुत अधिक कुशल है और सू[ती] वस्त्र उत्पन्न करने में 'ख' देश में वहुत कुशल है तो दोनों देशों को व्यापार [से] वहुत अधिक लाभ होगा। अस्तु, विदेशी व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा श्रम (अथवा उत्पत्ति के साधनों) की कुशलता पर निर्भर रहती है। अतएव यदि विदेशी श्रम (या उत्पत्ति साधन) जो कि आयात वस्तुओं के उत्पादन में लगता है अधिक कुशल हो जावे तो हमे अधिक लाभ होगा, किन्तु यदि विदेशी श्रम या उत्पत्ति के साधनों की कुशलता निर्यात वस्तुओं (export) के उत्पादन में अधिक हो जावे तो हमें हानि होगी। उदाहरण के लिए, यदि 'क' देश में उत्पत्ति के साधनों की कुशलता गेहूँ उत्पन्न करने मे अधिक हो जावे तो 'ख' देश को विदेशी व्यापार से अधिक लाभ होगा। किन्तु यदि 'क' देश मे सूती वस्त्र उत्पन्न करने मे उत्पत्ति के साधनो की कुशलता वढ जावे तो 'ख' देश को हानि होगी।

लाभ की मात्रा व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहती है : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कितना लाभ होगा यह व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहेगा, अर्थात् ऊपर दिए उदाहरण मे लाभ की मात्रा इस वात पर निर्भर रहेगी कि गेहूँ और सूती वस्त्र के विनिमय का अनुपात क्या है। यदि विनिमय का अनुपात १ : १ है तो दोनों को वरावर लाभ होगा। क्योंकि यदि विदेशी व्यापार न होता तो 'क' देश मे १ मन गेहूँ के वदले केवल ५/६ थान कपड़ा मिलता और 'ख' देश में एक मन गेहूं के लिए १ २/६ थान कपड़ा देना पड़ता। विदेशी व्यापार के कारण प्रत्येक देश में एक मन गेहूं का एक मन कपड़े से विनिमय होता है। ऐसी दशा में दोनों को वरावर लाभ होता है। परन्तु कल्पना कीजिए कि विनिमय का अनुपात १ : १ न होकर १ : १ १/६ होता तो 'क' देश को अधिक लाभ होता, क्योंकि उसको एक मन गेहूँ पर १/६ थान अधिक मिल जाता। किन्तु 'ख' देश को एक मन गेहूं के लिए १ २/६ थान के स्थान पर केवल १ १/६ थान ही देना पड़ता अर्थात् १/६ थान का ही लाभ होता। कहने का तात्पर्य यह है कि विदेशी व्यापार से कितना लाभ होगा यह व्यापार की शर्तों पर निर्भर रहता है।

व्यापार की शर्तें तथा लाभ पारस्परिक माँग पर निर्भर रहते हैं : ऊपर हमने लिखा है कि व्यापार का लाभ इस पर निर्भर रहता है कि इन

ार किन शर्तों पर हुआ है—व्यापार की शर्तें वस्तुओं की पारस्परिक माँग पर निर्भर रहती हैं। अर्थात् ऊपर के उदाहरण में 'क' की कपड़े की माँग की लचक (elasticity of demand) और 'ख' की गेहूँ की माँग की लचक पर व्यापार की शर्तें अर्थात् विनिमय का अनुपात (ratio of exchange) निर्भर रहेगा। यदि 'क' की कपड़े की माँग अत्यधिक लचक रहित (highly inelastic) है तो उसको कपड़े के लिए अधिक गेहूं देना होगा। व्यापार की शर्तें उसके विरुद्ध हो जावेंगी परन्तु यदि 'क' की कपड़े की माँग अत्यधिक लचकदार (highly elastic demand) है तो व्यापार की शर्तें उसके पक्ष में हो जावेंगी और उसको कपड़े के लिए अपेक्षाकृत कम गेहू देना होगा। ठीक इसी प्रकार यदि 'ख' की गेहूँ की माँग लचकदार अथवा लचकहीन हो तो व्यापार की शर्तें उसके पक्ष अथवा उसके विपक्ष में होंगी। कल्पना कीजिए कि व्यापार की शर्तें अथवा विनिमय का अनुपात एक मन गेहू और एक थान कपड़ा है। 'क' देश की माँग (demand) में परिवर्त्तन होता है अर्थात् इस अनुपात पर वह अधिक कपड़ा लेना चाहता है कि 'ख' की गेहूँ की माँग अनुसूची (demand schedule) में इस अनुपात पर कोई भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। अधिक कपड़ा पाने के लिए 'क' को अधिक आकर्षक व्यापारिक शर्तें 'ख' के सामने रखनी होंगी। व्यापार की शर्तें 'क' के विपक्ष में चली जावेंगी, परन्तु वे कितनी सीमा तक विपक्ष में जावेंगी यह 'ख' की गेहू की माँग की लचक पर निर्भर रहेगा। यदि 'ख' की गेहू की माँग लचकदार (elastic) है तो वह तनिक कम कीमत पर ही अधिक गेहूँ लेना स्वीकार कर लेगा और अधिक कपड़ा भेज देगा। ऐसी दशा में विनिमय की दर किंचित 'क' के विपक्ष में चली जावेगी। किन्तु, यदि 'ख' की माँग लचकरहित (inelastic) है तो गेहूँ की कीमत यथेष्ट कम करने पर ही 'ख' अधिक गेहू खरीदेगा और अधिक कपड़ा देगा। उस दशा में व्यापार की शर्तें 'क' के अधिक विपक्ष में चली जावेंगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा वह देश सबसे अधिक लाभान्वित होगा जिसकी वस्तुओं की माँग विदेशों में बहुत अधिक है और जिसकी विदेशी वस्तुओं की माँग कम है। पारिभाषिक शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि विदेशी वस्तुओं के लिए उसकी माँग बहुत अधिक लचकदार होनी चाहिए और उसकी वस्तुओं की विदेशों के लिए माँग लचकरहित होनी चाहिए। ऐसी दशा में व्यापार की शर्तें उसके विपक्ष में होंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का संकेत और अनुमान मुद्रा-आय (money income) से लगाया जा सकता है। मुद्रा-आय के द्वारा ही

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ प्राप्त होता है। जिस देश की वस्तुओं की विदेशों में समान रूप से अधिक माँग होती है उसकी मुद्रा-आय बहुत ऊँची होती है। यदि उसकी निर्यात वस्तुओं (export goods) की विदेशों में माँग अधिक है तो निर्यात धंधों का व्यापार बढ़ेगा और उन धंधों में मजदूरी (wages) भी ऊँची होगी। प्रतिस्पर्द्धा के कारण अन्य धंधों को भी मजदूरों को ऊँची मजदूरी देनी होगी, नहीं तो वे निर्यात धंधों में चले जावेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश में साधारणतया मजदूरी का स्तर ऊँचा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उस देश में मुद्रा-आय (money income) तो ऊँची होगी किन्तु विदेशी वस्तुओं की कीमत नीची होगी। अतएव विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता (consumers) की हैसियत से उस देश के लोगों को लाभ होगा। इसके विपरीत उन देशों की जिनकी विदेशी वस्तुओं की माँग बहुत अधिक है मुद्रा आय कम होगी, विदेशी वस्तुओं की कीमत उस देश में अधिक होगी और उपभोक्ता की दृष्टि से उसको हानि होगी।

मजदूरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार : अब हम इस बात का विचार करेंगे कि भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित भिन्न मजदूरी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है। अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है, और विशेषकर वे लोग जो कि संरक्षण (protection) के समर्थक हैं वे ऐसा मानते हैं कि जिस देश में मज़दूरी अधिक है, उस देश को, सभी क्षेत्रों में, कम मज़दूरी वाला देश अपने माल से पाट देगा अर्थात् ऊँची मज़दूरी वाले देश के धंधे कम मजदूरी वाले देश के धंधों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े नहीं रह सकेंगे। यह मान्यता इस आधार पर आश्रित है कि जिस देश में मज़दूरी अधिक होगी वहाँ उत्पादन व्यय (cost of production) अधिक होगा, कीमतें ऊँची होंगी और वह देश उन देशों की प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक सकेगा जहाँ मज़दूरी कम है।

वास्तव में यह तर्क सही नहीं है। यह भ्रमोत्पादक है। यह व्यापार के आंकड़ों का अध्ययन करने अथवा सैद्धान्तिक विवेचन से स्पष्ट हो जायगा। मजदूरी का अर्थ सदैव अधिक उत्पादन-व्यय ही नहीं होता यदि लोग या दक्षता अथवा उत्पादन-शक्ति भी ऊँची है। यदि मजदूर अधिक दक्ष हैं और उनकी उत्पादन-शक्ति अधिक है तो पुनः इकाई उत्पादन-व्यय कम होगा और उन वस्तुओं की कीमतें भी नीची होंगी। इसके विपरीत नीची मजदूरी मजदूरों की अकुशलता अथवा नीची उत्पादन-शक्ति का परिणाम हो सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन व्यय अधिक होगा और कीमत भी

अधिक होगी। साधारणतया मजदूरी का स्तर तभी ऊंचा रह सकता है कि जब मज़दूरों की उत्पादन-शक्ति अधिक हो। अस्तु, यह कहना ठीक नहीं है कि प्रत्येक दशा में नीची मज़दूरी वाला देश ऊची मजदूरी वाले देश को अपनी वस्तुओं से पाट देगा।

व्यापार की गतिविधि से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। साधारणतया अमेरिकन मज़दूर या ब्रिटिश मजदूर की मजदूरी भारतीय मजदूर से बहुत अधिक होती है। परन्तु अमेरिका तथा ब्रिटेन बहुत-सा माल बना कर भारत को भेजते हैं। केवल भारत को ही नहीं संयुक्तराज्य अमेरिका संसार के प्रत्येक देश को अपना माल भेजता है यद्यपि अमेरिका मे मजदूरी का स्तर सबसे अधिक ऊचा है।

इसके विरुद्ध किसी देश में मजदूरीका स्तर इसलिए भी ऊंचा हो सकता है कि उसकी वस्तुओं की विदेशों में बहुत माग है। दूसरे शब्दों में व्यापार की शर्तें अथवा विनिमय अनुपात उसके पक्ष मे है, जिसके परिणाम स्वरूप मजदूरी का स्तर उस देश में ऊचा है। अस्तु, मज़दूरी का ऊंचा स्तर निर्यात व्यापार मे बाधक होने के बजाय समृद्धिशाली निर्यात व्यापार का द्योतक हो सकता है। यही नहीं, निर्यात व्यापार ही वह रचना है जिसके द्वारा कोई समृद्धि का उपभोग करता है। यदि प्रमुख धधों में श्रम (labour) बहुत कुशल या दक्ष (efficient) है तो देश में मजदूरी का स्तर ऊँचा रहेगा। जब एक बार मज़दूरी का स्तर ऊचा हो जाता है तो किसी धधे विशेष को वह ऊंची मजदूरी एक बाधा स्वरूप अनुभव हो सकती है। यद्यपि प्रतिस्पर्द्धा के कारण उस धधे को भी ऊंची मज़दूरी देनी होगी, परन्तु उस धधे मे हो सकता है कि श्रम इतना प्रभावकारी न हो जितना कि प्रमुख धधों में वह प्रभावकारी है। अस्तु, वह देश उन वस्तुओं को उत्पन्न करना बंद कर देगा, क्योंकि उन धधों मे उसको तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) प्राप्त नहीं है। यदि किसी धंधे में किसी श्रेणी के श्रम की मज़दूरी बहुत कम है तो वह देश उस वस्तु का निर्यात करेगा कि जिसमें उस श्रम का उपयोग होता है। परन्तु, यदि सभी धधों मे मज़दूरी एक समान नीची या ऊंची है तो उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा।

प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह (Non-Competing Groups) और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हम यह मान कर चले थे कि श्रम साधारणतया गतिशील (mobile) है अस्तु भिन्न-भिन्न मजदूर-समूहों की मजदूरी की दरें उनकी

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ प्राप्त होता है। जिस देश की वस्तुओं की विदेशों में समान रूप से अधिक माँग होती है उसकी मुद्रा-आय बहुत ऊँची होती है। यदि उसकी निर्यात वस्तुओं (export goods) की विदेशों में माँग अधिक है तो निर्यात धंधों का व्यापार बढ़ेगा और उन धंधों में मजदूरी (wages) भी ऊँची होगी। प्रतिस्पर्द्धा के कारण अन्य धंधों को भी मजदूरों को ऊँची मजदूरी देनी होगी, नहीं तो वे निर्यात धंधों मे चले जावेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश में साधारणतया मजदूरी का स्तर ऊँचा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उस देश में मुद्रा-आय (money income) तो ऊँची होगी किन्तु विदेशी वस्तुओं की कीमत नीची होगी। अतएव विदेशी वस्तुओं के उपभोक्ता (consumers) की हैसियत से उस देश के लोगों को लाभ होगा। इसके विपरीत उन देशों की जिनकी विदेशी वस्तुओं की माँग बहुत अधिक है मुद्रा-आय कम होगी, विदेशी वस्तुओं की कीमत उस देश मे अधिक होगी और उपभोक्ता की दृष्टि से उसको हानि होगी।

मज़दूरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार: अब हम इस बात का विचार करेंगे कि भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित भिन्न मजदूरी का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है। अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है, और विशेषकर वे लोग जो कि संरक्षण (protection) के समर्थक हैं वे ऐसा मानते हैं कि जिस देश मे मज़दूरी अधिक है, उस देश को, सभी क्षेत्रों में, कम मज़दूरी वाला देश अपने माल से पाट देगा अर्थात् ऊंची मजदूरी वाले देश के धंधे कम मज़दूरी वाले देश के धंधों की प्रतिस्पर्द्धा में खड़े नहीं रह सकेंगे। यह मान्यता इस आधार पर आश्रित है कि जिस देश में मजदूरी अधिक होगी वहां उत्पादन व्यय (cost of production) अधिक होगा, कीमतें ऊंची होंगी और वह देश उन देशों की प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक सकेगा जहां मज़दूरी कम है।

वास्तव में यह तर्क सही नहीं है। यह भ्रमोत्पादक है। यह व्यापार के आंकड़ों का अध्ययन करने अथवा सैद्धान्तिक विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा। मज़दूरी का अर्थ सदैव अधिक उत्पादन-व्यय ही नहीं होता यदि श्रम की दक्षता अथवा उत्पादन-शक्ति भी ऊंची है। यदि मज़दूर अधिक दक्ष है और उनकी उत्पादन-शक्ति अधिक है तो पुनः इकाई उत्पादन-व्यय कम होगा और उन वस्तुओं की कीमतें भी नीची होगी। इसके विपरीत नीची मज़दूरी मज़दूरों की अकुशलता अथवा नीची उत्पादन-शक्ति का परिणाम हो सकती है। उसका परिणाम यह होगा कि उत्पादन व्यय अधिक होगा और कीमत भी

सापेक्षिक कुशलता या दक्षता (relative efficiency) के अनुसार भिन्न होंगी। यदि दस दिन का श्रम ५० मन गेहू उत्पन्न करता है और २५ मन चावल उत्पन्न करता है तो गेहू उत्पन्न करने वाले मजदूरों को चावल उत्पन्न करने वाले मजदूरों की तुलना में दुगनी मज़दूरी मिलेगी। हमने यह मान लिया था कि सापेक्षिक कुशलता के अनुसार ही मजदूरों की मज़दूरी भिन्न होगी। परन्तु कल्पना कीजिए कि देश में प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह विद्यमान हैं, इस कारण मज़दूरों का एक समूह विशेष उतनी ही कुशलता और दक्षता वाले मज़दूरों को मिलने वाली प्रचलित मजदूरी की दर से अधिक या कम मजदूरी पाता है। तब प्रश्न यह है कि इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह (non-competing group) के विद्यमान होने का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

यदि गतिशीलता (mobility) के अभाव में किसी मज़दूर-समूह को बहुत कम मज़दूरी मिलती है, तो उस देश का उन वस्तुओं को उत्पन्न करने में जिनमें वह मज़दूर समूह काम करता है तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) प्राप्त होगा। ऐसी दशा में उस वस्तु को उत्पन्न करने का मुद्रा-व्यय (money expences) अन्य देशों से कम होगा। ऐसी दशा में उस वस्तु का निर्यात (export) होगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रुख प्रभावित होगा। युद्ध के पूर्व जर्मनी में रासायनिक धधों की यही स्थिति थी। जर्मनी में वैज्ञानिक शिक्षा का बहुत अधिक विकास होने के कारण जर्मनी में रसायनवेत्ताओं की सख्या बहुत बढ़ गई, अस्तु उन्हें विवश हो कर कम मजदूरी या वेतन पर काम करना पड़ा था। रसायनवेत्ताओं को कम मज़दूरी देने का परिणाम यह हुआ कि रासायनिक पदार्थों को उत्पन्न करने में जर्मनी को तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो गया और रासायनिक पदार्थों का निर्यात होने लगा।

यदि अन्य देशों में भी इसी प्रकार के मज़दूर-समूह (रसायनवेत्ता) हैं जिनकी मजदूरी कम है, तो मजदूरी कम होने से पहले देश को जो तुलनात्मक लाभ है वह अन्य देशों को भी प्राप्त हो जायेगा। अतएव किसी भी देश की स्थिति, जहाँ तक मुद्रा व्यय का प्रश्न है, न तो बुरी होगी और न अच्छी होगी, और व्यापार का क्रम पहले की ही तरह उत्पत्ति (production) की तुलनात्मक कुशलता से निर्धारित होगा। अस्तु, यदि भिन्न-भिन्न प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह भिन्न-भिन्न देशों में एक ही सापेक्षिक स्थिति में हैं तो उनके रहने से व्यापार के क्रम में कोई गम्भीर परिवर्तन

नहीं होगा। परन्तु, यदि भिन्न-भिन्न समूहों की स्थिति दो देशों में भिन्न है—उदाहरण के लिए, यदि रसायनवेत्ताओं को जर्मनी में कम मजदूरी मिलती है और भारत में अधिक मजदूरी मिलती है तो इसका व्यापार के रुख पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। परन्तु वास्तव में भिन्न-भिन्न देशों में प्रतिस्पर्धा न करने वाले समूह (non-competing groups) की स्थिति प्राय: एक सी ही होती है। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ. अब हम संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभों का उल्लेख नीचे करेंगे :—

(१) पहला और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि प्रत्येक देश केवल उन वस्तुओं को उत्पन्न करने मे अपनी शक्ति और साधन लगाता है जिनके लिए उसको सर्वाधिक लाभ प्राप्त हैं और अनुकूलतम परिस्थितिया हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा प्रादेशिक श्रम-विभाजन (territorial division of labour) का पूर्ण विकास होता है। इसके द्वारा वस्तुओं का उत्पादन अनुकूलतम परिस्थितियों में होता है और ससार की कुल सम्पत्ति या धन (wealth) और हित की वृद्धि होती है।

(२) जहा तक उपभोक्ताओं (consumers) का प्रश्न है उन्हें केवल इतना ही लाभ नहीं होता कि उन्हें विदेशों की उत्पन्न की हुई वह वस्तुए उपभोग करने के लिए मिलती हैं जो कि उनका देश कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता था, वरन् उन्हें अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को ससार के सस्ते से सस्ते बाजार से प्राप्त करने की सुविधा मिलती है। कोई देश तभी विदेशों से माल मगवाता है जब कि वह वस्तुए उसे बाहर से सस्ती प्राप्त हों।

(३) जब किसी देश में दुर्भिक्ष पड़ता है अथवा किसी वस्तु की बहुत कमी प्रतीत होती है तो वह देश अपनी जनसख्या के जीवन तथा स्वास्थ्य की रक्षा के लिए विदेशों से खाद्यान्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुए मगवा सकता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न हो तो ऐसी दशा में करोड़ों व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो सकता है। द्वितीय महायुद्ध में, बंगाल में बाहर से चावल न आ सकने के कारण लाखों व्यक्ति मर गए।

(४) विदेशी व्यापार मे एक बड़ा लाभ यह भी होता है कि देश के व्यवसायियों को यह भय बना रहता है कि यदि वे अपने उत्पादन के तरीकों को अन्य देशों के व्यवसायियों के समान ही नहीं सुधारेंगे तो वे उनकी प्रतिस्पर्धा में नहीं टिक सकेंगे। यही नहीं, विदेशी व्यापार से एकाधिकार (monopoly) स्थापित होने का भय नहीं रहता तथा स्पर्धा उत्पन्न हो जाती है। इसका

सापेक्षिक कुशलता या दक्षता (relative efficiency) के अनुसार भिन्न होगी। यदि दस दिन का श्रम ५० मन गेहूं उत्पन्न करता है और २५ मन चावल उत्पन्न करता है तो गेहूं उत्पन्न करने वाले मजदूरों को चावल उत्पन्न करने वाले मजदूरों की तुलना में दुगनी मज़दूरी मिलेगी। हमने यह मान लिया था कि सापेक्षिक कुशलता के अनुसार ही मजदूरों की मज़दूरी भिन्न होगी। परन्तु कल्पना कीजिए कि देश में प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह विद्यमान हैं, इस कारण मज़दूरों का एक समूह विशेष उतनी ही कुशलता और दक्षता वाले मजदूरों को मिलने वाली प्रचलित मजदूरी की दर से अधिक या कम मजदूरी पाता है। तब प्रश्न यह है कि इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धा न करने वाले समूह (non-competing group) के विद्यमान होने का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

यदि गतिशीलता (mobility) के अभाव में किसी मज़दूर-समूह को बहुत कम मज़दूरी मिलती है, तो उस देश को उन वस्तुओं को उत्पन्न करने में जिनमें वह मज़दूर समूह काम करता है तुलनात्मक लाभ (comparative advantage) प्राप्त होगा। ऐसी दशा में उस वस्तु को उत्पन्न करने का मुद्रा-व्यय (money expences) अन्य देशों से कम होगा। ऐसी दशा में उस वस्तु का निर्यात (export) होगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रुख प्रभावित होगा। युद्ध के पूर्व जर्मनी में रासायनिक धधों की यही स्थिति थी। जर्मनी में वैज्ञानिक शिक्षा का बहुत अधिक विकास होने के कारण जर्मनी मे रसायनवेत्ताओं की सख्या बहुत बढ़ गई, अस्तु उन्हें विवश हो कर कम मजदूरी या वेतन पर काम करना पड़ा था। रसायनवेत्ताओं को कम मज़दूरी देने का परिणाम यह हुआ कि रासायनिक पदार्थों को उत्पन्न करने में जर्मनी को तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो गया और रासायनिक पदार्थों का निर्यात होने लगा।

यदि अन्य देशों में भी इसी प्रकार के मज़दूर-समूह (रसायनवेत्ता) हैं जिनकी मजदूरी कम है, तो मजदूरी कम होने से पहले देश का जो तुलनात्मक लाभ है वह अन्य देशों को भी प्राप्त हो जायेगा। अतएव किसी भी देश की स्थिति, जहाँ तक मुद्रा व्यय का प्रश्न है, न तो बुरी होगी और न अच्छी होगी, और व्यापार का रुख पहले की ही तरह उत्पत्ति (production) की तुलनात्मक कुशलता से निर्धारित होगा। अस्तु, यदि भिन्न-भिन्न प्रतिस्पर्धा न करने वाले समूह भिन्न-भिन्न देशों में एक ही सापेक्षिक स्थिति में हैं तो उनके रहने से व्यापार के रुख में कोई गम्भीर परिवर्तन

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का चौथा दोष यह है कि उसके कारण प्रत्येक देश वल कुछ थोड़ी सी वस्तुओं को उत्पन्न करने में ही अपनी सारी शक्ति और धन लगाता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में पेशे या धन्धे कम हो जाते हैं। और यह अत्यधिक एक पक्षीय औद्योगिक विकास देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता के लिए हानिकर है।

विदेशी व्यापार का अन्तिम दोष यह है कि इसके कारण प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ विदेशों पर अवलम्बित हो जाती है जो कि कभी-कभी खतरनाक सिद्ध होती है। यदि युद्ध अथवा अन्य किसी कारणवश विदेशों से कुछ समय के लिए वस्तुओं का आना रुक जावे तो उस देश की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। विदेशी व्यापार का केवल इतना ही दोष नहीं है, वरन् एक दोष यह भी है कि किसी भी देश में यदि आर्थिक अथवा औद्योगिक अव्यवस्था या असतुलन उत्पन्न हो जाता है तो वह उन देशों में भी फैल जाता है जिनसे उस देश का सम्बन्ध है। यही कारण है कि आज आर्थिक मन्दी (economic depression) किसी एक देश में सीमित नहीं रहता।

फिर भी यह तो कहना ही होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ उसके दोषों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ तभी पूर्ण रूप से प्रकट होते हैं जबकि प्रत्येक देश मुक्त-द्वार व्यापार (free trade) नीति को स्वीकार करे और विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध या रुकावट न हो। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जो हमने दोष बताये वे भी मुक्तद्वार व्यापार मे ही प्रकट होते हैं। अस्तु, हमें मुक्त-द्वार व्यापार तथा सरक्षण (protection) के बारे में विचार कर लेना चाहिये।

———

परिणाम यह होता है कि उपभोक्ताओं (consumers) को वस्तु कम कीमत पर मिल जाती है।

(५) विदेशी व्यापार से एक बड़ा लाभ यह भी होता है कि जिन देशों में आवश्यक कच्चे माल का अभाव होता है वे उनका आयात करके उन्हें प्राप्त कर लेते हैं। इससे औद्योगिक उन्नति होती है और वे देश जिन्हें अन्य सुविधाएँ प्राप्त हैं, किन्तु कच्चा माल जिनके पास नहीं है, वे भी औद्योगिक उन्नति करते हैं। यही नहीं, विदेशी व्यापार के फलस्वरूप कच्चे माल का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दोष : जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ऊपर लिखे लाभ हैं वहाँ उसके दोष भी हैं।

पहला दोष तो यह है कि विदेशी व्यापार के फलस्वरूप किसी देश का आवश्यक कच्चा माल और खनिज पदार्थ समाप्त हो सकता है, जिसे पुनः प्राप्त कर सकना कठिन होता है। उदाहरण के लिए, भारत मैंगनीज़, अबरख, इत्यादि को धातु के रूप में ही बाहर भेज देता है। भारत को उससे बहुत कम लाभ मिलता है। यदि उनको बाहर न भेजा जाता तो भविष्य में जब भारत औद्योगिक उन्नति कर लेता तो उनसे अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकता था।

विदेशी व्यापार का दूसरा बुरा परिणाम यह होता है कि देश के धंधों को विदेशों की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है और कभी कभी राशिपातन (dumping) का भी सामना करना पड़ता है। भारत के उद्योग-धंधे विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा के कारण ही नष्ट हो गए, जिसके परिणाम स्वरूप भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ गया और देश का आर्थिक संतुलन बिगड़ गया। यही नहीं, विदेशी माल की प्रतिस्पर्धा के कारण ही भारत के नवीन उद्योग-धंधों के विकास में भी बाधा उपस्थित हुई और भारत आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा राष्ट्र बन गया।

विदेशी व्यापार का एक बड़ा दोष यह भी है कि कभी-कभी उसके द्वारा देश के निवासियों की आदतें बिगड़ जाती हैं, वे हानिकर वस्तुओं का उपभोग करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, चीन को अफीम के व्यापार के कारण उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत हानि उठानी पड़ी। शराब इत्यादि हानिकर पदार्थों को पीने की आदत पड़ जाती है, क्योंकि विदेशी व्यापार की सुविधा के कारण फ्रान्स इत्यादि देशों की शराब आसानी से आ सकती है। 'कोकाकोला' जैसा हानिकर पेय भारत में प्रचलित हो रहा है। यह विदेशी व्यापार का ही प्रभाव है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का चौथा दोष यह है कि उसके कारण प्रत्येक देश केवल कुछ थोड़ी सी वस्तुओं को उत्पन्न करने में ही अपनी सारी शक्ति और साधन लगाता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में पेशे या धन्धे कम हो जाते हैं। और यह अत्यधिक एक पक्षीय औद्योगिक विकास देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता के लिए हानिकर है।

विदेशी व्यापार का अन्तिम दोष यह है कि इसके कारण प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ विदेशों पर अवलम्बित हो जाती है जो कि कभी-कभी खतरनाक सिद्ध होती है। यदि युद्ध अथवा अन्य किसी कारणवश विदेशों से कुछ समय के लिए वस्तुओं का आना रुक जावे तो उस देश की आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। विदेशी व्यापार का केवल इतना ही दोष नहीं है, वरन् एक दोष यह भी है कि किसी भी देश में यदि आर्थिक अथवा औद्योगिक अव्यवस्था या असतुलन उत्पन्न हो जाता है तो वह उन देशों में भी फैल जाता है जिनसे उस देश का सम्बन्ध है। यही कारण है कि आज आर्थिक मन्दी (economic depression) किसी एक देश में सीमित नहीं रहता।

फिर भी यह तो कहना ही होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ उसके दोषों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ तभी पूर्ण रूप से प्रकट होते हैं जबकि प्रत्येक देश मुक्तद्वार व्यापार (free trade) नीति को स्वीकार करे और विदेशी व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध या रुकावट न हो। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जो हमने दोष बताये वे भी मुक्तद्वार व्यापार में ही प्रकट होते हैं। अस्तु, हमें मुक्तद्वार व्यापार तथा संरक्षण (protection) के बारे में विचार कर लेना चाहिये।

परिच्छेद ५०

मुक्त व्यापार (Free Trade) तथा संरक्षण (Protection)

पिछले परिच्छेद में हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सिद्धान्त का अध्ययन किया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल आधार और कारण क्या हैं इसको जानने के उपरान्त हमें यह भी जानना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध मे किसी देश की नीति क्या होगी। क्या वस्तुओं को अपने देश से बाहर स्वतन्त्रता पूर्वक जाने देना चाहिए और विदेशों से बिना किसी बाधा के वस्तुओं को आने देना चाहिए। अथवा निर्यात (export) और आयात पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। यदि कोई प्रतिबंध लगाये जावें तो किस रूप में और किस परिस्थिति मे उनका लगाया जाना उचित होगा। इसके अतिरिक्त हमें यह भी जानना है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने इस सम्बन्ध में कौनसी नीति अपनाई है।

मुक्तद्वार व्यापार-सिद्धान्त (Free Trade Theory) जब किसी देश के अन्दर आने वाली वस्तुओं अथवा उस देश से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर कोई प्रतिबन्ध या रुकावट नहीं लगाई जाती तो हम उसे मुक्तद्वार व्यापार कहते हैं। दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता पूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कर सकने की छूट को ही हम मुक्तद्वार व्यापार कहेंगे। मुक्तद्वार व्यापार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई भी प्रतिबन्ध या रुकावट नहीं लगाई जाती। इसके विपरीत जब हम अपने देश के धंधों की विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करने के लिए विदेशी माल पर भारी कर बिठाते हैं तो उसको संरक्षण (protection) कहते हैं। पहले हम मुक्तद्वार व्यापार के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

'एडस्मिथ' के शब्दों में मुक्तद्वार व्यापार उसको कहते हैं जब विदेशी तथा स्वदेशी वस्तुओं में कोई भी अंतर नहीं किया जाता, अर्थात् न तो विदेशी वस्तुओं पर कोई कर भार लादा जाता है और न स्वदेशी वस्तुओं को कोई विशेष प्रोत्साहन दिया जाता है।" परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मुक्तद्वार व्यापार में आयात वस्तुओं (import goods) पर तनिक भी आयात कर (import duty) न लगाई जावे। मुक्तद्वार व्यापार का अर्थ केवल इतना ही है कि आयात वस्तुओं पर केवल आय (revenue) के लिए

कर (tax) लगाया जावे, स्वदेशी धधों को संरक्षण देने के अभिप्राय भारी आयात कर न लगाया जावे।

मुक्तद्वार व्यापार तुलनात्मक उत्पादन-व्यय (comparative cost) नियम तथा श्रम-विभाजन नियम (law of division of labour) का अनिवार्य परिणाम है। विदेशी व्यापार भी देश के आन्तरिक व्यापार की ही भाँति होता है। जितना ही वह स्वतत्र होगा उतना ही दोनों पक्षों को लाभ होगा। जिस प्रकार आन्तरिक व्यापार में स्वतन्त्रता होने के कारण एक व्यक्ति सबसे सस्ते बाजार में माल खरीदता है और सबसे अधिक महगे बाजार में बेचता है। उसी प्रकार मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश को सबसे सस्ते बाजार में माल खरीदने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। मुक्तद्वार व्यापार का औचित्य दो बातों पर निर्भर है। प्रथम बात तो यह है कि यदि राज्य अपनी नीति द्वारा कुछ बाधा उपस्थित न करे तो श्रम और पूँजी उन धन्धों की ओर आकर्षित होगी जहा कि उसका उपयोग बहुत लाभदायक होगा। दूसरी बात यह है कि यदि प्रत्येक देश अपने श्रम (labour) और पूँजी (capital) को उन धधों में लगावे जिनमें उसको सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त है तो प्रत्येक देश और ससार भर मे धन (wealth) की उत्पत्ति अधिकतम होगी। यही नहीं प्रत्येक देश अपनी वस्तु का दूसरे देशों की वस्तुओं से विनिमय करेगा। अस्तु, प्रत्येक देश को प्रत्येक वस्तु सस्त से सस्ते दाम मे मिल सकेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि लम्बे समय मे मुक्तद्वार व्यापार (free trade) मे प्रत्येक देश को लाभ होगा। व्यापार का अर्थ यही है कि जो वस्तुएँ बाहर से आती हैं वे उस लागत से कम पर प्राप्त होती हैं कि जिस पर वे देश में उत्पन्न की जा सकती हैं। मुक्तद्वार के पक्ष में तीसरी बात संरक्षण के दोषों पर आधारित है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुक्तद्वार व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म श्रम-विभाजन के प्रयोग का प्रकट रूप है।

मुक्तद्वार व्यापार और सरक्षण नीति का विवाद सर्व-प्रथम उन्नीसवीं शताब्दी म इङ्गलैड में उठा। इसका कारण यह था कि ससार में औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) सर्व-प्रथम हुई और इङ्गलैंड ससार का सर्वोपरि देश बन गया। उस समय इङ्गलैंड के व्यवसायी और पूँजीपति चाहते थे कि उन्हें कच्चा माल सस्ता मिले और मजदूरी सस्ती रहे। इसके लिए आवश्यक था कि अनाज सस्ता रहे और विदेशों मे उनका माल बिना किसी रुकावट के बिक सके। इङ्गलैण्ड में सस्ता कच्चा माल और अनाज तभी आ सकता था और विदेशों मे इङ्गलैड का तैयार माल तभी बिना रोक-टोक के बिक सकता था जबकि मुक्तद्वार व्यापार नीति को अपनाया जाता। अस्तु, ब्रिटेन ने मुक्तद्वार व्यापार

नीति को स्वीकार कर उसे अपने आधीनस्थ देशों संयुक्तराज्य अमेरि कनाडा, भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रीका पर भी लाद दि भारत के उद्योग-धन्धों का तो इस नीति से विनाश हो गया।

इङ्गलैंड ने मुक्तद्वार नीति को इस कारण स्वीकार किया क्योंकि यह उ हित में था। किन्तु जिन देशों में औद्योगिक उन्नति बाद को हुई उनक मुक्तद्वार नीति हितकर सिद्ध नहीं हुई। अस्तु, मुक्तद्वार नीति के विरुद्ध प्रति हुई और सर्व-प्रथम सयुक्तराज्य अमेरिका ने, उसके बाद जर्मनी ने और अन्य देशों ने सरक्षण (protection) को स्वीकार किया। भारत ने भी को सरक्षण को अपनाया। यहा तक कि अब ब्रिटेन में भी मुक्तद्वार को तिलां दे दी है।

संरक्षण (Protection) सरक्षण से हमारा अर्थ उस नीति से है देशी धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए या तो सरकार विदेशी माल पर ऊं आयात कर (import duty) लगाती है अथवा देशी धन्धों को आर्थिक सहा (bounty) देती है। सरक्षण नीति का उद्देश्य देश के धन्धों को उपभोक्त के हितों की उपेक्षा करके भी उन्नत करना है। सरक्षण नीति (protectic में आर्थिक विचार के साथ-साथ राजनैतिक विचार भी सम्मिलित रहता आर्थिक स्वतत्रता को सुरक्षित रखने, विदेशी वस्तुओं की प्रतिस्पर्द्धा से धन्धों की रक्षा करने, राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक धन्धों को पनपा लिए सरक्षण की आवश्यकता बतलाई जाती है। सक्षेप में हम कह सक कि सरक्षण की नीति आर्थिक राष्ट्रीयवादी (economic nationalis नीति है। एक देशभक्त नागरिक को देशी धन्धों और देश के आ स्वार्थों की वृद्धि के लिए थोड़ा त्याग करना पड़ता है। वह देशी धन्धों प्रोत्साहन देना अपना उतना ही पवित्र कर्त्तव्य मानता है जितना कि देश रक्षा करना।

सरक्षण के पक्ष मे तर्क सरक्षण के पक्ष में जो तर्क उपस्थित किये हैं वे निम्नलिखित हैं :—

शिशु धन्धों (Infant Industries) का तर्क : स के पक्ष में शिशु धन्धों का तर्क सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पहले प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री 'लिस्ट' ने सरक्षण नीति का समर्थन करते इसको उपस्थित किया था। उसका कहना था कि कल्पना कीजिए कि देश में प्राकृतिक देन प्रचुरता से उपलब्ध है। किन्हीं धन्धों विशेष के लिए साधन मौजूद हैं; परन्तु सबल विदेशी प्रतिद्वन्दियों के कारण उन धन्धे

नपना असम्भव हो जावेगा, आरम्भ में इन धन्धों को स्थापित करना असम्भव हो जावेगा। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि आरम्भ में उनकी विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा की जावे। कुछ समय के उपरान्त जब वे धन्धे सुदृढ हो जावें और पनप जावें तो फिर वे विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा करने में समर्थ हो जावेंगे। आरम्भ मे कुछ काल तक सरक्षण से हानि होगी, किन्तु फिर इन धधों के पनप जाने से तथा सफलतापूर्वक चलने से देश को आर्थिक लाभ होगा। सक्षेप में यह तर्क इस प्रकार है कि जब शिशु हो तो उसका पालन-पोषण किया जावे, जब बच्चा हो तो रक्षा की जावे और जब प्रौढ हो तो उसको स्वतन्त्र छोड़ दिया जावे। इस तर्क के पीछे एक सुदृढ आधार है। मान लीजिये कि किसी देश में कुछ धन्धों के लिए सभी सुविधाऍ उपलब्ध हैं परन्तु अन्य देशों में वे धन्धे विकसित दशा में हैं। अस्तु, यदि उस देश में उन नये धन्धों को सरक्षण प्रदान नहीं किया गया तो वे आरम्भ ही नहीं किये जा सकते। परन्तु, यदि कुछ समय तक उनको सरक्षण प्रदान किया जावे तो फिर वे इतने विकसित हो जावेंगे कि फिर वे बिना सरक्षण के अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे। यह तर्क उन देशों पर विशेष रूप से लागू होता है जोकि औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं परन्तु जिनके पास औद्योगिक उन्नति के साधन मौजूद हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से ऊपर का तर्क ठीक है। किन्तु, यदि हम इस तर्क को स्वीकार करें तो सरक्षण अस्थायी रूप से ही देना चाहिये। उचित समय के उपरान्त सरक्षण को हटा लेना चाहिये। किन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं है। एक बार जिस धन्धे को सरक्षण मिला वह धन्धा सदैव के लिए सरक्षण की मॉग करता है, उसमें स्थिर स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं और सरकार के लिए सरक्षण हटा सकना असम्भव हो जाता है। ऐसे बहुत कम उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जिनमें संरक्षण देने के बाद में फिर सरक्षण हटाया जा सका हो। इसी कारण सरक्षण नीति के विरोधी कहते हैं कि जहॉ धन्धे को एक बार शिशु मान कर सरक्षण दिया वह सदैव शिशु बना रहता है और कभी भी प्रौढ़ता प्राप्त नहीं करता। इस सम्बन्ध में एक खतरा और भी है। जब सरकार सरक्षण नीति स्वीकार कर लेती है तो फिर सब प्रकार के धन्धे जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता हो या न हो, अथवा जिनके लिए देश में सुविधाऍ हों या न हों स्थापित हो जाते हैं और वे सभी सरक्षण की मॉंग करते हैं। इसका परिणाम राजनैतिक भ्रष्टाचार होता है।

विभिन्न धंधों की आवश्यकता का तर्क (Diversification of Industries). बहुत से अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें जर्मनी का फ्रेडरिक लिस्ट प्रमुख

था, संरक्षण के पक्ष में इस तर्क को उपस्थित किया था। उनका कथन था कि एक राष्ट्र के लिए केवल थोड़े से धंधों और पेशों पर निर्भर रहना उचित नहीं है। प्रत्येक देश में विभिन्न प्रकार के धंधे और पेशे होने चाहिए, इससे देश में आर्थिक संतुलन (balanced economy) बना रहता है। केवल एक धंधे या कुछ धंधों पर निर्भर रहना आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक है। राजनैतिक दृष्टि से इसका खतरा यह है कि देश विदेशी व्यापार पर बहुत अधिक निर्भर हो जाता है जो कि युद्धकाल में समाप्त हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से कतिपय धन्धों पर निर्भर रहने का खतरा यह है कि यदि किसी कारणवश वे थोड़े से धन्धे अस्त-व्यस्त हो जावें, अथवा उनमें मंदी आजावे तो देश का समस्त आर्थिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जावेगा तथा देश में बेकारी फैल जावेगी। उदाहरण के लिए, जो देश मुख्यतः खेती पर निर्भर हैं उनके लिए तो अन्य धंधों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। कृषि-धन्धे में काम करने वालों की आय कम रहती है और सामरिक दृष्टि से भी वह देश निर्बल रहता है। इसके अतिरिक्त कृषि एक अनिश्चित धन्धा है क्योंकि वह प्रकृति पर निर्भर है। यदि किसी कारणवश फसलें नष्ट हो जाती हैं तो कृषि प्रधान देश में दुर्भिक्ष पड़ जाता है। खेतिहर देशों के निवासियों के रहन-सहन का दर्जा नीचा रहता है। इसी प्रकार, यदि कोई देश केवल एक या थोड़े से धन्धों पर निर्भर हो जावे तो, और उन धन्धों की स्थिति बिगड़ जावे तो, उस देश की आर्थिक स्थिति भयानक हो उठती है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न धन्धों के विकास से एक लाभ यह होगा कि देश आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जावेगा। सैनिक दृष्टि से वह देश जो कि अन्य देशों पर आवश्यक वस्तुओं के लिए निर्भर नहीं है सबल राष्ट्र होता है। बड़ी संख्या में विभिन्न धन्धों का एक लाभ यह भी है कि इससे देश के प्राकृतिक साधनों का तथा मनुष्यों के शारीरिक तथा मस्तिष्क सम्बन्धी योग्यता का पूरा-पूरा उपयोग होता है।

ऊपर लिखे हुए तर्क आर्थिक नहीं है। राष्ट्र का आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना देश की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। देश की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक हो सकता है कि हम इस आर्थिक हानि को सहें, किन्तु यह प्रश्न दूसरा है आर्थिक नहीं।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यदि संरक्षण (protection) देकर हम बहुत से धन्धों को स्थापित होने में सहायक होते हैं और उसके फलस्वरूप यदि वृत्ति (employment) अधिक होती है अर्थात् काम अधिक मिलता है तो इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं कि देश अधिक

समृद्धिशाली हो रहा है। आर्थिक प्रयत्न का उद्देश्य वृत्ति या काम मिलना नहीं है वरन् अधिक धन (wealth) प्राप्त करना है। सरक्षण के फलस्वरूप पूँजी और श्रम कम उत्पादक धन्धों की ओर आकर्षित होंगे जिससे देश में धन का उत्पादन और समृद्धि कम होंगे।

वृत्ति (Employment) या काम अधिक मिलने का तर्क · सरक्षण के पक्ष में तीसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि उसकी छाया मे जो बहुत से उद्योग-धन्धे पनपते हैं उनमे काम अधिक मिलता है। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि यदि पुराने स्थापित धन्धों को सरक्षण न दिया जावे तो विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण वे नष्ट हो जा सकते हैं और उससे देश में बेकारी फैल सकती है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के गृह उद्योग-धन्धे विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा के कारण नष्ट होगए और उसके फलस्वरूप देश में बेकारी फैल गई। मुक्तद्वार व्यापार (free trade) का समर्थन करने वाले इस तर्क का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि सरक्षण कुल काम या वृत्ति को नहीं बढाता वरन् वह श्रम को पुराने धन्धों से हटाकर सरक्षित धन्धों मे भेज देता है। इसके विपरीत यदि सरक्षण के अभाव में विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा के कारण पुराने धन्धे नष्ट हो जावें तो उसका श्रम उन धन्धों में चला जा सकता है जो कि निर्यात (export) धन्धे हैं और देश को उनमें तुलनात्मक सुविधा प्राप्त है। यदि यह भी सम्भव न हो तो श्रम अन्य देशों को जहाँ श्रम की कमी है प्रवास कर सकता है। मुक्तद्वार व्यापार के समर्थकों का यह तर्क बहुत सबल नहीं है। जब वे यह तर्क उपस्थित करते हैं तो वे यह मान लेते हैं कि श्रम और पूँजी एक धन्धे से दूसरे धन्धे और देश से दूसरे देश को बिना किसी कठिनाई के प्रवास कर सकती है। वास्तव ऐसा होता नहीं है। साथ ही वे यह भी मान लेते हैं कि प्रत्येक देश के कृतिक साधनों का उद्योग-धन्धों के लिए पूरा उपयोग हो चुका है, परन्तु सकता है कि चीन अथवा भारत जैसे देशों के साधनों का बहुत कम उपयोग पाया हो।

राष्ट्रीय साधनों का संरक्षण · कुछ अर्थशास्त्र के विद्वानों का कहना है के मुक्तद्वार व्यापार के फलस्वरूप राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों का देश के उद्योग-धन्धों के लिए उपयोग न होकर उनका निर्यात हो जाता है और वे देश के काम नहीं आते। केरी और पैटन का कहना है कि मुक्तद्वार व्यापार (free trade) के कारण सयुक्तराज्य अमेरिका से खेती की पैदावार का निर्यात होता रहा जिसके फलस्वरूप अमेरिका की मिट्टी की उर्वरा शक्ति नष्ट हो गई। जैवन्स ने इसी आधार पर ब्रिटेन से कोयले के निर्यात का विरोध किया था। क्योंकि उसके

कारण ब्रिटेन की कोयले की खानें शीघ्र समाप्त हो गईं। यही तर्क दक्षिणी अफ्रीका से सोने के निर्यात और भारत से मैंगनीज और अवरख के निर्यात के विरुद्ध उपस्थित किया जाता है।

इस तर्क में बहुत बल है क्योंकि यदि कोई देश अपने समाप्त हो जाने वाले पदार्थ विदेशों को कच्चे रूप में भेज देता है तो वह केवल निर्माण (manufacture) का ही लाभ नहीं खोता है, वरन्, यदि वह पदार्थ बिलकुल समाप्त हो जावे तो फिर उसको भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

देश की रक्षा का तर्क: ऐडम स्मिथ ने कहा था कि देश की समृद्धि से देश की रक्षा अधिक आवश्यक और श्रेष्ठ है। देश चाहे आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्धिशाली न हो परन्तु सैनिक दृष्टि से उसे बलवान बनाना नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से देश के उन धंधों को प्रोत्साहन देना चाहिए जो कि देश की रक्षा के लिए आवश्यक हैं फिर चाहे उनके कारण देश के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग न हो सके। मुक्तद्वार के समर्थकों का कहना है कि यह राजनीति है, अर्थशास्त्र नहीं है। आर्थिक दृष्टि से मुक्तद्वार व्यापार ही सर्वोत्तम है।

आय (Revenue) की प्राप्ति का तर्क कुछ लोग संरक्षण का इस कारण समर्थन करते हैं कि जब विदेशी माल पर कर लगाया जाता है तो सरकार को उससे यथेष्ट आय हो जाती है। भारत में सरकार को आयात कर से यथेष्ट आय होती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की बात है कि कुछ हद तक 'संरक्षण' और आय (revenue) एक-दूसरे के विरोधी हैं। यदि कोई देश अपने धंधों को पूरा संरक्षण प्रदान करता है तो उसको आय बिलकुल भी प्राप्त नहीं हो सकती। पूर्ण संरक्षण का अर्थ यह है कि देशी माल ने विदेशी माल को देश से बाहर निकाल दिया अर्थात् विदेशी माल देश में बिलकुल भी नहीं आवेगा तो आय भी नहीं होगी। यदि सरकार आयात (import) पर कर लगाकर आय प्राप्त करना चाहती है तो विदेशी माल देश में आवेगा, देशी माल से प्रतिस्पर्द्धा करेगा और हमारे धंधों को संरक्षण प्राप्त नहीं होगा। परन्तु यह विरोध अधिकतम संरक्षण और अधिकतम आय के साथ उठता है। परन्तु, यदि आयात कर (import duty) कम हो तो उससे देशी धंधों को कुछ संरक्षण (protection) का समर्थन धंधों को संरक्षण प्रदान करने के लिए ही किया जाना चाहिए न कि आय प्राप्त करने के लिए संरक्षण का समर्थन किया जाय।

आधारभूत धंधों का तर्क (Key Industry) : कुछ विद्वानों का कहना है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारा औद्योगिक ढाँचा या संगठन स्थायी और सबल हो तो हमें कतिपय आधारभूत धंधों को विकसित करना होगा। हो सकता है कि देश को उन धंधों में कोई तुलनात्मक सुविधा या लाभ (comparative advantage) प्राप्त न हो, परन्तु, क्योंकि उन्हें देश की औद्योगिक उन्नति के लिए विकसित करना ही है, अस्तु, उनको संरक्षण प्रदान करना होगा।

देशभक्ति : कुछ लोग संरक्षण का समर्थन देशभक्ति के आधार पर करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक देशभक्त नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि जहाँ तक सम्भव हो वह स्वदेशी वस्तुओं का ही उपयोग करे। अपने देश की ही वस्तुओं को खरीदने से देश का धन देश में ही रहता है। यदि हम विदेशी माल खरीदते हैं तो मुद्रा (money) तो विदेशों को चली जाती है, वस्तु देश में आती है। परन्तु देशी वस्तु खरीदने से मुद्रा और वस्तु दोनों ही देश में रहती हैं। भारत में स्वदेशी आन्दोलन का यही आधार था। परन्तु जब हम मुद्रा को देश में ही रखने का तर्क उपस्थित करते हैं तब हम यह भूल जाते हैं कि विदेशी वस्तु को न खरीदकर हम सस्ती वस्तु के स्थान पर महगी देशी वस्तु खरीदते हैं। हम यह हानि अन्य कारणों से सहन करने को तैयार होते हैं, किन्तु वे आर्थिक कारण नहीं होते।

व्यापार के अन्तर (Balance of Trade) का तर्क : व्यापार के अन्तर का तर्क भी संरक्षण के पक्ष में उपस्थित किया जाता है। पुराने अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि विदेशी व्यापार का मुख्य उद्देश्य सोना प्राप्त करना है। उसके लिए निर्यात (export) को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और आयात (import) को कम करना चाहिए, जिससे कि व्यापार का अन्तर हमारे पक्ष में हो और अन्य देशों को हमें सोना न भेजना पड़े। परन्तु यह तर्क भ्रामक है। यदि प्रत्येक देश केवल वेचना ही चाहे, कोई खरीदना न चाहे, तो विदेशी व्यापार ठप्प हो जावेगा। सोना या मुद्रा धन (wealth) नहीं है। हमारी समृद्धि हमारे पास उपलब्ध सोने पर निर्भर नहीं रहती, परन्तु वस्तुओं को सस्ते मूल्य पर प्राप्त कर सकने पर निर्भर करती है और विदेशी व्यापार ही वह साधन है जिससे हम सस्ते भाव पर वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त लम्बे काल में निर्यात और आयात बराबर होने चाहिए। कोई भी देश बहुत समय तक केवल निर्यात (Export) नहीं कर सकता उसे आयात भी करना पड़ता है।

देश का बाजार : एक तर्क जो संरक्षण के पक्ष में विशेषकर संयुक्तराज्य

अमेरिका में उपस्थित किया जाता है वह 'देश के बाज़ार' का है। इस तर्क को उपस्थित करने वालों का कहना है कि संरक्षण के परिणामस्वरूप संरक्षित धन्धों में लगे हुए लोगों की संख्या में वृद्धि होगी और वे अन्य धन्धों के लिए एक अच्छा बाजार उपलब्ध करेंगे। किन्तु संरक्षण के परिणामस्वरूप आयात कम होगा, उसके फलस्वरूप निर्यात भी कम हो जावेगा, इसका परिणाम यह होगा कि निर्यात धन्धों में लगे हुए कुछ व्यक्ति बेकार हो जावेंगे। अस्तु, यह तर्क भी अधिक सुदृढ आधार पर आश्रित नहीं है।

मजदूरी का तर्क : कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि जिस देश में मजदूरी ऊँची है, यदि वह देश अपने धन्धों को संरक्षण प्रदान नहीं करेगा, तो उन देशों का माल जहां मजदूरी सस्ती है उस देश में आकर पट जावेगा। परन्तु हम यह ऊपर ही बतला चुके हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि जहां मज़दूरी ऊँची है वहा उत्पादन-व्यय अधिक ही होगा। बहुधा ऊँची मज़दूरी के साथ उत्पादन-व्यय कम होता है। कुछ लोग एक दूसरा गलत तर्क उपस्थित करते हैं कि संरक्षण से मज़दूरी ऊंची हो जावेगी। उनका कहना है कि आयात-कर लगने से आयात कम हो जावेगा, व्यापार का अन्तर उस देश के पक्ष में हो जावेगा, अस्तु, विदेशों से सोना आवेगा और मुद्रा का फैलाव होने से कीमतों का स्तर देश में ऊंचा हो जावेगा, मजदूरी भी ऊंची हो जावेगी। किन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि कीमतों का स्तर ऊंचा होने से वास्तविक मज़दूरी (real wages) गिर जावेगी। वास्तव में ऊंची मज़दूरी अधिक उत्पत्ति का ही परिणाम होती है। जो कारण देश की उत्पादन-कुशलता को कम करते हैं वे मजदूरी को भी कम करेंगे। संरक्षण के कारण श्रम और पूंजी सर्वाधिक लाभदायक धन्धों से हट कर कम लाभदायक धन्धों में लगेगा, फलतः उत्पादन कम होगा, समृद्धि कम होगी और साधारण मज़दूरी कम होगी।

कभी-कभी संरक्षण के समर्थक यह भी तर्क उपस्थित करते हैं कि उत्पादन-व्यय (cost of production) को बराबर करने के लिए संरक्षण की आवश्यकता है। यदि किसी देश में उत्पादन-व्यय विदेशों के उत्पादन-व्यय से दस प्रतिशत अधिक है तो विदेशी माल पर दस प्रतिशत चुंगी लगानी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों को एक ही मूल्य-स्तर पर रखना चाहिए और फिर उनको प्रतिस्पर्द्धा करने देना चाहिए—दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन-व्यय जितना ही अधिक हो उतना ही आयात-कर (import duty) अधिक होना चाहिए। जो धन्धा सब से कम कुशल (least efficient) होगा उसको सबसे अधिक संरक्षण मिलेगा। कहने

ात्पर्य यह है कि यदि इस नीति को पूर्णतया अपनाया जावे तो समस्त विदेशी व्यापार ठप्प हो जावेगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तुलनात्मक त्पादन-व्यय के अन्तर पर निर्भर है।

/आत्मनिर्भरता (Self sufficiency) का तर्क : संरक्षण के पक्ष में एक र्क यह भी है कि हमें स्वावलम्बी होना चाहिए और आवश्यक वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार की निर्भरता युद्ध काल में हुत खतरनाक सिद्ध होती है जबकि विदेशी व्यापार समाप्त हो जाता है।

राशिपातन (Dumping) मुक्तद्वार व्यापार के समर्थक भी विदेशों द्वारा ाशिपातन के विरुद्ध स्वदेशी धंधों को संरक्षण देने के औचित्य को स्वीकार रते हैं। राशिपातन का अर्थ है अनुचित प्रतिस्पर्द्धा जिसके कारण उस देश के धंधे अस्त-व्यस्त हो जाते हैं जिसमें राशिपातन किया जाता है। परन्तु, यदि ाशिपातन स्थायी रूप से हो तो उसके विरुद्ध कोई आपत्ति न होनी चाहिए। रन्तु अधिकतर राशिपातन अस्थायी और थोड़े समय के लिए होता है। इस कार का राशिपातन धंधों के लिए हानिकारक होता है और उस पर भारी ायात कर लगाना उचित है। परन्तु, अनुभव यह बतलाता है कि जहा एक बार ंरक्षण दिया गया फिर उसको हटाना असम्भव हो जाता है। यही नहीं, जैसा म पहले कह चुके हैं, संरक्षण की नीति स्वीकार कर लेने से राजनैतिक भ्रष्टाचार ढ़ जाता है, संरक्षित उद्योग धंधे की उन्नति की ओर ध्यान नहीं देते वरन् ारा सभाओं के बहुमत दल को रिश्वत देकर संरक्षण को स्थायी बनाने का ्यत्न करते हैं।

\संरक्षण और काम-धंधा यह हम पहले ही कह चुके हैं कि संरक्षण के मर्थकों का कहना है कि संरक्षण से लोगों को काम-धंधा अधिक मिलेगा। ंरक्षण के फलस्वरूप आयात कम होगा और देश में उद्योग-धंधों का विकास होगा, धिक लोगों को काम मिलेगा। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि यदि आयात (import) कम होगा, तो निर्यात (export) भी कम हो जावेंगे। इसका रिणाम यह होगा कि जहा आयात धंधों (import industries) में काम धिक मिलेगा वहा निर्यात धंधों (export industries) में काम कम मिलेगा। ्तु, काम धंधे मे कोई वृद्धि नहीं होगी।

प्रसिद्ध आंग्ल अर्थशास्त्री कीन्स का कहना है कि दो स्थितियों में संरक्षण द्वारा काम धंधे में वृद्धि हो सकती है। पहला, यदि निर्यात पहले जैसा ही बनाये रखा जा सके, यदि वह देश जो कि आयात वस्तुओं पर संरक्षणात्मक ायात-कर (import duty) लगावे और विदेशों को बड़ी मात्रा में

ऋण दे तो उसके निर्यात (export) पूर्ववत् रह सकते हैं। उसका परिणाम यह होगा कि निर्यात धंधों (export industries) में वृत्ति (employment) या काम-धंधे की कमी नहीं रहेगी और संरक्षित धंधों में काम अधिक मिलने लगेगा। दूसरे, यदि आयात कर से होने वाली आय में से निर्यात (export) के लिए आर्थिक सहायता (bounty) दी जावे तो ऐसा करने से निर्यात पूर्ववत् ही रहेंगे।

जहाँ तक विदेशों को ऋण देकर निर्यात को पूर्ववत् रखने या बढ़ाने का प्रश्न है यह सम्भव है। परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि देश की पूँजी (capital) का एक बड़ा भाग विदेशों को चला जावेगा। इससे देश में पूँजी की कमी हो सकती है। इसके अतिरिक्त यह नीति बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। विदेशों से आयात को कम करने का अर्थ यह होगा कि उनका माल कम बिकेगा और उनकी आर्थिक समृद्धि कम होगी। क्या यह बुद्धिमानी होगी कि ऐसे देशों को अधिक ऋण दिया जावे? जहाँ तक दूसरे तरीके का प्रश्न है, यदि किसी देश ने निर्यात पर आर्थिक सहायता (bounty) देना आरम्भ किया तो अन्य देश राशिपातन (dumping) के विरुद्ध अवश्य कदम उठावेंगे और और उस माल पर अधिक कर लगा देंगे। अस्तु, इस रीति से निर्यात बढ़ाया नहीं जा सकता। संयुक्तराज्य अमेरिका आज इस स्थिति में अवश्य है कि वह अन्य देशों को ऋण देकर अपने निर्यात को बढ़ाने का प्रयत्न कर सकता है। वैसे साधारणतया संरक्षण (protection) के द्वारा वृत्ति या काम-धन्धे (employment) को बढ़ाने में अधिक सफलता नहीं मिलती है।

संरक्षण (Protection) के विरुद्ध तर्क : अब हम संरक्षण के विरुद्ध उठाये गए तर्कों का अध्ययन करेंगे :—

(१) संरक्षण स्वीकार करने से स्थिर स्वार्थ वाला एक प्रभावशाली व्यवसायी-समूह उत्पन्न हो जाता है। फिर वे लोग इसको अपना अधिकार मानने लगते हैं और एक बार संरक्षण देने के उपरान्त उसको वापस लेना असम्भव हो जाता है।

(२) संरक्षण के कारण व्यवसायियों में एक शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के समाप्त हो जाने से उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती और वे निर्माण कार्य में कोई उन्नति करने की चेष्टा नहीं करते।

(३) इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचार का भी भय रहता है। व्यवसायी मंडल के दलों को रिश्वत देते हैं ताकि संरक्षण कहीं छीन न लिया जावे।

(४) संरक्षण से एकाधिकार (monopoly) स्थापित होने में सहायता होती है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि संरक्षण ट्रस्ट और एकाधिकार की जननी है। जब विदेशी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जाती है तो देशी व्यवसायी सम्मिलित होकर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

(५) उपभोक्ताओं (consumers) की हानि होती है क्योंकि संरक्षण का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की कीमत ऊँची हो जाती है और उपभोक्ताओं को सदैव के लिए त्याग करना पड़ता है।

(६) संरक्षण के फलस्वरूप धन का वितरण अधिक असमान होता है। बड़े बड़े व्यवसायी अनन्त धन राशि के स्वामी बन जाते हैं और धनी तथा निर्धनों का अन्तर बहुत बढ जाता है।

(७) संरक्षण की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संघर्ष और कटुता उत्पन्न होती है और यही भविष्य में युद्ध को जन्म देते हैं।

(८) संरक्षण के विरुद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि इसके कारण संसार में पूर्ण श्रम-विभाजन (division of labour) स्थापित नहीं होता। श्रम (labour), पूँजी (capital) तथा उत्पत्ति के अन्य साधन अधिक लाभदायक धन्धों की ओर न जाकर अन्य धन्धों में लगते हैं। अधिकतम धनोत्पत्ति (maximum production of wealth) नहीं होती। अर्थात् संसार में धन की जितनी उत्पत्ति हो सकती है उससे बहुत कम उत्पत्ति होती है। उसका परिणाम यह होता है कि पृथ्वी पर निवास करने वाले मनुष्यों के रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचा रहता है। इससे पृथ्वी की उन्नति की गति अवरुद्ध होती है।

व्यावहारिक दृष्टिकोण : यदि केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जावे तो संरक्षण में बहुत से दोष हैं और मुक्तद्वार व्यापार के बहुत से लाभ हैं। परन्तु व्यवहार में संसार का प्रत्येक देश संरक्षण (protection) को अपनाये हुए है। आज संसार में एक भी ऐसा देश नहीं है जो मुक्तद्वार व्यापार (free trade) को स्वीकार करे। इसका कारण यह है कि जब समस्त विश्व की एक ही सरकार हो अथवा संसार के सभी देशों में इतना अधिक भ्रातृभाव उत्पन्न हो जावे कि धनी देश निर्धन राष्ट्रों की सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझने लगें तभी मुक्तद्वार व्यापार सम्भव हो सकता है। आज की स्थिति में संरक्षण को छोड़ा नहीं जा सकता। विशेषकर पिछड़े हुए राष्ट्रों के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यक है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सिद्धान्त की दृष्टि से मुक्तद्वार सर्वश्रेष्ठ है परन्तु व्यावहारिक नहीं है।

आर्थिक राष्ट्रीयतावाद (Economic Nationalism). बीस शताब्दी में और विशेषकर प्रथम महायुद्ध के उपरान्त समार प्रत्येक राष्ट्र में उग्र आर्थिक राष्ट्रीयतावाद का उदय हुआ है। युद्धों की विभीषि के कारण प्रत्येक राष्ट्र आज यह चाहता है कि वह आवश्यक वस्तुओं के लि जहाँ तक हो आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी हो जावे, उसे अन्य राष्ट्रों निर्भर न रहना पड़े। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र ने सरक्षण को अपना लि है। जो निर्धन और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्र थे उनके लिए तो सर को अपनाना और भी अधिक आवश्यक था।

छठा भाग

वितरण (Distribution)

परिच्छेद ५१

वितरण का स्वरूप

वितरण (Distribution) क्या है : वितरण में हम कुल धनोत्पत्ति wealth production) का भिन्न-भिन्न उत्पादन के साधनों (factors of roduction) में किस प्रकार बटवारा करते हैं इसका अध्ययन किया जाता । श्रम (labour), पूंजी (capital) और व्यवस्था (organization) ामूहिक रूप से मिलकर देश की प्राकृतिक देन (natural resources) ार्थात् भूमि (land) के द्वारा प्रति वर्ष कुछ धन (wealth) उत्पन्न करते हैं। ही धन फिर भिन्न-भिन्न उत्पत्ति के साधनों में बाटा जाता है। श्रम को जो ारिश्रमिक मिलता है उसे 'मज़दूरी' कहते हैं, पूंजी के पारिश्रमिक को 'सूद' कहते , 'भूमि' के पारिश्रमिक को लगान कहते हैं और व्यवस्था के पारिश्रमिक को लाभ' कहते हैं। यहा एक बात हमें ध्यान में रखनी चाहिये कि धन-वितरण (wealth distribution) में हम व्यक्तिगत आय (personal income) ा अध्ययन नहीं करते, वरन् हम यह अध्ययन करते हैं कि उत्पत्ति के प्रत्येक ाधन का हिस्सा किस प्रकार निर्धारित होता है।

वितरण के सिद्धान्त में हमें दो प्रश्नों का मुख्यतः अध्ययन करना होगा। प्रथम प्रश्न यह है कि वितरण किसका करना है अथवा कितने धन का करना है। दूसरा प्रश्न यह है कि वितरण किस प्रकार करना है। प्रथम प्रश्न वितरण के स्वरूप तथा राष्ट्रीय आय (national dividend) से सम्बन्धित है। दूसरा प्रश्न सीमान्त (margnial productivity) के सिद्धान्त से सम्बधित है। यही वितरण के सिद्धान्त का केन्द्रीय सिद्धान्त है।

राष्ट्रीय आय (National Dividend) : किसी निश्चित समय के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधनों (factors of production) में जो रकम वितरित की जाती है वह उस समय में समस्त उत्पन्न की हुई वस्तुओं तथा समस्त सेवाओं के मूल्य (value) में से पूंजी (capital) की घिसावट (depreciation) को घटाने के उपरान्त जो बचता है उसके बराबर होती है। यही राष्ट्रीय आय (national dividend) होती है। राष्ट्रीय आय की कल्पना हम विस्तृत अथवा सकुचित अर्थों में कर सकते हैं। विस्तृत अर्थों में राष्ट्रीय आय से हमारा

अर्थ उन समस्त वस्तुओं और सेवाओं से होता है जो वर्ष में उत्पन्न होती हैं। सकुचित अर्थों में राष्ट्रीय आय से हमारा अर्थ केवल उन वस्तुओं और सेवाओं से होता है जिनका मुद्रा (money) से विनिमय होता है। राष्ट्रीय आय से हमारा अर्थ देश की उस आय से है (जिसमें विदेशों से प्राप्त होने वाली आय भी सम्मिलित है) जो कि मुद्रा में नापी जा सकती है (पीगू)। स्टैम्प महोदय ने भी लगभग इन्हीं शब्दों में राष्ट्रीय आय की परिभाषा की है।

ऊपर दी गई परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत हम केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को गिनते हैं जिनका मुद्रा में विनिमय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो सेवाएँ कोई व्यक्ति स्वयं अपने लिए करता है और जो सेवाएँ वह अपने परिवार वालों, सम्बधियों या मित्रों के लिए बिना कुछ पारश्रमिक लिए प्रेम, अथवा कर्त्तव्यवश करता है, जो लाभ या सुविधा वह अपनी व्यक्तिगत वस्तुओं या राष्ट्रीय सम्पत्ति से प्राप्त करता है, जैसे कि सड़क, पुल, इत्यादि का उपयोग बिना कुछ दिये करता है। वह राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं गिना जाना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की परिभाषा कई विरोधाभास उत्पन्न कर देती है। पहली कठिनाई तो यह है कि इससे एक दीवार खड़ी हो जाती है जो उन वस्तुओं में जिनका मुद्रा द्वारा विनिमय किया जाता है और उन वस्तुओं में जिनका मुद्रा (money) द्वारा विनिमय नहीं किया जाता भेद उत्पन्न कर देती है। किन्तु उन दो प्रकार की वस्तुओं में वस्तुत कोई भेद नहीं होता। प्रो० पीगू ने एक उदाहरण देकर इस कठिनाई को स्पष्ट कर दिया है। कल्पना कीजिए कि एक पुरुष एक स्त्री नौकर रखता है जो कि उसके लिए भोजन बनाती है तथा घर का प्रबन्ध करती है। उसको वह ५० रु० प्रति मास वेतन देता है। कुछ समय के उपरान्त वह उसी स्त्री से अपना विवाह कर लेता है। ऐसी दशा में राष्ट्रीय आय कम हो जावेगी। क्योंकि पहले वह उस स्त्री को ५० रु० मासिक वेतन देता था और उसकी राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत गिना जाता था। परन्तु पत्नी बन जाने के उपरान्त यद्यपि वह वही सेवाएँ करती है, परन्तु उसको वेतन नहीं दिया जाता। अस्तु, राष्ट्रीय आय उतने से घट जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सेवाएँ पूर्ववत् ही होती हैं परन्तु राष्ट्रीय आय कम हो जाती है, क्योंकि उनका मुद्रा से विनिमय नहीं होता। परन्तु इन कठिनाइयों और विरोधाभास के होते हुए भी राष्ट्रीय आय की यही परिभाषा अधिकांश अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं।

राष्ट्रीय आय दो प्रकार से नापी जा सकती है। एक तो हम राष्ट्रीय आय वर्ष भर में उत्पन्न हुई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को जोड़ सकते हैं।

दूसरे, हम राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं को कहते हैं कि जिनका वर्ष भर में उपयोग हुआ हो। मार्शल राष्ट्रीय आय की पहली परिभाषा को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि किसी देश का श्रम (labour) और पूंजी (capital) उस देश के प्राकृतिक साधनों से प्रति वर्ष कुछ वस्तुएं और और सेवाएँ उत्पन्न करता है। यह कुल उत्पत्ति (gross produce) होती है। इस कुल उत्पत्ति में से हमें प्लांट मशीन तथा अन्य प्रकार की पूंजी (capital) की घिसावट (depreciation) को घटाना होगा। घिसावट को घटाकर जो शेष आय रहेगी उसमें विदेशों से प्राप्त आय (यदि विदेशों पूंजी लगी हो) को जोड़ना होगा। मार्शल के मतानुसार यही वार्षिक राष्ट्रीय य (true national income) है। इसके विपरीत फिशर के अनुसार र्शल की परिभाषा ठीक नहीं है। उसका कहना है कि वास्तविक राष्ट्रीय य वर्ष में उत्पन्न हुए धन (wealth) का वह भाग है कि जिनका वर्ष में भोग किया जाता है (न कि जो वर्ष में उत्पन्न होती है)। एक उदाहरण कर यह स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि वर्ष में एक मशीन त्न की गई। मार्शल के अनुसार मशीन के कुल मूल्य में से उसको बनाने लगने वाली पूंजी की घिसावट को घटा देने से जो शेष बचे उसे राष्ट्रीय आय में गिनना चाहिए। किन्तु फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत शीन का मूल्य नहीं वरन् केवल मशीन का वह भाग जिसका वास्तव उस वर्ष के अन्तर्गत उपभोग किया जावे उसे राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत गिनना चाहिए। यदि देखा जावे तो फिशर की परिभाषा अधिक तर्क सगत है। न्तु, यदि हम फिशर की परिभाषा को स्वीकार करें तो राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में बहुत कठिनाई उपस्थित हो जावेगी। क्योंकि वर्ष में जो वस्तुएं अथवा सेवाएं उत्पन्न हुई हैं उनकी सूची बनाना सरल है, किन्तु जो र्ष में उपभोग की गई हैं उनकी सूची बनाना बहुत कठिन है। यही कारण है कि यद्यपि मार्शल की परिभाषा सैद्धान्तिक रूप से बहुत ठीक नहीं है फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी होने के कारण उसी को स्वीकार किया जाता है।

राष्ट्रीय आय को नापने की भिन्न रीतियाँ · राष्ट्रीय आय को नापने की तीन रीतियां हैं जिनके द्वारा राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाया जाता है। पहली रीति तो यह है कि वर्ष भर में खेती और उद्योग-धंधों द्वारा उत्पन्न हुई वस्तुओं के मूल्य को मालूम कर लिया जावे और पूंजी (capital) की घिसावट को उसमें से निकाल दिया जावे। जो शेष रहेगा वही राष्ट्रीय आय

होगी। दूसरी रीति यह है कि जो लोग आय-कर (income tax) देते हैं और जो लोग आय-कर नहीं देते हैं, उनकी आय का हिसाब लगाया जावे। तीसरी रीति पेशेवार गणना (occupational census) करने की है जिसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पेशों अथवा उत्पादक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आमदनी का हिसाब लगाया जाता है। इस प्रकार सब व्यक्तियों की आमदनी को जोड़ देने से राष्ट्र की आय को मालूम किया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने में इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि हम राष्ट्रीय आय में, भेंट इत्यादि के मूल्य को, आन्तरिक अनुत्पादक ऋण (unproductive internal debt) पर दिए गए सूद को, वृद्धावस्था की पैंशन तथा धोखेबाज़ी या जालसाज़ी से प्राप्त की गई आमदनी को न जोड़ लें। इसके अतिरिक्त, हमें राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं एक ही आय को दो बार न गिन लिया जावे। इसमें जो कठिनाइयां उपस्थित होती हैं वे बहुत जटिल हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जावेगा। कल्पना कीजिए कि एक वकील वर्ष में बीस हजार रुपए अपने क्लर्क की सहायता से कमाता है जिसे वह एक हजार वार्षिक देता है। ऐसी दशा में, हम राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत केवल २० हज़ार जोड़ें अथवा २१ हज़ार जोड़ें। यदि हम राष्ट्रीय आय में २१ हजार रुपए जोड़ते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि क्लर्क की आय दुबारा जोड़ दी गई, क्योंकि उस क्लर्क की सहायता से ही वकील ने बीस हजार रुपए कमाये। अस्तु, क्लर्क की आय उस बीस हज़ार में सम्मिलित है। यदि हम क्लर्क की आय को अलग से गिनते हैं तो वह आय दुबारा गिन जाती है। वास्तव में यह कहना कठिन है कि क्लर्क की सेवाएँ वकील की सेवाओं के अतिरिक्त हैं और उनको पृथक गिनना चाहिए।

ऊपर हमने राष्ट्रीय आय (national dividend) की व्याख्या की है। यह वास्तव में शुद्ध उत्पत्ति (net product) है और उत्पत्ति के साधनों (factors of productions) को प्रतिफल देने का एकमात्र स्रोत है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कैनन राष्ट्रीय आय के विचार को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना यह है कि किसी देश के निवासियों की आय केवल वहाँ की धन उत्पत्ति है उसी पर निर्भर नहीं रहती। अधिकतर किसी देश के निवासियों की आय किसी अन्य देश के उत्पादन और एक तीसरे देश की माँग पर निर्भर रहती है। उदाहरण के लिए, किसी देश के निवासियों की आय अमेरिका में उत्पादन और चीन में उसकी माँग पर निर्भर हो सकती है। अस्तु, कैनन का मत है कि

इस कठिनाई से बचने के लिए हमें संसार के सभी देशों की राष्ट्रीय आय एक साथ निश्चित करनी चाहिए, न कि अलग-अलग। किन्तु यह अव्यवहारिक है। यदि भारत से आस्ट्रेलिया को जूट और चाय जाती है और उसके बदले हमें गेहूँ और ऊन मिलता है, तो इससे भारत की राष्ट्रीय आय को जानने में कहाँ कठिनाई पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति जो भी वस्तु उत्पन्न करता है उसको बाजार में बेचने के लिए ही उत्पन्न करता है। परन्तु, उससे उसकी आय को जानना असम्भव नहीं होता। हाँ, इससे आमदनी का हिसाब लगाने में कुछ जटिलता अवश्य उत्पन्न हो जाती है। यह अवश्य है कि विदेशी व्यापार से होनेवाली आय का हिसाब लगाना तनिक कठिन अवश्य है परन्तु उसके कारण हम राष्ट्रीय आय के विचार को ही अस्वीकार करदे यह उचित नही होगा।

राष्ट्रीय आय को किस प्रकार बाँटा जाता है अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Productivity) का सिद्धान्त : यह हम ऊपर ही कह आये हैं कि राष्ट्रीय आय को उत्पत्ति के साधनों मे उनके पारिश्रमिक या प्रतिफल के रूप म बाँटा जाता है। प्रत्येक उत्पत्ति के साधन (factor of production) का प्रतिफल (remuneration) मूल्य-सिद्धान्त (theory of value) के अनुसार ही निश्चित होता है। जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य (value) उसकी सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) के द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) के द्वारा निश्चित होता है।

सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Productivity) कैसे निर्धारित होती है जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिए किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उस इकाई की उपयोगिता होती है कि बस जिसे वह प्रचलित कीमत पर खरीदने को उद्यत हुआ है और उसके आगे वह कोई इकाई नहीं खरीदेगा। ठीक उसी प्रकार किसी उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पत्ति उस इकाई की उत्पत्ति है कि बस, जिसे मालिक प्रचलित कीमत पर नौकर रखता है और आगे वह उस साधन की कोई और इकाई नौकर नही रक्खेगा। वास्तव में किसी उत्पत्ति के साधन (factor of production) की सीमान्त उत्पत्ति साधन की उस इकाई की उत्पत्ति है जिसे प्रचलित कीमत पर मालिक उसे बस रखने या खरीदने योग्य समझता है, उसको रखने से उसे कोई लाभ नहीं होता। सीमान्त उत्पत्ति को जानने के लिए अन्य उत्पत्ति के साधनों को पूर्ववत् रक्खा जाता है और एक साधन की अधिक इकाई रक्खी जाती है। अन्तिम इकाई जो कि प्रचलित कीमत पर मालिक लगाता है उसकी उत्पत्ति को हम उस मालिक के लिए उस

उत्पत्ति के साधन की उत्पत्ति कहते हैं। यदि हम अन्य उत्पत्ति के साधनों को पूर्ववत् रक्खें और किसी एक साधन की पूर्ति (supply) में हम एक इकाई बढ़ादे या घटा दें तो हम उस उत्पत्ति के साधन की शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति (marginal net product) जान सकते हैं। क्योंकि उस साधन की सभी इकाइयाँ ऐक समान हैं, उनको एक-दूसरे से बदला जा सकता है। अस्तु, उस अन्तिम इकाई की उत्पत्ति ही उस उत्पत्ति के साधन की प्रत्येक इकाई के प्रतिफल को निर्धारित करेगी। मालिक उससे अधिक मूल्य उस उत्पत्ति के साधन की किसी इकाई को नहीं देगा।

जिस प्रकार सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) का विचार उपयोगिता-ह्रास नियम (law of diminishing utility) से निकलता है ठीक उसी प्रकार सीमान्त उत्पत्ति का विचार उत्पादन में क्रमागत-ह्रास नियम (law of diminishing returns) के द्वारा निकला है। जब हम उत्पत्ति के अन्य साधनों को पूर्ववत् ही रखते हैं और एक साधन की अधिकाधिक इकाइयाँ लगाते हैं तो उत्पत्ति बढ़ेगी अवश्य, परन्तु अन्त में जिस अनुपात में उस साधन को बढ़ावेंगे उससे कम अनुपात में उत्पत्ति बढ़ेगी, अर्थात् उत्पत्ति में क्रमागत-ह्रास नियम लागू हो जावेगा। उदाहरण के लिए, यदि हम किसी कारखाने में अधिकाधिक मजदूर बढ़ाते जावे तो एक स्थिति वह आ जावेगी कि मजदूरों की वृद्धि के अनुपात से उत्पादन में कम वृद्धि होगी। जैसे जैसे कोई व्यवसायी किसी उत्पत्ति के साधन विशेष की अधिकाधिक इकाइयाँ उत्पादन कार्य में लगाता जाता है वैसे ही वैसे उस साधन की इकाइयों के द्वारा होनेवाली उत्पत्ति कम होती जाती है। यदि व्यवसायी बराबर उस साधन की इकाइयों को बढ़ाता गया तो एक समय ऐसा आवेगा कि अतिरिक्त इकाई की उत्पत्ति ठीक उस कीमत के बराबर हो जावेगी जो कि व्यवसायी उस इकाई के लिए देगा। यही इकाई उस उत्पत्ति के साधन (factor of production) की सीमान्त इकाई (marginal unit) होगी और उसी इकाई की उत्पत्ति को हम उस साधन की सीमान्त उत्पत्ति कहते हैं जो उस साधन की प्रत्येक इकाई के प्रतिफल को निर्धारित करती है। इस सीमान्त इकाई के आगे व्यवसायी और इकाई उत्पादन में नहीं लगावेगा, क्योंकि यदि वह उसके आगे और अधिक इकाई लगावेगा तो उसके द्वारा जो उत्पत्ति होगी वह उस इकाई की कीमत (व्यय) से कम होगी।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त (Principle of substitution) : पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में अनेक फर्म या कारखाने किसी वस्तु का उत्पादन करते हैं। इसी

शा में हम यह मान सकते हैं कि कोई एक फर्म उस वस्तु की कीमत को अथवा उत्पत्ति के साधनों की कीमत को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर सकती। उसका प्रभाव नगण्य होगा। अस्तु, किसी भी उत्पादक विशेष को उस वस्तु की बाजार में प्रचलित कीमत अथवा उत्पत्ति के साधनों को जो प्रतिफल अन्य उत्पादक देते हैं अथवा अन्य धधों में मिलता है, उसको ही स्वीकार करना होता है। ऐसी दशा में जब कि उत्पादक भिन्न-भिन्न उत्पत्ति के साधनों (factors of production) को वह क्या कीमत या प्रतिफल देगा यह निश्चित है तो वह उत्पत्ति के साधनों को इस प्रकार सगठित करेगा कि उसका उत्पादन-व्यय न्यूनतम हो। वह इस अनुपात में भिन्न-भिन्न साधनों को लगावेगा कि जिससे उसका उत्पादन-व्यय न्यूनतम हो जावे। यह तभी हो सकता है कि जब प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति (marginal net product) जो प्रतिफल या पारिश्रमिक उस साधन को दिया जाता है, उसके बराबर हो। वह बराबर उत्पत्ति के साधनों की मात्रा को बदलता रहेगा, और वह तब तक यह प्रयोग करता रहेगा जब तक कि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति उसके दिए जाने वाले प्रतिफल (remuneration) के बराबर नहीं हो जाती। यदि वह समझता है कि अधिक मज़दूर रखने से जो अतिरिक्त उत्पत्ति होगी वह उनको दी जाने वाली मजदूरी से अधिक होगी, तो वह मजदूरों की सख्या में वृद्धि करेगा। यदि वह समझता है कि अधिक पूजी लगाने से जो अतिरिक्त उत्पत्ति होगी वह उस पूंजी के लिए दिए जाने वाले सूद से अधिक होगी तो वह अधिक पूजी (capital) लगावेगा। यदि वह समझता है कि अधिक भूमि (land) लगाने से जो अतिरिक्त उत्पत्ति होगी वह उसके लिए दी जाने वाली लगान से अधिक होगी, तो वह अधिक भूमि लगावेगा। इस प्रकार वह लागत-व्यय को न्यूनतम करने के लिए या तो वह अधिक मजदूर रखकर भूमि और पूजी कम लगावेगा अथवा अधिक पूजी लगाकर श्रम और भूमि कम लगावेगा या अधिक भूमि लगाकर श्रम और पूजी कम लगावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पादक लगातार प्रतिस्थापन नियम (law of substitution) का सहारा लेता है और अपने उत्पादन-व्यय को न्यूनतम करने का प्रयत्न करता है। वह भूमि, श्रम और पूजी का इस अनुपात में सगठन करता है, और उनको इस ढग से प्रतिस्थापित करता है कि किसी साधन विशेष की अधिक इकाई लगाने से जो अतिरिक्त उत्पत्ति हो वह और उस कीमत के बराबर होगी कि जो उन इकाइयों के लिए दी जावेगी। यदि किसी उत्पत्ति के साधन की शुद्ध उत्पत्ति उसकी कीमत से अधिक कम

या ज्यादा हो तो वह उसको बढाने या घटाने के लिए प्रोत्साहित होगा। अस्तु, उत्पादन-व्यय न्यूनतम करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का मूल्य या कीमत उसकी शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति (marginal net product) के बराबर हो। अस्तु, प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का भाग या प्रतिफल उसकी सीमान्त उत्पत्ति से निर्धारित होता है।

हमने ऊपर सक्षेप में, सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) की व्याख्या की है। सीमान्त उत्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हमने नीचे लिखी बाते मान ली हैं। पहली मान्यता तो यह है कि किसी उत्पत्ति के साधन की सब इकाइयां एक समान हैं अर्थात् हम बिना किसी सोच-विचार के एक इकाई को दूसरी इकाई से बदल सकते हैं। दूसरी मान्यता यह है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न साधन उत्पादन के लिए परस्पर सहयोग करते हैं परन्तु वे कुछ हद तक एक-दूसरे के स्थानापन्न भी हैं। उदाहरण के लिए, हम अधिक श्रम और भूमि का उपयोग कर सकते हैं, पूंजी को कम कर सकते हैं। इसी प्रकार हम पूंजी और श्रम को अधिक कर सकते हैं और भूमि को कम कर सकते हैं। तीसरी मान्यता यह है कि उत्पत्ति के साधनों के उपयोग में लगातार परिवर्त्तन होता रहता है। अन्तिम मान्यता यह है कि सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त उत्पादन के क्रमागत-ह्रास नियम (law of diminishing returns) पर आधारित है।

सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) सिद्धान्त का हम लगान (rent), सूद (interest), मजदूरी (wages) और लाभ (profit) की व्याख्या करने मे उपयोग कर सकते हैं। यदि कोई किसान एक निश्चित पूंजी और श्रम से अधिकाधिक भूमि के टुकड़ों पर खेती करे तो कुल उत्पत्ति बढेगी तो अवश्य, परन्तु क्रमागत-ह्रास नियम लागू हो जावेगा अर्थात् जिस अनुपात में भूमि के टुकड़े बढाये जावेंगे उसी अनुपात में कुल उत्पत्ति न बढकर उससे कम बढ़ेगी। यदि हम मानलें कि सभी टुकड़े एक समान उपजाऊ हैं तो भूमि का लगान उस टुकड़े की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगा। इसी प्रकार यदि धंधे मे पूंजी की एक इकाई बढा दें तो धंधे की जो कुल उत्पत्ति होगी उसमे मे उस इकाई को निकाल देने पर जितनी उत्पत्ति कम होगी उसे पूंजी की शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति (marginal net product) कहेंगे। हाँ, इन दोनों परिस्थितियों मे अन्य उत्पत्ति के साधन पूर्ववत् रहें। पूंजी पर सूद इस सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगा। इसी प्रकार यदि अन्य सब बातें पूर्ववत् रहे और धंधे में एक मजदूर बढाया जावे तो उसे

द्वारा जो उत्पादन में वृद्धि होगी वही श्रम की सीमान्त उत्पत्ति होगी, और मजदूरी उसी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगी। अन्त में साहसी का लाभ वह अधिक धन-राशि है जो कि उसकी सहायता से समाज उत्पन्न करता है। यदि साहसी (entrepreneur) न हो तो जितना धन उत्पन्न हो उससे साहसी या व्यवस्थापक की सहायता से जितना अधिक उत्पादन होता है वही उसकी सीमान्त उत्पत्ति है और लाभ उसके बराबर होगा।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त की आलोचना : सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) सिद्धान्त की बहुत से अर्थशास्त्रियों ने गम्भीर आलोचना की है। टाज़िग, डेवनपोर्ट तथा एड्रियांस जैसे अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसको अमान्य बतलाया है। उनका मत है कि प्रत्येक वस्तु भूमि, श्रम और पूंजी के सम्मिलित प्रयत्नों का फल है, और यह कहना असम्भव है कि किस उत्पत्ति के साधन का उस उत्पादन में कितना भाग है। उनके मतानुसार किसी उत्पत्ति के साधन के द्वारा होने वाले उत्पादन को सम्मिलित उत्पादन से पृथक करना और उसका माप कर सकना असम्भव है। कारवर का भी यही कथन है कि उत्पत्ति सभी उत्पत्ति के साधनों (factors of production) की सम्मिलित उत्पत्ति है, उसको पृथक नहीं किया जा सकता। परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है। जब हम कहते हैं कि अमुक उत्पत्ति के साधन का अमुक सीमान्त उत्पत्ति है तो हमारा यह अर्थ कदापि भी नहीं होता कि वह उत्पत्ति केवल उस साधन की विशुद्ध उत्पत्ति है। हम केवल उस उत्पत्ति को उस साधन की सीमान्त उत्पत्ति मान लेते हैं। उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों की सम्मिलित सेवा के मूल्य को नापने की और कोई दूसरी रीति हो ही नहीं सकती। यह वास्तव में सम्मिलित माग (joint demand) का एक उदाहरण है। ठीक जिस प्रकार मक्खन व रोटी, पैट्रोल और मोटर की माग सम्मिलित है ठीक उसी प्रकार इन साधनों की सम्मिलित माग होती है। जिस प्रकार हम मक्खन और दूध की उपयोगिता (utility) को यह जानते हुए भी कि मक्खन की माग रोटी के साथ ही होती है और दूध की माँग चाय के साथ ही होती है मालूम कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार हम श्रम या पूंजी की उत्पत्ति को भी पृथक कर सकते हैं, यद्यपि उनकी माग अन्य साधनों के साथ ही होती है।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त पर एक दूसरा आक्षेप भी किया जाता है। टाज़िग तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि शुद्ध सीमान्त उत्पत्ति किसी उत्पत्ति के साधन की सेवा को नापने का ठीक माप नहीं है। क्योंकि जब किसी

साधन की एक इकाई उत्पादन से निकाल ली जावे या कम करदी जावे तो उसके कारण उत्पादन-कार्य में इतनी गड़बड़ हो जावेगी कि अन्य साधनों की उत्पादन-शक्ति भी बहुत कम हो जावेगी। अस्तु, सीमान्त इकाई (marginal unit) को कम करने से कुल उत्पत्ति में जो कमी होगी वह उससे बहुत अधिक होगी जो कि उस अकेली इकाई की उत्पत्ति है। यदि सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त के अनुसार हम प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की पृथक् पृथक् सीमान्त उत्पत्ति निकालें और उसको जोड़े तो वह उस कुल उत्पत्ति से अधिक हो जावेगी जो कि उन साधनों की सीमान्त इकाइयों के द्वारा सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुई है। इसी आधार पर इन विद्वानों का कहना है कि इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से हम इस असम्भव स्थिति में पहुँच जाते हैं। इस तर्क को उपस्थित करने वाले एक भूल यह करते हैं कि वे एक छोटे कारबार को लेते हैं और उत्पत्ति के साधनों की इकाई का आकार बहुत बड़ा मान कर चलते हैं। अस्तु, स्थिति यह है कि वास्तव मे कारबार का आकार बहुत बड़ा होता है और उत्पत्ति के साधनों का साधारण इकाई इतनी छोटी होती है कि उसको कम कर देने से उत्पत्ति के अन्य साधनों की उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव नगण्य पड़ता है। अस्तु, मार्शल के शब्दों में इस रीति से भिन्न-भिन्न साधनों की सीमान्त उत्पत्ति को जानने में जो भूल होने की सम्भावना है वह इतनी नगण्य है कि उसकी उपेक्षा की जा सकती है।

कुछ विद्वान ऊपर लिखी योजना के विपरीत आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि सभी उत्पत्ति के साधनों (factors of production) की सीमान्त उत्पत्ति (marginal product) कुल उत्पत्ति (total product) से कम होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ बचत रहेगी। विक्सटीड ने इस आलोचना का उत्तर देते हुए लिखा है कि जिस अनुपात मे उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि की जावेगी उसी अनुपात मे उत्पत्ति बढ़ेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि विक्सटीड ने सम-उत्पत्ति नियम (constant returns) सर्वदा लागू होगा, ऐसा मान लिया है। किन्तु यह मान्यता प्रत्येक दशा मे ठीक नहीं है और इससे कई अन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

सीमान्त उत्पत्ति को नापने में एक चौथी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि एक साधन की इकाई की सीमान्त उत्पत्ति समस्त धन्धे की तुलना मे एक फर्म विशेष के लिए कम होगी। समस्त धन्धे के लिए उस साधन की इकाई की सीमान्त उत्पत्ति अधिक होगी, विशेषकर जबकि, उस धन्धे मे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की बचत उपलब्ध हो। इसका यह है कि जब धन्धे मे एक साधन

अतिरिक्त इकाई लगाई जाती है तो श्रम-विभाजन (division of labour) क होता है। जबकि साधन की वृद्धि का पूरा प्रभाव प्रकट होता है और त धन्धा उस साधन को वृद्धि से अपना सामजस्य बिठा लेता है तो यह सम्भव है कि साधन की सीमान्त उत्पत्ति एक फर्म के लिए कम हो और त धन्धे के लिये अधिक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जब उत्पादन में गत-वृद्धि नियम (law of increasing returns) लागू हो, तो सीमान्त त्ति (marginal productivity) को ठीक-ठीक मालूम करना कठिन ा है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक आक्षेप यह भी है कि उत्पत्ति के साधनों में वर्तन नहीं किया जा सकता जैसा कि इस सिद्धान्त में स्वीकार कर लिया है। हावसन का कहना है कि उत्पत्ति के साधनों में हेर-फेर करना सम्भव होता। हावसन का यह भी कहना है कि किसी धधे की औद्योगिक स्थिति और में लगी हुई अचल पूंजी (fixed capital) के ऊपर यह निर्भर रहता के उसमें अन्य साधनों की कितनी आवश्यकता है। ऐसी बहुत सी मशीनें ी हैं जिनपर केवल एक मजदूर की आवश्यकता होती है। यदि उस ीन पर काम करने के लिए एक के स्थान पर दो मजदूर रक्खे जावें तो नर्थ होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कारवार की औद्योगिक स्थिति echnique) से यह पूर्व निर्धारित होता है कि भिन्न-भिन्न उत्पत्ति के साधनों किस अनुपात में उपयोग किया जावेगा। अस्तु जैसा कि इस सिद्धान्त में न लिया गया है उत्पत्ति के साधनों के अनुपात में उलट-फेर नहीं किया सकता। साथ ही हमें यह भी मालूम है कि जब तक हम किसी उत्पत्ति साधन के उपयोग में हेर-फेर न करें उसकी उत्पत्ति मालूम नहीं कर सकते। आक्षेप का उत्तर यह है कि साधारण तौर पर उत्पत्ति के साधनों के अनुपात हेर फेर कर सकने की अनेक सम्भावनाएं रहती हैं। व्यापार या व्यवसाय ज्ञ में उन्नति इसी कारण सम्भव है कि उत्पत्ति के साधनों के अनुपात में वर्तन सम्भव है। इसके अतिरिक्त यदि हम लम्बे काल को लें तो अचल जी (fixed capital) उत्पत्ति के साधनो के उपयोग में हेर-फेर करने में ई विशेष कठिनाई उपस्थित नहीं करती। क्योंकि लम्बे काल मे कोई अनुपूरक व्यय (supplimentary cost) नहीं होता, और मशीनों को या तो मशीनों से बदला जाता है अथवा उनके स्थान पर अन्य साधनों का अधिक योग किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के साधनों का अनुपात पूर्व निश्चित होता है, उसमे कोई हेर-फेर नहीं हो सकता, यह कहना

गलत है। साधनों मे हेर-फेर हो सकता है ।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त के विरुद्ध एक गम्भीर आरोप यह है कि उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति (supply) को निश्चित मान कर चलता है फिर इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि उनकी माग होती है। साधनों की मांग इस कारण होती है क्योंकि वे व्यवसायी या मालि को सीमान्त उत्पत्ति प्रस्तुत करते हैं। परन्तु केवल माग ही किसी वस्तु के मू (value) की व्याख्या नहीं कर सकती, और उत्पत्ति के साधन के मूल्य व्याख्या तो और भी नहीं कर सकती। सच तो यह है कि उत्पत्ति के सा की पूर्त्ति निश्चित नहीं होती वरन् बहुत हद तक लचकदार होती है, क्यं उत्पत्ति के साधनों की पूर्त्ति (supply) उनको जो प्रतिफल (remuneratio मिलता है उस पर निर्भर रहती है। यह हम कैसे मान सकते हैं कि सूद दर पूजी (capital) की पूर्ति को प्रभावित नहीं करेगी और इस प्र पू जी की सीमान्त उत्पत्ति (marginal product) पर असर नहीं डालेगी। सीमान्त उत्पत्ति परिवर्त्तनशील है और वह बहुत सी बातों पर नि रहती है ।

इसमें कोई सदेह नहीं कि सीमान्त उत्पत्ति का उत्पत्ति के साधनों के प्रति को निर्धारित करने में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध मे हमें यह न जाना चाहिए कि यह सिद्धान्त हमें केवल यह बतलाता है कि मालिक व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों को क्या देगा। किन्तु वास्तविक जीवन में जैसा इस सिद्धान्त मे मान लिया गया है, पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा नही होती। हमारी आ प्रणाली में लगातार सघर्ष (friction) होता रहता है जिसके फलस्वरूप सीमान्त उत्पत्ति और लगान (rent) मजदूरी (wages) तथा (intrest) का सामजस्य पूर्णरूप से नहीं हो पाता। किन्तु वे शक्तियाँ बर काम करती रहती हैं जो कि लगान, मजदूरी और सूद को उन साधनों सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) के बराबर करने का प्र करती हैं, अर्थात् उनके भेद को दूर करने का प्रयत्न करती हैं।

अन्त में हमे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यह सिद्धान्त भिन्न उत्पत्ति के साधनों के प्रतिफल का कोई नैतिक औचित्य उपस्थित नहीं कर सीमान्त उत्पत्ति का सिद्धान्त हमें केवल यह बतलाता है कि प्रत्येक उत्पत्ति साधन का प्रतिफल उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगा। देखने में लगता है कि प्रत्येक साधन को उतना ही प्रतिफल दिया जाता है जितना उ सीमान्त उत्पत्ति है, वह उचित और न्यायपूर्ण है। किन्तु हम यह न भूल

चाहिए कि किसी साधन का बाजार-मूल्य (market value) अर्थात् प्रतिफल जो उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होता है उसमें तथा उस साधन के द्वारा होनेवाली समाज सेवा में कोई सम्बन्ध नहीं होता। अस्तु, इस सिद्धान्त का आधुनिक वितरण प्रणाली का समर्थन करने और उसको न्यायपूर्ण तथा उचित ठहराने के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए।

परिच्छेद ५२

लगान (Rent)

लगान का अर्थ : साधारण बोलचाल की भाषा में लगान या कि[illegible] का अर्थ किसी मकान, ताँगे, या मशीन के लिए दिए जाने वाले किराये से हो[illegible] है। किन्तु अर्थशास्त्र में लगान अथवा आर्थिक लगान (economic rent) एक विशेष अर्थ होता है। लगान (rent) शब्द का प्रयोग उस चुकारे लिए होता है जो कि काश्तकार किसी जमींदार को उसके फार्म के उपयोग लिए देता है। आर्थिक लगान शब्द का उपयोग कुल चुकारे के उस भाग लिए होता है जो कि केवल भूमि अर्थात् प्रकृति द्वारा दी हुई मुक्त देन (f[illegible] gift) के लिए (जिस पर व्यक्तियों का अधिकार स्थापित हो गया है) किया ज[illegible] है। साधारणतः जमींदार को किसान जो लगान देता है, वह आर्थिक लगान बराबर ही हो यह आवश्यक नहीं है। भूमि के स्वामी ने भूमि को खेती यो[illegible] बनाने के लिए तथा उसकी उत्पादन-शक्ति बढाने के लिए उस पर फार्म हा[illegible] बनवाया हो, उसकी बाढ लगाई हो, नाली इत्यादि निकाली हों, या कुँ[illegible] बनवाया हो, तो उसमें जो उसने पूँजी (capital) लगाई है उसका [illegible] (interest) भी उस फार्म के लगान में सम्मिलित होगा। कहने का ता[illegible] यह है कि जो कुछ काश्तकार लगान के रूप में देता है, उसका कुछ [illegible] वास्तव में उस में लगी हुई पूँजी का सूद मात्र है और शेष आर्थिक लगान [illegible] है। कहने का तात्पर्य यह है कि भूमि अर्थात् प्राकृतिक देन के उत्[illegible] (production) में जो सेवा होती है उसके लिए आर्थिक लगान [illegible] जाता है।

कुल लगान (Gross Rent) और वास्तविक लगान (R[illegible] Proper) : काश्तकार जो लगान भूस्वामी को देता है वह वास्तव में वास्त[illegible] लगान नहीं होता, वह कुल लगान होता है। कुल लगान में (क) वास्त[illegible] लगान अर्थात् आर्थिक लगान जो भूमि के उपयोग के लिए दिया जाता [illegible] सम्मिलित होता है (ख) उसमें लगी पूँजी पर, जो मकान, कुँआ, ना[illegible] इत्यादि बनाने में लगती है, सूद सम्मिलित होता है, और (ग) भूस्वामी [illegible] उसके गुमाश्तों और कारिंदों की मजदूरी (wages) सम्मिलित होती है,

...भूमि का प्रबन्ध करने के लिए आवश्यक है। कुल लगान में थोड़ा लाभ (profit) का भी अंश सम्मिलित हो सकता है। क्योंकि किसी भूमि का सुधार उसको खेती योग्य बनाने में जोखिम है और उसके लिए भूस्वामी को लाभ भी मिलना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि कुल लगान में ...क लगान, सूद, मजदूरी और लाभ सभी सम्मिलित होते हैं।

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Ricardian Theory of Rent):

...र्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है, "लगान भूमि की उत्पत्ति वह भाग है जो भूस्वामी को मिट्टी की मौलिक तथा नाश न होने वाली ...क्तियों के लिए दिया जाता है।" सभी भूमि एक समान उर्वरा नहीं होती। ...भिन्न भूमि के टुकड़ों में उर्वरा शक्ति की दृष्टि से प्राकृतिक भेद होता है। ...गान इस कारण प्रकट होता है क्योंकि अधिक उपजाऊ भूमि पर कम उर्वरा ...मि की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक होती है।

रिकार्डो के अनुसार आर्थिक लगान भूमि की उत्पत्ति में से खेती के व्यय ...को निकाल कर जो शुद्ध बचत रहती है उसको कहते हैं।

आर्थिक लगान किस प्रकार प्रकट होता है इसका रिकार्डो ने एक ...दर उदाहरण दिया है। कल्पना कीजिए कि प्रवासियों की एक टोली किसी ...देश में जाकर बस जाती है और वहाँ खेती करना आरम्भ करती है। ...रम्भ में वे प्रवासी स्वभावतः सर्वोत्तम भूमि पर ही खेती करेंगे। जब ...त्तम अर्थात् प्रथम श्रेणी की भूमि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होगी तब ...कोई भी भूमि का लगान नहीं देगा। प्रथम श्रेणी अर्थात् सर्वोत्तम भूमि ...जो पैदावार होगी वह उन प्रवासियों के लिए पर्याप्त होगी। ऐसी दशा में ...ई भी व्यक्ति भूमि का लगान नहीं देगा, क्योंकि जो वस्तु अपरिमित मात्रा में उप-...ब्ध होती है उसके लिए कोई कुछ नहीं देता है। परन्तु जैसे-जैसे उस नये उपनिवेश ...की जनसंख्या नये प्रवासियों के आकर बसने से और जनसंख्या के स्वतः बढने से बढ ...गी, अधिकाधिक पैदावार की आवश्यकता होगी। इसका परिणाम ...यह होगा कि अधिक भूमि पर खेती करनी होगी और शीघ्र ही प्रथम श्रेणी की ...भूमि समाप्त हो जावेगी, फिर भी बढती हुई जनसंख्या के लिए यथेष्ट ...पैदावार उपलब्ध नहीं होगी। ऐसी दशा में नये बसने वालों को द्वितीय श्रेणी ...की भूमि पर खेती करनी होगी अर्थात् जो भूमि पहली श्रेणी की भूमि ...से घटिया है उस पर खेती की जावेगी। इस भूमि पर प्रथम श्रेणी ...की भूमि से कम पैदावार होगी। कल्पना कीजिए कि प्रथम श्रेणी की भूमि ...समान मात्रा में श्रम और पूंजी लगाने से २५ मन गेहूं प्रति एकड़ पैदावार

होता है और द्वितीय श्रेणी की भूमि पर केवल ३० मन पैदावार होती है। ऐसी दशा में गेहूं की कीमत इतनी होनी चाहिए कि जिससे ३० मन गेहूं बेचने से श्रम और पूंजी लगाने का व्यय तथा सामान्य लाभ (normal profit) निकल आवे। यदि कीमत इतनी ऊंची नहीं होगी कि जिससे उस पर लगने वाले श्रम और पूंजी का व्यय और सामान्य लाभ निकल सके तो द्वितीय श्रेणी की भूमि पर खेती नहीं की जावेगी। जब द्वितीय श्रेणी की भूमि पर खेती होती है तो प्रथम श्रेणी अर्थात् सर्वोत्तम भूमि पर खेती करने से ५ मन गेहूं अधिक उत्पन्न होता है अर्थात् ५ मन गेहूं की प्रति एकड़ बचत होती है, क्योंकि खेती करने का व्यय दोनों प्रकार की भूमि पर बराबर है। यही बचत आर्थिक लगान है। कल्पना कीजिए कि उस नये उपनिवेश की जनसंख्या और भी बढ जाती है। बढी हुई जनसंख्या के लिए अधिक अनाज और कच्चे पदार्थ उत्पन्न करने के लिए अधिक भूमि चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि भूमि की अधिकाधिक माँग होने के कारण द्वितीय श्रेणी की भूमि भी समाप्त हो जाती है। अतएव तीसरी श्रेणी की भूमि जो कि दूसरी श्रेणी की भूमि पर उतनी ही पूंजी और श्रम लगाने से जितनी कि प्रथम और द्वितीय श्रेणी की भूमि पर लगाई गई थी उत्पादन केवल २० मन गेहूं प्रति एकड़ के हिसाब से होता है। तीसरी श्रेणी की भूमि पर खेती उसी दशा में होगी जबकि गेहूं की कीमत इतनी ऊंची हो जावे कि २० मन गेहूं बेच कर खेती का व्यय अर्थात् श्रम-पूंजी का व्यय तथा सामान्य लाभ निकल सके। जब तक गेहूं की कीमत इतनी ऊंची नहीं होगी, तीसरी श्रेणी की भूमि पर खेती करने की दशा में प्रथम श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ १० मन और द्वितीय श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ ५ मन की बचत होगी। अर्थात् प्रथम श्रेणी की भूमि का आर्थिक लगान पाँच मन प्रति एकड़ से बढ कर १० मन प्रति एकड़ हो जावेगा और द्वितीय श्रेणी की भूमि जो अभी तक कोई लगान नहीं देती थी उस पर ५ मन प्रति एकड़ आर्थिक लगान दिया जावेगा, और तृतीय श्रेणी की भूमि जो कि केवल खेती का लागत-व्यय मात्र देती है कुछ बचत नहीं देती। उस पर कोई लगान नहीं दिया जावेगा। इसी प्रकार यदि जनसंख्या की वृद्धि होने से तीसरी श्रेणी की भूमि से भी घटिया भूमि पर खेती होने लगेगी तो प्रथम श्रेणी का लगान बढ़ जावेगा। द्वितीय श्रेणी की भूमि का लगान बढ जावेगा और तीसरी श्रेणी की भूमि जिस पर अभी तक कुछ भी लगान नहीं दिया जाता था लगान प्रकट हो जावेगा। चौथी श्रेणी की भूमि पर कुछ लगान नहीं दिया जावेगा। यह बचत या लगान इस

कारण प्रकट होता है क्योंकि अच्छी भूमि अधिक उर्वरा और उपजाऊ है।

हम ऊपर के उदाहरण लेकर इसको अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कल्पना करिये कि प्रथम श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ जितना श्रम और पूंजी लगाई जाती है तथा किसान का सामान्य लाभ जोड़ने पर उसकी लागत ७० रुपए है। अर्थात् प्रति मन गेहू की लागत २ रु० हुई और २ रुपए प्रति मन ही गेहू की कीमत भी है। ऐसी दशा मे कोई बचत नहीं होगी और प्रथम श्रेणी की भूमि पर कोई लगान प्रकट नहीं होगा। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, कल्पना कीजिए कि उस नये देश में जनसख्या बढ जाती है, और गेहूँ की अधिक मांग होने के कारण गेहू की कीमत २ रुपए प्रति मन से बढ़कर २$\frac{1}{3}$ रु० प्रति मन हो जाती है। इस दशा मे उतने ही श्रम और पूजी से द्वितीय श्रेणी की भूमि पर एक एकड़ पर ३० मन गेहूँ उत्पन्न होगा और २$\frac{1}{3}$ रु० प्रति मन के हिसाब से खेती का व्यय अर्थात् ७० रु० निकल आवेंगे। परन्तु गेहूँ की बाजार में कीमत एक समान ही रहेगी। इस कारण प्रथम श्रेणी की भूमि पर खेती करने वाले को एक एकड़ पर ३५ मन पैदावार का ८१$\frac{2}{3}$ रु० कीमत मिलेगी। उस पर खेती का व्यय (श्रम और पूंजी का व्यय) केवल ७० रु० प्रति एकड़ होगा। अस्तु, प्रति एकड़ ११$\frac{2}{3}$ रु० की बचत होगी, अर्थात् ११$\frac{2}{3}$ रु० आर्थिक लगान (economic rent) होगा। कल्पना कीजिए कि जनसख्या के बढने से गेहू की कीमत बढ कर ३$\frac{1}{2}$ रु० प्रति मन हो जाती है। उस दशा में तीसरी श्रेणी की भूमि पर भी खेती करना लाभदायक हो जावेगा क्योंकि ७० रु० की लागत (श्रम-पूजी और सामान्य लाभ) लगा कर एक एकड़ में २० मन गेहू उत्पन्न होगा। उस दशा में प्रथम श्रेणी की भूमि पर प्रति एकड़ ५२$\frac{1}{2}$ रु० की, द्वितीय श्रेणी की भूमि प्रति एकड़ पर ३५ रु० की बचत होगी। किन्तु तीसरी श्रेणी की भूमि पर केवल उत्पादन-व्यय (७० रु०) भर निकलेगा, कोई बचत नहीं होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तीसरी श्रेणी की भूमि पर खेती की जावेगी और ३$\frac{1}{2}$ रु० प्रति मन गेहूँ की कीमत होगी तो प्रति एकड़ प्रथम श्रेणी की भूमि का आर्थिक लगान ५२$\frac{1}{2}$ रु०, द्वितीय श्रेणी की भूमि का आर्थिक लगान ३५ रु० तथा तृतीय श्रेणी की भूमि लगान रहित भूमि होगी।

अभी तक हम यह मान कर चले हैं कि जैसे-जैसे जनसख्या बढती गई और खाद्य पदार्थों की माग बढती गई वैसे ही वैसे घटिया भूमि पर भी खेती होती गई। यह विस्तृत खेती (extensive cultivation) का उदाहरण है। परन्तु जैसे-जैसे खाद्य पदार्थों की माग बढती जावेगी वैसे ही वैसे उत्तम भूमि

पर गहरी खेती (intensive cultivation) भी की जावेगी। ऊपर के उदाहरण में गेहूँ की मांग अधिक होने पर यदि घटिया भूमि पर खेती न की जावे, केवल प्रथम श्रेणी की अर्थात् सर्वोत्तम भूमि पर ही गहरी खेती की जावे, अर्थात् अधिकाधिक मात्रा में पूजी और श्रम लगाया जावे तो भी आर्थिक बचत अर्थात् आर्थिक लगान प्रकट हो जावेगा। ऊपर दिए हुए उदाहरण में ७० रु० लागत की पूजी और श्रम प्रथम श्रेणी की भूमि पर लगाने से एक एकड़ में ३५ मन गेहूं उत्पन्न होते हैं। गेहूँ की माग बढने पर यदि गेहू की कीमत २ रु० प्रति मन से बढकर २$\frac{१}{२}$ रु० प्रति मन हो जावे तो प्रथम श्रेणी की भूमि पर ही ७० रु० लागत की श्रम और पूजी की दूसरी मात्रा लगाने से कुल उत्पत्ति ६५ मन होगी। श्रम और पूजी की मात्रा को दुगनी करने पर भी उत्पत्ति दुगनी इस कारण नहीं होगी क्योंकि उत्पादन में क्रमागत-ह्रास-नियम (law of diminishing returns) लागू हो गया है। यह तो स्पष्ट है कि जब तक बाज़ार मे गेहूँ का मूल्य १$\frac{१}{३}$ रु० प्रति मन नहीं होगा किसान प्रथम श्रेणी की भूमि पर श्रम और पूजी की दूसरी मात्रा नहीं लगावेगा। इसी प्रकार यदि गेहू की कीमत ३$\frac{१}{२}$ प्रति मन होगी तब किसान प्रथम श्रेणी की भूमि पर ७० रु० की लागत की श्रम और पूजी की तीसरी मात्रा लगावेगा। क्योंकि क्रमागत ह्रास नियम लागू होने से श्रम और पूजी की तीसरी मात्रा लगाने से उत्पत्ति में केवल २० मन की वृद्धि होगी। अब हम यदि ध्यान पूर्वक देखें तो जब गेहूं की कीमत २ रु० प्रति मन है तो प्रथम श्रेणी की भूमि पर श्रम और पूजी की एक मात्रा (जिसकी लागत ७० रु० है) लगाई जाती है और ३५ मन गेहू उत्पन्न होता है, अर्थात् केवल खेती का लागत-व्यय निकलता है, कोई बचत नहीं होती। जब गेहू की कीमत २$\frac{१}{३}$ प्रति मन होती है तो प्रथम श्रेणी की भूमि पर श्रम और पूजी की तीसरी मात्रा (७० रु० की लागत की) और लगाई जाती है और कुल उत्पत्ति केवल ६५ मन होगी अर्थात् श्रम और पूजी की तीसरी मात्रा लगाने से केवल ३० मन गेहू अधिक उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में दूसरी मात्रा सीमान्त मात्रा (marginal dose) होगी और पहली मात्रा से ११$\frac{२}{३}$ रु० की बचत होगी अर्थात् आर्थिक लगान उत्पन्न हो जावेगा। इसी प्रकार जब गेहू की कीमत ३$\frac{१}{२}$ रु० प्रति मन हो जावेगी तो प्रथम श्रेणी पर प्रति एकड़ ७० रु० की लागत की श्रम और पूजी की तीसरी मात्रा लगाने से कुल उत्पत्ति ८५ मन होगी। इस दशा में ३$\frac{१}{२}$ रु० प्रति मन के हिसाब से ८५ मन गेहूं की कीमत २९७$\frac{१}{२}$ रु० होगी और उत्पादन-व्यय (७० × ३=२१० रु०) केवल २१० रु० होगा, अर्थात प्रथम श्रेणी की भूमि पर प्रति

कड़ ८७½ रु० आर्थिक लगान प्रकट हो जावेगा और श्रम और पूंजी की तीसरी मात्रा (dose) सीमान्त मात्रा होगी।

व्यवहार मे खेती में गहरी और विस्तृत खेती दोनों का ही प्रयोग होता है। जैसे-जैसे जनसख्या वढती जाती है पैदावार को मॉग वढती जाती है और उसकी कीमत वढती जाती है, वैसे ही वैसे किसान घटिया भूमि पर खेती करते जाते हैं और साथ ही साथ वढिया भूमि पर अधिकाधिक पूँजी और श्रम लगाकर गहरी खेती (intensive cultivation) करते हैं। दोनों दशाओ में पूर्ववत श्रम और पूँजी लगाने पर पैदावार कम होती है। गहरी खेती में क्रमागत ह्रास नियम के लागू होने के कारण और विस्तृत खेती (extensive cultivation) मे नई भूमि के घटिया होने के कारण उत्पत्ति कम होती है। ऐसी दशा मे सबसे घटिया भूमि जिस पर खेती होती है वह केवल खेती का लागत-व्यय मात्र देती है और उस पर कोई आर्थिक बचत अथवा आर्थिक लगान प्रकट नहीं होता। वह लगानरहित भूमि अथवा सीमान्त भूमि (marginal land) कहलाती है। गहरी खेती में जो अन्तिम श्रम और पूँजी की मात्रा (doze of labour and capital) लगाई जाती है, उसके कारण जो उत्पत्ति वृद्धि होती है, वह उस श्रम और पूँजी के लागत-व्यय मात्र को निकालती है, उसमें कोई बचत नहीं होती। उसे हम सीमान्त मात्रा (marginal dose) कहते हैं। सीमान्त भूमि की पैदावार की तुलना मे जिस किसी भूमि की जितनी अधिक पैदावार होगी वही उस भूमि का आर्थिक लगान होगा। इसी प्रकार सीमान्त मात्रा से जितनी भी अधिक अन्य मात्राओ की पैदावार होगी उसे जोड़ने से भूमि का आर्थिक लगान मालूम किया जा सकता है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सीमान्त भूमि कोई निश्चित भूमि है। कीमत के घटने-वढने से सीमान्त भूमि वदलती रहती है। हम एक उदाहरण देकर इसको स्पष्ट करेंगे।

कल्पना कीजिए कि एक एकड़ भूमि पर श्रम और पूँजी की एक मात्रा लगाने का लागत-व्यय ७० रु० है, और प्रथम श्रेणी की भूमि पर एक मात्रा श्रम और पूँजी लगाने से ३५ मन प्रति एकड़ पैदावार है। गेहूँ की कीमत २ रु० प्रति मन है तो ऐसी दशा में प्रथम श्रेणी की भूमि ही सीमान्त भूमि है। जनसख्या वढ जाने से गेहूं की कीमत वढ कर २⅓ रु० प्रति मन हो जाती है। ऐसी दशा मे द्वितीय श्रेणी की भूमि पर खेती होने लगेगी और एक मात्रा श्रम और पूँजी (७० रु० की लागत) लगाने से केवल ३० मन गेहूँ उत्पन्न होगा। इस दशा में प्रथम श्रेणी की भूमि पर ११⅔ रु० आर्थिक लगान प्रकट हो

जावेगा और द्वितीय श्रेणी की भूमि सीमान्त भूमि होगी। यदि जनसंख्या के बढने पर गेहू की कीमत बढकर ३½ रु० प्रति मन हो जाती है तो प्रथम श्रेणी की भूमि पर ५२½ रु०, द्वितीय श्रेणी की भूमि पर ३५ रु०, आर्थिक लगान होगा और तृतीय श्रेणी की भूमि पर पूँजी और श्रम की एक मात्रा (७० रु० की लागत) से २० मन गेहूँ उत्पन्न होगा और तीसरी श्रेणी की भूमि सीमान्त भूमि कहलावेगी।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि सीमान्त भूमि कोई निश्चित भूमि नहीं है। पैदावार की कीमत में परिवर्त्तन होने पर सीमान्त भूमि में भी परिवर्त्तन हो जाता है। ऊपर यह भी बतलाया जा चुका है कि सीमान्त भूमि पर लगान नहीं दिया जाता। कोई-कोई पाठक यह प्रश्न कर सकते हैं कि उनके देखने में तो ऐसी भूमि नहीं आई। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सीमान्त भूमि उनके गाँव, जिले, प्रान्त, या देश में ही हो। हो सकता है कि उनके गाँव, जिले अथवा प्रान्त की भूमि बढिया हो। उदाहरण के लिए, सीमान्त भूमि भारत में न होकर कनाडा, आस्ट्रेलिया, अथवा साइबेरिया, आदि देशों में हो। क्योंकि गेहू का मूल्य तो दुनिया में गेहूं की पूर्त्ति (supply) तथा मांग द्वारा निर्धारित होता है। किसी-किसी घटिया भूमि पर लगान के रूप में जो नाममात्र को धन दिया जाता है वह वास्तव में लगान (rent) नहीं होता वरन् उस पूँजी का सूद है जो कि भूमि की उन्नति करने में लगाई गई थी। वास्तव में वह भूमि सीमान्त भूमि है।

स्थिति का लगान (Situational Rent). स्थिति भी लगान को निर्धारित करती है। कल्पना कीजिए की सभी भूमि एक-सी उर्वरा है। परन्तु कुछ भूमि मंडी के समीप है और दूसरी मंडी से अधिक दूरी पर है। प्रत्येक भूमि पर प्रति एकड़ ३५ मन पैदावार होती है। यदि गेहूँ की कीमत केवल २ रु० प्रति मन होगी तो दूर पर स्थित भूमि पर गेहू उत्पन्न नहीं किया जावेगा। क्योंकि गेहू उत्पन्न करने का लागत-व्यय, श्रम और पूँजी (७० रु०) तो प्रत्येक भूमि पर ५.५ समान होगी किन्तु दूर पर स्थित भूमि की पैदावार को मंडी तक लाने में जो अधिक व्यय होगा वह इस कीमत से नहीं निकल सकेगा। परन्तु, यदि गेहूँ की मांग इतनी अधिक है कि केवल समीपवर्त्ती भूमि की पैदावार से ही वह पूर्ण नहीं हो सकता तो गेहूँ की कीमत बढ जावेगी और तभी दूरस्थ भूमि पर खेती होगी। ऐसी दशा में जो भूमि कि मंडी के पास स्थित है उस पर आर्थिक लगान प्रकट हो जावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भूमि पर लगान उसके तुलनात्मक दृष्टि से बढिया होने के कारण उत्पन्न होता है फिर वह चाहे उर्वरा

की दृष्टि से बढ़िया हो अथवा स्थित की दृष्टि से बढ़िया हो।

लगान और मूल्य : रिकार्डो के अनुसार भूमि का लगान और उसकी पैदावार के मूल्य में कोई सम्बन्ध नहीं है। उसने लिखा है, "अनाज का मूल्य इसलिए अधिक नहीं है क्योंकि लगान दिया जाता है। वरन् लगान इसलिए दिया जाता है क्योंकि अनाज का मूल्य अधिक है।" दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पैदावार के मूल्य निर्धारण मे लगान का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि किसी भी बढ़िया भूमि का आर्थिक लगान उसकी और सीमान्त भूमि की उपज के अन्तर के बराबर होगा। सीमान्त भूमि लगान नहीं देती। उसे हम लगानरहित भूमि कहते हैं। साथ ही यह भी बताया जा चुका है कि उपज का मूल्य सीमान्त भूमि के लागत-व्यय के बराबर होता है। अतएव मूल्य में लगान सम्मिलित नहीं होता। ऊपर दिए हुए उदाहरण में तृतीय श्रेणी की भूमि पर गेहूँ तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि उसका मूल्य ३½ रु० प्रति मन हो जिसमे उसका लागत-व्यय (७० रु०) निकल आए। यह ध्यान में रखने की बात है कि लागत-व्यय में पूँजी का सूद, श्रम की मजदूरी और व्यवस्था का लाभ सम्मिलित है, परन्तु लगान सम्मिलित नहीं है। अतएव यह सिद्ध हो जाता है कि पैदावार के मूल्य पर लगान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मान लो कि भूमि के मालिक किसानों से लगान लेना बन्द करदें तो गेहूँ की पूर्ति में कमी नहीं होगी, क्योंकि गेहूँ का मूल्य तो सीमान्त भूमि (marginal land) के लागत खर्च के बराबर होगा। अतएव, यदि भूमि के मालिक किसानों से लगान लेना बन्द करदें तो बढ़िया भूमि पर खेती करने वाले किसान उस आर्थिक बचत को हथिया लेंगे और गेहूँ के मूल्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की आलोचना : रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की बहुत अधिक आलोचना हुई है। पहली आपत्ति उसके सिद्धान्त के विरुद्ध यह है कि जैसा रिकार्डो ने मान लिया है कि मिट्टी या भूमि की शक्ति अविनाशी है—नाशवान नहीं है—यह गलत है। बढ़िया भूमि की उर्वरा शक्ति भी कुछ वर्षों के उपरान्त कम हो जाती है। क्योंकि लगातार कुछ वर्षों तक किसी भूमि पर खेती करने से उसके कुछ रासायनिक तत्त्व जिन पर उसकी उर्वरा शक्ति निर्भर है, नष्ट हो जाते हैं। इसमें कोई सदेह नहीं कि यह सच है कि खेती करने से भूमि के कुछ रासायनिक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, परन्तु भूमि के कुछ गुण जैसे मिट्टी की बनावट, जलवायु तथा जल, इत्यादि अक्षय हैं, वे नष्ट नहीं होते।

कुछ विद्वान रिकार्डो की इस मान्यता पर आपत्ति करते हैं कि खेती पहले सबसे बढिया भूमि पर की गई और जनसख्या बढने पर क्रमश घटिया भूमि पर भी की जाने लगी। यह आवश्यक नहीं है कि बढिया भूमि को प्रत्येक दशा में पहले जोता जावेगा। उदाहरण के लिए, किसी नये देश मे समुद्र या नदियों के किनारे जहाँ पहले मनुष्य बसा वहाँ की भूमि ही पहले जोती गई, फिर चाहे वह बढिया थी या घटिया थी। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ आबादी थी वहाँ की भूमि पहले जोती गई फिर वह चाहे जैसी रही हो। आलोचकों का कहना है कि रिकार्डो ने खेती का जो क्रम निर्धारित किया है वह गलत है। [illegible] ने आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा है कि रिकार्डो ने जब बढिया भूमि पर पहले खेती होने की बात लिखी तो उसका तात्पर्य उर्वरा शक्ति की दृष्टि से तथा स्थित की दृष्टि से बढिया भूमि से था न कि केवल उर्वरा शक्ति की दृष्टि से ही उसने बढिया भूमि पर पहले खेती होने की बात कही थी।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त के विरुद्ध तीसरी आपत्ति यह है कि उसका यह कहना कि लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता गलत है। हम इसका आगे विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त : यह तो हम पहले ही बता चुके हैं कि लगान (rent) भूमि की सेवा का मूल्य है। और अन्य वस्तुओ के मूल्य (value) की भाति भूमि की (उत्पादन में) सेवा का मूल्य अर्थात् लगान की भूमि की पूर्ति (supply) और माँग (demand) से ही निर्धारित होगा। लगान भूमि की माँग और उनकी पूर्ति के अनुसार ही निर्धारित होता है। जितनी ही किसी देश की जनसख्या अधिक होगी उतनी ही खेती की पैदावार अर्थात् उत्पत्ति की अधिक आवश्यकता होती है, और उतनी ही अधिक घटिया भूमि सीमान्त भूमि (marginal land) बनती है। साथ ही बढिया भूमि पर अधिकाधिक गहरी खेती (intensive cultivation) की जाती है। जहाँ तक भूमि की पूर्ति (supply) का प्रश्न है वह भूमि के विस्तार तथा उसकी उर्वरा शक्ति पर निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भूमि का लगान भी अन्य वस्तुओं के मूल्य की भाति भूमि की माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यदि किसी भी कारणवश भूमि की माग बढ जावे तो भूमि का लगान अवश्य बढ जावेगा। कल्पना कीजिए कि किसी नये देश में जनसख्या के आवास (immigration) के कारण जनसख्या बढ जाती है और खेती की पैदावार की माग बढ जाती है। ऐसी दशा में उत्पत्ति को बढाने के दो ही मार्ग हैं।

तो नई घटिया भूमि पर जिस पर अभी तक खेती नहीं होती थी, खेती की जावे, अथवा बढिया भूमि पर अधिक पूंजी (capital) और श्रम (labour) लगा कर गहरी खेती (intensive cultivation) की जावे। दोनों दशाओं में पहले जितना पूंजी और श्रम की एक मात्रा उत्पन्न करते थे उससे कम होगा। पहली दशा में इस कारण कि भूमि घटिया है। दूसरी दशा में क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) लागू हो जाने के कारण उत्पत्ति कम होगी। ऐसी दशा में पैदावार का उत्पादन-व्यय बढ जावेगा और बाजार में उसकी कीमत बढ जावेगी, खेती की पैदावार की कीमत ऊंची हो जाने से लगान ऊंचा हो जावेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि लगान क्यों प्रकट होता है उसके लिए हमें किसी विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। लगान भी उन्हीं नियमों अर्थात् मांग और पूर्त्ति से निर्धारित होता है जिन नियमों से किसी वस्तु का मूल्य (value) निर्धारित होता है। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त मूल्य-सिद्धान्त(theory of value) से कोई भिन्न सिद्धान्त नहीं है। केवल इतना अन्तर है कि रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त तनिक आगे बढ कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करता है कि लगान किस प्रकार प्रकट हुआ।

सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Product) और लगान : सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त के अनुसार भी लगान की व्याख्या की जा सकती थी। कल्पना कीजिए कि सभी भूमि एक समान उर्वरा है और बाजार से समान दूरी पर स्थित है, अर्थात् उर्वरा शक्ति और स्थिति की दृष्टि से सब भूमि समान है, उसमें कोई भूमि अन्य प्रकार की नहीं है। अब हम एक उदाहरण लेते हैं। एक किसान १० एकड़ भूमि पर श्रम और पूंजी की दस मात्राएं लगाता है और १०० मन गेहूं उत्पन्न करता है। अब वह श्रम (labour) और पूंजी (capital) को पूर्ववत् ही रखता है और एक एकड़ भूमि अधिक जोतता है अर्थात् दस मात्रा श्रम और पूंजी में ११ एकड़ भूमि पर खेती करता है। यह स्पष्ट है कि पहले की अपेक्षा अब वह विस्तृत खेती (extensive cultivation) करता। ऐसी दशा में कुल उत्पादन १०८ मन होगा, ११० मन नहीं होगा क्योंकि प्रति एकड़ कम पूंजी और श्रम लगेगा। ऐसी दशा में प्रति एकड़ सीमान्त उत्पत्ति ८ मन की हुई और यही प्रति एकड़ भूमि का लगान होगा।

ऊपर हमने यह मान लिया है कि भूमि एक समान है। उसमें उर्वरा शक्ति की भिन्नता और स्थिति की भिन्नता नहीं है। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। भूमि की उर्वरा शक्ति की भिन्नता के अनुसार ही भूमि क

लगान भी भिन्न होगा । यहां हमे एक बात न भूलना चाहिए कि भूमि की उर्वरा शक्ति तथा स्थित में भिन्नता होने के कारण लगान की व्याख्या इनिक जटिल अवश्य हो जाती है परन्तु उसके कारण उसके लगान को निर्धारित करने में किसी नये सिद्धान्त का समावेश नहीं होता । उर्वरा शक्ति तथा स्थित की अनुकूलता लगान (rent) की रकम को निर्धारित करने वाली शक्तियों में मुख्य हैं । किसी भी भूमि का लगान सीमान्त भूमि (marginal land) या लगान-रहित भूमि (no rent land) की तुलना में उस पर जितनी अधिक पैदावार उत्पन्न होगी उस बचत के बराबर होगी । किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यदि भूमि की उर्वरा शक्ति अथवा स्थित में भिन्नता नहीं तो लगान ही नहीं होगा । कल्पना कीजिए कि किसी छोटे से द्वीप में केवल एक लाख एकड़ भूमि है और वह एक समान है । उसमे कोई भिन्नता नहीं है प्रत्येक एकड़ से दस मन गेहू उत्पन्न होता है यदि प्रति एकड़ श्रम और पूंजी पर्याप्त मात्रा में लगाई जावे । इस प्रकार कुल उत्पत्ति दस लाख मन गेहू की होती है । मान लीजिए कि प्रति एकड़ श्रम (labour), पूंजी (capital) और सामान्य लाभ (nominal profit) का लागत-व्यय ५० रु० है, अर्थात् प्रति मन उत्पादन-व्यय ५ रु० हुआ । ५ रु० प्रति मन पर दस लाख मन गेहू की माग होती है और केवल उत्पादन-व्यय निकलता है, कोई बचत नहीं होती । अस्तु, उस दशा में भूमि का कोई लगान नहीं दिया जावेगा। अब, यदि उस द्वीप की जनसख्या बढ जाती है तो अधिक गेहू की आवश्यकता होगी । अधिक पैदावार बढाने के लिए भूमि पर अधिक गहरी खेती करनी होगी । यदि प्रति एकड़ पहले की अपेक्षा श्रम और पूजी अधिक लगाई जावेगी तो कुल उत्पादन में वृद्धि तो होगी किन्तु क्रमागत ह्रास-नियम लागू हो जावेगा और जिस अनुपात में श्रम और पूंजी बढाई जावेगी उस अनुपात में उत्पत्ति मे वृद्धि न होकर उससे कम वृद्धि होगी। इस उदाहरण में हम मान लेते हैं कि पूंजी और श्रम को दुगना कर दिया जाता है, परन्तु प्रति एकड़ उत्पत्ति बीस मन न होकर केवल १६ मन होती है । अब श्रम और पूँजी को दुगना करने से अर्थात् ५० रुपया की लागत के श्रम और पूँजी अधिक लगाने से केवल ६ मन गेहू उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पादन-व्यय ८ रु० ५ आ० ४ पा० प्रति मन होता है । कहने का तात्पर्य यह है कि उत्पादन व्यय ५ रु० प्रति मन से बढ कर ८ रु० ५ आना ४ पा० प्रति मन हो गया । उत्पादन-व्यय बढ जाने से गेहूँ की कीमत बढ जावेगी। जब बाज़ार में गेहूँ की कीमत ८ रु० ५ आना ४ पा० हो जावेगी और

की पहली मात्रा से उत्पन्न १० मन गेहूँ
(labour) और पूँजी (capital) प्राप्त होंगे अर्थात् उसे लागत
को वेचकर किसान को ८३ रु० ५ आना ४ पाई की बचत होगी। यही भूमि का लगान
निकाल कर ३३ रु० ५ आना ४ पाई की बचत होगी। यही भूमि का लगान
होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि भूमि एक समान भी हो परन्तु खेती
की पैदावार की माँग अधिक बढने के कारण गहरी खेती करनी पड़े तो क्रमागत
ह्रास नियम (law of diminishing returns) के कारण लगान प्रकट हो
जावेगा और जितना ही अधिक गहरी खेती की जावेगी लगान बढता ही
जावेगा।

लगान का सिद्धान्त (theory of rent) कोई पृथक आर्थिक
सिद्धान्त नहीं है। यह वास्तव मे माग (demand) और पूर्ति (supply)
के सिद्धान्त का एक प्रयोग मात्र है। लगान इस कारण प्रकट होता है क्योंकि
माग की तुलना मे भूमि कम उपलब्ध है अर्थात् उसकी पूर्त्ति कम है।
भूमि की विशेपता केवल इतनी भर है कि भूमि की न्यूनता स्थायी होती है,
किन्तु अन्य वस्तुओं की न्यूनता अस्थायी होती है, उसकी पूर्त्ति कालान्तर
मे बढ़ाई जा सकती है। इस विशेषता के कारण लगान-सिद्धान्त की व्याख्या
करने में जटिलता तो अवश्य उत्पन्न हो जाती है परन्तु वह मूल्य-सिद्धान्त
(theory of value) से किसी भी दशा में भिन्न नहीं है।

लगान और कीमत (Rent and Price) अब हम रिकार्डो के इस
कथन की विशद विवेचना करेंगे कि लगान कीमत का परिणाम है, अस्तु, वह
कीमत को निर्धारित या प्रभावित नही करता। यह हम पहले ही कह चुके हैं
कि आर्थिक लगान (economic rent) श्रेष्ठ भूमि की उत्पत्ति और सीमान्त
भूमि अथवा लगानरहित भूमि की उत्पत्ति के अन्तर के बराबर होता है।
सीमान्त भूमि का कोई लगान नहीं देता। खेती की पैदावार का मूल्य सीमान्त
भूमि के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। अस्तु, लगान मूल्य को निर्धारित
नहीं करता। यह कहना ठीक नहीं है कि क्योंकि लगान अधिक है इस कारण
खेती की पैदावार का मूल्य ऊचा है। वस्तुस्थिति यह है कि क्योंकि खेती का
मूल्य ऊचा है इस कारण लगान ऊचा है। जब कि खेती की पैदावार की
कीमत ऊचा होता है तभी घटिया भूमि पर खेती आरम्भ होती है और बढिया
भूमि पर उत्पादन-व्यय (cost of production) निकाल कर कुछ बचत
अवश्य होती है यही आर्थिक लगान है।

रिकार्डो के इस कथन के बारे में लोगों को बहुत अधिक भ्रम है कि
लगान मूल्य निर्धारित नहीं करता। जहा तक व्यक्ति का प्रश्न है लगान उसके

उत्पादन-व्यय का एक भाग अवश्य होता है। व्यक्ति की दृष्टि से लगान अवश्य ही उसके उत्पादन-व्यय का एक भाग है। परन्तु अर्थशास्त्र में हम व्यक्तिगत बातों या व्यक्ति के दृष्टिकोण से आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन नहीं करते। अर्थशास्त्र में हम समाज के दृष्टिकोण से ही अध्ययन करते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से यदि हम समस्त भूमि की पूर्ति को लें तो भूमि के लिए जो लगान दिया जाता है वह उस वस्तु के उत्पादन-व्यय का भाग नहीं होता। हम यह पहले ही बतला चुके हैं कि सारे उत्पादन-व्यय (expenses of production) वास्तविक अथवा यथार्थ लागत-व्यय (real cost of production) के प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। श्रम (labour) या पूँजी (capital) की पूर्ति (supply) उपलब्ध करने में अनुपयोगिता (disutility) का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, पूँजी बचाने तथा काम करने में कुछ त्याग और श्रम करना पड़ता है। अस्तु, इस अनुपयोगिता के बदले कुछ प्रतिफल देना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि सूद और मजदूरी उत्पादन-व्यय के अनिवार्य अंग हैं। परन्तु भूमि की पूर्ति उपलब्ध करने में इस प्रकार की कोई अनुपयोगिता उपस्थित नहीं होती। वह प्राकृतिक देन है, अस्तु, भूमि की पूर्ति उपलब्ध करने में वास्तविक लागत (real cost) का कोई अंश नहीं होता। यही कारण है कि उत्पादन-कार्य में भूमि की सेवा के लिए दिया जाने वाला लगान अनिवार्य लागत-व्यय (necessary cost of production) का भाग नहीं होता अर्थात् अनुपयोगिता (disutility) को दूर करने के लिए लगान का दिया जाना आवश्यक नहीं है।

कल्पना कीजिए कि मज़दूरी देनी बंद कर दी जावे तो उसका एकमात्र परिणाम यह होगा कि मजदूर उपलब्ध नहीं होंगे। बिना मजदूरी के बहुत कम लोग काम करना पसंद करेंगे। इसके अतिरिक्त जन-संख्या कम हो जायगी क्योंकि बहुत कम लोग अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगे। अस्तु, यदि मजदूरों को यथेष्ट संख्या में प्राप्त करना है तो मजदूरी देनी ही होगी। परन्तु भूमि के साथ ऐसी बात नहीं है। कल्पना कीजिए कि लगान बिलकुल न दिया जाय तो भूमि की पूर्ति कम नहीं हो जावेगी। वह जितनी पहले थी उतनी ही रहेगी और न वह खेती के बाहर हो जावेगी। उस पर खेती होती रहेगी। भूमि पैदा उत्पन्न नहीं किया जा सकता और न उसको बनाये रखने के लिए ही कुछ खर्च करना पड़ता है। यदि लगान कम कर दिया जावे अथवा लगान लेना सर्वथा बंद कर दिया जावे तो इसका भूमि की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा

खेती के लिए पहले जितनी भूमि उपलब्ध थी उतनी फिर भी रहेगी। इस अर्थ में लगान किसी वस्तु के लागत-व्यय का भाग नहीं है।

अपवाद : इस सम्बध में हमें एक बात न भूलनी चाहिए कि यदि हम सारी भूमि को लें तो उसके लिए दिया जाने वाला लगान उसकी उत्पत्ति की क़ीमत का एक अ श नहीं होगा। किन्तु किसी फसल विशेष के लिए भूमि की पूर्ति (supply) सीमित नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि यह निश्चित नहीं है कि चावल केवल इतनी भूमि पर ही उत्पन्न किया जावेगा। भूमि के टुकड़ों का उपयोग बहुत प्रकार से हो सकता है। उसके बहुत से उपयोग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि हमें चावल की अधिक आवश्यकता है और चावल की माग बढ़ जाती है। तो हम चावल की खेती के लिए अधिक भूमि तभी प्राप्त कर सकते हैं जब कि जूट की भूमि पर चावल उत्पन्न करना आरम्भ करें। कल्पना कीजिए कि जो भूमि जूट उत्पन्न करती है वह जूट की खेती की दृष्टि से श्रेष्ठ भूमि है और उसके उपयोग के लिए कुछ लगान दिया जाता है। अब, यदि उस भूमि पर चावल उत्पन्न करना है तो चाहे वह भूमि चावल की खेती के लिए सीमान्त भूमि ही क्यों न हो उतना लगान तो देना ही होगा जितना कि जूट की खेती में उस भूमि का दिया जाता था। यह भूमि का उपयोग परिवर्त्तन-लागत (transfer cost) है और यह चावल के उत्पादन व्यय (production cost) में सम्मिलित होता है। यदि हम समस्त भूमि की पूर्त्ति की दृष्टि से देखें तो लागत-व्यय के अतिरिक्त जो बचत होती है उसे लगान कहते हैं और वह खेती की पैदावार की क़ीमत का एक भाग नहीं होता। परन्तु, जब हम किसी फसल विशेष या उपयोग विशेष की दृष्टि से भूमि की पूर्त्ति का अध्ययन करते हैं तो, जो लगान हमें उसके लिए देना पड़ता है वह बचत नहीं होता, वरन् उस फसल को उत्पन्न करने का लागत-व्यय का एक अ श होता है।

यदि भूमि का अकाल होने से भूमि के स्वामी आर्थिक लगान (economic rent) से अधिक लगान लेने लगें और घटिया भूमि का भी लगान लिया जाने लगे तो वह न्यूनता-लगान (scarcity rent) मूल्य में सम्मिलत हो जावेगा। यदि सरकार अच्छी और बुरी सभी भूमि पर लगान वसूल करने लगे तो जो लगान सीमान्त भूमि पर देना होगा वह मूल्य में सम्मिलत हो जावेगा।

ठेकरारी लगान (Contract Rent) : ऊपर हमने आर्थिक लगान का विवेचन किया। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि व्यवहार में किसान भूमि के मालिक को यही लगान दे। किसान भूमि का जितना लगान देने का इक़रार

करता है उसे इकरारी लगान कहते हैं। अतएव इकरारी लगान किसान और भूमि के मालिक के बीच में आपसी समझौते से निर्धारित होता है। अतएव इकरारी लगान आर्थिक लगान से कम या अधिक भी हो सकता है। यदि देश में खेती के योग्य भूमि की कमी हो और अन्य धंधे या रोजगार न हों, तो, यदि भूमि के मालिक चाहें तो आर्थिक लगान से अधिक लगान वसूल कर सकते हैं। इकरारी लगान आर्थिक लगान से उस दशा में कम भी हो सकता है कि जब लगान दस्तूर से निर्धारित हो अथवा भूमि का मालिक ही उदारता पूर्वक कम लगान पर भूमि उठा दे।

इमारतों के उपयोग में आने वाली भूमि का लगान (Urban Site Rent) : शहरों में इमारतों के उपयोग में आने वाला लगान भी उसी नियम के अनुसार निर्धारित होता है जिससे खेती की भूमि का लगान निर्धारित होता है। किन्तु इमारती भूमि में उवर्राशक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। उसमें स्थित की अनुकूलता के अनुसार लगान में भिन्नता होती है। कुछ प्लाटों की स्थित बहुत अच्छी होती है, अन्य प्लाटों की स्थित खराब होती है। उदाहरण के लिए, रहने के मकानों का लगान तथा दूकानों का लगान उनकी अनुकूल स्थित के अनुसार भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, यदि सड़कें चौड़ी हैं, पार्क इत्यादि पास हैं तथा स्कूल और बाजार पास हैं ऐसी स्थिति में मकान का किराया अधिक होगा। सबसे घटिया प्लाट की तुलना में अच्छी स्थित के अनुसार अच्छे प्लाटों का लगान अधिक होगा। शहर के जिस भाग में धनी व्यक्ति रहते हैं, जहाँ सड़कें चौड़ी, साफ और जलवायु स्वस्थ प्रद हैं, अथवा जहाँ व्यापार का केन्द्र है वहाँ की भूमि का लगान अधिक होगा और जो प्लाट व्यापारिक केन्द्र से बहुत दूर होते हैं वे ही सीमान्त प्लाट (marginal plots) हैं। इन सीमान्त प्लाटों से जिनकी स्थित अधिक अनुकूल है उन पर लगान दिया जाता है।

जब किसी शहर या औद्योगिक केन्द्र में मकानों के लिए उपयुक्त भूमि की बहुत कमी हो जाती है, और जनसंख्या बढ जाती है, तो प्लाटों पर अधिक पूँजी (capital) लगाकर उस पर कई मंजिलें बनाकर उसका गहरा उपयोग (intensive use) किया जाता है। अस्तु, इससे भी लगान प्रकट हो जाता है। इमारतों में भी क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) लागू हो जाता है। कुछ मंजिलें बना लेने के उपरान्त सीमान्त मंजिल आ जावेगी जिसका किराया उसके प्रबन्ध, मरम्मत तथा उसमें लगी पूँजी के सूद के बराबर होगा। यही सीमान्त मंजिल होगी। ऊपर की मंजिलों का किराया

कम मिलता है क्योंकि ऊपर की मजिलों में ग्राहक माल खरीदने कम जाते हैं। अस्तु, सीमान्त मजिल के बाद मालिक अधिक मजिल नहीं खड़ी करेगा। सीमान्त मजिल से नीचे की मजिलों का जितना अधिक किराया आता है वही उस भूमि का लगान है।

एक बात ध्यान में रखने की है कि, यदि दूकानदार शहर के बीच चौके का दूकान लेता है और २५० रु० मासिक उसका किराया देता है तो उसका यह अर्थ नहीं है कि अपने ग्राहकों से चीजों का मूल्य अधिक लेता है। सक्षेप में लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भूमि के मूल्य और लगान से बिना प्रयास वृद्धि (Unearned Increment) रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की व्याख्या करते समय यह बतलाया जा चुका है कि भूमि के परिमित होने के कारण और उसकी माँग बढ़ने के कारण लगान प्रकट होता है। जैसे-जैसे जनसख्या बढती जाती है, उद्योग धधों की उन्नति से मनुष्यों की आर्थिक स्थिति में उन्नति होती है। यातायात के साधनों से मनुष्यों के आने-जाने तथा माल ढोने मे सुविधा होती है, वैसे ही भूमि की अधिकाधिक माँग बढती है। केवल खेती के योग्य भूमि का ही नहीं, इमारतों के उपयोग मे आने वाली भूमि की भी माँग बढती जाती है। अस्तु, भूमि की कमी होने के कारण उसका मूल्य तथा लगान बढ जाता है। भूमि की कीमत या लगान मे इस बढती का लाभ भूमि के मालिक को मिलता है। किन्तु भूमि का मालिक भूमि को कीमती बनाने के लिए न तो कुछ परिश्रम ही करता है और न कोई पूँजी ही लगाता है। सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति के फलस्वरूप भूमि का मूल्य तथा लगान अनायास ही बढ़ जाता है। इसको अनायास वृद्धि (unearned increment) कहते हैं। उदाहरण के लिए, किसी नगर के उपनिवेशों अथवा नगर से कुछ दूरी पर स्थित स्थानों (suburbs) का आरम्भ मे लगान या किराया बहुत कम होता है, किन्तु जैसे-जैसे नगर फैलता जाता है, उसकी जनसंख्या बढती जाती है वैसे-वैसे वहाँ भूमि का मूल्य बढता जाता है और प्लाटो के लगान में वृद्धि होती जाती है। इसी प्रकार नई सड़कें बनने पर या नया पार्क बनने पर या बाजार स्थापित हो जाने पर उसके समीप के मकानों का किराया बढ जाता है, यद्यपि उनके मालिकों ने उनका मूल्य बढ़ाने के लिए कोई भी परिश्रम या खर्च नहीं किया। यदि किसी प्रदेश में रेल निकल जाती है अथवा समीप मे ही कोई औद्योगिक केन्द्र या मंडी स्थापित हो जाती है तो खेती की भूमि का मूल्य या लगान भी बढ़ जाता है। बिना प्रयास वृद्धि के हमें अनेक उदाहरण प्रति दिन देखने को

मिलते हैं। बिना प्रयास वृद्धि को लेकर बहुत राजनैतिक विवाद चलता है। समाजवादी लोग यह कहते हैं कि राज्य को इसको जब्त कर लेना चाहिए क्योंकि यह सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती है भूमि के मालिक के किसी परिश्रम का फल नहीं है। अर्थमन्त्री बिना प्रयास वृद्धि पर ऊँचा कर (tax) लगाना उचित समझते हैं।

खानों का लगान (Rent of Mines) : खानों और खेती की भूमि में एक भिन्नता है ? खानें कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। जब उनमें से धातु निकाल ली जाती है तो वे बेकार हो जाती हैं। परन्तु खेती की भूमि से लगातार पैदावार उत्पन्न की जाती है। अतएव खान की भूमि का पट्टा लेने वाला भूमि के मालिक को रकम देता है, उसमें रायल्टी और लगान दोनों ही सम्मिलित होते हैं। रायल्टी खान में से धातु निकालने के लिए दी जाती है और लगान सीमान्त खान (marginal mine) की तुलना में श्रेष्ठता के लिए दिया जाता है। कुछ खानें ऐसी होती हैं जो सीमान्त खानें होती हैं, जिनमें से खनिज पदार्थ निकालने से लागत-व्यय मात्र निकलता है, कोई आर्थिक बचत नहीं होती। कुछ खानें ऐसी होती हैं जो या तो अच्छे मौके पर स्थित हैं या उनमें खनिज पदार्थ बहुत गहराई पर मिलता है, अथवा अन्य सुविधाओं के कारण खनिज पदार्थ निकालने का खर्च उनमें कम पड़ता है। किन्हीं-किन्हीं खानों में कच्चे खनिज पदार्थ में शुद्ध धातु का प्रतिशत अधिक होता है, इत्यादि। वे बढ़िया खानें कहलाती हैं। अतएव सीमान्त खानों की तुलना में इनका लगान अधिक होगा।

खान के सम्बन्ध में भी उसका विस्तृत उपयोग (extensive use) और गहरा उपयोग (intensive use) होता है। और दोनों उपयोगों में लगान प्रकट होता है।

खानों को पट्टे पर लेने वाला दो प्रकार का भुगतान करता है। एक वह वार्षिक लगान देता है जो उसी सिद्धान्त पर निर्धारित है जिस पर खेती की भूमि का लगान आधारित होता है। दूसरा रायल्टी का भुगतान होता है जो प्रति टन धातु निकालने पर लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि क्या रायल्टी लगान है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल का कथन है कि रायल्टी खान में से धातु निकालने के लिए क्षति-पूर्ति के रूप में दी जाती है, अस्तु, वह लगान से भिन्न है। किन्तु 'टाजिग' का मत इससे भिन्न है। उसका कहना है कि सबसे घटिया खान का मालिक किसी प्रकार का भी भुगतान नहीं पा सकता फिर चाहे वह रायल्टी के रूप में हो अथवा लगान के रूप में हो। इस प्रकार की खानें सीमान्त

खानें होती हैं और उनको खोदने से किसी भी प्रकार की बचत नहीं हो सकती। 'टाजिग' का कहना है कि जो रायल्टी अच्छी खानों के लिए दी जाती है वह वास्तव में 'लगान' है। क्योंकि सबसे घटिया खान न तो रायल्टी ही दे सकती है और न जिसे लगान कहा जाता है वही दे सकती है।

मछलियों का लगान : समुद्र-तट के पास मछलियाँ बहुत अधिक पाई जाती हैं, अतएव उनको बिना अधिक कठिनाई के पकड़ा जा सकता है। परन्तु जहाँ कहीं मछलियाँ या तो कम होती हैं अथवा वे समुद्र-तट से बहुत दूरी पर और गहराई पर पाई जाती हैं, अतएव उनको पकड़ने में अधिक व्यय और परिश्रम करना पड़ता है। अतएव ऐसे सीमान्त मछली क्षेत्रों (marginal fisheries) की तुलना में उत्तम मछली क्षेत्रों का लगान निर्धारित होता है।

योग्यता लगान (Rent of Ability) : यदि व्यवसाय अथवा पेशों में लगे हुए व्यक्तियों की आय का हिसाब लगाया जाव तो मालूम होगा कि एक ही धंधे अथवा पेशे में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आय भिन्न है। इसका कारण यह है कि कुछ व्यक्तियों में जन्मजात विशेष गुण हैं। यदि देखा जावे तो प्रत्येक व्यवसाय अथवा पेशे में कुछ व्यक्ति सीमान्त योग्यता के होते हैं, और जो विशेष योग्यता के व्यक्ति होते हैं उन्हें सीमान्त योग्यता वाले व्यक्तियों से अधिक आय प्राप्त होती है। यह अधिक आय उनकी योग्यता का लगान है।

आर्थिक प्रगति का लगान पर प्रभाव : लगान के सम्बंध में इतना अध्ययन कर लेने के बाद हमें यह देखना है कि आर्थिक उन्नति का लगान पर क्या प्रभाव पड़ेगा। सबसे पहले खेती में सुधार का लगान पर क्या प्रभाव होगा हम इसका अध्ययन करेंगे। कल्पना कीजिए कि बढ़िया वैज्ञानिक खाद का आविष्कार होने से; खेती के यन्त्रों में सुधार होने से अथवा उत्तम बीज के द्वारा उत्पादन विधि में उन्नति हो जाती है और वैज्ञानिक खेती के कारण प्रति एकड़ उत्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। खेती की उत्पादनविधि में उन्नति होने का असर यह होता है कि भूमि का लगान कम हो जाता है। यदि खेती की पैदावार की मांग पूर्ववत् रहे, जनसंख्या में विशेष वृद्धि न हो और खेती की उन्नति हो अर्थात् प्रति एकड़ उत्पत्ति अधिक हो जावे तो पहले की अपेक्षा कम भूमि से पूर्ववत् मांग (demand) पूरी हो जावेगी और जो घटिया भूमि अभी तक काम में लाना आवश्यक मालूम पड़ता था उसे अब काम में लाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसका परिणाम यह होगा कि सीमान्त भूमि और भूमि की उपज का अन्तर कम हो जावेगा क्योंकि अब सीमा- (marginal land) पहले की सीमान्त भूमि से बढ़िया

प्रकार की भूमि का लगान कम हो जावेगा। यदि उत्पादन-विधि में जो उन्नति हुई है वह केवल उत्तम भूमि तक ही सीमित रहेगी तो लगान में वृद्धि होगी क्योंकि सीमान्त भूमि और बढिया भूमि का अन्तर पहले की अपेक्षा अधिक हो जावेगा। इसी प्रकार यदि उत्पादन-विधि की उन्नति केवल घटिया भूमि से सम्बध रखती है तो लगान में कमी होगी क्योंकि सीमान्त भूमि और अच्छी भूमि की उपज का अन्तर कम हो जावेगा।

दूसरा सुधार जिस पर हमें विचार करना है यातायात (transport) के साधनों में उन्नति से सम्बध रखती है। यदि यातायात के साधनों की उन्नति होने का परिणाम यह होता है कि एक देश की पैदावार अथवा एक प्रदेश की पैदावार दूसरे देश या प्रदेश को भेजी जाने लगे तो उसका असर लगान मे वृद्धि होना होगा। क्योकि भूमि की पैदावार की माँग बढेगी, सीमान्त भूमि और भी घटिया भूमि हो जावेगी और उत्तम भूमि तथा सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर बढ़ जावेगा। इसके विपरीत जिस देश में वह उपज भेजी जावेगी वहा लगान में कमी होगी। जब स्वेज नहर के बन जाने पर सस्ता अनाज पूर्वीय देशों से इगलैड मे आने लगा तो वहां भूमि का लगान बहुत गिर गया था।

जनसख्या की वृद्धि का लगान पर क्या प्रभाव पड़ता है अब हम इसका अध्ययन करेंगे। जनसख्या की वृद्धि का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थों, जैसे खाद्य पदार्थों, की माग बढ जावेगी। इस बढी हुई माग को पूरा करने के लिए अनाज की उत्पत्ति बढानी होगी वह दो प्रकार से सम्भव हो सकती है। या तो मौजूदा खेती की भूमि पर और अधिक गहरी खेती की जाव या नई भूमि पर जो घटिया हो उस पर खेती की जावे। दोनों ही बातों का एक ही प्रभाव होगा कि सीमान्त भूमि पहले की अपेक्षा और आगे हट जावेगी। यदि अभी १० रु के व्यय से २ मन गेहूँ उत्पन्न करने वाली भूमि सीमान्त भूमि थी तो अब १० रु० के व्यय से १० मन गेहूँ उत्पन्न करने वाली भूमि सीमान्त भूमि समझी जाने लगेगी और गेहूँ का मूल्य ५ रु० प्रति मन से बढ कर १० रु० प्रति मन हो जावेगा। और क्योंकि सीमान्त भूमि (marginal land) और दूसरी भूमि की उपज मे अब पहले से अन्तर अधिक हो जावेगा इसलिए इसका असर लगान का बढ़ना होगा। लगान के बढने का एक कारण और भी होगा, और वह यह कि अन्य कामों के लिए, जैसे बाग आदि के लिए, भूमि की माँग बढ़ जावेगी। अस्तु, जनसख्या की वृद्धि का असर लगान वृद्धि होगा।

अन्त में यदि हम एक परिस्थिति का विचार न करके सम्पूर्ण आर्थिक
ति का विचार करें तो हमारा किसी एक निश्चय पर पहुँचना सम्भव नहीं
। आर्थिक प्रगति एक व्यापक शब्द है। उसमें कुछ ऐसी परिस्थितियां होंगी,
जनसंख्या की वृद्धि, जिसका असर लगान को बढ़ाना होगा और कुछ ऐसी
रिस्थितियां होंगी जिनका असर लगान का कम करना होगा। कुल मिलाकर
परिस्थितियाँ अधिक व्यापक और बलवती होंगी उन्हीं के अनुसार लगान
र असर होगा। लगान अधिक भी हो सकता है और कम भी हो सकता है।
साधारण अनुभव यह है कि आर्थिक प्रगति का असर लगान को बढ़ाना होगा।

आभास लगान (Quasi Rent)· आभास लगान के सम्बन्ध में
पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने लिखा था। अर्थशास्त्र मे इस विचार
प्रवेश करने का श्रेय मार्शल को ही है। आभास लगान से उसका तात्पर्य
[illegible]न तथा अन्य यन्त्रों से, जो कि मनुष्य द्वारा निर्मित हों, मिलने वाली आय
है। मार्शल का कहना है कि भूमि तथा प्राकृतिक देन की पूर्ति
supply) सदैव के लिए निश्चित है, वह बढाई नहीं जा सकती। परन्तु
[illegible]नें तथा यन्त्र जिनका निर्माण मनुष्य ने किया है उनकी पूर्ति अल्पकाल की
[illegible]म निश्चित होती है, शीघ्र बढाई नहीं जा सकती, परन्तु लम्बे समय में
[illegible]की पूर्ति बढाई जा सकती है। यह हम पहले ही पढ चुके हैं कि उत्पत्ति का
[illegible] साधन जिनकी पूर्ति सदैव के लिए निश्चित है बढाया नहीं जा सकता।
[illegible]न होने वाली आय को लगान (rent) कहते हैं। यदि पूर्ति का परिमित
[illegible]ना ही लगान को उत्पन्न करता है तो हम प्रत्येक जायदाद (property) से
[illegible]की पूर्ति स्थायी अथवा अस्थायी रूप से परिमित है—होने वाली आय को
[illegible]गान के रूप में मान सकते हैं। मार्शल का कहना है कि जिन वस्तुओं की
[illegible]स्थायी रूप से परिमित है उनसे होने वाली आय को 'लगान' कहना
[illegible]है और जिनकी पूर्ति अस्थायी रूप से परिमित है उनसे होने वाली आय
[illegible] 'आभास लगान' (quasi rent) कहना चाहिए। मार्शल इस आय
'लगान' इस कारण कहना चाहता है क्योंकि इसका रूप लगान
[illegible] है और क्योंकि उसकी पूर्ति परिमित है। साथ ही वह इस
[illegible] 'आभास लगान' (quasi rent) इस कारण कहता है क्योंकि उस
[illegible] की पूर्ति स्थायी रूप से नहीं वरन् अस्थायी रूप से परिमित है। एक
[illegible] का लेकर इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि
[illegible] में मोटर या जीप गाड़ी तथा माइक्रोफोन की माँग एक साथ बढ़ जाती
[illegible] उनका मूल्य भी एक साथ अधिक बढ़ जावेगा। ऐसी दशा में ये

घिसी हुई पुरानी गाड़ियाँ तथा माइक्रोफोन जो कि बेकार पड़े थे लोग उनको भी काम में लावेंगे। किन्तु, यदि यह माँग स्थायी रूप से बढ़ जावे तो लम्बे समय में मोटरगाड़ियों तथा माइक्रोफोन की पूर्त्ति बढ़ जावेगी और उनका मूल्य तथा उनसे मिलने वाला भाड़ा गिर जावेगा। ऐसी दशा में मोटर-गाड़ियों तथा माइक्रोफोन से मिलने वाली आय 'आभास लगान' होगा। मार्शल ने मछलियों का उदाहरण दिया है। यदि मछलियों की माँग एक साथ बढ़ जावे तो उनकी कीमत बढ़ जावेगी और मछुये पुरानी नावों और जालों को जो बेकार पड़े थे उनको भी काम में लाने लगेंगे, फिर भी पूर्त्ति माँग के बराबर नहीं होगी और मछली की कीमत ऊँची रहेगी। यदि मछलियों की माँग स्थायी रूप से बढ़ जावे तो फिर नई नावें और जाल बनाये जावेंगे तथा अधिक लोग मछलियाँ पकड़ने का काम करने लगेंगे। उस दशा में मछलियों की कीमत फिर गिर जावेगी। अस्तु, नावों तथा जालों से मिलने वाली आय को मार्शल आभास लगान कहता है। मार्शल ने यह उदाहरण यह बतलाने के लिए चुना था कि मनुष्य द्वारा निर्मित यन्त्र अथवा मशीनें कुछ समय के लिए कम पड़ सकती हैं लेकिन लम्बे समय में उनकी पूर्त्ति को बढ़ाया जा सकता है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि मनुष्य निर्मित उपकरणों में होने वाली सामान्य आय (normal income) से जितनी अधिक आय होगी उसको ही 'आभास लगान' कहा जावेगा। फ्लक्स तथा अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि इन उपकरणों से होने वाली समस्त आय 'आभास लगान' नहीं होती वरन् सामान्य आय से जितनी अधिक होती है वही, आभास लगान, कहलाती है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। मनुष्य निर्मित उपकरणों से होने वाली सम्पूर्ण आय 'आभास लगान' है न कि केवल सामान्य आय से अतिरिक्त आय को ही 'आभास लगान' कहा जाना है।

आभास लगान में तथा लगान में समानता तथा असमानता

आभास लगान तथा लगान में समानता यह है कि अल्पकाल में मशीनों तथा अन्य उपकरणों की पूर्त्ति निश्चित होती है, बढ़ाई नहीं जा सकती। अस्तु, अल्पकाल में इन उपकरणों से होने वाली आय का उत्पन्न होने वाली वस्तु की क़ीमत में वही सम्बन्ध होता है जो कि लगान का भूमि से होता है। किन्तु आभास लगान तथा लगान में असमानता भी होती है। पुराने देशों में भूमि की पूर्त्ति स्थायी रूप से सीमित होती है, परन्तु मनुष्य निर्मित उपकरणों की पूर्त्ति स्थायी रूप से माँग बढ़ने पर बढ़ाई जा सकती है। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि भूमि के स्थायी रूप से परिमित होने के कारण 'लगान' स्पष्ट

ा है और लगान का खेती की पैदावार के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं
ता। किन्तु अल्पकाल मे मनुष्य निर्मित उपकरणों की पूर्ति न बढ सकने के
ारण अर्थात् परिमित होने के कारण उनसे मिलने वाली आय उनके लागत-
य की तुलना में बहुत अधिक हो जाती है। किन्तु लम्बे काल मे 'आभास
गान' वास्तविक बचत नहीं होती। सब आभास लगानो का योग पूँजी
ी सामान्य आय के बराबर होनी है। अस्तु, यदि हम लम्बे काल को लें
ो 'आभास लगान' वास्तविक बचत नहीं होती वरन् वह उत्पादन-व्यय (cost
of production) का एक अंश होती है। अस्तु, अल्पकाल मे वह एक
अनावश्यक लाभ होता है और लम्बे काल में वह सामन्य लाभ (normal
profit) का एक आवश्यक अङ्ग होता है।

मार्शल ने एक दूसरे अर्थ में भी 'आभास लगान' का उपयोग किया है।
नका कहना है कि 'आभास लगान' लाभ और मजदूरी का एक भाग है।
नुष्य की आय का वह भाग जो उसकी अर्जित योग्यता के कारण प्राप्त होता
ै 'आभास लगान' का एक रूप है। प्रत्येक व्यक्ति जब किसी लाभदायक
ाम के लिए शिक्षा प्राप्त करता है तो उसमे पूँजी लगाता है। अस्तु, वह अपनी
स अर्जित योग्यता के फलस्वरूप जो आय प्राप्त करता है वह 'आभास लगान'
ाता है। यह आय योग्यता-लगान (rent of ability) से भिन्न है।
ि वह योग्यता प्रकृति दत्त होती है, जिस प्रकार भूमि प्राकृतिक देन है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मार्शल अपनी 'आभास
ान' की पहली परिभाषा, अर्थात् वह मनुष्य निर्मित उपकरणों मे होने वाली
ि है, पर दृढ नहीं रहता। कैनन ने ठीक ही कहा है कि मार्शल का दूसरे
ि मे 'आभास लगान' का उपयोग करना उचित नहीं है। एक मशीन या
ण का स्वामी होने मे और व्यक्तिगत गुणों का स्वामी होने मे बहुत
ै। जो आय किसी व्यक्ति को उसके श्रम के फलस्वरूप मिलती है
से यह निकालना कि कितनी आय उसके साधारण श्रम के कारण है
ि कितनी आय उसके व्यक्तिगत गुणों के कारण प्राप्त हुई है असम्भव है।
ि श्रम से होने वाली सम्पूर्ण आय को एक साथ लेना चाहिये। भिन्न-भिन्न
ि की आय मे जो अन्तर होता है वह उनकी प्रकृतिदत्त योग्यता तथा
ि योग्यता के कारण होता है।

———

परिच्छेद ५२

मज़दूरी (Wages)

श्रम (Labour) दूसरा महत्त्वपूर्ण उत्पत्ति का साधन (factors production) है। उसके प्रतिफल को मजदूरी कहते हैं। मजदूरी शब्द उपयोग विस्तृत और सकुचित दोनों ही अर्थों मे किया जाता है। विस्तृत मे मज़दूरी का अर्थ उस भुगतान (payment) से है जो कि श्रम की सेव लिए किया जाता है। श्रम से हमारा अर्थ सभी प्रकार की व्यक्तिगत सेव मे है। उदाहरण के लिए, कोई व्यवसायी यदि अपने धंधे या कारखाने प्रवन्ध स्वय ही करता है, तो उसको प्रबंध करने के उपलक्ष में जो आय है वह उसकी मज़दूरी होगी। एक कारीगर जो स्वतंत्र रूप से अपना कार करता है स्वय अपना मालिक होता है, और उसको अपने श्रम के बदले म मिलता है वह उसकी मज़दूरी होगी।

(१) कुछ लेखक मज़दूरी का सकुचित अर्थों में प्रयोग करते हैं। बेन ने मजदूरी (wage) की व्याख्या इस प्रकार की है, "मज़दूरी वह मुद्रा-रा (sum of money) है जो कि एक मालिक मजदूर को उसकी सेवा उपलक्ष में पूर्व निर्धारित दर से देता है।" यदि मज़दूरी की हम इस व्याख को स्वीकार करें तो भारत मे बहुत थोड़ी सख्या में ही मजदूरी पाने वा व्यक्ति मिलेंगे। क्योंकि भारत मे अधिकाश किसान और गृह उद्योग धंधों लगे हुए कारीगर स्वतत्र उत्पादक होते हैं।

हम मजदूरी शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थों मे जो वार्षिक दी जावे ‘वेतन’ कहते हैं। जो मजदूरी डाक्टर, वकील तथा ऐसे अन्य पेशेवर व्यक्ति से सेवा लेने पर दी जावे उस शुल्क या फीस कहते हैं। और जो कुछ साधा श्रमजीवी, फिर चाहे वह कुशल या दक्ष श्रमजीवी हो, पाता है उसे केवल मज़ (wage) कहेंगे।

(२) मजदूरी देने की पद्धति के अनुसार हम मजदूरी को सम के अनुसार मजदूरी (time wages) और काम के अनुसार मजदू (piece wages) मे बॉट सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम मिट्टी खोद के लिए मजदूर रखते हैं। मजदूरी देने का एक तरीका तो यह हो सकता

कि हम दिन भर के लिए (आठ घंटे काम) एक रुपया प्रति दिन मजदूरी दें,
दूसरा तरीका यह है कि हम प्रति घन फुट (per cubic foot) एक आना
के हिसाब से मजदूरी दें। जो मजदूर जितनी मिट्टी खोदेगा उसी हिसाब से
मजदूरी पावेगा।

(३) जिस रूप में मजदूरी दी जाती है उसके आधार पर भी हम
मजदूरी का वर्गीकरण वास्तविक मजदूरी (real wage) और नाममात्र मजदूरी
(nominal wage) में कर सकते हैं। नाममात्र मजदूरी मुद्रा (money)
के रूप में दी जाने वाली मजदूरी को कहते हैं। वास्तविक मजदूरी (real
wage) से हमारा अर्थ उस तृप्ति (satisfaction) या संतोष से है जो उस
मजदूर को प्राप्त होती है। वास्तव में मजदूर की समृद्धि या सुख वास्तविक
मजदूरी पर निर्भर है न कि नाममात्र की मजदूरी पर। मजदूरी (wage) से
हमारा अर्थ राष्ट्रीय आय (national dividend) के उस भाग से है, जो
उन लोगों को मिलती है जो अपने हाथों से या अपने मस्तिष्क से काम
करते हैं, फिर चाहे वे स्वतंत्र रूप से कार्य करते हों अथवा किसी मालिक के
यहाँ काम करते हों। यद्यपि मजदूरी शब्द से हमारा तात्पर्य मजदूरी के विस्तृत
अर्थ से है, परन्तु हम उन सिद्धान्तों की यहाँ विवेचना करेंगे जिनसे दूसरों के
लिए काम करने वालों की मज़दूरी निर्धारित होती है। जिस प्रकार दूसरों के
लिए काम करने वालों की मजदूरी निर्धारित होती है ठीक उसी प्रकार स्वतंत्र
रूप से काम करने वालों की मजदूरी निर्धारित होती है। यहाँ एक बात का ध्यान
रखना चाहिए कि स्वतंत्र काम करने वाले श्रमजीवियों की मज़दूरी दूसरों के
लिए काम करने वाले मजदूरों की अपेक्षा अधिक घटती-बढ़ती है। इसका
कारण है कि स्वतंत्र रूप से काम करने वालों को धंधे या कारबार की जोखिम
भी उठाना पड़ती है, किन्तु दूसरों के लिए काम करने वाले मजदूरों
को इस प्रकार की जोखिम नहीं उठानी पड़ती। व्यवसायी या मालिक उस
की जोखिम उठाता है।

मज़दूरी का वर्गीकरण मजदूरी का हम भिन्न दृष्टिकोण से वर्गीकरण
कर सकते हैं:—एक दृष्टिकोण तो यह है कि मज़दूरी का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न वर्ग
[illegible] के आधार पर किया जावे। उस दशा में हम वेतन (salary), शुल्क
[illegible] या केवल मजदूरी (wage) कहेंगे। मजदूरी को सामान्य या
[illegible] सामान्य मजदूरी (general wages) और [illegible] मज़दूरी
([illegible] wages) में विभक्त किया जाता है। सामान्य मजदूरी
[illegible] अर्थ यहाँ किसी सामान्य मजदूरी की दर से नहीं है। [illegible] में किसी

देश में मजदूरी की कोई सामान्य दर ही नहीं होती। यद्यपि जबकि अधिका मजदूरी गिरती या उठती है तो हम कहते हैं कि सामान्य मजदूरी गिरी या ऊँ उठी। यहाँ सामान्य मजदूरी से हमारा तात्पर्य राष्ट्रीय आय (nation dividend) के उस भाग से है जो कि श्रम को मिलता है। सापेक्ष मजदू (relative wages) से हमारा अर्थ भिन्न-भिन्न धंधों और पेशों में मजदू की भिन्नता और एक ही पेशे या धंधे में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मजदूरी भिन्नता से होता है। सापेक्ष मजदूरी सिद्धान्त में हम उन कारणों का अध्य करते हैं कि जिनसे भिन्न-भिन्न धन्धों और पेशों में मजदूरी भिन्न होती है औ एक ही पेशे में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की मजदूरी भिन्न होती है।

नाममात्र मजदूरी (Nominal Wage) और वास्तविक मजदू (Real Wage). जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि नाममात्र मजदूरी मुद्रा या रुपए-पैसे में चुकाई जाती है। इसे हम नकद मजदूरी भी कह हैं। नकद मज़दूरी से मजदूरों की ठीक दशा का अनुमान नहीं होता। उदाहर के लिए, 'क' को एक गाँव में प्रतिदिन एक रुपया मजदूरी मिलती है औ 'ख' को कानपुर में प्रतिदिन १ रुपया मजदूरी मिलती है। यद्यपि नकद मजदू दोनों की बराबर है परन्तु दोनों की आर्थिक स्थित में बहुत भेद होगा। गाँ गाँव में खाने-पीने की चीजें सस्ती होंगी, मकान का किराया इत्यादि कुछ देना पड़ेगा। इसके विपरीत कानपुर में खाद्य-पदार्थ मँहगे होंगे तथा मका का किराया इत्यादि भी देना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि 'क' जित आराम से रह सकेगा उतने आराम से 'ख' नहीं रह सकेगा। अतएव दोनों वास्तविक मजदूरी जानने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों को जित मजदूरी मिलती है उसके द्वारा वे कितनी अनिवार्य आवश्यकताएँ (nece saries), आराम की वस्तुएँ (comforts) और विलासिता (luxuries की वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। यदि इस दृष्टि से 'क' और 'ख' की मजदू का विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि 'क' की वास्तविक मजदूरी 'ख' अधिक है। अतएव वास्तविक मजदूरी वे अनिवार्य आवश्यकताएँ और, आरा और विलासिता के पदार्थ हैं जो कि मजदूर को अपने श्रम से प्रतिफल स्व मिलते हैं।

वास्तविक मजदूरी किस प्रकार मालूम की जावे : वास्तविक मजदू (real wage) को जानने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देन आवश्यक है —

(१) मुद्रा की क्रय-शक्ति (Purchasing Power of Money)

र हम एक समय पर प्रचलित मजदूरी को दूसरे समय पर प्रचलित मजदूरी से या एक स्थान की मजदूरी से दूसरे स्थान की मजदूरी की तुलना करते हैं तो द्रा (money) की क्रय-शक्ति को ध्यान में रखना होगा। उदाहरण के लिए, दि एक व्यक्ति को एक गाँव में १०० रु० प्रति मास मिलते हैं तो उसकी तना में बम्बई में १०० रुपये पानेवाले की वास्तविक आय कम होगी, क्योंकि व में रुपए की क्रय-शक्ति बम्बई की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार अमेरिका और ब्रिटेन में मजदूरी बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है। वह वास्तव में उतनी अधिक नहीं है जितनी दिखलाई पड़ती है, क्योंकि वहाँ कीमतें अधिक हो सकती । १९३८ में १०० रुपए की क्रयशक्ति १९५० में २०० रुपए की क्रयशक्ति से हीं अधिक थी। १९५० में १५० रुपए पानेवाले की वास्तविक मजदूरी १९३८ में १० रुपए पाने से कहीं अधिक थी।

२—अतिरिक्त आय . दूसरी बात जिसको ध्यान में रखना है वह यह कि मजदूर को नियमित नकद मजदूरी के अतिरिक्त वस्तुओं या मुद्रा (money) रूप में और कुछ मिलता है या नहीं। उदाहरण के लिए, घरेलू नौकरों को भोजन वस्त्र और रहने का मकान मुफ्त में मिलता है। गाँव के मजदूर को नकद मजदूरी के अतिरिक्त चबेना और तम्बाकू मिलती है। अध्यापकों को ट्यूशन तथा परीक्षा सम्बन्धी कार्य के लिए शुल्क मिलता है। एक डाक्टर वेतन के अतिरिक्त निजी प्रैक्टिस कर सकता है। रेलवे कर्मचारियों को मकान, पानी, बिजली नौकर और रेल-यात्रा के लिए कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता। एवं अन्य जो भी सुविधाएँ, वस्तुएँ अथवा रुपया जो मजदूर को नियमित नकद मजदूरी के अतिरिक्त मिलता है उन सबको वास्तविक मजदूरी (real wage) में सम्मिलित करना होगा।

३—कार्य की दशा . मजदूर को किस प्रकार कार्य करना पड़ता है वास्तविक मजदूरी जानने के लिए यह भी जानना आवश्यक है। कुछ काम स्वास्थ्य-कर होते हैं, कुछ काम करने से स्वास्थ्य क्षीण होता है, कोई-कोई काम ऐसे होते हैं जिनमें काम के घण्टे कम होते हैं और कुछ में काम के घण्टे अधिक होते हैं। कोई-कोई कार्य आनन्ददायक होता है, कुछ काम ऐसे होते हैं कि जिनको करने से आनन्द प्राप्त नहीं होता, वरन् कष्ट होता है। यदि कार्य ऐसा है जिससे मजदूर की आयु घटती है तो उसकी नकद मजदूरी अधिक होने पर भी वास्तविक मजदूरी कम होगी। उदाहरण के लिए, एञ्जिन-ड्राइवरों और स्टोकर काम करने वाले मजदूरों का जीवन नष्ट हो जाता है। अस्तु, उनको नकद जो मजदूरी मिलेगी वह कम होगी। वास्तविक मजदूरी को जानने

के लिए ऊपर लिखी सभी बातों को ध्यान में रखना होगा।

अतिरिक्त आय की सम्भावन : कोई कोई कार्य ऐसे होते हैं जिनमें अतिरिक्त आय प्राप्त करने की सुविधा रहती है। यदि किसी को थोड़े समय ही नौकरी पर जाना पड़ता हो तो शेष समय में वह अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, कालेज तथा स्कूल के अध्यापक ट्यूशन या पुस्तकें लिख कर अतिरिक्त आय प्राप्त करते हैं। डाक्टर वेतन के अतिरिक्त निजी प्रैक्टिस से आय प्राप्त कर लेते हैं। वास्तविक मजदूरी को जानने के लिए अतिरिक्त आय की सम्भावना को भी ध्यान में रखना होगा।

नौकरी का स्थायित्व : वास्तविक मजदूरी को जानने के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि जो काम एक मजदूर कर रहा है वह स्थायी है अथवा अस्थायी है। यदि कोई मजदूर स्थायी रूप से कार्य करता है और दूसरे को कभी-कभी काम मिल जाता है, तो, यदि उन्हें प्रतिदिन मजदूरी एक समान मिलती है तो भी स्थायी रूप से काम करने वाले मजदूर की वास्तविक मजदूरी अधिक होगी। उदाहरण के लिए, एक राज या खेत-मजदूर वर्ष भर लगातार काम नहीं पाते। उन्हें वर्ष के कुछ महीनों में ही काम मिलता है।

भावी उन्नति की सम्भावना कोई-कोई कार्य ऐसे होते हैं जिनमें आरम्भ में मजदूरी या वेतन कम मिलता है किन्तु भविष्य में पदोन्नति और वेतन वृद्धि की सम्भावना अधिक रहती है। ऐसे स्थानों पर कम वेतन पर भी लोग काम करना पसद करते हैं। उदाहरण के लिए, वर्कशाप में कम पढ़े-लिखे लोग इस कारण नौकरी करना पसद करते हैं क्योंकि उनको भविष्य में चार्जमैन या फोरमैन बन जाने की आशा रहती है।

स्वामी का व्यवहार भी मजदूरों पर प्रभाव डालता है। जहाँ अधिकारियों अथवा स्वामी का व्यवहार अच्छा हो वहाँ मजदूर कम वेतन पर भी काम करने को तैयार रहता है।

ऊपर लिखी हुई बातों को ध्यान में रख कर ही हम वास्तविक मजदूरी और नाममात्र की मजदूरी के अन्तर को जान सकते हैं। वास्तविक मजदूरी (real wages) और नाममात्र की मजदूरी (nominal wages) का अन्तर जानना इसलिए आवश्यक है कि, जब हमें दो स्थानों या दो कामों में काम करने वाले मजदूरों की तुलनात्मक आय का पता लगाना हो तो हमें उनकी वास्तविक आय का पता लगाना होगा। मुद्रा-मजदूरी (money wages) ऊँची होने से ही केवल मजदूर सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। वह सुखी और सम्पन्न तभी कहा जा सकता है कि जब वास्तविक मजदूरी अधिक हो।

मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है : मजदूरी सिद्धान्त (theory of wages) को लेकर अर्थशास्त्र के विद्वानों में बहुत मतभेद रहा है। एक विचारधारा तो यह है कि व्यवस्थापक (enterpriser) के लिए श्रम (labour) भी उसी प्रकार से एक उत्पत्ति का साधन है जिस प्रकार भूमि (land) या पूँजी (capital), और जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है और उसी प्रकार मजदूरी भी निर्धारित होगी। परन्तु एक दूसरी विचारधारा यह है कि श्रम अन्य उत्पत्ति के साधनों से भिन्न है। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से श्रम भी उत्पादन का एक साधन मात्र है परन्तु वह स्वयं मानव है और उसी की सुख-समृद्धि आर्थिक प्रयत्नों का लक्ष्य है। अस्तु, उसकी मजदूरी निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा। इसी कारण समय-समय पर कई मजदूरी सिद्धान्तों (theory of wages) को समाज ने अपनाया। हम नीचे उनकी संक्षेप विवेचना करेंगे —

मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Subsistence theory of wages) इस सिद्धान्त के प्रतिपादक फ्रांस के फिजयाक्रैट (physiocrates) थे जिनका अट्ठारहवीं शताब्दी में अधिक महत्त्व था। जर्मनी के अर्थशास्त्री लैसेले ने फ्रांस के विद्वानों के इस जीवन-निर्वाह सिद्धान्त का नाम "मजदूरी का लौह नियम" (iron law of wages) रख दिया था।

इस सिद्धान्त के अनुसार स्वामी और मजदूरों के बीच मोल-भाव के द्वारा मजदूरी निश्चित होती है। स्वामी कम होते हैं। इस कारण वे मिलकर अपनी इच्छानुसार मजदूरी निर्धारित कर देते हैं और मजदूरों को, अधिक संख्या में होने के कारण, उस मजदूरी को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु मजदूरी किसी दशा में भी जीवन-निर्वाह के स्तर से कम नहीं हो सकती। जीवन-निर्वाह स्तर से उनका अर्थ उस मजदूरी से था कि जो मजदूर और उसके परिवार का पालन भर करने के लिए पर्याप्त हो। यदि मजदूरी इससे भी नीचे चली जावेगी तो फिर श्रमजीवी विवाह नहीं कर सकेंगे और परिवार नहीं रख सकेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि एक पीढ़ी के उपरान्त श्रमजीवियों की संख्या कम हो जावेगी, क्योंकि मृत्यु अधिक होंगी और जन्म कम होंगे। इसका परिणाम यह होगा कि श्रमजीवियों की संख्या माँग (demand) की तुलना में कम हो जावेगी और मजदूरी बढ़ जावेगी। इस सिद्धान्त के मानने वालों का कहना था कि मजदूरी जीवन-निर्वाह के स्तर से ऊँची भी नहीं हो सकती। यदि ऐसा हुआ तो मजदूर जल्दी विवाह करेंगे और जनसंख्या शीघ्रता से बढ़ जावेगी। अधिक मजदूर होने से उनकी मजदूरी कम हो जावेगी।

वास्तव में मज़दूर के जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त मालथस के जनसंख्या सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त में यह स्वीकार कर लिया गया है कि मजदूरी के बढने से जन्मसंख्या अवश्यम्भावी रूप से बढेगी और अधिक मज़दूरों के हो जाने पर मजदूरी गिर जावेगी। हम मालथस के सिद्धान्त की विवेचना करते समय यह कह चुके हैं कि यह धारणा भ्रमपूर्ण है। अधिकतर यह होता है कि मजदूरी में वृद्धि होने पर रहन-सहन का दर्जा (standard of living) ऊंचा उठ जाता है और जन्मसंख्या नहीं बढती। इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि जीवन-निर्वाह का स्तर प्रायः सभी वर्ग के श्रमजीवियों का एक समान होता है। अतएव इस सिद्धान्त के द्वारा हम भिन्न-भिन्न श्रेणियों के मजदूरों की मजदूरी की भिन्नता का कारण नहीं बतला सकते। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का दोष यह है कि इसमें पूर्ति (supply) पर अधिक ध्यान दिया गया है। श्रमजीवियों की माँग (demand), जो कि मजदूरी निर्धारण में उतनी ही अधिक महत्त्वपूर्ण है जितनी कि पूर्ति, की उपेक्षा की गई है।

मज़दूरी और रहन-सहन का दर्जा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मजदूरी के जीवन-निर्वाह सिद्धान्त को लोगों ने छोड़ दिया और उसके स्थान को रहन-सहन के दर्जे ने ले लिया। कहने का तात्पर्य यह था कि मज़दूरी (wages) जीवन-निर्वाह के स्तर से निर्धारित नहीं होती वरन् मजदूर जिस रहन-सहन के दर्जे में रह रहा है उससे निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में रहन-सहन का दर्जा ही मजदूरी को निर्धारित करने का मूलभूत आधार है। किसी मज़दूर-वर्ग को केवल उतनी मज़दूरी ही मिलना पर्याप्त नहीं है कि जिससे उनका जीवन-निर्वाह हो सके, वरन् मजदूरी इतनी होनी चाहिए कि वे रहन-सहन के उस दर्जे को बनाये रख सकें जिसके कि वे अभ्यस्त हैं। वास्तव में यह जीवन निर्वाह सिद्धान्त का ही संशोधित रूप है। रहन-सहन के दर्जे का अर्थ जीवन निर्वाह स्तर से अधिक विस्तृत होता है। उसका अर्थ जीवन के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं (necessaries) तक ही सीमित नहीं होता, वरन् इसके अन्तर्गत थोड़ी शिक्षा, कुछ आरामदायक वस्तुएं तथा थोड़ा अवकाश भी सम्मिलित होता है।

एक दृष्टि से देखा जाये तो इस सिद्धान्त में बहुत कुछ तथ्य है। दो प्रकार से रहन-सहन का दर्जा (Standard of living) मज़दूरी को प्रभावित करता है। रहन-सहन के दर्जे का पहला प्रभाव तो यह होता है कि मज़दूर इसका अभ्यस्त हो जाता है। अस्तु, वह आसानी से उस रहन-सहन के दर्जे

से नहीं गिरना चाहता, वह प्रत्येक दशा मे उस दर्जे को सुरक्षित रखना चाहता है। अस्तु, वह साधारणतया उस मज़दूरी से कम लेना स्वीकार नहीं करेगा कि जिससे वह अपने रहन-सहन के दर्जे को सुरक्षित रख सके। परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इन साधनों से मजदूरी को मज़दूर की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) से ऊँचा नहीं रक्खा जा सकता। परन्तु रहन-सहन का दर्जा मजदूर की कुशलता (efficiency) तथा सीमान्त उत्पत्ति को भी प्रभावित करता है। यदि मजदूर के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा है अर्थात् उसे खाने के लिए पुष्टिकर भोजन, स्वास्थ्यप्रद मकान तथा अवकाश प्राप्त है तो उसकी कार्य-कुशलता अधिक होगी। रहन-सहन के दर्जे का मजदूरी पर एक दूसरा प्रभाव भी पड़ता है। रहन-सहन का दर्जा जनसंख्या को सीमित करके मजदूरों की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) को प्रभावित करता है। यदि मजदूरी इतनी न हो कि रहन-सहन का दर्जा रह सके तो मज़दूर विवाह कम करेंगे और परिवार का भार उठाना पसंद नहीं करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि उस मजदूर-समूह में मजदूरों की संख्या कम हो जावेगी और मज़दूरी ऊँची हो जावेगी।

ऊपर हमने जिस दृष्टि से विचार किया उस दृष्टि से इस सिद्धान्त में सार अवश्य है। परन्तु जब उसके समर्थक यह कहना चाहते हैं कि रहन-सहन का दर्जा ही एकमात्र मजदूरी को निर्धारित करता है तो उसके विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि रहन-सहन का दर्जा ऊँची मजदूरी के कई कारणों में से केवल एक कारण है। बढ़ती हुई पूँजी, धंधों में उत्पादन वृद्धि तथा कला में उन्नति, सभी मज़दूरी को ऊँची करने में सहायक होते हैं। दूसरे ऊँची मजदूरी और ऊँचा रहन-सहन का दर्जा परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। यदि ऊँचे रहन-सहन के दर्जे से मजदूरी ऊँची होती है तो ऊँची मजदूरी के कारण रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा होता है। अस्तु, यह कहना कि केवल रहन-सहन का दर्जा ही मज़दूरी को निर्धारित करता है असंगत होगा। इसके अतिरिक्त एक बात और है जैसा कि प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कैनन ने कहा है कि मानव जाति की सभ्यता का इतिहास हमें बतलाता है कि सर्वसाधारण की मजदूरी क्रमशः बढ़ती गई है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह दावा नहीं कर सकते कि मजदूरी इस कारण बढ़ी है, क्योंकि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो गया है क्योंकि रहन-सहन के दर्जे का अर्थ यह है कि मजदूरों का उस प्रकार जीवन व्यतीत करना स्वभाव या आदत बन गई है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इसमें मजदूरों की माँग (demand) का कोई ध्यान नहीं

रक्खा गया है। वह केवल पूर्त्ति (supply) पर आधारित है। इस प्रका
यह सिद्धान्त एक पक्षीय है।

फिर भी यह मानना होगा कि रहन-सहन के दर्जे का मजदूरी पर प्रभा
अवश्य पड़ता है, रहन-सहन का दर्जा मज़दूर की कार्यक्षमता अर्थात् उत्पाद
शक्ति को प्रभावित करता है और मजदूर की मोल-भाव करने की शक्ति
बढाता है। इस प्रकार रहन सहन का दर्जा मजदूरी को प्रभावित करता है।

शेषाधिकार सिद्धान्त (Residual Claimant Theory). वाक
के अनुसार धंधे की शेष आय ही मजदूर की मजदूरी है। उसके अनुसार उत्प
में से लगान (rent), सूद (interest) और लाभ (profit) को घटा
जो भी शेष रहे वही मजदूरी होगी। लगान, सूद, और लाभ अपने नियमों
अनुसार निर्धारित होते हैं। क्योंकि मजदूरी निर्धारण का कोई स्पष्ट औ
निश्चित नियम नहीं है अतएव लगान, सूद और लाभ देने के बाद जो बच
है वह मजदूर को मिलता है। अस्तु यदि मजदूरों की कार्यक्षमता बढ जाने औ
उत्पत्ति मे वृद्धि हो जावे तो मज़दूरों को अधिक मजदूरी मिलेगी। यह सिद्ध
जीवन-निर्वाह सिद्धान्त से अधिक आशाजनक है क्योंकि इसके अनुसार मज़
के बढने की सम्भावना को स्वीकार किया गया है। वास्तव में यह उत्प
सिद्धान्त (productivity theory) है। क्योंकि यह इस सिद्धान्त को स्वीक
करता है कि मजदूर स्वय अपनी उत्पत्ति में से ही मज़दूरी पाता है। रा
आय में जो कुछ वह वृद्धि करता है उसी का एक भाग वह पाता है। अ
मजदूर जितना अधिक उत्पादन करेगा उतनी ही अधिक मजदूरी उसे मिले
इस सिद्धान्त में नीचे लिखे दोष हैं :—

(१) इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं होता कि मज़दूर-सगठन
मज़दूर-सभाएँ (trade unions) किस प्रकार समय-समय पर मालिकों
दबाव डालकर तथा उनसे मोल-भाव करके मजदूरों की मज़दूरी ब
सकती है।

(२) इस सिद्धान्त का दूसरा दोष यह है कि इसमें माँग की तुलन
मजदूरों की कमी या बहुलता का कोई ध्यान नहीं रक्खा गया। श्रम की
(labour supply) का मजदूरी (wage) के निर्धारण में कोई प्रभा
इसको यह सिद्धान्त स्वीकार ही नहीं करता।

(३) इस सिद्धान्त का तीसरा दोष यह है कि जब हम लगान, सूद
लाभ के निर्धारित होने की व्याख्या माँग और पूर्ति (demand
supply) या सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) के द्वारा

ते हैं तो मज़दूरी की भी उसी प्रकार व्याख्या कर सकते हैं।

मजदूरी-कोष सिद्धान्त (Wages Fund Theory) मज़दूरी-कोष सिद्धान्त 'ऐडम स्मिथ' के सिद्धान्तों पर आधारित है और 'मिल' ने उसको अधिक स्पष्ट रूप दिया। 'मिल' के अनुसार मज़दूरी मज़दूरों की माँग और पूर्ति पर निर्भर रहती है। 'मिल' के अनुसार मजदूरी जनसंख्या और पूँजी के अनुपात में निश्चित होती है। यहाँ जनसख्या से उसका तात्पर्य केवल उन मजदूरों की सख्या से है जो अपने श्रम को वेचते हैं और पूँजी से उसका तात्पर्य चल पूँजी (circulating capital) के केवल उस भाग से है जो कि श्रम को खरीदने पर व्यय की जाती है। यही चल पूँजी मजदूरी-कोष है। मज़दूरी-कोष (wage fund) अथवा चल पूँजी का वह भाग है जो कि श्रम को खरीदने पर व्यय किया जाता है। वह पिछली बचत के फलस्वरूप इकट्ठा होता है। यह मजदूरी-कोष ही श्रम की माँग (demand) है। यदि हम मजदूरों की संख्या से मजदूरी-कोष में भाग दे दें तो हमको मज़दूरी की औसत दर मालूम हो जावेगी। अस्तु, यदि मज़दूरी में वृद्धि करनी है तो दो में से एक बात करनी होगी। या तो मजदूरी-कोष को बढाना होगा अथवा मजदूरों की सख्या कम करनी होगी। मजदूरी-कोष में बहुत धीरे वृद्धि होती है क्योंकि बचत में वृद्धि बहुत ही धीरे होती है।

यदि हम लम्बे समय को लें और उस समय में यदि लोग अधिक बचायें और उद्योग धंधों में लगायें तो उसका परिणाम यह होगा कि यन्त्र, औजार और कारखाने सख्या में बढ़ेंगे तथा उनमें उन्नति होगी। इसका परिणाम यह होता है कि श्रम की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है और मज़दूरी भी बढ़ती है। इस सिद्धान्त में केवल इतना ही तथ्य है।

मजदूरी-कोष निश्चित निधि नहीं है. इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि मजदूरी-कोष कोई निश्चित निधि नहीं है। हम मजदूरी-कोष को या तो मुद्रा-कोष के रूप में मान सकते हैं अथवा वस्तुओं के स्टाक (भंडार) के रूप में मान सकते हैं। किसी भी देश में मुद्रा-कोष (money) सदैव समान नहीं रहता, मुद्रा-राशि शीघ्र बदलती रहती है। देश में कितनी मुद्रा का चलन होगा यह केन्द्रीय बैंक (central bank) अथवा अन्य बैंकों की नीति पर निर्भर रहता है। यदि व्यापार और व्यवसाय में तेज़ी हो और लाभ की सम्भावनाएँ अधिक हों तो व्यवसायी अधिक मजदूरों को लगाते हैं और मज़दूरी अधिक देते हैं अर्थात् मजदूरी पर अधिक धनराशि व्यय करते हैं, और जब व्यापारिक मंदी होती है तो मजदूरी पर कम धनराशि व्यय होती है। इसी

प्रकार वस्तुओं का स्टाक जो कि मजदूरों के लिए हो अथवा चल पूँजी (circulating capital) की कोई निश्चित निधि नहीं होती। वस्तुओं के स्टाक, उदाहरण के लिए, खाद्य पदार्थ, जो कि मजदूरों के निर्वाह के लिए हैं एक फसल के लिए निश्चित हो सकते हैं, किन्तु सब समय के लिए निश्चित नहीं हो सकते। इसी प्रकार चल पूँजी भी बहुत अनिश्चित है। अस्तु, इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि यदि मजदूर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहते हैं तो उन्हें अपनी संख्या को सीमित करना होगा अर्थात् संतति निरोध होगा। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि यदि कोई मजदूर समूह अपनी मजदूरी बढवाने में सफल हो जाता है तो अन्य मजदूरों को मजदूरी कम मिलेगी।

मजदूरी-कोष सिद्धान्त की बहुत से अर्थशास्त्रियो ने तीव्र आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार श्रम की माँग चल पूँजी (circulating capital) के द्वारा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं की माँग से श्रम की माँग उत्पन्न नहीं होती। यह वस्तुस्थिति से सर्वथा भिन्न है। वास्तव में श्रम की माँग व्युत्पादित माँग (derived demand) होती है। अर्थात् जब वस्तुओं की माँग होती है तब श्रम की माँग होती है। यदि वस्तुओं की माँग अधिक होती है तो व्यापार-धन्धों में तेजी आती है और व्यवसायी अधिक मज़दूरों को रखते हैं। जब व्यापार और व्यवसाय मन्दा हो जाता है तो मजदूरों की माँग कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त जबकि लोग अपनी समस्त आय व्यय कर देते हैं तो श्रम का उपयोग उपभोक्ता पदार्थों (consumable goods) के उत्पन्न करने में होता है, और जब लोग बचाते हैं और उसको धन्धों में लगाते हैं तो उत्पादक पदार्थ (producers goods) तैयार करने मे श्रम का उपयोग होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आय के व्यय करने और बचाने में जो भेद है वह भेद इतना ही है कि श्रम किस दिशा मे लगाया जावे। जब लोगों को आय का अधिक भाग बचाकर उसको धन्धों में अधिकाधिक लगाना लाभदायक प्रतीत होता है तो समाज में बचत बढ जाती है और चल-पूँजी मे वृद्धि होती है, अन्यथा, यदि अधिकांश लोग अपनी आय का अधिकतर भाग व्यय करने लगते हैं तो चल-पूँजी कम हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मजदूरी-कोष (wage fund) अत्यधिक लचीला (elastic) कोष है। कोष में कितनी धनराशि होगी यह इस बात पर निर्भर रहता है कि श्रम को लाभदायक ढंग से धन्धो में लगाने की कहाँ तक सम्भावनाएँ हैं। सत्य तो यह है कि इस कोष

...म उतनी ही रकम ले सकता है कि जितनी वह उसमे जमा करता है। ...र श्रम अत्यन्त कुशल है तो राष्ट्रीय आय अधिक बढेगी और मजदूरी भी अधिक होगी।

सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Productivity) और मज़दूरी : मज़दूरी का आधुनिक सिद्धान्त वास्तव में मूल्य-सिद्धान्त (theory of value) का श्रम के सम्बन्ध मे लागू करना है। जिस प्रकार किसी वस्तु का ...न किसी व्यक्ति के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होता है, इसी प्रकार मालिक के लिए श्रम की एक इकाई की सीमान्त उत्पत्ति श्रम की मजदूरी निर्धारित करती है। श्रम की एक इकाई अधिक लगाने या उसको कम कर देने से श्रम की सीमान्त उत्पत्ति जानी जा सकती है। परन्तु श्रम की इकाई को बढाते या घटाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उत्पत्ति ... अन्य साधन पूर्ववत् ही रहें।

यदि हम कल्पना करें कि उत्पत्ति के अन्य साधनो में कोई परिवर्त्तन ... होता है और श्रम द्वारा जो उत्पत्ति हुई है उसकी कीमत में भी कोई परि-...न नहीं होता है, तो, यदि हम किसी फर्म में अधिकाधिक श्रम की इकाइयो को लगावेंगे तो उत्पत्ति में क्रमागत ह्रास-नियम लागू होगा अर्थात् उत्पत्ति मे ...ती हुई दर से वृद्धि होगी। जब मालिक अधिकाधिक मजदूर धन्धे में ...ता रहेगा तो प्रति मज़दूर उत्पादन घटता जावेगा। यदि यही क्रम चलता ...ा तो एक स्थिति ऐसी आ जावेगी कि एक अतिरिक्त मज़दूर द्वारा जो उत्पत्ति ... वृद्धि होगी वह उसको दी जाने वाली मजदूरी के बराबर होगी। श्रम की वह ...ई सीमान्त इकाई (marginal unit) होगी। इस सम्बन्ध मे हम यह ...ह सकते है कि श्रम की सब इकाइयाँ अर्थात् सभी मजदूर एक समान ...ते हैं, अतएव श्रम की सीमान्त इकाई को जो मज़दूरी मिलेगी वही सब ...रों को मिलेगी। दूसरे शब्दों मे श्रम की सीमान्त इकाई की उत्पत्ति ही मज़दूरी निर्धारित करती है।

...से हम एक उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। कल्पना ... कि एक किसान के पास १०० बीघा खेत है। वह उस पर स्वय अपने ... खेती करता है, और उसकी उत्पत्ति १०० मन गेहूँ है जिसकी कीमत ... है। कालान्तर मे वह एक मजदूर रखता है। पूँजी (capital ...) ... रहती है। उस दशा मे कुल उत्पत्ति १५० ... कीमत ...० रु० होगी। किसान क्रमश मजदूर ... रखने पर ५० मन गेहूँ अधिक उत्पन्न होता

पर २५ मन और चौथा मज़दूर रखने पर केवल १० मन गेहूँ अधिक उत्प
होता है। अब, यदि समाज में श्रमजीवियों की सख्या इतनी अधिक है कि
प्रत्येक १०० बीघे पीछे चार मजदूर लगाने पर ही उन्हें काम मिल सकता
तो चौथे मजदूर को २० मन अर्थात् १०० रु० से अधिक मज़दूरी नहीं दी ज
सकती। जब चौथा मजदूर १०० रु० मज़दूरी स्वीकार करेगा तो और सा
मजदूरों को भी यही मजदूरी मिलेगी। पहला, दूसरा और तीसरा चौथे मज़दूर
अधिक कुशल हों ऐसी बात नहीं थी। यदि चौथे मजदूर को पहले मज़दूर
स्थान पर रख दिया जावे तो वह भी उत्पत्ति में ५० मन की वृद्धि कर सक
है। वे सब एक समान कार्यक्षमता रखते हैं ऐसा मान कर हम चलते हैं। वा
यह है कि इसमे क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing return
लागू हो गया है। अतएव हम जैसे-जैसे अधिकाधिक श्रम लगाते जावेंगे वैसे
वैसे श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) घटती जाव
और सीमान्त उत्पत्ति से ही श्रम की मजदूरी निश्चित होगी।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह उठाई जाती है कि श्र
की पूर्ति पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनका इसमे कोई विचार नहीं रक्खा गया
मजदूरी केवल श्रम की क़ीमत ही नही है जो कि मज़दूरों को दी जाती है, व
वह उनकी आय भी है जो उनकी कुशलता पर प्रभाव डालती है। अस्तु, मज़दू
केवल श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर ही नहीं होनी चाहिए वरन् मज़दू
मजदूर के रहन-सहन के दर्जे को बनाये रखने के लिए यथेष्ट होनी चाहिए
यदि मजदूरी इतनी नहीं हुई कि मजदूर के रहन सहन के दर्जे को बनाए र
सके तो रहन-सहन का दर्जा गिर जावेगा और कार्यक्षमता या कार्यकुशल
कम हो जावेगी और सीमान्त उत्पत्ति गिर जावेगी। अथवा जन्म-दर गि
जावेगी जिससे श्रम की पूर्ति (labour supply) कम हो जावेगी औ
सीमान्त उत्पत्ति ऊँची उठ जावेगी और फिर मज़दूरी बढ़ेगी। संक्षेप में हम क
सकते हैं कि मजदूरी का श्रम की पूर्ति पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी उपे
नहीं की जा सकती है।

ऊपर हमने सीमान्त-उत्पत्ति के सिद्धान्त की व्याख्या की। हम संक्षेप
कह सकते हैं कि उत्पादक श्रमिक को श्रम की सीमान्त-उत्पत्ति से अधिक मज़दू
नहीं देगा, क्योंकि ऐसा करने से उसको हानि होगी और सीमान्त श्रमि
(marginal labourer) से आगे श्रमिकों की मांग नहीं होगी। जहाँ
कहते हैं कि उत्पादक श्रम की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक मज़दूरी नहीं देगा य
इस सिद्धान्त की मान्यता यह भी है कि यदि प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण हो तो मज़दू

सीमान्त उत्पत्ति से कम भी नहीं होगी। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि श्रम-बाजार (labour market) में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण है। अधिकतर यह देखने में आता है कि मालिक संगठित होते हैं, मजदूर असंगठित होते हैं। अस्तु, मजदूरी के सम्बन्ध में मजदूर भलीभांति मोल-भाव नहीं कर सकते। हां, जिस हद तक वे अपने को संगठित कर लेते हैं उस हद तक वे मोल-भाव करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मजदूर असंगठित हुए तो मालिक उन्हें श्रम की सीमान्त उत्पत्ति से कम मजदूरी दे सकने में सफल होगा।

अतएव जहाँ तक मालिक का प्रश्न है वह श्रम की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक मजदूरी नहीं देगा। यदि वह उससे कम पर मजदूर को रख सकने में सफल हुआ तो वैसा करने का प्रयत्न करेगा।

यह तो हम ऊपर देख चुके कि मजदूरी की चरम सीमा श्रम की सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु मालिक इस बात का प्रयत्न करता है, यदि सम्भव हो तो, वह सीमान्त उत्पत्ति से भी कम मजदूरी देकर श्रम को ... । अब, यदि हम श्रमिक के दृष्टिकोण से मजदूरी का अध्ययन करें तो ... ज्ञात होगा कि वह अपने श्रम का अधिक से अधिक मूल्य लेने का प्रयत्न करता है। वह चाहता है कि अपने श्रम को इतने मूल्य पर बेचे कि उसके परिवार का भरण-पोषण हो सके। किन्तु भरण-पोषण का अर्थ भिन्न हो सकता है। जितनी मजदूरी एक भारतीय मजदूर के परिवार के भरण-पोषण के लिए ... होगी उतनी एक अंग्रेज परिवार के लिए यथेष्ट नहीं होगी। क्योंकि दोनों के रहन सहन के दर्जे में अन्तर है। अस्तु, मजदूर साधारणतया उस मजदूरी से कम मजदूरी स्वीकार नहीं करेगा जो उसके रहन सहन के दर्जे को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। इसका कारण यह है कि उससे कम मजदूरी लेने पर उसको अपने रहन सहन के दर्जे को घटाना होगा। अपने रहन-सहन के दर्जे को घटाने में सबको कष्ट होता है। जो भी व्यक्ति एक हवादार अच्छे मकान में रहने का अभ्यस्त है यदि उसे गंदे मकान में रहना पड़े तो उसे कष्ट होगा। प्रत्येक ... अपने रहन-सहन के दर्जे को ऊंचा करना चाहता है नीचा नहीं करना चाहता। कष्ट अनुभव करने के अतिरिक्त रहन-सहन का दर्जा गिरने से समाज में प्रतिष्ठा घटती है। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा को कम नहीं करना चाहता। इसके अतिरिक्त यदि श्रमिक को अपने रहन-सहन के दर्जे को बनाये रखने के लिए यथेष्ट मजदूरी नहीं मिलती तो उसे अपनी आवश्यकताएं घटानी ... जिससे उसका स्वास्थ्य और शक्ति कम होगा, अथवा उसके बालकों को ... पुष्टिकर भोजन न मिल सकेगा, और न उनकी शिक्षा-दीक्षा हो सकेगी

हो सकेगी जिससे भावी श्रम कम कुशल होगा। अस्तु, श्रमिक की मजदूरी न्यूनतम सीमा उसके रहन-सहन के दर्जे से नापी जा सकती है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूरी की चरम श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से निश्चित होती उससे अधिक मजदूरी मालिक नहीं देगा, और मजदूरों के रहन-सहन का मजदूरी की न्यूनतम सीमा निर्धारित करता है जिससे कम मजदूरी साधारण मजदूर स्वीकार नहीं करेंगे। वास्तविक मजदूरी इन दोनों सीमाओं के बीच मालिक और मजदूरों के मोल-भाव से निश्चित होती है। यह पहले ही जा चुका है कि मजदूरों के मोल-भाव करने की शक्ति बहुत कम होती है, और मालिक उन्हे सीमान्त उत्पत्ति से बहुत कम मजदूरी देने में सफल हो जाता हाँ, जब मजदूर अपना सबल संगठन कर लेते हैं तो वे अपनी सीमान्त उत्पत्ति बराबर मजदूरी पा सकते हैं।

ऊपर हमने मजदूरी सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या की किन्तु मजदूरी अन्य अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। श्रम नाशवान होता है। श्रमिक भविष्य के उपयोग के लिए संचित नहीं कर सकता। इस कारण यदि समय उसे कम मजदूरी भी मिले तो उसे स्वीकार करनी पड़ती है नहीं तो उतने समय बेकार रहेगा, और जो भी मजदूरी उसे मिलती है वह सदैव के उसे खो देनी पड़ेगी क्योंकि उसके जीवन में वे दिन जोड़े नहीं जा सक श्रमिक की निर्धनता से श्रम की नाशवान प्रकृति को और अधिक महत्त्व गया है। इस निर्बलता के कारण उत्पादक श्रमिक का शोषण सरलता से सकता है। निर्धन होने के कारण श्रमिक एक दिन भी बेकार नहीं बैठ सक माग कम होने पर भी जब बहुत से निर्धन मजदूर काम पाने के लिए प्रति करते हैं तो मालिक उन्हे बहुत कम वेतन देकर उनका शोषण करता है।

श्रमिक की गतिशीलता (mobility) पूर्ण नहीं होती, बहुत-सी स्थितियाँ उसकी गतिशीलता में बाधक होती हैं। अस्तु, बहुधा ऐसा हो जा कि कहीं श्रम आवश्यकता से अधिक होता है जिसके परिणाम स्वरूप मज बहुत कम रहती है और कहीं माग की तुलना में श्रम कम होता है तो मज अधिक रहती है।

श्रमिक अशिक्षित होता है। वह श्रम की महत्ता और अपने अधि से लगभग अपरिचित रहता है। इस कारण वह श्रम की स्थिति, माँग पूर्ति को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता। उसकी निर्धनता से उसकी और हानि होती है। उसे प्रत्येक क्षण द्रव्य (money) की आवश्यकता रहती

कारण वह किसी भी मजदूरी पर अपना श्रम बेचने के लिए तैयार हो जाता है। वह उत्पादक से मोल-भाव नहीं कर सकता। अस्तु, उत्पादक उसकी [illegible] का अनुचित लाभ उठाता है।

श्रमिकों के संगठन (trade unions) से ऊपर लिखी श्रमिकों की [illegible] कुछ कम हो जाती हैं और उनकी मोल-भाव की शक्ति बढ़ती है। इसके [illegible] में अगले परिच्छेद में विस्तारपूर्वक लिखेंगे।

भिन्न भिन्न व्यवसायों में मजदूरी भिन्न होने के कारण : ऊपर हमने [illegible] सिद्धान्त की विवेचना की। उससे यह तो ज्ञात होगया कि मजदूरी [illegible] की माँग और पूर्त्ति द्वारा निश्चित होती है। किन्तु हम देखते हैं कि [illegible] भिन्न व्यवसायों में मजदूरी कम या ज्यादा होती है। अब हम इस भिन्नता [illegible] विचार करेंगे।

भिन्न भिन्न व्यवसायों में मजदूरी न्यूनाधिक होने के निम्नलिखित कारण [illegible]

(१) व्यवसाय की प्रियता या अप्रियता : यदि व्यवसाय ऐसा है [illegible] काम करने में प्रसन्नता होती है तो उसमें अपेक्षाकृत मजदूरी कम [illegible]। यदि कार्य बहुत अरुचिकर है तो उसमें अधिक मजदूरी होगी। उदाहरण [illegible], फाँसी लगाने के लिए जो व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं उनको जितना [illegible] करना पड़ता है उसकी तुलना में वेतन अधिक मिलता है। एक श्रमिक [illegible] मजदूरी पर खेत में काम करता है उसी मजदूरी पर कोयले की खान के [illegible] काम नहीं करेगा। किसी-किसी नौकरी में अवकाश अधिक मिलता है अथवा [illegible] अधिक आकर्षक रहता है। ऐसे कार्य को लोग कम मजदूरी मिलने पर [illegible] करते हैं। उदाहरण के लिए, युवक क्लर्क की जगह स्वीकार न करके कम [illegible] पर अध्यापक का कार्य पसन्द कर सकता है। किसी-किसी पद की [illegible] में प्रतिष्ठा अधिक होती है। लोग उस कार्य को कम मजदूरी पर करना [illegible] कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी युवक को किसी फर्म में [illegible] और किसी पत्र के सम्पादकीय-विभाग में काम मिलता हो, तो यह हो [illegible] है कि वह युवक कम वेतन पर भी सम्पादक के कार्य को पसन्द करे।

[illegible] व्यवसाय की शिक्षा : कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं कि जिनके लिए शिक्षा [illegible] बहुत धन व्यय करना पड़ता है और बहुत समय लगाना पड़ता [illegible] वेतन अधिक नहीं मिले तो कोई भी व्यक्ति उस शिक्षा में इतना व्यय [illegible] क्यों करेगा। उदाहरण के लिए, यदि इंजिनियर और मिस्त्री का [illegible] बराबर हो, फिर कोई इंजिनियर की शिक्षा क्यों प्राप्त करे।

[illegible]

व्यवसाय की स्थिरता : जो व्यवसाय स्थिर हैं, बराबर चलते रहे हैं, उनमें अपेक्षाकृत उन व्यवसायों से मजदूरी कम होगी कि जो स्थिर नहीं हैं। इसका कारण यह है कि अस्थिर व्यवसाय में काम करने से मजदूर कुछ समय के लिए बेकार रहेंगे। उस समय उनके भरण-पोषण के लिए धन कहाँ से आवेगा।

व्यवसाय मे विश्वसनीय आदि विशेष गुणों की आवश्यकता : किसी-किसी व्यवसाय में विश्वसनीयता इत्यादि गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे व्यवसाय में मजदूरी कुछ अधिक होगी। उदाहरण के लिए, सुनार की मजदूरी अन्य कारीगरों से अधिक होगी, क्योंकि उन्हें मूल्यवान धातु को गढ़ना होता है। जब तक कोई सुनार भरोसे का आदमी न हो तब तक कोई सोना इत्यादि उसे न देगा। इसी प्रकार किसी बैंक तथा किसी बड़े कारखाने के मैनेजर का वेतन इसलिए भी अधिक होता है कि उस पर बहुत जिम्मेदारी होती है और विश्वसनीयता के अतिरिक्त उसमें और बहुत से गुण होने आवश्यक हैं।

व्यवसाय मे सफलता की आशा : जिस व्यवसाय में जितना ही अधिक सफलता की सम्भावना होगी, उतनी ही मजदूरी कम होगी और जिस व्यवसाय में जितनी अधिक असफलता की सम्भावना होगी उतनी ही मजदूरी अधिक होगी। ऊपर लिखे कारणों से भिन्न-भिन्न व्यवसायों में मजदूरी न्यूनाधिक हो सकती है, किन्तु स्मरण रहे कि कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि इन कारणों में दो या अधिक का प्रभाव एक साथ भी पड़ सकता है। किन्तु ऊपर लिखे कारणों से तो मजदूरी उस दशा में भी भिन्न हो सकती है कि जब मजदूर एक समान कुशल हों और वे पूरे-पूरे गतिशील (mobile) हों। लेकिन सब मजदूर एक समान कुशल (efficient) नहीं होते। अतएव कुशलता की भिन्नता के कारण भी मजदूरी भिन्न हो सकती है। इसके अतिरिक्त हम यह पहले ही कह चुके हैं कि मज़दूर बहुत से कारणों से पूर्ण रूप से गतिशील भी नहीं होते। एक पेशे में लगे हुए आदमी के लिए उसे छोड़कर दूसरे पेशे को स्वीकार करना आसान नहीं है। यही कारण है कि कभी-कभी व्यवहार में अरुचिकर कार्य में लगे हुए लोगों की मजदूरी अधिक न होकर कम होती है क्योंकि उस काम के करने वालों की संख्या बहुत है। वे आसानी से अपने पुश्तैनी पेशे को नहीं छोड़ सकते।

औरतों को मजदूरी कम क्यों मिलती है : प्रायः देखा जाता है कि औरतों को पुरुषों से कम मज़दूरी मिलती है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

प्रथम स्त्रियों की शारीरिक शक्ति कम होती है, अतएव वे पुरुषों के बराबर काम नहीं कर सकतीं। दूसरे अधिकांश युवतियाँ स्थायी रूप से काम नहीं करतीं वे अपने विवाह के समय तक ही काम करना चाहती हैं। इस कारण वे ऐसा काम करती हैं कि जिसकी शिक्षा लेने में कोई समय न लगे अथवा बहुत कम समय लगे। तीसरे स्त्रियों के लिए सब पेशों और व्यवसायों में स्थान नहीं मिलता। उनकी शिक्षा, शारीरिक शक्ति तथा सामाजिक कारणों से केवल थोड़े से ही पेशों मे उन्हें काम मिलता है, इस कारण उन पेशों में पूर्ति (supply) अधिक हो जाने से स्त्रियों को कम मजदूरी मिलती है। चौथे मजदूर स्त्रियाँ स्थायी मजदूर न होने के कारण अपना सबल संगठन नहीं कर सकतीं। संगठन के अभाव में वे मालिकों से ठीक मोल-भाव नहीं कर सकतीं और मालिक उनको कम मजदूरी देकर उनका शोषण करते हैं। विवाहित स्त्री-मजदूरों की एक दूसरी ही समस्या होती है। वे परिवार की आय को बढ़ाने के लिए मजदूरी तो करना चाहती हैं परन्तु उन पर गृहस्थी के कार्य का भी भार होता है, अस्तु, वे बहुधा यह चाहती हैं कि घर बैठे ही वे अवकाश के समय काम कर सकें। अस्तु, जो लोग उन्हें काम देते हैं उनका खूब ही शोषण करते हैं और उन्हें कम मजदूरी देते हैं। परन्तु कई पेशों मे स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है। जैसे, भारत में स्त्री अध्यापिका को पुरुष अध्यापक से और स्त्री डाक्टर को पुरुष डाक्टर से अधिक वेतन मिलता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि भारत में स्त्री अध्यापिकाएँ और स्त्री डाक्टर कम मिलते हैं।

रहन-सहन का दर्जा और मजदूरी : यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि रहन-सहन के दर्जे का मजदूरी पर गहरा प्रभाव पड़ता है। साधारणतया मजदूर उससे कम मजदूरी स्वीकार नहीं करेगा कि जो उसके रहन-सहन के स्तर को बनाये न रख सके। क्योंकि रहन-सहन के स्तर के गिरने से मजदूर को अभाव और कष्ट होता है और सामाजिक प्रतिष्ठा गिरती है। अतएव जिन मजदूरों के रहन-सहन का स्तर नीचा होता है वे कम मजदूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जावेंगे। इसके विरुद्ध यदि उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा है तो वे कम मजदूरी पर काम करना पसन्द नहीं करेंगे।

रहन-सहन के स्तर के सम्बन्ध में उपभोग (consumption) के परिच्छेद में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जब रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है तो मजदूर अपनी आवश्यकताओं को भली भाँति पूरा कर सकता है। अतएव उन मजदूरों का जिनका रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है, स्वास्थ्य अच्छा रहता है, उनकी योग्यता भी अधिक होती है और उनमें स्वाभिमान भी अधिक

होता है। मजदूर के अधिक कुशल या निपुण ((efficient) होने के कारण उसे अधिक मजदूरी मिलने की सम्भावना रहती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि कोई मजदूर अपने रहन-सहन का स्तर ऊंचा करले तो उसको तुरन्त अधिक मजदूरी मिलने लगेगी। इसका कारण यह है कि कुशलता थोड़े दिनों में नहीं बढ सकती। उसमें कुछ समय लगता है।

मजदूरी पर सामाजिक बातों का प्रभाव : मजदूरों को कितनी मजदूरी मिलेगी यह बहुत कुछ सामाजिक रिवाजों पर भी अवलम्बित होता है। भारत में तो रिवाजों का प्रभाव और भी अधिक होता है। गांवों में खेतों पर काम करने वाले मजदूरों, बढई, लुहार, नाई, धोबी और कुम्हार की मजदूरी वहां के रिवाज के अनुसार अनाज में निश्चित है। गांव के लोग निश्चित मजदूरी देकर अपना काम इन लोगों से करा लेते हैं। कुछ अंशों में यह बात शहरों मे भी पाई जाती है। जिन घरों में नाई, धोबी अथवा अन्य कोई काम करने वाले पुश्तैनी लगे हुए हैं वहाँ उनकी मजदूरी रिवाज के अनुसार निश्चित है उसमें जल्दी कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। मजदूरी पर आर्थिक रूढियों और जाति के बंधनों का भी प्रभाव पड़ता है। जातिबंधनों का असर श्रम की पूर्ति (supply) उसकी गतिशीलता (mobility) और कार्यक्षमता (efficiency) पर पड़ता है और उनका मजदूरी पर असर पड़ता है।

मजदूरी और जनसख्या : रिवाज के अतिरिक्त जनसख्या का भी मजदूरी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जितनी अधिक मजदूरों की सख्या होगी मजदूरी की दर उतनी ही कम होगी। यही कारण है कि बहुत से देशों में जनसख्या को अधिक न बढने देने का प्रयत्न किया जाता है। अविवाहित रहकर, बड़ी उमर मे विवाह करके, सतति-निग्रह करके. और आवश्यकता से अधिक जनसख्या को उपनिवेशों मे भेजकर जनसख्या को बहुत अधिक बढ़ने से रोका जाता है। यद्यपि भारतवर्ष मे अकाल और रोगों के कारण मृत्यु सख्या अधिक है फिर भी भारतवर्ष की जनसख्या तेजी से बढ रही है। एक तो देश की जनसख्या अधिक है दूसरे उद्योग-धंधों की कमी के कारण जनसख्या की यह वृद्धि मजदूरी को कम कर देती है। यही कारण है कि भारत में मजदूरी कम है। अतएव मजदूरों की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी कार्यक्षमता को बढाया जावे, उद्योग-धंधों की उन्नति की जावे और जहाँ तक सम्भव हो जनसख्या को अधिक तेजी से न बढने दिया जावे।

मजदूर सभाएँ (Trade Unions) और मजदूरी : मजदूर सभाएँ

स्थापना से मजदूरों को एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उनकी मजदूरी बढ़ गई। यह है कि जब मजदूर संगठित होंगे तो वे मालिक से मोल-भाव अच्छी तरह से कर सकते हैं, और उसे अधिकतम मजदूरी जो सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से निर्धारित होती है, देने पर विवश कर सकते हैं। नहीं तो साधारणतया मालिक उन्हें न्यूनतम मजदूरी (जो उनके रहन सहन के दर्जे (standard of living) से निर्धारित होती है) देगा। परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निश्चित अधिकतम मजदूरी से अधिक मज़दूरी मजदूर सभाएँ भी नहीं दिला सकतीं। क्योंकि यदि मालिक उससे अधिक मजदूरी देंगे तो उनका लाभ कम हो जावेगा। हाँ, यदि कोई ऐसा धंधा हो जिसमें लागत-व्यय में मजदूरी का बहुत कम अंश हो तो उसमें हो सकता है कि ट्रेड यूनियन प्रयत्न करके मजदूरी अधिक बढ़वा दें, क्योंकि मजदूरी अधिक बढ़ने से लागत-व्यय में अधिक वृद्धि नहीं होगी।

परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से मजदूर सभाओं की स्थापना से मजदूरों की मजदूरी बढ़ जाती है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि मजदूरों के संगठित होने से वे मोल-भाव करके अपनी मजदूरी में वृद्धि कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त मजदूरों को बेकारी, बीमारी, चोट, इत्यादि लगने पर अलाउन्स देने पर वे मालिक को विवश करती हैं। मजदूर सभाओं के आन्दोलन से मजदूरों के काम के घंटे घटते हैं, उनके रहने की ठीक-ठीक व्यवस्था होती है, उनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य का उचित प्रबंध होता है। मजदूर सभाएँ उनके मनोरंजन का प्रबंध करती हैं, सहकारी साख (co-operative credit) तथा सहकारी उपभोक्ता स्टोर (co-operative store) के द्वारा मजदूरों की आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार मजदूरों की कार्यक्षमता अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) बढ़ जाती है और उन्हें मजदूरी और अधिक मिलने लगती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है। इस प्रकार मजदूर सभाओं के कारण मजदूरों की मजदूरी में बहुत वृद्धि हुई है और आगे भी हो सकती है।

आविष्कारों का मजदूरी पर प्रभाव -- आविष्कार के दो प्रभाव होते हैं। एक प्रभाव तो यह है कि उसकी सहायता से श्रम (labour) की उत्पादन-शक्ति बढ़े। दूसरा यह कि पूँजी (capital) की लागत कम हो। यदि कोई ऐसी नई मशीन बने कि जिसकी कीमत पहले काम आने वाली मशीनों से दुगुनी हो किन्तु उसके द्वारा श्रम की उत्पादन-शक्ति दुगनी हो जावे तो ऐसी दशा में इकाई श्रम की उत्पत्ति, जहाँ तक पूँजी पर सूद की लागत का प्रश्न है,

कम लागत में उत्पन्न होगी। इस प्रकार के आविष्कार का प्रभाव मजदूरी पर अच्छा होता है।

इसके विपरीत कुछ आविष्कार ऐसे होते हैं कि जिनके द्वारा श्रम की उत्पादन-शक्ति तो बढ जाती है किन्तु मशीनों की कीमत अधिक होती है अर्थात् पूँजी (capital) अधिक लगानी पड़ती है और उस पर सूद की लागत अधिक होती है। ऐसी दशा में मजदूरी पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता।

सत्तेप में हम कह सकते हैं कि ऐसा आविष्कार कि जो केवल श्रम को वचत करता है और श्रम की माँग कम कर देता है बहुत से श्रमिकों को फालतू कर देता है। ऐसी दशा मे यदि पूँजी (capital) स्थिर अर्थात् पूर्ववत् है तो श्रम की आय मे ह्रास होने लगता है और यदि आविष्कार ऐसा है जो पूँजी को माँग कर देता है तो पूँजी की आय (सूद) में ह्रास होने लगता है।

वास्तव मे केवल थोडे से ही आविष्कार ऐसे होते हैं जो केवल श्रम की वचत करने वाले होते हैं या केवल पूजी की वचत करने वाले होते हैं। अधिकतर आविष्कार ऐसे होते हैं जिनके द्वारा श्रम और पूजो दोनों की वचत होती है परन्तु वह वचत एक अनुपात में नहीं होती। अतएव यदि थोड़े समय को लें तो अधिकाश आविष्कारों का मजदूरी पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

जहाँ तक उद्योग-धधों का प्रश्न है, यदि उनकी उत्पत्ति की माँग लचकदार (elastic) है तो आविष्कार का प्रभाव यह होगा कि अधिक मजदूरों और पूजी की आवश्यकता होगी और मजदूरी वढ जावेगी। परन्तु यदि उस धधे की उत्पत्ति की माँग लचकरहित है तो आविष्कार का प्रभाव यह होगा कि श्रम और पूँजी की माँग कम हो जावेगी और मजदूरी और सूद घट जावेंगे।

अन्तत. आविष्कार सर्वश्रम की वास्तविक मजदूरी (real wages) को कम नहीं करता यद्यपि श्रम के किसी वर्ग विशेष की मजदूरी को कम कर सकता है। आविष्कारों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय (national dividend) बढती है क्योंकि उनके कारण कम उत्पत्ति के साधनों मे ही पूर्व निश्चित उत्पादन हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आविष्कारों के द्वारा जितने साधनों की बचत होती है उनका उपयोग अन्य क्षेत्रों मे हो सकता है।

मजदूरी का आदर्श . ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि मजदूरी किस प्रकार निश्चित होती है। किन्तु, क्या केवल मजदूरों की माँग (deman[illegible]) और पूर्ति (supply) से ही मजदूरी का निश्चित होना ठीक है। य[illegible] मजदूरों की सख्या अधिक है तो क्या इसी कारण उनकी मजदूरी [illegible]

रना चाहिए। यदि मजदूर को अपने तथा अपने कुटुम्ब के पालन पोषण के र यथेष्ट मजदूरी मिल जाती है तब तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। किन्तु, मजदूरों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण मालिक को बहुत कम दूरी पर मजदूर मिल सकते हैं तो क्या उसे यह अधिकार मिलना चाहिए वह मजदूरों से दिन भर काम ले और उन्हें इतनी मजदूरी भी न दे कि नकी भूख शान्त हो सके। क्या श्रमिक संख्या में अधिक होने के कारण लिक को मजदूरों को भूख की मजदूरी (starvation wages) पर नौकर रने का अधिकार होना चाहिए ?

साधारणतया लोग कह देते हैं कि यदि मज़दूरों को मज़दूरी कम प्रतीत ती है तो वह काम छोड़ सकते हैं और जहाँ अधिक मज़दूरी मिले वहाँ कर काम करने में वे स्वतन्त्र हैं। यह बात कहने में जितनी ठीक मालूम ती है उतनी वास्तव में ठीक नहीं है। कल्पना कीजिये कि किसी बेकार और व्यक्ति को कोई आठ आने प्रतिदिन पर रखना चाहे तो वह जानते हुए ी कि मज़दूरी बहुत कम है वह उसे स्वीकार कर लेगा। यदि इस प्रकार कारी और विवशता के कारण मजदूर बहुत कम मजदूरी पर काम करना वीकार करलें तो क्या वह मजदूरी उचित है ? और क्या मालिक को मजदूरों लाचारी का लाभ उठाने देना न्याय है ? वास्तव में मज़दूरों का यह शोषण ी पूँजीपति और मज़दूरों के संघर्ष का कारण है।

केवल उचित मजदूरी का ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि कोई मालिक चित मज़दूरी तो दे दे किन्तु मज़दूरों से अत्यधिक लम्बे घण्टों तक काम रावे तो भी मजदूर सुखी नहीं हो सकते। अतएव उचित मज़दूरी के अतिरिक्त काम के घण्टे अधिक न होने चाहिए. उनके रहने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए, चोट लग जाने पर क्षतिपूर्त्ति मिलना चाहिए तथा बीमार, बेकार था वृद्ध होने पर अलाउन्स मिलना चाहिए। यही कारण है कि प्रत्येक देश में कानून द्वारा काम के घण्टे निश्चित कर दिए गए हैं तथा कानून द्वारा न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करदी गई है। इसके अतिरिक्त सामाजिक बीमा (social insurance) की व्यवस्था की गई है।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था में मज़दूरी ' ऊपर हमने मज़दूरी (wages) के सम्बन्ध में जो विवेचन किया वह इस आधार पर था कि समाज की अर्थ-व्यवस्था निजी उत्पादन और प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित है जिसमें राज्य अधिक हस्तक्षेप नहीं करता। परन्तु आज तो प्रत्येक देश में आयोजित अर्थ-व्यवस्था का बोलबाला है। अस्तु, हमें इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है।

आज राज्य मजदूरी निर्धारण में परोक्षरूप से बहुत अधिक प्रभाव डालता है। कई धधों में तो न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जाती है और काम के घटे तथा काम किस अवस्था मे किया जावे यह बहुत कुछ राज्य द्वारा ही निर्धारित होता है।

जब राज्य द्वारा मजदूरी निर्धारित होती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मजदूरी का सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त (marginal productivity theory) से कोई सम्बध नहीं है। राज्य राजनैतिक तथा सामाजिक दबाव में आकर कभी-कभी मजदूरी बढा देता है फिर चाहे औसत उत्पत्ति न भी बढी हो। इसका परिणाम यह होता है कि इसका भार उपभोक्ता (consumers) पर पड़ता है और मुद्रा-स्फीति (inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

स्वतंत्र निजी अर्थ-व्यवस्था (Free private economy) में यह सम्भव नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए कि भारत में लोहे के कारखानों के मजदूर दबाव डालकर अपनी मजदूरी बढ़ा लेते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लोहे का मूल्य पहले से दुगना हो जाता है। लोहे के मूल्य बढने का परिणाम यह होगा कि विदेशों से सस्ता लोहा भारत आने लगेगा। परिणाम स्वरूप लोहे के कारखानों में काम करने वालों के सामने दो विकल्प उपस्थित हो जावेंगे। या तो उनको भयकर बेकारी का सामना करना होगा अथवा उनको मजदूरों में कटौती स्वीकार करनी होगी जिससे कि लोहा ससार में प्रचलित मूल्य पर लाभ के साथ बेचा जा सके।

परन्तु, यदि लम्बे समय को लिया जावें तो राज्य द्वारा आयोजित अर्थ व्यवस्था में भी सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त (marginal productivity theory) लागू होता है। यदि उत्पत्ति न बढे और मजदूरों की मजदूरी राजनैतिक या सामाजिक कारणों से बढा दी जावे तो मुद्रा-स्फीति (inflation) की स्थिति उत्पन्न हो जावेगी, कीमते ऊ ची हो जावेंगी और वास्तविक मजदूरी (real wages)) ऊ ची नहीं होगी वह पूर्ववत् रहेंगी। वास्तविक मजदूरी तभी ऊची हो सकती है कि जब औसत उत्पत्ति में वृद्धि हो।

———

परिच्छेद ५४

मजदूरों सम्बन्धी अन्य समस्याएं

औद्योगिक संघर्ष . हम ऊपर मजदूरी के सिद्धान्तों की विवेचना कर चुके
साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि किन-किन परिस्थितियों का मजदूरी पर
ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु मजदूरों की सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि उनमें
त भाव करने की शक्ति प्राय: नहीं है। इस निर्बलता को मजदूर सगठन ने बहुत
दूर कर दिया है। आज मजदूरों के बहुत प्रबल सगठन स्थापित हो गए हैं।
मजदूर सगठन आये दिन मालिकों से मजदूरों के लिए अधिकाधिक मजदूरी,
ने की सुन्दर व्यवस्था, अच्छे व्यवहार तथा अन्य सुविधाओं की माँग करते
ते हैं। कभी-कभी जब मालिक से अपनी माँग को स्वीकार कराने के सब
न असफल हो जाते हैं तो मजदूर सभाएँ अपने अन्तिम अस्त्र हड़ताल
trike) का सहारा लेती हैं और मालिक मजदूरों में सघर्ष छिड़ जाता है।
ी कभी ऐसा भी होता है कि मालिक स्वय अपनी ओर से पहल करते हैं और
ारखानों की तालाबन्दी या द्वारावरोध (lock out) कर देते हैं हड़ताल
trike) या तालाबन्दी (lock out) दोनों ही औद्योगिक सघर्ष के
रूप हैं।

हड़ताल का अधिकार . जिस प्रकार मालिक को यह अधिकार है कि
मजदूर को मजदूरी से हटा सकता है ठीक उसी प्रकार मजदूर सभाओं को
ाम करने का अधिकार होना चाहिए। अतएव हड़ताल करने का अधिकार
जदूर को नौकरी से हटाने के अधिकार के समकक्ष है। हड़ताल का अर्थ केवल
ही है कि मजदूर सामूहिकरूप से अपने काम से इसलिए हट जाते हैं
वे अपनी शर्तों पर पुन: उसी काम पर वापस आ सकें। अधिकतर होता यह
कि मजदूर अपने वर्त्तमान वेतन आदि से असन्तुष्ट होते हैं और उसमें वृद्धि
ाहते हैं और उसी उद्देश्य से वे हड़ताल करते हैं।

प्रारम्भ में जब औद्योगिक क्रान्ति के बाद मजदूर-सगठन स्थापित हुए
और उन्होंने हड़ताल इत्यादि करना चाहा तो उनका राज्य की ओर से दमन
किया गया क्योंकि उस समय यह विचार प्रबल था कि हड़तालों से उद्योग-धंधों
में रुकावट होती है, अस्तु यह न्यायोचित नहीं है। परन्तु क्रमश.

यह विचार बदल गया और मजदूरों के हड़ताल के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया। इसमें कोई सदेह नहीं कि यदि मजदूर यह समझते हों कि मालिक उनकी उचित और न्यायपूर्ण माँगों को भी स्वीकार नहीं करता तो उनको हड़ताल करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि सार्वजनिक हित और उपयोगिता (public utility) के धधों में भी क्या मजदूरों को हड़ताल करने का अबाधित अधिकार होना चाहिए। यदि वाटरवर्क्स (जल कारखानों), पावर-हाऊस (बिजली उत्पन्न करने वाले कारखानों), रेलों, बन्दरों, चिकित्सालयों में हड़ताल हो जावे तो समाज को घोर कष्ट उठाना पड़े। अस्तु, क्रमशः यह विचार दृढ होता गया कि सार्वजनिक हित के कामों में हड़तालों का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए, किन्तु उसके बदले में मजदूरों को उचित वेतन तथा अन्य न्यायोचित सुख-सुविधा की गारन्टी कर देनी चाहिए। यही नहीं, प्रबन्धकों को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि मजदूरों को अपनी शिकायतों को अधिकारियों के सामने रखने का अवसर मिले और उनकी शिकायतों पर ध्यान दिया जाकर उनको यथासम्भव दूर किया जा सके। ऐसे धधों में वर्क-कमेटियाँ या मालिक मजदूरों की मिली-जुली कमेटियाँ स्थापित होनी चाहिए कि जिससे मजदूर कारखाने के सचालन पर प्रभाव डाल सकें। आज के अर्थशास्त्री बहुधा इस विचार के हैं कि मजदूरों का हड़ताल करने का अधिकार कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं है वरन् एक ऐसा अधिकार है जो समाज के बड़े अधिकार से सीमित है। पिछले वर्षों मे ससार के प्रत्येक देश में मजदूर आन्दोलन के अधिक उग्ररूप धारण कर लेने के कारण और अत्यधिक हड़तालें होने के कारण यह मत प्रबल होता जा रहा है कि जब तक राज्य के द्वारा स्थापित औद्योगिक शान्ति स्थापित करने वाली सस्थाएँ मालिक और मजदूरों में शान्ति करने के सब प्रयत्न नहीं कर लेतीं हड़ताल या द्वारावरोध को गैरकानूनी करार दिया जावे।

औद्योगिक संघर्ष से हानि : उद्योग-धन्धों मे हड़ताल होने से बहुत भारी आर्थिक क्षति होती है। प्रथम उत्पादन गिर जाता है, दूसरे मजदूर को उतने दिनों की मजदूरी नहीं मिलती, मालिक की पूँजी तथा अन्य व्यवस्था सम्बन्धी कर्मचारी बेकार रहते हैं तथा उसे अन्य व्यय पूर्ववत् करने पड़ते हैं। अस्तु, मालिक को हानि होती है। सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है तथा मालिक और मजदूर के सम्बन्ध खराब हो जाते हैं। राष्ट्रीय आय कम होती है तथा उपभोक्ताओं को अभाव का सामना करना पड़ता है। अस्तु, हड़तालें या द्वारावरोध किसी भी प्रकार राष्ट्रीय हित में नहीं हैं।

औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के साधन : औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिए लाभ में साझेदारी (profit sharing) बोनस पद्धति, तथा स्वामित्व में साझेदारी का समर्थन किया गया। इनके सम्बध मे हम पहले ही लिख आये हैं। किन्तु इनसे हड़तालें न रुक सकीं। क्योंकि मजदूर सभाएँ इनको पसंद नहीं करतीं। लाभ मे साझेदारी इत्यादि का उपयोग बहुधा मालिकों द्वारा मजदूर सभाओं को निर्बल करने के लिए किया जाता है। फिर लाभ केवल मजदूरों द्वारा परिश्रम और ईमानदारी के साथ उत्पादन करने पर ही निर्भर नहीं रहता और बहुत-सी बातों पर निर्भर रहता है। कल्पना कीजिए कि मजदूरों ने खूब परिश्रम से काम किया, किन्तु, यदि बाजार मे उस माल की कीमत गिर गई तो धंधे में लाभ होने के बजाय हानि हो सकती है। इसी प्रकार स्लाइडिंग स्केल (sliding scale) का भी मजदूर विरोध करते हैं क्योंकि उनका कहना है कि किसी वस्तु की कीमत बहुत सी बातो पर निर्भर है। अस्तु, मजदूर अपने को क्यों इस स्थिति में रखदे कि यदि वस्तु की कीमत गिरे तो उनकी मजदूरी भी गिर जावे।

व्हिटले काउंसिल या वर्क-कमेटियां : औद्योगिक शान्ति को कायम रखने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि मजदूरों को मजदूरी की शर्तों के निर्धारित करने में हिस्सेदार बनाया जावे। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त इंगलैंड में जब बहुत हड़तालें हुईं तो सरकार ने व्हिटले कमेटी बिठाई और उसकी सिफारिश के अनुसार प्रत्येक कारखाने में वह कमेटियां स्थापित की गईं। इन कमेटियों में मजदूरों और मालिकों के बराबर प्रतिनिधि रहते हैं। मजदूरी सम्बन्धी सारी बातों पर इन कमेटियो मे बातचीत होती है और एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और समझाने का प्रयत्न किया जाता है। इन कमेटियों के द्वारा मजदूर अधिकारियों के अधिक समीप आते हैं, उनमें मालिकों की कठिनाइयों को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और जिम्मेदारी की भावना जागृत होती है। मजदूर और मालिकों का झगड़ा इस सीमा तक कभी नहीं पहुँच पाता कि आपस के मधुर सम्बध टूट जावे। इन कमेटियों के फलस्वरूप मालिक-मजदूर सम्बध अधिक घनिष्ठ हुए हैं और कारखानों मे अपेक्षाकृत शान्ति रही है।

झगड़ों का निपटारा : इतना सब कुछ करने पर भी औद्योगिक शान्ति स्थापित नहीं होती है और मालिक-मजदूर संघर्ष हो जाता है। अस्तु, ... संस्थाओं को स्थापित करना आवश्यक हो गया कि जो इन

झगड़ों को निपटाया करें और इस प्रकार हड़तालों से होने वाली हानि से मालिकों, मजदूरों तथा समाज को बचा सकें।

समझौता बोर्ड (Conciliation board) : झगड़ों को निपटाने का एक मुख्य तरीका यह है कि यदि कोई झगड़ा उठ खड़ा हो तो आपस में उसे तय कर लिया जावे। इसके लिए पहले से एक समझौता बोर्ड (conciliation board) चुन दिया जाता है जिसमें मालिकों और मजदूरों के जिम्मेदार व्यक्ति होते हैं। जब कोई झगड़ा उठ खड़ा होता है तो इस बोर्ड के सामने उपस्थित किया जाता है। कहीं-कहीं यदि कोई एक पक्ष चाहता है तो सरकार समझौता बोर्ड बिठा देती है। १९२९ के ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया है। समझौता बोर्ड दोनों पक्षों की बात सुन कर उनमें समझौता कराने का प्रयत्न करता है। यदि दोनों पक्षों में सद्भावना हो तो यह सफल हो सकते हैं परन्तु बहुधा दोनों पक्षों में सद्भावना का अभाव होता है।

पंचायत (Arbitration) इसमें विशेषता यह है कि झगड़े को किसी बाहरी व्यक्ति (पंच) के सुपुर्द कर दिया जाता है। पंच एक व्यक्ति भी हो सकता है और एक से अधिक भी हो सकते हैं। यह पंच दोनों पक्षों की बातों को सुन कर अपना निर्णय दे देते हैं। पंचायत निजीरूप से भी की जा सकती है और राज्य की ओर से भी की जा सकती है। वह स्वेच्छानुसार (voluntary) या अनिवार्य (compulsory) भी हो सकती है। अर्थात् ऐसा कानून हो सकता है कि झगड़ा होने पर दोनों पक्षों को बाधित रूप से पंचायत कराना होगी। जिस देश में इस प्रकार का कानून नहीं होता वहाँ दोनों पक्षों की स्वेच्छा पर रहता है कि वे पंचायत करावें या न करावें। इसके अतिरिक्त पंचों का निर्णय दोनों पक्षों को मानना अनिवार्य भी हो सकता है और अनिवार्य नहीं भी हो सकता है।

यदि दोनों दल स्वेच्छापूर्वक पंचायत कराते हैं तो इससे अच्छी बात कोई नहीं होती, क्योंकि इससे दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा रह जाती है और संघर्ष होने से बच जाता है।

राज्य की ओर से पंचायत होने की दशा में राज्य दोनों पक्षों की प्रार्थना पर एक पंचायत बोर्ड (arbitration board) बिठा देता है। यह दोनों पक्षों को आज्ञा देता है कि हड़ताल या द्वारावरोध करने के पूर्व वे अपने झगड़े का निर्णय पंचायत बोर्ड से करवा लें। बोर्ड पहले दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता है। उसमें असफल हो जाने पर यह झगड़े का द्वारा

अध्ययन करता है और उसकी जाच करता है और अपनी सिफारिशों सहित एक रिपोर्ट प्रकाशित कर देता है। बोर्ड की सिफारिशों को मानना उभय पक्ष के लिए अनिवार्य नहीं भी हो सकता है। परन्तु उस रिपोर्ट और उनकी सिफारिशों का प्रभाव सर्वसाधारण की उस झगड़े के सम्बन्ध मे राय बनाने पर पड़ता है। कोई भी पक्ष जनता को अपने विरुद्ध नहीं करना चाहता। परन्तु, जनमत के दबाव से उन्हें उसे स्वीकार करना पड़ता है। कुछ देशों में जैसे, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में दोनों पक्षों का निर्णय कानून के अनुसार मानना ही पड़ता है। निर्णय न मानने पर दण्ड का विधान है। परन्तु कभी-कभी मजदूर उसकी अवहेलना कर देते हैं।

औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunal) . औद्योगिक झगड़ों को निबटाने के लिए सरकार औद्योगिक न्यायालय स्थापित करती है। कोई पक्ष अथवा आवश्यकता पड़ने पर स्वय सरकार किसी झगड़े को ट्रिब्यूनल को सुपुर्द कर देता है। ट्रिब्यूनल उस झगडे की जाँच करता है और फिर अपना निर्णय दे देता है।

मजदूरों का वेतन तथा उनकी आर्थिक स्थिति : मजदूरों के वेतन का प्रश्न भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब तक मजदूरों को उचित वेतन नहीं दिया जाता तब तक उनकी स्थिति में सुधार करना सम्भव नहीं। क्योंकि मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा मजदूरों को जितनी मजदूरी मिलती है, उस धन पर निर्भर है। मजदूरों की सुख-सुविधा, भोजन-वस्त्र की समस्या, उनका स्वास्थ्य, सभी वेतन या मजदूरी पर ही निर्भर है। अतएव मजदूर समस्याओं का अध्ययन करने वालों के लिए मजदूरी का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। जहा तक मजदूरों का प्रश्न है मजदूरी का सवाल उनके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि अधिकाश हड़तालें मजदूरी के प्रश्न को लेकर ही होती हैं।

मजदूरी की भिन्न-भिन्न पद्धतिया : व्यवहार म मजदूरी की बहुत [illegible] है। क्योंकि मजदूर जितना काम करता है उसको निश्चय करने के बहुत से ढग हैं। किन्तु मोटे रूप मे हम मजदूरी की विभिन्न पद्धतियों को दो मुख्य पद्धतियों मे विभाजित कर सकते हैं.—

१—पहली पद्धति वह है जिसमे मजदूरी समय के अनुसार दी जाती है (Time Rate समयानुसार मजदूरी)।

२—दूसरी पद्धति वह है जिसमें मजदूरी उत्पादन पर निर्भर रहती है, (Piece Rate अनुकर्म मजदूरी), अर्थात् मजदूर जितना काम

करता है उसके अनुसार मजदूरी दी जाती है।

समय के अनुसार मजदूरी निर्धारित करने में इस बात का ध्यान न रक्खा जाता कि मजदूर कितना काम करता है। मजदूरी प्रति घण्टे प्रति दिन अथवा प्रति-सप्ताह के अनुसार निर्धारित की जाती है। समय अनुसार मजदूरी के निर्धारित होने पर, मजदूर कितना काम करता इस बात का विचार नहीं किया जाता। हां, मालिक इतना ध्यान अवश्य रखता है कि कोई मजदूर इतना कम काम तो नहीं करता कि वह रख योग्य न हो। समय के अनुसार मजदूरी निर्धारित करते समय कार्य का न्यूनतम मानदण्ड रक्खा जाता है। जो मजदूर उतना का नहीं कर पाता उसको निकाल दिया जाता है।

कार्य अर्थात् उत्पादन के अनुसार जहाँ मजदूरी दी जाती है, वहां वस्तु तैयार की जाती है, अथवा जो कार्य किया जाता है उसके अनुसार मजदूरी का हिसाब लगाया जाता है।

उदाहरण के लिए, यदि किसी कारखाने में प्रति घंटा दो आना अथ प्रति दिन एक रुपया के हिसाब से मजदूरी दी जावे तो उसे (time wage समयानुसार मजदूरी कहेंगे, और यदि किसी बुनकर को प्रति गज कप बुनने के लिए दो आने प्रति गज मजदूरी दी जाती है तो उसे (piece wag अनुकर्म मजदूरी कहेंगे। अधिकाश धन्धों मे समय के अनुसार मजदूरी जाती है। क्योंकि मजदूर और मजदूर सभाएँ समय के अनुसार मजदूरी समर्थन करते हैं। क्योंकि समय के अनुसार मजदूरी का एक गुण विशेष यह कि वह बहुत सरल है। मजदूर की समझ में वह आसानी से आ जाता और उसका हिसाब लगाना भी सरल है। यही नहीं, कुछ धन्धे ऐसे भी होते जहाँ किसी व्यक्ति विशेष ने कितना काम किया है, इसका हिसाब लगा सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, रेलवे मे, शक्कर के कारखाने मे, जहाज बिजली के कारखाने मे, वाटरवर्क्स इत्यादि मे। इन धन्धों तथा अन्य ऐसे धन्धों मे किस मजदूर ने कितना काम किया है यह नहीं जाना जा सकता क्योंकि इन धन्धों मे प्रत्येक क्रिया एक दूसरे मे ऐसी मिली होती है कि उस किसी बीच की स्थिति म नाप सकना सम्भव नहीं है। इसके विपरीत सूती ऊनी कपड़ों के कारखाने मे मजदूरों ने कितना काम किया है, इसका हिसा बड़ी सरलता से लगाया जा सकता है। एक बुनकर एक दिन म कितना कपड़ा तैयार करता है, यह बड़ी आसानी से मालूम किया जा सकता है।

जिन धन्धों में कुशलता और सावधानी की अत्यन्त आवश्यकता

उनमें भी समय के अनुसार मजदूरी देना ही उचित होता है। क्योंकि यदि वहाँ कार्य के अनुसार मजदूरी दी जावे तो मजदूर अधिक मजदूरी पाने के लालच में कार्य को शीघ्र समाप्त करने का प्रयत्न करेंगे, और वह कार्य भली-भाँति न हो सकेगा। उदाहरण के लिए, यदि बढ़िया रेशमी साड़ी अथवा अन्य मूल्यवान कपड़ा तैयार करना हो, बढ़िया औजार बनवाने हों, हीरे व तथा अन्य बहुमूल्य आभूषण बनवाने हों, अथवा ऐसे ही अन्य कार्यों में जहाँ कुशलता की आवश्यकता होती है वहाँ समय के अनुसार ही मजदूरी दी जाती है। कुछ ऐसे धन्धे हैं, जहाँ काम के अनुसार मजदूरी देने की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है। उदाहरण के लिए, वस्त्र व्यवसाय में, इंजीनियरिंग में, चीनी की मिट्टी के बर्तनों के कारखानों में, कपड़ा सीने के कारखानों में, कोयले की खानों में कार्य के अनुसार ही मजदूरी दी जाती है।

समय के अनुसार मजदूरी देने में मजदूर जितना कार्य कर सकता है उतना नहीं करता। वह समय को नष्ट करने का प्रयत्न करता है और कम से कम कार्य करने का प्रयत्न करता है। जिन कारखानों में निरीक्षण बहुत अच्छा होता है और मजदूर विश्वास पात्र और ईमानदार होता है वहाँ कार्य कुछ ठीक होता है। और जहाँ निरीक्षण शिथिल रहता है वहाँ कार्य ठीक नहीं होता।

किन्तु कार्य के अनुसार मजदूरी देने की प्रथा में कुछ गम्भीर दोष हैं। एक बड़ा दोष तो यह है कि इसके कारण मज़दूरों में अस्वास्थ्यकर प्रतिस्पर्द्धा की भावना जाग्रत हो जाती है। जो अधिक कुशल मजदूर हैं, वे अधिक कमाते हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा का प्रभाव मज़दूरों के संगठन पर बुरा पड़ता है। यही कारण है कि ट्रेड यूनियन (मज़दूर संघ) इस प्रथा को अधिक पसन्द नहीं करतीं। इस प्रथा में दूसरा भयंकर दोष यह है कि मिल-मालिक मजदूरों की कार्य-क्षमता कितनी है, यह जान जाता है। और यदि वह देखता है कि मजदूर बहुत अधिक मज़दूरी पाते हैं तो उसका प्रयत्न मजदूरी कम करने का होता है। अन्यथा वह समय के अनुसार मजदूरी निश्चित कर देता है और एक दिन में एक मजदूर को कम से कम कितना काम अवश्य करना चाहिए यह भी वह निश्चित कर देता है। इस कारण मज़दूरों का शोषण करने का उसे अवसर मिलता है। यही कारण है कि जिन देशों में मज़दूर सुसंगठित हैं, वहाँ कार्य के अनुसार मजदूरी की दर ट्रेड यूनियन और मालिक की रजामन्दी से निश्चित होती है। और मज़दूर संघ समय के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी भी निश्चित कर देता है, जो कि मज़दूरों को प्रत्येक दशा में मिलनी चाहिए।

प्रीमियम बोनस पद्धति : समय के अनुसार मजदूरी देने से कुशल और क्षमतावान मजदूर को कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि उसको उतनी ही मजदूरी मिलती है जितनी कि अकुशल मजदूरों को। अतएव वह जितना उत्पादन कार्य कर सकता है उतना नहीं करता। इस कारण कुछ व्यवसाइयों ने समय के अनुसार मजदूरी देने की प्रथा और कार्य के अनुसार मजदूरी देने की प्रथा का सम्मिश्रण करके प्रीमियम बोनस पद्धति निकाली। प्रीमियम बोनस पद्धति का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। हम यहाँ मुख्य प्रीमियम पद्धितियों का विवरण देते हैं।

टेलर पद्धति : प्रीमियम बोनस पद्धतियों में सबसे पुरानी पद्धति टेलर पद्धति है, जिसे सयुक्त-राज्य अमेरिका के एफ० डब्लू० टेलर ने निकाला था। इस पद्धति में कार्य के अनुसार मजदूरी की दरें होती हैं। एक ऊँची दर होती है और एक नीची दर। ऊँची दर नीची दर से ड्योढी तक होती है। यदि मजदूर कार्य के निश्चित मान-दण्ड से अधिक कार्य करता है तो उसको ऊँची दर से मजदूरी दी जाती है। और यदि वह निश्चित दर से कम कार्य करता है तो उसको नीची दर से मजदूरी दी जाती है। इस पद्धति में धीरे काम करने वाला मजदूर बहुत घाटे में रहता है और तेज काम करने वाला बहुत लाभ उठाता है। इसमें कोई समय के अनुसार मजदूरी की गारण्टी नहीं की जाती। परन्तु इस पद्धति मे कार्य का मानदण्ड निर्धारित करने में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। यदि मानदण्ड इतना ऊँचा निर्धारित कर दिया कि केवल बहुत तेज मजदूर ही उतना कार्य कर सके तो साधारण मजदूरों को उससे बहुत हानि होगी। इस पद्धति को मजदूरों ने कभी भी पसन्द नहीं किया और मिल मालिकों में भी यह अप्रचलित रही।

गैंट की बोनस पद्धति : टेलर की पद्धति के दोष को दूर करके गैंट ने एक नवीन बोनस पद्धति निकाली। इस पद्धति की विशेषता यह है कि इसमें प्रति घन्टे के हिसाब से मज़दूरी की गारटी दी जाती है, फिर मजदूर कितना भी कार्य करे, परन्तु यदि मजदूर निर्धारित कार्य को कर देता है तो उसका ३० प्रतिशत प्रीमियम दिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि एक कारखाने ने ५० गज कपड़े का स्टैंडर्ड निर्धारित किया है और यदि कोई मजदूर ८ घन्टे में केवल २० गज कपड़ा ही तैयार करता है तो उसको प्रति घन्टा के हिसाब से ८ घन्टे की निर्धारित मजदूरी मिल जावेगी। यदि किसी मजदूर ने ५० गज कपड़ा तैयार कर दिया तो उसको प्रीमियम मिलेगा। इस पद्धति में एक न्यूनतम मजदूरी की गारन्टी होती है, जिसके नीचे मजदूरी दी ही नहीं जा सकती।

प्रीमियम बोनस पद्धतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्व प्रचलित हैलसे
[illegible] है। संक्षेप में पद्धति इस प्रकार है :—कारखाने में मजदूरी की रेट
[illegible]रित करने का एक पृथक विभाग होता है। प्रत्येक कार्य के लिए साधारणतः
[illegible]तना समय लगेगा इसको वह विभाग निश्चित कर देता है। प्रत्येक मजदूर
[illegible]र्ड पर वह समय लिख दिया जाता है, जो कि स्टैण्डर्ड समय है
[illegible]र जितने समय मे साधारणत मजदूर को वह कार्य कर लेना चाहिए।
[illegible]दि कोई स्टैण्डर्ड समय से अधिक में कार्य समाप्त करता है तो उसको
[illegible] समय (अर्थात् जितने भी घण्टे उसने काम किया है) की समय
[illegible] अनुसार मजदूरी दे दी जाएगी। और यदि कोई मजदूर स्टैंडर्ड
[illegible] कम में काम कर लेता है तो उसने जितने समय की बचत की
[illegible]क आधे या तिहाई समय की मजदूरी बोनस के रूप में और भी दे दी
[illegible] है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। उदाहरण के लिए,
[illegible] प्रति घण्टे की समय के अनुसार मजदूरी ४ आना प्रति घण्टा है और
[illegible] कार्य के लिए ५ घण्टा समय नियत है और प्रीमियम बोनस समय की
[illegible] का आधा दिया जाता है, तो यदि कोई मजदूर ६ घण्टे में उस कार्य को
[illegible]प्त करता है तो उसे ६ घण्टे की समय के अनुसार मजदूरी १ रु० ८ आना
[illegible] जावेगी, किन्तु बोनस नहीं मिलेगा। यदि वह पाँच घन्टे में काम समाप्त
[illegible] देता है तो उसे १ रु० ४ आना मिल जाता है किन्तु बोनस नहीं मिलता।
[illegible]र यदि वह चार घण्टे में समाप्त कर देता है तो उसे १ रु० चार घन्टे की
[illegible]दूरी का मिलता है और आधे घटे की मजदूरी दो आना बोनस में मिलती
[illegible] इस पद्धति का एक गुण यह है कि यह बहुत सरल है। मजदूरों की समझ
[illegible] बहुत आसानी से आ जाती है। साथ ही मालिक को समय का बचत का
[illegible] ही देना पड़ता है। जहाँ तक मालिक का प्रश्न है, वहाँ तक तो उसे
[illegible] है किन्तु कुशल मजदूर को अपनी कुशलता का पूरा लाभ नहीं
[illegible]ता। यही इस पद्धति का दोष है। साथ ही यदि प्रत्येक कार्य के लिए
[illegible] समय लगना चाहिए इसको निर्धारित करने में मालिक कुशल मजदूरों
[illegible] नियत कर दें, तो मजदूरों को बहुत हानि उठानी पड़ सकती है।

रोवान पद्धति : रोवान पद्धति हैलसे पद्धति से भिन्न है। उदाहरण के
[illegible] यदि कारखाने के अधिकारियों ने किसी कार्य विशेष के लिए १० घण्टे
[illegible] किए हैं और कोई मजदूर उस कार्य को केवल ८ घण्टे में समाप्त कर
[illegible] तो उसको ८ घण्टे का [illegible] अर्थात् १ ६ घण्टे का प्रीमियम दिया जाता
[illegible] रोवान पद्धति में प्रीमियम कितने घण्टे का मिलेगा, इसको निकालने का
[illegible]

नीचे लिखा गुर है :—

$$\text{जितने घण्टे में काम किया} \times \frac{\text{जितने घण्टे की बचत की}}{\text{जितने घण्टे निर्धारित थे}}$$

इसका अर्थ यह हुआ कि जो घण्टे प्रीमियम के निकले, उनको मजदूरों ने जितने घण्टे में काम समाप्त किया है, उनमें जोड़ दिया जाता है और उतने की उ मजदूरी दे दी जाती है। ऊपर के उदाहरण में मजदूर ने ८ घण्टे में काम समाप्त कर दिया किन्तु उसको ६ ६ घण्टे की मजदूरी मिलेगी। इस पद्धति से आरम्भ में हैलसे पद्धति से अधिक प्रीमियम मिलेगा, किन्तु यदि मजदूर आधे समय क बचत कर दे तो हैलसे और रोवान पद्धति से एक समान प्रीमियम मिलेगा यद्यपि इसकी कोई सम्भावना नहीं होती।

यह पद्धति भी मालिक के लाभ की है। क्योंकि मजदूर जितने समय क बचत करता है, उसको उसका लाभ नहीं मिलता और न वह उस पद्धति ं पेचीले हिसाब को समझ पाता है।

स्लाइडिंग स्केल पद्धति : इस पद्धति में मज़दूरी उस वस्तु के विक्रय मूल पर निर्भर रहती है। यदि उस वस्तु का मूल्य बढता है, तो मजदूरी की द ऊँची कर दी जाती है और घटता है तो घटा दी जाती है। यह पद्धति मालिक के दृष्टिकोण से तो बहुत अच्छी है परन्तु मजदूरों की दृष्टि से उतनी लाभदाय नहीं है। कारण यह है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग, द्रव्य की घटती-बढ़त तथा अन्य बहुत से कारणों पर निर्भर है। अस्तु, इस पद्धति को स्वीकार कर से मजदूरों को जोखिम भी उठानी होगी, जो कि व्यवसायी का कार्य है न मजदूरों का और जिसके लिए व्यवसायी को लाभ मिलता है।

इसके अतिरिक्त यदि मालिक चाहे तो वस्तु का मूल्य घटा कर मजदू को कम मजदूरी देकर अपने लाभ को बढा सकता है। यदि वह वस्तु ऐसी कि जिसके मूल्य घटा देने से उसकी माँग बहुत बढ जावे तो मालिक को दोहर लाभ हो सकता है। एक तो अधिक बिक्री पर थोड़ा लाभ होने पर भी, उसक कुल लाभ बहुत अधिक होगा। दूसरे मूल्य के घटने के बहाने वह मजदूरी क कर सकेगा। इसके विपरीत यदि मजदूर संगठित हैं तो वे उत्पत्ति कम कर वस्तु के मूल्य को बढाने का प्रयत्न कर सकते हैं, जिससे कि उनकी मजदूरी ब सके। यही कारण है कि यह पद्धति अधिक प्रचलित नहीं हो सकती।

बैंडाक्स पद्धति · पिछले दिनों में बैडाक्स पद्धति ने लोगों का बह अधिक ध्यान आकर्षित किया है। किन्तु बैडाक्स पद्धति केवल मजदूरी देने क ही पद्धति मात्र नहीं है। क्योंकि बैडाक्स कम्पनी अपने विशेषज्ञों को कार

कारखाने की उत्पत्ति के ढग का अध्ययन और जाँच करने भेजती है। वे उक्त कारखाने की उत्पादन-पद्धति में क्या सुधार हो सकते हैं इसके सम्बन्ध में सुझाव देते हैं। बैडाक्स कम्पनी ने कार्य का एक मानदण्ड निर्धारित किया है, जो कि एक औसत मजदूर, साधारण परिस्थिति में, सामान्य तेजी से कार्य करते हुए और उतना विश्राम करते हुए कर सकता है, जितना विश्राम करने की बैडाक्स पद्धति आज्ञा देती है। दूसरे शब्दों में बैडाक्स पद्धति में यह निर्धारित कर दिया जाता है कि एक औसत मजदूर सामान्य रूप से उनके बनाए हुए ढग से कार्य करके निर्धारित कार्य कर सकता है। जो भी मजदूर बैडाक्स पद्धति के अनुसार निर्धारित ६० यूनिट प्रति घण्टा से अधिक उत्पादन करता है, उसको तीन चौथाई लाभ दिया जाता है। परन्तु इस पद्धति का मजदूरों द्वारा विशेष रूप से विरोध हुआ है।

लाभ में हिस्सेदारी (Profit Sharing) : कुछ विद्वानों का विचार था कि यदि मजदूरों को भी कारखाने के लाभ में साझीदार बना लिया जावे तो वे अधिक मन लगाकर कार्य करेंगे। उनको एक निश्चित रेट से दैनिक कार्य के लिए मजदूरी दी जावे, बोनस इत्यादि कुछ न दिया जावे, परन्तु लाभ का एक अंश वर्ष के अन्त में उन्हें दे दिया जावे। लाभ में हिस्सेदारी के भी बहुत से दोष हैं। पहले तो लाभ बहुत सी बातों से निर्धारित होता है। केवल मजदूरों के मन लगाकर काम करने पर ही निर्भर नहीं होता। उदाहरण के लिए, वस्तु की बाजार में माँग कम हो जावे अथवा आर्थिक मंदी के कारण उसका दाम गिर जावे अथवा मालिकों की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण हानि हो जावे, तो मजदूरों के मन लगाकर काम करने पर भी, लाभ के बदले हानि हो सकती है। यही कारण है कि लाभ में हिस्सेदारी (profit sharing) ने अभी भी मजदूरों को प्रभावित नहीं किया। इसमें एक कठिनाई यह भी है कि लाभ और हानि का सारा ब्यौरा तो मालिक ही तैयार करता है। अस्तु, यदि वह चाहे तो लाभ को कम करके दिखा सकता है। इन्हीं सब कारणों से लाभ में हिस्सेदारी अधिक प्रचलित न हो सकी।

साझेदारी (Co-partnership) : कुछ उदारमना व्यवसायियों ने मजदूरों को लाभ में हिस्सा देकर उन्हें क्रमशः कारखाने का हिस्सेदार बना दिया और उनके प्रतिनिधि डायरेक्टर भी मालिक के साथ-साथ कारखाने के प्रबन्ध में भाग लेने लगे। इस प्रकार मजदूरों का भी उस कारखाने पर स्वामित्व स्थापित हो गया। इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में बहुत कम हैं, और [illegible] में जो सफलता मिली है, उसका मुख्य कारण यह रहा कि इन उदार-

मना ऊँचे व्यक्तित्व वाले व्यवसायियों ने, जिन्होंने अपनी पूँजी लगाकर और परिश्रम करके कारखाने को खड़ा किया और सफलता मिलने पर क्रमशः उसको मजदूरों की चीज बना दी, उनके व्यक्तित्व के प्रति मजदूरों की इतनी ऊँची भावना रही थी कि यद्यपि वह अकेला डायरेक्टर होता था परन्तु उसकी बात को सभी आदर-पूर्वक स्वीकार करते थे। वास्तव में इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम हैं और साधारणतः पूँजीपतियों अथवा व्यवसायियों से इस मनोवृत्ति की आशा करना भी मूर्खता है। यह तो कुछ भावना-प्रधान उदार व्यक्तियों की सिद्धान्तवादिता के चिन्ह मात्र हैं। अस्तु, इस प्रकार की कोई पद्धति पूँजीवादी सगठन में प्रचलित करना असम्भव है।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wage) : मजदूर और मिल-मालिकों के सम्बन्धों में न्यूनतम मजदूरी-कानून द्वारा एक नवीन अध्याय जुड़ गया है। अभी तक यही माना जाता था कि मजदूर स्वेच्छा से मालिक से मजदूरी के सम्बन्ध में मोल-भाव करता है। और जिस मजदूरी पर वह काम करता है उस पर उसे करने देना चाहिए, राज्य के इसमें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मजदूर अपने हित को स्वय देख सकता है। हाँ, विचारकों ने इस बात को अवश्य स्वीकार किया था कि मजदूर मालिकों से बहुत निर्बल हैं अतएव मोल-भाव ठीक ढग से नहीं कर सकते। परन्तु मजदूरों का सगठन हो जाने पर इनकी यह निर्बलता भी कुछ सीमा तक दूर हो गई और अब वे सम्मिलित रूप से मोल-भाव करते हैं, और मालिक से उचित वेतन प्राप्त करने में कुछ हद तक सफल हो जाते हैं। यही कारण था कि मजदूरों को अपना सगठन बनाने का अधिकार दिया गया। इतना होने से मजदूरों की दयनीय दशा मे कुछ तो सुधार अवश्य हुआ। परन्तु मजदूर-सगठन में मजदूरों की सभी कठिनाइयाँ दूर नहीं हुई और न्यूनतम मजदूरी-कानून बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कारण यह है कि समस्त देशों में ऐसे बहुत से धधे हैं जिनमें मजदूर सगठित नहीं है। अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वहाँ मजदूरों का सगठन शिथिल है। जिन धधों में मजदूरों के सगठन स्थापित होगए हैं, वहाँ भी एक बहुत बड़ी सख्या में मजदूर असगठित ही हैं। यह तो ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी आदि उन्नत राष्ट्रों की दशा है। पिछड़े हुए पूर्वी राष्ट्रों का तो कहना ही क्या है। वहाँ तो अभी मजदूरों के सगठन का श्रीगणेश ही हुआ है। अतएव उन लोगों का यह विचार गलत था कि मजदूरों का संगठन उनके शोषण को रोकने के लिए पर्याप्त है और राज्यों को उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। मन

भी यह है कि न्यूनतम मजदूरी-कानून बनाने से भी मजदूरों का शोषण नहीं रुकता। हाँ, केवल इतना लाभ अवश्य हो जाता है कि मजदूरों की मजदूरी उससे कम नहीं की जा सकती।

कारखानों में काम करने के घन्टे, न्यूनतम सुविधा तथा रक्षा का प्रबन्ध कानून बनाकर कर दिया गया है, और सभी उन कानूनों से परिचित हो गये हैं। अस्तु, अब उनका कोई विरोध नहीं करता। किन्तु अभी तक न्यूनतम मजदूरी-कानून का विरोध किया जाता है। विशेष कर भारतवर्ष में तो इसका मिल-मालिकों की ओर से गहरा विरोध होता रहा है। अस्तु, हम यहाँ सैद्धान्तिक रूप से इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि अधिकांश मजदूर संगठित नहीं हैं, इस कारण जो भी मजदूरी मिल जाती है, उसको स्वीकार कर लेते हैं। साथ ही वे आपस में एक-दूसरे से स्पर्धा करके मजदूरी की दर को और भी गिरा देते हैं। यही नहीं, कुछ धन्धे ऐसे हैं जो छोटी मात्रा में तथा गृहों में होते हैं और उनमें अधिकतर स्त्रियाँ काम करती हैं। उनकी दशा तो इतनी दयनीय है कि उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। कम मजदूरी पाने के कारण वे यूनियन का चन्दा देने तक में असमर्थ होती हैं। अस्तु, उनमें संगठन हो ही नहीं पाता।

अब प्रश्न यह है कि यदि मजदूर को इतना कम वेतन दिया जावे कि वह जीवन की आवश्यक वस्तुओं को न जुटा सके तो उसका परिणाम क्या होगा? उसका स्वास्थ्य गिरेगा और देश में रोग बढ़ेंगे। अस्तु, सरकार को स्वास्थ्य और चिकित्सा पर अधिक व्यय करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में जो व्यय उद्योग को वहन करना चाहिए, वह मिल-मालिक सरकार के कंधे पर डाल देता है। यदि सरकार उतना प्रबन्ध नहीं कर पाती तो मजदूर शीघ्र क्षीण हो कर मर जाता है और अपने अशक्त जीवन के दिनों में राज्य व समाज पर आर्थिक भार बनता है। राज्य को उसके निर्धन गृह तथा अन्य संस्थाओं को चलाना पड़ता है। यही नहीं कि मिल मालिक इस प्रकार उचित व्यय को वहन नहीं करते, वरन् उससे होने वाली राष्ट्रीय हानि की कल्पना भी नहीं कर सकते।

हमें यह सिद्धान्त तो स्वीकार कर ही लेना होगा कि मजदूर मनुष्य का जीवन व्यतीत कर सके इतना वेतन देना मिल-मालिक के लिए अनिवार्य बना दिया जावे। कुछ लोग यह कहते हैं कि ऐसा करने से बहुत से धन्धे चल ही नहीं सकेंगे, उनमें लाभ कम होगा और फिर उनमें कोई भी व्यवसायी पूँजी न लगायेगा। पहले तो यह धोखा देने की बात है। फिर भी यदि

तर्क के लिए मान भी लिया जावे कि कुछ धन्धे ऐसे हो सकते हैं कि जो उतना वेतन नहीं दे सकते। तो उन धन्धों को चलाने की कोई आवश्यकता नहीं है जिनमें काम करने से मनुष्य को पशुवत जीवन व्यतीत करने पर विवश होना पड़े। अतएव प्रत्येक व्यवसायी के लिए यह आवश्यक कर देना चाहिये कि वह कम से कम इतनी मजदूरी दे कि मजदूर अपना जीवन-निर्वाह कर सके।

अब प्रश्न यह होता है कि न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का आधार क्या होगा। क्या इतनी न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जावे कि जो मनुष्य को जीवित रखने के लिए यथेष्ट हो, अथवा इतनी मजदूरी निर्धारित की जावे कि जिससे मजदूर की क्षमता बढ़े और वह आवश्यक सुख-सुविधा प्राप्त कर सके। यहाँ यह भली-भांति समझ लेने की बात है कि न्यूनतम मजदूरी-कानून कोई ऐसा चमत्कार नहीं है कि उसके लगते ही मजदूर की काया पलट हो जावेगी। यदि न्यूनतम मजदूरी इतनी कम निर्धारित की गई जिससे मजदूर केवल अपने प्राण को शरीर में रखने में सफल हो सका तो उससे मजदूर की दशा में कोई परिवर्त्तन नहीं होगा जब तक मजदूरी का कानून उतनी मजदूरी निर्धारित नहीं कर देता कि जिससे मजदूर की कार्य-क्षमता बढ सके और वह जीवन के लिए आवश्यक सुख-सुविधाए प्राप्त कर सके। तब तक न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने से कोई लाभ नहीं। उदाहरण के लिए, न्यूनतम मजदूरी इतनी होनी चाहिये कि मज़दूर पौष्टिक भोजन कर सके, उसके रहने का मकान ऐसा हो जो स्वास्थ्य के लिए हानि पहुँचाने वाला न हो, उसको वस्त्र इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के मिलने में कठिनाई न हो और शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा और मनोरंजन के साधन उपलब्ध हों। अस्तु, प्रत्येक देश में मजदूर को इतना वेतन तो अवश्य ही मिलना चाहिये कि वह ऊपर की आवश्यक सुख सुविधाएं प्राप्त कर सके। अस्तु, कानून से न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इससे कम वेतन निर्धारित न किया जावे नहीं तो उससे कुछ भी लाभ न होगा। सबसे पहले न्यूनतम मजदूरी का कानून आस्ट्रेलिया में व न्यूज़ीलैण्ड मे बना था। और आज तो संसार के लगभग प्रत्येक देश में यह कानून बन गया है।

न्यूनतम मजदूरी की दर : यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि न्यूनतम मजदूरी की दर निश्चित करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि मजदूर को इतना वेतन मिल सके कि वह जीवन की सभी आवश्यक सुख-सुविधाए पा सके। किन्तु न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय यह

[illegible]कार कर लेना चाहिए कि मजदूर को एक परिवार का भरण-पोषण करना [illegible]ता है। अस्तु, मजदूरी की दर निश्चित करते समय केवल उसकी व्यक्ति-[illegible]त आवश्यकताओं को ही ध्यान में नहीं रखना चाहिये, वरन् उसके परिवार [illegible] आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करनी [illegible]हिये। साथ ही मजदूर कुछ समय बेकार भी रह सकता है, उसका भी [illegible]न मजदूरी निर्धारित करते समय कर लेना चाहिए।

धन्धे की आर्थिक दशा : जब न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जावे तो [illegible] की दशा को ध्यान मे रक्खा जावे या नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। [illegible]धा किसी धन्धे विशेष के व्यवसायी यह कहते हैं कि धन्धे की आर्थिक दशा [illegible]नी खराब है कि वह जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी नहीं दे सकता। यदि [illegible] धन्धे में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जायगी तो धन्धा मजदूरी न दे [illegible]गा और धन्धा नष्ट हो जावेगा। प्रश्न यह है कि ऐसे धन्धे में मजदूरी कम [illegible]र्धारित की जावे, अथवा कोई मजदूरी न निर्धारित की जाय, तो इसका अर्थ [illegible] हुआ कि व्यवसायियों को मजदूरों का शोषण करने की खुली छुट्टी दी गई [illegible] और उससे मजदूरों का जो नैतिक एवं शारीरिक पतन होता है, उसका व्यय [illegible] पर अस्पताल, निर्धन गृह तथा सुधार-गृह स्थापित करने के कारण [illegible]ता है। लेखक का मत तो यह है कि प्रत्येक धन्धे को जीवन-निर्वाह योग्य [illegible]दूरी तो देना ही चाहिए। किसी भी धन्धे को इस उत्तरदायित्व से मुक्त [illegible] करना चाहिए, फिर चाहे वह धंधा चले या न चले। कुछ देशों में न्यूनतम [illegible]दूरी निर्धारित करते समय धन्धे की आर्थिक दशा का भी ध्यान [illegible]खा जाता है।

[illegible]स्त और अकुशल मजदूर जब न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जाती [illegible] [illegible] सुस्त और अकुशल मजदूर नौकर नहीं रक्खे जावेंगे। ऐसी दशा में [illegible] मजदूरों को नौकरी मिलना कठिन हो सकता है। मालिक ऐसे मजदूर को [illegible] रक्खे कि जो पूरा काम न कर सके और जिसको कानून द्वारा निर्धा-[illegible] मजदूरी देनी होगी। कुछ देशों मे इस प्रकार के मजदूरों को न्यूनतम [illegible] से कम मजदूरी देने की आज्ञा कानून में दे दी गई है। किन्तु इससे यह [illegible] है कि मालिक इस सुविधा का लाभ उठाकर अधिकतर ऐसे मजदूर [illegible] और जो कुशल मजदूर भी हैं उनको भी यह कह कर कि, वे सुस्त और [illegible] मजदूर हैं, कम वेतन दें। इस सम्भावना को दूर करने के लिए कानूनों [illegible] बात का विधान कर दिया गया है कि प्रत्येक कारखाने में एक निश्चित [illegible] से सुस्त और अकुशल मजदूर, जो न्यूनतम मजदूरी से कम पावेंगे, नहीं

रक्खे जा सकते और उनको लाइसेन्स लेना होगा।

न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित करने का ढग : न्यूनतम मजदूरी दो तरह से निर्धारित की जाती है। एक तो कानून में ही एक दर निश्चित क जाती है और उसके अनुसार मज़दूरी देनी पड़ती है। परन्तु अधिकाश देशों इस प्रकार मज़दूरी की दर निश्चित नहीं होती। वहॉ प्रत्येक धंधे के लिए प्रथ ट्रेड वोर्ड स्थापित कर दिये जाते हैं। ट्रेड वोर्ड उस धधे की स्थित को देख क उस धधे में एक निश्चित समय के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर देता है जब स्थिति में कोई परिवर्त्तन होता है तो फिर वोर्ड उस दर मे परिवर्त्तन क देता है।

जब न्यूनतम मजदूरी-कानून वनाए गए थे, उस समय वहुत विचारकों का कहना था कि मजदूरी आर्थिक नियमों के आधार पर निर्धारि होती है, न कि कानून द्वारा, और इस प्रकार कानून द्वारा मज़दूरी निर्धारि करने का प्रयत्न अवश्य ही असफल होगा। परन्तु जिन देशों में न्यूनतम मज़दू कानून लगाये गये, उनका अनुभव हमें वतलाता है कि न्यूनतम मज़दूरी कान एक व्यावहारिक योजना है और वह सफलतापूर्वक काम में लाई जा सकती है

मजदूरी पर प्रभाव : न्यूनतम मज़दूरी-कानून वनाने से अधिक मजदूरों की मजदूरी वढी है। जहॉ पहले वहुत कम वेतन मिलता था, वहाँ वेतन अधिक मिलता है। न्यूनतम मज़दूरी के विरोध में वहुधा यह कहा जा है कि जो न्यूनतम मजदूरी वन जाती है मिल-मालिक उससे अधिक मज़दूरी न देगा। इससे उन मजदूरों को हानि पहुँचने की संभावना है कि जो साधारण अधिक मजदूरी पा सकते हैं। परन्तु जहॉ-जहॉ न्यूनतम मजदूरी-कानून ल किये गये हैं, वहॉ ऐसी वात देखने में नहीं आई। आस्ट्रेलिया में मज की साधारण दर न्यूनतम मजदूरी से बीस प्रतिशत अधिक है।

न्यूनतम मजदूरी के विरुद्ध यह तर्क भी उपस्थित किया जाता है इसका परिणाम यह होगा कि वहुत से मजदूर निकाल दिये जावेगे। क्योंकि मालिक के लिए कानून द्वारा निर्धारित मजदूरी पर लाभदायक न होंगे। दू मिल-मालिक अपरैंटिस रख कर अपना काम चलाने का प्रयत्न करेंगे औ सुस्त और अकुशल कह कर उनके लिए कम मजदूरी देने की सरकार से अनु लेकर उन मजदूरों से काम लेंगे। ऊपर लिखी हुई आशकाएँ कुछ सीमा सत्य हैं, परन्तु ठीक प्रवन्ध और निरीक्षण करने से यह दोष दूर किये सकते हैं।

कुछ लोगों का कथन है कि न्यूनतम मजदूरी-कानून लगाने से धंधे

देशों या रियासतों में खड़े नहीं किये जावेंगे, वरन् पूँजी अन्य देशों में चली जावेगी। भारतवर्ष में यह भ्रम अवश्य ही हो सकता है कि आगे चल कर पूँजी देशी राज्यों में ही लगाई जावे और वहीं कारखाने स्थापित किये जावें। क्योंकि देशी रियासतों में मजदूरों सम्बन्धी कानून बहुत पिछड़े हुये हैं और जो हैं भी उनको ठीक प्रकार से लागू नहीं किया जाता। परन्तु यह भ्रम उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के कानून बनाये गये, वहाँ से धंधे दूसरे स्थानों पर नहीं गये। फिर भविष्य में देशी राज्यों में भी इस प्रकार का कानून शीघ्र ही लागू करना पड़ेगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

कुछ लोगों का विचार था कि न्यूनतम मजदूरी-कानून बन जाने से मजदूर आन्दोलन को धक्का लगेगा और उसकी उन्नति रुक जावेगी। उनका कहना है कि जब मजदूरों को कानून के द्वारा ऊँची मजदूरी मिल जावेगी तो उन्हें फिर ट्रेड यूनियन का सदस्य बनने की क्या आवश्यकता होगी। किन्तु अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि न्यूनतम मजदूरी कानून बनाने से मजदूरों की यूनियनें और भी बलवान बनी हैं। क्योंकि यूनियन 'मजदूर बोर्ड' के सामने मजदूरों के मामले को ठीक प्रकार से रख कर न्यूनतम मजदूरी की दर ऊँची करवाने में सफल होती है। इसके अतिरिक्त न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा निर्धारित हो जाने का यह तो अर्थ नहीं होता कि उससे अधिक मजदूरी नहीं मिलनी चाहिये। यूनियन अधिक मजदूरी और अन्य सुविधाओं के लिए प्रयत्न करती है।

कुछ व्यवसायियों का कहना है कि न्यूनतम मजदूरी कानून बन जाने का परिणाम यह होगा कि मजदूर काम कम से कम करेगा और उत्पादन घट जावेगा, क्योंकि मजदूरों को यह तो मालूम रहेगा कि उनको निर्धारित मजदूरी से कम तो मालिक दे नहीं सकता। इसका परिणाम यह होगा कि मजदूर की कार्यक्षमता घट जावेगी, उत्पादन कम होगा और धंधों की उन्नति रुक जावेगी। [illegible] इसकी सम्भावना हो सकती है किन्तु व्यवहार में ऐसा हुआ नहीं है। एक [illegible] इस प्रकार का कानून बन जाने के उपरान्त मजदूर ने कार्य को [illegible] अधिक सतर्कता से करता है, और उससे अधिक काम लेना चाहता है। [illegible] मजदूर भी अधिक वेतन मिलने के फलस्वरूप अधिक काम करते हैं। [illegible] हम कह सकते हैं कि न्यूनतम मजदूरी-कानून से धन्धों और मजदूरों [illegible] लाभ [illegible] है।

भारतवर्ष में न्यूनतम मजदूरी : यदि किसी देश को न्यूनतम मजदूरी-[illegible] की सबसे अधिक आवश्यकता है तो वह भारतवर्ष ही है। इसके नीचे

लिखे कारण हैं —(१) भारतवर्ष के धन्धों में मजदूरी बहुत कम दी जाती है। (२) मिल मालिकों को जब भी आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ता है अथवा कुप्रबन्ध के कारण हानि की सम्भावना होती है तो मज़दूरी की दर को घटा कर वे उस हानि को पूरा कर लेते हैं। देश में जनसंख्या का भूमि पर इतना अधिक भार है कि मज़दूर को जो भी मजदूरी दी जावे वह उस पर काम करने के लिए तैयार हो जाता है। (३) भिन्न-भिन्न धन्धों में और एक ही धन्धे में मजदूरी की दर भिन्न होने के कारण जो हड़तालें होती हैं, और बहुत कम मजदूरी होने के कारण धन्धों में जो आये दिन संघर्ष चलता है, वह देश की आर्थिक उन्नति के लिए हानिकारक है तथा मजदूरों को विवश करता है कि वे हड़तालें करें। जब तक कि देश में न्यूनतम मजदूरी-कानून नहीं बन जाता और न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं करदी जाती तब तक यह दोष दूर नहीं होंगे। अस्तु, देश की औद्योगिक उन्नति के लिए न्यूनतम मजदूरी-कानून बनना नितान्त आवश्यक है। यह एक ऐसा आवश्यक सुधार है जो अविलम्ब हो जाना चाहिए।

सर्व प्रथम १६२८ में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन ने इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया था कि जिन धन्धों में सामूहिक मोल-भाव नहीं हो सकता, अर्थात् मजदूरों का प्रबल संगठन न होने के कारण उचित मजदूरी नहीं मिल पाती, और जिन धन्धों में मजदूरी बहुत कम है, वहाँ न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा निर्धारित कर देनी चाहिये और उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध कर देना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूरी संघ ने जिन अवस्थाओं में न्यूनतम मजदूरी-कानून बनाये जाने का समर्थन किया था, वे सभी अवस्थाएँ भारत में उपलब्ध हैं। यहाँ मजदूरी बहुत कम है और मजदूरों का प्रबल संगठन न होने के कारण वे मालिकों से उचित वेतन पाने में सर्वथा असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त खेती में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण, काम न पा सकने के कारण, वे सब धन्धों में एक-दूसरे की होड़ करके मजदूरी को कम कर देते हैं। मिल-मालिक इस स्थिति का खूब ही लाभ उठाते हैं। ऐसी दशा में भारतवर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के इस प्रस्ताव को लागू करना नितान्त आवश्यक था।

ऐसी दशा में जब भारतवर्ष में शाही मजदूरी कमीशन के सामने मजदूर प्रतिनिधियों ने न्यूनतम मजदूरी की माँग की, तो उनका विश्वास था कि कमीशन उसको स्वीकार करेगा। किन्तु मजदूरी कमीशन ने इस माँग को यह कहकर टाल दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन ने जो यह प्रस्ताव किया था कि

मजदूरी कम हो, वहाँ न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जावे। उसका यह कदापि नहीं था कि किसी देश की मजदूरी की तुलना पश्चिमीय देशों प्रचलित मजदूरी की दर से की जावे, वरन् उसका अर्थ यह था कि उस देश प्रचलित मजदूरी, मजदूरी की दर से, यदि किसी धन्धे में मजदूरी कम हो तो न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करदी जावे। क्योंकि भारतवर्ष मे अधिकांश जनता खेती के धन्धे में लगी हुई है और खेती मे काम करने वालों की मजदूरी कारखानों तथा अन्य धन्धों में काम करने वालों से बहुत कम है। अस्तु, जब तक खेती में काम करने वालों की मजदूरी इतनी कम है तब तक कारखानों न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का प्रश्न ही नहीं उठता, और न कारखानों न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का उस दशा में कोई अर्थ ही है। खेती की स्थिति में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना सम्भव नही है। अस्तु, कमीशन ने न्यूनतम मजदूरी की माँग को अस्वीकार कर दिया।

किन्तु यह विचारधारा शीघ्र ही वदल गई। १६३६ में आम चुनाव हुए कांग्रेस जीत गई। कांग्रेस ने अपनी चुनाव-घोषणा में मजदूरों के लिए उचित की व्यवस्था का वचन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब कांग्रेस प्रान्तों में स्थापित हो गई तो प्रान्तीय सरकारों ने उस ओर ध्यान देना आरम्भ किया। सर्व प्रथम १६३७ में बम्बई सरकार ने निम्नलिखित आशय घोषणा की :—

"प्रान्तीय सरकार उन धन्धों में जिनमें जीवन-निर्वाह योग्य मजदूरी नहीं न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार रही है। सरकार इस दृष्टि से सर्वप्रथम इस बात की जाँच करवाना चाहती कि जीवन निर्वाह योग्य मजदूरी से प्रचलित मजदूरी कितनी कम है और ... है, तथा मजदूरी किस प्रकार ऊँची की जा सकती है।"

संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस सरकार ने १६३८ में एक मजदूर कमेटी बिठाई। कमेटी ने भी बम्बई सरकार की घोषणा का समर्थन इन शब्दों मे किया, "न्यूनतम मजदूरी सिद्धान्त का अर्थ मजदूर को जीवन-निर्वाह योग्य मजदूरी देना है और उस दृष्टि से भारतीय धंधों में मजदूरी बहुत कम है।" कमेटी ने कानपुर के मिल-मजदूर और 'सी' श्रेणी के कैदी के भोजन की तुलना करते हुये यह बतलाया था कि कानपुर का मिल-मजदूर कैदी ... भोजन कम पाता है। और मजदूर का भोजन कैदी की तुलना ... कम पौष्टिक होता है, अतः यह सिद्ध हो गया कि भारतीय ... मजदूरी जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं। अन्य औद्योगिक केन्द्रों

की दशा भी इससे भिन्न नहीं है।

अब हम यहाँ कानपुर के मिल-मालिकों के मत को भी दे देना चाहते हैं। क्योंकि मिल-मालिकों के जो तर्क हैं वे सभी प्रान्तों में एक से हैं। कानपुर के मिल-मालिक संघ ने सिद्धान्ततः न्यूनतम मजदूरी का विरोध तो नहीं किया, किन्तु इन्होंने इस बात की माँग की कि वह केवल कुछ शर्तें पूरी होने पर ही लागू की जावे। वे शर्तें ऐसी थीं कि यदि उनका पालन किया जाता तो न्यूनतम मजदूरी कभी भी निर्धारित की ही नहीं जा सकती थी। अपने आवेदनपत्र में उन्होंने लिखा था, "संघ फैक्टरियों में काम करने वाले मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का विरोधी नहीं है। परन्तु उस समय तक कानपुर में न्यूनतम मजदूरी कभी भी निर्धारित नहीं की जानी चाहिये, जब तक कि अन्य औद्योगिक केन्द्रों में भी न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं करदी जाती क्योंकि इसमें कानपुर के सूती वस्त्र-व्यवसाय के धंधे को गहरा धक्का लगेगा। साथ ही किसी एक धंधे में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर देना भी उचित न होगा जब तक सरकार सभी धंधों में उसे लागू न करे। इसके अतिरिक्त न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करते समय देश के उद्योग-धंधों की स्थिति तथा सरकार की आयात-निर्यात कर-नीति का फिर से अध्ययन करना और उसमें उचित संशोधन करना आवश्यक होगा।"

संक्षेप में उन्होंने कहा कि जब सभी प्रान्तों और देशी राज्यों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जावे तभी कानपुर में की जावे। यह बहुत सम्भव है कि कुछ प्रान्तों में जहाँ प्रतिक्रियावादी दल का बहुमत हो, इस प्रकार का कानून न बनाया जावे और कम से कम देशी राज्यों में तो कुछ समय तक न्यूनतम मजदूरी-कानून बनाये जाने की कोई सम्भावना नहीं है, उस दशा में न्यूनतम मजदूरी-कानून कहीं भी लागू नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनका यह कहना कि जब तक सब धंधों में न्यूनतम मजदूरी लागू न की जावे तब तक किसी एक धंधे में उसको प्रचलित करना उचित न होगा। यह एक ऐसा तर्क है जिसका अर्थ है कि न्यूनतम मजदूरी कभी प्रचलित न की जावे, क्योंकि अभी बहुत समय तक सब में न्यूनतम मजदूरी लागू नहीं की जा सकती।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि धंधों की आर्थिक दशा तथा कर-नीति पर धंधों की उन्नति बहुत कुछ निर्भर है। परन्तु केवल मजदूरों को उचित वेतन देने के लिए यह शर्त लगाना कहाँ तक ठीक है। यह कहना कि धंधों की आर्थिक दशा का ध्यान रख कर ही न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना चाहिये, एक भयंकर तर्क को स्वीकार करना है। यदि कोई धंधा अधिक लाभ नहीं देता है

सरकार के मजदूर सदस्य ने केन्द्रीय धारासभा में यह घोषणा की कि भारत सरकार शीघ्र ही न्यूनतम मजदूरी-कानून बना कर धंधों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर देगी। उक्त घोषणा के अनुसार सरकार ने एक बिल तैयार करके ट्रेड यूनियनों तथा मिल-मालिकों के संघों के पास सम्मति के लिए भेजा। इस बिल के अन्तर्गत सभी उद्योग-धंधों, व्यापार तथा कृषि में भी काम करने वाले मजदूरों का न्यूनतम वेतन निर्धारित करने की व्यवस्था है। बिल में इस बात का भी विधान है कि भारत सरकार द्वारा कानून पास होने के उपरान्त दो वर्षों के अन्दर प्रान्तीय सरकारें धंधों तथा खेती में काम करनेवाले मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दें। कितनी मजदूरी निर्धारित की जावे इसका निर्णय करने के लिए प्रांतीय सरकारें भी कमेटियाँ बिठायेंगी, जिनमें आधे सदस्य मिल-मालिक होंगे तथा आधे मजदूरों के प्रतिनिधि होंगे। किन्तु अभी तक न्यूनतम मजदूरी-कानूनी व्यवहार में लागू नहीं किया गया है। १९५३ में लागू होने की सम्भावना है। यह बिल ऐसेम्बली में पेश कर दिया गया किन्तु अभी इस पर विचार नहीं हो सका है। आशा है कि शीघ्र ही भारत में सभी धंधों में न्यूनतम मजदूरी-कानून लागू हो जावेगा।

किन्तु मजदूरी-कानून बनाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जावे कि मजदूरी इतनी निर्धारित की जावे जो मजदूर की सुख-सुविधा के लिए आवश्यक हो। अच्छा तो यह है कि प्रत्येक धंधे के लिए ट्रेड बोर्ड स्थापित किया जाय जो उस धंधे में न्यूनतम मजदूरी कितनी हो, यह निर्धारित करे और उससे सम्बंधित समस्याओं का निर्णय करे।

मजदूर संगठन जब कारीगर अपने घरों में सामान तैयार करते थे, तब आधुनिक ढंग के मजदूर संघों का सर्वथा अभाव था। सच तो यह है कि उस समय मजदूर संघों की आवश्यकता ही नहीं थी। कारण यह था कि कारीगर स्वयं कोई पूंजीपति नहीं था। वह छोटी मात्रा में उत्पादन-कार्य करता था। अधिकतर वह स्वयं अपने श्रम तथा अपने परिवार वालों की सहायता से सामान तैयार करता था और व्यापारियों को अथवा समीपवर्ती बाजार में ग्राहकों को बेच देता था। पहले तो वह मजदूर रखता ही नहीं था। और, यदि कोई युवक उस धंधे को सीखने के उद्देश्य से उसके यहाँ काम करता भी था तो कारीगर उसके शोषण करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। कारण यह था कि वह मजदूर शिष्य उसी के गाँव का होता था या सम्भवतः उसका मित्र अथवा पड़ोसी होता था। अस्तु, सामाजिक प्रभाव

कारण मालिक अपने शिष्य मजदूर के साथ दुर्व्यवहार नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त कारीगर स्वयं मज़दूर शिष्यों के साथ काम करता था; अतएव वह मजदूर के जीवन से उसकी कठिनाइयों से, अनभिज्ञ नहीं होता था। फिर उसका स्वार्थ भी इसी में निहित था और इसीलिए वह उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार रखता था। क्योंकि वह जानता था कि जहाँ कारीगर मजदूर शिष्य को अपनी नौकरी से हटा कर उसे बेकार कर सकता था वहाँ उसके कठोर व्यवहार के कारण यदि मजदूर शिष्य (जो अधिक नहीं होते थे) उसका कार्य छोड़ दे तो उसका व्यवसाय ठप्प हो सकता था। दूसरे शब्दों में मालिक मजदूरों के लिए आवश्यक था, मजदूर भी मालिक के लिए उतने ही आवश्यक थे। उन दिनों मालिक मजदूरों से बहुत लम्बे समय तक काम ले यह भी सम्भव नहीं था क्योंकि बिजली का आविष्कार नहीं हुआ था। इसलिए रात्रि को कार्य नहीं हो सकता था। कार्य के घंटे केवल दिन में ही निर्धारित थे। सूर्य का यथेष्ट प्रकाश जब तक रहे तभी तक कार्य हो सकता था। उस समय में से नित्य-कर्म, भोजन तथा विश्राम का समय निकाल कर जो समय बचता था उसी में कार्य होता था। एक प्रकार से प्रकृति ने कार्य के इन घंटों को स्वयं निर्धारित कर दिया था। कारीगर मजदूरों से अधिक समय काम लेना भी चाहे तो नहीं ले सकता था। मजदूरों को एक सुविधा और थी कि सारा काम हाथों से होता था। मजदूर कार्य की गति को स्वयं निर्धारित कर सकते थे। कार्य की गति को निर्धारित करना कारीगर के हाथ में नहीं था।

परन्तु उस समय मज़दूर की स्थिति ऐसी दयनीय नहीं थी और उसका जीवन इतना सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त कारीगर भी कोई पूँजीवाला नहीं था। धंधे में पूँजी की इतनी कम आवश्यकता होती थी कि मजदूर शिष्य कुछ दिनों बाद स्वयं स्वतन्त्र कारीगर बनकर अपना धंधा अलग चलाता था। अतएव मजदूर शिष्य को थोड़े ही दिनों मजदूरी करनी पड़ती थी। वास्तव में उस समय कारीगरों और मजदूर शिष्यों के स्वार्थों में इतना संघर्ष नहीं था, जितना कि कारीगरों और उन व्यापारियों के स्वार्थों में जिनको कारीगर माल बेचता था। अधिकतर तो कारीगर स्वयं अपने माल को गाँव या बाजार में बेच देता था। किन्तु जो कारीगर बहुत बहुमूल्य वस्तुएँ तैयार करते थे उन्हें व्यापारियों के हाथ अपना माल बेचना पड़ता था। परन्तु उन व्यापारियों के विरुद्ध कारीगर कोई संगठन कर ही नहीं सकते थे। क्योंकि कारीगर तो भिन्न-भिन्न स्थानों पर बिखरे होते थे, वे संगठित हो ही नहीं

सकते थे। उनके संगठित न हो सकने का दूसरा कारण यह भी था कि कारीगर व्यापारी का नौकर नहीं था। व्यापारी उसे आर्डर देता और माल तैयार करवाता था। अस्तु, व्यापारी से आर्डर प्राप्त करने के लिए कारीगर स्वय आपस में प्रतिस्पर्द्धा करते थे। यही कारण था कि उन दिनों मजदूरों का कोई व्यापक सगठन नहीं बन सका।

किन्तु औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) के उपरान्त जब बड़ी मात्रा में उत्पादन-कार्य होने लगा, बड़े-बड़े कारखाने खोले गये, तो यह स्थिति बदल गई। कारीगर को अपना घर छोड़कर कारखानों में काम करने के लिए जाना पड़ा और शक्ति सचालित यन्त्रों पर कार्य करने के कारण कार्य की गति को निर्धारित करना उसके हाथ में नहीं रहा, वरन् मिल-मालिक के हाथ में चला गया। बिजली के प्रकाश में कारखानों में रात्रि को भी काम करना सम्भव हो गया। फिर मालिक हज़ारों मजदूरों को नौकर रखता था। अतः उसके लिए एक या दो मजदूरों का कोई महत्त्व नहीं रहा। यदि एक या दो मजदूर इस विचार से कि मालिक का व्यवहार कठोर है, वह वेतन कम देता है, उसकी नौकरी छोड़ देते हैं, तो मालिक का काम नहीं रुक सकता। अतएव आज की अवस्था में मिल-मालिक के हाथ में शोपण की अनन्त शक्ति आ गई है।

जहाँ फैक्टरी पद्धति के प्रादुर्भाव से मजदूरों की तुलना में मिल-मालिक बहुत ही शक्तिवान् हो गया है, वहाँ उसी पद्धति में भावी मजदूर-आन्दोलन और मजदूर-सगठन के बीज मौजूद थे। जब प्रातः काल कारखाने का भोंपू बोलता है और दूर-दूर से मजदूर झुंड के झुंड एक साथ सब दिशाओं से आकर कारखाने के फाटक पर इकट्ठे होते हैं उस समय वे आपस में कारखाने के सम्बध में बातचीत करते हैं। उनके क्या दुख-दर्द हैं, उनके लिए किन-किन सुविधाओं की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नों पर वे आपस मे बातचीत करते हैं। दिन भर कारखाने में साथ-साथ काम करते हैं। सायकाल को कारखाने की छुट्टी की सीटी बजने पर जब थके हुए मजदूर धीरे-धीरे अपने घरों की ओर हजारों की संख्या में लौटते हैं, तो स्वभावत वे अपनी स्थिति, कारखाने में होने वाले दुर्व्यवहार, कम वेतन और मालिकों के शोपण के सम्बध में बातचीत करते हैं। यहीं से आधुनिक मजदूर-आन्दोलन और मजदूर-सगठन का जन्म हुआ। आरम्भ मे मालिकों तथा सरकारों के दमन का मजदूर-सगठन को सामना करना पड़ा, परन्तु आज ससार के प्रत्येक देश में मजदूर-सगठन बहुत सबल हो गया है।

मजदूर संगठन का ढाँचा : मजदूर सघों का रूप भिन्न होता है। किन्तु ब्रिटेन में दो प्रकार के मजदूर सघ (trade union) होते हैं। एक क्रैफ्ट के अनुसार दूसरे धन्धे के अनुसार। आरम्भ में क्रैफ्ट अथवा क्रिया के अनुसार मजदूर सघों की स्थापना हुई थी। अर्थात् एक क्रिया में काम करने वालों की एक यूनियन हो। क्रिया के आधार पर जो यूनियन बनाई जाती हैं उसकी विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर एक क्रिया करते हैं, फिर चाहे वे किस धन्धे में लगें और चाहे जिस मालिक के यहाँ काम करते हों, एक यूनियन में सगठित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष में अहमदाबाद का मजदूर सघ क्रैफ्ट यूनियनों का एक सघ है।

धन्धों के आधार पर भी मजदूर-सघ खड़े किये जाते हैं। इस यूनियन की विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर उस धन्धे विशेष में काम करता है फिर वह चाहे किसी भी विभाग या क्रिया में क्यों न काम करता हो उस यूनियन का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए, रेलवेमैन-यूनियन, वस्त्र-[illegible] की यूनियन, इत्यादि इसी प्रकार की यूनियनें हैं।

यूनियन सगठित करने का एक तीसरा सिद्धान्त भी हो सकता है—अर्थात् एक ही मालिक की आधीनता में जो लोग काम करते हैं उनकी यूनियन सगठित की जाय। उदाहरण के लिए, एक म्यूनिस्पेलिटी के सभी विभागों के सभी कर्मचारी फिर वे चाहे स्वास्थ्य, निर्माण, शिक्षा, सफाई, किसी विभाग के क्यों न हों एक यूनियन में सगठित हों। इस प्रकार की यूनियनें बहुत कम देखने में आती हैं।

यूनियनों का संघ : प्रत्येक धन्धे में जो भिन्न-भिन्न स्थानीय केन्द्रों में यूनियनें हैं वे अपना एक सघ बना लेती हैं। उदाहरण के लिए, बम्बई, अहमदाबाद शोलापुर, कानपुर, इत्यादि केन्द्रों की यूनियनें मिलकर अखिल भारतीय टैक्सटाइल लेबर फैडरेशन बनालें। इस प्रकार उस धन्धे में काम करने वाले सभी मजदूर एक भारतीय सघ की आधीनता में काम करेंगे।

किन्तु केवल भिन्न-भिन्न धन्धों के राष्ट्रीय सघों से ही समस्या हल नहीं हो जाती, परन्तु बहुत-सी मजदूरों की समस्याएँ और प्रश्न ऐसे होते हैं जो कि [illegible] काम करने वाले मजदूरों के लिए एक समान महत्वपूर्ण होते हैं। [illegible] मजदूरों के राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए [illegible] हितों की रक्षा करने के लिए एक राष्ट्रीय सघ आवश्यक होता है। [illegible] में मजदूर-कांग्रेस (trade union congress) होती है [illegible] मजदूर सघ और ट्रेड यूनियनें सम्बन्धित रहती हैं।

मजदूर संगठनों का कार्य . मजदूर यूनियनों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य श्रमजीवियों की सर्वाङ्गीण उन्नति है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मजदूर सभाएँ और मजदूर संघ बहुत से उपाय काम में लाते हैं। उनके कार्यों की तालिका बहुत लम्बी है। किन्तु वे सब कार्य तीन श्रेणियों में बाटे जासकते हैं :–

(१) रचनात्मक कार्यक्रम, (२) पूंजीपति से अधिक से अधिक वेतन तथा सुख-सुविधाएँ प्राप्त करना और उसके साथ निरन्तर संघर्ष करना, और (३) राजनैतिक-कार्यक्रम, जिसका उद्देश्य मजदूरों का शासन-यन्त्र पर आधिपत्य स्थापित करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना होता है।

(१) रचनात्मक-कार्यक्रम के अन्तर्गत मजदूरों की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, वेकारी तथा बीमारी में आर्थिक सहायता, रहने की सुविधा, सहकारी-उपभोक्ता स्टोर तथा नौकरी दिलाने के लिए ब्यूरो स्थापित करना, इत्यादि सभी कार्य ट्रेड यूनियन करती है।

(२) पूंजीपतियों से वातचीत करके मजदूरों के उचित वेतन, अच्छा व्यवहार, कारखाने में अन्य सुविधाएँ प्राप्त कराना और आवश्यकता पड़ने पर अपनी मॉगों को स्वीकार कराने के लिए पूंजीपतियों से संघर्ष करना अर्थात् हड़ताल करना।

(३) राजनैतिक-कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने प्रतिनिधियों को पार्लियामेंट में भेजकर, मजदूरों के हितों के कानून बनवाकर उन्हें सुरक्षित करना तो मजदूर-आन्दोलन का तात्कालिक उद्देश्य होता ही है, परन्तु अपने उद्देश्यों का प्रचार करके तथा शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना उसका अन्तिम लक्ष्य होता है।

प्रत्येक देश में मजदूर-आन्दोलन अपनी शक्ति के अनुसार अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ रहा है। जिस देश में आन्दोलन अधिक सबल है वह लक्ष्य के उतना ही अधिक समीप पहुँच गया है। भारतवर्ष में हम उस लक्ष्य से बहुत दूर हैं।

———

परिच्छेद ५५

सूद (Interest)

द्रव्य या मुद्रा (money) के उपयोग के लिए सूद देने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। यद्यपि सूद की प्रथा का सभी धार्मिक नेताओं ने बड़ा विरोध किया, और राज्य ने उसे वर्जित कर दिया किन्तु फिर भी यह प्रथा प्रचलित रही। इसका कारण यह था कि जब लोग सूद देकर रुपया उधार लेने के लिए तैयार थे तो फिर कानून की अवहेलना करना आसान था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूद के अस्तित्व का कोई गहरा कारण है।

सूद लेने की प्रथा को घृणा की दृष्टि से देखने के प्राचीन तथा माध्यमिक काल में उचित कारण थे। कारण यह था कि उस समय धन (wealth) का उत्पादन थोड़ी मात्रा में होता था, अस्तु, पूँजी (capital) की बहुत कम आवश्यकता होती थी, अतएव लोग व्यापार और धंधों के लिए उतना ऋण नहीं लेते थे जितना कि आपत्ति के समय अपना काम चलाने के लिए ऋण लेते थे। यदि विपत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने पड़ोसी से रुपया उधार लेकर अपना काम चलावे और वह उससे सूद ले, तो, यदि धार्मिक नेताओं को अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। उनका कहना था कि द्रव्य या मुद्रा स्वयं धन उत्पन्न नहीं करती। अस्तु, उधार देने वाले को मूल से अधिक कुछ भी न लेना चाहिए।

परन्तु जिन लोगों को द्रव्य या मुद्रा (money) की आवश्यकता होती थी वे सूद देने के लिए तैयार रहते थे। जैसे-जैसे व्यापार और उद्योग-धंधों का विकास हुआ और व्यापारियों तथा व्यवसायियों को अधिकाधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ने लगी, सूद पर कानूनी प्रतिबंध सभी को अखरने लगे। [illegible] नेताओं तथा विचारकों ने देखा कि व्यापार और उद्योग-धंधों के [illegible] लिए यह आवश्यक है कि लेने देन की सुविधा हो। ऐसी दशा में सूद को [illegible] रखना व्यर्थ था। अस्तु, [illegible] इन कानूनों को [illegible] दिया गया।

उधार लेने की आवश्यकता क्यों पड़ती है? उधार लेने की आवश्यकता [illegible] दृष्टिकोणों से [illegible] है। [illegible]

की दृष्टि से और दूसरे औद्योगिक आवश्यकता की दृष्टि से। जहाँ तक व्यक्ति के उपभोग की दृष्टि से उधार लेने का प्रश्न है वह इस कारण आवश्यक हो जाता है क्योंकि आय और व्यय का ठीक सामजस्य स्थापित नहीं हो पाता। यदि कभी व्यय अधिक है तो आय कम है और यदि कभी आय अधिक है तो व्यय कम होता है। आय एक नियमित धारा के समान है जो एक समान रहती है। परन्तु व्यय दो प्रकार का होता है। एक व्यय तो उन वस्तुओ को खरीदने पर होता है जिनका तुरन्त उपभोग होगा। दूसरे प्रकार का व्यय जो अधिक मात्रा में होता है उन वस्तुओं को खरीदने में होता है जिनका उपभोग क्रमशः धीरे-धीरे लम्बे समय में होगा।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति है जिसके पास एक रुपया भी बचत का नहीं है। वह अपना जीवन आरम्भ करता है और जानता है कि उसके जीवन-काल मे पचास हजार रुपए का व्यय होगा और ६० हजार की आय होगी। यद्यपि अपने जीवन-काल में उसको जितना व्यय करना होगा, उससे आय अधिक होगी परन्तु यदि थोडे समय को लें तो यह आवश्यक नही है कि उसकी आय और व्यय बराबर हो जावें। कल्पना कीजिए कि उसको साधारण मासिक व्यय चलाना है तो उसकी आय व्यय से कुछ अधिक होगी, परन्तु यदि उसको एक मकान खरीदना है या अपनी पुत्री का विवाह करना है तो उसी महीने मे उसकी आय इतनी नही हो सकती कि वह मकान खरीद सके या लड़की का विवाह कर सके।

यह व्यक्ति एक काम कर सकता है कि वह मकान को खरीदने, लड़की का विवाह करने या लड़के को पढाने के लिए अपने जीवन के सध्याकाल तक रुका रहे, जब तक कि उसके पास यथेष्ट रुपया जमा न हो जावे। स्पष्ट है कि इससे उसको असुविधा और हानि होगी। यदि वह किसी प्रकार उतना रुपया जो कि वह अपने जीवन के मध्याकाल में जमा कर सकेगा, इसी समय प्राप्त कर सके और उसे मकान खरीदने, लड़की का विवाह, इत्यादि करने पर व्यय कर सके तो उसे उपयोगिता (utility) लाभ अधिक होगा।

अब हम एक दूसरे व्यक्ति की कल्पना करते हैं कि जिसके पास अपना जीवन आरम्भ करते समय ही उतनी रकम है कि जितनी वह अपने जीवन भर में व्यय करेगा। यह तो स्पष्ट है कि वह व्यक्ति अपने जीवन काल के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं को एक साथ खरीद कर रख ले यह सम्भव नहीं होगा। अस्तु, उसकी अतिरिक्त रकम या पूँजी बेकार रहेगी। वह उसे गाड़ कर रखेगा। दूसरे शब्दों में इस व्यक्ति के लिए द्रव्य या मुद्रा (money) की सीमान्त उपयोगिता

marginal utility) पहले व्यक्ति की तुलना में कम होगी।

अब, यदि यह दो व्यक्ति मिलें तो विनिमय (exchange) की अनुकूल परिस्थिति उपस्थित हो जावेगी। पहले व्यक्ति को उधार लेने से उपयोगिता लाभ होगा और दूसरा व्यक्ति बिना किसी हानि के अपनी रकम को उधार दे सकता है। ...कार उधार लेने वालों की इच्छा उधार देने वालों की इच्छा से अधिक ... होती है। अस्तु, उधार लेने वाले को उधार देने वाले को कुछ लालच देना होगा तभी वह अपनी रकम उसे उधार देगा। यही सूद कहलाता है।

उधार देने वाले की स्थिति को तनिक अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता ... जिसके पास बेकार रकम पड़ी है उसको यह तो मालूम नहीं हो सकता कि कब उसे खर्च करने की जरूरत पड़ जावे। अस्तु, वह अपनी रकम या पूँजी को तरल (liquid) अवस्था में रखना पसन्द करेगा। वह या तो अपनी रकम ... अपने पास गाड़ कर रक्खेगा अथवा किसी बैंक के चालू खाते (current account) में जमा करेगा। परन्तु, यदि वह अपने पास अपनी धनराशि रखता है अथवा बैंक में जमा करता है तो उसको उससे कुछ भी आय नहीं होती है। और, यदि वह अपनी धनराशि किसी को एक निश्चित समय के लिए उधार दे देता है और उसी बीच में कल्पना कीजिए कि वह मकान जो कि वह खरीदना चाहता था नीलाम होता है तो नकद रुपया न होने के कारण वह उसको खरीद नहीं सकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि साधारणतया कोई भी व्यक्ति अपनी धनराशि को तरल अवस्था (liquid form) में रखना पसन्द करेगा। वह उसे उधार उसी दशा में देगा कि जब उसे कुछ आय की प्राप्ति हो। इससे यह स्पष्ट है कि बिना कुछ सूद लिए कोई किसी को अपना द्रव्य उधार नहीं देगा। ... उधार देने में जोखिम और झंझट रहता ही है। ऋण लेने वाला व्यक्ति चाहे कितना ही साखवाला और ईमानदार क्यों न हो यह सम्भावना तो ... रहती है कि ऋण लेने वाले को अपनी धनराशि ठीक समय पर वापस न दे। सरकारी सिक्यूरिटियों या प्रतिभूतियों (government securities)

है। बचत (savings) वास्तव में उत्तम औजारों और उत्पादन के सुधरे हुए तरीकों में सन्निहित होती है। ऋण इसलिए लिया जाता है क्योंकि सुधरे हुए औजार तथा उत्पादन के तरीकों से अधिक धन उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में वास्तविक पूँजी (real capital) की उत्पादन-शक्ति का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। शेष बातें पहले जैसी ही रहती हैं।

यहाँ भी उधार देने वाले तथा उधार लेने वाले दोनों को ही लाभ होता है। जो व्यक्ति उधार देता है यदि वह उस पूँजी (capital) को किसी अन्य कार्य में लगाता है तो उसको उससे कम आय होगी और उधार लेने वाला उसके द्वारा अधिक आय प्राप्त कर सकता है। उधार लेने वाला ऐसे व्यक्ति से उधार लेता है कि जो अपनी आय का एक भाग बिना अधिक असुविधा के उधार दे सकता है। यदि उधार लेने वाला स्वयं वह बचत करे तो उसे अधिक कष्ट और असुविधा होगी। यदि कर्ज लेने वाला उधार देने वाले को सूद के रूप में उस बचत से उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त धन से कम देता है तो उसको स्पष्ट ही लाभ होता है और उधार देने वाले को भी लाभ होता है, क्योंकि, यदि वह उस बचत को किसी अन्य कार्य में लगाता तो उससे प्राप्ति कम होती।

कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक जगत में सूद पूँजी की उत्पादन-शक्ति के द्वारा उत्पन्न होता है। पूँजी धनोत्पत्ति करती है अतएव उसके उपयोग के लिए सूद देने की आवश्यकता होती है।

कुल सूद (Gross Interest) और शुद्ध सूद (Net Interest)। यह तो पहले ही कह चुके हैं कि सूद पूंजी (capital) के उपयोग के लिए दिया जाता है। अर्थशास्त्र में सूद या शुद्ध सूद उसको कहते हैं जो कि केवल पूंजी के उपयोग मात्र के लिए दिया जाता है जिसमें ऋण के न चुकाये जाने की जोखिम और ऋण को वसूल करने की झंझट के लिए कुछ भी सम्मिलित नहीं होता। यह हम ऊपर ही कह आये हैं कि जब कोई ऋण दिया जाता है उसमें जोखिम और झंझट दोनों ही अनिवार्य रूप से उपस्थित होते हैं। अस्तु, व्यवहार में जो सूद कोई ऋण लेने वाला अपने ऋणदाता को देता है उसमें शुद्ध सूद (pure interest) के अतिरिक्त जोखिम का बीमा और ऋणदाता को ऋण देने में जो कष्ट, परिश्रम और झंझट उठानी पड़ती है उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में जो रकम देनी पड़ती है वह सभी सम्मिलित रहती है। अस्तु, कुल सूद (gross interest) में (अ) शुद्ध सूद अर्थात् पूंजी के उपयोग मात्र के लिए दी जाने वाली धनराशि, (क) ऋण देने में जो जोखिम उठानी पड़ती है उसके बीमे का व्यय (ख) लेन-देन में जो परिश्रम और

[illegible] करना पड़ता है, उसका पारश्रमिक सम्मिलित होता है। मार्शल ने जोखिम को दो श्रेणियों में बाँटा है। प्रथम व्यावसायिक जोखिम (trade risk) दूसरा व्यक्तिगत जोखिम। व्यावसायिक जोखिम का कारण यह होता है कि [illegible] उत्पादन (production) समाप्त हो उस वस्तु की माँग में [illegible] हो जावे, उसके कच्चे माल की कीमत गिर जावे, या नये आविष्कार हो जाने के कारण उस वस्तु का लागत-व्यय कम हो जावे इससे [illegible] कीमत गिर जावे। व्यक्तिगत जोखिम का कारण ऋण लेनेवाले की बेईमानी या उसकी असमर्थता में छिपा होता है। जो व्यक्ति ऋण देता है उसको इस जोखिम के उठाने के लिए क्षतिपूर्ति के रूप में कुछ धन-राशि मिलनी चाहिए। जब ऋण देने में जोखिम उठानी पड़ती है तो ऋणदाता (lender) को उस जोखिम को कम से कम करने के लिए बहुत [illegible] करना पड़ता है और परेशानी उठानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त लेन-देन में यह समस्या भी उपस्थित होती है कि ऋणी उस समय अपना ऋण चुकाये [illegible] उस द्रव्य को लाभदायक ढंग से लगाने की अनुकूल परिस्थिति [illegible], अथवा ऋण इतने लम्बे समय के लिए माँगा जावे जिसे ऋणदाता उचित [illegible] न समझता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि लेन-देन में जितनी [illegible] और असुविधा होगी उतना ही कुल सूद अधिक होगा। (ग) [illegible] में लेन-देन के सम्बंध में जो कार्य करना पड़ता है उसकी मजदूरी [illegible] सम्मिलित होती है। लेन-देन के कारबार में हिसाब रखना पड़ता है। जब [illegible] कोई किश्त चुकाता है, तो उसका लेखा रखना पड़ता है तथा सूद [illegible] का हिसाब रखना पड़ता है। इस कार्य के लिए भी ऋणदाता को [illegible] चाहिए जो कि कुल सूद में जुड़ा रहता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार में केवल कुल [illegible] लिया और दिया जाता है। शुद्ध सूद (net interest) व्यावहारिक जगत [illegible] में नहीं मिलता। सरकार को ऋण देने में भी थोड़ा जोखिम तो [illegible] है, परन्तु, सरकारी ऋण पर जो सूद दिया जाता है वह भी शुद्ध सूद [illegible] कहा जा सकता। हाँ, वह शुद्ध सूद के निकटतम होता है। भिन्न-भिन्न [illegible] के ऋण लेने वालों के लिए कुल सूद की दर भिन्न होती है, क्योंकि [illegible] ऋण देने में जोखिम, झंझट, हिसाब रखने का [illegible] भिन्न-भिन्न होता [illegible] यही कारण है कि यदि बड़े जमींदारों को ऋण ६ प्रतिशत सूद पर [illegible] सकता है तो निर्धन किसान को २४ प्रतिशत पर ऋण मिलता है। [illegible] [illegible] की दर [illegible] में [illegible] समान होती है, परन्तु कुल सूद की दर भिन्न-

भिन्न स्थानों पर तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए एक नहीं होती।

सूद क उत्पत्ति सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest) इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि पूजी (capital) धनोत्पत्ति मे सहायक होती है अस्तु, उसके उपयोग के लिए सूद देना आवश्यक है। श्रम (labour) पूँजी अर्थात् यत्र और औजारों की सहायता से जितनी धनोत्पत्ति करता है वह उससे वहुत अधिक होती है जितनी कि विना पूजी की सहायता से उत्पादन किया जा सकता है। औजार और यत्र उन लोगों की आय में वृद्धि करते हैं जो कि उनका उपयोग करते हैं। यही कारण है कि उत्पादनकर्ता उनकी मॉग करते हैं। पूजी के उपयोग से धनोत्पत्ति वहुत वढ जाती है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि पूजी के उपयोग से उत्पादन सीधा न होकर हेर-फेर के साथ होता है। पहले श्रम औजार तथा यत्र बनाने मे लगता है तथा यातायात के साधनों की उन्नति करने में लगाना पड़ता है तव कहीं वह वस्तु जिसको उत्पन्न करना अभीष्ट है, उत्पन्न होती है। जैसे-जैसे उत्पादन में अधिकाधिक पूजी (capital) का उपयोग होता जाता है वैसे ही वैसे उत्पादन अधिक हेर-फेर के साथ और चक्करदार होता जाता है। और जितना ही उत्पादन अधिक चक्करदार होगा उतनी ही उत्पादन की मात्रा अधिक होगी।

उत्पादन मे पूजी का उपयोग भी क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) के द्वारा प्रभावित होता है। यदि उत्पत्ति के अन्य साधन पूर्ववत् हा रहें और पूजी (capital) का अधिकाधिक उपयोग किया जावे तो उत्पत्ति में वृद्धि तो अवश्य होगी किन्तु घटती हुई दर म होगी। व्यवसायी अथवा उत्पादनकर्त्ता उस सीमा तक पूजी को वढाता जावेगा कि जव उस पूजी के लिए दी जाने वाली कीमत अर्थात् सूद उस पूजी की इकाई से होने वाली उत्पत्ति के वरावर हो जावे । इसी प्रकार व्यवसायी अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से भूमि (land) और श्रम (labour) के स्थान पर पूँजी की अधिक इकाइयॉ लगावेगा , यदि ऐसा करने मे उसको व्यय कम करना पडे और उत्पादन अधिक हो। इसी प्रकार यदि भूमि या श्रम को अधिक लगाकर कम व्यय से वह अधिक उत्पादन कर सके तो वह वैसा करेगा। अन्त मे उत्पादनकर्त्ता उदासीनता की सीमा (margin of indifference) पर पहुच जावेगा, जहाँ वह पूँजी, भूमि या श्रम चाहे जिसकी इकाइयों की वृद्धि करे, उत्पत्ति मे वृद्धि एक समान अनुपात में होगी। जो वात एक व्यक्ति के लिए सही है वही समाज के लिए सही होगी। अस्तु, सूद की दर पूजी की एक इकाई की सीमान्त उत्पत्ति (marginal

ductivity) के बराबर होगी।

सिद्धान्त की आलोचना : आधुनिक काल में कुछ विद्वानों ने इस [illegible] की आलोचना की है। उनका कहना है कि "पूँजी उत्पादक है", इसके [illegible] हो सकते हैं। अर्थात् पूँजी अधिक वस्तुएँ उत्पन्न करती है या पूँजी [illegible] विनिमय मूल्य (value) उत्पन्न करती है। इसमें तो तनिक भी [illegible] नहीं कि पूँजी से वस्तुए उत्पन्न होती हैं यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु [illegible] यह सिद्ध नहीं होता कि पूँजी अधिक मूल्य उत्पन्न करती है। इसको [illegible] के लिए हमें उन पूँजी-पदार्थों (capital goods) का मूल्य जानना [illegible] कि जिनका उत्पादन में उपयोग किया गया है। पूँजी-पदार्थों का [illegible] मूल्य उनसे होने वाली भावी आय पर निर्भर रहता है। परन्तु यह तब [illegible] मालूम नहीं हो सकता जब तक कि हमें सूद की दर न मालूम हो जावे। [illegible] के लिए, यदि एक यन्त्र से वर्ष में एक हजार रुपये की आय होती [illegible] प्रचलित सूद की दर पाँच प्रतिशत है, तो हम कह सकते हैं कि उस [illegible] का मूल्य २०,००० रु० है। यदि हम यह कहते हैं कि उस यन्त्र का मूल्य [illegible] रु० है तो हम मान लेते हैं कि सूद की दर पाँच प्रतिशत है। ऐसी [illegible] हम उस वस्तु (सूद) को किस प्रकार निश्चित या मालूम कर सकते [illegible] जो हमने पहले ही पूँजी का मूल्य मालूम करने में मान लिया है। [illegible] सिद्धान्त में यही एक दोष है कि एक ओर हम कहते हैं कि पूँजी की [illegible] उत्पत्ति (marginal productivity) से सूद की दर निर्धारित [illegible] है दूसरी ओर पूँजी के वर्तमान मूल्य को मालूम करने के लिए हम एक [illegible] दर को मान लेते हैं।

[illegible] सिद्धान्त में यह दोष होते हुए भी यह निस्सन्देह है कि सीमान्त उत्पत्ति [illegible] दर को प्रभावित करती है। जो अर्थशास्त्री इस सिद्धान्त की आलोचना [illegible] भी यह तो स्वीकार करते ही हैं कि सूद की दर निर्धारित करने में [illegible] उत्पत्ति का गहरा प्रभाव पड़ता है। फिशर, जो कि सीमान्त उत्पत्ति [illegible] कठोर आलोचक है, का भी मत है कि सूद [illegible] और इसके लाभदायक विनियोग (investment) की [illegible] द्वारा निर्धारित होता है। लाभदायक विनियोग [illegible] सीमान्त उत्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि हम [illegible] अर्थात् पूँजी की माँग (demand) और पूर्ति [illegible] सूद की दर निर्धारित होती है इसको स्वीकार करें तो भी [illegible] सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity of capital) का

प्रभाव सूद पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। पूजी की सीमान्त उत्पत्ति ही उत्पादनकर्त्ता या व्यवसायी की पूजी की माग को निर्धारित करेगी। यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें और किसी भी कारण से, जैसे नये आविष्कारों से, शक्ति के नवीन साधनों से या अन्य परिवर्त्तनों से पूजी की सीमान्त उत्पत्ति में वृद्धि हो जावे तो धन्धों मे लगाने के लिए पूजी की माग वढ जावेगी और उसके परिणामस्वरूप सूद की दर भी वढ जावेगा।

त्याग या प्रतीक्षा और सूद सीमान्त उत्पत्ति-सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करता है कि पूजी की माग क्यों होती है। अब हम उन प्रभावों का अध्ययन करेंगे कि जिनके कारण पूजी की पूर्त्ति (supply of capital) सीमित हो जाती है। 'सीनियर' पहला अर्थशास्त्री था जिसने बतलाया कि 'बचत' जो कि बाद को पूजी-पदार्थों मे परिणत होती है, त्याग के द्वारा ही सम्भव है। लोग अपनी समस्त आय को तत्कालीन वस्तुओं को खरीद कर उनका उपभोग करने में व्यय कर सकते हैं परन्तु जब वे बचाते हैं, तो वे वर्त्तमान उपभोग का त्याग करते हैं। यह त्याग सुखकर नहीं वरन् कष्टकर होता है। अतएव, यदि हम चाहते हैं कि लोग बचावें और इस प्रकार पूजी (capital) उपलब्ध हो तो हमें उन्हें बचाने के लिये प्रोत्साहित करना होगा और इसके लिए उन्हें कुछ लालच देकर उस त्याग के लिए तैयार करना होगा। अतएव सूद (interest) त्याग का हर्जाना है।

इस सिद्धान्त के आलोचकों ने 'त्याग' शब्द पर विशेष आपत्ति उठाई। उनका कहना है कि 'त्याग' सदैव कष्टकर होता है किन्तु 'बचाने' में सदैव कष्ट नहीं होता। जो व्यक्ति बहुत धनी है उसको थोड़ी बचत करने में तनिक भी कष्ट नहीं होगा। अतएव इस आलोचना से बचने के लिए मार्शल ने 'त्याग' शब्द के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग किया है।

बचत करने मे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का एक भाग बचाता है तो वह सदैव के लिए उसके उपभोग को त्याग नहीं देता। वरन् वह उसके उपभोग (consumption) को कुछ समय के लिए टाल भर देता है और उस समय के बाद जब उससे अधिक आय होने लगती है तो वह उसका उपभोग करता है। परन्तु उस समय तक प्रतीक्षा करना आवश्यक है और लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नहीं करते। केवल बचाने में ही नहीं सभी उत्पादन-कार्यों में प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किसान जो फसल बोता है फसल पकने तक उसे उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। माली जिस वृक्ष को लगाता है उसका फल प्राप्त करने के लिए प्रतीक्षा करता है। [illegible]

निर्धारित होती है। ऋण स्वरूप दी जाने वाली धन-राशि दो कारणों से कम हो सकती है। एक कारण तो यह है कि लोग प्रतीक्षा करना नहीं चाहते और दूसरा कारण यह है कि वे अपनी बचत को नकदी के रूप में अपने पास ही रखना चाहते हैं उसे कहीं लगाना नहीं चाहते। वे अपनी बचत को तरल (liquid) रखना चाहते हैं।

समय अभीष्ट सिद्धान्त (Time Preference Theory)अथवा एजिओ (Agio) सिद्धान्त : इस सिद्धान्त का आधार यह है कि मनुष्य उपभोग में वर्त्तमान वस्तुओं को, भविष्य मे मिलने वाली वस्तुओं से, अधिक पसद करता है। कहावत है कि हाथ की एक चिड़िया झाड़ी में की दो चिड़ियों से अच्छी है मनुष्य स्वभावत. वर्त्तमान को भविष्य से तरजीह देता है। जिस प्रकार दूर की वस्तु हमे पास की वस्तु से छोटी दिखती है उसी प्रकार मनुष्य को भावी वस्तु अथवा भावी तृप्ति कम महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम वर्त्तमान से भावी उपभोग की तुलना करते हैं तो भावी उपभोग पर बट्टा लग जाता है और यही बट्टा (discount) सूद है।

फिशर इस सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक है। उसका कहना है कि स्वभावत: व्यक्ति वर्त्तमान आय और उससे होने वाली सतुष्टि को उतनी ही भावी आय और सतुष्टि से अधिक पसद करता है। बिना सूद के लालच के वह आय के वर्त्तमान उपभोग को नहीं छोड़ सकता। सूद की दर ही व्यक्ति के आय के व्यय करने की उतावली को रोक कर उसे बचाने के लिए प्रोत्साहित करती है किसी व्यक्ति की वर्त्तमान आय को व्यय कर डालने की उतावली निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है:—प्रथम, आय की मात्रा पर, दूसरे, उसको प्राप्त होने वाली आय में समय के अनुसार क्या परिवर्त्तन होने वाला है उस पर, तीसरे उसकी आय के स्रोत क्या हैं उस पर; चौथे, भविष्य मे उस आय के मिलने की सम्भावना पर, और पाँचवे, व्यक्ति के स्वभाव पर अर्थात् वह सयमी और दूरदर्शी है अथवा नहीं, इस पर निर्भर करती है।

यदि किसी की आय अधिक है तो इस बात की सम्भावना है कि वह अपनी अधिकतर वर्त्तमान आवश्यकताओं को पूरा कर ले। उस दशा में वह भविष्य की आवश्यकताओं को अत्यन्त महत्त्वहीन नहीं समझेगा। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति निर्धन है तो उसको वर्त्तमान आवश्यकताओं की तुलना में भावी आवश्यकताएँ बहुत कम महत्त्व की प्रतीत होंगी। आय का समय के अनुसार परिवर्त्तन तीन प्रकार का हो सकता है.—एक तो आय सदैव एक समान रहे दूसरे, भविष्य मे आय बढती जावे; और तीसरे, भविष्य में आय घटती जावे। यदि

यदि एक समान रहने वाली है तो आय को व्यय कर डालने की अधीरता वाली इस व्यक्ति की आय की मात्रा तथा उसके व्यक्तिगत स्वभाव पर रहेगी। यदि आयु के साथ आमदनी बढ़ने वाली हो, तो उसका अर्थ हुआ कि भविष्य के लिए यथेष्ट आमदनी निश्चित है किन्तु वर्त्तमान आय की तुलना में कम है। अस्तु, व्यक्ति वर्त्तमान आय को व्यय कर डालने के बहुत अधीर होगा। इसके विरुद्ध यदि आयु बढ़ने के साथ-साथ आय घटने वाली हो तो व्यक्ति भावी आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व देगा और वर्तमान आय को व्यय कर डालने के लिए उतना अधीर नहीं होगा। अन्त में सब कुछ मनुष्य के स्वभाव और चरित्र पर निर्भर रहता है। यदि व्यक्ति फिजूलखर्च स्वभाव का है तो वर्त्तमान आय को व्यय कर डालने की अधीरता बहुत रहेगा।

के लिए त्याग करके या कष्ट सहकर वह बचत की है। सच तो यह है कि उसका व्यय उसकी आमदनी से कम है। उसके रहन-सहन का दर्जा (standard of living) पहले जैसा ही रहता है, क्योंकि वह पहले से ही बहुत ऊँचा था। आय बढने से उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। अतएव आमदनी का अधिकांश भाग बचत बन जाता है। इस बचत को वह ऋण लेने वालों को देकर सूद लेता है। अस्तु, इस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि सूद (interest) त्याग या प्रतीक्षा का प्रतिफल है।

आज व्यक्तिगत रूप से बहुत कम लोग ऋण देते हैं। हाँ, भारतीय गाँवों मे लेन देन का कार्य महाजन और साहूकार व्यक्तिगत रूप से अवश्य करते हैं। परन्तु अधिकतर बैंक ऋण देने का कार्य करते हैं। इन संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य ही ऋण देना होता है, अतएव इनके बारे में ऋण देने में त्याग और संयम का प्रश्न ही नही उठता। यदि यह कहा जावे कि बैंकों को ऋण देने में त्याग, संयम और कष्ट सहन करना पड़ता है तो यह असंगत बात होगी। इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं में समय अभीष्ट (time preference) का प्रश्न भी नहीं उठता।

लार्ड कीन्स का मत है कि यदि थोड़ी देर के लिए समय अभीष्ट सिद्धान्त (time preference theory) को स्वीकार भी कर लिया जावे, तो यह कहना ठीक नहीं होगा कि लोग प्रत्येक दशा में वर्त्तमान को भविष्य से अच्छा ही समझते हैं। दूरदर्शी लोग योजना बनाते हैं जिससे भविष्य सुखी और आर्थिक चिन्ता से रहित हो। बहुत से लोग वृद्धावस्था मे सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए द्रव्य सञ्चय करते हैं। कोई अपनी पुत्री के विवाह और पुत्र की शिक्षा के लिए आरम्भ से ही बचाते हैं, कोई यश और मान प्राप्त करने के लिए, और कोई व्यापार धंधे के लिए अधिक पूँजी एकत्रित करने के उद्देश्य से आरम्भ से ही बचत करते हैं। इन दशाओं में यह नहीं कहा जा सकता कि बचाने वाले भविष्य को वर्त्तमान से बुरा समझते हैं। उनके सामने तो भविष्य की आवश्यकता ही महत्त्वपूर्ण होती है। अस्तु, "समय अभीष्ट सिद्धान्त" प्रत्येक दशा में लागू नहीं होता यह स्पष्ट है।

कीन्स का मत है कि इस सम्बन्ध में तरलता अभीष्ट सिद्धान्त (liquidity preference theory) ही अधिक उपयुक्त सिद्धान्त है। व्यक्ति चाहे किसी भी विचार से प्रभावित होकर द्रव्य सञ्चय करे, वह उसको अपने पास नकदी के रूप में रखना अधिक पसन्द करेगा। इसमें यह प्रश्न किसी महत्त्व का नहीं है कि उसने द्रव्य किस रीति से बचाया है। महत्त्वपूर्ण बात केवल यह है कि वह उस सञ्चित द्रव्य को किस रूप में चाहता है। यदि उसके पास द्रव्य नकदी के

रूप में हो तो आवश्यकता पड़ने पर उसे किसी भी काम में लगाया जा सकता है। द्रव्य का उसके स्वामी के पास नकदी के रूप में ही महत्त्व है।

जब किसी व्यक्ति के पास कुछ द्रव्य-आय होती है तो सबसे पहले वह निश्चित करता है कि वह उसमें से कितना व्यय करेगा और कितना बचायेगा। किन प्रभावों के कारण वह व्यय करने और बचाने का अनुपात निश्चित करता है यह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। जब वह अपनी आय का कुछ अंश बचाता है तो फिर उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे नकदी के रूप में अपने पास ही रक्खे अथवा उसको किसी को उधार दे। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की यह प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी बचत को तरल अर्थात् नक़दी के रूप में ही रक्खे। वह उसको किसी को भी देना नहीं चाहता और यदि देता है तो उसके लिए सूद लेना है। जब कोई व्यक्ति ऋण लेता है तो नक़द द्रव्य ही माँगता है जिसे ऋणदाता नहीं देना चाहता इस कारण ऋणदाता सूद लेता है। बैंकों के साथ भी यही बात होती है। उनकी शक्ति भी नकद द्रव्य पर निर्भर रहती है। जिस बैंक के पास जितना नक़द द्रव्य होगा वह उतना ही सुदृढ बैंक होगा। यदि बैंकों के पास द्रव्य का अनुपात कम हो जावे तो उनको अपने सूद की दर बढ़ानी पड़ती है और यदि उनके पास नक़द द्रव्य का अनुपात यथेष्ट हो तो उनकी सूद की दर कम रहती है। यदि ऋणदाता बैंक न होकर व्यक्ति हो, तो वह भी अपनी तरलता पसन्द प्रवृत्ति के अनुसार सूद की दर निर्धारित करेगा। यदि वह द्रव्य अधिक पसन्द करता है तो उसकी सूद की दर ऊँची होगी अन्यथा कम होगी।

वाणिज्य में गिरावट आवेगी, नये कारवार कम स्थापित होंगे। अस्तु, द्रव्य-आय का स्तर गिर जावेगा और व्यवसाय तथा अन्य प्रकार के कारवार के लिए कम द्रव्य की आवश्यकता होगी। इसके विरुद्ध यदि सूद की दर कम होगी तो अपेक्षाकृत लोग अपनी बचत का बड़ा अंश नकदी के रूप में अपने पास रखना चाहेंगे, क्योंकि उससे सूद की हानि कम होगी। किन्तु इसके विपरीत उद्योग-धंधों के लिए पूँजी की माँग अधिक हो जावेगी, क्योंकि पूँजी को प्राप्त करने का व्यय अर्थात् सूद कम हो जावेगा।

तरलता अभीष्ट के कारण (Causes of Liquidity Preference). अब प्रश्न यह है कि कोई अपने द्रव्य या मुद्रा को नकदी के रूप में या बैंक की चालू डिपाजिट के रूप में क्यों रखना चाहता है, क्यों उस पर उसे कोई सूद नहीं मिलता। ऐसा कोई कारण अवश्य होना चाहिए कि जो उन्हें सूद का त्याग करने के लिए प्रोत्साहित करता है, और अपना धन बेकार अपने पास रखने पर विवश करता है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि आय प्राप्त होने के समय तथा व्यय करने के समय मे जो अन्तर है उसको मिटाने के लिए थोड़ी नकदी पास रखना आवश्यक है। अधिकांश लोगों को वेतन मासिक या साप्ताहिक मिलता है, किन्तु व्यय प्रतिदिन होता है। अस्तु, उन्हें नकदी रखनी पड़ती है। कोई व्यक्ति दैनिक व्यय के लिए कितनी नकदी अपने पास रक्खेगा, यह उसकी आय पर, कितने समय के बाद उसको आय मिलती है तथा उस स्थान पर भुगतान करने का कौनसा तरीका प्रचलित है, इस पर निर्भर रहेगा। व्यापारी तथा व्यवसायियों को भी अपने पास ग्राहकों की सुविधा की दृष्टि से तथा भुगतान करने के लिए नकदी या बैंक में चालू जमा रखनी पड़ती है। तीसरे नकद रुपया इसलिए भी रखना पड़ता है कि कोई अकस्मात् खर्च आ पड़े तो उसको किया जा सके। जब एक साथ कोई खर्च आजाता है तो यह तुरन्त सम्भव नहीं होता कि जो रकम उधार दे रक्खी है उसे वापस माँग लिया जावे, अथवा अपनी सिक्यूरिटियों को बेचा जा सके। अतएव नकदी रखना आवश्यक हो जाता है। कुछ लोग लाभ की दृष्टि से भी अपनी बचत को नकदी के रूप में रखना चाहते हैं। जिन लोगों को यह आशा होती है कि भविष्य में सूद की दर ऊँची होने वाली है वे भविष्य में ऊँची दर का लाभ उठाने के लिए अपनी बचत को नकदी के रूप में रखते हैं। इसके विपरीत जब लोगों को यह आशा होती है कि भविष्य में सूद की दर कम होने वाली है तो वे अपनी नकदी को वर्तमान ऊँची दर पर लगाने के लिए सचेष्ट होंगे, और उनके पास नकदी कम रह जावेगी। जब तक सूद की भावी दर के बारे में लोगों की

[illegible] है या, तब तक कुछ लोग भविष्य में सूद की दर ऊँची होने की सम्भावना [illegible] नकदी अपने पास रक्खेंगे, और कुछ सूद की दर गिरने की सम्भावना [illegible] नकदी को उधार देंगे या कहीं प्रचलित ऊँचे सूद पर लगावेंगे। [illegible] परिस्थितियों में पहले तीन उद्देश्यों से जो नकदी रक्खी जावेगी उसमें सूद की दर में परिवर्तन होने से कोई अन्तर नहीं आवेगा। वह इस पर निर्भर होगा कि सर्वसाधारण की आय का स्तर क्या है और साधारण आर्थिक स्थिति कैसी है। इसको हम सक्रिय शेष (active balance) कहेंगे। किन्तु जो नकदी सूद की दर में परिवर्तन होने पर लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से रक्खी जाती है उसकी रकम में सूद में परिवर्तन होने पर परिवर्तन होता है उसे हम निष्क्रिय (inactive balance) कहते हैं।

साधारणतया होता यह है कि सूद की दर जितनी ही ऊँची होती है उतना ही लोग अपने पास नकदी कम रखते हैं क्योंकि उस दशा में बेकार [illegible] हानि अधिक होगी, और उसको उधार देने या सिक्यूरिटियों ([illegible]) के खरीदने से लाभ अधिक होगा। उस स्थिति में लोग उधार [illegible] इच्छुक होंगे। कुछ लोगों को भविष्य में सूद की दर घटने की सम्भावना [illegible], और वे भी उधार देना चाहेंगे। परन्तु सूद की दर ऊँची होने से व्यापार-[illegible] मन्दी आवेगी, नया कारबार कम स्थापित होगा, द्रव्य (money) [illegible] कम होगी, और आय का स्तर गिरेगा। इसी प्रकार सूद की दर गिरने [illegible] नकदी अपने पास अधिक रखना चाहेंगे, क्योंकि सूद की हानि कम होगी। [illegible] भविष्य में सूद की दर ऊँची होने के कारण अपने पास नकदी अधिक [illegible] चाहेंगे। इसके विरुद्ध सूद की दर नीची होने के कारण द्रव्य की माँग [illegible] के लिए अधिक होगी और आय का स्तर ऊँचा हो जावेगा। इस [illegible] हम तरलता अधिमान (liquidity preference) की एक तालिका [illegible], बता सकते हैं कि किस सूद की दर पर लोग अपने पास कितनी [illegible] रखना चाहेंगे।

से ऊँची होगी तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी नकदी को उधार देकर सूद कमाना चाहेगा, अपने पास नकदी नहीं रखना चाहेगा, और द्रव्य की पूर्ति अधिक होने से सूद की दर गिर जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि तरलता अभीष्ट की सारिणी (liquidity preference schedule) और विद्यमान द्रव्य की मात्रा सूद की दर निर्धारित करती है।

सूद की दर कैसे निर्धारित होती है . इन सिद्धान्तों को हम दो भागों मे विभक्त कर सकते हैं। एक सिद्धान्त तो वे हैं जिनमे ऋण देने के लिए जितना द्रव्य-कोष है उसकी माँग और पूर्ति से सूद की दर निर्धारित होती है। दूसरा कीन्स का तरलता अभीष्ट सिद्धान्त।

ऋण देने के लिए द्रव्य-कोष (loanable fund) दो बातों पर निर्भर रहता है, अर्थात् स्वेच्छा से की हुई बचत और बैंकों द्वारा दिए हुए ऋण पर यह द्रव्य-कोष निर्भर रहता है। बचत (savings) की माँग और पूर्ति से सूद की दर निर्धारित होती है। सूद की दर उस बिन्दु पर स्थिर होगी, जिस पर ऋण देने वाले द्रव्य-कोष (loanable fund) की माँग और पूर्ति बराबर होगी। यदि बचत अधिक होने लगेगी तो इस कोष की वृद्धि होगी। परन्तु बचत अधिक होने से उपभोग (consumption) कम होगा और व्यापार तथा धर्धों में शिथिलता आने से ऋण देने वाले द्रव्य-कोष की माँग कम हो जावेगी। इसके फलस्वरूप सूद की दर गिर जावेगी।

कीन्स के मतानुसार सूद की दर द्रव्य की माँग और पूर्ति पर निर्भर रहेगी। द्रव्य या मुद्रा (money) की पूर्ति (supply) देश की बैंकिंग प्रणाली पर निर्भर रहती है। द्रव्य की माँग लोगों की तरलता अभीष्ट (liquidity preference) पर निर्भर रहती है। किसी सूद की दर पर द्रव्य की माँग उतनी होनी चाहिए कि जो द्रव्य की पूर्ति खपा ले। यदि किसी देश मे मुद्रा स्फीत (inflation of money) होती है और द्रव्य की पूर्ति में वृद्धि होती है तो सूद की दर गिर जावेगी, यदि तरलता अभीष्ट मे कोई परिवर्तन न हो।

ऊपर वर्णित दोनों प्रकार के सिद्धान्तों में उतना विरोध नहीं है जितना दिखलाई पड़ता है। यदि मुद्रा-स्फीति (inflation) हो तो ऋण देने वाले द्रव्य-कोष (loanable fnnd) मे वृद्धि होगी और सूद की दर गिर जावेगी। तरलता अभीष्ट (liquidity preference) मे परिवर्त्तन होने से लोग कम या अधिक द्रव्य-कोष बाजार मे उधार देंगे। दूसरे शब्दों मे तरलता अभीष्ट मे परिवर्त्तन होने से द्रव्य-कोष की पूर्ति में परिवर्त्तन होगा और सूद की

दर पर इसका प्रभाव पड़ेगा। अर्थात् मूलत दोनों प्रकार के सिद्धान्त स्वीकार करते हैं कि ऋण देने वाले कोष (loanable funds) की माँग और पूर्ति से ही सूद की दर निर्धारित होती है।

अब यह प्रश्न उठता है कि बचत और सूद की दर का क्या सम्बंध है। बचत की वृद्धि से (यदि तरलता अभीष्ट में परिवर्त्तन न हो) बाजार में ऋण देने वाले द्रव्य-कोष मे वृद्धि होगी और सूद की दर गिर जावेगी। इसका तात्पर्य यह है कि बचत उन कारणों को प्रभावित करती है जो सूद की दर निश्चित करते हैं।

सूद का भविष्य . भविष्य में सूद की दर क्या होगी ? मानव समाज की प्रगति का सूद की दर पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? यह प्रश्न है जो हमारे सामने उपस्थित होता है। यह तो हम पहले ही बतला चुके हैं कि सूद की दर ऋण मे दिये जाने वाले द्रव्य-कोष (loanable fund) की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है। अतएव सूद की दर का भविष्य इस बात पर निर्भर रहेगा कि भविष्य में ऋण की माँग आविष्कारों तथा आर्थिक उन्नति के साथ सदैव बढ़ती जावेगी अथवा समाज की उन्नति के साथ द्रव्य-कोष की पूर्ति बढ़ती जावेगी। 'टाज़िग' के शब्दों मे वह बचत और उन्नति की दौड़ पर निर्भर रहेगी।

उत्पादन की क्रिया और भी अधिक जटिल हो जावेगी। इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि श्रम-विभाजन (division of labour) से प्रतीक्षा काल कम होता है तथा नवीन यन्त्रों के आविष्कार से क्रियाएँ सरल तथा छोटी हो सकतीं हैं। अस्तु, आविष्कारों का अन्तिम परिणाम क्या होगा यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि इन दो परिस्थितियों का सापेक्षिक प्रभाव क्या पड़ता है।

फिर भी इस बात की बहुत कुछ सम्भावना है कि भविष्य में सूद की दर गिर जावे। इसका एक कारण तो यह है कि आर्थिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों में जनसंख्या स्थिर होती जा रही है, अधिक बढ़ती नहीं है। कहीं-कहीं तो उसकी प्रवृत्ति कम होने की भी है। अतएव पूंजी (capital) की माँग कम होगी, यदि उत्पादन पूर्ववत् किया जावे। दूसरा कारण यह है कि जब कोई समाज धनी हो जाता है तो उसके उपभोग करने की शक्ति कम होती जाती है। उत्पन्न किये हुए धन (wealth) का उपभोग पर व्यय किया जाने वाला अनुपात कम होता जाता है और बचत का अनुपात बढ़ता जाता है। जब उपभोग कम होगा तो उपभोग्य पदार्थों (consumption goods) और पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) की माँग कम हो जावेगी। ऐसी दशा में सूद की दर गिरती जावेगी।

क्या सूद की दर शून्य हो जावेगी . अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भविष्य में सूद का दर कम होते-होते शून्य हो जावेगी। जहाँ तक ऋण की माग का प्रश्न है सूद की दर का शून्य होने का अर्थ यह है कि पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति शून्य हो गई अर्थात् अधिक पूँजी लगाकर उत्पत्ति (production) में तनिक भी वृद्धि नहीं की जा सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि हम उत्पादन की ऐसी परिस्थिति में पहुच गये हैं कि अधिकतम उत्पादन हो रहा है और इसका अर्थ यह है कि हमारी सभी आवश्यकताएँ पूरी हो गई हैं। परन्तु हम ऐसी परिस्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते, जबकि मनुष्य की आवश्यकताएँ समाप्त हो जावें। जब तक कि मनुष्य की आवश्यकताएँ समाप्त नहीं होतीं तब तक पूँजी को लाभदायक ढङ्ग से लगाने का बहुत सम्भावनाएँ रहेंगी। अतएव सूद की दर शून्य नहीं हो सकती।

इसी प्रकार पूँजी की पूर्ति (supply) की ओर से सूद की दर के शून्य होने का अर्थ यह है कि लोग बिना कुछ सूद लिये ही ऋण देते जावेंगे अर्थात् लोगों की तरलता अभीष्ट (liquidity preference) शून्य होगी। परन्तु वास्तविक बात यह है कि तरलता अभीष्ट शून्य कभी नहीं हो सकती। जैसे-जैसे

सूद की दर गिरती जावेगी लोग अधिकाधिक नकदी अपने पास रक्खेंगे क्योंकि नकदी रखने से उनको हानि कम होगी। अतएव ऐसी स्थिति कभी भी नहीं आ सकती कि जब सूद की दर शून्य हो जावे।

सूद की दर का महत्त्व : सूद की दर का उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ता है जहाँ तक धन के वितरण का प्रश्न है। सूद उस कुल उत्पत्ति का वह भाग है कि जो पूँजीपति वर्ग के हिस्से में आता है। यदि सूद की दर ऊँची होती है तो मजदूरी नीचे गिरती है क्योंकि सूद की दर ऊँची होने से पूँजी लगाने का व्यय बढ़ जाता है और उद्योग-धन्धे कम हो जाते हैं। अतएव मजदूरी कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि सूद की दर गिरती है तो मजदूरी की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है। उत्पादन पर तो सूद की दर का और भी गहरा प्रभाव पड़ता है। आज के उद्योग-धन्धों में अचल पूँजी (fixed capital) का बहुत अधिक महत्त्व है। जब कोई पूँजीपति अपने कारखाने के प्लांट को बदलने की बात सोचता है तो उसके निर्णय पर सूद की दर का गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि सूद की दर बहुत ऊँची हो, तो सम्भवतः वह नये प्लांट को लगाने में हिचकेगा। यदि सूद की दर कम होगी तो कारखाने का मालिक पुराने और रद्दी प्लांट को हटाकर नये और उत्तम प्लांट को लगाने के लिए उद्यत हो जावेगा।

अल्पकाल में सूद की दर का कच्चे माल तथा निर्माण की हुई वस्तुओं की कीमत पर भी प्रभाव पड़ता है। अधिकाशतः व्यापारी अपनी दूकान में जो माल रखता है वह उधार ली हुई पूँजी के द्वारा खरीदता है। यदि सूद की दर ऊँची हो जावे तो उस माल को देर तक रखने में अधिक व्यय होगा और वह अपने माल को कुछ कम कीमत पर बेच देने का प्रयत्न करेगा, और, यदि सूद की दर कम है तो वह माल को रोके रक्खेगा, जब तक कि उसे अच्छी कीमत न मिले।

समाजवादियों द्वारा सूद की आलोचना · यह तो हम आरम्भ में ही कह आये थे कि प्राचीन काल मे धार्मिक नेताओं तथा विचारकों ने मानवता के आधार पर सूद का विरोध किया था, किन्तु आधुनिक काल में कार्ल मार्क्स ने सूद का घोर विरोध किया है। उसका कहना है कि मूल्य (value) को श्रम (labour) उत्पन्न करता है, अस्तु, जो भी धन (wealth) उत्पन्न होता है वह सारा का सारा 'श्रम' को मिलना चाहिए। परन्तु पूँजीवादी प्रणाली में मज़दूर को मजदूरी केवल जीवन-निर्वाह मात्र के लिए दी जाती है और शेष सब का सब पूँजीपति अपनी जेब में रख लेता है। अस्तु, कार्ल मार्क्स के मतानुसार 'सूद' चोरी और डाका है और समाजवादी राज्य में 'सूद' नहीं रहेगा। हम यहा इस विवाद में उतरना नहीं चाहते कि निजी जायदाद या सम्पत्ति का औचित्य है अथवा नहीं, परन्तु जब तक निजी जायदाद है तब तक सूद देना होगा।

परन्तु निजी जायदाद के प्रश्न को यदि हम छोड़ भी दें तो भी प्रश्न तो विद्यमान रहता है। हाँ, समाजवादी राज्य में सूद को लिया और दिया नहीं जा सकता। फिर भी सूद का अस्तित्व तो रहता ही है और समाजवादी सरकार को भी उसका ध्यान रखना पड़ता है। सरकार के पास सीमित साधन (पूँजी) होंगे और वह उन सीमित साधनों को भिन्न धन्धों में लगावेगी, परन्तु प्रत्येक धन्धे की उत्पत्ति एक समान नहीं होगी। कुछ धन्धों में दस प्रतिशत लाभ होगा तो अन्य धन्धों में केवल पाँच प्रतिशत ही लाभ होगा। समाजवादी सरकार भी अपने सीमित साधनों से अधिकतम लाभ उठाने का प्रयत्न करेगी। वह उन धन्धों में अपनी पूँजी नहीं लगावेगी जिनमें लाभ बहुत कम होता है। वह लाभ की एक प्रामाणिक दर कायम करेगी, उससे कम लाभ होने पर वह उस धन्धे में पूँजी नहीं लगावेगी। यह प्रामाणिक दर सूद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी दर के आधार पर सरकार यह निश्चित करती है कि किन धन्धों को पहल दी जावे।

यही नहीं, कि हिसाब की दृष्टि से समाजवादी सरकार को 'सूद' का [illegible] रखना होगा। परन्तु, यदि समाजवादी सरकार सर्वसाधारण के रहन-[illegible] के दर्जे को ऊँचा करना चाहेगी तो उस सूद की गणना करनी होगी। [illegible] लीजिये कि सब मज़दूर उपभोग-पदार्थों (consumers goods) को [illegible] करने में लगे हुए हैं, और जो भी उपभोग-पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे उनमें [illegible] बँट जाते हैं। यदि मजदूरों के रहन-सहन के दर्जे को बढाना है तो [illegible] मजदूरों को पूंजीगत वस्तुओं (capital goods) का निर्माण करने [illegible] होगा जिससे कि कुछ समय के उनके उपयोग से अधिक उपभोग-[illegible] का निर्माण किया जा सके। परन्तु उस काल में जब कि कुछ मजदूर [illegible] वस्तुओं का निर्माण करेंगे उनका पालन दूसरों को करना होगा। [illegible] का तात्पर्य यह है कि शेष मज़दूरों को अपने हिस्से में से कुछ त्याग [illegible] देगा कि जिससे उन मजदूरों का पालन हो सके जो कि पूंजीगत पदार्थों [illegible] निर्माण करने में लगे हैं। स्वभावत. प्रत्येक मजदूर के हिस्से को बराबर [illegible] किया जावेगा, वही सूद है। इसका अर्थ यह हुआ कि मज़दूरों को प्रतीक्षा [illegible] होगी और भविष्य में वे अधिक आय प्राप्त कर सकें उसके लिए उनको [illegible] आय में अस्थायी कमी स्वीकार करनी पड़ेगी। यह अस्थायी कमी प्रतीक्षा [illegible] अर्थात् 'सूद' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सूद और लगान (Interest and Rent) ‧ कुछ आधुनिक विद्वानों [illegible] है कि लगान और सूद में कोई भेद नहीं है। उनका मत है कि सब [illegible] की पैदावार में फिर चाहे वह भूमि हो या अन्य प्रकार की, जो भी [illegible] हो, उसे या तो लगान कहना चाहिए या सूद कहना चाहिए। परन्तु [illegible] में सूद और लगान में भेद किया जाता है, क्योंकि भूमि (land) को [illegible] capital) से भिन्न माना जाता है।

[illegible] आलोचकों का यह भी कहना है कि भूमि को पूंजी से भिन्न नहीं [illegible] चाहिए। जिस प्रकार से भूमि प्रकृति दत्त मुक्त पदार्थ (free good of [illegible]) है उसी प्रकार कच्चा लोहा भी प्रकृतिदत्त मुक्त पदार्थ है। [illegible] लोहे को खोद कर निकालना है, परिश्रम करके उसके स्वरूप को [illegible] है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिदत्त भूमि के स्वरूप को भी मनुष्य ने अपने [illegible] बदल दिया है। फिर उसमें और पूंजी में अन्तर क्या? यदि यह कहा [illegible] कि भूमि को बढ़ाया नहीं जा सकता, उसकी मात्रा स्थिर है तो अन्य [illegible] पदार्थों को भी नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके अतिरिक्त आलोचकों [illegible] कहना है कि भूमि [illegible] नहीं है। भूमि की शक्तियां [illegible]

रहती हैं और उनको पूरा करने के लिए खाद इत्यादि देनी पड़ती है। अन्तिम बात जो कि आलोचक कहते हैं वह यह है कि क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) केवल भूमि में ही लागू नहीं होता, वह यन्त्र तथा अन्य प्रकार की पूंजी में भी लागू होता है। हम कहते हैं कि यदि भूमि को पूर्ववत् रक्खा जावे और पूंजी तथा श्रम को बढ़ाया जावे तो आर्थिक बचत अर्थात् 'लगान' प्रकट होता है। यदि हम पूंजी को स्थिर रक्खें और उत्पत्ति के अन्य साधनों में परिवर्तन कर दें तो आर्थिक बचत प्रकट हो जावेगी। हम भूमि का वर्गीकरण करके यह सिद्ध करते हैं कि अच्छी भूमि पर लगान प्रकट होता है। उसी तरह से मशीनों पर भी आर्थिक बचत प्रकट होगी, यदि हम उसका वर्गीकरण भूमि के अनुसार ही करें। जिस प्रकार से सीमान्त भूमि (marginal land) होती है जो लगान नहीं देती, उसी प्रकार जर्जर मशीनें भी होती हैं जो कबाड़िये के यहाँ जाने की बाट जोहती हैं, और ऐसी जर्जर इमारतें भी होती हैं जिनकी मरम्मत कराना भी व्यर्थ प्रतीत होता है।

उन आलोचकों का कहना है कि लगान और सूद में कोई अन्तर नहीं करना चाहिए। भूमि का मूल्य उसी प्रकार निर्धारित होता है जिस प्रकार पूंजी का मूल्य निर्धारित होता है। किसी भूमि के टुकड़े का मूल्य उसके लगान के पूंजीकरण (capitalisation) से निर्धारित होता है। उसी प्रकार पूंजीगत वस्तुओं (capital goods) का मूल्य उनकी आय से निर्धारित होता है। जब कोई व्यवसायी अपने साधनों का विनियोग (investment) करता है तो वह भूमि और पूंजी में कोई भेद नहीं करता। वह भूमि, पूंजी और श्रम जिससे भी अधिक लाभ की आशा देखता है उसी को बढ़ाता है। अतएव 'लगान' और सूद में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है।

मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्री इन तथ्यों को स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि पूंजी और भूमि में बहुत-सी समानताएँ हैं। उनका कहना है कि भूमि और पूंजी में केवल डिगरी का भेद है। यद्यपि अन्य वस्तुएँ भी प्रकृतिदत्त मुक्त वस्तुएं हैं परन्तु वे उस सीमा तक प्रकृतिदत्त मुक्त वस्तु नहीं जितनी कि भूमि है। भूमि की माँग में परिवर्तन होने पर उसके मूल्य में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन होता है। भूमि की कमी एक सामान्य और स्थायी बात है किन्तु अन्य वस्तुओं की कमी अस्थायी और अपवाद स्वरूप होती है। मार्शल इत्यादि का कहना है कि यदि हम उत्पादन की उस स्थिति को लें जिसमें स्वतन्त्र और पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा (free competition) हो, तो प्रत्येक व्यवसायी सबसे बढ़िया मशीन को लगावेगा और उस दशा में

...िया मशीन की तुलना मे घटिया मशीन की आर्थिक बचत लुप्त हो जावेगी। ... तथा स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा होने पर भी लगान लुप्त नहीं हो सकता।

...लगान, सूद और अर्द्ध लगान (Quasi-rent) में भेद : लगान, ... और अर्द्ध लगान में भेद दो बातों पर निर्भर रहता है—पूर्ति की ... (elasticity of supply) तथा 'काल या समय'। 'लगान' उस ... प्रगट होता है जब कि उत्पत्ति के साधन की पूर्ति लम्बे और अल्प- ... दोनो में ही लचकरहित (inelastic) हो। उन वस्तुओं से होने ... आय को 'अर्द्ध-लगान' (quasi-rent) कहेंगे जिनकी पूर्ति अल्पकाल ... लचकरहित हो किन्तु लम्बे काल में लचकदार हो। 'सूद' शब्द का प्रयोग ... वस्तुओं की आय के लिए होता है जिनकी पूर्ति अल्पकाल तथा लम्बे ... दोनों में ही यथेष्ट लचकदार (elastic) हो। अतएव 'लगान' भूमि ... प्राकृतिक देन से प्राप्त होता है। 'अर्द्ध-लगान' मनुष्य निर्मित ... अचल पूँजी (fixed capital) से प्राप्त होता है और 'सूद' ... पूँजी (floating capital) से प्राप्त होता है। मार्शल ने इसको एक ... लेकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कल्पना कीजिए कि ... इसका पत्थर पृथ्वी पर गिरता है जो हीरे से भी कठोर है। ... इससे प्रत्येक वस्तु को काटा जा सकता है। अब जिन व्यक्तियों के पास

पूंजी (artificial capital) पर दिया जाने वाला 'सूद' लगान और अर्द्ध-लगान से सर्वथा भिन्न है। यदि 'सूद' पर कर लगाया जाय तो 'पूंजी' कम प्राप्त होगी परन्तु यदि 'लगान' पर कर लगाया जावे तो उसका भूमि की पूर्ति पर कोई भी प्रभाव नहीं पडेगा।

———

आय में से सर्वो को भुगतान करके जो बचे वही लाभ माना जाता था। इसमें सदेह नही कि सब खर्चों को चुका कर जो शेष बचता है वही लाभ होता है। परन्तु उससे लाभ का स्वरूप क्या है यह प्रगट नहीं होता।

मार्शल का सामान्य लाभ-सिद्धान्त (Normal Profit Theory). सब मे पहले प्रो० मार्शल ने अपने "सामान्य लाभ-सिद्धान्त" का प्रतिपादन करके 'लाभ' के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या की। इस सिद्धान्त की हम आगे चलकर विशद व्याख्या करेंगे। यहाँ तो केवल इतना कहना ही यथेष्ट है कि मार्शल का सामान्य लाभ (normal profit) से तात्पर्य उस औसत प्रतिफल से था कि जो साहसियों की यथेष्ट पूर्त्ति (sufficient supply of entrepreneurs) को उत्पन्न करने और उन्हें धन्धे में लगाये रखने के लिए आवश्यक था। मार्शल का सामान्य लाभ एक प्रकार की मजदूरी के समान था। वह बिलकुल मजदूरी के समान तो नहीं था क्योंकि मजदूरी तो मालिक और मजदूर के बीच मे तय होती है और 'लाभ' कोई तय नही करता, परन्तु वैसे वह मजदूरी जैसा-ही प्रतीत होता था। यद्यपि मार्शल के सिद्धान्त में बहुत कुछ तथ्य है परन्तु वह लाभ की पूर्ण व्याख्या हमारे लिए उपस्थित नहीं करता। उदाहरण के लिए, कुछ धन्धे जिनमें यथेष्ट प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है उनमें बहुत अधिक लाभ क्यों है, तथा बहुत से एकाधिकारों (monopolies) मे इतना अधिक लाभ क्यों होता है। इसकी व्याख्या मार्शल के सिद्धान्त में हमे नहीं मिलती।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों की ही भाति मार्शल पर भी उसके समय की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा था। उस समय उद्योग धन्धों तथा व्यापार में गहरी प्रतिस्पर्द्धा (competition) विद्यमान थी, एकाधिकार का उदय नहीं हुआ था। ऐसी दशा में 'सामान्य लाभ' (normal profit) से अधिक लाभ को अस्थायी और अल्पकालीन मानकर उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। वास्तविक एकाधिकार लाभ (real monopoly profit) एक प्रथक चीज है, और उसकी व्याख्या की कोई आवश्यकता भी नही है। एकाधिकार लाभ तो इस कारण प्रकट होता है क्योंकि एकाधिकारी उत्पादन को कम करके या सीमित करके वस्तु के मूल्य को उसके औसत लागत-व्यय से बहुत अधिक रखता है।

हाबसन का सिद्धान्त : हाबसन का मत है कि उन धन्धों मे, जिनमे प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान है, भी साहसी या व्यवस्थापक के पास कुछ अंश में एकाधिकार शक्ति विद्यमान रहती है। प्रतिस्पर्द्धा उसको बिलकुल नष्ट नहीं कर पाती। हाबसन का कहना है कि साहसी या व्यवस्थापक अन्य उत्पत्ति के साधनों (factors of production) के प्रतिफल में से कुछ अपने लिए रख लेता है।

कर पाते, विशेषकर जबकि साहसी स्वय अपनी पूंजी (capital) व्यवसाय मे लगाता है। जब साहसी अपनी निज की पूजी व्यवसाय में लगाता है तो उसमें और उधार ली हुई पूजी में कोई भेद नहीं होना चाहिए। जब उधार ली हुई पूजी पर सूद देना पड़ता है तो उसकी निज की पूजी पर भी सूद दिया जाना चाहिए। व्यवसायी उतनी पूजी बैंक मे रख कर अथवा और किसी को उधार देकर उतना सूद कमा सकता है। अस्तु, उसकी निज की पूजी पर जितना सूद हो वह कुल लाभ में से घटा देना चाहिए।

प्रबन्ध और व्यवस्था की आय · सभी साहसियों को व्यवसाय सम्बन्धी कुछ न कुछ कार्य करना ही पड़ता है। अधिकतर वह देखभाल करता है। यदि व्यवसाय छोटा होता है तो वह स्वय देखभाल करता है और यदि कारबार बड़ा होता है तो उसे मैनेजर इत्यादि के कार्य की देखभाल करनी पड़ती है। यह देखभाल का कार्य सगठन सम्बन्धी न होकर कोरा श्रम (labour) होता है।

देखभाल सम्बन्धी कार्य की मजदूरी उस मालिक को मिलनी चाहिए। यदि वह अपने कारबार की देखभाल न करके अन्य किसी कारखाने में देखभाल तथा प्रबन्ध का कार्य करने लगे तो उसको मज़दूरी प्राप्त होगी। अतएव, यदि उसी प्रकार का कार्य वह अपने कारखाने मे करे तो उसे वेतन मिलना ही चाहिए। उसे कितनी मज़दूरी या वेतन मिलना चाहिए यह अनुमान लगा सकना सरल नहीं है। परन्तु कुल लाभ में से उसकी मजदूरी घटाना आवश्यक है, यह तो स्वीकार करना ही होगा।

भूमि का लगान (Rent) · कभी-कभी साहसी अपनी निज की भूमि को उत्पादन-कार्य में लगाता है। उस भूमि को यदि वह चाहता तो लगान पर उठा सकता था। अस्तु, कुल लाभ में से उसको निकाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त इकरारी लगान (contract rent) और आर्थिक लगान के अन्तर को भी उसमें से निकाल देना चाहिए।

जोखिम (Risk) : कुछ जोखिम इस प्रकार की होती है कि जिसका बीमा किया जा सकता है। जैसे, उदाहरण के लिए, अग्नि, मजदूरों की क्षति पूर्ति, इत्यादि। इसको भी कुल लाभ में से घटाना आवश्यक है।

कुल लाभ मे ऊपर लिखित आय थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य विद्यमान रहती है। उसको निकालने से ही शुद्ध आय ज्ञात हो सकती है।

शुद्ध लाभ (Pure Profit) · अब हमें देखना यह है कि शुद्ध लाभ के अन्तर्गत किस प्रकार की आय आती है। शुद्ध लाभ धन्धे की जोखिम उठाने

भूमि (marginal land) कोई लगान नहीं देता उसी प्रकार सीमान्त साहसी को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। वह प्रचलित कीमत पर अपनी वस्तु को बेच कर केवल उत्पादन-व्यय भर प्राप्त करता है। उसकी योग्यता सीमान्त है। उससे अधिक योग्यता वाले साहसियों को लाभ मिलता है जो कि सीमान्त योग्यता वाले साहसी के स्तर से नापा जाता है। अस्तु, वाकर का कहना है कि जिस प्रकार लगान किसी वस्तु के मूल्य या कीमत में सम्मिलित नहीं होता उसी प्रकार लाभ भी उसकी कीमत में सम्मिलित नहीं होता।

हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वाकर ने जब अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो उसका यह स्पष्ट मत था कि जो वेतन साहसी प्रबन्धक या मैनेजर के रूप में खुले बाजार में प्राप्त कर सकता है उसे लाभ में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि वेतन या मजदूरी लाभ में सम्मिलित नहीं होती। अस्तु, वाकर के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर करना गलत होगा कि लाभरहित साहसी जैसा साहसी होता ही नहीं क्योंकि प्रत्येक को अन्ततः सामान्य आय (normal earnings) तो मिलना ही चाहिए।

यह सिद्धान्त लाभ (profit) को नापने का एक मापदण्ड तो उपस्थित करता है किन्तु वह लाभ के स्वरूप की व्याख्या नहीं करता। इस सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे गम्भीर आपत्ति यह है कि वह साहसी के जोखिम उठाने के महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा करता है। व्यवहार में जो सफल साहसी हैं उनके लाभ में से हमें उन साहसियों की हानि को घटाना होगा कि जो असफल होकर दिवालिया हो गए हैं। यदि हम ऐसा करें तो अतिरिक्त लाभ (surplus profit) तिरोहित हो जावेगा और लाभ और लगान का सादृश्य भी समाप्त हो जावेगा। इसके अतिरिक्त यदि हम लाभ के लगान सिद्धान्त को स्वीकार करें तो मिश्रित पूंजीवाली कंपनियों के हिस्सेदारों को मिलने वाले लाभ की व्याख्या हम नहीं कर सकते। परन्तु इस सिद्धान्त का मूलभूत दोष यह है कि यह लाभ की मात्रा के मुख्य कारणों की भी व्याख्या नहीं करता। लगान श्रेष्ठ या उत्तम इकाइयों की कमी के कारण उत्पन्न होता है परन्तु जहां तक भूमि का प्रश्न है श्रेष्ठ इकाइयों को प्रकृति ने सीमित कर दिया है। परन्तु श्रेष्ठ तथा योग्य साहसियों की कमी के क्या कारण हैं यही जानकारी लाभ की समस्या को हल कर सकती है। परन्तु लाभ का लगान-सिद्धान्त इस पर कोई भी प्रकाश नहीं डालता।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि लाभ मूल्य या

और अनियमित आय होती है। तीन कारणों से लाभ और मज़दूरी में भेद करना आवश्यक है। पहला कारण तो यह है कि साहसी का मुख्य कार्य जोखिम तथा अनिश्चितता को उठाना है। श्रमिकों या मज़दूरों को भी थोड़ी जोखिम उठानी पड़ती है। यह हो सकता है कि जिस धन्धे की उन्हें शिक्षा मिली है उसकी अवनति हो जावे और वे बेकार हो जावें, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि व्यवसायी की जोखिम बहुत अधिक और गम्भीर होती है। दूसरा कारण यह है कि लाभ में आकस्मिक लाभ का अंश बहुत अधिक रहता है, जो कि मजदूरी में नहीं रहता या बहुत कम रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयत्न या श्रम की वास्तविक आय मज़दूरी का बहुत बड़ा भाग होती है, किन्तु बहुधा लाभ का बहुत थोड़ा भाग होती है। अन्तिम कारण यह है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप बहुधा लाभ अधिक होता है, परन्तु मजदूरी कम होती है। यदि किसी धंधे में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण है, तो साहसी का लाभ बढ़ जावेगा, किन्तु मजदूर को मजदूरी कम मिलेगी। जब बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है तो व्यवसायी अपनी वस्तु को कुछ ऊँची कीमत पर बेच सकता है। जब हम मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों के लाभ का अध्ययन करते हैं, तो मजदूरी और लाभ को एक मानने की भूल अधिक स्पष्ट हो जाती है। मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों में लाभ, प्रबन्ध और व्यवस्था की आय बिलकुल भिन्न होती है। साधारण हिस्सेदार कम्पनी के कारबार में कोई कार्य नहीं करता। वह तो मूलतः जोखिम उठाने वाला है। अतएव, यह आवश्यक है कि लाभ और मजदूरी को पृथक स्वीकार किया जावे।

जोखिम और लाभ : लगभग प्रत्येक अर्थशास्त्री इस पर सहमत है कि लाभ इस कारण प्रकट होता है क्योंकि उत्पादन कार्य में जोखिम विद्यमान है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों में 'हौले' प्रमुख है। उसका मत है कि साहसी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य कार्य जोखिम उठाना है। प्रत्येक कारबार और धंधे में जोखिम होती है और उत्पादन-कार्य को जारी रखने के लिए जोखिम को उठाना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु जोखिम उठाना प्रत्येक को नागवार और कष्टप्रद प्रतीत होता है। अतएव, जब तक कुछ पुरस्कार (लाभ) की आशा न हो, कोई भी जोखिम नहीं उठाना चाहेगा। अस्तु, लाभ साहसी के जोखिम उठाने का पुरस्कार है। जितनी पूंजी को धंधे में लगाकर जोखिम में डाला गया है उस पर सामान्य ब्याज से अधिक लाभ मिलना चाहिए। क्योंकि, यदि उसमें केवल उतना ही लाभ मिले जितना कि सुरक्षित विनियोग (investment) में मिलता है, तो कोई भी

और अनियमित आय होती है। तीन कारणों से लाभ और मजदूरी में भेद करना आवश्यक है। पहला कारण तो यह है कि साहसी का मुख्य कार्य जोखिम तथा अनिश्चितता को उठाना है। श्रमिकों या मज़दूरों को भी थोड़ी जोखिम उठानी पड़ती है। यह हो सकता है कि जिस धन्धे की उन्हें शिक्षा मिली है उसकी अवनति हो जावे और वे बेकार हो जावें, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि व्यवसायी की जोखिम बहुत अधिक और गम्भीर होती है। दूसरा कारण यह है कि लाभ में आकस्मिक लाभ का अ श बहुत अधिक रहता है, जो कि मजदूरी में नहीं रहता या बहुत कम रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयत्न या श्रम की वास्तविक आय मज़दूरी का बहुत बड़ा भाग होती है, किन्तु बहुधा लाभ का बहुत थोड़ा भाग होती है। अन्तिम कारण यह है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप बहुधा लाभ अधिक होता है, परन्तु मजदूरी कम होती है। यदि किसी धंधे में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण है, तो साहसी का लाभ बढ़ जावेगा; किन्तु मजदूर को मज़दूरी कम मिलेगी। जब बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धा अपूर्ण होती है तो व्यवसायी अपनी वस्तु को कुछ ऊँची कीमत पर बेच सकता है। जब हम मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों के लाभ का अध्ययन करते हैं, तो मजदूरी और लाभ को एक मानने की भूल अधिक स्पष्ट हो जाती है। मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों में लाभ, प्रबन्ध और व्यवस्था की आय बिलकुल भिन्न होती है। साधारण हिस्सेदार कम्पनी के कारबार में कोई कार्य नहीं करता। वह तो मूलत जोखिम उठाने वाला है। अतएव, यह आवश्यक है कि लाभ और मजदूरी को पृथक स्वीकार किया जावे।

जोखिम और लाभ : लगभग प्रत्येक अर्थशास्त्री इस पर सहमत है, कि लाभ इस कारण प्रकट होता है क्योंकि उत्पादन कार्य में जोखिम विद्यमान है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालों में 'होल' प्रमुख है। उसका मत है कि साहसी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य कार्य जोखिम उठाना है। प्रत्येक कारबार और धंधे में जोखिम होती है और उत्पादन-कार्य को जारी रखने के लिए जोखिम को उठाना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु जोखिम उठाना प्रत्येक को नागवार और कष्टप्रद प्रतीत होता है। अतएव, जब तक कुछ पुरस्कार (लाभ) की आशा न हो, कोई भी जोखिम नहीं उठाना चाहेगा। अस्तु, लाभ साहसी के जोखिम उठाने का पुरस्कार है। जिस पूंजी को धंधे में लगाकर जोखिम में डाला गया है उस पर सामान्य आय से अधिक लाभ मिलना चाहिए। क्योंकि, यदि उसमें केवल उतना ही लाभ मिले जितना कि सुरक्षित विनियोग (investment) में मिलता है, तो कोई भी

अपनी पूंजी को जोखिम में नहीं डालना चाहेगा। अस्तु, जोखिम उठाने का पुरस्कार जितनी जोखिम उठाई है, उसके औसत मूल्य से अधिक होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जोखिम के कारण धंधों में लोग आने से हिचकते हैं। इस प्रकार साहसियों की जोखिम वाले धन्धों में कमी हो जाती है। इन धंधों में जो जीवित रहते हैं और सफल हो जाते हैं, उन्हें अधिक लाभ मिलता है, क्योंकि उस धंधे में प्रतिस्पर्द्धा अधिक नहीं होती।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लाभ मे जोखिम उठाने का प्रतिफल सम्मिलित रहता है। कोई भी अर्थशास्त्री इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करेगा। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं है कि लाभ में जोखिम उठाने के प्रतिफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि लाभ उन व्यक्तियों को मिलता है जो जोखिम उठाते हैं। किन्तु जोखिम के अनुपात में लाभ नहीं मिलता। इसके विपरीत जैसा कि 'कारवर' का कथन है, 'लाभ इसलिए नहीं मिलता कि जोखिम उठाई जाती है, वरन् इसलिए मिलता है कि श्रेष्ठ साहसी जोखिम को कम कर देते हैं।" अस्तु, विरोधाभास के रूप में यह कहा जा सकता है कि साहसी इसलिए लाभ नहीं पाते कि वे जोखिम उठाते हैं, वरन् इसलिए लाभ पाते हैं कि वे जोखिम नहीं उठाते। नाइट के अनुसार सब जोखिम के लिए लाभ नहीं मिलता है। बहुत सी जोखिम इस प्रकार की होती है कि जिसका ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा सकता है और उसका बीमा हो सकता है। उसके बीमे के लिए प्रीमियम दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जीवन का बीमा कराया जा सकता है तथा अग्नि का बीमा कराया जा सकता है। जिस जोखिम का ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा सकता है, उसका प्रतिफल या प्रीमियम लाभ नहीं होता, वरन् उत्पादन-व्यय का एक अङ्ग होता है। लाभ उत्पादन-व्यय के अतिरिक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाभ 'अज्ञात जोखिम' उठाने के लिए मिलता है। अन्त में यह भी सन्देहजनक है कि जोखिम उठाने की वास्तविक लागत क्या है? लोग जोखिम केवल इसलिए उठाते हैं क्योंकि उन्हें जोखिम वाले धंधों में अधिक लाभ कमाने की आशा रहती है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि धंधों में जोखिम होने के कारण लाभ प्रकट होता है परन्तु केवल जोखिम ही लाभ का एकमात्र कारण नहीं है।

अनिश्चितता और लाभ: बहुधा अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि शुद्ध लाभ जोखिम उठाने के लिए साहसी को मिलता है। परन्तु जोखिम शब्द का उपयोग दो अर्थों मे किया जाता है। यदि देखा जावे तो आज अधिकतर

जोखिम की गणना की जा सकती है और उसका सही अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि आज बहुत प्रकार की जोखिम का बीमा होता है। आज बहुत सी जोखिमों का बीमा, बीमा कंपनियाँ करती है। उदाहरण के लिए, अग्नि, समुद्री खतरे से माल का बीमा, रेलवे के द्वारा माल भेजने में जोखिम का बीमा, मजदूरों को क्षतिपूर्ति का बीमा।

परन्तु कुछ जोखिम ऐसी होती है जिसका बीमा नहीं हो सकता। इस प्रकार की जोखिम ही वास्तव में अनिश्चितता की श्रेणी में आती है। यही अनिश्चितता की जोखिम उठाना साहसी का मुख्य कार्य है और इसके लिए ही उसे शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

साधारण जोखिम और अनिश्चितता के भेद को हम यहाँ एक उदाहरण से स्पष्ट कर देना चाहते हैं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति एक खाली पड़े प्लाट पर एक बड़ी इमारत बनाना चाहता है। इसमें कुछ जोखिम हैं जिनका उसे बीमा कराना चाहिए। अग्नि, कोई दुर्घटना, मकान बनाने की सामिग्री का मूल्य चढ जाना तथा मजदूरों के मिलने में कठिनाई, आदि ऐसी जोखिम हैं जिनका वह बीमा करा सकता है। परन्तु जब वह इमारत बन कर तैयार हो जावे तो उसको अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है। कल्पना कीजिए कि जब उसने वह इमारत खड़ी की थी, तब उसका विश्वास था कि वह उसे लाभ से बेच सकेगा। किन्तु उस समय उस इमारत के ग्राहक कम हो सकते हैं और उसका मूल्य कम मिल सकता है। वह ठेकेदार पहले से इसका हिसाब नहीं लगा सकता था कि वह उस वस्तु को लाभ या हानि में बेचेगा। अस्तु, अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि लाभ और अनिश्चितता का क्या सम्बन्ध है।

किसी धन्धे में जितनी ही अधिक अनिश्चितता होगी उतनी ही अधिक लाभ की सम्भावना होगी। आधुनिक समय में प्रो० बोल्डिंग ने अनिश्चितता के सिद्धान्त को बहुत सुन्दर ढग से प्रतिपादित किया है। प्रो० बोल्डिंग के मतानुसार, "लाभ धन्धे के स्वामित्व की कठिनाइयों तथा अनिश्चितता को उठाने के प्रतिफलस्वरूप मिलता है।" सभी आर्थिक वस्तुओं का कोई स्वामी होता है। चाहे वह कोई एक व्यक्ति हो अथवा मिश्रित पूंजी वाली कंपनी हो। व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों (factors of production) को किराए पर लेकर उन पर अस्थायी स्वामित्व स्थापित करता है। परन्तु कच्चे माल, इमारतें, प्लांट या मशीन को खरीद कर वह स्थायी स्वामित्व स्थापित कर लेता है। इनको अपने पास रखने में कष्ट और भविष्य में हानि होने की अनिश्चितता बनी ही

ृती है। उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व में जो कठिनाई और अनिश्चितता है
ी के प्रतिफलस्वरूप शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

एकाधिकार (Monopoly) और लाभ : अनिश्चितता के कारण जो
ाभ प्राप्त होता है वह स्वतंत्र कारबार में होता है। एकाधिकार-लाभ
सम्बन्ध में (monopoly profits) जो कि एकाधिकारी अपनी वस्तु की
र्ति (supply) को कम करके प्राप्त कर सकता है हमने एकाधिकार के
रिच्छेद में लिखा है। यहाँ उसको दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु औद्योगिक जगत में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा नहीं होती। प्रतिस्पर्द्धा बहुत
पूर्ण होती है। अनिश्चितता होने के कारण साहसी अन्य उत्पत्ति के साधनों
factors of production) को उनकी सीमान्त उत्पत्ति (marginal
roductivity) के बराबर हिस्सा न देकर उनके हिस्से में कुछ कम कर लेते
। हावसन उसे 'जबरदस्ती का लाभ' नाम से पुकारता है। इसे हम एकाधिकार
ाभ की श्रेणी में रख सकते हैं।

यदि देखा जावे तो साहसियों मे पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा बहुत ही अपूर्ण
ोती है। उन धन्धों में, जिनमें अनिश्चितता अधिक होती है, तो प्रतिस्पर्द्धा
ौर भी अधिक अपूर्ण होती है। गतिशील व्यापारिक जगत में ऐसे व्यक्तियों की
हुत बड़ी आवश्यकता होती है जो अनिश्चितता की जिम्मेदारी को अपने ऊपर
े सकें। इस प्रकार का साहसी (entrepreneur) वर्ग उसकी माँग
demand) की तुलना में कम ही होता है। ऐसी परिस्थिति में साहसी उस
तिफल (remuneration) के कुछ अंश को, जो कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा तथा
ाजार के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी में अन्य उत्पत्ति के साधनों को मिलता, स्वयं
थिया लेता है।

हावसन और प्रो० नाइट के लाभ सम्बन्धी विचारों में बहुत साम्य है,
यद्यपि प्रो० नाइट द्वारा प्रतिपादित लाभ-सिद्धान्त अधिक गम्भीर और जटिल
है। हावसन का निर्माण करने वाला साहसी बहुत कुछ प्रो० नाइट के अनि-
श्चितता को अपने ऊपर लेने वाले से साम्य खाता है। परन्तु जहाँ हावसन इस
प्रकार के साहसी-वर्ग की कमी पर जोर देता है और अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा को उस
कमी का परिणाम बतलाता है जिससे कि साहसी को अन्य उत्पत्ति के साधनों के
हिस्से को हड़प कर जाने की सुविधा प्राप्त होती है वहाँ प्रो० नाइट का मत है
कि अन्य साहसी तथा उत्पत्ति के साधनों के स्वामी स्थिति का सही-सही अनुमान
लगाने में असफल रहते हैं। इस कारण सफल साहसी को अन्य उत्पत्ति के साधन
(factors of production) सस्ते मूल्य में मिल जाते हैं।

प्रो० नाइट तथा प्रो० बोल्डिंग के सिद्धान्तों में भी बहुत कुछ साम्य है। परन्तु वे भिन्न-भिन्न बातों पर जोर देते हैं।

सीमान्त उत्पत्ति और लाभ : यह हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्येक उत्पत्ति के साधन का प्रतिफल (remuneration) उसकी सीमान्त उत्पत्ति के द्वारा निर्धारित होता है। साहसी को प्रतिफल उसकी योग्यता के कारण मिलता है। अस्तु, लाभ व्यवस्था (organisation) की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) के बराबर होता है। सीमान्त उत्पत्ति साहसी या व्यवस्थापक की बिना सहायता से होने वाली उत्पत्ति और उसकी सहायता से होने वाली उत्पत्ति के अन्तर के बराबर होती है। चैपमैन का मत है कि लाभ साहसी या व्यवस्थापक के सीमान्त सामाजिक मूल्य के बराबर होता है।

सीमान्त उत्पत्ति-सिद्धान्त के द्वारा लाभ की व्याख्या करने में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि व्यवस्था के साधन (Factor of organisation) की इकाई अन्य उत्पत्ति के साधनों की इकाई की भाँति छोटी नहीं होती, वरन् बहुत बड़ी होती है। अतएव, यदि एक साहसी को उत्पादन कार्य से हटा लिया जावे तो यह सम्भव हो सकता है कि सारा धंधा ही अस्त-व्यस्त हो जावे। यही कारण है कि साहसी की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) को मालूम नहीं किया जा सकता। अन्य उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पत्ति को मालूम किया जा सकता है, किन्तु साहसी की सीमान्त उत्पत्ति को मालूम नहीं किया जा सकता।

लाभ का गतिशील (Dynamic) सिद्धान्त · इस सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक 'क्लार्क' है। उसका कहना है कि लाभ का एकमात्र कारण गतिशील परिवर्त्तन (dynamic changes) हैं। उसके अनुसार साहसी का कार्य प्रबन्ध तथा देखभाल के श्रम से या जोखिम उठाने वाले से सर्वथा भिन्न है। उसका कार्य अग्रगणी (pioneer) का होता है, जो कि आर्थिक सगठन में परिवर्त्तन उपस्थित करता है और नवीन उत्पादन-पद्धति का निर्माण करता है।

लाभ लागत व्यय (cost) तथा बिक्री-मूल्य का अन्तर होता है। यदि प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण हो और आर्थिक संगठन में कोई नवीन परिवर्त्तन न हो, तो उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के प्रतिफलस्वरूप जितनी उसने उत्पत्ति की है, वह मिल जावेगा और बिक्री-मूल्य लागत व्यय के बराबर होगा, और देखभाल और प्रबन्ध के श्रम के लिए मजदूरी के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि स्थैतिक स्थिति (static state) में लाभ नहीं रहेगा।

स्थैतिक स्थिति से 'क्लार्क' का तात्पर्य यह था कि नीचे लिखे परिवर्त्तन न हों। पहला, जनसख्या में कोई परिवर्त्तन न हो, दूसरा, पू जी में कोई वृद्धि न हो, तीसरे, उत्पादन-पद्धति में कोई परिवर्त्तन न हो, चौथे, व्यवसाय-संगठन के स्वरूप में कोई भी परिवर्त्तन न हो; अन्तिम उपभोक्ताओं (consumers) की आवश्य-कताओं में कोई परिवर्त्तन न हो, ऐसी स्थैतिक स्थिति (static state) में मूल्य उत्पादन-व्यय या लागत-व्यय के बराबर होगा। लाभ जो कि लागत-व्यय से अधिक होता है, वह समाप्त हो जावेगा।

इस सामजस्य को साहसी बदल देता है। साहसी अपनी श्रेष्ठ सगठन-शक्ति से लागत व्यय को कम करता है और इस प्रकार लाभ प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए, नवीन खोज अथवा अनुसधान गतिशील परिवर्त्तन (dynamic change) का एक उदाहरण है। नवीन खोज या अन्वेषण का उपयोग करके साहसी कम लागत-व्यय पर उत्पादन करेगा और इस प्रकार लाभ प्राप्त करेगा। परन्तु, आगे पीछे फिर प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हो जावेगी। अन्य साहसी भी उस अन्वेषण या खोज को काम में लाने लगेंगे, उत्पत्ति बढ जावेगी और मूल्य गिर जावेगा। इसके अतिरिक्त साहसियों मे प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण मजदूरी और सूद बढ जावेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि लागत-व्यय बढ़ जाता है और क्रमश: लागत-व्यय और कीमत बराबर हो जाती है और लाभ समाप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लाभ अस्थायी और अनिश्चित है, लाभ परिवर्त्तनों के कारण प्रकट होता है और परिवर्त्तन करने के लिए प्रोत्साहन भी प्रदान करता है। अग्रगणी साहसी (pioneer entrepreneur) जो साहस के साथ नवीन पद्धति को स्वीकार करता है कुछ समय के लिए अधिक लाभ प्राप्त करता है। किन्तु शीघ्र ही अन्य साहसियों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण उसे उस लाभ को समाज को दे देना पड़ता है। या तो वह बढी हुई मजदूरी अथवा बढ़े हुए सूद के रूप में उस लाभ को समाज के लिए छोड़ देता है अथवा वस्तु की कीमत घटानी पड़ती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गतिशील परिवर्त्तन का अन्तिम लक्ष्य लाभ-रहित स्थिति उत्पन्न कर देना है। स्थैतिक स्थिति में जहाँ पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा विद्यमान होती है लाभ न्यूनतम होगा। परन्तु वास्तविक जीवन में परिवर्त्तन बराबर होते रहते हैं और प्रतिस्पर्द्धा पूर्ण न होने से उसका प्रभाव कम हो जाता है। अस्तु, साहसी सदैव लाभ प्राप्त करते रहते हैं।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध प्रो० नाइट की यह आपत्ति है कि प्रत्येक परिवर्त्तन लाभ उत्पन्न नहीं करता। जो परिवर्त्तन नियमित रूप से होते रहते हैं और जिन्हें

साहसी पहले से ही जानता है, उनको लागत-व्यय में सम्मिलित कर लिया जावेगा। जिस प्रकार अग्नि इत्यादि की जोखिम को हिसाब लगा कर पहले जाना जा सकता है, और उस जोखिम के लिए एक प्रीमियम निश्चित कर दिया जाता है, उसी प्रकार इन परिवर्त्तनों को जिन्हें पहले से जाना जा सकता है उनके आर्थिक परिणामों को निश्चित करके लागत-व्यय में सम्मिलित किया जा सकता है। प्रो० नाइट का मत है कि केवल उन परिवर्त्तनों के कारण लाभ प्रकट होता है, जिनको पहले से मालूम नहीं किया जा सकता और जिनके बारे में भविष्य वाणी नहीं की जा सकती। 'टाज़िग' ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि इसमे लाभ और प्रबंध करने की आय में कृत्रिम भेद किया गया है। उसका कहना है, "उन धधों में भी जो कि पहले से स्थापित हैं व्यवस्था और प्रबन्ध करने के लिए वही प्रबधपटुता और निर्णायक शक्ति चाहिये कि जो शी परिवर्त्तनशील परिस्थिति में धधों को चलाने के लिए अभीष्ट है।" स्थैतिक स्थिति (static state) में साहसी को प्रबध और व्यवस्था करने के लिए मजदूरी मिलेगी, और, यदि उस स्थिति में जोखिम नहीं रहता तो जोखिम उठाने का पुरस्कार साहसी को नहीं मिलेगा। यद्यपि इस स्थिति मे अधिकाँश जोखि समाप्त हो जावेगी, परन्तु फिर भी कुछ जोखिम, जैसे कि उत्पादकों की असावधान से होने वाली हानि की जोखिम तथा कर्मचारियों की बेईमानी से होने वाल हानि की जोखिम (जिसे मार्शल ने व्यक्तिगत जोखिम कहा है) तो रहेगी ही और उस जोखिम को उठाने के लिए साहसी को पुरस्कार मिलना ही चाहिए

ऊपर वर्णित सिद्धान्तों में एक दोष यह है कि वे साहसी के किसी का विशेष पर अधिक बल देते हैं और अन्य कार्यों की उपेक्षा करते हैं। ला वास्तव मे एक प्रकार की आय नहीं होती उसमें बहुत प्रकार की आय सम्मिलि होती है। साहसी एक कार्य नहीं करता वरन् बहुत से कार्य करता है। वह जोखि उठाता है, अनिश्चितता का सामना करता है, वह योजना बनाता है, चुन करता है, उत्पादन का सचालन करता है और निर्णय देता है। अतएव क एक सिद्धान्त लाभ के सच्चे स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। इसके अतिरि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न लाभ-सिद्धान्तों में साहसी के कार्यों की गणना की है उसमे इस बात की व्याख्या नहीं होती कि लाभ किस प्रकार प्रकट होता लाभ-सिद्धान्त मे इस बात की व्याख्या भी होनी चाहिए कि साहसियों पूर्त्ति (supply) सीमित क्यों होती है। क्योंकि, यदि योग्य व्यवसायियों संख्या भी उतनी ही अधिक होती जितनी कि साधारण मज़दूरों की होती तो फिर उनका पुरस्कार (लाभ) भी साधारण मजदूरों की भांति ही

ोता फिर वे चाहे जितने कार्य करते हों। साहसियों की सख्या परिमित क्यों इसको जानने के लिए हमें समाज की बनावट का अध्ययन करना होगा। ाहसी के लिए कल्पना-शक्ति, निर्णायक बुद्धि, सगठन करने की कला और शक्ति, ोखिम को कम करने की चतुरता, साहसी और आत्म-विश्वास की आवश्यकता ोती है, और यह गुण कम व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अतएव लाभ-सिद्धान्त ो इस बात की जानकारी देनी चाहिए कि यह गुण किस सीमा तक प्राकृतिक ारणों से परिमित हैं और किस सीमा तक परिस्थितियों के कारण ारिमित हैं। लाभ-सिद्धान्त को इस बात की भी व्याख्या करनी ाहिए कि कीमते लागत-व्यय से कभी-कभी ऊँची क्यों हो जाती हैं और अनर्जित लाभ या आकस्मिक लाभ (windfall profit) क्यों होता है। इस म्बन्ध में क्लार्क ने जो गतिशील परिवर्त्तनों ((dynamic changes) पर बल दिया है वह महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मुद्रा (money) तथा व्यापार-चक्र (trade cycle) के हेर-फेर की ओर भी हमें ध्यान देना होगा। क्योंकि मुद्रा और व्यापार-चक्र के हेर-फेर के कारण भी लाभ और हानि होती है। अस्तु, लाभ-सिद्धान्त को एक ओर समाज की बनावट की ओर ध्यान देना होगा और दूसरी ओर मुद्रा की समस्या की ओर भी ध्यान देना होगा।

लाभ का औचित्य : समाजवादी विचारधारा को स्वीकार करने वाले लोग लाभ का घोर विरोध करते हैं। मार्क्स के अनुसार सब धन श्रम के द्वारा उत्पन्न होता है और उसको ही सारा धन मिलना चाहिए। अतिरिक्त धन जो कि लाभ है श्रमिक या मजदूर के हिस्से में से छीन लिया जाता है। अस्तु, लाभ कानूनी डकैती है।

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि लाभ के कुछ ऐसे अश हैं जिनका समर्थन नहीं किया जा सकता। साहसी मजदूरों को उनकी सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से बहुत कम देकर अपने लाभ को बढा सकता है या उनका शोषण करके अपना लाभ बढा सकता है। साहसी बेईमानी के द्वारा ऐसी सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है जिनसे उसे आर्थिक लाभ हो। व्यवसायी कभी-कभी राजनैतिक दलों को रिश्वत देकर पार्लियामेंट में धन्धे के लिए अनुचित सरक्षण (protection) प्राप्त कर लेते हैं। स्टाक ऐक्सचेंज में सट्टा या जुआ करके लोग खूब लाभ कमाते हैं। इसके अतिरिक्त एकाधिकार स्थापित करके एकाधिकारी अनुचित लाभ कमाता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से अनुचित तरीके हैं जिनसे लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के लाभ के समर्थन में कुछ कह सकना कठिन है। यह व्यवसायियों की नैतिक

निर्बलता का परिणाम है और इस प्रकार के अनुचित लाभ को केवल पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा/तथा नैतिकता की वृद्धि से ही समाप्त किया जा सकता है।

किन्तु, हम सामान्य लाभ (normal profit) की निन्दा नहीं कर सकते। यह निजी सम्पत्ति या जायदाद की व्यवस्था का अवश्यम्भावी परिणाम है। जिस प्रकार हम प्रतीक्षा के लिए सूद देते हैं ठीक उसी प्रकार हमें जोखिम तथा अनिश्चितता को सहन करने के लिए लाभ देना होगा। साहसी जोखिम उठाकर और उत्पादन-कार्य का संचालन करके समाज की एक बड़ी सेवा करता है जिसके लिए उसको लाभ मिलना चाहिए। जिस प्रकार श्रमिक या मजदूर की सेवाएँ उत्पादन के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार व्यवसायी की सेवाएँ भी आवश्यक हैं। अपनी श्रेष्ठ संगठन-शक्ति से और साहस के साथ जोखिम उठाने की योग्यता से वह आर्थिक उत्पत्ति को बहुत कुछ बढ़ाता है। लाभ के कारण ही आर्थिक जगत में उन्नति हुई है। यदि लाभ को रोक दिया जावे तो आर्थिक उन्नति रुक जावेगी। हाँ, यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट कर दिया जावे तो लाभ की आवश्यकता नहीं रहेगी।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) में लाभ— पूर्ण समाजवादी राज्य में लाभ लुप्त हो जावेंगे। किसी व्यक्ति को उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व के लिए लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि सारे धन्धे या कारबार राज्य के आधीन होंगे। परन्तु एक अर्थ में सूद की तरह लाभ भी राज्य द्वारा संचालित धन्धों के लिए निर्देश देने के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए, राज्य पहले उन्हीं धन्धों को हाथ में लेगा, जिनमें अधिक सफलता या लाभ की आशा होगी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में जो भी लाभ या हानि होगी, वह समाज को सहन करनी होगी। यदि उत्पादन कार्य कुशलतापूर्वक किया गया और लाभ हुआ, तो सर्वसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा। और, यदि उत्पादन-कार्य अकुशलतापूर्वक किया गया, तो समाज का जीवन स्तर नीचे गिरेगा। व्यक्तिगत धन्धे में अकुशलता का परिणाम केवल पूँजीवादी वर्ग को ही उठाना पड़ता है।

उत्पादन-कार्य में लाभ प्राप्त करने के लिए कुशलता आवश्यक है। कुशलता से हमारा तात्पर्य लागत-व्यय को न्यूनतम रखने में है। यदि कोई अधिनायक (dictator) अपने देशवासियों के जीवन-स्तर को लगातार ऊँचा उठाना चाहता है तो उसे इस ओर उतना ही ध्यान देना होगा, जितना कि व्यक्तिगत साहसी उत्पादन की कुशलता की ओर ध्यान देता है।

———

सातवां भाग

राजस्व (Public Finance)

परिच्छेद ५७

राजस्व (Public Finance)

जैसे-जैसे मानव-समाज का अधिकाधिक विकास होता गया वैसे ही वैसे इस बात का अनुभव होता गया कि कुछ मानवीय आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जिनकी तृप्ति एक सामाजिक संस्था द्वारा अधिक मितव्ययता और सुगमता के साथ हो सकती है। साथ ही साथ मनुष्य को कुछ ऐसी सामाजिक आवश्यकताओं का अनुभव होने लगता है जिनकी पूर्ति करने का प्रयत्न कोई भी व्यक्ति नहीं करता है। उदाहरण के लिए, सड़क बनाना, रात्रि को शहरों की सड़कों पर रोशनी करना, देश की रक्षा का प्रबन्ध करना, शिक्षा, सफाई तथा चिकित्सा सम्बन्धी कार्य ऐसे हैं जिन्हें कोई भी व्यक्ति नहीं करेगा, परन्तु जिनकी नितान्त आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं को पूरा किये बिना कोई राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। अस्तु, इन सामाजिक तथा सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही राष्ट्र का निर्माण हुआ। आरम्भ में राष्ट्र अधिकतर एक 'पुलिस स्टेट' ही था और उसका मुख्य कार्य देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना और देश में आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था कायम करना था। जब राष्ट्र का कार्य इतना सीमित और संकुचित था तो उन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राष्ट्र को बहुत थोड़ी सी आय की आवश्यकता होती थी। राज्य अपने नागरिकों से कुछ आय प्राप्त कर लेता था और उसी से राज्य का काम चल जाता था। उस समय अधिकतर खेती ही एकमात्र मुख्य धन्धा था। अस्तु, शासक मालगुजारी के द्वारा ही आय प्राप्त कर लेते थे। प्रत्येक शासक के पास स्वयं की बहुत-सी भूमि, बन, इत्यादि सम्पत्ति रहती थी। उससे भी थोड़ी आय हो जाती थी, और इतनी आय शासन कार्य को चलाने के लिए पर्याप्त होती थी। ऐसी स्थिति में राजस्व का न तो समाज के जीवन में कोई विशेष महत्त्व था और न उसके सिद्धान्तों का अध्ययन करने की कोई विशेष आवश्यकता थी। परन्तु समाज के विकास के साथ-साथ राष्ट्र के कार्यों का क्षेत्र भी बढ़ता गया। आज तो स्थिति यह हो गयी है कि राष्ट्र व्यक्ति के लिए क्या नहीं करता यह बतलाना कठिन है। सच तो यह है कि आज राष्ट्र वह कार्य भी करता है, जिन्हें कुछ दिनों पहले केवल

व्यक्ति का निजी क्षेत्र समझा जाता था। उदाहरण के लिए, राष्ट्र आज व्यापार, उद्योग-धन्धे, कृषि, यहाँ तक कि व्यक्तियों के लिए रहने के लिए मकान बनवाने का भी कार्य करता है। आज राष्ट्र का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। कोई भी ऐसा सार्वजनिक हित का कार्य नहीं है जिसे राष्ट्र नहीं करता। आज राष्ट्र 'पुलिस स्टेट' न होकर सार्वजनिक कल्याणकारी राष्ट्र का रूप धारण करता जा रहा है।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि राष्ट्र का जन्म इस कारण हुआ था कि कुछ ऐसी सामाजिक सगठित आवश्यकताएँ थीं जिनको व्यक्तिगत रूप से पूरा नहीं किया जा सकता था। उसके लिए एक सामाजिक सगठन या सस्था के निर्माण की आवश्यकता थी। अस्तु, राष्ट्र एक सामाजिक सस्था है, और उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह समाज का अधिकतम कल्याण करे। राष्ट्र का लक्ष्य समाज को अधिक से अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाना है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र देश की वाह्य-रक्षा, आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था, कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति, शिक्षा, स्वच्छता तथा चिकित्सा इत्यादि की व्यवस्था करता है।

हम यहाँ यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि 'राजस्व' का अध्ययन करते समय हम एक ऐसे जनतन्त्री राष्ट्र की कल्पना करेंगे, जिसका लक्ष्य किसी जाति अथवा वर्ग विशेष का अधिकतम कल्याण न होकर समाज का अधिकतम कल्याण है। व्यवहार में ऐसे राष्ट्र भी विद्यमान हैं जिनमें किसी वर्ग विशेष का प्रभुत्व है। अतएव, राष्ट्र के प्रयत्न उस वर्ग के हित साधन के लिए होते हैं। इसी प्रकार जब एक देश किसी दूसरे देश पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमा लेता है, तो वह शासित देश का शासन अपने देश-वासियों के अधिकतम कल्याण की दृष्टि से करता है, न कि उस शासित देश के कल्याण के लिए। परन्तु, क्रमश इस प्रकार की स्थिति दूर होती जा रही है। किसी भी राष्ट्र का जो लक्ष्य होता है उसी को ध्यान में रखकर वह अपने राजस्व का सचालन करता है।

राजस्व राजकीय अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। राजकीय अर्थशास्त्र अब एक स्वतन्त्र विज्ञान समझा जाता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र एक व्यक्ति का हो सकता है उसी प्रकार एक राष्ट्र का भी अर्थशास्त्र हो सकता है। राष्ट्र की भी आवश्यकताएँ होती हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राष्ट्र को भी प्रयत्न करने पड़ते हैं, तभी उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। राजकीय अर्थशास्त्र भी स्वभावतः सामाजिक विज्ञान है।

यदि समाज न हो, तो राष्ट्र भी न होगा और राजकीय अर्थशास्त्र की कोई समस्या ही न उठेगी।

राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत व्यय की तुलना राष्ट्रीय तथा व्यक्तिगत व्यय में कुछ भेद हैं। उनको हमें जान लेना आवश्यक है। बहुधा यह कहा जाता है कि व्यक्तिगत व्यय उस व्यक्ति की आय से निश्चित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की आय स्थिर होती है और उसको अपना व्यय उन आय के अनुसार ही करना पड़ता है। परन्तु राष्ट्र का व्यय यह निश्चित करता है कि राष्ट्र को कितनी आय का प्रबन्ध करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र पहले अपने व्यय का अनुमान लगाता है और फिर उतनी ही आय का प्रबध करता है। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि एक सीमा तक यह ठीक है। परन्तु यह अन्तर बहुत गहरा नहीं है। क्योंकि एक व्यक्ति एक सीमा से नीचे अपने व्यय को नहीं घटा सकता, वह न्यूनतम व्यय है जो उसे करना ही होगा। यदि उसको आय उतनी भी नहीं है, तो उसे अधिक परिश्रम करके अपनी आय को बढाना होगा। साथ ही यह बहुधा देखने में आता है कि जब किसी व्यक्ति का व्यय बढता है तो वह अधिक परिश्रम करके अपनी आय को बढाने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर राष्ट्र भी एक सीमा तक ही अपनी आय को बढा सकता है। एक राष्ट्र उतना ही व्यय कर सकता है जितना 'कर' (tax) देने की शक्ति उसकी जनता में होगी।

एक व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी आय का कुछ भाग बचावे जिससे कि आवश्यकता के समय वह अपना काम चला सके। परन्तु राष्ट्र के लिए अपने व्यय से अधिक आय एकत्रित करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर वह अधिक कर लगाकर या ऋण लेकर काम चला सकता है। मध्यकाल में जब राजाओं का देशों पर एकछत्र निरकुश शासन था तब इस बात की आवश्यकता थी कि राजा साधारण वर्षों में कुछ बचा कर खजाने में रक्खे, जिससे युद्ध तथा ऐसी ही विषम परिस्थिति मे, जब कर वसूल न किया जा सके, तो शासन-व्यय चलाया जा सके। किन्तु आज जनतन्त्र के युग में जनता द्वारा चुनी हुई सरकार होती है। अस्तु, कैसी भी परिस्थिति में कर वसूल हो सकता है और बचाकर रखने की आवश्यकता नहीं होती।

व्यक्तिगत व्यय और राष्ट्रीय व्यय में तीसरा अन्तर यह है कि राष्ट्रीय व्यय के लिए जनता को बाधित रूप से धन देना पड़ता है। आज यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक की सम्पत्ति और उसकी सेवाओं पर

अबाधित अधिकार है। वह जिस कार्य के लिए चाहे और जब चाहे अपने ना-
रिकों की सेवा और उनकी सम्पत्ति का उपयोग कर सकता है। यद्यपि सरकार
साधारण परिस्थिति में कर इस प्रकार लगाती है कि उसका भार असहनीय
हो जावे। परन्तु युद्ध तथा अन्य असाधारण परिस्थिति में राष्ट्र प्रत्येक नागरिक
की सेवाओं तथा सम्पत्ति का उपयोग राष्ट्रीय कार्य के लिए कर सकता है। प
कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति या सेवा को अपने उपयोग के लिए प्राप्त
कर सकता।

राष्ट्र के व्यय तथा व्यक्तिगत व्यय मे एक अन्तर यह भी है कि वि
स्वार्थ इतने प्रबल हो सकते हैं कि वे राष्ट्र के स्वार्थों की अवहेलना करके अ
स्वार्थों को आगे बढावें। इसका परिणाम यह हो सकता है कि अनावश
व्यय बढ जावे। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश में सेना का राजनीति
अधिक प्रभाव है तो आवश्यकता न होने पर भी वह सेना पर बढे हुए व्यय
कम नहीं करने देती। कल्पना कीजिए कि अर्थमत्री का विश्वास है कि सेना
अत्यधिक व्यय हो रहा है जिसकी उस समय आवश्यकता नहीं है। वह उस
को कम करके शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर अधिक व्यय करता है जिससे उसको
हो। केवल विशेष स्वार्थों के प्रबल होने के कारण ही अनावश्यक व्यय हो
नही है। कभी-कभी राष्ट्र का किसी विशेष बात के लिए अत्यधिक मोह या
भावना होने से भी अनावश्यक व्यय हो जाता है।

व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय व्यय का एक अन्तर यह भी है कि व्यक्ति
करते समय यह ध्यान में रखता है कि उसको उससे अधिकतम लाभ हो
परन्तु राष्ट्र इस आधार को स्वीकार नहीं कर सकता। उसे ऐसे भी कार्य क
पड़ते हैं जिनसे कोई प्रत्यक्ष या तत्कालीन लाभ न हो। उदाहरण के लिए,
शान्ति है और विदेशी आक्रमण का कोई भय नहीं है तब सेना से कोई
नहीं है किन्तु राष्ट्र इसी कारण सेना का विघटन नहीं कर सकता।

कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रीय व्यय अनिवार्य होता है। जैसे राष्ट्र
सुरक्षा का प्रबन्ध करना ही होगा चाहे कुछ लोग उसके विरुद्ध ही क्यों न
या उसकी आवश्यकता न समझते हों। परन्तु एक व्यक्ति का व्यय उसकी इ
पर निर्भर होता है। किन्तु यह अन्तर ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि कुछ
एक व्यक्ति के लिए भी अनिवार्य होते हैं, जैसे भोजन, वस्त्र, मकान, इत्या
यदि वह इन आवश्यक वस्तुओं पर व्यय न करे तो वह जीवित नहीं
सकता।

राजस्व का सिद्धान्त : राष्ट्र की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। उ

पूर्ति के लिए उसको व्यय करना पड़ता है और उसके लिए आय की आवश्यकता होती है। इस कारण राष्ट्र को कर लगाने पड़ते हैं। राष्ट्र अपनी आय तथा व्यय सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं द्वारा समाज के कल्याण में वृद्धि करता है। जब आय प्राप्त करने के लिए राष्ट्र कर लगाता है तो जनता को कुछ त्याग करना पड़ता है। और कर (tax) का कर-भार (incidence) कर देने वाले पर पड़ता है क्योंकि कर देने से करदाता की आय कम हो जाती है और जो उपयोगिता (utility) वह उस धन के व्यय से प्राप्त कर सकता था वह उससे वंचित रहता है। जब राष्ट्र कर लगाता है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय की अन्तिम इकाइयां या अन्तिम रुपए ही जिसकी उपयोगिता सब से कम होती है वही राष्ट्र को देता है। जब राष्ट्र कर की दूसरी इकाई वसूल करता है तो कर-दाताओं को अपनी आय की सीमान्त इकाई (marginal unit) के पूर्व की इकाई जिसकी उपयोगिता सीमान्त इकाई से अधिक है देनी पड़ती है। अतएव कर (tax) की दूसरी इकाई देने से करदाता को अधिक उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता पर पहली इकाई की अपेक्षा दूसरी इकाई का अधिक भार पड़ता है। इस प्रकार जैसे-जैसे कर की अधिक इकाइयाँ लगाई जाती हैं वैसे ही वैसे जनता पर कर-भार बढ़ता जाता है। इसके विपरीत राष्ट्र कर की पहली इकाई को एक व्यक्ति के समान अपनी अत्यन्त अनिवार्य आवश्यकता पर व्यय करता है जिससे उस इकाई से उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त होती है। कर की दूसरी इकाई ऐसी आवश्यकता पर व्यय की जावेगी जिसकी पूर्त्ति से पहले की अपेक्षा कम उपयोगिता प्राप्त होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे-जैसे राष्ट्र अपनी आय की अधिक इकाइयाँ व्यय करता है वैसे-वैसे उन इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता मे ह्रास होता जाता है। सारांश यह कि एक ओर जैसे-जैसे कर की अधिक इकाइयाँ जनता पर लगाई जाती हैं उनका भार जनता पर बढ़ता जाता है, दूसरी ओर जब वे इकाइयाँ व्यय की जाती हैं तो उनसे प्राप्त होने वाली उपयोगिता में ह्रास होता जाता है। इस कारण एक समय ऐसा आवेगा जबकि भार और उपयोगिता समान हो जावेंगे। यदि राष्ट्र उस सीमा से अधिक कर लगायेगा तो उस कर का भार उस व्यय से प्राप्त उपयोगिता से अधिक होगा जिससे कुल लाभ में ह्रास होगा। इस कारण राष्ट्रीय आय-व्यय द्वारा अधिकतम लाभ तभी होगा जब सीमान्त व्यय (marginal expenditure) द्वारा प्राप्त उपयोगिता सीमान्त कर (marginal tax) के भार के बराबर या कुछ अधिक हो। राष्ट्र को एक सीमा तक तो कर लगाना चाहिये और उसी सीमा तक व्यय करना चाहिये। इसी से राष्ट्रीय

आय-व्यय द्वारा जनता का अधिकतम लाभ होता है, और इसी को राजस्व का सिद्धान्त (principle of public finance) कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र अपने आय-व्यय के कार्यों द्वारा जनता के लाभ या कल्याण में वृद्धि करता है। यदि राष्ट्र न हो तो जनता इस लाभ से वंचित रह जावे।

कार्यों का विभाजन · अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि राज्य के कुछ कार्य उसी दशा में अधिक मितव्ययता और सरलता से हो सकते हैं कि यदि उनका केन्द्रीयकरण कर दिया जावे, और कुछ कार्यों को सुगमता और मितव्ययता से करने के लिए उनका विकेन्द्रीयकरण (decentralisation) करना आवश्यक होता है। यही नहीं कि कुछ कार्यों का केन्द्रीयकरण (centralisation) करने और कुछ का विकेन्द्रीयकरण करने से व्यय कम होता है, वरन् उनको सुचारु रूप से करने के लिए भी यह आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, सेना का सङ्गठन, उसकी सख्या, सेना कहाँ रहनी चाहिये, युद्ध सामिग्री बनाने के कारखानों को कहाँ स्थापित किया जावे, आदि केन्द्रीय सरकार ही अच्छी प्रकार कर सकती है। यह निर्णय किसी नगर विशेष के लोगों पर नहीं छोड़ा जा सकता। उसी प्रकार आय-कर (income tax) तथा आयात-कर (import duty) को केवल केन्द्रीय सरकार को ही लगाना चाहिये। यदि यह अधिकार प्रत्येक नगर की म्यूनिसिपैलिटी या राज्य (state) की सरकार को दे दिया जावे तो प्रत्येक स्थान पर कर की दरें भिन्न-भिन्न हो जावेंगी। दूसरी ओर कुछ ऐसे कार्य हैं, जैसे नगर की सड़कें, नगर की सफाई, पानी, बिजली का प्रबन्ध, प्रारम्भिक शिक्षा, इत्यादि इनका निर्णय स्थानीय सस्थाओं पर ही छोड़ना होगा। क्योंकि न तो केन्द्रीय सरकार उनकी उचित देख-भाल और जाँच कर सकेगी और न उसे उनका इतने विस्तार से परिचय होगा जितना स्थानीय सस्थाओं को होता है। उसी प्रकार स्थानीय करों को, जैसे सफाई-कर, स्थानीय सस्था भलीभाँति वसूल कर सकती है। यदि देश बहुत बड़ा होता है, और भौगोलिक, भाषा, रहन-सहन और आर्थिक विकास में भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे बहुत भेद होता है, तो वहाँ केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सस्थाओं के बीच मे प्रान्तीय राज्य की सरकारें होती हैं जो कि उस प्रदेश की सभी प्रकार की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न जिलों को (जो अखिल भारतीय महत्त्व के न हों) जोड़ने के लिए सड़कें बनाने, वहाँ की शिक्षा की व्यवस्था करने, वहाँ के कृषि व धन्धे को उन्नत करने का काम उत्तर प्रदेश की सरकार जितना अच्छा करेगी उतना केन्द्रीय सरकार नहीं कर सकती। ऊपर लिखे कारणों से कार्यों और करों का विभाजन आवश्यक हो जाता है, फिर चाहे वह 58

सरकार (federal government) हो, जैसे भारतवर्ष या सयुक्त-राज्य अमेरिका या एकात्मक सरकार (unitary form of government) हो, जैसे ब्रिटेन। सघ सरकार में केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें होती हैं और एकात्मक सरकार में केवल केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें ही होती हैं।

राजस्व का उद्देश्य या अधिकतम समाज हित : आरम्भ में लोगों का विश्वास था कि राजस्व की समस्या का समाधान करने का सबसे सरल उपाय यह है कि राज्य कम से कम कर वसूल करे और अपने व्यय को कम से कम करे। इस मान्यता के दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि उस समय व्यक्तिवाद की भावना बहुत प्रबल थी, लोग राज्य का कम से कम हस्तक्षेप चाहते थे। दूसरा कारण इस मान्यता का यह था कि लोगों की यह धारणा थी कि राज्य धन का लाभदायक और उचित उपयोग नहीं कर सकता। वे मानते थे कि राज्य अपव्यय करेगा। राज्य द्वारा व्यय अनुत्पादक कार्यों के लिए होता है और व्यक्ति उत्पादक कार्यों पर व्यय करता है। इसी कारण से ग्लैडस्टन जैसे राजनीतिज्ञ का कहना था कि रुपया व्यक्तियों के पास बढ़ने के लिए छोड़ देना चाहिये।

परन्तु, यदि देखा जावे तो यह धारणा ठीक नहीं थी। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे तो राजकीय व्यय कम से कम होना चाहिये और कर भी बहुत कम होने चाहिये। परन्तु राज्य प्रत्येक दशा मे अपव्यय करता हो, ऐसी बात नहीं है। व्यक्ति भी बहुधा अपव्यय करते हैं। उदाहरण के लिए, वे विलासिता मे धन बर्बाद करते हैं तथा सामाजिक कृत्यों पर अनाप-शनाप व्यय करते हैं। कुछ लोग जुआ और घुड़दौड़ तथा सट्टे में धन नष्ट करते हैं। राज्य बहुधा व्यक्तियों की अपेक्षा आय का अच्छा उपयोग करता है, क्योंकि राज्य के व्यय के फलस्वरूप देश की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है। इसी प्रकार सभी कर (tax) बुरे नहीं होते। मादक वस्तुओं पर कर लगाने से समाज का बहुत हित होता है, क्योंकि मादक वस्तुओं पर कर लगाने से उसकी खपत कम होती है जो समाज के लिए लाभदायक होती है। इसी प्रकार आयात (imports) पर कर लगाने से देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। यह भी देश और समाज के हित में होता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं है कि राज्य का प्रत्येक कर और राज्य द्वारा किया गया प्रत्येक व्यय समाज के हित में ही होता है। कुछ लेखकों का कहना है कि राज्य के व्यय को खूब बढ़ाना चाहिये। यह भी ठीक नहीं है। जिन राष्ट्रों में, सर्वसाधारण में, सार्वजनिक हित की भावना का अभाव है वहाँ

राजकीय धन का अपव्यय होते देखा गया है। इसी प्रकार कुछ कर ऐ
जो राष्ट्र की आय को कम करते हैं और समाज का अहित करते
उदाहरण के लिए, अनावश्यक युद्धों पर व्यय करना अथवा अनाव
योजनाओं पर रुपया खर्च करना राष्ट्र के धन का अपव्यय करना
इसी प्रकार यदि मृत्यु-कर बहुत ऊँचा लगा दिया जावे तो उससे देश में
कम होगी और पूँजी का निर्माण नहीं होगा।

अस्तु, राजस्व का सही सिद्धान्त यही है कि राज्य को अपने आय-व्य
प्रबन्ध ऐसा करना चाहिये कि उससे अधिकतम समाज-हित (maxim
social advantage) हो सके। राजकरों या ऋण के द्वारा सरकार
आय प्राप्त करती है और उसको व्यय करने पर वह आय बँट जाती है
प्रकार वह धन एक वर्ग के लोगों से प्राप्त होता है और दूसरे वर्ग के लो
मिलता है। यही नहीं जो धन (wealth) उत्पन्न होता है उसके स्वरूप
उसकी मात्रा में भी परिवर्तन होता रहता है। यदि यह हस्तान्तर और परि
अधिकतम समाज-हित का सृजन करता है, तो वह उचित है।

यह जानने के लिए कि राष्ट्रीय आय-व्यय के फलस्वरूप अधिकतम स
हित का सृजन होता है या नहीं, हम नीचे लिखी बातों पर ध्यान देना है
प्रथम, राजकीय व्यय के स्वरूप का हमें अध्ययन करना होगा। उदाहर
लिए, यदि राज्य एक बड़ी बहुउद्देशीय योजना हाथ में लेता है और उ
बहुत अधिक व्यय करता है, तो अधिक व्यय होते हुए भी अन्तत. वह
के हित में है, क्योंकि उससे आगे चलकर धनोत्पत्ति का कार्य बढ जावेगा।
विपरीत किसी लाभरहित कार्य पर थोड़ा भी व्यय करना राष्ट्र के हि
कम करता है। परन्तु, यदि व्यय विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा
के लिए अथवा आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिए किया जाव
कुल मिलाकर वह राष्ट्र के हित की वृद्धि करता है, यद्यपि वह आ
हित की वृद्धि नहीं करता। दूसरे, कर-पद्धति के स्वरूप और उ
प्रणाली का भी ध्यान रखना होगा। भिन्न-भिन्न तरह से करों
बराबर आय प्राप्त की जा सकती है, परन्तु एक तरह से कर वसूल
से कर भार (incidence) बहुत अधिक होता है और दूसरी तरह से
वसूल करने से कर-भार कम होता है। तीसरे, हमें यह भी देखना होग
करों का देश की उत्पादन-शक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ता है। यदि कर-प्र
का यह प्रभाव होता है कि लोगों की बचाने की इच्छा और बचाने की
कम होती है, तो इस प्रकार की कर-प्रणाली दोषपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त आज विद्वानों की यह मान्यता है कि राजस्व का प्रबन्ध प्रकार होना चाहिये जिससे देश में प्रत्येक व्यक्ति को काम-धन्धा मिल ; और बेकारी न फैले। विद्वानों का कहना है कि करों की दर तथा राजकीय ा को इस प्रकार निर्धारित करना चाहिये कि जिससे नवीन धन्धों को साहन मिले और समाज में सर्वसाधारण का उपभोग बढे, जिससे वस्तुओं की ग बढ जावे और जिससे धन्धों से सारे श्रमिकों को काम मिल जावे। राजस्व प्रबन्ध करते समय राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि समाज धन की असमानता कम हो।

राजस्व (Public Finance) के विभाग : राजस्व मे हम राज्य के य और व्यय सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन करते हैं, और अध्ययन की सुविधा के ए हम इन कार्यों को चार भागों मे बॉटते हैं :—

(१) राजकीय व्यय (public expenditure) ·—इसके अन्तर्गत जकीय व्यय की रीतियों व सिद्धान्तों का अध्ययन होता है और यह र्णय किया जाता है कि राज्य को किन कार्यों पर और कितना व्यय रना चाहिये।

(२) राजकीय आय (public revenue) ·—इसके अन्तर्गत हम ह अध्ययन करते हैं कि राजकीय आय किन-किन स्रोतों से आती है और राज्य ो किन-किन रीतियों और सिद्धान्तों से वह आय एकत्रित करना चाहिये।

(३) राजकीय ऋण (public debt) .—इसके अन्तर्गत हम यह ध्ययन करते हैं कि ऋण किन कार्यों के लिए लेना चाहिये, ऋण लेने का सेद्धान्त क्या है और ऋण की अदायगी का प्रबन्ध किस प्रकार किया जावे।

(४) राजस्व का प्रबन्ध (financial administration) :—इसके अन्तर्गत हम राजकीय आय-व्यय और ऋण की समस्याओं के वास्तविक प्रबन्ध का अध्ययन करते हैं। इसमें हम यह भी अध्ययन करते हैं कि राज्य का बजट किस प्रकार तैयार किया जाता है, किन उचित अधिकारियों द्वारा स्वीकृत किया जाता है और किस प्रकार राज्य अपना आय-व्यय बजट के अनुसार ही करता है। इसके अन्तर्गत राज्य के आय-व्यय के हिसाब की जॉच (audit) भी होती है।

———————

परिच्छेद ५८

राजकीय व्यय (Public Expenditure)

राजकीय व्यय का वर्गीकरण : अर्थशास्त्रियों में राजकीय व्यय के वर्गीकरण के सम्बध में घोर मतभेद है। प्रत्येक लेखक अपने ढग से राजकीय व्यय का वर्गीकरण करता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्री बहुधा राजकीय व्यय का वर्गीकरण, उस व्यय से समाज को होने वाले लाभ के आधार पर अथवा उस व्यय या सेवा के उपलक्ष्य में जो आय प्राप्त होती है, उसके आधार पर करते थे। अन्य लेखकों ने राज्य के कार्यों के आधार पर व्यय का वर्गीकरण किया है, जैसे रक्षात्मक, व्यापारिक और विकास सम्बधी व्यय।

जरमन लेखक कोहन और अमेरिकन लेखक प्लैहन उन लेखकों में मुख्य हैं, जिन्होंने समाज को होने वाले लाभ के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। प्लैहन का वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार है :—

(१) वह राजकीय व्यय जो कि समान रूप से सबों को लाभ पहुँचाता है। उदाहरण के लिए, रक्षात्मक व्यय ऐसा व्यय है।

(२) वह राजकीय व्यय जो कुछ व्यक्तियों को विशेष रूप से लाभान्वित करता है, किन्तु जिसे समान रूप से सबों के लाभ का व्यय मानना चाहिये, क्योंकि वे लोग, जिनके लाभ के लिए वह व्यय किया जाता है, अशक्त या अयोग्य हैं। उदाहरण के लिए, बेकारों को या गरीबों को आर्थिक सहायता देना, इत्यादि।

(३) वह राजकीय व्यय जो कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ पहुँचाता है, किन्तु शेष को समान लाभ पहुँचाता है। जैसे, न्याय की व्यवस्था।

(४) वह राजकीय व्यय जो केवल कुछ व्यक्तियों के लिए विशेष लाभ का होता है। उदाहरण के लिए, राज्य द्वारा सञ्चालित धंधे।

ऊपर दिया हुआ वर्गीकरण वैज्ञानिक और सही नहीं है। क्योंकि सभी राजकीय व्यय वास्तव मे जनता के हित में होता है और उसका ऊपर लिखी श्रेणियों में वर्गीकरण करना कठिन है। उदाहरण के लिए, राज्य द्वारा किये गये रक्षात्मक व्यय में भी कुछ व्यक्तियों के लिए विशेष लाभ का अंश है। जो

बहुत धनी है उसे रक्षात्मक व्यय से अधिक लाभ है, उस व्यक्ति की तुलना में जिसके पास कुछ भी नहीं है। 'निकलसन' का मत था कि जिस राजकीय व्यय से जनता को समान लाभ नहीं होता अथवा जिससे जनता की कोई आवश्यकता पूरी नहीं होती, वह आज के युग में व्यर्थ का व्यय है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, निकलसन ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि उस व्यय या सेवा क उपलक्ष्य में राज्य को कितनी आय प्राप्त होती है। उसका वर्गीकरण नीचे लिखे अनुसार है:—

(१) वह राजकीय व्यय जिससे तनिक भी प्रत्यक्ष आय प्राप्त नहीं होती और कभी-कभी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हानि होती है। जैसे, निर्धनों को या बेकारों को आर्थिक सहायता देना और युद्ध पर व्यय करना।

(२) वह राजकीय व्यय जिससे राज्य को कोई प्रत्यक्ष आय तो प्राप्त नहीं होती परन्तु जो अप्रत्यक्ष रूप से आय को बढाता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा। शिक्षित व्यक्तियों से राज्य को कर अधिक प्राप्त होता है और अपराधियों की तुलना में उन पर व्यय कम करना पड़ता है।

(३) वह राजकीय व्यय जिसके लिए आंशिक आय प्राप्त हो। जैसे, वह शिक्षा जिसके लिए शुल्क लिया जाता है।

(४) वह राजकीय सेवा जिसका पूरा व्यय आय से निकल आता हो या जिससे लाभ प्राप्त होता हो। जैसे, पोस्ट आफिस, रेलवे या राजकीय उद्योग-धंधे।

इस वर्गीकरण का भी वही दोष है जो प्लैहन के वर्गीकरण का था। जो व्यय एक श्रेणी में आता है वह दूसरी श्रेणी में भी आ सकता है।

ऐडम ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण राज्य के कार्यों के आधार पर नीचे लिखे अनुसार किया है:—

(१) रक्षात्मक कार्य—(क) सेना, (ख) पुलिस और न्यायालय, और (ग) सामाजिक रोग (जेल, पागलखाने और अपराधियों को सुधारने के स्थान, भिखमगों की व्यवस्था और सफाई)।

(२) व्यापारिक कार्य।

(३) विकास सम्बन्धी कार्य—इसमें शिक्षा, मनोरंजन, निर्माण कार्य, इत्यादि आते हैं।

इस वर्गीकरण में भी ऊपर लिखी कठिनाई है अर्थात् एक ही व्यय भिन्न-भिन्न श्रेणियों में जा सकता है।

कुछ लेखक राजकीय व्यय का वर्गीकरण राज्य के स्वरूप के आधार

पर करते हैं। एकात्मक राष्ट्र (unitary state) में वे व्यय को केन्द्रीय व्यय (central revenue) तथा स्थानीय व्यय में बाँटते हैं और संघ (federation) में वे राजकीय व्यय को केन्द्रीय व्यय, प्रान्तीय व्यय और स्थानीय व्यय में बाटते हैं। ऊपर लिखे वर्गीकरण में भी वही दोष है, अर्थात् जो कार्य केन्द्रीय सरकार करती है उनमें से कुछ कार्य प्रान्तीय या राज्य की सरकारें भी करती हैं और स्थानीय संस्थाएँ भी करती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में केन्द्रीय सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य सड़क निर्माण तथा कृषि सुधार का कार्य करती है और भिन्न-भिन्न राज्यों की सरकारें जिला बोर्ड और म्यूनिसिपैलिटिया भी वही कार्य करती हैं।

'डाल्टन' ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि कुछ व्यय तो ऐसे होते हैं, जो राष्ट्र के सामाजिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले आन्तरिक अथवा बाह्य आक्रमण से समाज की रक्षा करते हैं। दूसरे प्रकार का व्यय वह होता है जो उस सामाजिक जीवन को उन्नत करता है। इस वर्गीकरण में भी यही दोष है कि कुछ व्यय को छोड़कर शेष को चाहे जिस श्रेणी में रक्खा जा सकता है। इनमें कोई स्पष्ट भेद नहीं है।

कुछ विद्वानों ने उत्पादक (productive) व्यय और अनुत्पादक व्यय के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादक व्यय किसको माना जावे। यदि हम लाभ (profit) के आधार पर यह निर्णय करते हैं, तो अधिकांश राजकीय व्यय अनुत्पादक व्यय की श्रेणी मे आजावेगा, फिर चाहे उन सेवाओं से समाज का कितना ही अधिक हित होता हो। उदाहरण के लिए, यदि दुर्भिक्ष से किसी प्रदेश की रक्षा के लिए सिंचाई-योजना तैयार की जावे, किन्तु उससे प्रतिवर्ष राज्य को थोड़ा घाटा रहे, तो उसको अनुत्पादक स्वीकार करना उचित नहीं होगा। उत्पादक-व्यय क्या माना जावे, इस सम्बन्ध में 'राबिन्स' का मत उचित प्रतीत होता है। उनका मत है कि उत्पादक-व्यय उसको मानना चाहिये, जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूप से राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों या मानवीय साधनों की उन्नति करता है अथवा उसके द्वारा उन साधनों का अधिक मितव्ययतापूर्ण उपयोग होता है जिससे अन्त मे राष्ट्रीय धन (wealth) और राष्ट्रीय समृद्धि में वृद्धि होती है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा, यातायात, स्वास्थ्य, इत्यादि पर किया हुआ व्यय उत्पादक व्यय माना जाना चाहिये। इस वर्गीकरण के अनुसार शान्तिकाल में सेना और युद्ध सामिग्री पर किया जाने वाला व्यय अनुत्पादक होगा, क्योंकि उससे धनोत्पत्ति नहीं होगी, वरन् विनाश होगा।

शिराज ने व्यय का वर्गीकरण मुख्य (primary) और गौण (secondary) के रूप में किया है। उनका मत है कि मुख्य व्यय वह है जो किसी भी सरकार के लिए करना नितान्त आवश्यक है। जैसे सेना, शान्ति और व्यवस्था जिसमें पुलिस, जेल, न्यायालय, इत्यादि सम्मिलित हैं, प्रशासन (administration), कर वसूल करने का व्यय तथा ऋण भुगतान, आदि का व्यय सम्मिलित है। शेष सारे व्यय गौण व्यय माने जाने चाहिये। इस वर्गीकरण में भी यह दोष है कि कौन सा व्यय मुख्य माना जावे और कौन सा गौण। इस पर मतभेद हो सकता है।

'डाल्टन' ने राजकीय व्यय को ग्राट (अनुदान) या मूल्य (price) में भी बाँटा है। उनका मत है कि जिस सेवा के उपलक्ष्य में किये गये व्यय का पूरा भुगतान राज्य को मिल जावे उसे मूल्य कहना चाहिये और जिस व्यय के लिए पूरा भुगतान न हो उसे ग्राट (अनुदान) कहना चाहिये।

स्थानीय संस्थाएँ मुख्यत शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, बिजली, पानी, बाजार, पार्क, ट्रामवे, इत्यादि की व्यवस्था करती हैं। ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट हो जावेगा कि तीनों संस्थाओं के कार्य बिलकुल पृथक नहीं हैं, उनमें से बहुत से मिले-जुले हैं। इसी प्रकार राज्य के कौन से कार्य प्रमुख हैं और कौनसे गौण हैं इनका भी बटवारा करना बहुत सरल नहीं है।

कौन-सा व्यय पूंजीकृत (Capital Expenditure) माना जावे : अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कौन-सा व्यय पूंजीकृत व्यय माना जावे, जिसके लिए ऋण लिया जावे और कौनसा व्यय साधारण व्यय माना जावे जो साधारण आय से किया जा सके? इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि केवल नीचे लिखी हुई दशाओं मे ही ऋण लेकर व्यय किया जाना चाहिये :—

(१) लाभकारी विनियोजन (profitable investment) अर्थात् ऐसे कार्यों या धन्धों पर ऋण लेकर व्यय किया जाना चाहिये, जिनसे भविष्य में लाभ प्राप्त होने वाला हो। उदाहरण के लिए, सिंचाई, जल-विद्युत की योजनाएँ, रेल, इत्यादि। इन कार्यों के लिए व्यय ऋण लेकर ही किया जाना चाहिये।

(२) कोई असाधारण घटना या आपत्ति, जैसे युद्ध या भूकम्प, इत्यादि। उस दशा में भी अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि पहले तो कर में वृद्धि करके अधिकाधिक आय प्राप्त की जावे और यदि उससे पूरा न पड़े तो ऋण लेकर व्यय किया जावे।

(३) अस्थायी, थोड़े समय के लिए यदि आवश्यकता पड़ जावे। उदाहरण के लिए, यदि वर्ष के अन्त में राज्य को यह ज्ञात हो कि आय आशा से कुछ कम हुई है और घाटे की सम्भावना है, तो थोड़े समय के लिए अस्थायी रूप से ऋण लेकर काम चलाया जा सकता है।

ऊपर दिये हुए विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्रियों में व्यय के वर्गीकरण के सम्बन्ध में घोर मतभेद है। यद्यपि सभी वर्गीकरण दोषपूर्ण हैं, परन्तु बहुधा दो ही वर्गीकरण अधिक प्रचलित हैं। एक तो राजकीय व्यय को प्रमुख (primary) और गौण (secondary) व्यय में विभाजित किया जाता है अथवा राजकीय व्यय को केन्द्रीय सरकार का व्यय, राज्य या प्रान्तीय सरकार का व्यय अथवा स्थानीय संस्थाओं (local bodies) व्यय में विभाजित किया जाता है जहाँ एकात्मक सरकार (unitary government) होती है वहाँ राज्य या प्रान्तीय सरकार नहीं होती। वहाँ केवल केन्द्रीय सरकार और स्थानीय संस्थायें होती हैं।

केन्द्रीय सरकार का मुख्य कार्य देश की रक्षा करना है। अतएव, सेना पर व्यय केन्द्रीय सरकार ही करती है। इसके अतिरिक्त आयात-निर्यात कर, विदेशी सम्बन्ध, डाक-तार, रेल, जन-गणना तथा आँकड़े इकट्ठा करना, वैज्ञानिक खोज, राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योग-धन्धे, इत्यादि, कार्य केन्द्रीय सरकार के हैं, क्योंकि इन कार्यों के सम्बन्ध मे देश भर में समानता होनी चाहिये।

प्रान्तीय अथवा राज्य सरकार मुख्यतः शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, शान्ति, व्यवस्था, न्याय, सार्वजनिक निर्माण कार्य, प्रान्तीय महत्त्व की सड़कें, सिंचाई, उद्योग-धन्धे, श्रम तथा स्थानीय संस्थाओं का नियन्त्रण, इत्यादि काम करती है।

राजकीय व्यय का सिद्धान्त (Principle of Public Expenditure). राज्य को धन व्यय करने से कुछ उपयोगिता या लाभ प्राप्त होता है। राजकीय व्यय के फलस्वरूप राज्य में रहने वालों और समाज को जो लाभ मिलता है वही राज्य का कुल लाभ कहलाता है। राज्य को एक व्यक्ति के समान ही व्यय करते समय उस लाभ या उपयोगिता को अधिक से अधिक करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे जनता और समाज का अधिक भला हो सके। अर्थात् दूसरे शब्दों मे राज्य को भी अपने व्यय पर सम-सीमान्त उपयोगिता (equimarginal utility) का नियम लागू करना चाहिये। यह तभी होगा जब कि राज्य अपने विभिन्न कार्यों पर व्यय इस प्रकार करे कि व्यय की मात्रा और उससे प्राप्त लाभ या उपयोगिता का अनुपात समान हो। इससे यह स्पष्ट है

जाता है कि राजकीय व्यय का सिद्धान्त अधिकतम लाभ (maximum benefit) प्राप्त करने का ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को हम सम-सीमान्त सामाजिक लाभ या उपयोगिता सिद्धान्त (principle of equimarginal social benefit) कह सकते हैं। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राष्ट्र को निर्धनों पर अधिक व्यय और धनी व्यक्तियों पर कम व्यय करना चाहिये, क्योंकि निर्धनों को आवश्यकता धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है। धनिकों के पास अधिक धन या सम्पत्ति होती है और निर्धनों पर कम। इस कारण राज्य निर्धनों के भले के लिए जो व्यय करता है उससे उन निर्धन व्यक्तियों को धनिकों के लाभ के लिए किये जाने वाले व्यय से अधिक लाभ या उपयोगिता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, यदि राज्य निर्धनों की शिक्षा का निःशुल्क प्रवन्ध करता है तो उससे निर्धनों को धनिकों की अपेक्षा अधिक लाभ या उपयोगिता प्राप्त होती है। क्योंकि धनिकों के पास अपनी सन्तान को शिक्षा दिलाने के साधन हैं और उनके व्यय करने से उनको अपने धन के छोटे स भाग का ही त्याग करना पड़ता है क्योंकि उनकी आय निर्धनों की तुलना में अधिक होती है। इस कारण राज्य को धनवानों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक व्यय करना अनिवार्य हो जाता है।

राजकीय व्यय के नियम (Canons of Public Expenditure) : अर्थशास्त्रियों ने राजकीय व्यय के लिए नीचे लिखे चार नियम निर्धारित किये हैं :—(१) लाभ का नियम (canon of benefit), (२) मितव्ययता नियम (canon of economy), (३) आज्ञा का नियम (canon of sanction), और (४) बचत का नियम (canon of surplus)। राज्य को व्यय करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह ऊपर के चारों नियमों का पालन करता है।

लाभ का नियम . इस नियम का अभिप्राय यही है कि राज्य जो भी व्यय करे उससे अधिकतम सामाजिक लाभ या हित हो। जिस कार्य पर व्यय करने से अधिक से अधिक सख्या में लोगों का अधिक से अधिक हित हो वही व्यय अधिकतम सामाजिक लाभ या हित का होगा। राजकीय व्यय का एक मात्र उद्देश्य अधिकतम सामाजिक लाभ होना चाहिये। यह तभी हो सकता है जबकि भिन्न-भिन्न कार्यों पर किये गये राजकीय-व्यय की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) बराबर हो।

इस नियम के अन्तर्गत यह सर्वमान्य नियम है कि राज्य किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग या जाति विशेष के लाभ के लिए व्यय नहीं

उदाहरण के लिए, राज्य को किसी धर्म विशेष, जाति विशेष या वर्ग विशेष के लाभ के लिए अथवा किसी व्यक्ति विशेष के लाभ के लिए राजकीय व्यय नहीं करना चाहिये जब तक कि नीचे लिखी शर्तें पूरी न हों:—(१) व्यय की रकम बहुत छोटी हो, (२) उसके लिए अदालत में दावा किया जा सकता हो, अथवा (३) उस प्रकार का व्यय उस समाज या राष्ट्र की परम्पराओं और रीतियों के अनुकूल हो। इस नियम के अनुसार राज्य किसी ऐसी सस्था को आर्थिक सहायता नहीं दे सकता जिसमें प्रवेश पाने के लिए किसी जाति-विशेष या धर्म विशेष का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई ऐसा स्कूल है जिसमे केवल मुसलमानों को ही प्रविष्ट किया जा सकता है तो राज्य उसको आर्थिक सहायता नहीं दे सकता। परन्तु परम्परा के अनुसार बहादुरी के लिए इनाम, विद्वानों, कलाकारों अथवा साहित्यिकों को राज्य द्वारा आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

मितव्ययता का नियम . राजकीय व्यय के सम्बन्ध मे यह नियम अत्यत महत्त्वपूर्ण है। करदाताओं का दिया हुआ धन राज्य के पास एक पवित्र धरोहर है जिसका व्यय बहुत सावधानी और सतर्कता से किया जाना चाहिये। राजकीय व्यय में तनिक भी अपव्यय सहन नहीं किया जाना चाहिये। परन्तु खेद की बात है कि बहुधा इस नियम की अवहेलना कर दी जाती है। राज्य कर्मचारी तथा मन्त्रीगण अपने धन को व्यय करने में जितनी सतर्कता वरतते हैं उतनी राज्य के धन को व्यय करने में नहीं वरतते। सार्वजनिक निर्माण विभाग, सेना, स्टोर तथा रसद विभाग में राजकीय धन का कभी-कभी अपव्यय होता है। बहुधा कर्मचारियों के अनावश्यक स्थान परिवर्तन कर दिये जाते हैं। लेखक को राजस्थान की कई घटनाएँ ज्ञात हैं जिनमे एक राजकर्मचारी दो वर्ष में आठ या दस बार एक ही स्थान पर वदला गया। मितव्ययता के अनुसार राजस्व विभाग को सभी राजकीय व्यय पर कड़ा नियन्त्रण रखना चाहिये और तनिक भी अपव्यय को सहन नहीं करना चाहिये। राजस्व विभाग को जनता के धन का सजग प्रहरी होना चाहिये।

आज्ञा का नियम : इस नियम का अर्थ यह है कि कोई भी राजकीय व्यय तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसके लिए उचित अधिकारी से आज्ञा प्राप्त न हो जावे। इस नियम के अन्तर्गत यह भी नियम हैं —

(१) किसी अधिकारी को उस व्यय की स्वीकृति नहीं देनी चाहिये कि जिस पर उस रकम से अधिक व्यय होने की सम्भावना हो जिसकी आज्ञा का उसको अधिकार है। उदाहरण के लिए, किसी अधिकारी विशेष

को ढाई हज़ार रुपये तक व्यय करने की आज्ञा देने का अधिकार है और
ऊँचे अधिकारी को उससे अधिक व्यय करने की आज्ञा देने का अधि
है। कल्पना कीजिए कि किसी कार्य पर पाँच हज़ार रुपये के व्यय होने
सम्भावना है तो पहले अधिकारी को ढाई हजार रुपए के व्यय किये जा
कभी भी आज्ञा नहीं देनी चाहिये। नहीं तो इसका परिणाम यह होग
आधा कार्य हो चुकने पर शेष रकम के लिए उच्च अधिकारी को
होकर स्वीकृति देनी होगी अन्यथा वह ढाई हजार रुपये का काम
जावेगा।

(२) दूसरी बात जो ध्यान मे रखने की है वह यह है कि ऋण को
उसी कार्य पर व्यय किया जाना चाहिये जिसके लिए वह लिया गया है
उस ऋण को चुकाने के लिए ऋण चुकता कोष (sinking fund
व्यवस्था करनी चाहिये।

बचत का नियम . इस नियम का अभिप्राय यह है कि घाटे का
न बनाया जावे। राज्य की अर्थव्यवस्था को ठीक बनाये रखने के लि
आवश्यक है कि बजट सतुलित (balanced budget) हो। इस सम
यह भी ध्यान में रखने की बात है कि पूजीकृत व्यय (capital expend
को साधारण व्यय में और साधारण व्यय को पूजीकृति व्यय में न लिख
जावे। राज्य की अर्थव्यवस्था को स्थायी और सुदृढ बनाने के लिए यह आ
है कि बजट सतुलित हो।

राजकीय व्यय का आर्थिक प्रभाव . राजकीय व्यय का
प्रभाव बहुत गम्भीर और महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि राज्य अपने नाग
उनकी आय का एक अच्छा अ श करों द्वारा प्राप्त करके व्यय करता है
राजकीय व्यय का आर्थिक प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो तो इसमें कोई आश्चर्य
नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि राजकीय व्यय अधिकतर अनुत्पादक
है। किन्तु यह सर्वथा सही नहीं है। ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि
व्यय का बहुत-सा भाग केवल धन का स्थान्तरकरण मात्र है। राज्य कु
से कर वसूल करता है और दूसरों को देता है। उदाहरण के लिए, रा
अपने ऋण पर सूद देता है या पेंशन देता है तो वास्तव में वह करों
रुपया वसूल करके दूसरों को दे देता है। इसके अतिरिक्त सरकार के
इस प्रकार के होते हैं, जैसे कि शिक्षा कार्य और स्वास्थ्यरक्षा जिस
कार्य क्षमता बढ़ती है। इसके अतिरिक्त राज्य के कुछ कार्य ऐसे
देश की धनोत्पत्ति की क्षमता को बढ़ाते हैं। उदाहरण के लि

जलविद्युत तथा सिंचाई की योजनाएँ तथा तार और डाक, इत्यादि ; यह स्पष्ट है कि राज्य इन कार्यों को अधिक कुशलता और अधिक मितव्ययता के साथ कर सकता है। अन्त में कुछ कार्य राज्य ऐसे करता है कि जिनको केवल राज्य ही कर सकता है। उसे मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियाँ या व्यक्ति नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, ऐसे प्रदेश में जहाँ की आबादी बहुत कम हो कोई भी कम्पनी रेलवे लाइन डालना पसद नही करेगी। राज्य ही वहाँ रेलवे निकाल सकता है। यद्यपि कुछ समय के उपरान्त उस रेलवे से वह प्रदेश बहुत समृद्धिशाली बन सकता है। इसी प्रकार वनों को लगाने का कार्य अथवा दुर्भिक्ष को रोकने के लिए नहरों के निकालने का कार्य जिसमें कुछ समय तक लाभ होने की कोई भी आशा न हो कोई व्यक्ति या कम्पनी नहीं करेगी। ऐसे कार्यों पर केवल राज्य ही व्यय कर सकता है। हाँ, जो सैनिक-व्यय राज्य शांतिकाल में करता है वह अवश्य ही उत्पादक नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह आवश्यक है।

देश की धनोत्पत्ति पर राजकीय व्यय का क्या प्रभाव पड़ता है इसको जानने के लिए हमे यह देखना होगा कि राजकीय व्यय कार्य करने की क्षमता और बचाने की योग्यता पर कैसा प्रभाव डालता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि राजकीय व्यय के परिणाम स्वरूप निवासियों की कार्य क्षमता और धन को बचाने की योग्यता मे वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, राज्य शिक्षा, स्वास्थ्यरक्षा, सस्ते और सुन्दर मकानों की व्यवस्था पर व्यय करता है। उससे कार्य क्षमता मे निस्सन्देह वृद्धि होती है। राज्य ऋण इत्यादि पर जो सूद देता है उससे धन बचाने की योग्यता बढती है। परन्तु जहाँ तक कार्य करने की पसन्दगी और बचाने की पसन्दगी का प्रश्न है यह कहना कठिन है कि राजकीय व्यय से प्रत्येक अवस्था में उसकी वृद्धि होती है। जब कार्यकर्त्ताओं, कर्मचारियों अथवा श्रमिकों को वृद्धावस्था में पेंशन मिलने का आश्वासन होता है तो स्वभावत उनमें बचाने की प्रवृत्ति नहीं होगी। परन्तु यदि ग्राट अथवा आर्थिक सहायता किसी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर दी जावे तो उसका यह प्रभाव नहीं होगा कि मनुष्य बचत करना छोड़ दें। उदाहरण के लिए यदि बीमारी में बीमारी भत्ता मिलने की व्यवस्था हो तो वह काम करने और बचत करने की इच्छा को कम नहीं करेगा। यदि ग्राट इस आधार पर दी जावे कि मनुष्य जितना अधिक प्रयत्न करेगा उसको उतनी ही अधिक ग्राट मिलेगी तो उससे काम करने तथा बचाने की इच्छा को बल मिलेगा। 'डाल्टन' का मत है कि ग्राट मिलने की आशा का परिणाम यह होता है कि उत्पादन को थोड़ा धक्का लगता है, उत्पादन कुछ कम होता है।

राजकीय व्यय का आर्थिक साधनों के वंटवारे पर प्रभाव : राजकीय व्यय के फलस्वरूप देश के आर्थिक साधनों के भिन्न-भिन्न धंधों तथा स्थानों में बटवारे पर क्या प्रभाव पड़ता है इसको सही-सही मालूम कर सकना कठिन है। मोटे रूप में केवल यही कहा जा सकता है कि उन सब दिशाओं मे राजकीय व्यय वाञ्छित है जिससे देश में पूर्ण रोजगारी की अवस्था उत्पन्न होने में सहायता मिलती हो। बहुधा राज्य राजनैतिक प्रभाव के कारण इस सुंदर नियम की उपेक्षा कर देता है और कभी-कभी राजकीय धन अलाभकारी धंधों या कारबार पर या अलाभकारी स्थानों पर व्यय कर दिया जाता है। युद्ध सामिग्री उत्पन्न करने वाले धंधे इसी श्रेणी में आते हैं। यह अनुत्पादक व्यय होता है। इसी प्रकार ऐसे धंधों को आर्थिक सहायता (bounty) देना भी अनुत्पादक व्यय है जिनके लिए देश को कोई प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। परन्तु इस सम्बध में एक बात ध्यान में रखने की है कि हम प्रत्येक व्यय को केवल आर्थिक आधार या मापदड से ही नहीं नाप सकते। आर्थिक आधार के अतिरिक्त और भी ऐसी बातें हैं जिनको ध्यान में रखकर हमें व्यय करना पड़ता है। फिर भले ही वह आर्थिक दृष्टि से उचित या वाञ्छनीय न भी हो। उदाहरण के लिए, युद्ध सामग्री उत्पन्न करने का कार्य आर्थिक दृष्टि से अलाभकारी क्यो न हो परन्तु आज के समय मे कोई भी राष्ट्र उस ओर से उदासीन नहीं रह सकता क्योंकि यह देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। अस्तु, राजकीय व्यय को हम केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं देख सकते।

राजकीय व्यय का धन वितरण (Distribution) पर प्रभाव : यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि समाज मे धन (wealth) की जितनी कम असमानता हो यह अधिकतम तृप्ति (maximum satisfaction) की दृष्टि से वाँच्छनीय है। वर्त्तमान समाज में धन की असमानता बहुत देखने को मिलती है। हमे देखना यह है कि राजकीय व्यय किस प्रकार इस असमानता को कम करता है। हम व्यय को दो श्रेणियो मे बाँट सकते हैं। एक व्यय तो वह होता है जो व्यक्तियों को लाभ पहुँचाता है और दूसरे प्रकार का व्यय वह होता है जो समाज का लाभ पहुँचता है। जहाँ तक पहले प्रकार का व्यय है उसमें ऐसे कई व्यय हैं जिनमें धनिकों से धन निर्धनों को हस्तांतर किया जाता है। उदाहरण के लिए, वर्द्धमान आयकर (progressive income tax) लगाकर उसकी प्राप्ति से निर्धनों को वृद्धावस्था में पेंशन देना धन को सीधे धनिको से लेकर निर्धनों को देना है। परन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से धन का हस्तांतर बहुत कम होता है। अधिकतर होता यह है कि राज्य निर्धनों के लिए मुफ्त

सेवाएँ देता है। उदाहरण के लिए, निर्धनों के लिए, चिकित्सा तथा शिक्षा इत्यादि मुफ्त दी जाती है। जब राज्य निर्धनों को सेवाएँ मुफ्त देता है तो उसका आर्थिक प्रभाव वही होता है जो धनिकों से धन लेकर निर्धनों को देने से होता है। अर्थात् निर्धनों को धनिकों के खर्च पर लाभ मिलता है। इससे भी धन की असमानता कम होती है और कुल तृप्ति (total satisfaction) में वृद्धि होती है।

वह राजकीय व्यय जो देश के सभी निवासियों को लाभ पहुँचाता है उसके सम्बध में निर्णय करना तनिक कठिन है। उदाहरण के लिए, सड़क, नगरों में मुफ्त जल की व्यवस्था इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनसे सभी को लाभ होता है और उनसे धन के वितरण (wealth distribution) पर प्रभाव भी पड़ता है। परन्तु यह कह सकना कि किस व्यक्ति को इस प्रकार के राजकीय व्यय से कितना लाभ मिलता है बहुत कठिन है।

कुछ लोगों का मत है कि राजकीय व्यय की व्यवस्था इस प्रकार की जावे कि उससे धन की असमानता कम हो जावे। परन्तु राजकीय व्यय के द्वारा धन की असमानता के कम करने का एक बड़ा दोष यह है कि उससे 'बचत' (savings) कम हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि धनिकों पर 'कर' (tax) लगाकर निर्धनों को पेंशन इत्यादि दी जावे तो जिन पर 'कर' लगाया जावेगा वे भी बचत कम कर सकेंगे और जिन्हें आर्थिक सहायता मिलने का आश्वासन मिला है उनकी भी बचाने की प्रवृत्ति कम हो जावेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि राजकीय व्यय द्वारा धन की असमानता को कम करने का एक बड़ा दोष यह है कि उससे उनकी बचत भी कम होती है जिनपर कर लगाया जाता है और उनकी बचत भी कम होती है जिनको राजकीय व्यय से लाभ मिलता है। यदि समाज में बचत कम हो तो भविष्य में पूँजी कम हो जावेगी, धनोत्पत्ति कम होगी और वितरण के लिए धन कम प्राप्त होगा। राजकीय व्यय के प्रभाव के सम्बध में क्लाऊन कमेटी का मत है, "राजकीय व्यय का उत्पादन (production) पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें और वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव में विरोध है। परन्तु एक सीमा तक इन दोनों में विरोध नहीं भी है। यह जानना कठिन है कि किस स्थिति के आगे यह विरोध आरम्भ होता है।" ऐसी दशा में राजकीय व्यय के सम्बध मे केवल यही सिद्धान्त निर्धारित किया जा सकता है कि राजकीय व्यय उचित है अथवा नहीं उसको केवल अधिकतम समाज हित (maximum social advantage) की दृष्टि से ही देखा जावे।

परिच्छेद ५९

राजकीय आय (Public Revenue)

राजकीय आय के स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) राज्य की सम्पत्ति (Public Domain) : राज्य कुछ भूमि, खानों, वनों तथा इमारतों का स्वामी होता है और उससे कुछ आय प्राप्त होती है। सम्राटों या राजाओं के निरकुश शासन के काल में तो यह आय का स्रोत एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। किन्तु वर्त्तमान समय में यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। सम्राट् या नरेश की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी बहुत अधिक होती थी।

(२) जुर्माना (Fine) . जो लोग देश के कानूनों और नियमों का उल्लघन करते हैं उनसे राज्य जुर्माना वसूल करता है। उसका उद्देश्य आय नहीं होता, वरन् लोगों को कानून तोड़ने पर दण्डित करने का होता है। फिर भी थोड़ी आय तो राज्य को हो ही जाती है। यह भी आय का कोई महत्त्वपूर्ण स्रोत नहीं है।

(३) भेंट (Gift) कुछ लोग राज्य को अपना धन या सम्पत्ति इस लिए भेंट में देते हैं कि वह उसको जनता के हित में व्यय करे। उदाहरण के लिए, बहुत से लोग राज्य को शिक्षा-सस्था चलाने, चिकित्सालय खोलने तथा अन्य सेवा कार्य करने के लिए भेंट देते हैं। परन्तु अधिक लोग राज्य को भेंट नहीं देते और यह भी आय का कोई महत्त्वपूर्ण साधन नहीं है।

(४) कीमत (Price) : राज्य कुछ वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करके उनको बेचता है। उनसे जो लाभ होता है वह राज्य की आय होती है। आधुनिक समय में राज्य धन्धों और सेवाओं का कार्य अधिकाधिक अपने हाथ में लेता जा रहा है। डाक, तार, ब्राडकास्टिंग, रेल, सिंचाई के साधन, बिजली, इत्यादि का उत्पादन तो अब सर्वत्र राज्य ही करता है। परन्तु, क्रमशः राज्य अब उद्योग-धन्धों तथा व्यापार का राष्ट्रीयकरण करता जा रहा है। अतएव, कीमत (price) राज्य की आय का एक प्रमुख स्रोत बन गया है।

शुल्क (Fees) कुछ सेवाएँ प्रदान करने के लिए राज्य शुल्क लेता

है। उदाहरण के लिए, कोर्ट-फीस, लाइसैंस-फीस अथवा शिक्षा शुल्क देने वालों को राज्य की इन सेवाओं से लाभ मिलता है।

कर (Taxes) : राज्य की आय अन्य स्रोतों से पर्याप्त नहीं होती इस कारण उसको कर लगाना पड़ता है। कर का मुख्य लक्ष्य राज्य के लिए आय प्राप्त करना है। आधुनिक समय मे 'कर' राज्य की आय का मुख्य स्रोत है।

विशेष कर (Special Assessment) जब राज्य कोई सड़क, बाज़ार, इत्यादि बनाता है, तो आसपास के रहने वालों को विशेष लाभ होता है। इस कारण कभी-कभी राज्य उस विशेष लाभ को ध्यान में रख कर उनसे विशेष कर वसूल करता है।

पूंजी-कर (Capital Levy) या अनिवार्य कर (Compulsory Levy) : यह कर के समान ही होता है, परन्तु किसी विशेष अवसर या विशेष उद्देश्य के लिए लगाया जाता है। यह साधारण रूप में नहीं लगाया जाता।

ऋण (Public Debt) ऋण आय नहीं है, परन्तु ऋण लेने के उपरान्त राज्य उसको उसी प्रकार व्यय करता है कि जिस प्रकार आय को व्यय करता है। इस कारण ऋण को हम आय के साथ रखते हैं। जब किसी विशेष कार्य के लिए, जिसका व्यय साधारण आय से पूरा नहीं किया जा सकता, सरकार ऋण लेती है तो उसे राष्ट्रीय ऋण कहते हैं। युद्ध और भूकम्प जैसी दुर्घटनाओं के खर्च को पूरा करने के लिए, अथवा रेल, नहर, सड़क तथा अन्य योजनाओं को, जिनसे देश को लाभ हो और जिनसे सरकार को भी मुनाफा मिले, कार्यान्वित करने के लिए सरकार ऋण लेती है।

कीमत, शुल्क और कर में भेद व्यवहार मे कभी-कभी कीमत (price), शुल्क (fees) और कर (tax) में भेद करना कठिन हो जाता है। इस कारण इनके सम्बन्ध में हमे विशेष जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहियें।

कर (Tax) कर सरकार को उन कार्यों के लिए अनिवार्य रूप से दिया हुआ धन है जो सर्वसाधारण के लाभ के लिए किये जाते हैं। फिर चाहे कर-दाता को उन कार्यों से व्यक्तिगत लाभ होता हो या न होता हो। इसका अर्थ यह हुआ कि जो व्यक्ति सरकार को कर देता है वह यह नहीं कह सकता कि सरकार ने उस रुपये को शिक्षा में क्यों लगाया, क्योंकि उसका कोई लड़का नहीं पढ़ता और उसे उस कार्य से कोई लाभ नहीं होता। सरकार कर से वसूल किये गये धन को सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करेगी। हां, क्योंकि जनता कर देती है इस कारण उसका यह अधिकार है कि उसके प्रतिनिधियों की सम्मति के बिना कोई

र न लगाया जावे। साथ ही जनता को यह जानने का भी अधिकार है कि करों प्राप्त धन किन-किन कार्यों पर व्यय होता है।

शुल्क : शुल्क मुख्यतः उन विशेष सेवाओं के उपलक्ष्य में दिया जाता जिन्हें जनता को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है और जो जनता के त में होती हैं। उदाहरण के लिए, मादक वस्तुओं को बेचने के लिए लाइसैंस स देनी पड़ती है तब मादक वस्तुओं को बेचने का अधिकार मिलता है। इ प्रकार राज्य मादक वस्तुओं की बिक्री पर जनता के हित की दृष्टि से नियन्त्रण ापित करता है। फीस या शुल्क देने वाले को कुछ विशेष लाभ मिलता है। दाहरण के लिए, रजिस्ट्री फीस इत्यादि। परन्तु उस सेवा का मुख्य उद्देश्य ार्वजनिक हित होता है, व्यक्तिगत लाभ उसका गौण उद्देश्य होता है। कर ौर शुल्क में यही भेद है कि 'कर' सर्व-साधारण के लाभ के लिए अनिवार्य-रूप दिया हुआ धन होता है, परन्तु शुल्क देने वाले को विशेष लाभ या सुविधा ाप्त होती है।

कीमत कीमत राज्य द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं या सेवाओं को रीदने वालों को देनी होती है। इन वस्तुओं या सेवाओं को खरीदने की कोई विवशता नहीं होती वह चाहे जब खरीद सकता है। राज्य एक व्यवसाई की ाँति ही अपनी वस्तुओं या सेवाओं की कीमत लेता है। जब तक राज्य अपनी स्तु या सेवा की कीमत लागत-व्यय (जिसमें सामान्य लाभ सम्मिलित है) के रावर लेता है तब तक तो वह क़ीमत रहती है, परन्तु, यदि राज्य उस धन्धे या वा पर एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित करले और वह अनिवार्य ावश्यकता (necessity) हो और फिर लागत-व्यय से बहुत अधिक कीमत ी जावे, तो उसमें 'कर' का अंश सम्मिलित हो जावेगा।

विशेष कर (Special assessment) यह मुख्यतः म्यूनिसिपैलिटियों ारा लगाये जाते हैं। यह बार-बार नहीं लगाया जाता। केवल एक बार ही गाया जाता है और किसी असाधारण व्यय को पूरा करने के लिए लगाया ाता है। उदाहरण के लिए, यदि म्यूनिसिपैलिटी नगर के सुधार के लिए अथवा ड़कों इत्यादि को बनाने के लिए कोई बड़ी योजना बनावे जिससे नगर की वेशेष उन्नति हो और लोगों की जायदाद का मूल्य बढ़ जावे तो यह कर लगाया जा सकता है। यह कर व्यक्तियों की जायदाद पर उसी अनुपात में लगाया जाता है जिस अनुपात मे जायदाद का मूल्य बढा है। विशेष कर की नीचे लिखी विशेषताएँ होती हैं :—(१) वह किसी विशेष उद्देश्य म लगाया जाता है। (२) यह वर्द्धमान कर (progressive) न होकर आनुपातिक

(proportional) होता है। (३) यह कर किसी स्थानीय सुधार के लिए ही लगाया जाता है। (४) उस सुधार से होने वाले लाभ को नापा जा सकता है।

पूँजी-कर (Capital Levy) : पूँजी-कर किसी ऐसे असाधारण व्यय को पूरा करने के लिए लगाया जा सकता है जो राष्ट्रीय महत्त्व का हो और असाधारण हो। यह कर बार-बार नहीं लगाया जा सकता। व्यवहार में अभी तक पूँजी कर लगाया नहीं गया है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन मे राष्ट्रीय-ऋण को चुकाने के लिए और शरणार्थियों को बसाने के लिए भारत में पूँजी-कर की माँग हुई थी, किन्तु यह कर कहीं लगाया नहीं गया।

उत्तम आय-प्रणाली (Good Revenue System) के लक्षण : इससे पूर्व कि हम करों (taxes) के सम्बन्ध मे अधिक अध्ययन करें, क्योंकि कर ही आय-प्रणाली के मुख्य स्रोत हैं, हमें यह जान लेना चाहिये कि एक उत्तम आय-प्रणाली के क्या लक्षण हैं। एक उत्तम आय-प्रणाली में नीचे लिखे गुण होने चाहिये :—

(१) इसमे उत्तम कर-प्रणाली होनी चाहिये। यदि आय-प्रणाली ऐसी हो कि उसको वसूल करने के लिए बहुत अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता पडे, जिसमें लोगों को कर से बचने की सुविधा हो, जनता को बहुत कठिनाई हो या उससे व्यापार मे रुकावट पडे तो वह आय-प्रणाली अच्छी नहीं कही जा सकती। आय- प्रणाली वैज्ञानिक ढग से सगठित की जानी चाहिये। किसी प्रकार आय प्राप्त कर लेना ही उसका उद्देश्य नहीं होना चाहिये। जो आय जनता से वसूल की जा रही है उसका सम्मिलित आर्थिक प्रभाव जनता पर क्या पडेगा इसको जानना आवश्यक है।

(२) उत्तम आय-प्रणाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि यह लचीली (elastic) होनी चाहिये। आय-प्रणाली ऐसी हो कि जनता के अधिक समृद्धिशाली और धनी होने के साथ-साथ आय स्वतः बढती जाय और यदि कोई अकस्मात अनिवार्य-व्यय सरकर को करना पड़ जावे, जैसे युद्ध इत्यादि, तो आय बिना कठिनाई के बढायी जा सके।

(३) उत्तम आय-प्रणाली का तीसरा गुण यह है कि आय यथेष्ट हो और जो कर अथवा शुल्क इत्यादि लगाये जावें, उनसे यथेष्ट आय मिल सके अर्थात वे उत्पादक हों।

कर (Taxes) करों को दो श्रेणियों में बाटा जा सकता है —(१) प्रत्यक्ष कर (direct taxes), और (२) परोक्ष कर (indirect taxes)।

प इनका विशेष अध्ययन करेंगे।

प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) : प्रत्यक्ष कर उस कर को कहते हैं जिसका ार उसी व्यक्ति या सस्था पर पड़े जिससे वह लिया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राय-कर प्रत्यक्ष कर है, क्योंकि उसका भार उसी व्यक्ति पर रहता है जिससे ह वसूल किया जाता है। उसके कर-भार को दूसरे पर नहीं डाला जा सकता।

परोक्ष कर (Indirect Tax) : परोक्ष कर वह कर है जिसका भार सी व्यक्ति पर, जिससे वह वसूल किया जाता है न पड़ कर दूसरे व्यक्ति पर ड़ता है। उदाहरण के लिए, सरकार बन्दरगाहों पर आने वाले माल पर स्टम ड्यूटी लगाती है। उस समय तो माल मंगाने वाला व्यापारी उस कर ो स्वय दे देता है, किन्तु बाद को उस वस्तु का मूल्य बढाकर उस कर को स वस्तु के खरीदार से वसूल कर लेता है।

अतएव प्रत्यक्ष कर उसे कहते हैं जिसका कर-भार उसी पर रहता है ासे वह वसूल किया जाता है। परोक्ष कर उसे कहते हैं जिसका भार दूसरों र डाला जाता है। आगे हम प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के गुण-दोषों की ावेचना करेंगे।

प्रत्यक्ष कर : प्रत्यक्ष करों के निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) प्रत्यक्ष करों को वसूल करने पर उनसे होने वाली आय के नुपात में व्यय कम होता है। इस कारण यह कर मितव्ययतापूर्ण होते हैं।

(२) इन करों की मात्रा देने का समय और रीति राज्य और करदाता ोनों को ही निश्चित होती है। इससे इनकी आय भी निश्चित होती है।

(३) प्रत्यक्ष होने के कारण यह करदाताओं की सामर्थ्य के अनुसार ागाये जा सकते हैं। यह कर प्रगतिशील या वर्द्धमान (progressive) ोते हैं।

(४) यह कर लचीले (elastic) होते हैं और देश में धन और त्पादन की वृद्धि के साथ-साथ इनकी आय भी बढ़ जाती है। इनकी दर ढाने से इनकी आय सुगमतापूर्वक बढ सकती है।

(५) इन करों को चुकाने से करदाता म नागरिक चेतना उत्पन्न होती ै और वह राज्य के कार्यों मे अधिक रुचि लेता है। वह इस बात का पता लगाने का प्रयत्न करता है कि राज्य उन करों द्वारा प्राप्त आय का उचित प्रयोग करता है या नहीं। करदाता चुनाव के समय भी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि वह योग्य और ईमानदार व्यक्तियों को ही देश की धारासभा के लिए अपना प्रतिनिधि चुनें।

प्रत्यक्ष करों के दोष निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रत्यक्ष कर करदाता को बुरे लगते हैं, इसलिए उनके चुकाने उसे अधिक कष्ट होता है।

(२) इन करों से बचने के लिए प्रत्येक करदाता प्रयत्न करता ‍ ईमानदार व्यक्ति कर का उचित भाग चुकाते हैं, परन्तु दूसरे व्यक्ति अपना उचित भाग नहीं चुकाते। अतएव, प्रत्यक्ष कर ईमानदारी पर कर जैसा हो जाता है। कुछ प्रत्यक्ष करों मे कर-अधिकारी करदाता से ही उसकी आ आदि पूँछते हैं जिससे उनकी ईमानदारी पर बहुत भार पड़ता है और व जानबूझ कर अपनी आय कम बतलाते हैं।

कुछ प्रत्यक्ष करों के अन्तर्गत करदाताओं को विशेष प्रकार के फा भरने पड़ते हैं और हिसाब-किताब भी कर-अधिकारियों के आदेश के अनुसा ही रखना पड़ता है, जिससे उनको विशेष असुविधाओं का सामना करना पड़ है। कुछ कर-अधिकारी इस रीति का दुरुपयोग करते हैं और करदाताओं व व्यर्थ कष्ट देते हैं।

प्रत्यक्ष करों द्वारा निर्धन और साधारण स्थिति के लोगों से राज्य लिए अपनी कर की आय का कुछ भी भाग वसूल करना दुष्कर हो जाता है यदि उनसे प्रत्यक्ष कर वसूल करने का प्रयत्न किया जावे तो कर वसूल करने व्यय बहुत अधिक हो जावेगा।

परोक्ष कर : परोक्ष करों के निम्नलिखित गुण हैं :—

(१) जब परोक्ष कर आवश्यक वस्तुओं पर लगाये जाते हैं तो उ भी यथेष्ट लचक (elasticity) होती है और उनकी दर में वृद्धि करन आय आसानी से बढ़ जाती है।

(२) जनता के लिए यह कर अधिक सुविधाजनक होते हैं, क्य जब लोग वस्तुएँ मोल लेते हैं, तो उसके साथ-साथ कर भी चुका दिया जाता और कर-दाताओं को यह अनुभव नहीं होता कि वह कर चुका रहे हैं।

(३) यह कर वस्तुओं के मूल्य में सम्मिलित होते हैं, जिससे ना इनके 'कर' का रूप मूल्य में छिप जाता है। इससे इनका अनुभव कम होता यह बुरे नहीं लगते और इनके देने में भार भी कम लगता है।

(४) उपभोक्ता इन करों से आसानी से नहीं बच सकते, क्योंकि वे वस्तु को खरीदते हैं तो उन्हें अनिवार्य रूप से कर भी देना ही पड़ता वस्तु के मूल्य मे कर सम्मिलित रहता है। इस कारण उपभोक्ता इन करों बच नहीं सकते।

(५) यह कर निर्धनों और साधारण स्थिति के व्यक्तियों से वसूल किये जा सकते हैं। यदि आवश्यक वस्तुओं पर कर की दर कम हो और विलासिता की वस्तुओं पर अधिक हो तो यह न्यायपूर्ण भी होते हैं।

(६) इन करों द्वारा माग या उपभोग की मात्रा, जब भी राज्य चाहे, आसानी से घटा सकता है। ऐसे कर लगाने से वस्तुओं का मूल्य बढ जाता है जिससे उनकी माँग कम होने लगती है। जब यह कर हानिकारक वस्तुओं जैसे शराब, तम्बाकू इत्यादि पर लगाये जाते हैं, तो उनका उपभोग घट जाता है जिससे समाज को लाभ होता है।

परोक्ष करों के दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) यह कर साधारणत. ह्रासोन्मुख (regressive) होते हैं क्योंकि धनी और निर्धन व्यक्ति दोनों ही जब वस्तु खरीदते हैं, तो एक समान कर देते हैं, जबकि धनिकों से ऊँची दर से कर वसूल किया जाना चाहिये। इस कारण यह कर न्यायोचित नहीं होते।

(२) इन करों की आय इतनी निश्चित नहीं होती जितनी प्रत्यक्ष करों की होती है। इन करों के लगाने से वस्तुओं के मूल्य बढ जाते हैं जिससे उनकी माँग में घटने की प्रवृत्ति होती है। ऐसी अवस्था में बढ़े हुए मूल्य और उपभोग की मात्रा कितनी होगी, इसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता और न यह अनुमान ही लगाया जा सकता है कि उस कर से कितनी आय प्राप्त होगी।

(३) जब उत्पादक या व्यापारी इन करों को उपभोक्ताओं पर डालते हैं तो यह सम्भव है कि वे उपभोक्ताओं से कर से अधिक वसूल करने का प्रयत्न करें और वस्तुओं का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढा दें। इससे उपभोक्ताओं को हानि होती है।

(४) इन करों से करदाताओं मे नागरिक भावनाओं का उदय नहीं होता, क्योंकि कर देते समय करदाता को उन करों का अनुभव ही नहीं होता।

(५) इन करों से वस्तुओं का मूल्य बढ जाता है जिससे उन वस्तुओं की माँग घट जाती है और उन वस्तुओं का उत्पादन घटाना पड़ता है। इसलिए, कभी-कभी यह कर उद्योग-धन्धों को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं। इस कारण इन करों को सावधानी से ही लगाना चाहिये।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रत्यक्ष कर अथवा केवल परोक्ष कर लगाने से काम नहीं चल सकता। एक आदर्श कर-प्रणाली में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही कर लगाये जाने चाहिये। इन दोनों

करों में उचित संतुलन होना चाहिये, तभी कर-प्रणाली ऐसी निर्मित हो सकती है कि उसका जनता पर न्यूनतम भार पड़े।

कर सिद्धान्त (Principles or Canons of Taxation)

ऐडम स्मिथ के कर सम्बन्धी नियम : आधुनिक अर्थशास्त्र के मुख्य आचार्य श्री ऐडम स्मिथ ने कर सम्बन्धी निम्नलिखित चार सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं, जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। ऐडम स्मिथ का कहना था कि प्रत्येक कर का नीचे लिखे सिद्धान्तों के आधार पर ही अध्ययन करना चाहिए.—

(१) क्षमता या समानता का सिद्धान्त (Canon of ability or equality) : ऐडम स्मिथ का कहना था कि राज्य के प्रत्येक नागरिक को राज्य की सहायता के लिए अपनी क्षमता (ability) के अनुपात मे ही आर्थिक सहायता देनी चाहिये। दूसरे शब्दों में नागरिकों को कर उस अनुपात में देने चाहिये जिस अनुपात में उन्हें राज्य के संरक्षण मे आय (revenue) प्राप्त होती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ऐडम स्मिथ ने नागरिक की क्षमता (ability) को ही कर देने का आधार ठहराया है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि प्रत्येक नागरिक को कर देने में समान त्याग करना चाहिये। यह उचित ही है कि एक धनी एक निर्धन की तुलना मे ऊँची दर से कर दे सकता है, क्योंकि उसकी कर देने की क्षमता अधिक है। अतएव, कर-प्रणाली वर्द्धमान या प्रगतिशील (progressive) होनी चाहिये। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों मे ऐडम स्मिथ के इस सिद्धान्त के अर्थ के सम्बन्ध मे घोर मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऐडम स्मिथ वर्द्धमान या प्रगतिशील (progressive) करों के पक्ष में था। अपने पक्ष में वे "वैल्थ ऑव नेशन्स" मे एक दूसरे स्थान पर लिखे हुए ऐडम स्मिथ के निम्नलिखित वाक्यो को उपस्थित करते हैं। "यह अधिक अनुचित नहीं होगा कि धनी राज्य को कर रूप मे अपनी आय के अनुपात में न देकर उससे 'अधिक दे।' परन्तु अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि ऐडम स्मिथ आनुपातिक कर (proportional tax) के पक्ष में था। अपने इस मत के पक्ष मे वे ऐडम स्मिथ के द्वारा समानता या क्षमता के सिद्धान्त की परिभाषा करते हुए ऐडम स्मिथ द्वारा अनुपात शब्द के प्रयोग पर जोर देते हैं।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty) : ऐडम स्मिथ का कथन था कि जो कर किसी नागरिक को देना है, वह निश्चित होना चाहिये, मनमाना नहीं होना चाहिये। नही तो बड़ा अनर्थ हो जावेगा। राज्य कर्मचारी नागरिकों को बहुत परेशान करेंगे। कर जिस समय देना है,

कितना कर देना है और किस प्रकार कर देना है, यह प्रत्येक करदाता को स्पष्ट और निश्चित रूप से ज्ञात होना चाहिये।

यदि करदाता को यह ज्ञात न हो कि उसे वर्ष में कितना कर देना है और किस समय देना है, तो उसको अपने आय और व्यय का सतुलन बिठाना कठिन हो जावेगा और उसे कर देने में कठिनाई होगी।

यही नहीं, यदि कर कितना मिलेगा यह निश्चित नहीं हुआ तो राज्य को भी अपने बजट को सन्तुलित करने में कठिनाई होगी।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Canon of Convenience) ऐडम स्मिथ का तीसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कर को ऐसे समय और इस प्रकार लगाना चाहिये कि वह करदाता को सुविधाजनक हो। यह सिद्धान्त या नियम बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि, यदि इसकी उपेक्षा की गई तो करदाता को अनावश्यक कठिनाई और परेशानी उठानी पड़ेगी। यही कारण है कि वेतन पाने वालों से आय कर (income tax) वेतन मिलते समय ही काट लिया जाता है और किसानों से फसल कट जाने के उपरान्त लगान की वसूली की जाती है।

(४) मितव्ययता का सिद्धान्त (Canon of Economy) ऐडम स्मिथ का कहना है कि प्रत्येक कर इस प्रकार का होना चाहिये कि उसको वसूल करने पर जनता की जेब से जितना धन या रुपया निकाला जावे वह उस धन या रुपये की मात्रा से कम से कम अधिक हो जो कि सरकारी खजाने में जमा होता है। दूसरे शब्दों में ऐडम स्मिथ का कहना यह है कि कर.वसूल करने का व्यय कम से कम होना चाहिये। यदि कर से होने वाली आय का एक बड़ा भाग कर वसूल करने में व्यय हो जावे तो राज्य को जितनी आय प्राप्त होगी उसकी तुलना में करदाता को बहुत अधिक आर्थिक त्याग करना होगा। इस प्रकार के कर का कोई भी औचित्य नहीं हो सकता। कर को वसूल करने का व्यय न्यूनतम होना चाहिये। यही कारण है कि आय के एक स्तर के नीचे आय-कर नहीं लगाया जाता है। थोड़ी आय वालों से यदि आय-कर वसूल किया जावे तो व्यय बहुत हो।

ऐडम स्मिथ के कर सिद्धान्तों की परीक्षा ऊपर दिये कर सम्बन्धी सिद्धान्तों का यदि हम अध्ययन करें तो एक बात स्पष्ट हो जावेगी कि वास्तव मे पहला सिद्धान्त ही कर सम्बन्धी सिद्धान्त है, शेष तीन तो नियम मात्र हैं जिनका कर उगाहते समय शासन को ध्यान रखना चाहिये।

जहाँ तक समानता और क्षमता के सिद्धान्त का प्रश्न है वह अस्पष्ट है। वह किसी सिद्धान्त विशेष पर आधारित नहीं है। उसका आधार नैति

आर्थिक दोनों ही हैं। जहाँ वह एक ओर समानता अर्थात् कर लगाने में न्याय की बात करता है, वहाँ दूसरी ओर वह करदाता के कर देने की क्षमता या योग्यता की बात करता है। यह कर-सिद्धान्त इसलिए अस्पष्ट है, क्योंकि करदाता की कर देने की क्षमता को नापने का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि क्षमता का अर्थ समान त्याग है। यदि हम इस अर्थ को स्वीकार कर लें तो हम वास्तविकता को छोड़ कर एक मनोवैज्ञानिक मापदण्ड को स्वीकार करेंगे जो कि बहुत अस्पष्ट होगा। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त इसलिए भी अस्पष्ट है कि इसमें यह नहीं बतलाया गया कि कर लगाने मे आनुपातिक (proportional) या वर्द्धमान (progressive) सिद्धान्त को अपनाया जावे।

निश्चितता और सुविधा के सिद्धान्त यद्यपि मूलतः ठीक हैं, परन्तु आज की स्थिति मे उनका महत्त्व बहुत कम है। यदि इन सिद्धान्तों की उपेक्षा की जावे तो कर-प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण होगी, परन्तु आज इसका विशेष महत्त्व नहीं है। आज तो उत्पादकता (productivity) और लचीलेपन (elasticity) का अधिक महत्त्व है। ऐडम स्मिथ ने इनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। ऐडम द्वारा प्रतिपादित कर सिद्धान्तों में मितव्ययता का सिद्धान्त अन्तिम है, पर ऐडम स्मिथ ने उस पर जितना बल दिया उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण आज यह सिद्धान्त माना जाता है। ऐडम स्मिथ का इससे केवल इतना ही तात्पर्य था कि कर को वसूल करने का व्यय बहुत कम होना चाहिये। आज इस सिद्धान्त को अधिक विस्तृत अर्थों मे स्वीकार किया जाता है। एक कर ऐसा हो सकता है कि जो वसूल करने में कम खर्चीला हो, परन्तु उसका देश की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता हो तो हम यह नहीं कह सकते कि उस कर के सम्बन्ध मे मितव्ययता का सिद्धान्त लागू होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई ऐसा कर है कि जिसको वसूल करने में कम व्यय होता है किन्तु जिससे उत्पादन पर अथवा सञ्चय पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह मितव्ययता के सिद्धान्त को पूरा नहीं करता। वास्तव मे मितव्ययता के सिद्धान्त का सम्बध न्यायपूर्ण कर-प्रणाली से है जिसके सम्बध में हम आगे चलकर लिखेंगे।

आधुनिक अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित ऊपर लिखे चार सिद्धान्तों के अतिरिक्त दो अन्य सिद्धान्तों पर बल देते हैं। वे हैं—उत्पादकता (productivity) और लचीलापन (elasticity)। अब हम इनके सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

उत्पादकता : व्यवहार में प्रत्येक अर्थमन्त्री का मुख्य उद्देश्य राज्य के लिए यथेष्ट आय उपलब्ध करना है। अस्तु, कर अधिक आय देने वाले अर्थात् उत्पादक होने चाहिये। अर्थमंत्री के लिए वही कर अच्छा होता है जिससे राज्य के लिए अधिक आय प्राप्त हो सके। अतएव वही कर सबसे अच्छा है कि जिससे जनसख्या में तथा जनसख्या की आय में वृद्धि होने पर स्वतः आय अधिक प्राप्त हो सके। उदाहरण के लिए, यदि उपभोग वस्तुओं पर कर लगाया जावे तो जनसख्या के बढने या जनसख्या की आय बढने पर उन वस्तुओं का उपभोग (consumption) स्वतः ही बढ जावेगा और कर से अधिक आय प्राप्त होगी।

लचीलापन : कर-प्रणाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त उसका लचीला होना है। लचीली कर-प्रणाली से हमारा तात्पर्य यह है कि राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार तथा करदाताओं की क्षमता के अनुसार घटता-बढता रहे। यदि ऐसा नहीं होगा तो जनता के लिए वह अत्यन्त कष्टदायक होगा। वास्तव में यदि देखा जावे तो लचीलापन कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। वह उत्पादकता तथा मितव्ययता सिद्धान्तों का सम्मिश्रण मात्र है। किसी भी कर-प्रणाली के लिए लचीलापन एक आवश्यक गुण है और कोई भी अर्थमंत्री करों को चुनते समय इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

कर-सिद्धान्त (Principles of Taxation) : राज्य को अपने नागरिकों से किस आधार पर कर उगाहना चाहिये, इस सम्बध में अर्थशास्त्री एक मत नहीं हैं। भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के इस सम्बध में भिन्न-भिन्न मत हैं। अब हम उन सिद्धान्तों में से मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory) इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसी अनुपात में कर देना चाहिये, जिस अनुपात में वह राज्य के सरक्षण में उसके कार्यों से लाभ प्राप्त करता है। जो व्यक्ति राज्य के कार्यों अथवा सेवाओं से जितना अधिक लाभान्वित होता है उसको राज्य को उतना ही कर देना चाहिये। यदि हम देखें तो राज्य के कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक कार्य तो वह होते हैं, जो सबों के लिए समान रूप से लाभदायक होते हैं। दूसरे कार्य वह होते हैं जिनसे व्यक्ति विशेष लाभ उठाते हैं। लाभ-सिद्धान्त कर-सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत अपूर्ण है। कर (tax) राज्य द्वारा की जाने वाली सेवाओं से समान रूप से लाभ प्राप्त करने के उपलक्ष में दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य के कार्य या सेवा से कितना अधिक लाभ उठाता है यह जान सकना असम्भव

उदाहरण के लिए, हम यह नहीं मालूम कर सकते कि सेना, पुलिस और न्यायालय से हमे कितना लाभ पहुँचता है। हम जो कर देते हैं उसका तथा राज्य के कार्यों से होने वाले लाभ का कोई भी सम्बध नहीं है। जो लाभ राज्य के कार्यों से हम प्राप्त करते हैं यदि हम उसी अनुपात मे कर देना होता तो वह कर नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यदि लाभ-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे तो निर्धन को धनी की अपेक्षा अधिक कर देना होगा क्योंकि राज्य के कार्यों से निर्धनों को धनिकों की अपेक्षा बहुत अधिक लाभ होता है। स्पष्ट ही यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, एक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त का समर्थन किया जा सकता है। यदि हम देश के सभी नागरिकों को व्यक्तिगत रूप से न लेकर सामूहिक रूप से लें तो हम कह सकते हैं कि जो कुछ भी नागरिक कर रूप में राज्य को देते हैं वह राज्य द्वारा की गई सेवाओं और कार्यों के लिए दिया जाता है।

सेवा का लागत-व्यय सिद्धान्त यह सिद्धान्त लाभ-सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत आधार पर अधिक आश्रित है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि राज्य द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के लागत-व्यय को चुकाने के लिए ही कर दिये जाते हैं। यह सिद्धान्त राज्य की उन सेवाओं के सम्बन्ध में तो लागू होता है जिसके लिए राज्य नागरिकों से मूल्य प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए, डाक की दर अथवा रेलो का किराया, इत्यादि। परन्तु अधिकांश करों के लिए यह सिद्धान्त अत्यन्त अपर्याप्त तथा अवांछनीय है। जो सेवाएँ सभी नागरिकों के लिए समान रूप से की जाती हैं उनका लागत-व्यय प्रत्येक नागरिक पर कितना बाँटा जावे यह मालूम करना असम्भव है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जावे तो प्रत्येक वृद्ध को, जो वृद्धावस्था की पेंशन पाता है, केवल अपनी सारी पेंशन ही वापस नहीं करनी होगी वरन् उस योजना की व्यवस्था में जो व्यय होता है उसका कुछ अंश भी उसे वापस करना होगा। यह असम्भव और निरर्थक स्थिति है। इन्हीं दोषों के कारण यह सिद्धान्त आज किसी को मान्य नहीं।

क्षमता-सिद्धान्त (Ability Theory) . इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के व्यय को चलाने के लिए अपनी क्षमता के अनुसार 'कर' देना चाहिये। सरकार एक ऐसी संस्था है जो कि सभी के हित के लिए कार्य करती है। अस्तु, प्रत्येक को उसे अपनी क्षमता के अनुसार आर्थिक सहायता देना चाहिये।

इसमे कोई भी सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त न्याय पर आधारित है कि

प्रत्येक व्यक्ति राज्य को चलाने के लिए अपनी क्षमता के अनुसार कर दे। किन्तु इसमें एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि क्षमता की परिभाषा क्या हो। उसको किस प्रकार ठीक-ठीक नापा जा सके। पहले लोगों का विचार था कि जायदाद (property) के आधार पर कर देने की क्षमता को ठीक नापा जा सकता है अर्थात् जिन लोगों के पास अधिक जायदाद या सम्पत्ति हो उनको अधिक 'कर' देना चाहिये। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव होने लगा कि जायदाद या सम्पत्ति 'कर' देने की क्षमता का उत्तम माप नहा है। क्योंकि समाज में ऐसे बहुत से व्यक्ति मिल जावेंगे कि जिनकी आय बहुत अधिक है किन्तु उनके पास कोई जायदाद या सम्पत्ति नहीं है। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से बहुत अधिक आय पैदा कर सकता है, यदि वह खूब खर्च करे तो उसके पास तनिक भी जायदाद अथवा सम्पत्ति नहीं होगी। इस दशा में वह कर देने से बच जावेगा। उदाहरण के लिए, आज समाज में ऐसे बहुत से व्यक्ति देखने को मिलते हैं जिनकी आय बहुत अधिक है परन्तु उनके बहुत खर्चीले होने के कारण उनके पास कुछ भी नहीं बचता और उनके पास तनिक भी जायदाद या सम्पत्ति नहीं होती। अस्तु, यदि क्षमता का आधार जायदाद या सम्पत्ति को माना जावे तो ऐसे लोग जिनकी कर देने की क्षमता अधिक है कर देने से सर्वथा बच जावेंगे। कुछ लोगों का कथन था कि व्यय क्षमता को जानने का अच्छा आधार है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जितना अधिक व्यय करे उसकी कर देने की क्षमता उतनी ही अधिक समझी जावे। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत व्यय कर देने की क्षमता को नापने का आधार बनाया जावे। परन्तु कोई व्यक्ति यदि अधिक व्यय करता है तो प्रत्येक दशा में यह इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि उसकी कर देने की क्षमता भी अधिक है। एक व्यक्ति जिसका परिवार बहुत बड़ा है, जिस पर अधिक लोग आश्रित हैं, उसका व्यय उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होना स्वाभाविक है जिसका परिवार छोटा है और जिस पर कम लोग आश्रित हैं, या कोई भी आश्रित नहीं है। यदि दोनों व्यक्तियों की आय समान है तो पहले की कर देने की क्षमता दूसरे की तुलना में कम होगी। परन्तु, यदि व्यय को कर देने की क्षमता का आधार माना जावे तो पहले व्यक्ति को अधिक कर देना होगा। स्पष्ट है कि यह आधार न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। अन्त में यह विचार बल पकड़ता गया कि आय कर देने की क्षमता को जानने का अधिक सही आधार है। यही कारण है कि आधुनिक समय में जिसकी आय जितनी अधिक उसको उतना ही अधिक कर देना होता है।

किन्तु आय भी कर देने की क्षमता जानने का बिलकुल सही आधार नहीं है। यह बहुत सम्भव है कि दो व्यक्तियों की आय समान हो किन्तु उनकी कर देने की क्षमता भिन्न हो। उन दोनों व्यक्तियों के पारिवारिक उत्तरदायित्व भिन्न हों। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति प्रतिमास एक हजार रुपए पाता है किन्तु वह अकेला है। उसने विवाह नहीं किया है और उसके आश्रित कोई भी नहीं है। एक दूसरा व्यक्ति है जिसकी मासिक आय एक हजार रुपए है परन्तु जिसकी दस सदस्यों की बड़ी गृहस्थी है। स्पष्ट है कि पहले व्यक्ति की कर देने की क्षमता अधिक होगी। दोनों व्यक्तियों से एक समान कर लेना न्यायपूर्ण नहीं होगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति की आय उसकी जायदाद से अथवा सूद से होती है और दूसरे व्यक्ति की आय अपने परिश्रम से होती है। यद्यपि उन दोनों की आय एक समान है परन्तु उनकी कर देने की क्षमता भिन्न होगी। अपने परिश्रम से कमाने वाले व्यक्ति को भविष्य के लिए कुछ बचाना आवश्यक है। अस्तु, उसकी कर देने की क्षमता कम होगी। अस्तु, कर देने की क्षमता को जानने के लिए आय के अतिरिक्त हमें नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना होगा। पहला, वह समय जिसमें आय प्राप्त हुई। होना यह चाहिये कि जिस समय आय प्राप्त हुई तभी उससे कर ले लिया जावे। यही कारण है कि कुछ विद्वानों का कहना है कि जैसे आय प्राप्त होती जावे वैसे ही कर दिया जाना चाहिए। साधारणतः होता यह है कि व्यापारी को पिछले वर्ष की आय पर अगले वर्ष में सूद देना पड़ता है। यह हो सकता है कि अगले वर्ष व्यापारी को हानि हो जावे और उसे कर देने में कठिनाई हो। दूसरी बात हमें यह ध्यान में रखनी चाहिये कि आय में से पूंजी की घिसावट (depreciation on capital) को निकाल दिया जावे तब शुद्ध आय मालूम की जावे। तीसरी बात हमें ध्यान में यह रखनी चाहिये कि आय जायदाद या सूद से प्राप्त होती है अथवा व्यक्तिगत परिश्रम से प्राप्त होती है। परिश्रम से प्राप्त होने वाली आय की तुलना में जायदाद या सूद से प्राप्त होने वाली आय पर ऊँचे दर से कर लेना चाहिये। चौथे, यदि परिवार बड़ा है तो उससे कम कर लेना चाहिये, और, यदि करदाता का परिवार छोटा होता है तो उससे अधिक कर लेना चाहिये। अन्तिम बात यह देखने की है कि आय इतनी है कि उसमें बचत हो। आधुनिक आय-कर के नियमों में ऊपर लिखी सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

कुछ विद्वान् कर देने की क्षमता का आधार त्याग को मानते हैं। उनकी यह मान्यता है कि कर देने में करदाता को त्याग करना पड़ता है। करदाता को अपनी उस तृप्ति का त्याग करना पड़ता है कि जो वह कर की रकम से

प्राप्त कर सकता था। इस सम्बध में विद्वानों के दो मत है। एक मत तो यह है कि त्याग समान होना चाहिये। दूसरा मत यह है कि त्याग न्यूनतम होना चाहिये। समान त्याग के सिद्धान्तों का अर्थ यह है कि कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि प्रत्येक करदाता को समान त्याग करना पड़े। इस सिद्धान्त के अनुसार कर वर्द्धमान (progressive tax) होना चाहिये।

न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त के अनुसार कर-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये कि करदाताओं को न्यूनतम त्याग करना पडे। कर-प्रणाली का उद्देश्य अधिकतम समाज हित (maximum social advantage) प्राप्त करना है। यह तभी हो सकता है कि जब समाज का त्याग न्यूनतम हो। यह सिद्धान्त सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त (marginal utility theory) पर आश्रित है। सीमान्त उपयोगिता-सिद्धान्त के अनुसार यदि आय अधिक हो तो मुद्रा (money) की उपयोगिता उतनी ही कम हो जाती है। अस्तु, उन लोगों की जिनकी आय बहुत अधिक है, यदि अन्तिम इकाइयों को कर रूप में ले लिया जावे तो त्याग न्यूनतम होगा। अस्तु, यदि सरकार अत्यन्त ऊँची आय की अन्तिम इकाइयों को कररूप में ले-ले तो समाज को न्यूनतम त्याग करना होगा। उस दशा में समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को कर देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इससे समाज में बचत की प्रवृत्ति कम हो जावेगी और लोगों की कार्य करने की इच्छा कुण्ठित होगी। यदि एक स्तर से ऊँची आय पर इस प्रकार कर लगाया जावे कि उस स्तर से अधिक आय न रहे तो लोग उससे अधिक आय प्राप्त करने की इच्छा ही न करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि फिर कर नीची आय स्तरों पर लगाना होगा। भविष्य में समाज में पूंजी की कमी हो जावेगी और राष्ट्रीय आय कम हो जावेगी। अस्तु, न्यूनतम त्याग को व्यवहार में लागू करने के लिए राज्य को कर का भार इस प्रकार बांटना चाहिये कि जिससे धनिकों पर कर-भार इतना अधिक न बढ जावे जिससे कि वे धनोत्पत्ति करना और बचाना कम करदें।

अनुपात (Proportion) तथा वृद्धि (Progression) सिद्धान्त ·
कर सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन कर लेने के उपरान्त हमें यह जानने की आवश्यकता है कि कर-भार का जनता में बँटवारा करने के लिए कौनसी रीति अपनायी जानी चाहिये। कर चार प्रकार का हो सकता है :—आनुपातिक कर (proportional tax), प्रगामी या वर्द्धमान कर (progressive tax), प्रतिगामी कर (regressive tax) और अधोगामी कर (degressive

tax)। अब हम इन की परिभाषा करेंगे।

आनुपातिक कर उसको कहा जावेगा कि जिसमें आय चाहे जितनी हो, कर का प्रतिशत एक समान होगा। उदाहरण के लिए, पॉच प्रतिशत कर लगाया जावे, फिर आय चाहे जितनी हो तो उसे आनुपातिक कर कहेंगे। प्रति मास दो हजार पाने वाले को और केवल दो सौ पाने वाले को समान रूप से अपनी आय का पॉच-प्रतिशत देना होगा।

प्रगामी या वर्द्धमान कर उसे कहेंगे कि जिसमें जैसे-जैसे आय या जायदाद बढती है, कर का प्रतिशत बढता जाता है। उदाहरण के लिए, यदि पाँच हजार वार्षिक आय तक पाच प्रतिशत कर लिया जावे, पॉच हजार से अधिक और दस हजार तक १० प्रतिशत और दस हजार से बीस हजार तक २५ प्रतिशत कर लिया जावे तो यह प्रगामी या वर्द्धमान कर होगा। प्रतिगामी कर पगामी या वर्द्धमान कर का विपरीत होता है। इसमे जैसे-जैसे आय की वृद्धि होती जाती है कर घटता जाता है। अधोगामी कर उसको कहते हैं कि जिसमे एक स्तर तक तो आय कर-मुक्त होती है। परन्तु उसके आगे जैसे-जैसे आय बढती है आनुपातिक कर लिया जाता है। वास्तव में व्यवहार में हमें तीन ही प्रकार के कर देखने को मिलते हैं, आनुपातिक कर, प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर और प्रतिगामी कर।

आधुनिक कर : आधुनिक कर में करदाता की आय चाहे जितन हो वह एक निचिश्त प्रतिशत कर स्वरुप देता है। ऐडम स्मिथ ने अपने प्रथम कर सिद्धान्त (canon of taxation) मे लिखा है कि कर करदाता की आय के अनुपात में होना चाहिये। यद्यपि एक दूसरे स्थान पर उसने यह भी लिखा है कि अनुपात से अधिक भी कर लिया जा सकता है। इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि कर का उद्देश्य वर्त्तमान धन वितरण को बदलना नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित अनुपात मे कर देता है तो भिन्न-भिन्न लोगों की आय का पारस्परिक सम्बन्ध एक समान रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह बहुत सरल है। परन्तु सरलता ही कोई उद्देश्य नहीं हो सकता। जब तक कर-प्रणाली न्यायपूर्ण न हो उसको स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम एक व्यक्ति से जिसकी आय एक हज़ार रुपया है एक सौ रुपये लेते हैं और दूसरे से जिसकी आय एक लाख रुपये है दस-हज़ार लेते हैं तो यह सरल हो सकता है परन्तु न्यायपूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे आय की वृद्धि होती जाती है करदाता की कर देने की क्षमता अनुपात से अधिक बढ़ती जाती है।

प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर · आनुपातिक कर के न्यायपूर्ण न होने के कारण क्रमश· आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। आज प्रत्येक अर्थशास्त्री की यह मान्यता है कि समता के अनुसार कर देने का सिद्धान्त तभी चरितार्थ होता है जब कि प्रगामी या वर्द्धमान कर लगाया जावे। प्रगामी या वर्द्धमान कर (progressive tax) के औचित्य के सम्बन्ध में बहुत से तर्क उपस्थित किये जाते हैं। अब हम उन तर्कों का अध्ययन करेंगे।

प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर के सम्बन्ध में सबसे प्रबल तर्क उपयोगिता ह्रास-नियम (law of diminishnig utility) का उपस्थित किया जाता है। उपयोगिता ह्रास-नियम के अनुसार जैसे-जैसे आय की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे मुद्रा (money) की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) घटती जाती है। अस्तु, करदाताओं को समान त्याग तभी करना पड़ेगा कि जब प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर लगाया जावे। परन्तु यह मान्यता बिलकुल सही नहीं है। यदि उपयोगिता ह्रास-नियम के दोषो और उसकी सीमाओं को छोड़ भी दें तो भी प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर को हम उसके आधार पर उचित नहीं ठहरा सकते। इस सम्बन्ध मे 'पीगू' का मत ठीक है। उसका कहना है कि उपयोगिता ह्रास-नियम का अर्थ केवल यह है कि एक हज़ार पौण्ड पाने वाले के अन्तिम एक पौण्ड की उपयोगिता १०० पौण्ड पाने वाले के अन्तिम एक पौण्ड से कम है। परन्तु प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर को उचित ठहराने के लिए यह प्रमाणित करना आवश्यक होगा कि १००० पौण्ड पाने वाले के अन्तिम १० पौण्ड से उसको १०० पौण्ड पाने वाले के अन्तिम १ पौण्ड की तुलना में कम उपयोगिता या सन्तुष्टि प्राप्त होती है। परन्तु उपयोगिता ह्रास-नियम हमें यह नहीं बतलाता।

प्रो० हॉब्सन ने प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर को एक दूसरी तरह उचित ठहराने का प्रयत्न किया है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिगत आय को हम दो भागों में बाँट सकते हैं,—एक लागत और दूसरा बचत। लागत (cost) भाग पर कर नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से आय ही नष्ट हो जावेगी। अस्तु, जितने भी कर हैं वे बचत (surplus) भाग पर ही लगाये जा सकते हैं। हॉब्सन का कहना है कि कम आय में लागत भाग ही अधिकतर होता है और ऊंची आय में बचत का भाग बहुत अधिक होता है। अस्तु, ऊची आय पर प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर लगाया जा सकता है जिसमें राज्य बचत के भाग को ले सके। हॉब्सन का सिद्धान्त भी वास्तव में उतना

सही नहीं है जितना कि वह ऊपर से दिखलाई पड़ता है। लागत और बचत का भेद केवल काल्पनिक और मनोवैज्ञानिक है। इसका कोई वास्तविक आधार नहीं है। अन्ततः यह तो व्यक्ति को निर्णय करना होगा कि लागत क्या है और बचत क्या है। यह मान लेने का कोई भी कारण नहीं है कि अधिक आय में बचत का भाग अधिक है। अस्तु, लागत और बचत कोई ऐसा वास्तविक और दृढ आधार नहीं है कि जो प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर के औचित्य को ठहरा सके।

मार्शल ने प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर को धन वितरण के आधार पर उचित ठहराने का प्रयत्न किया है। मार्शल का कहना है कि पूंजीवादी प्रणाली में धन का असमान वितरण बहुत होता है और आर्थिक विषमता बहुत बढ जाती है। प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर राज्य के पास एक ऐसा अस्त्र है, जिससे धनिकों से धन लेकर निर्धनों को देकर सामाजिक न्याय स्थापित किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मार्शल के अनुसार प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर का औचित्य नैतिक आधार पर है, न कि आर्थिक आधार पर।

पीगू ने मार्शल के मत का समर्थन किया है। उसका कहना है कि यदि धन वितरण को समान करना उद्देश्य हो, तो एक निश्चित आय के ऊपर सारी आय को जब्त कर लिया जाना चाहिये। और यदि भावी आय को बढाना हो, अर्थात् कर द्वारा भावी आय घटने के स्थान पर बढे, तो प्रतिगामी कर (regressive tax) लगाया जाना चाहिये। उसका कहना है कि प्रगामी कर इन दो अति विरोधी विचार धाराओं का समन्वय मात्र है।

लार्ड कीन्स ने प्रगामी कर को उचित ठहराते हुए एक आर्थिक सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि पूर्ण सेवा-युक्त (full employment) को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कर-प्रणाली इस प्रकार की हो, जिससे धन का यथासम्भव समान वितरण हो सके। पूर्ण सेवायुक्त के लिए यह आवश्यक है कि सर्व-साधारण की उपभोग प्रवृत्ति अधिक हो। यह सर्व विदित है कि धनिकों की सापेक्षिक उपभोग प्रवृत्ति कम होती है। अस्तु, यदि प्रगामी अथवा वर्द्धमान कर के द्वारा धनिकों से धन लेकर निर्धनों को हस्तान्तरित किया जावे, जिनकी उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है, तो देश में पूर्ण सेवायुक्त स्थापित हो सकता है। अस्तु, यदि पूर्ण सेवायुक्त (full employment) आवश्यक माना जावे तो प्रगामी कर भी आवश्यक माना जाना चाहिये।

एकाकी कर (Single Tax) तथा बहु-कर (Multiple Tax)

प्रणाली ' बहुत से विद्वानों का मत है कि अधिक कर नहीं लगाना चाहिये वरन् किसी एक वस्तु पर लगाना चाहिये। पुराने अर्थशास्त्रियों का मत था कि आर्थिक लगान पर कर लगाना चाहिये। क्योंकि वे मानते थे कि अन्ततः आर्थिक लगान पर सारे करों का भार पड़ता है। एकाकी कर-प्रणाली के समर्थकों का विचार है कि इस पद्धति मे धन का पुन: वितरण किया जा सकता है। किन्तु यह दावा सही नहीं है।

जो लोग एकाकी कर के समर्थक हैं और भूमि पर ही कर लगाना चाहते हैं उनका कहना है कि भूमि पर कर लगाने से एक बड़ा लाभ यह है कि वह उद्योग-धन्धों पर नहीं पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, यदि, केवल भूमि पर ही कर लगाया जावे तो उसका भार उद्योग-धन्धों पर नहीं पड़ेगा। परन्तु, इस प्रकार के कर का एक बड़ा दोष यह होगा कि जिनके पास भूमि नहीं है वे कर से मुक्त रहेंगे। एक करोड़पति को कर नहीं देना होगा, किन्तु एक निर्धन किसान को कर देना होगा। यह कर-प्रणाली उस समय के लिए तो उपयोगी हो सकती थी जबकि खेती ही एकमात्र धन्धा था, और प्रत्येक व्यक्ति के पास भूमि ही धनोत्पत्ति का साधन था। परन्तु आधुनिक काल में केवल भूमि पर ही कर लगाना अत्यन्त अन्यायपूर्ण होगा।

एकाकी कर के सम्बन्ध में दूसरा प्रस्ताव यह है कि कर केवल आय (income) पर ही लगाया जावे। इसमे कोई सन्देह नहीं कि भूमि-कर से यह अच्छा प्रमाणित होगा, परन्तु इसमें भी नीचे लिखे दोष हैं। यदि केवल आय पर ही कर लगाया जावे तो छोटी-छोटी आय पर भी कर लगाना पड़ेगा जो कि कठिन और व्ययसाध्य होगा। केवल आय पर कर लगाने से यह सम्भावना हो सकती है कि इसका बचत पर बुरा प्रभाव पड़े और अप्रत्याशित आय (windfall profits) कर देने से बच जावे।

जो लोग एकाकी कर का समर्थन करते हैं, उनका मुख्य उद्देश्य यह है कि कर प्रणाली सरल और कम खर्चीली हो। एकाकी कर को वसूल करने का व्यय कम होगा और उसका कर-भार (incidence) ठीक-ठीक जाना जा सकेगा। परन्तु एकाकी कर-प्रणाली म इतने अधिक दोष हैं कि कोई भी अर्थमन्त्री उसका व्यवहार मे लाने का साहस नहीं कर सकता। चाहे जो भी एकाकी कर लगाया जावे और वह सैद्धान्तिक रूप मे चाहे जितना ही न्यायपूर्ण क्यों न दिखाई पड़ता हो, परन्तु हो सकता है कि उसका कर-भार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर इस प्रकार पड़ता हो कि वह न्यायपूर्ण न हो। अस्तु, एकाकी कर द्वारा होने वाले अन्याय को कई कर लगा कर दूर किया जा

सकता है। एकाकी कर को अपनाने में दूसरी कठिनाई यह है कि आधुनिक राज्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक हैं कि किसी एक कर से वे कदापि पूरी नहीं हो सकतीं। बहुत से करों को लगाने का एक बड़ा लाभ यह है कि प्रत्येक प्रकार की करदान-क्षमता (taxable capacity) जैसे आय, उपभोग तथा उत्तराधिकार तक उनसे पहुँचा जा सकता है। एकाकी कर के द्वारा हम प्रत्येक करदान-क्षमता तक नहीं पहुँच सकते। एकाकी कर में इस बात की सम्भावना है कि करदाता कर देने से बच जावे, परन्तु बहु-कर-प्रणाली (multiple tax system) में यह सम्भव नहीं है।

इसके विरुद्ध कुछ विद्वानों का दूसरा मत है कि अधिक से अधिक कर लगाये जावें, परन्तु कई भी कर भारी न हो, हल्के हों। परन्तु यह दृष्टिकोण भी सही नहीं है और न उसको व्यवहार में अपनाया ही गया है। यदि बहुत अधिक कर लगाये जावेंगे तो उनसे उद्योग-धन्धों का विकास रुकेगा, करदाताओं को बड़ी असुविधा होगी और उनको वसूल करने मे बड़ी असुविधा होगी।

अस्तु, आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि न तो एकाकी कर-प्रणाली उचित है और न बहुत अधिक कर लगाना ही उचित है। बीच का मार्ग ही श्रेयस्कर है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि राज्य को कुछ ऐसे बड़े कर लगाने चाहिये जो केवल धनिकों पर पड़े और कुछ ऐसे कर लगाने चाहिये कि जो लगभग प्रत्येक नागरिक को देने पड़े। जैसे, आय-कर, उत्तराधिकार-कर और विलासिता की सामिग्रियों पर कर धनिकों पर पड़ते हैं और ऐसी वस्तुओं पर कर कि जिनका उपभोग सर्वसाधारण करते हैं सभी पर पड़ते हैं।

करदान-क्षमता (Taxable Capacity) : करदान क्षमता की परिभाषा विद्वानों ने इस प्रकार की है, "करदान-क्षमता वह बचत है जो राष्ट्रीय आय मे से राष्ट्रीय पूंजी को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, घिसावट (depreciation) तथा जनता की कार्य-क्षमता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तथा रहन-सहन के दर्जे को सुरक्षित रखने के लिए किये जाने वाले व्यय को घटाने के बाद बचती है। यह परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं है तथा इसको स्वीकार करने में बहुत सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई तो यह उपस्थित होती है कि राष्ट्रीय पूंजी को अक्षुण्ण बनाये रखने तथा जनता की कार्य-क्षमता को सुरक्षित रखने के लिए कितना व्यय आवश्यक होगा, इसको निर्धारित करना सरल नहीं है। साधारण समय मे पूंजी की घिसावट को निकालने के अतिरिक्त हम पूंजी की वृद्धि के लिए कुछ अधिक धनराशि

होगा जिससे कि राष्ट्र की आय में वृद्धि की जा सके। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम किस आधार पर इसका निर्णय करें कि कितना धन (wealth) पूंजी (capital) की वृद्धि के लिए और छोड़ा जावे और उसका उपभोग न किया जावे। साधारण समय में जनता अपने रहन-सहन को किसी भी प्रकार घटने नहीं देना चाहती। उसका प्रयत्न यही होता है कि उसका रहन-सहन का दर्जा (standard of living) ऊँचा उठे। परन्तु जब राष्ट्र पर कोई विपत्ति आती है, उदाहरण के लिए, जब कोई शत्रु आक्रमण करता है, तो उस समय जनता की भावना बदल जाती है और वह तनिक कठिनाई और असुविधा को उठाने के लिए तैयार हो जाती है। उस दशा में राष्ट्रीय पूंजी (national capital) में वृद्धि करने की भावना तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की भावना लुप्त हो जाती है और लोग अधिक कर (taxes) सहर्ष देते हैं। अस्तु, करदान-क्षमता को ठीक-ठीक नापना कठिन है, फिर भी मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि करदान-क्षमता नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहती है :—

(१) करदान-क्षमता जनता की मनोवृत्ति पर निर्भर रहती है। ऐसे भी समय हो सकते हैं जब कि राष्ट्र को विपत्ति का सामना करना पड़ रहा हो, उस समय जनता अधिक त्याग करने के लिए तैयार रहती है। उदाहरण के लिए, युद्ध, भूकम्प तथा अन्य दैवी विपत्ति के अवसर पर जनता में त्याग करने की भावना जाग्रत होती है और राष्ट्र की करदान-क्षमता (taxable capacity) बढ़ जाती है।

(२) करदान-क्षमता समाज में धन-वितरण पर भी निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, यदि एक व्यक्ति की वार्षिक आमदनी दो लाख रुपये है, तो उसकी करदान-क्षमता उन सौ व्यक्तियों से कहीं अधिक होगी, जिनमें से प्रत्येक की आय दो हजार रुपये हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में धन-वितरण की जितनी अधिक असमानता होगी, करदान-क्षमता उतनी ही अधिक होगी।

(३) करदान-क्षमता जनसंख्या और राष्ट्रीय आय के अनुपात पर भी निर्भर रहती है। यदि राष्ट्रीय आय जनसंख्या की अपेक्षा अधिक तीव्रता से बढ़ती है, तो प्रति व्यक्ति पीछे आय बढ़ जावेगी और जनता की करदान-क्षमता में वृद्धि हो जावेगी।

(४) करदान-क्षमता औद्योगिक संगठन के स्वरूप पर भी निर्भर करती है। यदि औद्योगिक संगठन इस प्रकार का है कि उसके लिए अधिक

पूँजी की आवश्यकता होती है, तो राष्ट्रीय आय में से पूँजी वृद्धि के लिए अधिकाधिक छोड़नी होगी। उस दशा में उस समय जनता की करदान-क्षमता कम होगी। परन्तु कालान्तर में उस देश की राष्ट्रीय आय बढ जावेगी और तब जनता की करदान शक्ति भी बढ जावेगी।

(५) करदान-क्षमता जनता के रहन-सहन के दर्जे अथवा जीवन स्तर पर भी निर्भर रहती है, क्योंकि जीवन-स्तर ही उनकी कार्य-क्षमता, कार्य करने की योग्यता तथा इच्छा को निर्धारित करता है। यदि किसी राष्ट्र के निवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा है, तो उनकी कार्य-क्षमता भी अधिक होगी और राष्ट्रीय आय के अधिक होने से उनकी करदान-क्षमता भी अधिक होगी।

(६) करदान-क्षमता कर-प्रणाली (tax system) पर भी निर्भर रहती है। यदि प्रत्यक्ष कर (direct tax) अधिक हों और परोक्ष कर (indirect tax) बहुत कम हों, तो करदान-क्षमता अधिक होगी। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष करों के द्वारा विना उद्योग-धन्धों को हानि पहुँचाये अधिक रेवेन्यू (आय) प्राप्त की जा सकती है। उस दशा मे उत्पादन-कार्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। अस्तु, जनता की करदान-शक्ति अधिक होती है।

(७) करदान-क्षमता इस बात पर भी निर्भर रहती है कि राज्य कर द्वारा प्राप्त होने वाली आय को किस प्रकार व्यय करता है। यदि राज्य का अधिकांश व्यय धनोत्पत्ति को बढाने तथा जनता की कार्य-क्षमता में वृद्धि करने के लिए होता है तो करदान-क्षमता बढ़ेगी। उदाहरण के लिए, यदि शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के साधन, अनुसधान, कृषि उन्नति, इत्यादि पर अधिकांश राजकीय आय व्यय की जाती है, तो करदान-क्षमता बढ जावेगी और यदि सैनिक तैयारी पर अथवा युद्ध-सामग्री पर अधिकांश आय व्यय कर दी जाती है तो करदान-क्षमता घट जावेगी।

(८) करदान-क्षमता इस बात पर भी निर्भर होगी कि कर द्वारा प्राप्त आय देश के अन्दर व्यय की जाती है अथवा देश के बाहर व्यय की जाती है। यदि आय देश के अन्दर व्यय की जाती है तो करदान-क्षमता अधिक होगी। और, यदि देश के बाहर व्यय की जाती है तो करदान क्षमता कम होगी।

करदान-क्षमता को मालूम करने की रीतियाँ· ऊपर हमने इस बात पर विचार किया कि करदान-क्षमता से हमारा क्या तात्पर्य है और यह किन बातों पर निर्भर रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि करदान क्षमता किस प्रकार मालूम की जावे। करदान-क्षमता को जानने की दो रीतियाँ हैं। पहली रीति तो यह है कि व्यक्तियों

की आय को मालूम करके जोड़ लिया जावे। इसके लिए हमें आय-कर (income tax), मृत्यु-कर (death duty) तथा अन्य जायदाद-करों के आँकड़ों को प्राप्त करना होगा। इस प्रकार व्यक्तिगत आय को मालूम करके कुल व्यक्तिगत आय जानी जा सकती है। इसको कुल व्यक्तिगत आय-रीति कहते हैं। दूसरी रीति करदान-क्षमता को जानने की यह है कि देश में जितना उत्पादन होता है उसको मालूम किया जावे। इसको उत्पादन-रीति कहते हैं। इन दोनों मे से किसी भी रीति को देश की परिस्थिति के अनुसार अपनाया जा सकता है। इस प्रकार जब आय ज्ञात हो जावे तब उसमें से पूँजी को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए घिसावट को निकाल कर तथा देश की जनसख्या के निर्वाह के लिए आवश्यक रक़म को निकाल कर जो बचे वह करदान-क्षमता होगी। साधारणतया कोई सरकार भी जितनी करदान-क्षमता होती है उतना कर नहीं लगाती, क्योंकि देश मे बचत होना भी आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है, परन्तु सकट काल में उस सीमा तक कर लगाया जा सकता है।

परिच्छेद ६०

कर-भार (Incidence of Tax)

कराघात (Impact) : अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि जब कर लगाया जाता है तो क्या होता है? यह एक ऐसा प्रश्न है कि जिसका हमें उत्तर देना चाहिये। जब कोई कर लगाया जाता है तो कोई न कोई व्यक्ति उस कर को राज्य को चुकाता है। परन्तु, यदि यह उसके लिए सम्भव होता है तो वह उस कर को दूसरों से वसूल करने का प्रयत्न करता है। अस्तु, यह आवश्यक नहीं है कि जो प्रारम्भ में कर देता है वही अन्त में कर के भार को भी सहन करता है। उदाहरण के लिए, जब किसी वस्तु पर आयात कर (import duty) लगाया जाता है, तो आरम्भ में उस वस्तु का आयात करने वाला व्यापारी उस कर को चुकाता है। किन्तु बाद को वह उस वस्तु की कीमत में कर को जोड़ कर उस वस्तु के खरीदारों से वसूल कर लेता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कर वास्तव में कौन देता है इसकी छानबीन होना आवश्यक है। यदि वित्तमंत्री (finance minister) को यह ज्ञात न हो कि कर वास्तव में कौन लोग देते हैं तो समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर कर का कितना भार पड़ता है, यह जान सकना असम्भव हो जावेगा और सामाजिक न्याय नहीं हो सकेगा। अस्तु, हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि वास्तव में कर कौन देता है, जिससे कि उस कर के भार को कौन लोग वहन करते हैं यह जाना जा सके।

यह जानने के लिए कि वास्तव में कर कौन देता है हमें कराघात (impact), विवर्तन (shifting) तथा कर-भार (incidence) में अन्तर करना होगा। किसी कर का कराघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जिसे राज्य को कर देना पड़ता है अथवा जो राज्य के अधिनियम के अनुसार कर को चुकाता है। उदाहरण के लिए, आयात-कर (import duty) का कराघात (impact) आयात करने वाले व्यापारी पर पड़ता है, क्योंकि वह राज्य को कर चुकाता है। राज्य आरम्भ में कर उससे ही वसूल करता है।

कर-विवर्तन (Tax Shifting) जब राज्य किसी व्यक्ति से कर वसूल करता है, तो, यदि सम्भव हो, तो वह करदाता उस कर को

स्वय सहन न करके दूसरों पर डालने का प्रयत्न करता है। अतएव कर-विवर्तन उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा दूसरों को कर देने के लिए विवश किया जाता है अथवा उन पर कर का भार डाला जाता है। उदाहरण के लिए, यदि राज्य श्रमिकों की मजदूरी पर कर लगावे और मज़दूर अपने मालिक को उतनी ही अधिक मजदूरी देने पर विवश करें, तो यह कहा जावेगा कि मज़दूरों ने मालिक पर उस कर को डाल दिया। अब, यदि मालिक अपनी वस्तु की कीमत ऊँची कर देता है, तो वह उस कर को उस वस्तु के खरीदारों पर डाल देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर विवर्तन (shifting) केवल एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं होता, वरन् कभी-कभी कई बिन्दुओं पर होता है और तब जाकर वह उस स्थान पर रुकता है जहाँ से वह आगे किसी पर नहीं डाला जा सकता। इस क्रिया को, जिससे कर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर डाला जाता है, कर-विवर्तन कहते हैं। कर-विवर्तन (shifting) पूर्ण हो सकता है, आंशिक हो सकता है और यह भी हो सकता है कि कर-विवर्तन बिलकुल भी न हो। कोई-कोई कर ऐसे भी होते हैं जिनका विवर्तन बिलकुल भी नहीं होता। कर-विवर्तन आगे की ओर और पीछे की ओर भी होता है। जब व्यवसायी कर लगने पर अपनी वस्तु का मूल्य बढा देता है, तो वह उस कर को आगे की ओर ढकेलता है अर्थात् उस कर का बोझ वह उपभोक्ताओं पर डालता है। जब वही व्यवसायी मजदूरों को कम मजदूरी देकर, माल का कम मूल्य देकर कर, कर को उन पर डालने का प्रयत्न करता है तो इसे पीछे की ओर कर-विवर्तन (shifting of tax) होना कहते हैं। यह बात ध्यान में रखने की है कि विक्रेता ही कर को आगे की ओर फेंक सकता है और क्रय करने वाला ही कर को पीछे की ओर फेंकता है।

कर-भार (Incidence) कर का भार उस स्थान पर पड़ता है जहाँ से फिर वह और किसी स्थान पर नहीं डाला जा सकता। दूसरे अर्थों में अन्तिम स्थान जहा से कि कर आगे-पीछे नहीं हटाया जा सकता, कर-भार का स्थान कहलाता है। हम ऊपर कर-विवर्तन के सम्बन्ध में लिख आये हैं। कर-विवर्तन वह क्रिया है जिससे कि कर के भार को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर डाला जाता है। कर-भार (incidence) उस व्यक्ति पर पड़ता है कि जो उसको फिर दूसरे पर नहीं डाल सकता, अर्थात् जो अन्तिम रूप से उस कर को देता है।

किसी भी वित्तमन्त्री (finance minister) को यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि जो कर वह लगाता है, उसका कर-भार अन्त मे किस

पर पड़ता है। यदि बिना यह जाने कि कर-भार किन लोगों पर पड़ेगा कर लगा दिया जावे तो हो सकता है कि कुछ लोगों के साथ बहुत अन्याय हो अथवा कुछ धन्धे ठप्प हो जावें। अस्तु कर-भार जानना अत्यन्त आवश्यक है। आगे हम कर-भार के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

कर-भार (Incidence of Tax) के सामान्य सिद्धान्त : कर भार के सम्बन्ध मे दो सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं। पहला सिद्धान्त तो यह है कि यदि अन्य सब बातें समान हों तो किसी वस्तु की मांग जितनी ही अधिक लचकदार (elastic) होगी कर-भार उतना ही विक्रेता पर अधिक होगा। दूसरा सिद्धान्त यह है कि यदि अन्य बातें समान हो तो किसी वस्तु की पूर्त्ति (supply) जितनी ही अधिक लचकदार होगी उतना ही अधिक कर-भार उपभोक्ता (consumer) पर पड़ेगा।

कर-भार मॉग और पूर्त्ति के लचीलेपन पर निर्भर होता है : यदि किसी वस्तु की मॉग लचकहीन (inelastic) होती है, तो, यदि विक्रेता उस वस्तु की कीमत कर के बराबर बढा दे तो भी उपभोक्ता उस वस्तु की मॉग को कम नहीं करेंगे। अस्तु, उस दशा मे कर-भार पूर्णत. उपभोक्ता पर पड़ेगा। परन्तु, यदि वस्तु की मॉग अत्यन्त लचकदार है तो जैसे ही वस्तु की कीमत बढाई जावेगी तो खरीदार उसको कम खरीदने लगेंगे। उस दशा मे विक्रेताओं पर कर-भार पड़ने की सम्भावना है। उसी प्रकार यदि किसी वस्तु की पूर्त्ति लचकदार है तो कीमत के बढने पर उस वस्तु की मॉग कम हो सकती है, परन्तु उसके साथ ही उस वस्तु की पूर्त्ति को भी आसानी से कम किया जा सकता है। अतएव, उत्पादक वस्तु की कीमत को ऊॅचा करके कर का भार ग्राहक पर डाल देगा। कहने का तात्पर्य यह है कि विक्रेता पूर्त्ति (supply) को कम करके कर-भार खरीदारो पर डालने का प्रयत्न करते हैं और खरीदार मॉग को कम करके कर-भार को विक्रेताओं पर डालने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों वर्गों की तुलनात्मक क्षमता कितनी है यह बात इस पर निर्भर करती है कि कर-भार किस पर पड़ेगा। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि पूर्त्ति की लचक का अध्ययन करते समय हमें समय का ध्यान रखना होगा। अल्पकाल मे पूर्त्ति को कम नहीं किया जा सकता, परन्तु लम्बे समय में पूर्त्ति को मॉग के अनुसार घटाया-बढाया जा सकता है। अतएव जहाँ तक अल्प काल का प्रश्न है पूर्त्ति लचकहीन (inelastic) होती है, फिर लम्बे समय मे वह चाहे जितनी ही लचकदार क्यो न हो। अस्तु, अल्पकाल मे कर-भार विक्रेता पर पड़ सकता है परन्तु दीर्घकाल मे कर-भार खरीदार पर पड़ सकता

है। परन्तु जब हम वस्तु की माँग और पूर्ति की लचक का अध्ययन करते हैं तो हमें यह न भूल जाना चाहिये कि उस वस्तु के स्थानापन्न हैं अथवा नहीं। यदि उस वस्तु के स्थानापन्न अधिक हैं तो फिर विक्रेता उस पर लगे हुए कर को खरीदारों पर नहीं डाल सकेगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न वस्तु अधिक हैं तो उसकी माँग अत्यन्त लचकदार होगी। जैसे, यदि चाय पर कर लगाया जावे और कहवा, कोको तथा अन्य पेय पदार्थों पर कर न लगाया जावे तो विक्रेता चाय की कीमत को अधिक नहीं बढा सकेगा, नहीं तो चाय के ग्राहक बहुत कम हो जावेंगे। उस दशा में कर-भार विक्रेता पर होगा।

वस्तुओं पर लगाये गये कर का कर-भार ऊपर हमने उन सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन किया जो किसी वस्तु पर लगाये गये कर के कर-भार के सम्बन्ध में हमें साधारण जानकारी देते हैं। अब हम उनके अतिरिक्त अन्य बातों का अध्ययन करेंगे जो वस्तुओं पर लगाये गये कर के कर-भार को निर्धारित करने में हमारी सहायता करती हैं।

साधारणतया वस्तुओं पर दो प्रकार का कर लगाया जाता है। यदि कोई वस्तु विदेशों से मँगाई जाती है तो उस पर आयात-कर (import duty) लगायी जाती है और, यदि कोई वस्तु देश में बनती है अथवा उत्पन्न होती है तो उस पर उत्पादन-कर (ऐक्साइज ड्यूटी) लगायी जाती है। जबकि राज्य आयात-कर अथवा ऐक्साइज ड्यूटी लगाता है, आयात करने वाला व्यापारी अथवा उत्पादन करने वाला व्यवसायी साधारणतया उस वस्तु की कीमत बढाकर कर भार उस वस्तु के उपभोक्ताओं पर डाल देता है। होता यह है कि आयात करने वाला व्यापारी अथवा व्यवसायी जितना कर लगाया जाता है वस्तु का मूल्य उससे अधिक बढाता है, क्योंकि उसको जो पेशगी कर की रकम देनी पड़ती है वह उस पर सूद भी उपभोक्ताओं से वसूल कर लेना चाहता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस वस्तु की कीमत, जितना कर लगाया जाता है, उससे अधिक बढ जाती है। परन्तु व्यापारी अथवा व्यवसायी अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल होगा यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उस वस्तु की माँग और पूर्ति कहाँ तक लचकदार है।

परन्तु वस्तु की माँग (demand) और पूर्ति (supply) के लचकदार होने या न होने के अतिरिक्त और भी कुछ बातें हैं जिनको ध्यान में रक्खे बिना हम यह नहीं कह सकते कि कर का भार कहा और किस पर पड़ेगा। इस सम्बन्ध में सब से पहली बात जो हमें देखनी होगी वह यह है कि उस वस्तु का

उत्पादन किस दशा में हो रहा है। यदि किसी वस्तु का उत्पादन क्रमागत सम-उत्पत्ति-नियम (costant returns) के अनुसार हो रहा है तब तो जितना कर लगाया जावेगा, वस्तु की कीमत उतने से ही अधिक हो जावेगी। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि कीमत ऊँची होने पर उसकी माँग कुछ कम हो जावेगी, परन्तु, क्योंकि उत्पादन-व्यय प्रत्येक दशा मे एक समान रहेगा फिर चाहे वस्तु कितनी मात्रा मे उत्पन्न क्यों न की जावे, वस्तु की कीमत उतनी ही बढेगी जितना कि कर होगा।

यदि कोई वस्तु उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास-नियम (law of diminishing returns) के आधार पर उत्पन्न की जा रही है, तो, यदि उस पर कर लगाया जावेगा तो उसकी कीमत अवश्य बढ़ेगी। किन्तु उतनी नहीं बढेगी जितना कि कर लगाया गया है। कीमत उससे कम बढेगी। उदाहरण के लिए, हम मान लेते हैं कि एक कारखाने में एक लाख जोडे जूते तैयार होते हैं और प्रति जोड़ा जूता लागत-व्यय ५ रु० आता है। यदि प्रति जूता १ रु० कर लगा दिया जावे तो आरम्भ में एक जोड़े जूते का मूल्य ६ रु० हो जावेगा। किन्तु ६ रु० प्रति जोड़े पर एक लाख जोडे जूते नहीं बिकेंगे और जूतों की माँग कम हो जावेगी। कल्पना कीजिये कि केवल ८०,००० जोडे जूते ऊँची कीमत पर बिकेंगे। परन्तु, जबकि उत्पत्ति कम होगी तो लागत-व्यय भी कम हो जावेगी। यदि हम मानलें कि लागत-व्यय घटकर ४⅞ रु० हो जाता है तो एक रुपया प्रति जोड़ा कर देने पर वह ५⅞ रु० प्रति जोड़ा के मूल्य पर बिकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रमागत ह्रास-नियम की अवस्था में वस्तु की कीमत जितना कर लगाया है, उतना न बढ कर उससे कम बढेगी।

यदि कोई वस्तु क्रमागत वृद्धि-नियम (law of increasing returns) की अवस्था में उत्पन्न होती है तो उस वस्तु की कीमत कर से भी अधिक हो जावेगी। कल्पना कीजिये कि एक लाख जोड़े जूते ५ रु० प्रति जोड़ा लागत व्यय पर बनाये जा रहे हैं और ८०,००० जोड़े जूते ५⅜ रु० प्रति जोड़े लागत-व्यय पर बनाये जावेंगे। यदि कर लग जाने पर जूतों की माग घट कर ८०,००० हो जाती है तो जूते की कीमत ६⅜ रु० प्रति जूता होगी। यही कारण है कि अर्थ-शास्त्रियों की मान्यता है कि कर उन वस्तुओं पर लगाना चाहिये कि जिनमें क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता हो और नकद सहायता (bounty) उन धन्धो को देनी चाहिये जिनमे क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होता हो। इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान मे रखनी चाहिये। वह यह है कि इस बात की सम्भा-वना रहती है कि कर लगने के उपरान्त प्रतिस्पर्द्धी विक्रेता आपस में मिलकर

वस्तु की कीमत कर से भी अधिक बढा दें। यदि सभी आयात वस्तुओं पर आयात-कर (import duty) लगा दी जावे और सोने पर कर न लगाया जावे तो सोने का आयात अधिक होगा और सोने के आयात से वस्तुओं की कीमत बढ जावेगी। उस दशा मे उन वस्तुओं का मूल्य, जिन पर कर लगाया गया है, कर की अपेक्षा अधिक बढ जावेगा। अब हम भिन्न-भिन्न करों का कर-भार क्या होगा इस पर विचार करेंगे।

भूमि तथा इमारतों पर लगे हुए कर का कर-भार जो कर आर्थिक लगान (economic rent) पर लगाया जाता है वह लगान पाने वाले अथवा ज़मींदार पर पड़ता है। आर्थिक लगान लागत-व्यय (cost of production), जिममें लाभ भी सम्मिलित है, से अधिक जो बचत होती है उसको कहते हैं। अतएव, जब आर्थिक लगान पर कर लगाया जाता है तो वह उस बचत मे से दिया जाता है, और उस भूमि को जिसने लगान पर लिया है उससे वसूल नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको सामान्य लाभ (profit) के अतिरिक्त और कोई बचत प्राप्त नहीं होती। जब हम यह कहते हैं कि भूस्वामी कर को भूमि को लगान पर लेने वाले से वसूल नहीं कर सकता तो हम यह मान कर चलते हैं कि भूस्वामी पूरा आर्थिक लगान वसूल कर रहा है। यदि आर्थिक लगान से कम लगान ली जा रही हो तो अवश्य ही भूस्वामी कर लगने पर लगान को बढा कर आर्थिक लगान वसूल करने लगेगा। दूसरी मान्यता यह है कि कर प्रत्येक प्रकार के लगान पर लगाया गया है (कल्पना कीजिये कि चावल की ज़मीन पर) तो कर को बचाने के लिए लोग चावल उत्पन्न न करके अन्य फसल पैदा करेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि चावल का मूल्य इतना ऊंचा हो जावेगा कि उसकी फसल उत्पन्न करने पर वही लाभ प्राप्त हो जो कि अन्य फसलों को उत्पन्न करने पर होता है। उस दशा में कर का भार चावल खाने वालों पर पड़ेगा।

यदि आनुपातिक कर (proportional tax) पैदावार की मात्रा पर लगाया जावे तो उसका कर-भार (incidence of tax) इस बात पर निर्भर रहेगा कि उस वस्तु की माँग लचकदार है अथवा लचकहीन है। कर लगने से उस पैदावार का लागत-व्यय बढ जावेगा और उसकी कीमत में वृद्धि हो जावेगी। यदि माँग लचकहीन (inelastic) है तो कीमत जितना कर लगा है उतनी बढ जावेगी। क्योंकि बढी हुई कीमत पर भी लोग पहले जितनी मात्रा ही खरीदेंगे और उस कर का भार उस पैदावार के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। यदि पैदावार की माँग लचकदार है (elastic) है तो कीमत बढने पर उसकी

माँग कम हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि पैदावार को कम किया जावेगा और सीमान्त भूमि (marginal land) खेती के बाहर हो जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि लगान कम हो जावेगा और उस दशा में कर-भार भूस्वामी पर होगा।

इमारतों पर लगाये गये कर का कर-भार : इमारतों पर लगाये गये कर का कर-भार किस व्यक्ति पर पड़ेगा यह कहना सरल नहीं है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कर-भार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर पड़ सकता है। वह मकान मालिक पर भी पड़ सकता है, किरायेदार पर भी पड़ सकता है, कुछ दशाओं में मकान बनाने वाले राज मजदूर इत्यादि पर भी पड़ सकता है और दूकानों से सामान लेने वालों पर भी थोड़ा कर-भार पड़ सकता है। कर किस पर पडेगा वह इस बात पर निर्भर रहेगा कि इमारतों की मांग लचकदार है अथवा लचकहीन है।

यदि कर इमारतों के मालिकों पर लगाया गया तो इसका परिणाम यह होगा कि किराये के लिए मकान बनाना कम हो जावेगा, क्योंकि कर लगने से मकान मालिकों को, जो अपनी पूँजी पर लाभ मिलता था, वह कम हो जावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि आरम्भ में तो कर-भार मकान मालिकों पर पड़ेगा किन्तु आगे नये मकान नहीं बनाये जावेंगे। अतएव, यदि भविष्य में मकानों की माँग बढी तो मकान मालिक मकानों का किराया बढा देंगे और कर-भार किरायेदारों पर पडेगा। एक कारण और भी है जिससे आरम्भ में कर-भार मालिकों पर ही पड़ेगा यदि कर उनसे वसूल किया जाता है। वह कारण यह है कि बहुत से किरायेदारों ने लम्बे समय के लिए पट्टा कर लिया होता है। जब तक वह समय समाप्त न हो जावे किराया नहीं बढाया जा सकता। यदि कोई मकान मालिक अपना मकान बेचना भी चाहे तो भी वह कर-भार से नहीं बच सकता। क्योंकि जो भी व्यक्ति उस मकान को मोल लेगा वह कर को ध्यान में रख कर लेगा। वह अपनी पूँजी पर उतना लाभ तो अवश्य ही चाहेगा जितना उसको दूसरे समान कारबार में मिल सकता। यदि मकान मालिक किराया बढाता है तो यह भी सम्भव है कि किरायेदार छोटे मकान लें। इसका परिणाम यह भी हो सकता है कि राज-मजदूर तथा मकान योग्य ज़मीन की माँग कम हो जावे और उनकी मजदूरी तथा ज़मीन का कीमत कम हो जाय। किरायेदार मकानों का किराया अधिक देख कर कुछ गाँव दूर उपनगर में कम किराये के मकानों को ले सकते हैं और उस नगर में मकान मालिक मकानों का किराया बढाने में असफल हो सकते हैं। परन्तु दीर्घकाल में मकान मालिक

किराया बढाने में सफल हो जावेंगे क्योंकि कालान्तर में मकानों की माग बढ जावेगी और मकान मालिक किराया बढा कर कर-भार किरायेदारों पर डाल देंगे। यदि कर मकान मालिकों से वसूल न किया जाकर किरायेदारों से वसूल किया जावे तो आरम्भ में ही किरायेदारों पर कर-भार पड़ जावेगा और वे उसको मकान मालिकों पर नहीं डाल सकेंगे। हा, जो दूकानदार हैं वे अपनी वस्तुओं के मूल्य को तनिक बढाकर कर-भार को अपने ग्राहकों पर डाल सकते हैं। यदि नगर ऐसा है कि जहाँ मकानों की तगी नहीं है तथा जनसख्या और व्यापार-धधा तेजी से नहीं बढ रहा है तो वहाँ यह सम्भव है कि किरायेदार छोटे मकान ले लें अथवा उपनगर मे चले जावें। इस प्रकार कर-भार थोड़ा मालिकों पर पड़ जावे। किन्तु इस बात की अधिक सम्भावना नहीं है। क्योंकि अधिकाँश किरायेदारों के मकान मालिकों से लम्बे पट्टे होंगे और उनकी समाप्ति तक वे मकान नहीं छोड़ सकते। फिर अधिकतर नगरों की जनसख्या तेजी से बढती रहती है। अस्तु, इसका निष्कर्ष यह निकला कि कर यदि मालिक से वसूल किया जाता है तो अधिकाँश कुछ समय के लिए कर-भार मालिक पर ही रहेगा किन्तु अन्त मे कर-भार किरायेदार पर पडेगा। यदि कर किरायेदार से वसूल किया जाता है तो कर-भार आरम्भ में और अन्त में भी उसी पर रहेगा। कुछ दशाओं मे कर का कुछ अश राज-मजदूर, ग्राहकों, इत्यादि पर भी पड़ सकता है।

सूद पर लगाये कर का कर-भार : जब सूद पर कर लगाया जाता है तो पूँजी की पूर्ति कम हो जाती है। इसका परिणाम यह होगा कि पूँजी (capital) की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) में वृद्धि हो जावेगी। अस्तु, जिन धन्धों या कारबार में लाभ कम होता है उनको पूँजी यथेष्ट नहीं मिलेगी। पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति में वृद्धि होने का परिणाम यह होगा कि सूद की दर में वृद्धि हो जावेगी और कर-भार पूँजीपतियों से हट कर उन लोगों पर पडेगा कि जो पूँजी का उत्पादन में उपयोग करते हैं। परन्तु कुछ समय के उपरान्त पूँजी का उपयोग करने वाले अपनी वस्तु के उपभोक्ताओं पर कर-भार को डाल देंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि सूद पर लगाये गये कर का भार स्थायी रूप से पूँजी के स्वामियों पर नहीं पड़ेगा, किन्तु वह पूँजी का उपयोग करने वालों पर अन्तत उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। यदि प्रत्येक प्रकार की पूँजी से मिलने वाले सूद पर कर न लगा कर सरकार केवल कुछ पर ही कर लगाती है तो लोग अपनी पूँजी को उन क्षेत्रों में लगावेंगे जिनमें सूद पर कर नहीं लगता। परन्तु उनमें अधिक पूँजी आ जा

से सूद की दर गिर जावेगी और जिन क्षेत्रों में कर लगेगा वहाँ पूँजी की कमी के कारण सूद की दर बढ जावेगी। अन्त में दोनों क्षेत्रों में पूँजी लगाने से जो आय प्राप्त होगी वह बराबर हो जावेगी।

यदि किसी देश मे सूद पर ऊँचा कर लगाया जाता है और अन्य देशों में कोई कर नहीं लगाया जाता, तो यह प्रवृत्ति बढ़ेगी कि लोग अपनी पूंजी को विदेशों मे भेज दें और कर लगाने वाले देश में पूंजी का अभाव हो जावे। इसका परिणाम यह होगा कि सूद की दर ऊँची हो जाव और कर पूजी का उपयोग करने वालों पर पड़े। वे भी अन्त में उस कर को उपभोक्ताओं पर डाल देंगे। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सूद पर लगाया हुआ कर अन्त में उपभोक्ताओं पर पडता है।

एकाधिकार (Monopoly) पर लगाये गये कर का कर-भार

एकाधिकार के परिच्छेद मे हम देख चुके हैं कि एकाधिकारी का एकमात्र उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। वह उतनी उत्पत्ति करेगा कि जितनी से उसको अधिकतम लाभ मिल सके। एकाधिकार पर लगाये गये कर का भार किस पर पड़ेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि कर का रूप क्या है। हम यह मानकर चलते हैं कि एकाधिकारी वह कीमत निश्चित करेगा जिससे कि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो। एकाधिकार पर कर तीन प्रकार से लगाया जाता है—(१) जबकि कर उत्पत्ति के अनुपात में हो, (२) जबकि कर उत्पत्ति से स्वतन्त्र हो, और (३) जबकि कर उत्पत्ति में वृद्धि होने पर घटता जावे।

जबकि कर उत्पत्ति के अनुपात मे लगाया जावेगा तो उसका परिणाम यह होगा कि वस्तु की कीमत ऊँची हो जावेगी। केवल उस दशा मे कि जब उस वस्तु की पूर्त्ति (supply) नितान्त लचकहीन (inelastic) हो और माँग (demand) सर्वथा लचकदार (elastic) हो तो अवश्य ही वस्तु की कीमत नहीं बढेगी। अन्य कर लगने के फलस्वरूप वस्तु की कीमत अवश्य बढ़ेगी। वस्तु की क़ीमत उतनी अधिक ऊँची होगी जितनी कि उसकी माँग कम लचकदार होगी और पूर्त्ति अधिक लचकदार होगी।

जब कर उत्पत्ति के ऊपर नहीं वरन् एकाधिकारी के लाभ पर एक मुश्त लगाया जावे तो उसका वस्तु की कीमत पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। और उसका भार स्वयं एकाधिकारी को सहन करना होगा। एकाधिकारी ने अपनी उत्पत्ति का प्रबन्ध इस प्रकार किया हुआ है कि उसे अधिकतम लाभ हो। अस्तु, यदि लाभ पर कर लगाया जावे तो वह उत्पत्ति में परिवर्तन नहीं कर

सकता, क्योंकि उस उत्पत्ति पर ही उसको अधिकतम लाभ होगा। ऐसी दशा में यह कर लगान पर कर के समान उपभोक्ताओं पर नहीं डाला जा सकता वरन् उसका भार स्वय एकाधिकारी को सहन करना होगा।

यदि कुल कर की राशि उत्पत्ति की वृद्धि के साथ-साथ घटती है तो कुछ परिस्थितियों में उत्पत्ति बढेगी और उस वस्तु का मूल्य गिर जावेगा। एकाधिकारी कर के भार को स्वय वहन करेगा और एकाधिकार के लाभ में से कुछ अंश उपभोक्ताओ को दे देगा।

व्यवहार में पूर्ण एकाधिकार (perfect monopoly) बहुधा स्थापित नहीं होता है और एकाधिकारी पूर्ण एकाधिकार मूल्य (full monopoly price) नहीं लेता है। एसी दशा में एकाधिकारी कीमत को बढाकर कर-भार उपभोक्ताओं पर डाल सकता है।

आयात (Import) और निर्यात (Expoit) कर का भार : आयात-कर दो दृष्टियों से लगाये जाते हैं। एक दृष्टि तो आय प्राप्त करने की होती है, दूसरी दृष्टि देश के धन्धों को विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से सरक्षण-देने की होती है। जब आय की दृष्टि से आयात-कर लगाया जाता है तो उसकी मात्रा कम होती है और जब सरक्षण की दृष्टि से कर लगाया जाता है तो उसकी मात्रा अधिक होती है। अधिकतर होता यह है कि आयात-कर लगाने से उस वस्तु का मूल्य बढ जाता है और कर-भार उस देश के उपभोक्ताओं पर पड़ता है जिसने कर लगाया है। यदि कर लगाने वाले देश मे भी वही वस्तु उत्पन्न होती है और वस्तु की कीमत मे थोड़ी-सी ही वृद्धि होने से वस्तु का उत्पादन देश में ही बहुत अधिक बढ जावे तो उस वस्तु की कीमत कर की तुलना में थोड़ी ही बढेगी। यदि विदेशी उत्पादक अपनी पूर्ति (supply) को कम नहीं कर सकता अर्थात् उसकी पूर्ति लचकहीन (inelastic) है, तो उसको विवश होकर अपनी वस्तु को कम कीमत पर बेचना होगा और वह मूल्य को अधिक नहीं बढावे। यदि कर लगाने वाले देश मे उस वस्तु की माँग अत्यन्त लचकदार (highly elastic) है तो उस वस्तु का मूल्य अधिक नहीं बढेगा वल्कि मूल्य में थोड़ी-सी ही वृद्धि होगी। परन्तु, यदि विदेशी उत्पादकों की पूर्ति लचकदार है अर्थात् वह सरलता से बढाई या कम की जा सकती है अथवा उस वस्तु की बिक्री को अन्य देशों में बढाया जा सकता है और कर लगाने वाले देश में उस वस्तु की माँग लचकहीन है, तो फिर उस वस्तु का मूल्य 'कर' के बराबर बढ जावेगा और कर-भार कर लगाने वाले देश मे उस वस्तु के उपभोक्ताओ पर पड़ेगा।

अधिकतर आयात-कर का कर-भार कर लगाने वाले देश के उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है क्योंकि विदेशी उत्पादक का लाभ कर लगने से कम हो जावेगा। वह अपनी वस्तु के लिए अन्य बाजार ढूँढेगा, और, यदि यह सम्भव नहीं हुआ तो क्रमशः उस धन्धे से पूँजी निकाल कर अन्य लाभदायक धन्धों में लगावेगा। उस दशा में उस वस्तु की पूर्ति (supply) कम हो जावेगी और उसका मूल्य बढ जावेगा। और अन्तत: सारा कर-भार कर लगाने वाले देश के उपभोक्ताओं पर पडेगा।

परन्तु, यदि कर लगाने वाला देश उस वस्तु का जो कि आयात की जाती है, सबसे बड़ा बाज़ार है और वहाँ उस माल की बहुत खपत होती है। इसके अतिरिक्त यदि निर्यात करने वाले देश की पूर्त्ति लचकहीन है और आयात करने वाले देश की माँग उस वस्तु के लिए लचकदार है, साथ ही उस देश में वह धन्धा मूल्य बढ जाने पर विकसित हो सकता है, तो निर्यात करने वाला देश कर-भार को स्वय सहन कर लेगा और वस्तु का मूल्य नहीं बढावेगा। परन्तु, यदि आयात करने वाला देश निर्यात करने वाले देश की कुल उत्पत्ति का थोड़ा सा ही भाग खरीदता है अथवा निर्यात करने वाला देश अपने माल की खपत अन्य देशों में कर सकता है, या फिर उसकी पूर्त्ति बहुत लचकदार है और आयात करने वाले देश को उस वस्तु की माँग बहुत लचकहीन है, तो निर्यात करने वाला देश उस वस्तु का मूल्य बढा देगा और कर का कर-भार आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा।

आय-कर (Income Tax) का कर-भार . आय-कर के कर-भार के सम्बन्ध मे दो भिन्न मत हैं। एक मत तो व्यापारियों और व्यवसायियों का है कि आय-कर उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है, और बहुधा व्यापारी और व्यवसायी मूल्य में वृद्धि करके आय कर को उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं। जब कि व्यापारी या व्यवसायी मूल्य निर्धारित करने की दृष्टि से लागत-व्यय का हिसाब लगाते हैं तो वह आय-कर को भी उसमे सम्मिलित कर लेते हैं। वह अपनी वस्तु का मूल्य इतना ऊँचा रखना चाहते हैं कि आय-कर देने के उपरान्त भी उसको वह न्यूनतम आय प्राप्त हो जावे जिसकी उसको आवश्यकता है।

इसके विपरीत अर्थशास्त्रियों का मत है कि आय-कर दूसरों पर नहीं डाला जा सकता और न उसका मूल्य मे समावेश हो सकता है। अब हम इसका विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे कि क्या व्यापारी अपने लाभ पर लगे हुए आय-

कर को अपनी वस्तु की कीमत बढा कर उपभोक्ताओं पर डाल सकता है।

एकाधिकारी (monopolist) के सम्बन्ध में हम पहले ही देख चुके हैं कि वह अपनी वस्तु की कीमत उस प्रकार निर्धारित करता है जब उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो। क्योंकि वह सर्वोत्तम मूल्य है, अस्तु, उसको बदलने से उसको अधिकतम लाभ नहीं हो सकता। अतएव वह उस मूल्य में कोई परिवर्त्तन नहीं करेगा और आय-कर का कर-भार भी उसी पर पडेगा।

जहाँ तक प्रतिस्पर्द्धा करने वाला व्यापारी या व्यवसायी है, उसके लिए अपनी वस्तु की कीमत में वृद्धि करके कर को उपभोक्ताओं पर डाल सकना और भी कठिन है। उसके पास एकाधिकारी के समान अपनी वस्तु के मूल्य को निर्धारित करने की शक्ति नहीं होती। उसको प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है। अतएव, उसकी वस्तु को अन्य उत्पादकों की वस्तु से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है। कोई एक व्यवसायी अन्य प्रतिस्पर्द्धियों की उत्पत्ति पर नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकता। अस्तु, यदि वह अपनी उत्पत्ति को कम करेगा तो वे लोग उस कमी को पूरा कर देंगे। यदि वह अपनी कीमत को बढाना चाहता है तो अन्य लोग कीमत नहीं बढावेंगे और उससे कम मूल्य पर उस वस्तु को बाजार में बेचेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई एक व्यापारी या उत्पादक अपनी वस्तु के मूल्य को नहीं बढा सकता। जब प्रतिस्पर्द्धा होती है तो वस्तु की कीमत सीमान्त उत्पादक (marginal producer) के लागत-व्यय के बराबर होती है। सीमान्त उत्पादक की बचत या लाभ इतना कम होता है कि उस पर आय कर नहीं लागू होता। अतएव, आय-कर का उस वस्तु के मूल्य में समावेश नहीं होता।

सयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों (joint stock companies) के लाभ पर आय-कर एक समान दर से लगाया जाता है। प्रमण्डल के डायरेक्टरों को व्यक्तिगत व्यवसायी की भांति आय-कर को दूसरों पर डालने की कोई प्रेरणा या उत्साह नहीं होता। इसके अतिरिक्त कम्पनियों या प्रमण्डलों के लाभ पर आय-कर एक समान दर से लिया जाता है, परन्तु हिस्सेदारों (share holders) की व्यक्तिगत आय में बहुत विभिन्नता होती है। कुछ हिस्सेदार ऐसे भी होते हैं जिनकी आय बहुत अधिक होती है, उन्हें कम्पनी से मिले लाभ पर सर-टैक्स देना पड़ता है और जिनकी आय कम है उन्हें रिबेट मिलता है। अस्तु, कम्पनी या प्रमण्डलों के हिस्सेदारों को भिन्न-भिन्न मात्रा में आय-कर देना पड़ता है। अस्तु, उन्हें वस्तु के मूल्य को बढ़ाने का कोई उत्साह नहीं होता। जहा तक निजी फर्मों का प्रश्न है, आय कर की दर प्रत्येक फर्म

लिए भिन्न होती है। अस्तु, यदि फर्में आय-कर को अपने मूल्य में जोड़ देती हैं तो उसी वस्तु की कीमतें भिन्न-भिन्न होंगी जो कि सम्भव नहीं है। उस दशा मे छोटी फर्में कम मूल्य पर अपनी वस्तु को बेच सकेगी, क्योंकि उन्हे आय-कर कम देना पड़ेगा। बड़ी फर्मे कभी भी यह नहीं होने देगी और वे अपने मूल्य को नहीं बढावेगी।

इसके अतिरिक्त विदेशी प्रतिस्पर्द्धा को भी ध्यान में रखना होगा। यदि आय-कर लगने पर देशी व्यवसायी वस्तु का मूल्य बढाते है, तो विदेशी माल कम मूल्य पर उनसे प्रतिस्पर्द्धा करने लगेगा। यह ठीक है कि विदेशी व्यवसायियों को भी अपने देश में आय-कर देना पड़ेगा, परन्तु दोनों देशों मे आय-कर की दर भिन्न हो सकती है।

एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि आयकर तो सभी प्रकार की आय पर लगाया जावेगा। अस्तु, यदि उसका लागत-व्यय मे समावेश होता है तो साधारण मूल्य-स्तर ऊँचा हो जावेगा। किन्तु सामान्य मूल्य-स्तर उसी दशा में ऊँचा हो सकता है जबकि देश मे मुद्रा (money) और साख (credit) स्फीत (inflation) हो। परन्तु आयकर लगने से मुद्रा या साख स्फीत हो, ऐसी कोई बात नही है।

मज़दूरी पर कर : मजदूरी पर कर के सम्बन्ध मे अध्ययन करते समय हमे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मजदूर दो प्रकार के होते हैं—एक कुशल और दूसरे अकुशल मजदूर। कुशल मजदूर अपने कर को दूसरो पर नहीं डाल सकेंगे। जहाँ तक अकुशल मजदूरो का प्रश्न है अधिकतर कर का भार उन पर नहीं पड़ेगा, क्योंकि, अधिकतर उन्हें उतनी ही मजदूरी मिलती है जो उनके परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त हो। इससे उनके पास कोई बचत नहीं रहती। इस दशा में यदि मजदूरी पर कोई कर लगाया जावेगा तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि मजदूर अपनी मजदूरी बढाने के लिए आन्दोलन करेंगे और मालिक को मज़दूरी बढानी होगी। परन्तु यह सम्भव है कि मजदूरों को कुछ समय के लिए कर भार सहन करना पड़ सकता है।

कुशल मजदूरों के सम्बन्ध मे यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक दशा मे वह कर-भार को मालिक पर डाल सकेंगे। यदि मजदूरों की पूर्ति लचकदार हो और उनका सङ्गठन अच्छा न हो, तो हो सकता है कि कर-भार उन्हें ही सहन करना पड़े। परन्तु आगे चल कर लोग उस धन्धे मे नहीं आवेंगे और उस समय वे अपनी मजदूरी बढा सकेंगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यवहार में मजदूरी पर कोई प्रत्यक्ष
लगाना उचित नहीं है, क्योंकि उससे उनके रहन-सहन के दर्जे में गिरावट श्र
है और उसको वसूल करने में बहुत अड़चन और व्यय होता है। उपभोग-पद
पर कर लगा कर मजदूरों से अप्रत्यक्ष कर उगा ही लिया जाता है।

कर का पूँजीकरण : जब किसी टिकाऊ जायदाद की आय पर
लगाया जाता है तो उस जायदाद से होने वाली शुद्ध आय कम हो जाती
उसका परिणाम यह होता है कि उस जायदाद का मूल्य घट जाता है। उ
कर का पूँजीकरण (capitalisation of taxes) कहते हैं। उदाहरण
लिए, यदि किसी भूमि से ५००) रु० वार्षिक आय होती है और सूद की
५ प्रतिशत है, तो उस भूमि का मूल्य १०,००० रु० होगा। अब, यदि सर
उस पर २० प्रतिशत कर लगा देती है तो कर देकर शुद्ध लगान केवल ४००
होगा और उस भूमि का मूल्य दस हजार से गिर कर केवल ८००० रु०
जावेगा। भावी खरीदारों को यह पता होगा कि उन्हें लगान पर २० प्रति
कर देना होगा, अस्तु वे भूमि का मूल्य केवल उतना ही देंगे जिस पर उ
५ प्रतिशत सूद मिलता रहे। भावी खरीदार प्रति वर्ष कर देते रहेंगे, किन्तु
भार उन पर नहीं रहेगा, क्योंकि उन्होंने उस भूमि का मूल्य कम दिया
उस भूमि के विक्रेता को कर का पूँजीकृत मूल्य (capitalised valu
चुकाना होगा। यदि कुछ समय के बाद वह कर समाप्त कर दिया जावे तो
भूमि के तत्कालीन मालिकों को लाभ होगा, क्योंकि उनकी भूमि का मूल्य
जावेगा, किन्तु कर के पूँजीकरण के सम्बन्ध में हमें कुछ बातों को ध्यान में रख
चाहिये। कर किसी टिकाऊ जायदाद पर ही लगाना चाहिये जिसकी
का उसके मूल्य में परिवर्तन होने के साथ बदला नहीं जा सकता। यदि जायद
टिकाऊ नहीं है और उसका मूल्य गिर जावेगा तो उसकी पूर्ति (supp
भी गिर जावेगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस वस्तु की कीमत ऊँची
जावेगी और कर का भार उस वस्तु के खरीदार पर पड़ेगा। दूसरी बात जो
सम्बन्ध में हमें ध्यान में रखनी चाहिये वह यह है कि कर भिन्नक
(differential tax) होना चाहिये, अर्थात् ऐसी अन्य आय होनी चा
जो कर से मुक्त हो अथवा उन पर कम दर से कर लगाया जाता हो। यदि
प्रत्येक प्रकार की आय पर समान रूप से लगाया जावेगा तो उसका पूँजीक
नहीं होगा। उदाहरण के लिए, यदि भूमि के लगान पर ५ प्रतिशत कर ल
दिया जावे और सरकारी सिक्यूरिटियों पर मिलने वाले (५ प्रतिशत) सूद
कर न लगाया जावे, तो लाग भूमि में अपनी पूँजी उस समय तक नहीं लगा

जब तक भूमि में रुपया लगाने पर भी उन्हें ५ प्रतिशत सूद न मिले। अस्तु, जब २० प्रतिशत कर भूमि पर लगाया जावेगा तो खरीदार उस भूमि का जिसका कुल लगान ५०० रु० था, केवल ८००० रु० देंगे, क्योंकि कर देकर उनको शुद्ध लगान केवल ४०० रु० मिलेगा। परन्तु, यदि सभी प्रकार की आय पर एक समान कर लगा दिया जावे तो जायदाद के खरीदारों के लिए और कहीं अपना रुपया लगानेपर कोई अधिक लाभ नहीं होगा। उस दशा में कर का पूँजीकरण नहीं होगा। कर के पूँजीकरण के लिए तीसरी बात यह होनी चाहिये कि कर अकस्मात लगाना चाहिये। यदि लोगों को यह मालूम हो जावे कि कर लगने वाला है तो जिनके पास भूमि है वे उस बात को ध्यान में रखकर तदानुसार कार्य करेंगे। किन्तु, यदि टिकाऊ जायदाद पर भिन्नक कर यकायक लगा दिया जावे, तो विक्रेताओं को अपनी जायदाद का बेचते समय कम मूल्य स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि कोई कर जो कि टिकाऊ जायदाद पर लगाया जावें और सार्वत्रिक न हो उसका पूँजीकरण हो जावेगा। सामान्य आय-कर ऊपर लिखी शर्त को पूरा नहीं करता, क्योंकि वह एक समान सभी आय पर पड़ता है। परन्तु आय-कर का वह अंश जो कि जायदाद की आय पर लगता है, यदि उसको सामान्य आय-कर से पृथक किया जा सके तो उसका पूँजीकरण हो सकता है। हम ऊपर लिख आये हैं कि भूमि के लगान पर भिन्नक कर का पूँजीकरण हो जावेगा। उसी प्रकार जो कर अतिरिक्त लाभ (excess profits) पर पड़ता है उसका भी पूँजीकरण हो जावेगा और कारबार का विक्री-मूल्य गिर जावेगा। कल्पना कीजिए कि सामान्य लाभ किसी धन्धे में १० प्रतिशत है और एक कम्पनी का लाभ ६० प्रतिशत है तो उस कम्पनी के हिस्सों का मूल्य लगभग ६ गुना हो जावेगा। यदि राज्य इस अतिरिक्त लाभ पर कर लगा देता है और अतिरिक्त लाभ घट कर ४० प्रतिशत रह जाता है तो उस कपनी के हिस्से का मूल्य घटकर केवल चार गुना रह जावेगा। इसी प्रकार यदि एकाधिकार लाभ पर कर लगाया जावे तो एकाधिकार लाभ कम हो जावेगा और उस कारबार का विक्री-मूल्य उस कर से पूँजीकरण मूल्य (capitalised value) से कम हो जावेगा।

कर का संविलयन (Absorption or Diffusion Theory) सिद्धान्त कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि पुराना कर वास्तव में कोई कर नहीं है। उसका भार किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं पड़ता। वह इस प्रकार बिखर जाता है कि उसका भार सारे समाज पर पड़ता है।

जो लोग इस सिद्धान्त को मानते हैं इसके समर्थन में यह तर्क उप
करते हैं कि बहुधा पुराने करों का पूँजीकरण हो जाता है,
यद्यपि लोग प्रति वर्ष उस कर को देते रहते हैं परन्तु उन पर उस
का कोई भार नहीं पड़ता। परन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि सभी पु
करों का पूँजीकरण नहीं होता है। केवल उन्हीं करों का पूँजीकरण हो
जो टिकाऊ जायदाद पर हों और भिन्नक कर (differential t
हो। एक दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि पुराना
समस्त समाज पर इस प्रकार बिखर या बट (diffuse) जाता है
उस कर का कर-भार (incidence) जान सकना असम्भव होता
सारे समाज पर इस बिखरने की क्रिया से कर इस प्रकार बँट जाता है कि उ
भार सारे समाज पर पड़ता है। कुछ लेखकों ने कर उगाहने की तुलना श
से रुधिर निकालने से की है। जिस प्रकार रुधिर किसी एक धमनी से निक
जाता है तो वह धमनी रुधिरहीन नहीं हो जाती, किन्तु उतना रुधिर
शरीर से कम हो जाता है। उसी प्रकार जब कोई कर किसी बिन्दु विशेष
लगाया जाता है तो उसका भार केवल उसी बिन्दु पर नहीं पड़ता, परन्तु
बिन्दुओं पर पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पुराना कर कालान्तर
इतने विस्तृत रूप से बिखर जावेगा कि उसका भार किसी व्यक्ति विशेष प
पड़ कर सारे समाज पर पड़ेगा। अस्तु, किसी कर का कर-भार जानने
प्रयत्न व्यर्थ है।

कर के सविलयन अथवा बिखरने के सिद्धान्त को आज कोई भी
मानता। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जात
वैसे-वैसे उस कर का आर्थिक प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है। परन्तु इसका
अर्थ कदापि भी नहीं है कि उसका कर-भार (incidence) न जाना जा स
पुराना कर भाररहित कर नहीं होता। यदि किसी वस्तु पर लगे हुए पु
कर को हटा दिया जावे तो उस वस्तु का मूल्य अवश्य गिर जावेगा। यह
बात का प्रमाण है कि उस कर का भार उस वस्तु के उपभोक्ताओं पर थ
अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि पुराना कर कोई कर नहीं है। इ
तनिक भी सन्देह नहीं है कि पुराने कर को देने से लोग अभ्यस्त हो जाते हैं
कारण उनको वह उतना बुरा नहीं लगता जितना कि नया कर लगता है।
तर्क और भी उपस्थित किया जाता है। वह यह है कि कर-विवर्तन (shift
of tax) में बहुत समय लगता है और जब सर्व प्रथम कोई कर लगाया ज
है तो उसके फलस्वरूप बहुत आर्थिक हेर-फेर तथा कष्ट होता है। पुराने कर

विवर्तन हो चुकता है और वह स्थायी रूप से कुछ बिन्दुओं पर ठहर जाता है। ऊपर के तर्क में तथ्य होते हुए भी उससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पुराना कर कोई कर नहीं है और उसके कर-भार को मालूम नहीं किया जा सकता।

करों का प्रभाव (Effect of Taxes) : ऊपर हमने कर-भार के संबंध में अध्ययन किया। कर-भार जानने का अर्थ तो केवल इतना भर था कि वास्तव में कर कौन देता है। परन्तु हमें यह जानने की भी आवश्यकता है कि कर का आर्थिक प्रभाव क्या पड़ता है। आर्थिक प्रभाव और कर-भार में अन्तर है। आर्थिक प्रभाव से हमारा तात्पर्य यह है कि उस कर-उत्पादन-क्रिया (production) तथा धन-वितरण (distribution) पर क्या प्रभाव पड़ता है और लोगों का उत्पादन-कार्य करने की तथा धन-सचय करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ता है। किसी भी कर का आर्थिक प्रभाव तीन शीर्षकों में अध्ययन किया जा सकता है :—(१) लोगों के उत्पादन-कार्य करने तथा धन-सचय करने की इच्छा पर प्रभाव, (२) लोगों के उत्पादन-कार्य करने की तथा धन-सचय की क्षमता पर प्रभाव, तथा (३) आर्थिक साधनों के बटवारे पर प्रभाव।

आय-कर (Income Tax) आय-कर का क्या आर्थिक प्रभाव होगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि आय-कर कितना लगाया गया है और किस प्रकार की आय पर लगाया गया है। साधारणतया होता यह है कि एक स्तर के नीचे कोई आय-कर नहीं लगाया जाता और उसके ऊपर वर्द्धमान कर (progressive tax) लगाया जाता है। जैसे-जैसे आय बढ़ती जाती है कर की दर तेजी से बढ़ती जाती है। जब आय एक स्तर से अधिक हो जाती है तो आय पर सुपरटैक्स लगाया जाता है। जिन लोगों की आय कम है, जैसे कि मजदूर और निचले मध्यम श्रेणी के लोग, उन पर आय कर नहीं लगाया जाता।

जिन व्यक्तियों की आय साधारण है उन पर भी बहुत थोड़ा आय-कर लगाया जाता है। अस्तु, आय-कर रहन-सहन के स्तर को नहीं गिराता, अतएव उनके उत्पादन-कार्य करने की क्षमता कम नहीं होती। जहाँ तक धन-सचय करने की क्षमता का प्रश्न है प्रत्येक कर धन-सचय करने की क्षमता को कम करता है और आय-कर भी धन-सचय करने की क्षमता को कम करता है।

इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिये कि राष्ट्र की धन-सचय करने

की शक्ति एक व्यक्ति के धन-सचय की शक्ति से भिन्न होती है। यदि आय कर से प्राप्त होने वाली रकम राजकीय ऋण पर दिये जाने वाले सूद पर व्यय की जाती है तो उस दशा में वह द्रव्य एक वर्ग से दूसरे वर्ग के पास चला जाता है। जिन लोगों ने राजकीय ऋण मोल लिया है वे उस सूद को बचावेंगे। अस्तु, यह प्रश्न कि आयकर राष्ट्र की सचय या बचत करने की क्षमता को कम कर देता है इस बात पर निर्भर करता है कि उससे प्राप्त आय को किस प्रकार व्यय किया जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी देश में अधिकतर पूँजी सयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों (मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों) के द्वारा स्वत ही सचय होती है। कम्पनियों की आय पर लगे हुए आय-कर का उस देश के लोगों के उत्पादन-कार्य की क्षमता अथवा धन-सचय करने की क्षमता से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

आयकर तथा कार्य करने और सचय करने की इच्छा : अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि आयकर का लोगों के उत्पादन कार्य करने और धन-सचय करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध मे विद्वानों के दो मत हैं। एक मत तो यह है कि, यदि आयकर ऊँची दर से लगा दिया गया तो उससे कर देने वाले का उत्पादन-कार्य करने तथा धन-सचय करने का उत्साह मन्द पड़ जाता है, क्योंकि उसकी आय का बहुत बड़ा अंश आयकर के रूप मे ले लिया जाता है। एक दूसरा मत यह है कि ऊँची दर से कर लगाने का परिणाम यह होता है कि लोगों मे अधिक उत्पादन-कार्य करने तथा धन सचय करने का उत्साह उत्पन्न होता है जिससे वह अपने परिवार के लिए एक निश्चित पूंजी इकट्ठी कर सकें अथवा एक निश्चित आय प्राप्त कर सके। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति समझता है कि उसको अपनी पुत्रियों के विवाह इत्यादि के लिए और उसके बाद परिवार के भरण-पोषण के लिए पाँच लाख रुपया इकट्ठा करना चाहिये और प्रति मास ढाई हज़ार रुपया व्यय करने के लिए चाहिये, तो, यदि उस पर आयकर लग जाता है तो वह अधिक परिश्रम करके अधिक धन कमाने का प्रयत्न करेगा। बहुधा देखने मे आता है कि बहुत से धनी व्यक्ति इस कारण अधिक धन कमाना और बचाना चाहते हैं, क्योंकि उससे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। आयकर के लगने से इस प्रकार के व्यक्ति अधिक परिश्रम करके अधिक धन कमाने का प्रयत्न करेंगे। आयकर लगने से लोग अधिक परिश्रम करेंगे, अथवा कम परिश्रम करेंगे, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि किसी व्यक्ति की आय की माँग लचकदार है अथवा लचक-हीन है। यदि करदाता की आय की माँग लचकदार (clastic) है तो कार्य

करने की और धन-सचय करने की इच्छा घट जावेगी। परन्तु, यदि करदाता की आय की माँग लचकहीन (inelastic) है तो आयकर लगने पर उसकी उत्पादन-कार्य करने और धन-सचय करने की इच्छा और भी बलवती होगी। होता यह है कि लोग एक प्रकार के रहन-सहन के दर्जे या जीवन-स्तर (standard of living) के अभ्यस्त हो जाते हैं। अस्तु, उतनी आय की माँग जो उस जीवन-स्तर को बनाये रख सके लचकहीन होती है। इसी प्रकार यदि बुढापे के लिए अथवा बच्चों के लिए एक निश्चित रकम की माँग लचकहीन हो, तो आयकर लगने से धन-सचय की इच्छा या प्रवृत्ति भी कम नहीं होगी। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दुविधा में होते हैं कि वे धन को बचावे अथवा नहीं बचावें। वे सीमान्त बचाने वाले होते हैं। उन पर अवश्य ही आयकर का प्रभाव बुरा पड़ेगा और वे धन-सचय नहीं करेंगे। यदि हम व्यक्तियों को छोड़ दें और प्रमण्डलो अर्थात् कम्पनियों को लें तो आयकर लगन से उनकी धन-सचय की इच्छा पर आयकर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह कम्पनियाँ किसी भी देश की अधिकाश पूँजी को बचाती हैं। कम्पनियों पर उन वातों का प्रभाव नहीं पड़ता जिनका कि व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। कम्पनियों के लाभ पर एक समान दर से कर लगाया जाता है। धनी हिस्सेदारों को अपनी कुल आमदनी पर और अधिक कर देना पड़ता है और निर्धन हिस्सेदारों को उस पर छूट (रिवेट) मिलता है। कम्पनी को उससे कोई लाभ-हानि नहीं होती। अतएव, कम्पनी के लाभ पर कर लगाने से इस प्रकार की बचत पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है।

जहाँ तक व्यक्तियों के द्वारा बचत करने का प्रश्न है आरम्भ में अवश्य ही आयकर बहुत अखरता है। परन्तु धीरे-धीरे करदाता उसको देने के अभ्यस्त हो जाते हैं। अस्तु, आगे चल कर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि आय-कर का आर्थिक साधनों के भिन्न भिन्न धन्धों और स्थानों के बटवारे पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका अध्ययन हम नीचे लिखे शीर्षकों के अनुसार कर सकते हैं :—(१) आय-कर तथा व्यय और बचत, (२) आय-कर और धन्धे, तथा (३) आयकर और पूँजी का निष्कासन।

आयकर तथा व्यय और बचत • कुछ विद्वानों का कहना है कि आयकर एक भिन्नक कर (differential tax) है जो बचत को कम करता है और व्यय करने की प्रवृत्ति को बढाता है। आयकर प्रत्येक प्रकार की बचत पर

लगाया जाता है। अस्तु, लोगों में बचत करने की अपेक्षा व्यय करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। पूँजी इकट्ठी होने की दृष्टि से यह स्थिति वाँच्छनीय नहीं है कुछ विद्वानों का जिनमें पीगू और फिशर मुख्य हैं यह मत है कि जो आय बचायी जावे उसको आयकर से मुक्तकर देना चाहिये। यह कर केवल आय के उस भाग पर लगाया जाना चाहिये कि जो व्यय की जावे। इस मत के समर्थकों का कहना है कि बचत पर आयकर लगाने से बचत पर दोहरा कर लगता है। क्योंकि, जब आय प्राप्त होती है तो सारी आय पर आयकर ले लिया जाता है। यदि सारी की सारी आय व्यय कर दी जावे तो फिर भविष्य में कोई आयकर नहीं लग सकता। परन्तु, यदि उसमें से कुछ बचा ली जावे और उसको बैंक या धन्धों मे लगाया जावे तो उसमे प्राप्त होने वाली आय पर फिर आयकर लगाया जावेगा। परन्तु कुछ विद्वानों का जिनमे स्टाम्प मुख्य है कहना है कि यह दुहरा कर (double tax) नहीं है। क्योंकि जो सूद मिलता है वह नयी धन-उत्पत्ति है और उस पर तो कर लगना ही चाहिये। अतएव यह कहना कि, यदि आय को बचाया जाता है तो उस पर दुहरा कर लगता है, भूल है। चाहे आय व्यय की जावे अथवा बचायी जावे, उस पर इकहरा ही कर लगता है।

आयकर और धन्धे कुछ लोगों का मत है कि आयकर के परिणाम स्वरूप व्यवसायी जोखिम के कारबार में हाथ डालने से बचते हैं। जोखिम के व्यवसाय में इसी कारण व्यवसायी अपनी पूंजी लगाते हैं क्योंकि उनमें अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आयकर का क्या प्रभाव होगा। यह व्यवसायियों के मनोविज्ञान पर निर्भर है। इसमें सदेह नहीं कि कुछ लोग जोखिम वाले धन्धे में पूँजी न लगाकर सुरक्षित धन्धों में अपनी पूँजी लगाना पसन्द करते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी व्यवसायी हैं कि जो कर देने से जो क्षति हुई है उसे पूरा करने के लिए अधिक जोखिम का कारबार करने को उद्यत होंगे।

कुछ विद्वानों का कहना है कि आयकर का प्रभाव यह होगा कि धनी वर्ग विलासिता की वस्तुओं पर कम व्यय करेगा और आय कर से प्राप्त होने वाली रकम निर्धनों के लाभ के लिए व्यय होगी। विलासिता की वस्तुओं का निर्माण करने में अधिक जोखिम होती है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करने मे कम जोखिम होती है। अतएव, और कुल मिला कर आयकर लगाये जाने का परिणाम यह होगा कि व्यवसायी कम जोखिम उठायेगा।

आयकर और पूंजी निष्कासन कुछ लोगों का मत है कि यदि आयकर बहुत अधिक लगा दिया जावे तो इस बात की सम्भावना रहती है

कि पूजी विदेशों को चली जावे। परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि जब विदेशो से आय आवेगी तो उस पर भी आयकर लगेगा। अस्तु, उस पूजी का स्वामी तभी आयकर से बच सकता है जब कि वह भी अपनी पूजी के साथ देश छोड़ कर विदेश चला जावे। परन्तु विदेश मे भी आयकर होगा अथवा लगाये जाने की सम्भावना हो सकती है। उस दशा में उसी आय को देश म तथा विदेश मे भी कर देना होगा। इस प्रकार पूजी बाहर ले जाने वाले को दुहरा कर देना होगा। अतएव, आयकर से पूजी का विदेशों को चले जाने का भय नही रहता।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि जो देश का आयकर लगाता है उसमें विदेशी पूजी नही लगायी जावेगी। परन्तु विदेशी पूँजी का किसी देश के धन्धों मे लगना बहुत-सी बातों पर निर्भर करता है। जैसे, देश मे तथा विदेशों मे तुलनात्मक आयकर की दरें, लाभ की सम्भावना तथा विदेश मे पूजी सुरक्षित रहेगी अथवा नहीं। इन सब बातों पर विदेशी पूजी का किसी देश में लगना निर्भर रहता है।

मृत्यु-कर (Death Duty) मृत्यु-कर उस कर को कहते है जो किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी जायदाद पर लगाया जाता है, और जब उसकी जायदाद उसके उत्तराधिकारियों को मिलती है। ससार के सभी उन्नतिशील राष्ट्रों मे मृत्यु-कर लगाया जाता है। मृत्यु-कर दो रूप मे लगाया जाता है। एक रूप तो यह है कि मृत-व्यक्ति की सारी सम्पत्ति पर उसके उत्तराधिकारियों मे बॉटे जाने के पूर्व भू सम्पत्ति कर (estate duty) के रूप म मृत्यु-कर लगाया जावे। दूसरा रूप यह है कि जब मृत व्यक्ति की सारी सम्पत्ति उत्तराधिकारियों में बॅट जावे तो उन पर उत्तराधिकार-कर (inheritance tax) के रूप में मृत्यु-कर लगाया जावे।

मृत्यु-कर और बचत : कुछ लोगों का कहना है कि मृत्यु-कर से लोगो मे व्यय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और बचाने की प्रवृत्ति कम होती है। इस सम्बन्ध मे हमे यह ध्यान मे रखना चाहिये कि, यदि मृत्यु-कर बड़ी सम्पत्ति पर ही लगाया जावे तो नीचे के वर्ग तथा निचले मध्यम-वर्ग की बचत पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जहा तक अधिक सम्पत्ति को उत्तराधिकार के रूप म पाने वालों का प्रश्न है, उसका प्रभाव बचत को कम करना अवश्य होता है। कारण यह है कि जब सम्पत्ति-कर या उत्तराधिकार-कर लगाया जाता है तो उत्तराधिकारी को उस पूजी या सम्पत्ति मे से ही कर देना पड़ता है। वह उतनी रकम स्वय तो बचा नहीं सकता। कुछ लोगों का विचार

है कि मृत्यु-कर की अपेक्षा आयकर अधिक उत्तम है, क्योंकि आयकर को आ
में से चुकाया जाता है और मृत्यु-कर को पूजी में से चुकाया जाता है। पर
यह तर्क बहुत सही नहीं है। एक ऊँचा कर, फिर चाहे वह आयकर हो अथ
मृत्यु-कर, पूजी को कम अवश्य करता है। केवल अन्तर इतना ही है कि आ
कर भावी पूजी से चुकाया जाता है और मृत्यु कर वर्तमान पूजी से चुका
जाता है। उदाहरण के लिए, जब किसी व्यापारी अथवा कम्पनी के लाभ
आय-कर लगाया जाता है तो वास्तव में वह उस कर को भावी बनने वा
पूजी में से ही चुकाता है। यदि मृत्यु-कर को चुकाने के लिए वार्षिक बीमा क
दिया जाता है, तो उस दशा मे मृत्यु-कर तथा आयकर मे कोई अन
नहीं रहता।

मृत्यु-कर तथा बचाने की इच्छा : जहाँ तक बचाने की इच्छा
प्रश्न है, मृत्यु कर आयकर की तुलना में उत्तम है। बात यह है कि मृत्यु-
नो सुदूर भविष्य में देना पड़ता है और आय-कर निकट भविष्य में देना पड़
है। अस्तु, आय-कर का प्रभाव अधिक प्रलक्षित होगा और मृत्यु-कर का प्रभ
उतना नहीं पडेगा, क्योंकि मनुष्य स्वभावत दूरदर्शी नहीं होता। इ
अतिरिक्त जहा तक मृत्यु कर का प्रश्न है वह बचाने वाले के उत्तराधिकारी
चुकाना पड़ता है, जो बचाता है उसे नहीं चुकाना पडता। बचाने वाला अ
जीवनकाल मे अपनी सम्पत्ति का मनमाने ढग से उपभोग कर सकता है। अतः
जहा तक बचाने की इच्छा का प्रश्न है, मृत्यु-कर आयकर की अपेक्षा इस इ
को कम घटाता है।

उत्तराधिकारी के मन पर मृत्यु-कर का यह प्रभाव पड़ सकता है
वह अधिक परिश्रम करके उस कमी को जो कि मृत्यु-कर देने से हो गई
पूरा करे। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि जब किसी को उत्त
धिकार मे बड़ी सम्पत्ति मिलने की आशा होती है तो यह सम्भव है कि वह
आशा मे अधिक परिश्रम करना और बचाना छोड़ दे। किन्तु वास्तव में स
ऐसा होता नहीं है। किसी को जबकि उत्तराधिकार में कुछ सम्पत्ति मिलत
तो वह अप्रत्याशित आय (windfall) होती है और जब तक कि वह सम्
उसको मिल न जाय तब तक वह उस सम्बन्ध में निश्चिन्त नहीं हो सकत
अतएव, यह कहना कि उत्तराधिकार मे सम्पत्ति मिलने की आशा से वह ब
करना छोड़ देगा, यह प्रत्येक दशा मे ठीक नहीं हो सकता।

रिगानो की योजना : हम ऊपर लिख आये हैं कि मृत्यु-कर कुछ स
तक बचाने की इच्छा को कम करता है। मृत्यु-कर के इस कुप्रभाव को

करने के लिए इटली के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिगानो ने एक योजना उपस्थित की है, जो इस प्रकार है :—यह योजना इस बात पर आधारित है कि सम्पत्ति जितनी बार उत्तराधिकारियों को हस्तांतरित हो, वैसे-वैसे मृत्यु-कर की दर बढ़ती जावे। उदाहरण के लिए, यदि 'क' ने स्वय अपने परिश्रम से सम्पत्ति अर्जित की है और वह उस सम्पत्ति को 'ख' को उत्तराधिकार में देता है, तो एक-तिहाई राज्य को ले लेना चाहिये और दो-तिहाई 'ख' को मिलनी चाहिये। कल्पना कीजिए कि 'ख' मिली हुई सम्पत्ति को तथा स्वय अपने प्रयत्न से अर्जित की हुई सम्पत्ति 'ग' को देकर मरता है तो 'ग' को 'क' द्वारा छोड़ी हुई एक-तिहाई सम्पत्ति मिलेगी और शेष राज्य ले लेगा और 'ख' द्वारा अर्जित सम्पत्ति में से दो-तिहाई 'ग' को मिलेगी और एक-तिहाई राज्य ले लेगा। 'ग' के मरने पर 'क' द्वारा छोड़ी हुई सारी सम्पत्ति राज्य के पास चली जावेगी। इस प्रकार तीसरी पीढी के उपरान्त सारी सम्पत्ति राज्य के अधिकार मे चली जावेगी। इस योजना का आधार इस मनोवैज्ञानिक मान्यता पर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी निकट पीढियों के प्रति ही अधिक ममता रखता है। सुदूर पीढियों में उसका कोई महत्त्व नहीं होता। अतएव, यदि कुछ पीढियों के उपरान्त सारी सम्पत्ति जब्त करली जावे तो उससे बचाने की इच्छा पर कोई अधिक गहरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसके विपरीत क्योंकि 'ख' को यह ज्ञान होगा कि उसके मरने के उपरान्त 'क' की अधिकाश सम्पत्ति राज्य ले लेगा, वह अधिक परिश्रम करके अपने उत्तराधिकारी के लिए अधिक सम्पत्ति अर्जित करेगा जिससे कि उसके उत्तराधिकारी 'ग' का रहन-सहन का दर्जा गिर न जावे। अतएव, इस योजना का मत है कि इस प्रकार मृत्यु-कर लेने से बचाने की इच्छा कुण्ठित न होकर उसको प्रोत्साहन मिलेगा।

रिगानो योजना के दोष : कुछ विद्वानों का मत है कि यदि रिगानो की योजना को स्वीकार कर लिया जावे तो कुछ प्रशासन सम्बधी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जावेंगी और यह व्यावहारिक नहीं होगी। इसके विपरीत अन्य विद्वानों और इङ्गलैंड के बोर्ड-आव-रैवन्यू का मत है कि रिगानो-योजना के आधार पर मृत्यु-कर लगाना सम्भव है। यह कोई अव्यवहारिक योजना नहीं है।

कुछ विद्वान् रिगानो-योजना के विरुद्ध नैतिक आधार पर आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि कल्पना कीजिए कि, 'अ' व्यक्ति मरता है और 'क' व्यक्ति को उत्तराधिकार मे दस लाख के कपनियों में हिस्से प्राप्त होते हैं। दुर्भाग्यवश कुछ कपनियाँ दिवालिया हो जाती हैं और उसके पास केवल पाँच

लाख रुपए के हिस्से ही रह जाते हैं, अथवा उनका मूल्य बहुत घट जाता है। यदि 'क' अपने जीवनकाल मे अथक परिश्रम करके खूब सम्पत्ति अर्जित करता है तो फिर उसके मरने पर क्या होगा। यदि राज्य उसके मरने पर उसकी कुल सम्पत्ति में से दस लाख रुपए 'अ' की सम्पत्ति मान कर उसका अधिकाँश ले ले तो यह अन्याय होगा। परन्तु, यदि राज्य उसको छोड़ दे तो मृत्यु-कर से बचने का एक सरल उपाय लोगों के हाथ में आ जावेगा। प्रत्येक उत्तराधिकारी यह बतलाने का प्रयत्न करेगा कि एक पीढी पीछे छोड़ी गई सम्पत्ति के मूल्य में ह्रास हो गया है अथवा वह समाप्त हो चुकी है। कर से बचने के लिए राज्य को लोग धोखा देने का प्रयत्न करेंगे।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि इस योजना मे एक बड़ा दोष यह है कि वह व्यक्ति जिसकी मृत्यु के उपरान्त सब सम्पत्ति जब्त हो जावेगी, वह उस सम्पत्ति को अपने जीवनकाल में ही समाप्त कर देगा। इसमें कोई भी सदेह नहीं कि जिस व्यक्ति के बाद वह सम्पत्ति राज्य के पास जाने वाली होगी वह अवश्य ही उस सम्पत्ति को अपने जीवनकाल मे ही समाप्त कर देने का प्रयत्न करेगा। इसके लिए डाल्टन महोदय ने रिगानो की योजना मे एक सशोधन उपस्थित किया है कि जब सम्पत्ति अन्तिम उत्तराधिकारी के अधिकार में आवे तो साधारण मृत्यु-कर लेने के उपरान्त जितना राज्य को उस उत्तराधिकारी के मरने पर उस सम्पत्ति के सम्बंध मे मिलता वह और ले लिया जावे और उसके बदले उत्तराधिकारी को जीवन पर्यन्त वार्षिक वृत्ति (annual annuity) दी जावे। इससे उस उत्तराधिकारी को कोई हानि नही होगी और यह सम्भावना कि वह उत्तराधिकारी अपने जीवन काल में ही उस सम्पत्ति को समाप्त कर देगा नहीं रहेगी। राज्य को अपना हिस्सा मिल जावेगा।

अभी तक रिगानो योजना को लागू नही किया गया है। अधिकतर होता यह है कि न्यूनतम रकम के नीचे सम्पत्ति पर मृत्यु-कर नहीं लगता है और शेष कर वर्द्धमान-कर लगाया जाता है। जितनी ही रकम अधिक होती हैं और उत्तराधिकारी दूर का सम्बधी होता है उतना ही मृत्यु-कर अधिक होता है।

अनर्जित मूल्य वृद्धि (Unearned increment) . अनर्जित-मूल्य-वृद्धि पर कर लगाने का सभी अर्थशास्त्री समर्थन करते हैं। क्योंकि भूमि के मूल्य में अनायास ही वृद्धि होती है। भूमि के स्वामी को उसके लिए कुछ नहीं करना पड़ता। जैसे-जैसे जनसख्या की वृद्धि होती है समाज उन्नति करता है और धन की वृद्धि होती जाती है। भूमि का मूल्य बढता जाता है, भूमि के स्वामी को

उसके लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। खेती की भूमि तथा मकानों की भूमि दोनों के लिए यह बात लागू होती है। नगरों में तो जैसे-जैसे उसकी जनसंख्या बढ़ती जाती है तथा पार्क इत्यादि बनते जाते हैं भूमि का मूल्य आकाश छूने लगता है। जब कोई नगर बढ़ता है तो उसके चारों ओर थोड़ी दूर पर स्थित भूमि का मूल्य एक साथ बढ़ जाता है। यह मूल्य-वृद्धि अनर्जित होती है। इसके लिए मालिक को कुछ करना नहीं पड़ता। यह मूल्य-वृद्धि समाज के कारण होती है। अस्तु, राज्य यदि उस मूल्य-वृद्धि में से ले-ले तो यह उचित ही होगा। अनर्जित मूल्य-वृद्धि पर कर लगाना सभी प्रकार से उचित है क्योंकि वह मूल्य-वृद्धि अनायास ही हुई है। उसके लिए भूमि के स्वामी ने कुछ नहीं किया। यह सर्वथा न्यायपूर्ण है। साथ ही इस का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि कर लगाने से भूमि की पूर्ति (supply) में न तो कोई कमी आने वाली है और न भूमि के स्वामी की परिश्रम करने की इच्छा पर कोई बुरा प्रभाव पड़ने वाला है। अस्तु, यह एक आदर्श कर है, ऐसी बहुत से विद्वानों की मान्यता है।

परन्तु, यह प्रश्न इतना सरल नहीं है जितना कि दिखलायी देता है। यह बहुत सम्भव है कि भूमि के मूल्य की भावी वृद्धि को ध्यान में रखकर ही किसी ने भूमि खरीदी हो और कुछ सीमा तक भूमि की भावी मूल्य वृद्धि भूमि की वर्त्तमान खरीद की कीमत में सम्मिलित हो जावे। खरीदार ने उस भूमि की कीमत से, जो उसकी उस समय कीमत होनी चाहिये, इस आशा से अधिक दी हो कि भविष्य में उसकी मूल्य-वृद्धि की सम्भावना है। उस दशा में आगे चल कर जो उसको लाभ होता है वह अनर्जित आय न होकर उसके विनियोग (investment) पर सूद मात्र है। यदि ऐसी स्थिति हो, और यह कहना कि ऐसी स्थिति नहीं है सरल नहीं है, तो अनर्जित-आय कितनी हुई इसका पता लगाना असम्भव हो जावेगा। अनर्जित-आय को ठीक-ठीक जानने में एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि किसी भूमि पर जो अधिक पूंजी लगाकर तथा परिश्रम करके उसको उन्नत किया गया है, उसके कारण उससे होने वाली आय में वृद्धि हुई है अथवा वह अनर्जित आय है। यह भी सम्भव है कि दोनों कारणों से आय में वृद्धि हुई हो। परन्तु यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि अनर्जित-आय (unearned increment) कितनी है और भूमि में सुधार या उन्नति करने से कितनी आय में वृद्धि हुई है। भूमि उत्पत्ति का ऐसा साधन है जिसकी उपयोगिता को बढ़ाना या कम करना मनुष्य के हाथ में रहता है और मनुष्य उस पर पूंजी (capital) और श्रम लगा कर उसकी

उन्नति करता रहता है। अतएव भूमि का जो लगान उसे मिलता है उसमें लगान, मजदूरी, सूद और लाभ सभी सम्मिलित हो जाता है। हमारे पास कोई ऐसा माप-दण्ड नहीं है जिससे कि हम अर्जित-आय (earned income) को अनर्जित-आय से पृथक कर सकें। वित्त मन्त्री अपने उत्साह मे बहुत सम्भव है कि अर्जित-आय पर भी कर लगा दे। यदि ऐसा हो तो केवल यह अन्यायपूर्ण ही नहीं होगा वरन् उसका समाज के उत्पादन-प्रयत्न पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि अनर्जित-आय भूमि के स्वामियों को मिलना आवश्यक है। उसी लालच से लोग भूमि में शीघ्र सुधार करते हैं, और उनके प्रयत्नों के फल-स्वरूप देश की भूमि का सर्वोत्तम उपयोग होता है। अनर्जित-आय के लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य ने बहुत-सी बीहड़ और बंजर तथा पथरीली भूमि को उपजाऊ और उपयोगी बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। यदि यह अनर्जित-आय सब की सब राज्य ले ले तो भूमि के सुधार का यह क्रम मन्द पड़ जावेगा और मनुष्य को भूमि के सुधार में कोई उत्साह नहीं रहेगा।

अनर्जित-आय पर कर लगाने के विरुद्ध एक अत्यन्त प्रबल तर्क यह होता है कि अनर्जित-आय केवल भूमि के लगान में ही प्रकट नहीं होती, अन्य सभी उत्पत्ति के साधनों के प्रतिफल (remuneration) में से प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, कलाकारों, सिनेमा स्टारों, बड़े-बड़े इन्जीनियरों और प्रसिद्ध डाक्टरों या वकीलों की आय में भी अनर्जित भाग अवश्य होता है। इसी प्रकार और कारबार में मिलने वाले लाभ में भी अनर्जित-आय होती है। ऐसी दशा में केवल भूमि के लगान मे प्रकट होने वाली अनर्जित-आय पर ही कर लगाना कहाँ तक न्याय सङ्गत है। कोई व्यक्ति भूमि मे अपना धन और परिश्रम लगाता है, कोई कलाकार बनने या कुशल डाक्टर बनने में, कोई लेन-देन करने मे और कोई वाणिज्य और उद्योग-धन्धों में अपनी पूंजी और श्रम लगाता है, फिर केवल भूमि के लगान में प्रकट होने वाली अनर्जित-आय पर ही कर क्यों लगाया जावे। जब भी भूमि की अनर्जित-आय पर कर लगाया जाता है तो उस समय जो भूमि का मालिक होता है उसको उस कर का समस्त पूंजीकृत मूल्य (capitalised value) को सहन करना पड़ता है। क्योंकि उस भूमि का बाजार एकदम गिर जाता है। यह न्यायपूर्ण नहीं है।

ऊपर लिखी हुई कठिनाइयों के कारण भूमि से होने वाली समस्त अनर्जित-आय को कर के रूप में ले लेना न तो न्याय-पूर्ण ही है और न उचित ही है। परन्तु, यदि राज्य अनर्जित-आय का थोड़ा-सा अंश और भूमि की भावी मूल्य-वृद्धि का अधिक अंश कर-रूप में ले लेता है तो अधिक आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

परिच्छेद ६१

राष्ट्रीय ऋण (Public-debt)

यह हम पहले लिख आये हैं कि राज्य की आय का एक स्रोत राष्ट्रीय ऋण होता है। अब हम राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे। सबसे पहले हम व्यक्तिगत ऋण तथा राष्ट्रीय ऋण मे क्या अन्तर है इसका अध्ययन करेंगे।

व्यक्तिगत ऋण और राष्ट्रीय ऋण राष्ट्रीय ऋण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमे राज्य ऋणी होता है और वह अपने नागरिकों को ऋण देने के लिए विवश कर सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य के ऋणदाता राज्य को व्यक्ति का ऋण चुकाने के लिए विवश नहीं कर सकते। दूसरी विशेषता राष्ट्रीय ऋण की यह है कि वह सदैव के लिए लिया जा सकता है। कोई व्यक्ति यदि चाहे तो उसे सदैव के लिए ऋण नहीं मिल सकता। राज्य यदि चाहे तो नागरिकों से सीधे ऋण न लेकर कागजी मुद्रा छाप कर उसे कानूनी ग्राह्य (legal tendar) बना कर चला सकता है। कोई व्यक्ति अपने धा० ते० (I O. U) नहीं चला सकता।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीय ऋण और व्यक्तिगत ऋण में और भी मौलिक भेद हैं। राष्ट्रीय ऋण का देश मे धनोत्पत्ति तथा धन के वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को ऋण चुकाने से उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता है ठीक उसी प्रकार राष्ट्रीय ऋण को चुकाने से देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा यह कहना कठिन है। यह बहुत सम्भव है कि राष्ट्रीय ऋण चुकाने से केवल राष्ट्रीय आय ही कम न हो वरन् देश की आर्थिक स्थिति गिर जावे। यह भी सम्भव है कि ऋण चुकाने के स्थान पर नया ऋण लेने से आर्थिक स्थिति मे सुधार हो।

जहाँ तक नागरिकों का प्रश्न है 'कर' और राष्ट्रीय ऋण में मौलिक भेद है। जहाँ राष्ट्रीय ऋण के फलस्वरूप नागरिक भविष्य मे सूद तथा मूल की अदायगी के रूप मे राज्य से कुछ प्राप्त करने की आशा करते हैं वहाँ पर कर देने पर ऐसी कोई आशा नहीं करते। इसमे कोई सन्देह नहीं कि जब राज्य ऋण लेता है तो करदाताओं को उन पर सूद चुकाने और उसका मूल चुकाने के

लिए अधिक कर देना पड़ता है, परन्तु यह बहुत सम्भव है कि जितना सूद कर-दाता को मिलेगा वह उस रकम से कहीं अधिक होगा जो कि उसे कर के रूप में देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जिस नागरिक ने राष्ट्रीय ऋण खरीदा है वह जब चाहे बेच कर रुपया पा सकता है। जहाँ तक राज्य का प्रश्न है राज्य ऋण नागरिकों के बिना विरोध के प्राप्त कर सकता है। कर एक सीमा तक ही लगाये जा सकते हैं।

राज्य को किन दशाओं मे ऋण लेना चाहिये : राज्य को नीचे लिखी दशाओं में ऋण लेना चाहिये। नीचे लिखी दशाओं में आवश्यक आय केवल कर लगा कर प्राप्त करना उचित नहीं होगा :—

(१) जब कोई असाधारण व्यय आ पड़े। उदाहरण के लिए, युद्ध, दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, इत्यादि से विस्तृत विनाश हो जावे तो राज्य ऋण लेकर उसे व्यय कर सकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि व्यय अपेक्षाकृत थोड़ा हो, तो कर लगा कर ही उसके लिए आय प्राप्त करनी चाहिये, किन्तु व्यय यदि बहुत अधिक होने की सम्भावना हो तो ऋण लेना उचित होगा। लम्बे युद्ध के सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत यह है कि जितनी आय कर द्वारा प्राप्त की जा सके उतनी कर द्वारा प्राप्त की जावे और शेष के लिए ऋण द्वारा प्रबन्ध किया जावे। जब कोई शत्रु देश पर आक्रमण करे तो देश की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है, अतएव यह उचित ही है कि भावी नागरिक युद्ध के कुछ भार को सहन करें।

(२) बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए भी ऋण लेना उचित है। उदाहरण के लिए, रेलवे लाइन, जलविद्युत-योजनाएँ, सिंचाई-योजनाएँ तथा कोई बड़ा धन्धा सरकार खड़ा करना चाहे, जिसमे भविष्य में लाभ होने की आशा हो, तो उनके लिए पूँजी की व्यवस्था ऋण लेकर ही करनी चाहिये। यदि इस प्रकार की योजनाओं के लिए भी कर द्वारा धन की वसूली की जावेगी तो वह वर्त्तमान कर-दाताओं के प्रति अन्याय होगा, क्योंकि उन योजनाओं का लाभ तो मुख्यत: आगे आने वाली पीढियों को मिलेगा और उनके व्यय का भार वर्त्तमान पीढी पर पड़ेगा जो उचित नहीं है।

अस्थायी घाटे को पूरा करने के लिए : कभी-कभी ऐसा होता है कि जब आर्थिक वर्ष समाप्त होता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि जितनी आय का अनुमान किया गया था उससे आय कम हुई अथवा व्यय अनुमान से

अधिक हो गया, तो उस समय दो-एक महीने के लिए थोड़ा-सा ऋण बहुधा केन्द्रीय बैंक से ले लिया जाता है। उस समय कोई नवीन कर लगाना अथवा किसी प्रचलित कर की दर में वृद्धि करना न तो उचित ही है और न व्यावहारिक ही है। अतएव, थोड़े समय के लिए ऋण ले लेना ही व्यावहारिक और उचित होता है। आजकल ट्रेजरी बिल बेच कर राज्य इस प्रकार का ऋण प्राप्त करता है।

राष्ट्रीय ऋण का वर्गीकरण . राष्ट्रीय ऋण के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों का भिन्न मत है। कुछ विद्वानों ने राष्ट्रीय ऋण को स्वेच्छा ऋण (voluntary debt) और विवशता ऋण (forced loan) में बाँटा है। कुछ ने उत्पादक ऋण (productive debt) और अनुत्पादक ऋण या मृतभार ऋण (unproductive debt) में बाँटा है और कुछ ने अनिश्चित-कालीन ऋण (funded debt) और अल्पकालीन ऋण (unfunded or floating debt) में बाँटा है।

स्वेच्छा ऋण से हमारा अर्थ यह है कि जिस ऋण को नागरिकों ने स्वेच्छा से खरीदा हो और विवशता ऋण उसको कहते हैं जिसे लेने के लिए राज्य ने नागरिकों को विवश किया हो। पुराने समय में बहुधा राज्य अपने नागरिकों को ऋण देने के लिए विवश करता था। आज भी अनिवार्य बचत इत्यादि की योजनाएँ उस श्रेणी में आती हैं। यद्यपि आजकल अधिकतर स्वेच्छा ऋण ही होते हैं।

उत्पादक ऋण से हमारा अर्थ उस ऋण से है जिसके पीछे उतने मूल्य की सम्पत्ति मौजूद हो और अनुत्पादक ऋण अथवा मृतभार ऋण (dead weight debt) उस ऋण को कहते हैं कि जिसके बदले राज्य के अधिकार में कोई भी सम्पत्ति या जायदाद न हो। उत्पादक ऋण का सूद उस जायदाद या सम्पत्ति की आय में दिया जाता है और मृतभार ऋण का सूद राज्य की सामान्य आय में से दिया जाता है। उदाहरण के लिए, जो ऋण भारत सरकार ने नहरें निकालने के लिए लिया था उसका सूद सिंचाई शुल्क की आय से दिया जाता है, और जो ऋण कि युद्ध, इत्यादि के लिए लिया है उसका सूद भारत सरकार अपनी सामान्य आय में से देती है। हिक्स ने ऋण को तीन श्रेणियों में बाँटा है :—(१) मृतभार ऋण (dead weight debt), (२) निष्क्रिय ऋण (passive debt), और (३) सक्रिय ऋण (active debt)। मृतभार ऋण उनको कहते हैं कि जो उस व्यय के लिए लिये जावें जिनसे कि समाज की उत्पादन-शक्ति किसी भी प्रकार की वृद्धि न हो। जिनसे न तो मुद्रा-आय (money rev

प्राप्त हो और न भविष्य में उपयोगिता ही मिले। उदाहरण के लिए, युद्ध के लिए लिया हुआ ऋण मृतभार ऋण है।

निष्क्रिय ऋण (passive debt) उसको कहते हैं जिसको ऐसे कार्यों पर व्यय किया जावे जिनके द्वारा समाज को उपयोगिता और सुख तो प्राप्त हो, किन्तु जिनसे न तो कोई मुद्रा-आय प्राप्त हो, न पूंजी (capital) और श्रम (labour) की कुशलता और न उत्पादन-शक्ति में कोई वृद्धि हो। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक उद्यान अथवा सार्वजनिक भवनों पर व्यय किये हुए धन से समाज को उपयोगिता और सुख तो प्राप्त होता है, किन्तु आय अथवा उत्पादन शक्ति में वृद्धि नहीं होती।

सक्रिय ऋण (active debt) उसको कहते हैं कि जिनको ऐसे कार्यों पर व्यय किया जावे जिनसे या तो मुद्रा-आय प्राप्त हो अथवा जिनसे समाज की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो। उदाहरण के लिए, यदि भारत सरकार ऋण लेकर दामोदर-घाटी योजना अथवा लोहे या खाद के कारखाने पर धन व्यय करती है, तो भविष्य में इनसे होने वाली आय से यह ऋण चुक जावेगा। उस ऋण को भी सक्रिय ऋण कहेंगे जिसको ऐसे कार्यों पर व्यय किया जाता है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समाज की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा और स्वास्थ्य पर ऋण लेकर किया गया व्यय सक्रिय ऋण कहलावेगा।

आजकल बहुधा ऋण का वर्गीकरण समय के आधार पर करते हैं। कुछ ऋण ऐसे होते हैं जो अल्पकालीन ऋण होते हैं जिन्हे हम अल्पकालीन ऋण (unfunded or floating debt) कहते हैं। बहुधा ट्रेजरी बिल इसी श्रेणी में आते हैं, क्योंकि सरकार तीन महीने के ट्रेजरी बिल निकालती है। इनके अतिरिक्त कुछ वर्षों के लिए, जैसे पांच से दस वर्षों तक के लिए तथा अधिक वर्षों के लिए भी ऋण निकाले जाते हैं। कुछ ऋण ऐसे भी होते हैं जिनका कभी भी भुगतान नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का कंसोल (consols) ऐसा ही ऋण है। किस ऋण को अल्पकालीन (unfunded debt or floating) ऋण कहा जावे और किसको दीर्घकालीन अथवा अनिश्चितकालीन ऋण (funded debt) कहा जावे इस पर लोग एकमत नहीं हैं। कुछ लोग ५ वर्ष तक के ऋण को अल्पकालीन ऋण मानते हैं। परन्तु वास्तव में वे ही ऋण अल्पकालीन ऋण की श्रेणी में आ सकते हैं जिनका समय एक वर्ष तक ही अधिक न हो। इससे अधिक समय के ऋण दीर्घकालीन ऋण

कहलाते हैं।

कुछ विद्वान ऋण को ऋणदाताओं की राष्ट्रीयता के आधार पर आन्तरिक ऋण (internal debt) और वाह्य ऋण (external debt) में बाँटते हैं। यदि राज्य केवल अपने नागरिकों से ही ऋण लेता है तो वह आन्तरिक ऋण कहलाता है, और, यदि राज्य विदेशों में ऋण लेता है तो वह वाह्य ऋण कहलाता है। इन दोनों प्रकार के ऋणों का आर्थिक प्रभाव एक समान नहीं होता। वह भिन्न होता है। आन्तरिक ऋण पर जो सूद दिया जाता है अथवा मूल चुकाया जाता है वह देश में ही रहता है उससे केवल धन वितरण पर असर पड़ता है। किन्तु वाह्य ऋण में विदेशियों को सूद अथवा मूल दिया जाता है।

कभी कभी राज्य वार्षिक वृत्ति (annuity) के आधार पर भी ऋण लेता है। राज्य एक मुश्त एक समय में ऋण ले लेता है और ऋणदाता को उसके जीवन पर्यन्त तक एक निश्चित रकम प्रतिवर्ष देता रहता है। जब ऋणदाता मर जाता है तो वह ऋण चुकता मान लिया जाता है।

एक दूसरा तरीका लाटरी-ऋण का भी है। राज्य सूद से पारितोषिक दे देता है। इस प्रकार राज्य नागरिकों की जुआ खेलने की भावना का उपयोग अपने लाभ के लिए कर सकता है।

युद्ध का अर्थप्रबंध · यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि युद्धकाल में कर लेना उचित है, किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्ध का अर्थ प्रबंध केवल करों द्वारा करना चाहिये। उनके मुख्य तर्क नीचे लिखे हैं —

(१) उनका पहला तर्क यह है कि जब कर बहुत बढ़ा दिये जावेंगे तो उससे फिजूलखर्ची और अनावश्यक उपभोग कम हो जावेगा। धनी लोगों से बहुत ऊंची दर से वर्द्धमान कर लिया जाना चाहिये, जिससे कि निर्धनों को अपने जीवन-स्तर को नीचा गिराने की आवश्यकता न पड़े।

दूसरा तर्क यह है कि यदि बहुत अधिक मात्रा में ऋण लिया गया तो मुद्रा-स्फीति तथा साख का विस्तार अवश्यम्भावी हो जावेगा जिसका परिणाम यह होगा कि कीमतें बहुत ऊँची हो जावेगी और कर लगने से यह बच जावेगा। कर लगाने का परिणाम यह होगा कि क्रय-शक्ति एक वर्ग के पास से हट कर दूसरे वर्ग के पास चली जावेगी। अतएव, मुद्रा तथा साख स्फीति (inflation) की सम्भावना बहुत कम रहेगी। यदि थोड़ी मात्रा में ऋण लिया जावे तो भी मुद्रा-स्फीति उत्पन्न नहीं होती। परन्तु जब अपरिवर्त्तनशील कागजी मुद्रा (inconvertible paper money) निकाली जाती

बैंक की साख का विस्तार किया जाता है तो कीमते ऊँची हो जाती है। जब कीमतें ऊँची हो जाती हैं तो सभी प्रकार की आय का मूल्य गिर जाता है। वास्तव में मुद्रा-स्फीति एक गुप्त कर है जो आय के अनुपात में लिया जाता है। वह व्यक्ति के पास की क्रय-शक्ति को नहीं घटाता, परन्तु उसकी आय का मूल्य घटा देता है। इस प्रकार का कर न्यायपूर्ण नहीं है, क्योंकि वह प्रतिगामी होता है। इसका भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। इसके विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि यदि युद्ध के लिए सारा धन केवल करों द्वारा ही एकत्रित किया जावे तो भी मुद्रा-स्फीति को पूर्णतया नहीं बचाया जा सकता। जब कर बहुत अधिक होता है तो लोग बहुधा बैंकों से कर्ज लेकर उसे चुकाते हैं। यह निस्सदेह सत्य है कि ऋण लेने की तुलना में कर लगाने से मुद्रा स्फीति (inflation) कम होगा।

कर लगाने के पक्ष में तीसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि जिस प्रकार युद्ध के लिए मानवी शक्ति की अनिवार्य भर्ती की जाती है उसी प्रकार आय और पूँजी को अनिवार्य रूप से युद्ध के लिए ले लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में आगे चल कर पूँजी-कर (capital levy) के शीर्षक में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

कर लगाने के पक्ष में चौथा तर्क यह है कि यदि करों द्वारा युद्ध का अर्थ प्रबन्ध किया जावे तो युद्ध के समाप्त होने के उपरान्त युद्ध जनित ऋण का भार नहीं रहेगा और युद्ध-ऋण पर सूद तथा मूल चुकाने के लिए अधिक कर लगाने की आवश्यकता नहीं होगा। इसके अतिरिक्त ऋण लेकर युद्ध का व्यय करना इसलिए भी हानिकारक है, क्योंकि युद्ध समाप्त हो जाने के उपरान्त जब कीमतें गिरने लगेंगी तो ऋण का भार और अधिक बढ जावेगा।

इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि ऊपर लिखे तर्कों में बल है, किन्तु केवल कर द्वारा युद्ध का व्यय चलाने में बहुधा कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसे ही युद्ध छिड़ता है, राज्य को तुरन्त कल्पनातीत व्यय करना पड़ता है। उस समय यकायक कर की दरों को बहुत ऊंचा करना या भारी नये कर लगाना सम्भव नहीं होता। होता यह है कि करों की दरों को क्रमश: बढाया जाता है परन्तु हम यह देख चुके हैं कि प्रत्येक दशा में कर की दर बढ़ाने से आय में वृद्धि ही होगी यह नहीं कहा जा सकता। नवीन कर लगाये जा सकते हैं, परन्तु नवीन कर लगाने में समय लगता है और युद्ध रुक नहीं सकता। अस्तु, कुछ ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है। किन्तु केवल कर द्वारा युद्ध का अर्थ-प्रबन्ध करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आधुनिक युद्ध में इतना अन्धाधुन्ध और कल्पनातीत

व्यय होता है कि यदि सारा का सारा व्यय केवल कर से उगाहा जावे, तो करदाताओं पर असहनीय भार आ पड़े और उनकी रीढ़ टूट जावे। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि युद्ध का आधा व्यय भी कर से वसूल किया जावे तो राज्य द्वारा सभी आमदनियों और व्यापार-धन्धों के लाभों को ले लेने पर भी वह पूरा नहीं होगा। अतएव, ऋण लेना ही पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋण लेने से मुद्रा-स्फीति होगी और मुद्रा-स्फीति के भयंकर आर्थिक परिणाम होते हैं, परन्तु मुद्रा-स्फीति (inflation) का एक गुण यह है कि उसके प्रभाव से मनुष्य उत्पादन-कार्य करता रहता है। यदि बहुत ऊँचे कर लगाये जावें तो उद्योग-धन्धे चौपट हो जावें और पूंजी बनना बंद हो जावे। ऐसी दशा में युद्ध पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़े, क्योंकि उस समय युद्ध के लिए देश के साधनों की अत्यन्त अधिक आवश्यकता होती है।

अस्तु, अधिकाँश अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्ध अथवा अाय अकस्मात आयी हुई विपत्ति के लिए ऋण और करों दोनों से ही धन एकत्रित करना बुद्धिमानी है। होना यह चाहिये कि जब ऐसी स्थिति आजावे तो जितना भी कर उत्पादन-शक्ति को बिना हानि पहुँचाये वसूल किया जा सके किया जावे और शेष ऋण लेकर पूरा किया जावे।

राष्ट्रीय ऋण के लाभ : इससे पहले कि हम राष्ट्रीय ऋण के भार का अध्ययन करें हमें उससे होने वाले लाभों की जानकारी कर लेना चाहिये। यदि ऋण को उत्पादक कार्यों पर व्यय किया गया है (जैसे कि रेल बनाने, सिंचाई या जल-विद्युत-योजना इत्यादि को तैयार करने में व्यय हुआ है) तो उससे बहुत अधिक आर्थिक लाभ हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणों से बहुत से राजनैतिक और आर्थिक लाभ होते हैं। जितने ही ऋण देने वाले देश में अधिक संख्या में होंगे राज्य उतना ही अधिक स्थायी होगा। जबकि आर्थिक धूम (boom) हो और कीमतें ऊँची चढ़ रही हों तो छोटी आय वाले ऋण-दाताओं द्वारा सरकारी ऋण-बाँडों को खरीदने से मुद्रा स्फीति कम होता है। और जबकि आर्थिक मंदी (depression) हो तो इस प्रकार के बांडों को छोटी आय वाले भुनाकर व्यय करते हैं। उससे मंदी का बुरा प्रभाव कुछ हद तक कम हो जाता है। बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय ऋण होने से एक लाभ यह होता है कि साख का विस्तार होता है, क्योंकि सरकारी सिक्यूरिटी को बैंक जमानत के रूप में रखकर सरलता से ऋण दे देते हैं। यही कारण है कि जब बड़ी मात्रा में ऋण को समाप्त कर दिया जाता है तो उसका प्रभाव वही होता है जो मुद्रा-संकुचन (deflation) का होता है। राष्ट्रीय ऋण से एक बड़ा लाभ यह है कि जो

व्यक्ति अथवा संस्थाएँ धन्धे इत्यादि की जोखिम नहीं उठाना चाहते और रुपये को सुरक्षित स्थान पर लगाना चाहते हैं तो वे सरकारी ऋण खरीद लेते हैं। यदि सरकारी ऋण न हों तो उन्हें कठिनाई पड़ जावे।

ऋण का भार (Burden of Debt) : अब हम यह अध्ययन करेंगे कि भार किस पर पड़ता है। यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि ऋण दो प्रकार के होते हैं एक वाह्य-ऋण अथवा विदेशी ऋण और दूसरा अन्तर्देशीय ऋण। इन दोनों प्रकार के ऋणों का भार भिन्न होता है। अस्तु, हम इनके सबंध में अलग-अलग विचार करेंगे।

जहाँ तक विदेशी ऋण का प्रत्यक्ष मुद्राभार (direct money burden) है, उस सूद से नापा जा सकता है जो कि विदेशों को देना पड़ता है। किन्तु वास्तविक ऋण-भार उस आर्थिक हित की हानि से नापा जा सकता है जो सूद देने के कारण ऋणी देश को उठाना पड़ता है। वास्तविक ऋण-भार क्या होगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस सूद को चुकाने के लिए समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को किस अनुपात में कर देना पड़ता है। यदि कर मुख्यतः धनी व्यक्तियों को देना पडे तो वास्तविक भार कम होगा और यदि कर मुख्यतः निर्धन व्यक्तियों को देना पड़े तो वास्तविक ऋण-भार अधिक होगा। विदेशी ऋण का स्वरूप ठीक उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार कि एक व्यक्तिगत ऋण का होता है। विदेशी ऋण के मूल और सूद को चुकाने के लिए जो वस्तुएँ विदेशों को भेजनी पड़ती हैं, वह सर्वदा के लिए देश से बाहर चली जाती हैं। एक व्यक्ति की भाँति ही वह देश उतने से निर्धन हो जाता है। परन्तु उन वस्तुओं को धनिकों ने दिया है तो उस सीमा तक वास्तविक ऋण-भार कुछ कम होता है। विदेशी ऋण को सूद सहित चुकाने का परोक्ष ऋण-भार (indirect burden) भी होता है। विदेशी ऋण चुकाने से जो अधिक मात्रा में वस्तुएँ विदेशों को भेजनी पड़ती हैं उससे देश को हानि होती है। दूसरे देश में जनता को कुछ लाभदायक खर्चों को कम करना पड़ता है। यही विदेशी ऋण का परोक्ष भार है।

अन्तर्देशीय ऋण की बात दूसरी है। जब यह ऋण चुकाया जाता है तो वास्तव में देश के एक वर्ग से क्रय शक्ति लेकर दूसरे वर्ग को दे दी जाती है। अतएव जहाँ तक देश का प्रश्न है उसका कोई प्रत्यक्ष मुद्रा-भार (direct money burden) नहीं होता, परन्तु वास्तविक प्रत्यक्ष भार अवश्य बहुत होता है। ऋण तो केवल धनी लोग ही देते हैं, किन्तु कर (tax) सभी वर्गों के लोग देते हैं। अस्तु, जब आन्तरिक अथवा अन्तर्देशीय ऋण को चुकाया जाता है

तो सभी वर्गों को कर चुकाना पड़ता है और वह धन धनी वर्ग के पास पहुँचता है। इसके फलस्वरूप समाज में आर्थिक विषमता बढती है। अस्तु, वास्तविक भार बहुत अधिक होता है।

आन्तरिक ऋण का परोक्ष भार इस बात पर निर्भर रहता है कि उसे चुकाने के लिए जो कर देना पड़ता है उसका जनता की कार्य करने की क्षमता और इच्छा पर तथा धन बचाने की क्षमता और इच्छा पर क्या प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक धन बचाने का प्रश्न है उस पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, वरन् धन बचाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि जनता जो ऋण सरकार को देती है वह उसको बचाना पड़ता है। इसके विपरीत लोगों की कार्य करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि ऋण चुकाने के लिए जो कर देना पड़ता है उससे बहुतों का जीवन-स्तर नीचे गिर सकता है। लोगों की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा भी कर के कारण कम हो जाती है।

फिर भी यह कहना ही होगा कि अन्तर्देशीय ऋण की अपेक्षा बाहरी ऋण का परोक्ष भार बहुत अधिक होता है।

मुद्रा स्फीति और ऋण भार ऋण भार का अध्ययन करते समय हमें एक बात का और भी ध्यान रखना होगा। अधिक मात्रा में ऋण युद्ध काल में लिए जाते हैं जब कि वस्तुओं की कीमत बहुत ऊँची होती है। यदि यह ऋण उस समय तक न चुकाये जावें जब तक कि कीमतें गिरने लगें तो समाज को दोहरी हानि होती है। पहली हानि तो समाज को यह उठानी पड़ती है कि जब ऋण लिया गया था तब ऊँची कीमतें होने के कारण वस्तुओं में उसका वास्तविक मूल्य बहुत कम था और चुकाते समय कीमतें कम होने के कारण वस्तुओं के रूप में कहीं अधिक मूल्य देना होगा। दूसरी हानि समाज को यह उठानी पड़ेगी कि जब कीमतें ऊँची होती हैं तो बहुधा सूद की दर भी ऊँची होती है, अस्तु जब कीमतें गिर जाती हैं तो सूद का भार बहुत अधिक बढ जाता है।

राज्य द्वारा ऋण लेने का आर्थिक प्रभाव : राज्य द्वारा ऋण लेने का आर्थिक प्रभाव क्या पड़ेगा यह नीचे लिखी बातों पर निर्भर रहता है :— (१) ऋण कितनी मात्रा में लिया गया है और कहाँ से लिया गया है (२) ऋण लेने का उद्देश्य क्या है, (३) सूद की दर क्या है, और (४) उसको चुकाने का तरीका और शर्तें क्या हैं ?

ऋण किस मात्रा में लिया गया है उसका आर्थिक प्रभाव बहुत अधिक होता है। यदि ऋण कम मात्रा में लिया जाता है तो देश में जो चल (floating) या फालतू पूँजी है उससे उसको दिया जा सकता है। परन्तु, ...

अधिक मात्रा में ऋण लिया जाता है तो व्यापार अथवा उद्योग-धन्धों में काम आने वाली पूँजी राजकीय ऋण में लगेगी। पहली दशा में व्यावसायिक पूँजी में कोई कमी नहीं आवेगी, किन्तु दूसरी दशा में भावी व्यापारिक तथा व्यावसायिक पूँजी में कमी आ जाने के कारण राष्ट्रीय आय गिर जावेगी और देश में बेकारी बढ़ जावेगी। जब ऋण अधिक मात्रा में लिया जाता है तो कोई नई क्रय-शक्ति उत्पन्न नहीं होती। केवल देश के आर्थिक साधनों को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर लगा दिया जाता है। और, यदि राज्य अधिक कागजी मुद्रा निकालकर और बैंक-साख का विस्तार करके नई क्रय-शक्ति का निर्माण करता है तो उसके परिणाम अत्यन्त भयकर होते हैं। नवीन क्रय-शक्ति (purchasing power) निर्माण का अर्थ मुद्रा-स्फीति (inflation) होता है और मूल्य-स्तर ऊँचा हो जाता है। कीमतों के बढने के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न आर्थिक वर्गों में विषमता उत्पन्न होती है, तो कुछ को लाभ होता है और कुछ को हानि होती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति का एक भयंकर परिणाम यह भी हो सकता है कि करेंसी का मूल्य इतना गिर जावे कि मुद्रा-सकुचन के करने पर भी उस करेंसी का सामान्य मूल्य पुनः वापस न लाया जा सके।

ऋण किस उद्देश्य से लिया गया है यह भी महत्त्वपूर्ण है। यदि ऋण उत्पादक कार्यों पर व्यय किया जावे तो वह ऋण लाभदायक हो सकता है और वह उचित कहा जा सकता है। परन्तु, यदि ऋण अनुत्पादक कार्यों, जैसे, युद्ध इत्यादि, पर व्यय किया जावे तो इस प्रकार का ऋण देश पर मृत-भार (dead weight) के समान रक्खा रहेगा। उत्पादक-व्यय के फलस्वरूप देश की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होगी। अस्तु, ऋण से होने वाली अस्थायी हानि की उससे पूर्ति हो जावेगी। यदि अनुत्पादक-व्यय को ऋण लेकर न किया जावे, वरन् कर द्वारा किया जावे तो हानि कम होती है, क्योंकि ऋण लेने से सूद देना पड़ता है किन्तु कर लेने से यह कठिनाई उपस्थित नहीं रहती।

ऋण पर सूद की दर क्या देनी पड़ती है यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है। क्योंकि सूद जितना ही अधिक होगा उतनी ही देश की वार्षिक आय का अधिक अंश सूद का भुगतान करने में व्यय हो जावेगा। यह आर्थिक दृष्टि से वान्छनीय नहीं होता। बहुत बड़े ऋण अधिकतर उस समय लिए जाते हैं जबकि कीमतों का स्तर बहुत ऊँचा होता है और सूद की दर बहुत ऊँची होती है। जबकि कीमतें गिरती हैं तो उस समय सूद सहित उस ऋण को चुकाना अत्यन्त भारी पड़ता है।

ऋण चुकाने के तरीके : यह हम पहले ही कह आये हैं कि ऋण का

आर्थिक भार क्या होगा यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि उसको किस प्रकार चुकाया जाता है। इस सम्बन्ध मे हमें एक बात ध्यान में रखने की है कि जब कीमतें ऊँची हों तो ऋण चुकाना आसान होता है और ऋण चुकाने का आर्थिक भार कम हो जाता है। मुद्रा-सकुचन काल (deflation period) में ऋण का वास्तविक भार बढ जाता है और देश की करदान-शक्ति (taxable capacity) कम हो जाती है। अतएव, जब कीमतें गिर रही हों तो ऋण चुकाना उचित नहीं है।

ऋण चुकाने के बहुत से तरीके काम में लाये जाते हैं। सबसे सरल तरीका यह है कि राज्य अपना बजट बचत का बनावे अर्थात् आय से व्यय कम रक्खे और इस बचत का उपयोग बाजार से सरकारी ऋण-बौंडों को खरीदने में करे। इस प्रकार सरकारी ऋण समाप्त हो जावेगा। परन्तु व्यवहार में आजकल बहुधा ऐसा नहीं होता। राज्यों के पास इतनी बचत नहीं होती कि वे इस प्रकार ऋण को समाप्त कर सकें। अतएव राज्य अन्य तरीकों को काम में लाता है।

ऋण-भुगतान-कोष (Sinking Fund): ऋण चुकाने का दूसरा तरीका ऋण-भुगतान-कोष स्थापित करना है। आरम्भ में तो इसका अर्थ केवल इतना था कि ऋण के जीवन काल में कोष इकट्ठा किया जाता था और ऋण के भुगतान का समय आने पर उसको चुका दिया जाता था। कोष मिश्रित सूद सहित बढता रहता था। ऋण पर दिया जाने वाला वार्षिक सूद राज्य अपनी आय में से चुकाता रहता था। जब कोष में सूद सहित इतनी रकम इकट्ठी हो जाती थी कि ऋण चुकाया जा सके तो ऋण चुका दिया जाता था। किन्तु व्यवहार में यह नहीं हो पाता था। क्योंकि कभी-कभी होता यह था कि प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम ऋण-भुगतान-कोष के लिए अलग रक्खी जाती थी और साथ ही राज्य को नये ऋण की आवश्यकता पड़ जाती थी जो उसे ऊँचे सूद पर मिलता था। अस्तु, यह तरीका अव्यावहारिक मान कर छोड़ दिया गया।

आजकल ऋण-भुगतान-कोष के द्वारा ऋण चुकाने का अर्थ दूसरा ही है। कुछ कोष ऋण चुकाने के लिए ही मनोनीत कर दिये जाते हैं और प्रति वर्ष ऋण के कुछ अंश को उससे चुका दिया जाता है। इस कोष को उस समय तक इकट्ठा नहीं रक्खा जाता जब तक कि ऋण चुकाने का समय न आ जावे। प्रतिवर्ष ऋण का कुछ अंश चुका देने का परिणाम यह होता है कि ऋण का मूल कम होता जाता है और कम सूद देना पड़ता है। अस्तु, भविष्य में पूँजी को चुकाने में सरलता हो जाती है।

आजकल यही तरीका अधिकतर काम में लाया जाता है। परन्तु इसमें एक कठिनाई है। जब कभी वित्त मन्त्री (finance minister) को अधिक आय की ज़रूरत हो, वह व्यय कम न कर सकता हो और वह नया कर विरोध के कारण न लगाना चाहता हो तो बहुधा वह इस ऋण-भुगतान-कोष में से रुपया लेकर व्यय करने के लालच को नहीं रोक सकता। इसके साथ ही इस तरीके में एक दूसरा दोष यह है कि यदि किसी देश में करों का भार बहुत अधिक हो तो वह इस तरीके से बहुत धीरे-धीरे ही अपना ऋण चुका सकेगा।

ऋण परिवर्त्तन (Debt Conversion): ऋणों को चुकाने का एक तरीका यह है कि यदि किसी ऋण पर सूद अधिक देना पड़ता है और प्रचलित सूद की दर कम है तो कम सूद पर नया ऋण लेकर राज्य ऊँचे सूद के पुराने ऋण को चुका देता है। यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि अधिकतर ऋण उस समय लिये जाते हैं कि जब कीमतें ऊँची होती हैं और सूद की दर भी ऊंची होती है। अतएव जब सामान्य स्थिति आजावे अथवा सूद की दर गिर जावे तो कम सूद पर नया ऋण लेकर अधिक सूद वाला पुराना ऋण चुकाया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि सूद की दर गिर गयी है। उस दशा में सरकार पुराने ऋणदाताओं के सामने दो विकल्प रख सकती है या तो पुराने ऋण-बाँडों के बदले वे नये ऋण-बॉडों को स्वीकार करलें जिन पर कि सूद की दर कम होगी अथवा कम सूद पर नया ऋण लेकर पुराने ऋण को चुका दिया जावेगा। यदि राज्य नये दर पर बाजार में प्रचलित सूद से तनिक अधिक सूद रक्खे तो सभी पुराने ऋणदाता अपने पुराने ऋण को नये ऋण से बदल लेंगे। परन्तु, यदि राज्य प्रचलित सूद ही देना चाहे तो नवीन ऋण निकालकर पुराने ऋण को चुकाया जा सकता है। परन्तु यह उसी दशा में सम्भव है कि जब पुराने ऋण में यह शर्त हो कि वह जब चाहे परिवर्तित किया जा सकता है अथवा उसको चुकाया जा सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इस तरीके से राज्य सूद में करोड़ों रुपयों की बचत कर लेता है। परन्तु इससे मूलधन में कोई कमी नहीं होती।

पूंजी-कर (Capital Levy): कुछ विद्वानों का मत है कि जब युद्धजनित ऋणभार बहुत अधिक हो जावे तो पूंजी कर लगाकर उसे एक साथ चुका देना उचित होगा। एक न्यूनतम धनराशि (wealth) को छोड़ दिया जावे और शेष पर वर्द्धमान पूंजी-कर लगाकर ऋण को एक साथ चुकाने की व्यवस्था करदी जावे। कर के समर्थकों का कहना है कि जिस प्रकार युद्धकाल में अनिवार्य सैनिक भर्ती की जाती है और स्वस्थ तरुण व्यक्तियों को सैनिक बना

दिया जाता है उसी प्रकार जिनके पास धन है उनको अनिवार्य रूप से युद्धजनित ऋण को चुकाना चाहिये। पूंजी-कर के पक्ष और विपक्ष में बहुत से तर्क उपस्थित किये जाते हैं। हम यहां उन पर विचार करेंगे।

पूंजी-कर के पक्ष में सब से बड़ा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि युद्धकाल में देश के सब वर्गों का त्याग बराबर नहीं होता। मजदूर, किसान और निर्धन वर्ग देश के लिए अपने प्राण देते हैं और धनी-वर्ग ऊंची कीमतों का लाभ उठाकर धन बटोरते हैं। अस्तु, जब निर्धन वर्ग देश की रक्षा के लिए अपना जीवन देता है तो धनी वर्ग को अपना धन देना चाहिये।

पूंजी-कर के पक्ष में दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि ऋण पर जो सूद देना पड़ता है वह जनता पर एक स्थायी भार बन जाता है। जो ऋण उस समय लिये जाते हैं जब कीमतें ऊंची होती हैं उनका आर्थिक भार कीमतें नीची हो जाने पर और अधिक बढ़ जाता है। अतएव ऋण को शीघ्र से शीघ्र चुका देना चाहिये जिससे कि कीमतें नीचे न गिरें और वह तब तक चुका दिया जावे। इसमें सन्देह नहीं कि एक साथ ऋण चुकाने से कष्ट होगा किन्तु बराबर कर देते रहने से होने वाले आर्थिक कष्ट से यह कम होगा। फिर पूंजी-कर वर्द्धमान रूप में लगेगा। अस्तु, उससे त्याग की विषमता कम हो जावेगी।

पूंजी-कर के विरुद्ध तर्क : पूंजी-कर का विरोध करने वाले यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यह कहना गलत है कि धनी वर्ग युद्धकाल में त्याग नहीं करते। वे भी युद्ध में अनिवार्य रूप से भरती किये जाते हैं। बम, इत्यादि से अधिकतर उनकी ही हानि होती है। अस्तु, यह कहना कि धनी वर्ग त्याग नहीं करता गलत है। पूँजी कर का दूसरा बड़ा दोष यह है कि उसका भार मुख्यत उन पर पड़ता है कि जिन्होंने मितव्ययता से जीवन व्यतीत किया है और बचाया है। वे लोग इस कर से बच जाते हैं कि जिन्होंने खूब खर्च किया है और बचाया नहीं है। उनका कहना है कि पूंजी-कर से बचाने की प्रवृत्ति को धक्का लगेगा और पूंजी बाहर चली जावेगी। पूंजी कर लगाने में तीसरी कठिनाई यह उपस्थित होगी कि वह किस आधार पर लगाया जावेगा। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति है जिसकी आमदनी तो बहुत अधिक है किन्तु उसके पास पूंजी (capital) तनिक भी नहीं है और एक दूसरा व्यक्ति है जिसके पास पूंजी तो यथेष्ट है किन्तु आमदनी बहुत कम है। इस प्रकार की बहुत-सी व्यावहारिक कठिनाइयाँ इस कर को लगाने से उठ खड़ी होंगी। चौथा तर्क इस कर के विरुद्ध यह उपस्थित किया जाता है कि इसकी क्या गारंटी है कि यह कर केवल एक बार ही लगाया जावेगा, बार-बार नहीं लगाया जावेगा।

युद्ध-ऋण तथा युद्ध-क्षति-पूर्ति की अदायगी का प्रश्न पिछले दो युद्धों में एक और समस्या उठ खड़ी हुई। युद्धरत राष्ट्रों को अन्य राष्ट्रों से अनाप-शनाप ऋण लेना पड़ा और पराजित राष्ट्रों को क्षति-पूर्ति की रक़म देने पर विवश होना पड़ा। कहने का तात्पर्य यह है कि युद्ध के फलस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि कुछ राष्ट्रों की सरकारें अन्य राष्ट्रों की सरकारों को भयकर रूप से कर्जदार बन गयीं। इस कर्ज को चुकाने में दो समस्याएँ उपस्थित होती हैं। पहली समस्या तो यह है कि ऋणी देश में मुद्रा-स्फीति से अथवा कर लगाकर आवश्यक रकम प्राप्त की जावे। इसमें कोई सदेह नहीं कि विदेशों में नया ऋण लेकर भी पिछला ऋण चुकाया जा सकता है। किन्तु यह चुकाना नहीं कहा जावेगा। उसे आगे के लिए चुकाने के लिए छोड़ देना कहा जावेगा। अस्तु, ऋण को चुकाने के लिए उस देश को या तो मुद्रा-स्फीति का सहारा लेना होगा अथवा कर द्वारा रक़म वसूल करनी होगी। दोनों ही दशाओं में ऋणी देश के निवासियों की आय कम हो जावेगी। भारी कर के फलस्वरूप यदि उद्योग धधों की स्थिति बिगड़ जावे और उत्पादन रुक जावे तो उस देश के निवासियों की वास्तविक आय और भी कम हो जावेगी। यदि वह देश मुद्रा-स्फीति का सहारा लेता है तो निर्धन वर्ग पर बहुत बड़ा आर्थिक भार पड़ेगा।

ऋण चुकाने में जो दूसरी समस्या हमारे सामने उपस्थित होगी वह यह है कि ऋणी देश उस रकम को जो कि उसने जमा की है साहूकार देश की मुद्रा में किस प्रकार परिवर्त्तित करेगा। ऋणी देश उसी दशा में अपना ऋण साहूकार देश को चुका सकता है कि जब वह साहूकार देश से जितना आयात (import) करता है उससे निर्यात (export) अधिक करे और जितना उसने अधिक निर्यात किया है उसका उपयोग ऋण चुकाने में करे। साहूकार देश के लोग उसी दशा में ऋणी देश की निर्यात वस्तुओं को खरीदेंगे जब कि उनकी कीमत कम की जावे। इसका परिणाम यह होगा कि ऋणी देश को दोहरी हानि होगी।